जायसी ग्रौर उनका पद्मावत

अर्थात्

(जायसी-ग्रन्थावली सटीक)

जायसी
और
उनका पद्मावत

(कविवर जायसी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशद् अध्ययन तथा उनके पद्मावत की मूल सहित विस्तृत व्याख्या)

प्रा० लेखक
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

लेखक-गण
प्रो० दानबहादुर पाठक एम. ए. | **श्री जीवनप्रकाश जोशी**

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली

प्रथमावृत्ति] १९५९ [मूल्य १२)

प्राक्कथन

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है श्री जीवनप्रकाश जोशी ने 'जायसी और उनका पद्मावत' नाम की पुस्तक लिखी है जिसमें कविवर जायसी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशद अध्ययन तथा उनके पद्मावत की विस्तृत व्याख्या मूलसहित दी हुई है। जोशी जी ने कृपा कर इसकी प्रस्तावना के मुद्रित पृष्ठ भी भेजे हैं। इससे पुस्तक की छपाई और कागज आदि के सम्बन्ध में सुरुचि और सौष्ठव का परिचय मिलता है। प्रस्तावना से जोशी जी के परिश्रम और विस्तृत अध्ययन का भी परिचय मिलता है। टीका वाला अंश मैं देख नहीं सका हूँ पर वह बड़ा उपयोगी होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जायसी की रचनाएँ, काव्य भाषा और सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्हें विद्यार्थियों के लिए सुलभ और सुबोध बनाकर जोशी जी ने साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की है।

पुस्तक की छपाई में प्रकाशक महोदय ने भी बड़े उत्साह का परिचय दिया है। मुझे प्रकाशक (हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली) महोदय का सत्साहित्य के प्रकाशन और प्रचार का यह उत्साहपूर्ण प्रयत्न बहुत शुभ जान पड़ता है। मेरी हार्दिक शुभ कामना है कि उनके प्रयत्न सफल और सार्थक हों।

२६-१२-५८ **हजारीप्रसाद द्विवेदी**

विषय-तालिका

तृतीय खण्ड

[लेखक—प्रो० दानबहादुर पाठक एम० ए०]

स्नेह : संवेदन : समादर के प्रतीक,
और हिन्दी गीति काव्य के प्राण,

श्रद्धेय-

बच्चन जी को

सादर समर्पित

—जीवन
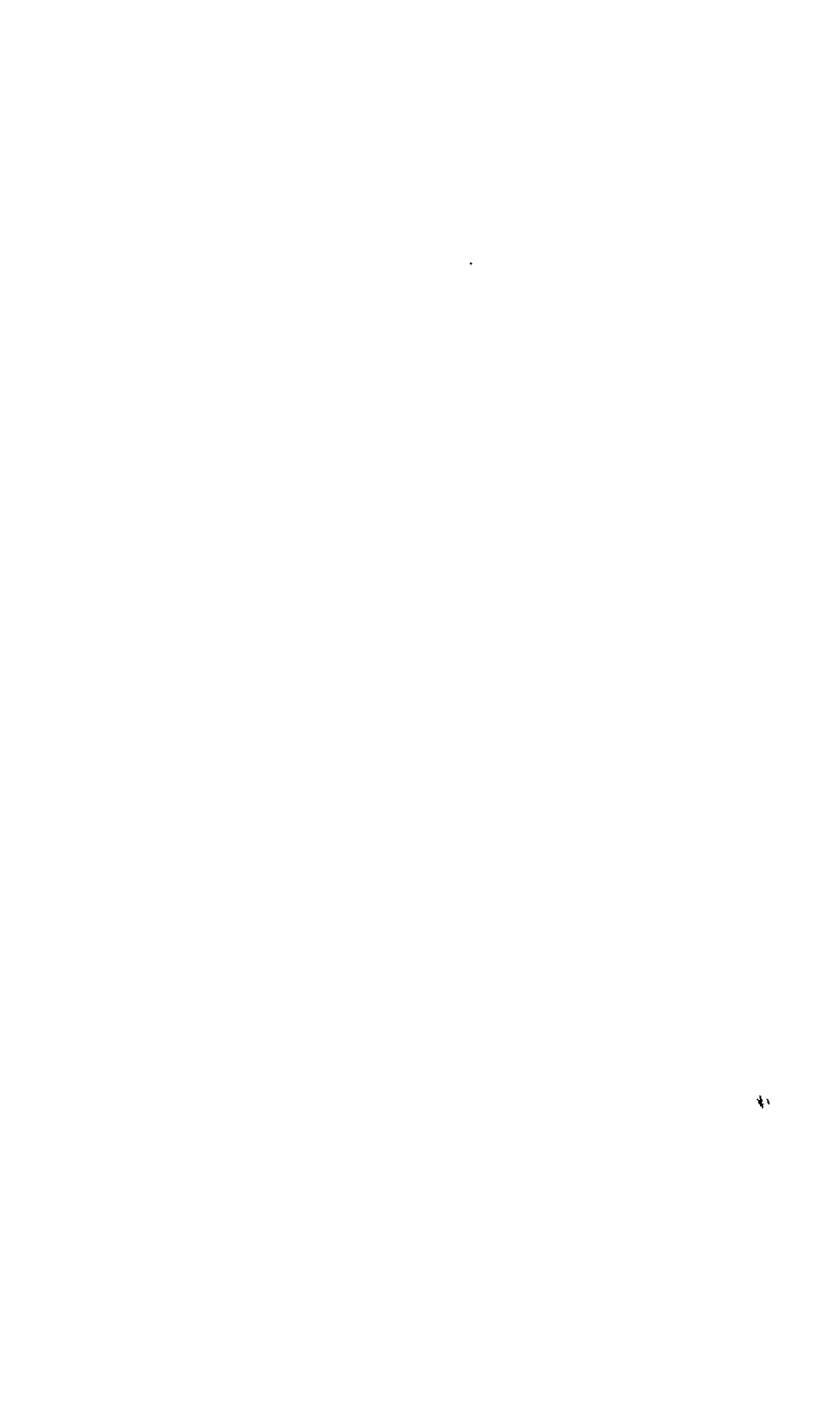
पद्मावत के प्रकाश में

(भूमिका)

प्रवेश

"जीवन के विराट् रूप का दिग्दर्शन जिस काव्य में सुचारुता से पाया जाता है, उसका नाम है—महाकाव्य !"—अपने इस वाक्य-विचार को आगे रखकर जब-जब मैंने हिन्दी-साहित्य की ओर नज़र फेंकी है, मेरे निकट अनायास कामायनी, रामचरितमानस और पद्मावत रखे मिले हैं। इनमें कामायनी आधुनिक कालीन अथवा यूँ कहूं कि छायावादी-युगीन महाकाव्य है; और शेष दो मध्यकालीन महाकाव्य। इनके रचयिता उक्त रचनाओं के क्रमानुसार महाकवि जयशंकरप्रसाद, तुलसीदास और मलिक मोहम्मद जायसी हैं। जब से मेरा परिचय साहित्य में महाकाव्य की रचना के सिद्धान्तों से हुआ तभी से मेरी यह जिज्ञासा रही कि जानूं आखिर काव्य और महाकाव्य में मूल अन्तर क्या है ? क्यों काव्य से बढ़कर उसमें "महा" विशेषण और जोड़ा गया ? और बस, इसी धुन से मैंने हिंदी-अँग्रेजी एवं संस्कृत के कुछ महाकाव्य पढ़े। पूर्वोक्त तीन महाकाव्यों के अतिरिक्त सबसे पहले महाकवि चन्द के पृथ्वीराज रासो फिर अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रियप्रवास और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत महाकाव्यों को पढ़कर वांछित काव्य-रस उपलब्ध कर सका। मिल्टन का पैराडाइज़ लॉस्ट, होमर का इलियड, गेटे का फाउस्ट और दाँते का डिवाइन कॉमेडी कुछ देख सका। मुझे मिल्टन के पैरेडाइज़ लॉस्ट और तुलसी के मानस, होमर के इलियड तथा चंद के पृथ्वीराजरासो, गेटे के फाउस्ट तथा प्रसाद के कामायनी और दाँते के डिवाइन कामेडी तथा जायसी के पद्मावत महाकाव्यों या नाटकों का जीवन-दर्शन और वर्णन-ढंग बहुत कुछ यकसाँ प्रतीत हुआ। मेरा निश्चय बना कि जहाँ पूर्णत्व है वहाँ असाम्य कहाँ ?—चाहें वह भोला के गाँव का काव्य हो या हो पैरिस का ! इधर संस्कृत महाकाव्यों के हिन्दी अनुवाद भी पढ़े। कालिदास के रघुवंश में अपार रस और सूक्ष्म जीवन-दृष्टि का अनुभव हुआ। फिर भी निस्संकोच कहूँगा कि संस्कृत एवं अंग्रेजी के तथा-कथित महाकाव्यों की अतुल गम्भीरता और रस का मेरा हृदय पूरी तरह स्पर्श न कर सका—इसमें मेरी ही कमी कहनी चाहिये। पर हिन्दी के महाकाव्यों से रस पा सका हूँ और फिर बुद्धि से उनपर कुछ सोच-लिख सकने की प्रेरणा भी मुझे मिली है। कामायनी, मानस और पद्मावत की ओर सदा मेरे मन की आँखों का एक अमोघ आकर्षण बना रहा है। इनके ऊपर स्वतन्त्र रूप में कभी जब लिखने का सुअवसर पाऊँगा तो लिखूंगा; किन्तु यहाँ इतना लिखना उचित समझूँगा कि कामायनी में मुझे जीवन-कर्म

का इंद्रधनुष मिला है, मानस में धर्म की संजीवनी और पद्मावत् में मर्म का तपःपूत कुंदन ! महाकाव्यों के स्वाभाविक एवं कलात्मक—(Epic of Art and Epic of Growth) विभाजन के इन दो रूपों का पारस्परिक सूक्ष्म समन्वय, हिन्दी साहित्य में मुझे इन तीन ही महाकाव्यों में, सही अर्थों में, प्रतीत हुआ है। इन तीनों ही महाकाव्यों में मुझे मानवता एवं ईश्वरीय सत्ता का एक अभूतपूर्व सामंजस्य और उसे स्थापित करने का पूर्ण भाव भी (To justify the ways of God to men) सरल सहज एवं सुन्दर रूप में प्रकट होता हुआ लगा है।

इनके प्रति यहाँ थोड़ा लिख देना ठीक समझता हूँ।

कामायनी : मानस : पद्मावत

'कामायनी' प्रसाद का आधुनिक कालीन महाकाव्य है। मनु-श्रद्धा, इन दो प्रागैतिहासिक पात्रों को लेकर प्रसाद ने जीवनोपयोगी, सर्वथा आध्यात्मिक ही नहीं—कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। सरस सजीव भाषा-शैली में प्रेममूर्ति श्रद्धा के द्वारा मनु-मानव के जीवन में एक शाश्वत सन्देश दिया गया है—प्रेम और आनंद का ! सारा वर्णन कल्पना एवं भावना की रेशमी-डोर से गुँथा है। मानस एवं पद्मावत की कर्म-इच्छा और प्रेम-भावना का, कामायनी में सुसंगठित स्वर प्रतिध्वनित है।

'रामचरितमानस' तुलसी का मध्यकालीन महाकाव्य है। युग-धर्म की माँग के अनुसार, भारतीय धर्म-संस्कृति के प्राण-रूप राम और सीता पात्रों को लेकर तुलसी ने भारतीय धर्म की एक महान कथावस्तु प्रस्तुत करने का महाप्राण प्रयास किया है। सरस सजीव भाषा-शैली में तुलसी ने जगदम्बा मूर्ति सीता और लोक-ईश्वर राम के दाम्पत्य जीवन के महादर्श का सन्देश भारतीय धर्मप्राण जनता को दिया और वह भी तब जबकि इस आदर्श का अकाल अभाव सदा रहा है। यह आदर्श राग-अनुराग, कर्तव्य-भावना, कल्पना और सत्य के बीच भगीरथ के प्रवाह की भाँति प्रवाहित है। मानस का पूरा-पक्का वर्णन भक्ति और शक्ति के दो तारों पर अनुगुंजित है !

और कवि जायसी !

इस कवि ने तो मानो पद्मावत रूपी कमल की लाल पँखुरियों पर बड़ी बारीकी से चित्रित किया—प्रेम जीवन का सहोदर है, आत्मा का प्रेमी है, प्रकृति का संगीत है, प्राणों का सौन्दर्य है, सृष्टि का निर्माण है, स्रष्टा का परमाणु है, और है एक कवि की कविता का अप्रत्यक्ष कलाकार ! प्रेम प्रभु की सृष्टि का कौशल है। प्रेम में जिसे विश्वास नहीं, वह अभागा है; जो प्रेम नहीं कर सकता वह विश्व-मिट्टी का उपहास है—

"प्रेम में जिसे नहीं विश्वास, प्रेम की जिसे नहीं है प्यास।
क्षुद्र उसको प्रभु जीव विलास, विश्व मिट्टी का वह उपहास ।।"

—(लेखक की 'माला' कृति से)

जायसी ! जो जीवन भर प्रेम का सम्बल लेकर उपेक्षा के पथ पर चलता रहा, जो सदा आत्मा की करुण-कथा प्रेमाश्रुओं से लिखता रहा, प्रकृति के कण-कण में जो प्रेम का

अमर संगीत अलापता रहा, प्रेम के पट पर जिसने संवेदनात्मक प्राणों के सौन्दर्य चित्र चित्रित कर दिये, जो सृष्टि की रचना में प्रेम के परमाणुओं को पागल बनकर खोजता रहा—जिसकी कविता का कलाकार ही प्रेम बना रहा—'प्रेम' !

पद्मावत जायसी का प्रेम महाकाव्य है। पद्मावती और रत्नसेन का रूपक रचकर जायसी ने विश्वव्यापी पार्थिव और अपार्थिव सौन्दर्य की कथावस्तु रची है। यह कथावस्तु जायस की नहीं, भारत की नहीं वरन् समस्त विश्व के हृदयस्थल की है। रत्नसेन और पद्मावती का नाम-रूप—विश्व-पुरुष और विश्व-नारी—आत्मा-परमात्मा का नाम रूप है। लोक प्रचलित सरस-सरल भाषा-शैली में जायसी ने पद्मावत का ताजमहल बनाकर मानो देश-देशान्तर के नेत्र-दिल का आह्वान किया है। केवल प्रेम ही नहीं, इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये पद्मावत के वर्णन में लोकपक्ष का समाहार जिस प्रकार का हुआ है, उसमें जीवन के कार्य-व्यवहारों का सीधा भाव दर्शन प्रकट हुआ है। पद्मावत के एक चौथाई वर्णन इसी भाँति के हैं। राजसी जीवन, सामान्य साधु जीवन, सौत जीवन, विवाह उपलक्ष, सत्य, घूँसखोरी, प्रभु-भक्ति, दया, धर्म आदि के वर्णन पद्मावत में कहाँ नहीं मिलते ? यदि थोड़ी देर के लिये हम एक प्रेमी और उसके प्रेम की स्थिति की ओर से आँख हटा लें तो पद्मावत में जो कुछ मिलेगा वह लोक-व्यवहार, जीवन की बातें तथा उनका समाधान ! पद्मावत के भावार्थ लिखते समय मेरी सजगता सदा तुलसी के रामचरितमानस पर लगी रहकर यह समझती रही कि पद्मावत में उसके जैसे लोकतत्व भी हैं। किंतु अन्तर इतना ही लगा कि तुलसी के आगे-पीछे, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे केवल आदर्श-भक्ति, सीता-राम खड़े रहे; अतः उनका कलाकार प्रेम-सौन्दर्य की स्वच्छंद (Romantic) अनुभूति, जो कला की आत्मा है, वैसी न दे सका जैसी प्रेम के योगी रत्नसेन और प्रेम की प्रतिमा पद्मावती-नागमती में मिलती है। यह दोनों बातें तो अपनी वैयक्तिक मान्यता की दो दिशाएँ हैं, पर इनके आदर्श और प्रेम का अन्तिम लक्ष एक ही है—

"सिया राम मँह सब जग जानी।"

—(तुलसी)

× × ×

"हौं हौं कहत मंत सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब कोई॥"

—(जायसी)

कहना होगा कि तुलसी और जायसी—इन दोनों कवियों ही ने अपना आपा खोकर प्रभु के रूप में लीन हो जाने की अभिव्यंजना को अपने काव्य-जीवन का लक्ष माना है। कामायनी की छायावादी, रूप शृंगार और वासना की सजीव चित्रावली पद्मावत में अधिक स्पष्ट है। यह कला के पूर्णत्व एवं स्वच्छंदता का स्वरूप कहा जायगा।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इन तीनों महाकाव्यों में इनके रचनाकारों ने जीवन की संकीर्ण दृष्टि को न रखते हुए उस विराट् का उद्घाटन किया है जो अनेक होकर

भी एक है; एक होकर भी अनेक है। भले ही प्रसाद ने कला, तुलसी ने कर्म और जायसी ने प्रेम का स्वर प्रधान रक्खा है। पर यह तो उनके स्वभाव-रुचि की बात कही जायगी; काव्य की उत्कृष्टता की नहीं। इस सबके भीतर ये तीनों महाकवि उदात्त (Sublime) जीवन के उपकरण खोजते रहे और उस सबकी निश्च्छल अभिव्यक्ति हम इन तीनों महाकवियों की रचनाओं में सूक्ष्मतः समान देखते हैं।

निवेदन

जब से मुझे इन तीनों महाकाव्यों पर आस्था बनी है तब से इनके विषय में एक प्रबन्ध लिखने की बात मेरे मन में कई बार उठी है। किंतु परिस्थितिवशात् न लिख सका। इस बीच मुझे कुछ अवसर मिला कि जायसी पर यह इतना सबकुछ आपके सामने लिखकर पेश करूँ। दिल्ली आया तो एम० ए० की क्लास पढ़ाने का दायित्व मिला। जायसी का पद्मावत प्रायः एम० ए० के परीक्षार्थियों के पढ़ने के लिये विश्वविद्यालयों ने नियत कर रक्खा है। यों पढ़ाने के लिये मुझे पद्मावत और उससे सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़ना पड़ा। इससे पहले अपने 'हिन्दी साहित्य मंजूषा' ग्रंथ के लिखते समय भी मुझे जायसी पर लिखे और स्वयं उनके लिखे ग्रंथों को पढ़ने का अवसर मिला था। इस बीच श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल का सुसंम्पादित व्याख्या-ग्रंथ पद्मावत पढ़ा। उनका परिश्रम वस्तुतः सराहनीय है। ग्रंथ में जायसी के पदों का जो अर्थ किया गया है वह यथासम्भव पद के मूल शब्दों के अनुरूप करने के लक्ष को सामने रखकर किया गया है। स्वयं अग्रवाल जी ने अपनी भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है। किंतु जब-जब मैंने किसी कविता के अनुवाद और अर्थ करने की बात सोची है तो मुझे लगा है कि शब्द और अर्थ से भी अधिक किसी कवि के कविता लिखने का लक्ष आत्म-व्यंजना करने का होता है। आत्मा की ध्वनि व्यंजना बड़ी बारीक होती है, किंतु उसका अर्थ कभी-कभी सारे ब्रह्मांड के विस्तार से भी अधिक विस्तृत और सारे सागरों की गहराई से भी अधिक गहरा होता है। महान् कवि की अनवरत साधना इसी लक्ष की पूर्त्ति चाहती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए मुझे लगा कि केवल शब्दों की पर्तें खोलकर अर्थ करने से किसी कवि की पैनी प्रतिभा और उसकी कविता की उत्कृष्टता का रस नहीं लिया जा सकता और बस, पद्मावत के भावार्थों में मैंने कवि की आत्म-व्यंजना के प्रसंग या आशय को भुलाना नहीं चाहा। कहीं-कहीं तो कवि अपूर्ण शब्दों-पदों के द्वारा भी जाने-अनजाने बहुत बड़ी बात कह देता है। पद्मावत के भावार्थ लिखते समय प्रायः मेरे सामने ऐसी उलझनें आई हैं कि कवि के उन भावों को कैसे समेटूँ जिनके व्यंजित अर्थ-गौरव को जड़ शब्द उठाने में पूरी तरह असमर्थ हैं। फिर भी मैंने इस सिद्धि को पाने का पूरा प्रयास किया। दावे के साथ मैं अपनी सफलता नहीं कहूँगा, पर सच मानें, मैंने इस कार्य के करने में अपना प्रयास अंत तक कमज़ोर न पड़ने दिया। मेरा विनम्र निवेदन है कि मेरी त्रुटियों से मुझे अवगत कराएँ ताकि साभार नए संस्करण में उन्हें दूर किया जा सके।

इतना कहकर भी मैं एक बार फिर यह खुलासा कहना चाहूँगा कि मेरी समझ से एक व्याख्याकार का पहला और आखिरी कर्त्तव्य यही होना चाहिये कि वह कवि की कविता के शब्दों और अर्थों की भी सीढ़ियाँ उतरकर उसकी भीतरी सृष्टि-शोभा की व्यंजना प्रकट करे। पद्मावत की व्याख्या मैंने इसी आदर्श को ध्यान में रख कर की है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से आप मेरी और अन्य व्याख्याओं में शायद कुछ विभिन्नता-सी पाएँ। पर मेरा विश्वास है कि वह विभिन्नता शब्दों, अर्थों और फिर भावों के बीच की होगी। मैंने कवि की भावनाओं के प्रति न्याय करना चाहा है। शब्दों को और उसके अभिधार्थ को प्रायः मैंने केवल लक्ष तक पहुँचाने वाला पथ माना है...उस पर चलता गया हूँ, पर यह ध्यान तो रखना ही पड़ा कि पाँव सीधे ही पड़ें।

प्रत्येक कवि की रचना में ऐसे तथ्य भी होते हैं जो किसी समय के देश, धर्म, मत या काव्य के किसी विशेष प्रभाव को इशारे से व्यक्त करना चाहते हैं। और उन्हें जान लेना उतना ही अनिवार्य है जितना कि रबड़ी खा लेना मगर फिर पचा भी लेना। इस कठिनाई को मैंने अनुभव किया। अतः व्याख्या के पश्चात "विशेष" में मैंने ऐसे तथ्यों का यथासंभव उद्‌घाटन करना चाहा है। मेरा विश्वास है कि इस 'विशेष' की सहायता से पाठक, कवि की उसके मानस पर पड़ी लोक जीवन, सांस्कृतिक जीवन और काव्य दार्शनिक पहलुओं की चिंताधारा का प्रभाव, प्रतिक्रिया, प्रत्यालोचन को कुछ जान पाएँगे। पदमावत में अलंकारिक योजना उत्कृष्ट है, यथास्थल उसे भी लिख दिया गया है।

और जायसी के काव्य के विषय में लिखी अपनी ही भूमिका के विषय में कुछ लिखना मैं ठीक नहीं समझ रहा हूँ। किन्तु अपनी सफ़ाई देना बेगुनाह और गुनहगार दोनों के लिये उपयुक्त रहता है। यह सोचकर इस भूमिका के विषय में इतना ही कहना चाहूँगा कि यह मैंने इसलिये लिखी है कि हिन्दी के इस मुसलमान, किंतु हिन्दी के ही महाकवि के काव्य पर कुछ नई सूझ, आप मेरी इस भूमिका से न समझ लें, वरन् मेरे यह लिखने से दूसरे विद्वानों की शोध खोज द्वारा पैदा हो सके। मैंने आचार्य शुक्ल जी के अतिरिक्त प्रायः उन सभी ग्रंथों को पढ़ने का प्रयास किया जो अबतक जायसी के विषय में स्वतन्त्र अध्ययन के अलावा पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने के लिये लिख गए हैं, मसलन डा० जयदेव का "सूफी महाकवि जायसी" ग्रंथ। साफ कहूँगा कि इन ग्रंथों में मैंने स्थापनाओं के अतिरिक्त विवेचन में कोई मौलिक तथ्य नहीं पाए। कवि की कृति के प्रकाश में उसकी भावना, धारणा, व्यापार, सत, शिव और सुन्दर की आत्म धड़कन को, जो सदा नई है, पहचानना, दरसाना समालोचक का परम कार्य होना चाहिये। जायसीके सम्बन्ध में वही जीवनवृत्त, सन-संवत्, स्थान, ऐतिहासिकता, विरह-वर्णन, कथावस्तु, रहस्यवाद आदि के विषय में घिसी-पिटी परम्परित बातों पर भाषा का पानी फेरना मुझे नहीं रुचा। उसके लिये शुक्ल जी काफी कुछ कर गए हैं; हमारा उस ओर कुछ कहना, करना सिर्फ पृष्ठ काले करेगा और बस! मेरे विचार से यह लीक-लीक चलने की प्रवृत्ति हिन्दी समालोचना के लिये अस्वस्थकर है। मैंने जायसी के काव्य को पढ़ा तो मेरे मन में उसके प्रति स्वतः कुछ नई सी क्रिया-

प्रतिक्रियाएँ जागीं। मैंने अपनी सूझ और यत्किंचित अध्ययन के आधार पर पद्मावत के कुछ पक्षों पर विचार किया, फलस्वरूप आपकी पेशी में यह भूमिका सामने है। मुझे इससे सन्तोष नहीं। मेरा मन कहता है कि जायसी के काव्य में बहुत कुछ ऐसा है जिसपर विद्वान सहज ही समूचे ग्रंथों के द्वारा भी शायद अपेक्षित रोशनी न डाल पाएँगे। इसी प्रसंग में थोड़ा और कहूँगा। हिन्दी साहित्य में अब तक देव-बिहारी, पंत-प्रसाद और यहाँ तक कि कालिदास-शेक्सपीयर आदि विदेशी साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन और आलोचन आ चुका है और आ रहा है। किन्तु न जाने क्यों समकालीन, एक सी भाषा शैली और काव्यधर्म के प्रवर्त्तक, जायसी और तुलसी के काव्य का विशिष्ट तुलनात्मक अध्ययन देखने को नहीं मिलता। मुझे यह अभाव बड़ा अखरा है। अतः फिलहाल मैंने इतस्ततः तुलसी एवं जायसी के विषय में कुछ तथ्यात्मक संकेत दिये हैं। यह काम जो बन्धु करेंगे, मुझे कुछ सुख अवश्य मिलेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ के लिखने में मैंने अनेक भाषा के साहित्यिकों, कवियों और मनीषियों के ग्रंथों को पढ़ा और उनसे विचार-प्रवाह पाया है, जो ग्रंथ के सारे पृष्ठों पर बिखरा पड़ा है। तदर्थ मैं उनका पूरा ऋणी हूँ, कृतज्ञ हूँ। श्रद्धेय बच्चन जी के उच्च परामर्शों एवं अमित आशीर्वादों का इस ग्रंथ के लिखे जाने में बड़ा बल रहा है, अतः ये ग्रंथ उनको समर्पित करते हुए मुझे आत्म-सुख हो रहा है।

पद्मावत का उद्देश्य

मुझे तो पद्मावत में गीता के प्रवृत्ति मार्ग का संदेश ही प्रमुख लगा है। रत्नसेन की पद्मावती के हित भोग से निवृत्ति, उसके लिये तीव्र विराग—दूसरे शब्दों में योग, वस्तुतः ऐसा है कि वह जीवन की तपःपूत प्रवृत्ति को जागृत करता है। पर ऐसा सबकुछ दार्शनिक पहलू वाली पहेली बुझाना निश्चय ही पद्मावत के कवि का ध्येय न रहा होगा। लेकिन 'रस्किन' की मति के अनुसार, कल्पनाओं द्वारा उदात्त भावनाओं हेतु एक उदार क्षेत्र निर्माण करने का व्यंजनात्मक संकेत—"The suggestion by the imagination of noble grounds for the noble emotions या **"सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद्विश्रान्तिः······"** जायसी ने अपने काव्य में पूरी तरह प्रकट करना चाहा है। और यह उदात्त भावनाएँ अथवा Noble Emotions ही जायसी के पद्मावत ग्रंथ में व्यक्त हुए हैं जिससे हमें इस चराचर विश्व का एक सर्वव्यापक तत्त्व "प्रेम" प्रकट और प्राप्त हुआ लगता है। और शायद प्रेम से अधिक ऊँची प्रवृत्ति और उससे ऊँचा कोई राग और उससे ऊँचा कोई विराग लोक-लोकान्तर में दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्भवतः इसी आशय से बड़े-बड़े कवियों, मनीषियों ने भी प्रेम को ही अन्ततः और अन्यतम मूल्य प्रदान किया है। कॉलरेज ने कहा—"He prayeth him best, who loveth him best." अर्थात् ईश्वर की सच्ची प्रार्थना वही करता है जो उससे सच्चा प्रेम करता है। वैराग्य की मुक्ति मे प्रेम के चिर-बंधन का आनन्द श्रेयकर है। महाकवि टैगोर के शब्दों में—

**"वैराग्य साधने जे मुक्ति से ग्रमार नय ।
असंख्य बन्धन माझे हे ग्रानंदमय लभिबो मुक्तिर स्वाद ।।"**

इस प्रकार पद्मावत रचने का प्रथम उद्देश्य प्रेम का प्रतिपादन नहीं, प्रतिष्ठा है, पूजा है, परोक्षानुगमन है ! गीता का कर्म-योग स्थूलतः ग्रासक्तिजनक है ग्रौर पद्मावत का प्रेमयोग भी ग्रासक्तिजनक है। दोनों के बीच जीवन के तप, संयम ग्रौर संघर्ष की ऊँची ग्रभिव्यंजना है, वैराग्य केवल ग्रावरण है। यों पद्मावत के सम्पूर्ण कथानक ग्रौर पात्र ग्रौर उनके चरित्र-चित्रण के भीतर मुझे राग के लिये विराग की स्वीकृति ग्रौर ग्रस्वीकृति दोनों बड़ी सफाई से प्रकट हुई लगी हैं। पद्मावती के लिये रत्नसेन का सहज योगी बनना; संघर्ष, तप, संयम ग्रादि धारण करना ग्रौर फिर पद्मावती को पाना—यह राग के लिये विराग की स्वीकृति वाली दिशा कही जायगी ग्रौर फिर नागमती के लिये, रत्नसेन का पद्मावती के साथ चित्तौड़ को लौट जाना, इसके विपरीत की दूसरी दिशा है;—विरागजन्य राग की स्वीकृति ! इनके बीच, इनसे ऊपर प्रेम ही एक ध्रुवतारा है। मुझे लगता है कि प्रेम की इस उद्देश्यपूर्ति में जायसी के महाप्राण कलाकार का सारा बल लग गया है।

पद्मावत रचने का दूसरा उद्देश्य, हिंदू ग्रौर मुसलमान, इन दो परस्पर ग्रसहिष्णु जातियों के बीच उस गहरी भीषण खाई को पाटने का भी था जिससे तत्कालीन मानवता त्राहि-त्राहि कर रही थी। यह काम पूर्व कबीर तथा सन्त मत के दूसरे कवियों ने भी बड़े वेग से किया था पर कतिपय कारणों से उनकी शैली इस विष को उतारने के लिये पूर्णतः फलीभूत न हो सकी। सूफी कवियों ने इस विष को काफी उतारा। फलतः ग्रागे मुसलमानी दरबारों में भारतीय कला एवं संस्कृति का ग्रस्तित्व बना। बादशाह ग्रकबर ग्रौर बीरबल, टोडर ग्रादि दरबारी कवि-कलाकार इसका प्रमाण कहे जायँगे। खैर,...सूफी कवि जायसी इंसाफ-पसन्द, भावुक एवं प्रतिभाशाली विरक्त जीव थे। तत्कालीन राजनैतिक दशा को देखकर उन्होंने यह पक्की तरह जान लिया था कि मुसलमान ग्रधिक ऐय्याश ग्रौर कठोर ग्रातंकवादी भी हैं। दूसरी ग्रोर यह भी कि हिन्दू कट्टर धार्मिक भावुक, प्रेमी किंतु तलवार की धार पर खेल जाने वाले मर्यादावादी हैं। रत्नसेन ग्रौर ग्रलाउद्दीन के युद्ध के समस्त उपकरणों की काव्याभिव्यक्ति जायसी ने बहुत सम्भव है इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की कि इस्लामी ऐश-परस्ती को दूषित बतलाकर हिन्दुवी ग्रान, संयम, सौन्दर्य, प्रेम एवं ग्रादर्श की प्रतिष्ठा व्यंजित की जाय। रत्नसेन ग्रौर ग्रलाउद्दीन का संघर्ष कुछ ऐसा ही है जैसा कि ग्रागे तुलसी के मानस में सीता के लिये या जनादर्श के लिये, राम ने रावण के साथ किया था। लोक सत के लिये सीता का ग्रौर प्रेम सत के लिये पद्मावती-नागमती का सती हो जाना,—प्रेम ग्रौर सत्य के सामान्य ग्रादर्श ग्रौर ग्रात्म विशेष स्वरूप की मंजुल झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से मुझे लगा है कि ग्रागे तुलसी ने पद्मावत को पढ़ सुनकर सम्भवतः मानस महाकाव्य के लिखने की प्रेरणा पाई हो। प्रेरणा की कोई सीमा नहीं होती; ग्रतः तुलसी में उसका विकास नए सिरे से प्रकट होना कोई बड़े ग्राश्चर्य की बात नहीं है। पद्मावत के भावार्थ लिखते समय मुझे ग्रनेक स्थल,

अनेक भाव और अनेक पंक्तियाँ तुलसी के मानस से मिलती-जुलती सी लगी। आगे लिखने से पूर्व ये पंक्तियाँ रखता हूँ—

"बरु जिउ जाइ जाइ जनि बोला।।"—(जायसी)

× × ×

"प्राण जाँय पर वचन न जाई।।"—(तुलसी)

× × ×

"विधि का लिखा मेटनहि जाई।।"—(जायसी)

× × ×

"विधि का लिखा को मेटन हारा।।"—(तुलसी)

यों इन दोनों महाकवियों में वर्णन, शैली, भाव और भाषा का कितना साम्य है, यह लिखने बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त पद्मावत के अधिकांश प्रसंगों में राम, रावण, सीता, हनुमान, सेतबंधु, नल-नील आदि राम परम्परा के पात्रों और उनके कृत्यों चरित्रों के फुटकल भाव बिखरे पड़े हैं। मानस में इनका सुसंगत, सुगठित सावयव सजीव स्वरूप अंकित किया गया है। यों मुझे लगा है कि पद्मावत रचने का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के महत्व को प्रकाश में लाने का भी कुछ श्रेय लिये है; यद्यपि इस कार्य का सम्पूर्ण श्रेय तो तुलसी को ही प्राप्त है किन्तु यह भी तो कि जायसी ने Epic of Art लिखा है Epic of Growth नहीं।

पद्मावत रचने का तीसरा उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक-सामाजिक सम-विषम परिस्थितियों के बीच एक सीधा मार्ग प्रशस्त करने का भी रहा। मूलतः तो यह मार्ग प्रेम का ही है किंतु यह प्रेम पूर्णतः भीतरा (Subjective) न होकर स्थल-स्थल पर व्यवहारिक स्थितियों एवं मान्यताओं का भी समीचीन विश्लेषण करता है। पद्मावत में ऐसी अनेक सूक्तियाँ हैं जिनमें वाम-मार्ग और जोगी सिद्धों आदि के दुराचरणों का घोर विरोध प्रकट होता है। छंद ६२४ की प्रथम दो पंक्तियों में रिश्वत के लोभ का कितना शल्यात्मक चित्रण जायसी ने किया है—

"लोभ पाप के नदी अँकोरा। सत्रु न रहे हाथ जस बोरा।।
जहँ अँकोर तहँ नेगिन्ह राजू। ठाकुर केर बिनासहिं काजू।।"

इस प्रकार पद्मावत में सत्य, दया, धर्म, आचरण, चरित्र, ईमानदारी आदि के लौकिक महान उद्देश्यों की पूर्ति का सन्देश भी स्थल-स्थल पर पसीने के पवित्र विन्दुओं की भाँति फूट पड़ा है। यदि प्रेम और आदर्श के इस समन्वय की पृष्ठभूमि पर पद्मावत के उद्देश्य को समझा जाय तो वस्तुतः वह रामचरितमानस की उपयोगिता से प्रायः कम नहीं ठहरता। सच तो यह है कि तुलसी एवं जायसी के कवित्व धर्म (Poetic Religion) में एक सूक्ष्म अंतर्साम्य है—जीवन की आस्था और उसके उदात्तीकरण को अभिव्यक्त करने वाला ! इसकी पूर्ति के लिये इन दोनों समकालीन महाकवियों ने अपना पूरा बल लगा दिया। तुलसीदास जी का सर्वव्यापक काव्य-गुण मेरी समझ में यह है कि

उन्होंने कला और जीवन को एक लय में बाँध दिया। जीवन असंगतियों का भंडार है। काव्य जीवन की व्यवस्था का मधुर मन्त्र है। इन दोनों तथ्यों को ध्यान में रखकर तुलसीदास जी ने जिस काव्य का प्रणयन किया वह सत्य, शिव और सुन्दर का त्रिपुर है। जीवन के अनुर्वर क्षेत्र में तुलसी ने कला की फ़सल उगा दी···उनका यह श्रम, यह साधना, यह श्रेय विश्व-साहित्य की दृष्टि से अनोखी चीज़ है। उस किसान का श्रेय अकूत है जो चिरबंजर भूमि में अपने स्वेद-श्रम से एक अंकुर लहलहा दे अपेक्षाकृत उस किसान के जो चिर-उपजाऊ भूमि में फ़सल की फ़सल लहलहा दे। काव्य कला के क्षेत्र में तुलसी का महत्व और श्रेय पहले दर्जे के कृषक का है। उनके काव्य की फ़सल जीवन के बंजर क्षेत्र को लहलहाने वाली है। और इस दृष्टि से उन जैसा महान कवि कोई नज़र नहीं आता। पर जायसी ने कला के आग्रह के वशीभूत होकर भी जीवन की उपेक्षा नहीं की। ठीक है, उनके पास तुलसी के जैसे जीवनोपयोगी काव्य-कलातत्व नहीं थे, किन्तु गहन कलावादी दृष्टिकोण में वह जितना कुछ जैसा कुछ जीवन दर्शन और उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समहार कर सके वह श्लाघनीय है। इन दोनों महाकवियों ने अवधी भाषा के एक ही पथ को पकड़ा। जायसी मुसलमान थे और वे फ़ारसी अरबी के ज्ञाता थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ इसी लिपि में लिखी हैं। फिर भी उन्होंने हिन्दी भाषा में लिखा और वह इसलिये कि उनकी रचनाएँ मौलानाओं या पंडितों के गुट में ही न पढ़ी जाँय वरन् उन्हें गंवार जनता या हम-आप भी पढ़ें। ऐसा करने में उनका विरोध हुआ होगा, यह स्वाभाविक है। फिर भी उन्होंने ठेठ अवधी भाषा में ही अपना काव्य लिखा, यह कम साहस-सद्भावना का काम नहीं कहा जायगा। इधर तुलसी भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। फिर भी उन्होंने तत्कालीन संस्कृत के डिक्टेटरों की मनमानी चोटों को सहते हुए भी अपना सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'मानस' जनता की भाषा अवधी में ही रचा और इसके लिये उन्हें अपने शासकों से क्या-क्या नहीं सहना पड़ा? **"धूत कहों, अवधूत कहों···"** और कहना ही क्या, इसकी सज़ा में न तो उन्हें न चैन से खाना ही नसीब हुआ और न सोना ही—**"माँग कै खाइबो; मसीत कौ सोइबो।"**···खाने को माँगना और सोने को मस्जिद—यह थी हमारे आज के धर्म प्राण और संस्कृति के प्रतिनिधि महाकवि की उस समय की दशा! कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा के लिये इन दोनों महाकवियों ने एक जैसा त्याग किया, आघात सहा; किन्तु उसके प्रति राग रक्खा, साहित्य रचा, संक्रांति का झंडा बुलन्द किया। इसी क्रम में यह लिखना भी प्रासंगिक होगा कि पद्मावत में काव्य शास्त्र सम्मत महान उद्देश्य—**'रसौवेसः रस ँ द्वेवायं लब्धवाऽऽनन्हीं भवति"** (तैत्तिरीय उपनिषद) की सिद्धि भी सहज हो सकी है। पद्मावत में शृंगार का रस तो मधु के छत्ते के समान सर्वत्र व्याप्त है ही साथ ही उसमें वीर, करुण, बीभत्स, शान्त आदि रसों का भी इतस्ततः पूर्ण परिपाक हुआ है। समस्त "पद्मावती रत्नसेन खण्ड" संयोग शृङ्गार के भावानुभाव, संचारी भाव, आलम्बन, उद्दीपन आदि की असीम काल्पनिक और यथार्थ-स्पर्शी अभिव्यंजना से पूर्ण है। देखिए—

पदुमनि गँवन हंस गौ दूरी। हस्ति लाजि मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देख छवि बीजु लजाना॥

—(छन्द ३०२)

नागमती वियोग खंड और संदेश खंड तो मानो विरह का अपार सागर ही है, जहाँ वेदना की शाश्वत लहरों का अनंत हाहाकार सुन पड़ता है...प्रत्येक मानव उर में बैठी एक विरहिणी नारी का हाहाकार! उसे पढ़कर गुप्त जी के साकेत के नवम सर्ग की उर्मिला का ध्यान हो आता है। विप्रलंभ शृंगार की इतनी व्यापक अभिव्यंजना सम्भवतः हिन्दी साहित्य में ही नहीं अन्यत्र भी मिलना सहज साध्य नहीं और वह भी किसी एक ही कवि के काव्य में। देखिए—

"कहुकि कहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुंघची बन बोई॥

× × ×

तेहि दुख डहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते॥
राते बिम्ब भए तेहि लोहूँ। परवर पाक फाट हिय गोहूँ॥

× × ×

ना पावस ओहि देस रे ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कंत॥"

—(छन्द ३५९)

गोरा बादल युद्ध खंड में वीर रस की भी ओजस्वी अभिव्यक्ति यदि पृथ्वीराज रासो की टक्कर की नहीं तो उसकी परम्परा से अलग की नहीं कही जा सकती। देखिए—

"गोरें देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा॥

× × ×

लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसे सिंघ बघारै घटा॥
जेहि सिर देइ कोपि कर वारू। सिउँ घोरा टूटे असवारू॥
टूटहि कंध कबंध निनारे। माँठ मँजीठि जानु रन ढारे॥

× × ×

हस्ती घोर आइ जो ढूका। उठै देह तिन्ह रूहिर भभूखा॥"

—(छन्द ६३३)

पद्मावत का चौथा उद्देश्य था काव्य को जन धर्म की भाषा भाव-रूप शैली में प्रतिष्ठित करना। उससे पूर्व और समकालीन साहित्य का सृजन जिस भाषा-भाव रूप शैली में हुआ या हो रहा था वह सम्पूर्ण अर्थों में जन-रुचि या जन-समझ के अनुकूल न पड़ता था। उसमें या तो अतिकल्पना की गगनचुम्बी उड़ान थी या गहन-दर्शन के अतल सागर का अवगाहन था। हमारा तत्कालीन संस्कृत, प्राकृत एवं देश भाषा का साहित्य इस बात की पुष्टि करता है। संस्कृत के महाकवि कालिदास, भास एवं हिन्दी के महा-

कवि सूर और सन्त कवि कबीर का उच्च साहित्य प्रायः अति कल्पना एवं दार्शनिक अभिव्यक्तियों से पूर्ण है। इसके लिये सूर के दृष्टिकूट एवं कबीर के उलटबासी पद पढ़े जा सकते हैं। जायसी ने पद्मावत की रचना ठेठ मुहावरेदार अवधी जन-भाषा में की है। अवधी भाषा मुहावरों एवं लोकोक्तियों की खान है। सर्व प्रथम पद्मावत जैसा महाकाव्य लिखकर कविवर जायसी ने इस बोली-भाषा को कुछ साहित्य भाषा होने का गौरव प्रदान किया और फिर लगभग दो दशक के ऊपर महाकवि तुलसी ने इसी भाषा में रामचरितमानस महाकाव्य लिखा जिसका काव्य-गौरव किसी भारतीय से छिपा नहीं है। पद्मावत जन-भाषा का काव्य है, फिर भी उसमें काव्य रीतियों, गुणों, अलंकारों और परम्पराओं का पूर्णतः समाहार है। इन विशेषताओं और विशिष्टताओं से पद्मावत का उसी समय जन-प्रचलन ऐसा व्यापक हो गया था कि जिस प्रकार राजपूताने में 'आल्हा' गाने की प्रथा है। अवध के ग्रामों में मनोविनोद के लिये पद्मावत की रोचक कथा कहने गाने का आज भी प्रचलन है।

पद्मावत लिखने का पाँचवा उद्देश्य सूफियों, नाथों, सिद्धों, वाम-मार्गियों और कुछ वैष्णव मान्यताओं का उद्घाटन करना भी रहा है। धर्म कथाओं, आस्थाओं, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं का समाहार एवं समीकरण करते हुए जायसी ने उन्हें पद्मावत के कथानक में सँजो दिया है। जायसी इस्लाम धर्म से सम्बन्धित सूफी मत के अनुयायी थे। हिन्दुओं के नीति आदर्श और धर्म पर भी उनकी पूरी आस्था थी। इसलिए उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म की बहुत सी मान्यताओं को एक आँख से देखा, परखा और जोड़ा। एक ओर वह गोरख की अन्तःसाधना शिवाराधना से प्रभावित हुए तो दूसरी ओर सूफियों के तौहीद और इश्क-आशिकी पूजा-पाठ से भी। किन्तु इन दोनों की चरम परिणिति एक ईश्वर अल्लाह की प्राप्ति या अनुभूति में ही है। भारतीय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं इस्लाम की तरीयत, शरीकत, मारफत, हकीकत की थ्योरी में जायसी को विभिन्नता नहीं लगी; मोक्ष और बका की लयावस्था उन्हें दो अवस्थाएँ न लगीं; फना और मिथ्या का रहस्य उन्हें दूर-दूर न दीखा। और इन सबके मध्य आद्या शक्ति—पारवती और रानी पद्मावती, आद्या पुरुष शंकर और रत्नसेन के काल्पनिक रूपों ने उन्हें लुभाया भी। वास्तव में एक पहलू से साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के गोरख धन्धे को स्पष्ट करने के लिये जायसी ने पद्मावत का सृजन किया है। उनका हर पात्र किसी-न-किसी मनःस्थिति एवं परम्परा का प्रतीक लगता है। इस सबसे जायसी का सीधा आशय यही व्यंजित हुआ है कि धार्मिक विषमता, चारित्रिक विषमता वर्जनीय है और इसके स्थान पर जहाँ सद्समता है, वहीं आदर्श है, वरण योग्य है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए जायसी ने तत्कालीन सिद्धों नाथों एवं वाम-मार्गियों के रहस्यों के प्रति इतस्ततः करारी चोटें भी की हैं। उदाहरण के लिये २३९ एवं २४० वें छन्द की यह पंक्तियाँ पठनीय हैं—

"जैसे चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ये दुवौं जीव पर खेलहिं।"

"पंथ न चलहिं वेद जस भाखे।" (छंद २३४)

× × ×

"सिद्ध गिद्ध जस दिस्टि गगन मह बिनु छर किछु न बसाइ।" (छंद २४०)

किन्तु जायसी को, महान जीवन उद्देश्य की पूर्त्ति 'प्रेम भाव' ही में प्रतीत हुई, जिसका अभाव प्रायः मानवता के बीच सदा से रहता चला आया है। भले ही इस सम्बन्ध में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी—सभी के धार्मिक उपदेश-सिद्धान्त एक जैसे ठहरते हैं। संक्षेप में पद्मावत महाकाव्य हिन्दू और मुसलमानों के दिल को दिल से जोड़े रखने वाला एक वृहत इक़रारनामा या Agreement Form है, जिसका न्यायालय हृदय है और न्यायाधीश प्रेम ! इस अनौखी अदालत की प्रतिष्ठा करने में जायसी ने जान लगा दी। इसकी पुष्टि में छंद २३१ पढ़ें ।

निष्कर्ष में, पद्मावत रचने में जायसी का मुख्य उद्देश्य हिन्दू मुसलमान, इन दो संस्कृतियों, दो धर्मों, दो मान्यताओं और दो साहित्यों के बीच समन्वय का एक प्रेम-निर्झर प्रवाहित करना था, यह ध्यान में रखते हुए कि जिसमें रूप के मोहक दृश्य हों, अन्तर मिलन की प्रवाहित संगीत लहरी हो और जिसके उतार-चढ़ाव पर झूलते, बहते, हिचकोरे खाते रहने की मुखरित रसमसाती और कसमसाती-सी प्रेम पीर भी प्रतिध्वनित हो। पद्मावत के काव्य-निर्झर में अवगाहन कर मुझे कुछ ऐसा ही लगा है, शायद आपको भी यही अनुभव हो, कौन कहे !

पात्र और चरित्र-चित्रण

पद्मावत के पात्रों को मैं अपनी समझ से कुछ लोक-मनोवैज्ञानिक रूप में भी समझने-सोचने की कल्पना करता हूँ। भले ही यह कल्पना मुझसे पहले जिन्होंने इस बारे में सोचा समझा है, उन्हें अजीब सी लगे, अजीब इसलिये कि वे पद्मावत के विषय में हारिल की लकड़ी की तरह धारणा जकड़े हुए हैं कि पद्मावत के पात्र तो लोकपक्ष से अधिक आध्यात्मिक पक्ष के प्रतीक हैं कि हवाई किस्से-कहानियों के हैं। पर मुझे यह मानने में तसल्ली न हुई। कारण कि पद्मावत में इन पात्रों का अपना जैसा चरित्र-चित्रण और विकास है वह साँचे में ढला हुआ है—ठोस, पुख्ता और प्रभावदेय ! उदाहरण के लिये यदि पद्मावती परम सुन्दरी है तो अधिकांशतः दिव्य किन्तु लौकिक चरित्र से विभूषित भी। सत्य प्रेम की साधना और उसके स्वाभिमान के प्रति उसकी दृढ़ भावना देखिए—

**"पै सुनि जोगी केर बखानू। पदुमावति मन भा अभिमानू॥
कंचन जौं कसिअै कै ताता। तब जानिअ दहुँ पीत की राता॥"**

—(छन्द १७९)

इसी प्रकार रत्नसेन योग और भोग का सम्मिलित रूप है—मानव ! वह प्रेमी है तो पागल, वह पागल है तो साधक और साधक है तो सफल ! इसी प्रकार हीरामन तोता सद्मार्ग प्रेरक पथ-प्रदर्शक है। राघव चेतन वाममार्गी है—मिथ्यावाची, धूर्त्त ! नाग-

मती मन की मिथ्या, मोह माया ईर्ष्या की प्रतिमूर्त्ति है। इस प्रकार पद्मावत के प्रत्येक पात्र का वाह्य स्वरूप कथा-बल के लिये है और मूल स्वरूप मानव जीवन की भीतरी उथल-पुथल का एक मज़बूत मोहरा है। इसे खुलासा यों भी समझा जा सकता है कि रत्न-सैन एक सांसारिक मनुष्य है, तोता उसका शुद्ध चेतन मन है जो उसे इस मिथ्या संसार से निकालकर 'सद्चितानन्द' के कठिन प्रेम मार्ग पर चलने के लिये अनुप्रेरित करता है। छन्द ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८ के भावार्थ इस सम्बन्ध में पढ़े जा सकते हैं। वास्तव में तोता शुद्ध चेतन मन है जो भौतिक भोगों में घिरे रहने पर भी जीव को परमतत्व का आकर्षण देता रहता है। साधारणतः हम यह देखते भी हैं कि शुद्ध चेतन मन की ऐसी अनु-भूति सर्वथा लौकिक या भौतिकवादी मनुष्यों में भी होती है। प्रायः शराबी शराब के प्याले तक में कभी-कभी इसी शुद्ध चेतन मन की प्रेरणा सुनने लगता है, सुनना भी चाहता है।

पद्मावती शुद्ध सौन्दर्य चित्त-वृत्ति है। सौन्दर्य चित्र-वृत्ति की अतिशय प्रतिष्ठा शुद्ध चेतन मन की अपनी एक अन्यतम क्रिया है। पद्मावती ऐसी ही शुद्ध चित्रवृत्ति का प्रतीक पात्र है जिसका परिचय मनुष्य का शुद्ध चेतन मन उसे वैसे तो समय-समय पर देता रहता है किन्तु कभी उसकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि मनुष्य को वेहोशी का आलम लगने या होने लगता है। यही मीरा की लोक लाज खोकर नाचने वाली मस्ती है, सूर की निशि-दिन वरसने वाली आँखें हैं, तुलसी की सीयराम को सब जगत में देखने वाली पावन अनुभूति है! कहने का तात्पर्य यह है कि पद्मावती का जितना चरित्र व्यापार हम पद्मावत में देखते हैं उसमें एकमात्र अभ्यांतरिक सौन्दर्य का उन्मेष है जो काव्य-शब्दों में तरल झिलमिलाने ओस-विन्दुओं की तरह बिखरा पड़ा है। योग और भोग से मिला हुआ रत्नसेन रूपी मनुष्य का चेतन मन उसे समेटने के लिये विकल है, साधक है, सिद्ध है। "The joy of beauty is a joy forever"—पद्मावती मेरी समझ से ईश्वर की प्रति-छवि न होकर शुद्ध चेतन मन की वह सजीव विभूषित छवि-छाया है जिसे मनुष्य पाना चाहता है, कि जिसकी कविता ताजमहल के पत्थर-पत्थर को चीर कर आज भी मुमताज़ के अमर सौन्दर्य और प्रेम की परिकल्पना में अनेक को मृत्यु भी प्रिय बना देती है। पद्मावती के लिये रत्नसेन का सारा चरित्र व्यापार इसी बात की पुष्टि है। और स्वयं शुद्ध सौन्दर्य-चित्त-वृत्ति भी तो मानव के शुद्ध चेतन मन के सदा निकट और निकटतर होती चली जाती है। रत्नसेन और पद्मावती के ऐसे इस अनिवार्य प्रेम-सम्बन्ध को सात समुद्र खण्ड एवं पद्मावती खंड के पदों में खोजा जा सकता है। प्रायः अधिकांश काव्य में यही बात प्रधान रही है। तो इसलिये मेरा विचार है कि हीरामन तोता, पद्मावती और रत्न-सेन के चरित्र-चित्रण में पूर्णतः लौकिकता या आध्यात्मिकता न होकर मानव जीवन के एक मनोवैज्ञानिक पक्ष का काव्यानुरूप विराट् दिग्दर्शन है। जहाँ कहीं जो कुछ लोक अथवा आध्यात्म पक्ष का उद्घाटन कवि ने करना भी चाहा है, पद्मावत में उसके लिये सर्वथा अलग छन्द स्पष्ट लिखे हैं। जो लोग तोते और पद्मावती, इन दोनों को गुरू मानने वाली वात को लेकर जायसी के रूपक को उलझा हुआ होने का फतवा देते हैं, यह ठीक नहीं।

तोता केवल संसार को देखने-दिखाने वाला शुद्ध चेतन मन है। और पद्मावती मानव की वह सौन्दर्य चित्र-वृत्ति है जो ईश्वरीय शक्ति की ही दूसरी संज्ञा कही गई है। सूक्ष्मतः जायसी की पद्मावती और प्रसाद की श्रद्धा का रूप चित्रण मुझे भिन्न नहीं लगा। तुलसी के मानस की सीता भी इस रूप से भिन्न कहाँ ? उसी के लिए तो राम-रावण युद्ध, त्याग, तप, संयम, प्रेम, विरह आदि की शाश्वत अनुभूतियों का प्रकाशन तुलसी ने किया है।

इसके पश्चात इसी भाँति पद्मावत के दूसरे पात्रों को जानने की प्रेरणा उठना भी स्वाभाविक है। सीधे अर्थों में राघव चेतन मनुष्य का लम्पट अंध वैज्ञानिक अहंकारी रूप है जो मनुष्य के शुभत्व से विद्रोह करके उसे अपमानित और चोटीला बनाने की योजना बनाता है। राघवचेतन का सारा चरित्र व्यापार इस बात का साक्षी है कि उसने जो कुछ किया—अमावस्या को दूज का चाँद दिखाना, अलाउद्दीन से मंगलामुखी पद्मावती के रूप रहस्य को कहकर उसके अपहरण की प्रेरणा देना आदि-आदि—वह सब कुछ मनुष्य के पामर और अहंकारी विनाशक रूप की एक भयानक चित्रात्मकता है। अपने रोज़ के जीवन में भी हम देखते हैं कि हम अपने अहंकार के हाथों सौन्दर्य वृत्ति की कितनी मोहक सजीव तस्वीरों को तोड़-फोड़ देते हैं। मनुष्य का यही प्रतिक्रियात्मक अहंकारी रूप आज सारे विश्वयुद्ध का खतरा ओढ़े खड़ा है। राघव का यही रूप और चरित्र मुझे जँचा है। मनुष्य से परे उसे शैतान आदि के रूप में देखना मुझे गवारा नहीं। छन्द ४४७ व ४४८ में राघव का लम्पट क्रूर वैज्ञानिक अहंकारी रूप स्पष्ट है—

"राघौ पूजा जाखिनी दुइज देखावा साँझ। पंथ गरंथ न जे चलहिं ते भूलहि बन माँझ।"

अलाउद्दीन मनुष्य के मन के भीतर बैठा असद् अवचेतन का रूप है जो अवसर मिलते ही, क्रोध-अहंकार का संकेत पाकर शुद्ध सौन्दर्य वृत्ति का अपहरण करने के लिये अपने ख़ूनी पंजे फैला देता है। देखिए—

"तब अति अलाउद्दीन जग सूरू। लेउँ नारि चितउर कै चूरू॥" (पद ४८६)

किन्तु मनुष्य का भीतरी असद् रूप कभी सत्य सौन्दर्य पर प्रतिष्ठित या सफल नहीं हो सका। पद्मावती का अन्त में सतीत्व का सत इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

नागमती संसारिक गूढ़ वासना की रंगमय कृति है। बारहमासे में वर्णित उसकी विरह दशा एक प्रकार से जीवन की अतृप्त प्रणय-वासना की प्रबल प्यास है। जितनी प्रबल प्यास उतनी प्रबल पुकार। जायसी के विरह वर्णन में इसका गम्भीर स्वर सुनने को मिलता है। प्यासे के प्रति सबका संवेदन जागना स्वाभाविक है। अतः नागमती की वासना का रंग-रस हम पर भी गहरा प्रभाव डालता है—

"दहि कोइला भई कंत सनेहा। तोला माँसु रही नहि देहा॥
रकत न रहा विरह तन जारा। रती रती होइ नेनन्ह ढारा।"

यह कहने का तात्पर्य इतना ही है कि पद्मावती में जो बंधु "माया" का रूप देखते हैं वह केवल बाहरी दृष्टि से ही। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो नागमती जीवन की वह गूढ़ वासना है जो जीव के उलझाने का नहीं उससे उलझते रहने की ही चिर कामना करती

है। और पद्मावत में नागमती का सम्पूर्ण व्यक्तित्व-चरित्र इसी बात का पोषण करता लगता है।

गोरा बादल जीवन के सत्य और धर्म के प्रतीक हैं, वीर हैं। छन्द ६१४ में बादल की यही ज्वलन्त भावना प्रकट हुई।

"जादौ स्याम सँकरे जस टारा। बल हरिजस दुरजोधन मारा॥"

इस उक्ति में सत्य और धर्म की स्थापना करने वाली ऊँची अभिव्यंजना है। कृष्ण ने गीता में अर्जुन से भी कहा है—"**यदा यदाहि धर्मस्य**···"। इस प्रकार पद्मावत के पात्र और चरित्र में न अति पार्थिवता है और न अति अपार्थिवता ही; वरन हमारी-आपकी जीवन की दबती-उभरती वृत्तियों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब चित्रण है। चारित्रिक चित्रण सीधा है और अभिव्यंजना निपुण! अतः रस का परिपाक और साधारणीकरण का निर्वाह पद्मावत में यथास्थल स्वस्थ रहा है।

पद्मावत के सारे पात्र और उनका चरित्र-चित्रण पूर्णतः सांगिक (Organic) है। वह प्रेम की क्रिया-प्रतिक्रिया, राग-विराग की धुरी पर अनवरत घूम रहा है। अतः सारे पात्रों में जीवन का एक आकर्षक मनोवैज्ञानिक दर्शन सुलभ है। उसे यदि हम ऊपर-नीचे आढ़ा-तिरछा करके देखेंगे तो चाक के पाट की तरह हम उसके क्रिया उवं इस व्यापार का महत्व खो देंगे। अतः प्रेम की धुरी को पहचानकर यदि हम पद्मावत के पात्रों का चरित्र विश्लेषण करें तो अपने अन्तर्मन में ही इस दर्शन का आभास होगा, रस मिलेगा, यह निश्चय है।

महाकाव्य के कथानक के अनुसार पद्मावत के पात्र किसी निश्चित परिपाटी के नहीं कहे जा सकते। महाकाव्य का नायक किसी हद तक रत्नसेन को कहा जा सकता है। महाकाव्य का सारा संघर्ष और संचालन उसी की चरित्र-धुरी पर घूम रहा है। उसके चरित्र में एक आभाचक्र (Halo) है जिसकी ओर रसिक-पाठक की पूरी सहानुभूति बनी रहती है। कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art) में जिस प्रकार धीरललित नायक का चरित्र होना अनिवार्य है, रत्नसेन का चरित्र वैसा ही है। वह सौन्दर्य प्रेमी है, किंतु साधक भी। वह भोग के लिए योग का समर्थन सिद्ध करने वाला पहला काव्य-नायक है। यह उसके उदात्त चरित्र की एक बड़ी बात है। वह लौकिक राजा होकर भी प्रेम-मार्ग का योगी है। राग-विराग के दो छोरों को छूता हुआ उमका चरित्र सजीव, सहज और बड़ा मोहक है।

पद्मावत में, पद्मिनी जाति की नायिका के वह सभी प्रकृत-गुण विद्यमान हैं जो किसी भी महाकाव्य को नारी जाति के विशिष्ट गुणों से विभूषित करते हैं। पद्मावती में काम है तो विराम भी, सौन्दर्य है तो दिव्यता भी, उद्दीपन है तो संयम भी, भावुकता है तो मनीषा भी, प्रेम है तो बलिदान भी। पद्मावती सम्बन्धी सारे पदों में यह सबकुछ खोजा जा सकता है। देखिए—

"कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घरनि परेवा॥"—(काम)

"अपनें मुंह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होइ नहिं राजा।।"—(मनीषा)

निस्सन्देह पद्मावती के चरित्र में महाकाव्य की प्रमुख नायिका के समस्त गुणों का यथासाध्य समावेश है। यद्यपि उसमें कहीं-कहीं अलंकारिक विलास इतना अधिक है कि उसे रीतिकालीन नायिका या रूपाजीवा के निकट ले जा छोड़ता है, किंतु वहाँ भी पद्मावती पहचानी जा सकती है, इसके लिए दो मत नहीं हो सकते। सम्पूर्ण पद्मावत के दो तिहाई भाग में पद्मावती का ऐसा विशेष पार्ट प्ले हुआ है।

अन्य गौण पात्रों में अलाउद्दीन एवं राघवचेतन खल पात्र हैं। इनके चरित्र में धूर्त रूप प्रकट होता है। नागमती का चरित्र घरेलू (Domestic) है। उसे अपने कंत रत्नसेन के प्रति वैसी ही आस्था है जैसी कि एक भारतीय मध्यकालीन नारी में विद्यमान थी। उसके चरित्र में एक साध्वी स्त्री के भाव प्रमुख हैं किंतु फिर भी घरेलू नारी की दुर्बलताएँ उसमें अपनी पद्मावती सौत के संसर्ग से प्रकट होती है। यह जायसी के लोक-दृष्टि की मुख्य दिशा है।

हीरामन-तोते का चरित्र "**महापंडित हीरामन नाँऊ**" उक्ति के अनुसार अधिक विश्वसनीय है। कालिदास के यक्ष ने भी प्रकृति के प्रतिनिधि बादल को ही अपनी प्रेम-कथा का वाहक बनाया था; इसी प्रकार बाण की कादम्बरी कृति में सूए की चर्चा है। हीरामन तोते का चरित्र भी कुछ इसी प्रकार का परम्परावादी-सा है। तोते की जाति को भूलकर यदि हम हीरामन जैसे गुरु की बात सोचें तो उसका चरित्र अत्यन्त गम्भीर, स्वाभाविक एवं ज्ञान-सम्मत हो जाता है।

पद्मावत के पात्रों का चरित्र पाठकों को पहले खण्ड-खण्ड रूप में व्यक्तिगत (Personal) सा लगता है किन्तु पूर्णरूप मे सोचने पर हर पात्र का चरित्र विकसित दिशा और दशा में अन्ततः वर्गगत हो जाता है। पद्मावती-रत्नसेन राजश्री वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। नागमती में यद्यपि निजू वासना अधिक है किन्तु वह वासना दाम्पत्य-जीवन की सहज वृत्ति है जो प्रत्येक भारतीय नारी के हृदय में छिपी बैठी है। तोते में भी सच्चे गुरु वर्ग का चरित्र मुखर है। चरित्र विकास की यह एकता और विविधता जायसी की उच्चतम काव्य प्रतिभा का बोध करती है।

पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए कवि ने लोक-व्यवहार की भाषा का, लोकोक्तियों का, मुहावरों का बड़ी निपुणता से प्रयोग किया है। यहां मुंशी प्रेमचन्द की भाषा-शैली की याद आ जाती है। प्रेमचन्द ने अपने चरित्र-चित्रण की सफलता की कुंजी—लोक-बुद्धि को कभी भुलाया नहीं था, तद्नुरूप ही उन्होंने भाषा का प्रयोग किया। इसी प्रकार जायसी ने भी देश प्रचलित मुहावरे, अति प्रचलित बोली एवं तीर-सी पैनी लोकोक्तियों का सम्पूर्ण पद्मावत में स्थल-स्थल पर प्रयोग किया है। बाबू श्यामसुन्दर जी का कहना है कि "जायसी ने पद्मावत में अवधी भाषा का प्रयोग किया है। यह अवधी तुलसी की रामायण की भाषा की भांति साहित्यिक नहीं है वरन् ठेठ प्रचलित भाषा है।" देखिये—

१ को अस हाथ सिंघ मुख घाले।
२. पिता हमार न आँख लगावहि।
३. घर के भेद लंक जनु फूटी।
४. तुरय रोग हरि माथे आये।

वाद में तुलसी ने भी 'मानस' में इस प्रकार के प्रयोग कहीं-कहीं किये हैं।

जायसी ने प्रायः अधिक प्रचलित देहाती अवधी शब्दों का प्रयोग ही अधिक किया है जैसे पुरबिला (पूर्व जन्म का), हींछा (इच्छा) आदि; पर ऐसा करने में व्याकरण के साथ विरोध भी प्रकट होता है। पर काव्य-गुण-रस की उपलब्धि के लिए शब्दों की जड़ता पर गम्भीर विचार करना उचित नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष

पद्मावत में कहीं-कहीं अलंकारिक ऊहात्मकता भी आई है, कहीं वस्तु परिगणन की नीरसता भी, कहीं सिद्धांत प्रयोजन-प्रतिष्ठापन की दुरूहता भी, कहीं प्रेम विरह की उबात्मकता भी, किंतु इसके साथ ही भाषा शैली की सरलता, चरित्र-चित्रण की संश्लिष्टता एवं काव्य-धर्म की उदात्तता का रूप पद्मावत में विशिष्ट रहा है, अतः पद्मावत की गूढ़तम भावभूमि को समझने में भले ही कहीं कठिनाई लगे पर काव्य का रस सर्वत्र मिलता है।

उपरोक्त सारे तथ्यों को ध्यान में रखकर मैं निष्कर्ष में लिखना चाहूँगा—

१. जायसी में एक महाकवि के समस्त गुण विद्यमान थे और उनका संगठित रूप है महाकाव्य पद्मावत !

२. जायसी की आंतरिक दृष्टि में विराग और वाह्य दृष्टि में राग का पूर्णतः आग्रह-आकर्षण रहा है। इन दोनों का समन्वय पद्मावत में पूर्णतः सिद्ध है।

३. जायसी अपने समय की समस्त धार्मिक, राजनैतिक, दार्शनिक सामन्ती वैलासिक प्रवृत्तियों के निरपेक्ष द्रष्टा थे। अतः उनके पद्मावत में इन सबका तथ्य विद्यमान है।

४. जायसी को काव्य में प्रचलित रीतियों, गुणों, रसों, अलंकारों का पूर्णतः ज्ञान था, अतः पद्मावत में इनका विशिष्ट समावेश है।

५. जायसी की शैली इस्लामी, भाषा जन प्रचलित एवं अनुभूति-अभिव्यक्ति निश्छल है। पद्मावत इसका प्रतीक है।

६. जायसी के मानस में दार्शनिक कलाकार का स्वर प्रधान रहा है। अतः उनका काव्य दिव्य जीवन की परिकल्पना से भी युक्त लगता है।

८. रस, पात्र और कथानक की दृष्टि से हिन्दी के प्रथम महाकाव्यकार जायसी ही हैं। पद्मावत इसका मूर्त विधान है।

६. जायसी का शृङ्गार वर्णन महान रागात्मक तत्वों से पूर्ण है। उनका विरह-वर्णन अद्वितीय एवं परम तत्वों से विनिर्मित है।

१०. हिन्दी काव्य जगत में तुलसी एवं जायसी का स्थान अपनी-अपनी दृष्टि से समान है। तुलसी के रामचरितमानस एवं जायसी के पद्मावत की भाषा भाव-शैली और कल्पना का साम्य इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

१६-डी० एफ०,
तिमारपुर, दिल्ली।

—**जीवनप्रकाश जोशी**

: १ :

सूफीमत का उद्भव और विकास

'सूफी धर्म' के उद्भव को जानने के पूर्व 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेना नितांत आवश्यक है; वस्तुतः अत्यधिक महत्वपूर्ण न होते हुए भी विद्वानों के विवाद का यह एक गंभीर विषय रहा है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं जिनमें कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं :—

"कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था, उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाये। दूसरे लोगों का कहना है कि सूफी शब्द के मूल में 'सफ' (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किये जायेंगे, वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। चौथे दल के विचार में सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपांतर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है। पर अधिकतर विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में सूफ (ऊन) से बना है। सूफधारी ही वास्तव में सूफी के नाम से विख्यात हुए। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ प्रभृति विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में सूफी शब्द सूफ से बना है। अनेक मुस्लिम प्रतिभाओं ने भी इसे स्वीकार किया है। अस्तु हमको यह व्युत्पत्ति मान्य है। जान या यूहन्ना भी सूफधारी था, पर अब सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही नियत-सा समझा जाता है।"[1]

"ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ; राजनीतिक नहीं धार्मिक। पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। वह फारस का एक छोटा सा संप्रदाय था। इसने परम्परागत मुस्लिम-आदर्शों का ऐसा घोर विरोध किया कि कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई। इस संप्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलांजलि-सी दे दी। संसार के सारे ऐश्वर्यों और सुखों को स्वप्न की भाँति भुला दिया। बाह्य शृंगार और बनावटी बातों से उसे घृणा हो आई। उसने एक स्वतंत्र मत की स्थापना की। सादगी और सरलता ही उसके बाह्य जीवन की अभिरुचि बन गई। कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से उसे घृणा हो गई। सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रख उस संप्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र भी बहुत साधारण रखे। वे थे सफेद ऊन के साधारण वस्त्र।

---

१. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ और सूफीमत

फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ' कहते हैं। इसी शब्दार्थ के अनुसार सफेद ऊन के वस्त्र पहिनने वाले व्यक्ति 'सूफी' कहलाने लगे। उनके परिधान के कारण ही उनके नाम की सृष्टि हुई।"[१]

सूफी शब्द का व्यवहार किसी व्यक्ति के साथ, कब से उपाधि रूप में जुड़ा कुछ निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। लेकिन कुथैरी के अनुसार इस शब्द का प्रचलन ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बहुत हो गया। 'अवारीफुल मारीफ' के प्रणेता शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी का भी ऐसा ही कथन है कि पैगम्बर की मृत्यु के दो सौ वर्षों के बाद ही इस शब्द का अविर्भाव हुआ। वैसे बाद में चलकर सूफी संप्रदाय के सम्बन्ध में लिखने वालों ने जो उसके किसी न किसी संप्रदाय में अर्न्तभुक्त थे, इस बात को बहुत दूर तक बढ़ा चढ़ाकर लिखा है। इन लोगों के अनुसार यह शब्द और मत पैगम्बर के समय से अथवा उससे भी पहले से चला आ रहा है। इन कथनों में भावना और कल्पना का ही प्रधान्य है। किसी ऐतिहासिक तथ्य की उद्भावना नहीं। जामी का कहना है कि सर्व-प्रथम इस शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ने वाला कूफा का अलहाशिम था। निक-ल्सन के विचार से अरबी लेखकों में संभवतः बसरा का 'जाहिज प्रथम' था। जिसने सूफी शब्द का प्रयोग किया है। इसी क्रम में प्रो० रामपूजन तिवारी अपनी पुस्तक "सूफीमत साधना और साहित्य" में आगे लिखते हैं कि **"इसमें संदेह की गुन्जायश नहीं कि प्रारं-भिक काल में सन्यास जीवन बिताने वाली प्रवृत्ति ही प्रमुख थी, जिसने बाद में रहस्य-वादी प्रवृत्तियों को अपनाया। सन्यास जीवन और रहस्यवादी प्रवृत्ति का संयोग उमैय्या खलीफों के शासन के अन्तिम दिनों में दीखने लगता है और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। अब्बासी खलीफों के शासन के प्रारम्भिक काल में ही यह प्रवृत्ति अत्यधिक व्यापक हो उठती है और 'सूफी' शब्द का प्रसार अधिक से अधिक हो जाता है। पहले जहाँ यह शब्द व्यक्तियों के नाम के साथ जुड़ा हुआ मिलता है, वहाँ पचास वर्षों के भीतर इसका प्रयोग सम्पूर्ण ईराक के रहस्यवादी साधकों के लिए होने लगा और दो सौ वर्ष बीतते-बीतते प्रायः सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिए इसका व्यवहार होने लगा। तब से आज तक 'सूफी' शब्द का व्यवहार उसी अर्थ में होता आ रहा है।"**

सूफी मत तथा उसका उद्भव—इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में कम मतभेद नहीं। **"सूफी शब्द का प्रचलन चाहे जब हुआ हो, परन्तु इसमें अन्तर्निहित भावना उतनी ही प्राचीन है जितना विकसित मानव हृदय, क्योंकि सूफी भावना भी मानव में सदैव से तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। मानव मन निसर्गतः एक-सा है जो सदा आत्म के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है। मुस्लिम साधकों के मन में भी यही भावना देश काल के साधन पाकर उद्बुद्ध हुई और अन्त में सूफीमत के रूप में संसार के समक्ष आविर्भूत हुई।"**[२]

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—कबीर का रहस्यवाद

२. डा० विमलकुमार जैन—सूफीमत और हिन्दी साहित्य

अबुल हसन अलनूरी के अनुसार सूफीमत संसार के प्रति घृणा और प्रभु के प्रति प्रेम रूप गंभीर धार्मिक भावों का प्रकाशन था। जुनेद का कहना है कि तसव्वुफ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है।

अली गजली की दृष्टि में जो शांति से रहता हुआ ईश्वर में अविराम लीन रहे, सूफी है। शिब्ली ने ईश्वर के अतिरिक्त अखिल विश्व के त्याग को तसव्वुफ कहा है। अलहुजविरी अमूर्त तत्व को ही सूफीमत बताता है।

डा० विमलकुमार जैन की दृष्टि में, **"विधि-विधानों से मुख मोड़ निखिल विश्व में व्याप्त इस शाश्वत तथा अमूर्त शक्ति की झलक सर्वत्र पाकर मुस्लिम साधकों ने जो रहस्य अभिव्यक्त किये उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफीमत है।"** सूफीमत या तसव्वुफ भी रहस्यवाद ही है जो अन्तर्निहित भावना के सार्वकालीन एवं सार्वदेशिक होते हुए भी मूलतः मुस्लिम संप्रदाय से सम्बन्ध रखता है। विश्व में सचाई एक है। रहस्यवाद, चाहे वह सूफीमत हो चाहे अद्वैत मत, उसी सचाई के आविष्करण का नाम है।

इस प्रकार सूफीमत केवल आदर्शवाद से परे तथा बौद्धिक स्तर को आधार न बनाता हुआ एक धर्म है। जिसमें रहस्य के प्रकटन का प्राधान्य होता हुआ भी चमत्कार को कोई स्थान नहीं है।

डा० लक्ष्मीधर शास्त्री ने भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इस्लाम से पूर्व दक्षिणी अरब और यीमैन की सभ्यता का उद्गम भारतीय था। ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई प्रचारकों ने अरब में पग रखे और नजरान में आकर बसे। ईसाई साधु इतस्ततः भ्रमण करते तथा हनीफ लोगों को मूर्ति पूजा के त्याग और एकेश्वरवाद की शिक्षा देते। साथ ही सन्यस्त जीवन को अपनाने के लिए उत्साहित करते थे और सादा वस्त्र एवं अनेक प्रकार के भोजनों से निवृत्ति की शिक्षा भी देते थे। कुरान में भी ईसाइयों की प्रशंसा की गई है।

"इस्लाम से पूर्व अरब में बहुविवाह प्रचलित था। वह प्रथा मुसलमानों में भी आई। ईसाई मत इस विषय में प्रभाव न डाल सका। अनेक गुह्य मण्डलियाँ भी थीं तथा देव-दासियों का भी प्रचार था, जिनके द्वारा रति को प्रदीप्ति मिल रही थी। साधकों ने उस रति-भाव को रति-परक कर दिया जिसमें कुरान में वर्णित, ईश्वर सब का है, विश्व के सारे धर्म उसी एक की अराधना करते हैं; भिन्न-भिन्न रूपों में वही किसी महापुरुष द्वारा सद्ज्ञान प्रचारित करता है। अतः दृश्य भिन्न-रूपता नगण्य है। इन शिक्षाओं ने उदार शिष्यों के हृदय में विश्व-बन्धुत्व उत्पन्न कर दिया। आगे चलकर यही रतिभाव सूफीमत का आधार बना। सूफी साधकों ने इसी सांसरिक प्रेम को दैवी प्रेम की सीढ़ी माना।"[1]

---

१. विमलकुमार जैन—सूफीमत और हिन्दी साहित्य

मुहम्मद साहब के जीवन का अध्ययन हमें बतलाता है कि वे संसार से विरक्त भी थे। संसार का अतर्द्वन्द उन्हें कभी-कभी विकल कर देता था और वे एकान्त चिन्तन में लीन रहते थे। चालीस वर्ष की अवस्था से कुछ पूर्व वे हेरा की गुफाओं में चले जाते थे और कई दिनों पर्यन्त ईश्वरीय ध्यान में निमग्न रहते थे। सन् ६०६ ई० रमजान के दिनों में एक रात उसी गुफा में उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई। उनमें दैवी गिरा अवतरित हुई। कुरान उसी का परिणाम है। उन्होंने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया। हेरा की गुफा का यही चिन्तन सूफीमत के चिन्तन का प्राथमिक आधार बना। इस प्रकार आदि सूफियों को अंतिम रसूल के जीवन में सूफीमत के बीज मिले।

कुछ सूफियों का कथन है कि सूफीमत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहिम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ एवं मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफीमत अथवा तसव्वुफ के आविर्भाव में पैगम्बर साहब की शिक्षाओं एवं उनके निजी व्यक्तित्व ने पर्याप्त सहयोग दिया। मुहम्मद साहब द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कोई नई चीज नहीं थी वरन वैदिक तथा ईसाई एकेश्वरवाद का ही यह प्रतिरूप था। ईश्वर का जो स्वरूप वर्णित है उसमें सूफियों के लिए रहस्यवाद के बीज विद्यमान थे। सूफी ईश्वर को भय का कारण न मानकर प्रेम का पात्र मानते हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि सूफीमत का मूल स्रोत कुरान ही है जिसका रहस्यपूर्ण अर्थ केवल सूफियों के हृदय में ही प्रकाशित हुआ था।

"सूफीयों की भावाविष्टावस्था उनके प्रेमोन्माद और परमात्मा को पाने की आतुरता कुरान से आई हुई नहीं जान पड़ती। इस्लाम धर्म की प्रकृति में इस प्रकार की रहस्यवादी भावना नहीं है। वैसे ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि रहस्यवादी भावना इस्लाम में एकदम नहीं है, लेकिन इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक काल के धार्मिक प्रवृत्ति वाले मुसलमानों का ध्यान उसकी ओर नहीं था। मनुष्य और परमात्मा के बीच प्रेम का सम्बन्ध तथा अन्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ उसमें बाहर से आईं।"[1]

सूफीमत की रहस्यात्मक प्रवृत्ति जब इस्लाम से नहीं आई तो आखिर कहाँ से आई। इस सम्बन्ध में कुछ योरोपीय विद्वानों ने खोज की है जिनमें से अधिकांश का यह मत है कि उस काल में जिस समय सूफीमत ने रूप लेना प्रारम्भ किया था, ग्रीक-दर्शन और ग्रीक-विचारकों का प्रभाव इस्लामी दुनियाँ में अधिक था।

एडलवर्ट मर्क्स ने सूफी मत का आविर्भाव यूनानी दर्शन से बताया है। ब्राउन का कहना है कि अन्य विचार धाराओं की अपेक्षा सूफीमत के सिद्धान्तों के बनने में नव अफलातूनी दर्शन का सबसे अधिक हाथ है।

निकोल्सन ने यूनानी प्रभाव को सूफीमत के आविर्भाव तथा विकास में प्रमुख

---

१. प्रो० रामपूजन तिवारी—सूफी-साधना और साहित्य

स्थान दिया है उसके अनुसार यूनानी प्रभाव के कारण इस्लाम के प्रारम्भ कालीन सन्यास का रूप बदल गया और रहस्यवादी प्रवृत्तियों का उसमें प्रवेश हुआ तथा सन्यास जीवन के क्रिया-कलापों का उद्देश्य यह माना जाने लगा कि वे आत्मा की शुद्धि के लिए साधन मात्र है। आत्म शुद्धि का प्रयोजन यह समझा जाता था कि आत्मा विशुद्ध होकर परमात्मा को जान सके। उससे प्रेम कर सके तथा उसके साथ एकत्व प्राप्त कर सके। इसके साथ ही निकोल्सन ने सूफीमत पर ईसाई धर्म तथा बौद्ध धर्म का भी प्रभाव माना था।

सूफियों की अनेक क्रियाओं में भारतीयता की छाप है। वान क्रैमर के साथ गोल्डजिहिर इस बात पर एक मत है कि सूफियों के भावाविष्टावस्था को उत्पन्न करने वाली कुछ क्रियाएँ भी निस्सन्देह सूफीमत में भारत से आयीं।

वान क्रैमर ने सूफीमत पर ईसाई साधकों के तापस जीवन और बौद्धों की चिन्ताधारा दोनों का प्रभाव माना है। उसकी दृष्टि में बौद्ध तत्व चिन्तन के द्वारा इस्लाम की रहस्वादी प्रवृत्ति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए वही सूफीमत के रूप में प्रगट हुआ। सोपेनहावर ने सूफीमत पर भारत का पूर्णतः प्रभाव माना है।

बहुत लोगों का ऐसा भी कहना है कि सूफीमत वास्तव में हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन का इस्लामी संस्करण है।

कुछ लोगों का ऐसा भी कहना कि सूफीमत वास्तव में आर्य जाति के धार्मिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ जबकि कुछ लोगों ने इसके आविर्भाव को सैमेटिक (शामी) धर्म की विजय के विरुद्ध आर्यों की प्रतिक्रिया माना है।

प्रोफेसर रामपूजन तिवारी ने उपर्युक्त समस्त मतों की चर्चा करते हुए आगे लिखा है कि **"जिस काल में सूफीमत के रूप ग्रहण करने की बात कही जाती है उस काल के पहले से ही भारतवर्ष के साथ अरबों का घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था। इन राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्धों के साथ वे यहाँ के लोगों के रहन-सहन, धर्म, साधना-पद्धति आदि के सम्पर्क में भी आये। वे यहाँ के बौद्ध संन्यासियों, तान्त्रिकों, सिद्ध-पीठों से अवगत हो चुके थे। सिंध के लोगों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होना बिलकुल स्वाभाविक है। सिन्ध में उस काल में बौद्ध धर्म का प्रचार था। इसका पता अरबों के विवरण से चलता है।"**

दो प्रकार की संस्कृतियाँ अगर पास ही पास हों तो वे एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। साधारण जनता का बाह्यचारों से परिचित होना स्वाभाविक है मुस्लिम जनता ने निकटवर्ती क्षेत्रों में बौद्धश्रवणों की दिनचर्या सन्यासी जीवन आदि को देखा था और बहुत अंशों में वह प्रभावित भी हुई थी। इन बाह्याचारों के साथ बौद्ध-दर्शन का भी कुछ-कुछ परिचय धार्मिक प्रवृत्ति वाले मुसलमानों को था। सूफी साधकों ने माला का व्यवहार इन बौद्ध भिक्षुओं से सीखा। कट्टर मुशलमान इन साधकों को माला का व्यवहार करते देख अप्रसन्न होते थे। बाद में कुछ परिवर्तनों के साथ इस्लाम में भी माला का समावेश हो गया।

भारतीय चिन्ताधारा से अरब तथा अन्य देशों का परिचय साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि द्वारा भी हुआ था।

अन्त में प्रो० तिवारी इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "**इसके आविर्भाव तथा विकार में अन्य धर्म और मतों जैसे भारतीय वेदान्त, बौद्धधर्म, नास्टिक मत, नव अफलातूनी तथा यूनानी दर्शन का प्रभाव रहा है। लेकिन यह प्रभाव नकल के रूप में नहीं रहा है बल्कि उन बाहरी विचारधाराओं को सूफी साधकों एवं तत्व-चिन्तकों ने अपने ढंग से अपनाया और सूफीमत का विकास इस्लाम धर्म को ध्यान में रखते हुए ही हुआ।**"

वस्तुतः सूफीमत के आविर्भाव का केन्द्र-बिन्दु कोई एक नहीं। न तो यह मत इस्लाम से निकला और न बौद्ध, हिन्दू अथवा ईसाई धर्मों से। इस धर्म के मूल में प्रारम्भ में तापसी जीवन व्यतीत करने वाले पवित्र साधुओं की उस सावित्क मनोवृत्ति का वास है जो पारलौकिक प्रेम को प्राप्त करने में उनकी सहायिका रही है। कालान्तर में विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कृतियों तथा परिस्थितियों के सम्पर्क में आने से समयानुकूल उसमें परिवर्तन होते गये, जिसमें अनेक नवीन तत्वों का समावेश भी हुआ। इस प्रकार उत्तरोत्तर इसका विकास होता गया। यही कारण है कि सूफीमत में वे सभी तत्व हैं जिनके द्वारा मानवता का उच्चतर भाव भूमि पर अनुभव और विकास होता है। सूफीमत की मूल प्रेरक भावना को किसी एक धर्म, जाति या परम्परा की सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

सूफीमत का विकास—इस्लामी धर्म तथा शासन सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष मुहम्मद का निधन ८ जून ६३२ ई० को हुआ। उनकी प्रिय पत्नी आएशा के पिता अबूबकर उनके उत्तराधिकारी निर्वाचित हुए। किन्तु उनके समय में स्थान-स्थान पर विद्रोह की ज्वाला फूटी। प्रथम बार एक अस्त-व्यस्तता नजर आई, तदुपरान्त उनके उत्तराधिकारी 'उमर' खलीफा हुए और फिर उनके बाद उस्मान अध्यक्ष चुने गये। उस्मान के समय में ही अरब ने शीघ्रता से विलासिता की ओर कदम बढ़ाये। इस्लाम की पवित्रता अब काल्पनिक वस्तु रह गई। बारह वर्षों के अल्प-जीवन में ही वह इस गति को प्राप्त हुआ। उस्मान ६४४ ई० में खलीफा हुए थे। उस्मान के बाद ६५६ ई० में अली जो कि ईश्वरीय दूत के दामाद थे, इस बार इस्लामी धर्म तथा शासन सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष नियुक्त हुए। किन्तु इनके समय में स्थिति और भी डावाँडोल हो गई। स्वार्थों की आँधी ने उसके सिंहासन को डगमगा दिया। मुआवियाविन अबी सुफया के अधिनायकत्व में एक भारी विद्रोह हुआ और एक दर्द-भरी कहानी के साथ अन्ततः मुआविया खलीफा हुए।

इस समय तक मुहम्मद के चारों साथी विश्व से विदा ले चुके थे। मुआविया ने, जो इस समय खलीफा के पद पर था, सर्वप्रथम अपने को बादशाह कहा। किन्तु जनता इससे बहुत ही असन्तुष्ट थी। धीरे-धीरे उसमें दो दल हो गये—सिया और खारिजा। ६८० ई० में अली के पुत्र हुसेन ने सामने आकर अपने को सच्चा खलीफा पद का अधि-

कारी कहा। इस समय मुआविया का पुत्र वजीद सिंहासन पर था। उससे हसन हुसेन का भीषण युद्ध हुआ। कर्बला की भूमि रक्त-रंजित हो गई। हसन-हुसेन तथा उसके सभी साथी मृत्यु को प्राप्त हुए। वजीद बड़ा नृशंस था। उसने मक्का तथा मदीना पर भी अत्याचार किया। इसकी प्रतिक्रिया हुई। मुख्तार नाम के एक व्यक्ति के नेतृत्व में लोगों ने उसे मार डाला। सीरिया के अरब भी उत्तरी और दक्षिणी अरबों में विभक्त हो गये।

इस्लाम की जन्मदात्री अरब की पुण्य भूमि का सातवीं शताब्दी का यही इतिहास है। इस समय तक जनता इन विद्रोहों और क्रान्तियों से ऊब चुकी थी। उसे अब सन्देह होने लगा कि क्या मुम्हमद साहब की शिक्षा यही मार-काट सिखाती थी ? क्या कुरान ने मानवता के इसी पथ का प्रदर्शन किया था ? क्या इस्लाम के अधिष्ठाता का यही आदर्श स्वरूप था ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उस समय की शान्ति-प्रिय जनता के मस्तिष्क में उठने लगे थे। मुहम्मद साहब की मृत्यु को अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि इसी बीच पतन का यह ताण्डव नर्तन और नृशंसता का यह रूप प्रकट हुआ। जनता को इससे भारी विरक्ति हो गई और वह कुरान के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए लालायित हो उठी। परिणाम स्वरूप एक वर्ग बन गया जिसने कुरान का एक दूसरा ही अर्थ निकालना आरम्भ किया। सूफी-धर्म का मूल यहीं से इस्लामी सम्पर्क लिए आरम्भ होता है।

आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध शान्तिपूर्ण ढंग से बीता। खलीफाओं ने राज्य-व्यवस्था में उन्नति करवाई। जनता के उपर्युक्त वर्ग को कुछ सोचने-समझने का अवसर मिला और विद्या तथा कला की विशेष उन्नति हुई।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुनः विप्लव आरम्भ हुए। मुस्लिम जनता का अल्पसंख्यक वर्ग इससे घबरा गया। शान्ति की भूखी जनता विह्वल हो उठी। यह अशान्ति और उच्छृङ्खलताओं का युग था। सलमान पारसी ईश्वर के नेतृत्व में एक धार्मिक सुधार आन्दोलन हुआ। सलमान पारसी ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का उपासक था। ईश्वर और मनुष्य के बीच प्रेम का सम्बन्ध ही वह सर्वोत्तम मानता था। उसका वह प्रेम सांसारिकता से दूर आध्यात्मिक प्रेम था। पर उसने विश्व की भी उपेक्षा नहीं की, प्रकृति में उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखा। सूफी धर्म का प्राण रहस्यवादी प्रेम यहीं से जीवन आरम्भ करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सातवीं शताब्दी के अन्त में सूफी धर्म का आकारिक आविर्भाव होता है और नवीं शताब्दी तक उसे विकास का स्वरूप मिल जाता है। फिर उत्तरोत्तर उसकी गति का अपना अस्तित्व बनता गया। इसी विकास-कथा को डा० कमलकुलश्रेष्ठ ने निम्न चार कालों में बाँटा है जिन्हें हम साभार उद्धृत करते हैं—

१—**तापसी जीवन**—(७-९वीं शताब्दी ईसवी)।

२—**सैद्धान्तिक विकास (१०-१६वीं शताब्दी ईसवी)।**

३--सुसंगठित सम्प्रदाय (१४-१८वीं शताब्दी ईसवी)।

४--पतन (१६वीं शताब्दी ईसवी से आधुनिक समय तक)।

तापसी जीवन--ऊपर हमने बताया है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में जनता का एक वर्ग इस्लाम के प्रचलित स्वरूप से सशंकित हो उठा था। सम्भवतः उसका यह दृढ़ विश्वास हो चला होगा कि मोहम्मद साहब की शिक्षा में कुछ और अधिक गहराई है। कुरान मानवता को किसी दूसरे मार्ग पर जाने का आदेश देती है और इस्लाम के धवल प्रकाश ने किसी दूसरे समुन्नत लक्ष्य की ओर ले जाने वाले पंथ को आलोकित किया है। इस वर्ग के मनुष्यों को मोहम्मद साहब का जीवन तथा कुरान की पवित्र पुस्तक कुछ दूसरी शिक्षाएँ देती थी। यह वर्ग उस समय के पतनोन्मुख समाज से अलग एकान्त में व्यष्टि का तापसी जीवन व्यतीत करता था। सूफी-धर्म की प्रारम्भिक उत्पत्ति इसी में अन्तर्निहित है। मोहम्मद द्वारा प्रचारित इस्लाम धर्म के धवल प्रकाश में कई रंग की किरणें मिली हुई थीं। राजनीति के शीशे ने उनको अलग-अलग बिखरा दिया। शिया, खारिजा, मुर्जिया और कादरी सम्प्रदायों ने सबसे पहिले जन्म लिया। बाद में ये सम्प्रदाय उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गए।

ईसा की सातवीं शताब्दी में सूफी साधक परम्परागत धर्म की पाबन्दी और इसके नियम-कानूनों को मानकर ही चलते थे। उस समय तक सूफीमत नकारात्मक विशेष था। उसके सिद्धान्तों का उस समय तक समुचित विकास नहीं हो पाया था। इस समय तक वे न साधना के मानसिक पक्ष की ही ओर अग्रसर हो पाये थे और न पूरा-पूरा फकीरों जैसा जीवन बिताने तक ही सीमित है। पैगम्बर के कुछ विशेष वचनों और उपदेशों को वे अत्यधिक महत्व देते थे। धीरे-धीरे तत्व-चिन्तन की ओर भी अग्रसर होने लगे। किन्तु यह तत्व-चिन्तन की प्रवृत्ति भीतर ही भीतर काम कर रही थी। प्रकाश में लगभग सौ वर्षों के बाद आई।

ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सूफी साधना का मानसिक पतन प्रबल होता गया और सूफी साधकों ने परम सत्ता की सर्वव्यापकता तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परम सत्ता के दर्शन करने के सिद्धान्त को अधिक से अधिक अपनाया। बग़दाद उस काल में एक जबरदस्त सांस्कृतिक केन्द्र था। अब्बासी खलिफों के दरबार में विद्वानों और अन्य सुधी जनों का पूरा सम्मान था। बाहर के विद्वान वहाँ आते थे और ईसाइयों, बौद्धों तथा मुसलमानों के बीच शास्त्रार्थ हुआ करता था इसका प्रभाव सूफी साधकों पर पड़ा। ईसा की आठवीं शताब्दी के पिछले-दस पंद्रह वर्षों से लेकर नवीं शताब्दी के लगभग साठ वर्षों तक, ७५ वर्षों का काल सूफीमत के विकास की एक नई दिशा की सूचना देता है। इसके पहले के साधक फकीरों-सा सादा जीवन बिताते थे और इस प्रकार के जीवन को वे ईश्वरीय विधान के अनुरूप समझते थे। फकीरी जीवन बिताने के साथ-साथ इन साधकों ने परम सत्ता को प्रियतम के रूप में देखा। इसके लिए उनके हृदय में प्रेम की व्याकुलता थी। उसका प्रेम पाना ही उनके लिए अभीष्ट

था। प्रेम की यह विह्वलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस काल के साधक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परम सत्ता के दर्शन पाने लगे तथा अहं को खो कर बेखुदी की हालत में परम प्रियतम का साक्षात्कार करने लगे।

सारांश यह है कि इस समय का सूफी-धर्म अत्यधिक व्यवहारिक था और अपने आदर्श के निकट था। पार्थिव संघर्षों से दूर प्रकृति की एकांतिक गोद में उसका विकास हो रहा था। सूफी मत के सिद्धान्त, निर्माण की राह में थे।

सैद्धान्तिक विकास—उपर्युक्त बातों की चर्चा करते हुए प्रो० रामपूजन तिवारी लिखते हैं कि **"सूफियों के प्रेम और बेखुदी के सिद्धान्त इस्लाम के धर्मानुयायियों को खटकने वाले थे। सूफी इस्लाम के बाह्य आचारों को उतना महत्व नहीं देते थे और उनकी व्याख्या अपने ढंग से करते थे। केवल बाह्य आचार का यंत्रवत् पालन करना सूफियों की दृष्टि में बेकार था। वे अन्तर की शुद्धि तथा हृदय से धर्म के नियमों को समझना और उनका पालन करना ही असली धर्म का पालन करना मानते थे। इसका फल यह हुआ कि बहुत से सूफी साधकों को प्राण गवाँ देने पड़े और कितनों को निर्वासित होना पड़ा।"** राबियाँ और उसकी सहेलियों को शरीयत विरुद्ध भावनाओं के प्रकाशन के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। बरजा के हाथ-पैर काट दिये गये। किन्तु इन सन्त महिलाओं ने रसूल (मुहम्मद) की उपेक्षा की और सारे जीवन को परमेश्वर के प्रेम से प्लावित कर दिया। मीरा जिस तरह अपने को कृष्ण की दुलहिन समझती थीं उसी तरह राबियाँ और उसकी सखियाँ अपने को अल्लाह की दुलहिन समझती थीं। इनके उद्गारों में जहाँ प्रेम का पुनीत दर्शन है, जहाँ भावना का दिव्य विलास है, वहाँ वेदना का भी प्राचुर्य है। मंसूर शतसः प्रेमी जीव था। इसी से शरीयत के उपासक उसके प्राणों के ग्राहक हो गये। पर इससे वह घबराया नहीं। हँसते-हँसते प्राण गँवा दिया। **'अनलहक'** कह कर उसने भारतीय ब्रह्मवाद के **'तत्वमसि'** की बात दुहराई। सूफियों के अनेक सिद्धान्त कसूर (हल्लाज) से ही आरम्भ होते हैं। उसी ने **'हुलूल'**, **'लाहूत'**, **'नासूल'**, **'नूर मुहम्मदी'**, **'अम्र, और अनलहक'** की व्याख्या की।

सनातन पंथी इस्लाम के साथ सूफीमत के विरोध को दूर करने तथा इन दोनों में सामन्जस्य बैठाने का सर्वाधिक श्रेय ग़ज़ाली को है। सनातन पंथियों के बीच सूफीमत के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव ग़ज़ाली के ही कारण आया। अब तक बहुत से लोग सूफियों में काफी प्रसिद्धि पा चुके थे और गुरु परम्परा का प्रणयन हो चुका था। यह बात पूर्ण रूप से मान ली गई थी कि बिना मुर्शीद (गुरु) के आध्यात्मिक जीवन के रहस्य नहीं मालूम हो सकते।

इस काल में सूफी सिद्धांतों का विकास हुआ। अनेक सैद्धान्तिक पुस्तकों का प्रणयन हुआ। सूफियों में जिस प्रेम का प्रचार तेजी से हो रहा था उसकी तीन कोटियाँ निर्धारित की गई—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। परमसत्ता के स्वरूप के विषय में दो विचारधाराएँ प्रचलित हुईं—१. परमसत्ता प्रकाश स्वरूप है और २. परमसत्ता विचार

स्वरूप है। इन भावनाओं के विकास में इब्न सीना, इब्न अरबी और इब्न जीली का प्रमुख हाथ था। इब्न सीना के अनुसार, "**परमसत्ता का स्वरूप शाश्वत सौन्दर्य भरा है। आत्म-अभिव्यक्ति उसकी विशेषता एवं प्रकृति है। वह अपना स्वरूप सृष्टि में प्रतिबिम्बित कर देखती है। आत्म-अभिव्यक्ति ही उसका प्रेम है जो सारे संसार में व्याप्त है। प्रेम सौन्दर्य का आस्वादन है और सौन्दर्यपूर्ण होने के कारण प्रेम भी पूर्ण है। इस प्रकार प्रेम संसार की जीवन शक्ति है। प्रेम के द्वारा ही मानवात्मा परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करती है।**"—इसी तरह इब्न अरबी और इब्न जीली ने भी अपने सैद्धांतिक विचार व्यक्त किए। इब्न जीली हिन्दू धर्म से पूर्ण परिचित था।

सूफी धर्म के विकास में इस काल के अनेक कवियों का योग भी महत्वपूर्ण रहा है। ईश्वर तथा उसके प्रेम, जीवन और जगत की विवेचना इन कवियों के काव्यों में हमें मिलती है; साथ ही सैद्धान्तिक चर्चा भी।

अस्तु उपर्युक्त बातों के साथ डा० कमलकुलश्रेष्ठ के शब्दों में हम कहेंगे कि "**इस काल में सूफी-धर्म एक सुनियमित सम्प्रदाय बन गया। सूफी प्रवृत्तियों एवं धर्म नियमों का शास्त्रीय विवेचन किया गया। इससे धर्म की रूपरेखा अति स्पष्ट हो गई। पार्थिव संघर्षों से भागकर तापसी जीवन का अवलम्बन लेने वाले थोड़े से सन्त इस समय बहु-संख्यक हो गये थे और उनका प्रभाव नागरिकों पर बढ़ता जा रहा था। इस समय के सूफी सिद्धान्त निर्माताओं को राज्याश्रय भी प्राप्त था। शास्त्रीय विवेचन के लिए एक पारि-भाषिक शब्दावली का भी निर्माण किया गया।**"

अब सूफीधर्म इस्लाम की एक नवीन व्याख्या देने लगा था जिसका आधार दर्शन था। गुरुओं के नामों पर विभिन्न सम्प्रदाय बन-बन कर अपना प्रचार-मार्ग निश्चित कर रहे थे।

सुसंगठित सम्प्रदाय—यह काल संप्रदायों का काल था। अनेक प्रतिष्ठित सन्तों ने स्वकीय मतानुसार आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचारार्थ इनकी स्थापना की। ए० एम० ए० शुष्टरी ने लिखा है कि "**इनकी संख्या १७५ से भी अधिक थी किन्तु सभी गण्य नहीं हैं। उनमें से कादरी, तेफुरी, जुनेदी, नक्शबंदी, शाधिली, शत्तारी, मौलवी और चिश्ती अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।**"

"**इन सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष समान रूप से प्रवेश पाते थे। अनेक स्थलों पर मठ बने हुए थे जिनमें मुरीदों (शिष्यों) को शेख (गुरू) के समक्ष कर्तव्यशील एवं आज्ञा-पालन रहने की शपथ लेकर कुछ वर्ष अध्ययन करना पड़ता था। कुछ सम्प्रदायों में अवि-वाहित जीवन को श्रेष्ठ समझा जाता था परन्तु अधिकांशतः इस विचार को मान्यता प्राप्त न हुई। सम्प्रदायों में विभिन्नता होते हुए भी मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से कोई अंतर नहीं था। केवल कालानुसार व्याख्या के अन्तर से अन्तर आ गया है। इनमें अपने कुछ अभ्यास होते थे जिन्हें वे कठोरता से पालन करते थे। एकान्तवास, मौन, स्वाध्याय, जप एवं ध्यान को बड़ा महत्व दिया जाता था। जुनेद ने अपने सूफीमत को आत्म-समर्पण,**

उदारता, धैर्य, मौन, विरक्ति, ऊनी वस्त्र, यात्रा एवं निर्धनता रूप उन श्रेष्ठ गुणों पर आश्रित किया था जिनका आदर्श इस्साक, अब्राहम, अयूब, जकरिया, मूसा, ईसा, युही और मुहम्मद साहब में विद्यमान था। सालिक (नव शिक्षित) को इनमें एक को अपनाना पड़ता था, जिसके द्वारा वह लक्ष्य सिद्धी की ओर बढ़ता था। प्रायः सभी सम्प्रदाय इन्हीं या ऐसे ही गुणों का आचरण परमावश्यक समझते थे।"—डा० विमलकुमार जैन।

इस संप्रदाय काल में कोई सैद्धान्तिक उन्नति नहीं हुई। कुछ ग्रंथ लिखे अवश्य गए पर उनका कोई महत्व विशेष नहीं। इस काल में प्रचार कार्य के साथ-साथ दिखावे की प्रवृत्ति बढ़ी और करामातों का प्रदर्शन भी। प्रत्येक सन्त करामाती बनता था और उसके शिष्य उसकी करामातों का प्रचार करते थे। अन्ध-विश्वासी और भोली-भाली जन्ता सहज ही इन करामातों के चक्कर में आ जाती थी और पीरों को ब्रह्म के समान ही पूजने लगती थी। यही सूफी-धर्म के पतन का कारण हुआ।

पतन काल—यह काल अपने नाम से ही अपने कार्यों का विवरण दे रहा है। करामाती सूफी संत जब अपनी पवित्रता खो बैठे, सिद्धान्तों से गिर गए, केवल दिखावा और प्रदर्शन ही उनका एकमात्र सहारा रह गया, तो ऐसे समय में इस धर्म का पतन हो ही जाना चाहिए। सम्प्रदायों की संख्या इतनी बढ़ चली कि उनका निज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ नया। प्रत्येक सूफी अपना-अपना सम्प्रदाय चलाने के चक्कर में पड़ने लगा। लेकिन भीतर से खोखला होने के नाते उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिल सकी। शिष्य गुरुओं की गरिमा और असलियत से परिचित हो गए। ये आडम्बरपूर्ण करामाती-करिश्मे अधिक दिन तक अपने अस्तित्व की रक्षा न कर सके। विश्व की राजनैतिक परिस्थितियों में भी विविध परिवर्तन हुए। धर्म से लोगों की आस्था हटने लगी। वैज्ञानिक प्रकाश में धार्मिक विचार चकाचौंध से अपना रास्ता भूल गए। जनता में भी जागृति आई। नवयुग की लहर सबके मानस से टकरा-टकरा कर सबको जगाने लगी। ऐसी दशा में सूफीमत के ये खोखले धर्माध्यक्ष कहाँ तक उसकी रक्षा कर पाते। उनके आडम्बरों का पर्दाफाश हो गया और जनता का विश्वास उनसे उठ चला। सूफी-धर्म विश्व के धार्मिक गगन के एक कोने में मन्द प्रकाश से लघु नक्षत्र के रूप में टिमटिमा रहा है जिसका होना या न होना इस विश्व के लिए कोई महत्व नहीं रखता। आज भी कुछ सूफी मिल जाते हैं किन्तु उनका समाज में कोई स्थान नहीं।

भारत में प्रवेश और साहित्य पर प्रभाव—यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता कि सूफी धर्म भारतवर्ष में कब और किसके द्वारा आया। वैसे इस्लाम तो उत्तरी भारत में सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही आ गया था परन्तु उसी समय सूफी सम्प्रदाय भी भारत में आ गया हो, यह आवश्यक नहीं और न उसके आने का कोई प्रबल प्रमाण ही मिलता है। कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि आठवीं शताब्दी में सूफियों का प्रवेश भारत में हो गया था। पर उनके कथन में कहाँ तक तथ्य

है, कुछ ठीक रूप से नहीं कहा जा सकता। सामान्यतया अधिकांश विद्वान इस पक्ष में हैं कि सूफी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भारत में आये और तभी से अपना प्रचार धीरे-धीरे बढ़ाने लगे। सर्वप्रथम पंजाब और सिन्ध ही इनके शरणास्थल रहे जहाँ काफी दिनों तक अपना प्रसार करते रहे। वहीं पर ये वेदान्त, गोरखनाथी हठयोग, हीनयानी बौद्ध (सिद्ध) मत आदि के सम्पर्क में भी आये और परस्पर विचार-विनिमय हुआ। इस समय भारत में भक्ति-आन्दोलन चल रहा था। सम्पूर्ण देश एक विचित्र भावना से आप्लावित था। धीरे-धीरे समय बीतता गया, राजनैतिक वातावरण शांत होता गया और हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर मेल-जोल की भावना बढ़ती गई जिसकी पृष्ठभूमि पर यह सूफीमत भारत में विकसित होता गया। इस मत को भारत में फैलाने में निम्न चार प्रमुख सम्प्रदायों का नाम लिया जाता है :—

१—चिश्ती सम्प्रदाय—बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

२—सुहरावर्दी सम्प्रदाय—तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में।

३—कादरी सम्प्रदाय—तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

४—नक्शबन्दी सम्प्रदाय—सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

ये सम्प्रदाय भारत में तुर्किस्तान, ईरान और अफगानिस्तान से विविध संतों द्वारा भारत में प्रचारित हुए। ये सम्प्रदाय राज्याश्रय प्राप्त करके भारत में नहीं आये, उनका कोई संगठन भी नहीं था। इन सम्प्रदायों के सन्त अपनी प्रेरणाओं के फलस्वरूप भारत में आये। इन सन्तों की साधना से जनता प्रभावित होती थी और राजाओं पर भी उनका प्रभाव पड़ता था। आचरण की पवित्रता और सात्विकता ही इनका बल था तथा इनके मत प्रचार का साधन था। ये सरल तथा सहिष्णु व्यक्ति थे। हिन्दू धर्म के निष्ठामान धार्मिक सन्तों का सत्संग करते थे और उनके गुणों को ग्रहण करने की भावना इनमें रहती थी। ये कट्टरपंथी नहीं थे। उदारता और हृदय की विशालता इनमें कूट-कूट कर भरी थी। अनुभव-संचय के लिये ये विविध स्थानों का भ्रमण करते थे और विद्वानों से भेंट करते थे। बात सदा मीठी ही करते थे। दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाली स्पष्टवादी कबीर-प्रवृत्ति इनमें नहीं थी। **"सूफी धर्म का प्रसार भारत में पूर्ण तथा शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलकर हुआ। यह इस्लाम का वह रूप नहीं था जो तलवार की धार पर चलकर या रक्त की सरिता में बहकर भारत-भूमि पर आया हो। प्रेम, आत्मीयता, सरलता और सच्चरित्रता के सहारे यह विचार-धारा भारत में फैली और इससे इस्लाम के प्रसार में योग मिला। यह स्थायी योग था जिसने जनता के दिलों में घर किया। किसी भय या आतंक के कारण इसका प्रसार नहीं हुआ।"**—श्री यज्ञदत्त शर्मा।

जहाँ तक भारतीय साहित्य पर इस धर्म के प्रभाव का प्रश्न है वह स्पष्ट है। कबीर आदि सन्तों द्वारा जो कार्य पूरा नहीं हुआ वह इन सूफी साधकों ने कर दिखाया। हिन्दी काव्य और भक्ति में एक प्रेमाश्रयी शाखा ही चल निकली जिसमें सर्वाधिक

योग इन मुसलमान सूफी कवियों का ही था। इसमें सन्देह नहीं कि इन सूफी कवियों ने अपने काव्य में अपना मुख्य उद्देश्य सूफी मत का प्रचार ही रखा है किन्तु फिर भी उनके द्वारा भाषा का उपकार हुआ। तत्कालीन वातावरण को देखते हुए हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य भावना में योग मिला। दो संस्कृतियों का एक दूसरे से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध हुआ, परस्पर आदान-प्रदान हुआ और प्रेम की महत्ता का सर्वसाधारण में व्यापक प्रसार हुआ। इन सूफी कवियों ने प्रेम के जिस एकान्तिक रूप का चित्रण किया है वह भारतीय साहित्य में बिल्कुल नई चीज है। भारतीय काव्य-साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरह का वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा—कथा के लिए नहीं कहते; इनका लक्ष्य अपने धर्म के आधार पर भगवत्प्राप्ति रहता है। इसीलिए भगवान के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं। जायसी का पद्मावत इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में रामचरितमानस के बाद सभी दृष्टियों से इसी का स्थान है। हिन्दी का वह एक प्रभावान रत्न है जिसकी कान्ति अनन्तकाल तक बनी रहेगी और उसके प्रकाश में मानव अपने हृदय का प्रतिबिम्ब देखता रहेगा।

●

: २ :

जायसी की तत्कालीन परिस्थितियाँ

प्रत्येक कवि के काव्य तथा उसमें निहित सन्देश और विचारधाराओं पर तत्कालीन एवं पूर्ववती विभिन्न परिस्थितियों, यथा—राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक और सांस्कृतिक आदि, का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ता है। जायसी के काव्य और साहित्य पर भी इन सबका अपना प्रभाव है। अस्तु इनकी पृष्ठभूमि से परिचित होना नितांत आवश्यक है, तभी हम जायसी-साहित्य का सम्यक् अध्ययन कर सकेंगे।

राजनैतिक परिस्थिति—हर्ष का साम्राज्य आर्यों का अंतिम सुदृढ़ साम्राज्य था। उसके अवसान पर देश में अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई। इनके शासक योग्य, प्रतिभासम्पन्न तथा वीर होते हुए भी स्वार्थपरता के नाते राष्ट्रहित की ओर ध्यान नहीं दे सके। ऐसी ही परिस्थिति में, नवीन धार्मिक आवेश से अनुरक्त और लूट के लिए लालायित तथा सुसंगठित इस्लामी सत्ता ने भारत में प्रवेश किया। कुछ वीर शासकों ने उसका सामना करना चाहा परन्तु आपसी फूट के कारण वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। विधाता की दृष्टि भारत के प्रतिकूल तथा विदेशियों के अनुकूल थी। फलस्वरूप उनकी जड़ें जमने लगीं और आतंक बढ़ चला। हिन्दुओं के सामने ही उनके मंदिर और देवालय गिराये जाते, देवताओं की मूर्तियाँ विनष्ट की जातीं और उनकी धार्मिक पुस्तकें जला दी जातीं। निरपराध स्त्रियों और बच्चों के साथ अमानुषिक और नृशंसतापूर्ण व्यवहार किया जाता। नारियों की इज्जत लूटी जाती और विविध प्रकार से उन्हें अपमानित किया जाता; पर हिन्दू जनता मूक और अंध बनी भीतर ही भीतर विष का घूंट पी लेने तथा उससे उत्पन्न व्यथा को सह लेने के अतिरिक्त किसी प्रकार का विरोधी कदम नहीं उठा सकती थी। जिसने सिर उठाया उसे वहीं दबा दिया गया या उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया। दिल्ली सम्राट महाराज पृथ्वीराज अंतिम हिन्दू राजा हुए जिनके अस्त के साथ भारतीय गौरव और वीरता भी अस्त हो गई। मुसलमानों का भारत पर एकाधिपत्य हो गया।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रवीं शताब्दी के मध्य तक मुस्लिम साम्राज्य यदा-कदा उथल-पुथल के साथ चलता रहा। फिरोज की मृत्यु के बाद तैमूरी आक्रमण ने (१४५५ वि०) में उसकी जड़ों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सिकंदर लोदी ने कुछ सीमा तक स्थिति संभाली किन्तु उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता से देश के नवाब, राजा

तथा सूबेदारों में विरोध और विद्रोह के भाव आ गए। ठीक इसी समय बाबर ने आक्रमण किया। उसे अपने आक्रमण में सफलता मिली। इब्राहीम लोदी बुरी तरह पराजित हुआ। राजपूतों में अभी कुछ वीरता शेष थी। इसलिए १५२७ ई० में राणा सांगा के नेतृत्व में उन्होंने कनवाहा का प्रसिद्ध युद्ध किया किन्तु विधि के प्रतिकूल होने से बाबर फिर विजयी हुआ। राजपूतों की हिम्मत एकदम टूट गई। चन्देरी के मेदिनी राव ने भी बाबर से लोहा लिया, तत्पश्चात् अफगानों की सम्मिलित शक्ति से १५२९ ई० में घाघरा के मैदान में बाबर को भयंकर युद्ध करना पड़ा। सर्वत्र वह विजयी हुआ। सन् १५३० ई० उसकी मृत्यु हो गई। हुमायूँ राज्य के साथ-साथ कठिनाइयाँ भो उत्तराधिकारी में ले गद्दी पर बैठा। राज्य की स्थिति डाँवाडोल थी; अस्तु १५३९ में अफगानों ने शेरशाह के नेतृत्व में पुनः धावा बोल दिया। चौसा के युद्ध में हुमायूँ पराजित हुआ और भाग कर ईरान की शरण ली। उसके एक भी भाई ने उसे आश्रय नहीं दिया। शेरशाह जब तक रहा उसने बड़ा सुन्दर शासन प्रबन्ध चलाया, उसकी मृत्यु के उपरान्त अफगानी शासन भी डगमगाने लगा। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। मुगल साम्राज्य की जड़ जम गई। अब मुगल परदेशी न रह कर पूर्णतः भारतीय बन गये।

इस राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव जायसी और उनके साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वे इस हलचल से प्रभावित होते रहे और युग के अनुकूल उन्होंने अपने साहित्य को दिशा दी।

सामाजिक परिस्थिति—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। समाज की गतिविधि से उसका जीवन प्रभावित रहता है। समाज से अलग मनुष्य की सत्ता ही नहीं है। उसके स्वाभाविक और बहुमुखी विकास के लिए समाज का होना नितांत आवश्यक है। इसीलिए अरस्तू (Aristotel) ने कहा है कि "Men perfected by society in the best of all animals; he is the most terrible of all when he lives without law aud without justice" अर्थात् **"समाज से रक्षित मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। नियम और न्याय से उच्छृङ्खल मनुष्य अति भयावह जंतु है।"** समाज एक प्रगतिशील और प्राकृतिक संगठन है जिसका आयोजन मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास और बुद्धि में सहायक है।

दो समाजों का जब सम्मिलन होता है तो वे परस्पर एक दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। विदेशी मुस्लिम समाज ने जब भारत में प्रवेश लिया तो उसका प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा और भारतीय समाज का उस पर भी। मुस्लिम समाज विजेता समाज था और भारतीय समाज विजित समाज; ऐसी अवस्था में मुस्लिम समाज का मनमाना व्यवहार और अत्याचार भारतीय समाज के साथ चलने लगा। हिन्दुओं के हृदय में राजनैतिक पराभव से भारी भय उत्पन्न हो गया था। विजेताओं के आतंक ने उनके धीरज को डगमगा दिया था। हिन्दुओं के सामने अब अपने अस्तित्व का भी प्रश्न था। मुसलमान

अपनी सत्ता के साथ जब धर्म प्रचार भी करने लगे तब तो समाज की स्थिति और भी विषम हो उठी। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी; और न वे सामाजिक और धार्मिक विद्रोह ही कर सकते थे। अपने धर्म और सामाजिकता पर होते हुए अत्याचार को चुपचाप सह लेने के अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा नहीं था। मुसलमानों में बहुमुखी संकीर्णता थी और हिन्दुओं में इसके विपरीत विशाल उदारता। अस्तु ! मुस्लिम-समाज ने राजनैतिक सत्ता की आड़ में हिन्दुओं की उस उदारता और सरलता का अनुचित लाभ उठाना आरम्भ किया। तात्पर्य यह कि राजनैतिक दासता के साथ हिन्दुओं का सामाजिक पतन भी होने लगा। वे राज्य के शत्रु समझे जाते थे और उन्हें उच्चाधिकारों से वंचित रखा जाता था अलाउद्दीन ने काजी मुगीसुद्दीन से कहा था कि **"इस बात का पूर्ण विश्वास रखो कि जब तक हिन्दू निर्धन नहीं हो जायेंगे तब तक वे किसी तरह नम्र और आज्ञाकारी नहीं बनेंगे।"** इस तरह हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति निरंतर बिगड़ती गई। अलाउद्दीन से पूर्व की दशा भी बड़ी ही विषम और करुणाजनक रही है। अलाउद्दीन ने राजनैतिक और सामाजिक सख्ती तो रखी किन्तु धर्म पर आक्षेप विशेष नहीं किया। इस सख्ती का नतीजा यह हुआ कि सारी जनता रोटी का प्रश्न हल करने में इस तरह उलझ गई कि उसे विद्रोह का अवसर ही न मिल सका। खुसरो ने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का व्यवहार किया और प्रथम दोनों तुगलकों ने भी हिन्दुओं के प्रति कठोरता न दिखाई। फिरोज और सिकन्दर लोदी के समय में पुन: हिन्दुओं की सामाजिकता पर भारी आघात होने लगा।

इस प्रकार दोनों समाजों का तीन-चार शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। इस बीच विजयी मुसलमानों ने विजित हिन्दुओं की कुछ बातें अपनाईं और हिन्दुओं ने भी नए शासकों को प्रसन्न करने के लिए, रोटी की समस्या को हल करने के लिए तथा अपनी सुरक्षा के लिए मुसलमानों की कुछ बातों को अपना लिया। पर्दे का प्रचार चल निकला। सती प्रथा भी थी। समाज में जादू-टोना का महत्व बढ़ा। काफी दिनों से एक साथ रहने से परस्पर भाईचारा का सम्बन्ध दृढ़तर हुआ। अब हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लगे। जनता की प्रवृति भेद से अभेद की ओर हो चली। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमजा। नल और दमयन्ती की कथा मुसलमान जानने लगे और लैला मजनू की हिन्दू। ईश्वर तक पहुँचाने वाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह दोनों कभी-कभी साथ बैठकर करने लगे। इधर भक्ति-मार्ग के आचार्य और महात्माओं ने भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहराया तो उधर सूफी महात्माओं ने मुसलमानों को इश्क हकीकी का सबक पढ़ाया। पन्द्रहवीं शताब्दी के समाज के रूप में काफी परिवर्तन आ गया था। राजनैतिक वातावरण एकदम शान्त हो गया था और सामाजिक वातावरण में काफी मेल-मिलाप का भाव उत्पन्न हो गया था। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने यह जान लिया था कि हमें अपना जीवन इस भारत वसुन्धरा पर ही व्यतीत करना है। इसलिए अधिक मात्रा में समाजिक भिन्नता रखने से जीवन

कभी भी सुखमय नहीं हो सकेगा। पन्द्रहवीं शताब्दी के भारतीय मुसलमानों की यह प्रवृत्ति हो गई थी कि वे अपने पड़ौसी हिन्दुओं से मेल-मिलाप करें। हिन्दू बेचारे तो पराजित, असहाय और परबस थे ही। उन्हें जैसे भी रखा जाता वैसे रहने के लिए वे मजबूर थे। मेल-मिलाप की इस प्रवृत्ति को एक ओर हुसेनशाह आदि मुसलमानों ने और दूसरी ओर चैतन्य, रामानन्द, कबीर आदि हिन्दू साधुओं ने बहुत उत्तेजना दी।

सांस्कृतिक-परिस्थिति—भारत अपनी सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता एवं महानता में विश्व का अग्रणी देश है। हमारा ऋगवेद विश्व का प्राचीनतम और सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। यहीं समस्त कलाओं और विज्ञानों ने जन्म लिया था फिर वे विश्व के अन्य भागों में फैले थे। विदेश से आने वाले यात्रियों ने अपने यात्रा विवरणों में भारत की महानता की ओर पर्याप्त संकेत किया है। यहाँ का जीवन सादा, पवित्र तथा आडम्बरहीन रहा है। शुद्ध सात्विक सत्याचरण यहाँ की मनुष्यता की कसौटी रहता आया है। यही कारण है कि यहाँ का जीवन विश्रृङ्खल न होकर एक निर्दिष्ट लक्ष्य का पथिक रहा है।

भारतीय प्राचीनता प्रिय होते हुए भी भिन्न-भिन्न जातियों और व्यक्तियों के आचार-विचार तथा धर्म सम्बन्धी विभिन्नताओं को स्वीकार करते हैं। ये विभिन्नताएँ प्रगति और विकास के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य हैं। इसी नाते भारतवासी जाति व्यवस्था के बद्ध बंधन में बंधे होने पर भी विभिन्न व्यक्तियों के धर्म, संस्कृति तथा स्वभाव को घृणा या क्षोभ की दृष्टि से नहीं देखते। फलतः मुसलमानों से पूर्व जितनी जातियाँ आईं वे सब यहाँ के वातावरण में घुल-मिल गईं। वे सर्वथा भारतीय बन गईं। भारत ने उनका स्वागत किया। उनके आचार-विचार, धर्म और स्वभाव भारतीय संस्कृति में घुल-मिल गए। सामंजस्य भावना भारतवासियों की अपनी भावना रही है।

सिन्ध विजय के पश्चात् भारत का इस्लाम से सम्पर्क हुआ। विजयी होकर भी अरबों ने सभ्यता तथा विद्या आदि के लिए भारत के सम्मुख मस्तक झुकाया। भारत की सभ्यता ने उसके लिए अपना कोष खोल दिया। अरबों द्वारा भारतीय सभ्यता का प्रचार समस्त योरप और मिश्र में हुआ। किन्तु जब मुस्लिम सभ्यता के साथ द्वितीय बार संघर्षण हुआ तो उस समय जो विचार इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो चुके थे वे भारतीय होकर भी पराये हो गए। इस बार का मुस्लिम बड़ा असहिष्णु, कुरान तथा इस्लाम बड़ा असहिष्णु, कुरान तथा इस्लाम के सिवाय अन्य समस्त पुस्तकों तथा धर्मों की आवश्यकता न समझने वाला, विजय की मादकता में विवेकहीन और भारत की सम्पत्ति की चकाचौंध से प्रायः अन्धा होकर आया था। उसका यह सिद्धान्त था कि विजित जातियों की विचारधारा, आचार-विचार, विश्वास तथा धर्म आदि को मेट देना चाहिए। इस मुस्लिम विजय ने बड़ी उथल-पुथल कर दी। हिन्दू धर्म को बड़ा धक्का लगा, पण्डितों और पुरोहितों का सत्कार उठ-सा गया। हिन्दू स्मारक नष्ट कर दिए गये। साहित्य बिना राजाश्रय के प्रपन्नावस्था को प्राप्त हुआ। एक वाक्य में यों समझिये कि राजनैतिक पराजय सांस्कृतिक मृत्यु प्रतीत होने लगी।

धीरे-धीरे काल की कठोर आवश्यकताओं के साथ दोनों संस्कृतियों का संघर्ष कम हुआ। परस्पर मेल-मिलाप बढ़ा। एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न चला। कला-कौशल आचार-व्यवहार सब में एक दूसरे की छाप पड़ने लगी। हिन्दुओं के इस काल के मन्दिरों और भवनों में नवीनता का पुट लक्षित होता है। चित्रकला में भी वस्तुकला की भाँति ही नवीनता है। हिन्दू पण्डितों और ज्योतिषियों ने मुसलमानों से अनेक बातें सीखीं। घरेलू व्यवहार, पहनावे, संगीत, मेला, उत्सव तथा दरबारी ढंग आदि पर मुललमानी प्रभाव अधिक पड़ा।

सामान्यतया बाहरी बातें एक संस्कृति की दूसरी संस्कृति में जो मिल सकती थीं, मिलीं। इससे सामाजिक वातावरण में भी काफी शांति आई और परस्पर प्रेम-भावना किसी सीमा तक दृढ़ हुई। पर भारतीय संस्कृति की मूल धारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती रही।

धार्मिक परिस्थिति—भारत एक धर्म-प्रधान देश है। यहाँ प्रारम्भ से ही जीवन, धर्म और दर्शन का समन्वय रहा है। आर्य धर्म में कर्म, ज्ञान और उपासना का महत्वपूर्ण योग था। कालान्तर में कर्मकांड की प्रतिष्ठा बढ़ चली। फिर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जैन और बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ। इन धर्मों में अछूतों के लिए विशेष आकर्षण था। राजाश्रय पाकर बौद्ध धर्म का खूब प्रचार रहा किन्तु समय के परिवर्तन ने उसमें भी अवरोध उत्पन्न करना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे इस धर्म का वातावरण भी दूषित हो चला, जिसके फलस्वरूप उसकी पवित्रता से लोगों का विश्वास उठने लगा। दूसरी बात यह भी थी कि बौद्ध धर्म का नास्तिकवाद भारत की प्रकृति के विरुद्ध था और उसकी अहिंसा क्षत्रियों को अरुचिकर थी। ऐसी ही डावांडोल परिस्थिति में जगत्गुरु शंकराचार्य ने बड़ा प्रबल विरोध किया और उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं। बौद्ध धर्म को भारत में कहीं त्राण न मिला। वह पतन मार्ग से पैर सिर पर रखकर भागा। हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ और वेद तथा उपनिषदों की नवीन व्याख्याएँ चल पड़ीं। इस नवीन हिन्दू धर्म में जैन, बौद्ध आदि सभी धर्मों का सार तत्व निरूपित था। ईसा की सातवीं-आठवीं शती में शिव, विष्णु तथा अन्य देवताओं की पूजा का सारे देश में प्रचार हो गया। भक्ति की महिमा बढ़ चली।

भक्ति-आन्दोलन—शंकराचार्य उत्तरी भारत में अपनी भक्ति का प्रचार कर रहे थे। वे अद्वैत के समर्थक थे। दक्षिणी भारत में रामानुजाचार्य के नेतृत्व में अद्वैत का विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उन्होंने नवधा भक्ति का बड़ा ही मनमोहक स्वरूप हिन्दू जनता के समक्ष रखा जिससे वह विस्मय विमुग्ध हो गई। हिन्दू धर्म में एक नवीन चेतना जागी। हिन्दुओं को अद्भुत आलम्बन प्राप्त हुआ। दक्षिणी भारत का यह भक्ति-आन्दोलन शुद्ध हिन्दू धर्म से अनुमोदित था इसलिए वह हिन्दुओं को अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य हुआ। बौद्धों के दुःखवाद से ऊबी तथा राजनैतिक विफलता से त्रस्त जनता भक्ति की ओर उमड़ पड़ी

रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति केवल उच्च वर्ण के लिए ही थी। शूद्र उसके अधिकारी न थे किन्तु इनके शिष्य रामानन्द ने इस भेदभाव को मिटा दिया और उसे समस्त मानव जाति के लिए हितकारी बताया। उन्होंने अपने उपदेश की भाषा हिन्दी रखी। रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर राम की भक्ति का प्रचार किया। भगवान राम की लीलाओं, उनके लोक-रक्षक रूप तथा भक्तवत्सलता से जनता पूर्ण परिचित थी। इस प्रकार भक्ति-मार्ग अधिक सुगम हो गया। लगभग इसी समय बारहवीं शताब्दी में वृन्दावन में निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया जिनकी रास लीलाओं से जनता का मनोरंजन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि चौदहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत में भक्ति-भावना पूर्णरूप से फैल चुकी थी। इस आन्दोलन से प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई, जाति बन्धन शिथिल हुए, गार्हस्थ्य जीवन में पवित्रता आई, स्त्री पद उन्नत हुआ, लोगों में उदारता तथा सहिष्णुता फैली।

इस्लाम और भारत—इस्लाम विश्वास का धर्म है। ईश्वर प्रेम की अपेक्षा ईश्वर प्रकोप से भयभीत होकर इस धर्म के अनुयायी उसके सन्देशों पर विश्वास करते हैं। इस्लाम की नींव ही इलहाम (ईश्वरी सन्देशों) पर है। विद्वान खलीफा हारूँ रशीद ने भारतीय विद्वानों को अपने यहाँ निमन्त्रित कर अनेक दर्शन और अन्य उपयोगी ग्रन्थ अरबी भाषा में अनूदित कराये थे। इस प्रकार भारत प्रवेश से पूर्व ही इस्लाम पर भारतीय दर्शन और धर्म (विशेषतः बौद्ध धर्म) की छाप पड़ चुकी थी।

६३६ ई० में मुसलमान व्यापारी मालाबार तट पर समुद्र मार्ग से आये। भारतवासियों ने उनका स्वागत किया और अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं। धीरे-धीरे इन मुसलमानों ने अपना धर्म प्रचार आरम्भ किया। आठवीं शती में मुहम्मद-बिन-कासिम की सिन्ध विजय के साथ इस्लाम धर्म सारे उत्तरी भारत में फैलने लगा। सिन्ध विजय के साथ ही 'मुल्तान', तसव्वुफ का केन्द्र तथा फकीरों का अड्डा बन गया। ये सूफी और फकीर देहातों में फैलकर इस्लाम के प्रचार में जुट गए। वैसे हिन्दुओं को इस धर्म में कोई आकर्षण नहीं था परन्तु ग्यारहवीं शती में जब इस्लाम तलवार के बल पर फैलने लगा तब परिस्थिति विषम और अनियन्त्रित हो उठी। इस्लाम धर्म विजयिनी सत्ता का धर्म था इसलिये उसके प्रचार में सारी शक्ति लगा दी गई। व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रलोभन से कुछ हिन्दू इधर खिंच आये। इसके अतिरिक्त अछूत वर्ग की हिन्दू धर्म से असन्तुष्टि ने भी इस धर्म के फैलाने में काफी सहायता पहुँचाई। अछूत वर्ग इधर आकृष्ट हुआ। तलवार के जोर, प्रलोभन और अछूतों की असन्तुष्टि से इस्लाम का प्रचार हुआ। वैसे स्वेच्छा से बहुत कम लोगों ने इस्लाम को अपनाया।

इस प्रकार कई शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। कुछ मूलभूत सिद्धान्तों और उनके व्यवहार में अन्तर विशेष होने के कारण विशाल हिन्दू धर्म भी जिसने बौद्ध धर्म जैसे महान् धर्म को हजम कर 'बुद्ध जी' को अपने अवतारों में सम्मिलित कर लिया था, इस्लाम को अपने में न मिला सका। किन्तु काफी दिनों के साहचर्य के उपरान्त दोनों में

कट्टरता का आग्रह कुछ कम हो गया। मुसलमान भी जान गये कि अब हम पूर्ण भारतीय हैं। सूफियों ने हिन्दुओं की बातें अपने सहधर्मियों तथा अपनी बातें हिन्दुओं को समझाना आरम्भ किया। फलतः दोनों एक दूसरे के समीप आने लगे। मजार, दर्शन, मनौती और नजूम हिन्दू जीवन में घुल-मिल गये। चौदहवीं शताब्दी के आगे तो नामदेव और नानकदेव की शिक्षाओं में हिन्दू तथा मुस्लिम विचारों का पूर्ण सामञ्जस्य है। उन्होंने जाति व्यवस्था, बहुदेववाद तथा मूर्ति पूजा की कड़ी भर्त्सना की और सत्य पवित्र जीवन का उपदेश दिया। रामानन्द और चैतन्यदेव भी साधारण अन्तर से इसी पथ के पथिक बने। तात्पर्य यह कि हिन्दुओं ने इस दिशा में काफी प्रयत्न किया, यद्यपि संकीर्ण विचारों के नाते मुसलमान अपनी सीमा से अधिक आगे नहीं बढ़े।

बंगाल में गौड़ के सम्राट हुसेनशाह द्वारा संस्थापित एक सम्प्रदाय विशेष चला जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे और एक ही देवता 'सत्य पीर' की पूजा करते थे। महाराष्ट्र में भी संतों ने वही काम किया जो उत्तरी भारत में कबीर और नानक ने। पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुसलमान सूफी और फकीर पूरे पंजाब में फैल चुके थे। पानीपत, सरहिन्द, पाकपट्टन तथा मुल्तान आदि सूफियों के प्रसिद्ध केन्द्र बन चुके थे। यहीं पर सूफी संप्रदाय नाथपंथियों के भी सम्पर्क में आया और उससे अनेक बातें ग्रहण कीं। इस क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रबल प्रचार हुआ। नानकदेव का प्रमुख ध्येय ही हिन्दू मुस्लिम ऐक्य था। वे किसी एक धर्म या जाति के नहीं थे वरन् समस्त संसार के थे। उनका धर्म नितान्त क्रियात्मक, शुद्ध और सूफी सिद्धान्तों के अनुरूप था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द के भक्ति मार्ग में, नानकदेव के सिक्ख संप्रदाय में, गोरखनाथ के नाथ-पंथियों में, बंगाल के सत्यपीर-वादियों में, कबीर, दादू आदि पंथियों में, और महाराष्ट्र के अन्य संतों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना कार्य कर रही थी। जाति व्यवस्था की कठोर पाबन्दी सबको असह्य हो रही थी तथा **"हरि को भजै सो हरि का होई'** का प्राधान्य था। बहुदेववाद के स्थान पर ऐकेश्वरवाद का प्रचार हुआ जो अद्वैतवाद से मूलतः भिन्न है। गुरु का स्थान लगभग ईश्वर के बराबर ही महत्वपूर्ण समझा गया—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय॥"—कबीर

"अतः गुरु भक्ति चल पड़ी। गुरु-मुख से उपदेश का महत्व स्थापित हुआ। साधु संतों और फकीरों का महत्व बढ़ा और साथ ही समाधि-दर्शन, झाड़-फूंक, नजूम, करामात आदि में भोली जनता का विश्वास जगा। जन साधारण में सूफी फकीर, कनफटे जोगी, वैष्णव भक्त ही नहीं, अपितु समस्त भगवाँ वस्त्रधारी व्यक्ति श्रद्धा के पात्र हुए और सत्कार के अधिकारी। सारांश यह है कि सोलहवीं शताब्दी तक प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक बंधन शिथिल पड़ गए थे। ऐक्य ही सबका लक्ष्य था और जनता में श्रद्धा एवं विश्वास का स्रोत उमड़ पड़ा था।' [1]

---

१. डा० जयदेव—सूफी महाकवि जायसी।

साहित्यिक परिस्थिति—वीरगाथा काल के समाप्त होने के पहिले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति आरंभ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को अस्थिर कर दिया था। मुसलमानों की शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण बदल दिया था और हिन्दी साहित्य की धारा अपने पुराने उद्याम तथा ओजस्वी वीरगाथात्मक रूप को छोड़कर भक्ति की प्रशान्त कलित कविता के रूप में प्रवाहित होने लगी थी। चारणों की रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। राजाश्रय समाप्त होने लगे थे। युद्ध क्षेत्र से पराजित और अपनी जनता की रक्षा में असमर्थ राजाओं की प्रशस्तियाँ अब ये कवि किस मुँह से गाते। निदान साहित्य को राजदरबार छोड़ जंगलों तथा कुटियों में आश्रय लेना पड़ा और उसकी मूल धारा ही बदल गई। वस्तुतः वीरगाथा काल के साहित्य में साधारण जनता के काम की कोई चीज नहीं थी। इस नाते भी वीरगाथा कालीन साहित्य अधिक लंबा जीवन न प्राप्त कर सका विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का राज्य भारत में पूर्णरूप से स्थापित हो गया और अब उनमें यह निश्चित धारण आ गई थी कि हम भारतीय हैं। हमें अपना जीवन इसी भूमि में व्यतीत करना है। ऐसी दशा में उन्होंने हिन्दुओं से सानिध्य और उनके जीवन से सामंजस्य स्थापित करने वाले कदम उठाने आरम्भ किये। दोनों ही धर्मों को मानने वाले समझदार व्यक्ति अपने-अपने धर्म ग्रन्थों की खोज-बीन करके सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने लगे। उन बातों का प्रचार बढ़ चला जिनके आधार पर परस्पर मैत्री-भाव दृढ़ हो सकता था। इस दिशा में अमीर खुसरो ने बड़ा सराहनीय कार्य किया उन्होंने जन-साधारण तथा शासकों के बीच सहयोग स्थापित कराने के लिए, हिन्दी-फारसी शब्दकोष तैयार किया और उसकी प्रतियाँ सारे देश में बँटवा दीं। साथ ही मनोरंजन का साधन भी जुटाया। प्रचलित पहेलियों, मुकरियों आदि के अनुकरण पर प्रचलित भाषा में बड़ी सरस कविता कीं। उनके द्वारा भाषा का बड़ा उपकार हुआ। हिन्दी और फारसी दोनों के मिश्रण से उन्होंने एक ऐसी भाषा तैयार की जो हिन्दू मुसलमान दोनों को बड़ी मनमोहक लगी। उनकी यह भाषा खड़ी बोली का प्रारम्भिक स्वरूप प्रस्तुत करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उस समय की वास्तुकला तथा संगीतकला में, समाज तथा धर्म में, हिन्दू मुस्लिम आदर्शों के सम्मिलन की भावना कार्य कर रही थी, उसी प्रकार भाषा और साहित्य में भी वही ऐक्य भावना अग्रसर हो रही थी।

इस हिन्दू मुस्लिम ऐक्य भावना को गति देने में कबीर के काव्य का बड़ा महत्वपूर्ण योग है। कबीर के अतिरिक्त अन्य संतों ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। कबीर ने हिन्दू मुस्लिम मनोमालिन्य मिटाने के लिए कुछ कठोरता से प्रहार किया। वस्तुतः उनका काल संक्रान्ति का काल था। राजनीति, समाज और धर्म—सर्वत्र अशांति तथा अव्यवस्था की स्थिति थी। इसीलिए कबीर को सभी दिशाओं में क्रान्ति करनी पड़ी। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों, पंडितों और पीरों, सिद्धों और फकीरों को उनके पाखंड तथा ढोंग के लिए बुरी तरह फटकारा, धर्म की मूल बातों की ओर उसका ध्यान आकर्षित

किया और इस प्रकार एक ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा की जो सबको ग्राह्य हो सकता था। उन्होंने हिंदुओं के तीर्थ, व्रत, मठ, मंदिर और पूजा आदि की निंदा की तो मुसलमानों के नमाज और मस्जिद की भी खूब खबर ली और इस प्रकार दोनों की बुराइयों का दिग्दर्शन कराके उन्होंने कहा—

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।"

इसके साथ ही उन्होंने राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन करते हुए बताया **'अल्ला राम की गति नहीं तहँ कबीर ल्यो जाय'**—अर्थात् राम-रहीम के विवाद से ऊपर उठकर इनसे परे एक अव्यक्त सामान्य शक्ति या सत्ता की ओर उनका संकेत था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के आधार पर इस सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा के साथ हिंदुओं की जाति-पाँति और छुआछूत का विरोध करके उन्होंने अहिंसा, तप, सत्य, सुजनता तथा अन्य मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया। उन्होंने शुद्ध भाव से अपने सिद्धान्तों और विचारों का प्रकाशन किया।

जहाँ उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्य का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने मसि-कागद नहीं छुआ था और न हाथ में कलम गही थी, उन्होंने तो प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ा था और उसी से वे पंडित हुए थे। उनका काव्य अनुभव तथा सत्संगति एवं परिभ्रमण से अर्जित ज्ञान का अक्षय कोष है जो व्यय के साथ बढ़ता जाता है। ऐसी दशा में उनके काव्य को शास्त्रीय कसौटी पर कसना कवि के साथ अन्याय करना होगा। कबीर ने साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही किया हो, किंतु उन्होंने जो सन्देश दिया है वह इस थोथी मर्यादा से बहुत ऊँचाई पर है। अनपढ़ और क्रांतिकारी कबीर के लिये यही उपयुक्त भी था। कबीर अनेकत्व, भेद से अभेद की ओर ले जाने वाले कवि थे। उनके युग की माँग ही थी—समन्वय, मेल-मिलाप। इसीलिये कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों के प्रतिबन्धों, असंगत विचारों और सिद्धान्तों की कड़ी भर्त्सना की तथा खिल्ली उड़ायी। वे केवल सत्य और सर्व हितकारी के प्रतिपादक थे, इस नाते वे नीरस लगे। उनके अक्खड़ व्यक्तित्व ने उन्हें और भी कटु बना दिया। उनकी उक्तियाँ चुभती हुई थीं, और उनमें सत्य का प्रकाश था; किन्तु व्यंजना तीखी होने के कारण वे सर्वसाधारण को ग्राह्य न हो सकीं। उनके प्रहार से लोग तिलमिला उठे। वस्तुतः इस समय ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो जनता के व्यथित हृदय को अपने स्नेह-स्पर्श से सुख और शांति पहुँचा सकता, साथ ही उनके जीवन में आशा, विश्वास और नवचेतना का संचार कर सकता, सरसता घोल सकता। यह कार्य सूफी काव्यकारों ने सम्पन्न किया।

मुसलमानों को भारत में आये लगभग आठ शताब्दियाँ बीत चुकी थीं जिससे वे हिन्दूओं के जीवन की गतिविधि से पूर्ण परिचित हो चुके थे। इसलिये साहचर्य ने दोनों के सामाजिक और धार्मिक स्वरूप में काफी परिवर्तन कर डाला। दोनों एक दूसरे को अत्यधिक निकट से परख चुके थे, इसलिए अब वे परस्पर मिल-जुलकर जीवन-यापन करने की

श्रेष्ठता के पक्ष में हो गए थे। शासन मुसलमानी था, इससे मुसलमानों के आमोद-प्रमोद के साथ ही मुसलमानी सिद्धांतों का प्रचार भी हुआ जो आख्यानक कवियों की धर्म-गाथाओं में प्रस्फुटित हुआ। प्रेम-गाथाकारों में प्रायः सभी मुसलमान थे, परन्तु इनकी विशेषता यह रही कि इन्होंने कहानियाँ हिन्दू राजघरानों से लीं। उन्होंने जनता की रुचि और शासकों के आकर्षण, दोनों का ध्यान रखा। इन कहानियों की सरसता ने मुस्लिम शासकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप इन कवियों को भी दरबार में अन्य कलाकारों की भाँति उचित सम्मान मिलने लगा। कहानियों में शृङ्गार और करुणा को विशेष प्रश्रय मिला। इन कहानियों में लौकिक कथा के माध्यम से पारलौकिक या परमसत्ता के प्रति इन कवियों ने अपने प्रेम और विरह का वर्णन प्रस्तुत किया। अन्योक्ति का सहारा भी उन्हें इसी नाते लेना पड़ा। कहानियों के बीच-बीच में इन सूफी कवियों ने शुद्ध आध्यात्म की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है।

कहानियों की भाषा अवध प्रान्त की बोलचाल की भाषा है और उस समय तक विशेष रूप से व्यवहृत छन्द, दोहे तथा चौपाइयों में इनका निर्माण हुआ है। सभी कहानियाँ प्रायः प्रबन्ध काव्यों के रूप में हैं।

अन्त में डा० जयदेव के शब्दों में हम कहेंगे कि **"जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न इतने दिनों से भिन्न-भिन्न लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से कर रहे थे, सोलहवीं शताब्दी में उन समस्त भावनाओं का एकीकरण और भिन्न-भिन्न आदर्शों का सामंजस्य बड़े ही सरस एवं आकर्षक ढंग में सहृदयतापूर्वक उपस्थित करने का इन सूफी फकीरों ने स्तुत्य प्रयत्न किया।"**

●

: ३ :

जायसी का जीवन-वृत

भारत के महापुरुष और महाकवि स्वभावत: बड़े संकोची तथा विनयशील रहे हैं। उनके संकोच और विनयशीलता ने प्राय: उन्हें अपने सम्बन्ध में, अहमन्यता प्रदर्शन के भय से, कुछ भी न लिखने के लिए ही प्रेरित किया। चन्द, कबीर, सूर तथा तुलसी आदि अनेक महाकवियों का जीवन-वृत्त अतीत के गर्भ में सोया पड़ा है। दूसरी बात यह भी है कि भारतीय प्रकृति इतिहास लिखने के अनुकूल नहीं रही है। वे सदैव इस लोक से परे की सोचते रहे हैं। हाँ, मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने समय के इतिहास अवश्य प्रस्तुत किए हैं जिनमें अपने आश्रयदाताओं का कीर्तिगान उनका मुख्य उद्देश्य रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निष्पक्ष ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव कलाकारों के जीवनवृत्त का साक्षात्कार कराने में जिज्ञासुओं के लिये सबसे बड़ा विघ्न सिद्ध हुआ है। ऐसी दशा में वाह्य साक्ष्य का आधार तथा जनश्रुतियों और किंवदंतियों का आश्रय लेना पड़ता है।

सौभाग्यवश जायसी का अंत:-साक्ष्य भी इस दिशा में हमारा सहायक है क्योंकि फारसी मसनवियों के अनुकरण पर उन्होंने अपनी कृतियों में अपने विषय में कुछ विवरण दिये हैं जिन्हें प्रमाण रूप में हमें ग्रहण करना चाहिये। वाह्य साधनों में डाक्टर जयदेव ने अपने प्रसिद्ध शोध ग्रंथ 'सूफी महाकवि जायसी' में निम्न पाँच संकेत किए हैं :—

१. तत्कालीन ग्रंथों में जायसी विषयक संकेत।

२. सूफियों की परम्परा में जायसी का वर्णन।

३. जायस नगर के इतिहास में उनका विवरण।

४. अमेठी राज्य के इतिहास में उनका विवरण।

५. पीछे के व्यक्तियों की खोज का उनके विषय में निर्णय।

अंत:साक्ष्य में जायसी के तीनों ग्रंथ 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आख़िरी कलाम' आते हैं। अब हम इस अंत:साक्ष्य, वहिर्साक्ष्य तथा जनश्रुतियों और किंवदंतियों आदि सभी प्राप्त साधनों के वैज्ञानिक आधार पर कविवर जायसी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

जन्म तिथि तथा स्थान—जायसी विरचित 'आखिरी कलाम' में एक अर्द्धाली इस प्रकार है :—

**"भा भोर नव सदी।
तीस वरिस ऊपर कवि वदी॥"**

इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य तो नहीं खुलता, फिर भी यदि पाठ 'नव सदी' ही माना जाय तो जायसी का जन्म काल सन् ९०० हि० (१४९२ ई० के लगभग) ठहरता है। दूसरी पंक्ति 'तीस वरिस ऊपर कवि वदी' का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म के ३० वर्ष उपरांत जायसी अच्छी कविता करने लगे। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने एक बड़े भूकंप तथा सूर्य-ग्रहण का अतिरंजित शब्दों में वर्णन किया है। स्थल दर्शनीय है :—

"आवत उद्यत चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र विधि भाई। फिरै अकास रहट की नाईं॥
गिरि पहाड़ मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भर चाला॥
मिरित लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग-पताल पवन खट डोला॥
गिरि पहाड़ पर्वत ढहि गए। सात समुन्द्र बीच मिलि गये॥"

× × ×

"सूरज सेवक ताकर अहै। आठौं पहर फिरत जो रहै॥
सो अस बपुरै गहनै लीन्हा। औ धरि बाँध चंडालै दीन्हा॥"

× × ×

किन्तु तत्कालीन तथा पीछे के ऐतिहासिक ग्रंथों में इस भूकंप का कोई वर्णन नहीं मिलता। डा० ईश्वरीप्रसाद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ A Short History of Muslim Rule in India के पृष्ठ २३२ पर सन् ९११ हिजरी (१५०५ ई०) में आगरे में आने वाले एक भयंकर भूकम्प की चर्चा इस प्रकार की है :—

"Next year (911 A. H. = 1505 A. D.) a violent earthquake occurred at Agra which shook the earth to its foundations and levelled many beautiful buildings and houses to the ground.

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ९-१० वर्षीय बालक जायसी ने उसे प्रत्यक्ष देखा होगा और अपने इस अनुभव को जन्म के सुने साधारण भूकम्प से (सम्भव है कोई आया ही रहा हो) सम्बन्धित कर दिया होगा।

'पद्मावत' कवि का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है, उसमें कवि ने एक स्थान पर लिखा है :—

"जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥"

इस अर्द्धाली के 'तहाँ आइ' शब्दों ने विद्वानों को अधिक भ्रम में डाल रखा है। इनके आधार पर डा० ग्रियर्सन तथा पण्डित सुधाकर का अनुमान है कि 'मलिक मुहम्मद' किसी और स्थान के रहने वाले थे; जायस में आकर उन्होंने काव्य का सृजन किया। परंतु यह अनुमान अन्य अधिकारी विद्वानों द्वारा पुष्टि नहीं प्राप्त करता। इसके मान्य न होने के दो कारण हैं—एक तो यह कि जायस नगर वाले इसे स्वीकार नहीं कर सकते। उनके कथनानुसार 'मलिक मुहम्मद' जायस के ही रहने वाले थे। उनके घर का स्थान अभी तक वहाँ के कंचाने मुहल्ले में बताया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस मकान को लोग

मलिक मुहम्मद का मकान बताते हैं वह अत्यन्त ही प्राचीन तथा जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। उस घर की प्राचीनता को देख यह सहज ही अनुमान होजाना बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह जायसी का ही रहा होगा। दूसरी बात यह है कि जायसी ने 'पद्मावत' में अपने जिन चार घनिष्ठ मित्रों का वर्णन किया है वे चारों जायस के ही थे। 'यूसुफ मलिक', सालार कादिम', 'सलोने मियाँ' और 'बड़े शेख'—यही चारों व्यक्ति उनके घनिष्टतम मित्र थे। 'सलोने मियाँ' के सम्बन्ध में तो जायस में अभी तक यह जनश्रुति चली आती है कि वे बड़े बलवान थे। एक बार हाथी से लड़ गए थे। इन चारों दोस्तों में से दो के खानदान अभी तक विद्यमान हैं। 'जयसी' का वंश नहीं चला। पर उनके भाई के खानदान में एक साहब मौजूद हैं जिनके पास वंशवृक्ष भी है। यद्यपि वह वंश-वृक्ष पूर्णतः ठीक नहीं है तथापि उससे हमारे अनुमान को बल तो मिलता ही है।

'जायस नगर धरम अस्थानू' में **'धरम अस्थानू'** पर जोर देते हुए डा० विमलकुमार जैन का कहना है कि किसी भी व्यक्ति का धर्म स्थान वही हो सकता है जो उसके लिए सर्वाधिक प्रिय और पवित्र हो। **'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** से यह प्रमाणित है कि किसी भी मनुष्य के लिए उसकी जन्मभूमि से प्रिय तथा पवित्र स्थान और कोई नहीं हो सकता। डा० जैन 'धरम अस्थानू' का अर्थ-विशेष लेते हैं जिसे सामान्य तीर्थ स्थानों की श्रेणी में नहीं खींचा जा सकता। अस्तु निश्चय ही जायस, मलिक मुहम्मद का जन्म-स्थान रहा होगा अन्यथा उसे वे 'धरम-अस्थानू' न लिखते।

पता नहीं किस आधार पर डा० रामरतन भटनागर यह अनुमान करते हैं कि "वे (अर्थात् जायसी) जायस में पहले-पहल दस दिन के लिए पाहुने के रूप में आये थे। यहीं उन्हें वैराग्य हो गया और वे यहीं रहने लगे। इस नगर का आदि नाम उन्होंने उद्यान (उद्यान + नगर या उदयनगर) बताया है। इस नगर की कुछ धार्मिक महत्ता भी उस समय रही होगी। इसी से जायसी ने उसे 'धर्म-स्थान' कहा है।" इस प्रसंग को और भी स्पष्ट करने के लिए मैं पाठकों का ध्यान जायसी के ग्रंथ 'आखिरी कलाम' की निम्न पंक्ति की ओर आकर्षित करना चाहूँगा :—

"जायस नगर मोर अस्थानू। नगर कै नाँव आदि उदयानू॥"

इन पंक्तियों में **'मोर अस्थानू'** शब्द कवि की, स्थान के प्रति, दृढ़ता व्यक्त कर रहे हैं। वह एक प्रकार से स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि जायस ही मेरा स्थान है। 'नगर का नाँव आदि उदयानू' का अर्थ रायबरेली प्रान्त के गजेटियर पृष्ठ १८१ से स्पष्ट हो जाता है कि जायस का नाम **'उदयनगर'** था। मुसलमानों ने इसका नाम जायस रखा जो फारसी 'जैश' पड़ाव से निकला है। कवि ने अपनी पूर्व पंक्ति की घोषणा को दृढ़तर बनाने के लिये ही द्वितीय पंक्ति में नगर के प्राचीन नाम की ओर भी संकेत कर दिया है।

इन सभी तर्कों के अतिरिक्त कवि के जायस के होने का सबसे बड़ा और सीधा-सादा प्रमाण यह है कि उसके नाम 'मलिक मुहम्मद' के साथ 'जायसी' जुड़ा हुआ है। जायसी वही हो सकता है जो जायस का रहने वाला हो। बंगाल के रहने वाले व्यक्ति को

हम पंजाबी या मद्रासी नहीं कह सकते; और यदि कहेंगे भी तो समाज का समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता।

अन्त में एक वाक्य में मैं यह कहना चाहूँगा कि जायसी का जन्म काल ६०० हि० तथा स्थान जायस है।

बाल्यकाल तथा रूप—जायसी के पूर्वज सम्भवतः अरब थे। सैयद कल्ब मुस्तफा के ग्रंथ 'मलिक मुहम्मद जायसी' पृष्ठ २० के अनुसार इनके पिता का नाम मुमरेज था। इनका ननिहाल मानिकपुर में था। शेख अहलदाद इनके नाना थे।

ऐसी किंवदन्ती है कि जायसी के माता-पिता अत्यन्त ही गरीब थे, परन्तु अपने धर्म तथा पीरों और फकीरों में उनका गहरा विश्वास था। बाल्यावस्था में ही एक बार बालक जायसी पर शीतला का असाधारण प्रकोप हुआ। बचने की कोई आशा न रही। बालक की यह दशा देख माँ बड़ी विह्वल हुई। उसने प्रसिद्ध सूफी फकीर शाहमदार की मनौती की। माता की प्रार्थना सफल हुई। बच्चा बच गया; किन्तु उसकी एक आँख जाती रही।

"एक नयन कवि मुहम्मद गुनी"—विधाता को इतने से ही संतोष नहीं हुआ, एक कान की श्रवण शक्ति भी नष्ट हो गई। **'मुहम्मद बाईं दिशि तजा, इक सरवन इक आँखि।'** सम्भवतः ये दोनों बाम अंग के ही थे। सैय्यद मुस्तफा के अनुसार वे लूले और कुबड़े भी थे किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता और न उनके चित्रों से ही ऐसा प्रकट होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जायसी का व्यक्तित्व शारीरिक रूप में उतना महान् व सुन्दर नहीं था जितना कि चारित्रिक, आभ्यांतरिक और कवि रूप में। जो भी हो जायसी की कुरूपता जगत-प्रसिद्ध है। उनकी कुरूपता के सम्बन्ध में ही एक किंवदन्ती और है कि वे एकबार शेरशाह के दरबार में गये। शेरशाह उनके भद्दे चेहरे को देखकर हँस पड़ा। इस पर जायसी ने अत्यन्त ही शान्त भाव से बादशाह से पूछा **'मोहि का हँसेसि कि कोहरहिं'**। अर्थात् तू मुझ पर हँस रहा है या उस कुम्हार (गढ़ने वाले ईश्वर) पर? कहा जाता है कि विद्वान जायसी के इन गम्भीर शब्दों को सुनकर बादशाह बहुत लज्जित हुआ; और उसने उनसे क्षमा माँगी।

बालक जायसी के पिता का स्वर्गवास उसकी अल्पाति-अल्प आयु ही में हो गया था। कुछ कालोपरांत स्नेहमयी माता का भी निधन हो गया। इस प्रकार बालक जायसी अपनी बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गया। अब पालन-पोषण तथा शिक्षा का अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

आध्यात्म की ओर—अनाथ बालक जायसी कुछ दिनों तक तो अपने नाना शेख अलहदाद के पास मानिकपुर रहा किन्तु शीघ्र ही निर्मम विधाता ने उसका वह सहारा भी छीन लिया। बालक एकदम निराश्रय हो गया। ऐसी अवस्था में जीवन और जगत के प्रति उसके मन में गहरी विरक्ति भर आई। इसी बीच उसका सम्पर्क कुछ साधुओं

और फकीरों से हुआ। उन्होंने अपने सदुपदेशों और प्रेमपूर्ण व्यवहारों द्वारा कुशाग्रबुद्धि बालक जायसी के नैराश्य-गगन का अन्धकार दूर करना आरम्भ किया। जायसी का आकर्षण उधर बढ़ता गया। बाल्यकाल की दीन-हीनावस्था से उत्पन्न विरक्ति और इन साधु-फकीरों के सम्पर्क ने जायसी के किशोर मन को आध्यात्मिक दिशा प्रदान की। धीरे-धीरे यह आध्यात्मिक पिपासा बढ़ती गई। अन्त में एक दिन जिज्ञासु जायसी को इस प्यास ने गुरु के चरणों में ला उपस्थित किया।

जायसी की आध्यात्मिक रुझान के सम्बन्ध में एक कहानी और प्रचलित है कि जायसी की बाल्यकालीन परिस्थितियों ने उन्हें ईश्वर भक्त बना दिया था। अपनी अनाथावस्था में वे कुछ दिन तक साधुओं और फकीरों के साथ इधर-उधर भटकते और घूमते रहे। जब वयस्क हुए तो वे अपनी जन्मभूमि जायस को पुनः लौट आये और वहाँ एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया, किंतु इससे उनकी ईश्वर-भक्ति में किसी प्रकार की कमी न आई अपितु उसका रूप उज्ज्वलतर ही होता गया। तात्पर्य यह कि उनका जीवन एक ईश्वर भक्त गृहस्थ का जीवन बना। जायसी का यह नियम था कि जब वे खेती में होते तो अपना भोजन वहीं मँगा लिया करते थे, पर उनके साथ विशेषता यह थी कि वे अपना भोजन कभी अकेले नहीं करते थे। जो भी आस-पास दिखाई पड़ जाता उसे बुला लेते और फिर उसके साथ-साथ भोजन करते। इसी क्रम में शायद किसी दिन एक कोढ़ी के साथ भोजन किया था। ऐसा बताया जाता है कि उसी दिन से उनकी भक्ति दृढ़तर हो गई और उस परमसत्ता के रंग में ऐसे डूबे कि फिर उससे उबर न सके। 'अखरावट' के निम्न दोहे से सम्भवतः इसी घटना की ओर संकेत है:—

> **"बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासों कहौं।**
> **जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु मँह।।"**

साधु फकीरों के साथ भ्रमण करने के उपरान्त पुनः जायस में लौट गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के घटना-अनुमान को हमें कवि की इन पंक्तियों से भी बल मिलता है:—

> **"जायस नगर मोर अस्थानू।**
> **तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।।"**

'तहाँ आई' में सम्भवतः उक्त भ्रमण से ही वापस लौट आने की ओर संकेत है। ऐसा अनुमान होता है कि शायद इसी घटना के आधार पर पूर्ण सूचना के अभाव में कुछ विद्वानों ने जायसी को जायस का न होकर अन्य स्थान का मान लिया। यहाँ हमें इस प्रसंग पर अधिक जोर नहीं देना है, इसकी चर्चा तो पिछले पृष्ठों में हो ही चुकी है। इस उल्लेख से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि भगवद् भक्त जायसी का जीवन क्रम ही कुछ ऐसा हुआ कि उनकी आध्यात्मिक वृत्ति दृढ़तर होती गई।

सन्तान—मृत्यु के समय जायसी को सन्तानहीन बताया जाता है, किन्तु किसी भी समय उनके सन्तति थी या नहीं, इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि उनके सात पुत्र थे। जायसी की मोदप्रियता और उनके मौजी

स्वभाव की प्रसिद्धि सर्वत्र फैली हुई थी। एक दिन कवि जायसी ने 'पोस्ती नामा' शीर्षक पद्य की रचना की और उसे सुनाने के लिए गुरु जी के पास पहुँचे। इनके गुरुदेव वैद्यों के आदेश एवं अनुरोध से पोस्त का पानी प्रयोग करते थे जिससे क्षुधा और निद्राधिक का निवारण हो सके। जायसी की मार्मिक व्यंगोक्ति को सुनकर सहसा वे बोल उठे, **"अरे निपूते, तुझे ज्ञान नहीं कि तेरा गुरु निपोस्ती है।"** कहा जाता है कि इधर गुरु के मुख से यह वाक्य निकला और उधर दूसरी ओर एक व्यक्ति ने आकर जायसी को यह सूचना दी कि उनके सातों पुत्र एक साथ खाना खा रहे थे कि सहसा उनके ऊपर छत गिर गई और वे सब उसके नीचे दब कर मर गए। गुरु का साधारण क्रोध जायसी के लिए अभिशाप बन गया। इस दुर्घटना से उनके हृदय को कितना बड़ा दुःख पहुँचा होगा यह कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है। हाँ, इतना अवश्य पता चलता है कि इससे उनके गुरु का हृदय भी विचलित हो उठा और उनके दृगों में शोकाश्रु छलक आये। इसके उपरान्त जायसी पूर्ण वैरागी हो गये और फकीर का जीवन अपना लिया। वास्तविकता क्या थी, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण न उपलब्ध होने के कारण कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

जायसी और अमेठी—जायसी का अमेठी राज्य से गहरा सम्बन्ध बताया जाता है। उनके अमेठी पहुँचने के सम्बन्ध में दो कथाएँ प्रचलित हैं। पहली कथा इस प्रकार है—

मुरीदी करते-करते जब बहुत दिन व्यतीत हो गए तो जायसी और उनके एक साथी हजरत मुहम्मद निजामुद्दीन बन्दगी की यह उत्कृष्ट अभिलाषा हुई कि हम लोग भी अपनी गद्दी स्थापित कर अब शिष्य बनावें। इस अभिलाषा को दोनों गुरु भाइयों ने अपने गुरु से व्यक्त किया। उनके गुरु शाह बोदले ने उनकी इस प्रार्थना पर विचार कर उन्हें यह आदेश दिया कि अमेठी चले जावो। बन्दगी मियाँ ने लखनऊ वाली अमेठी में गद्दी स्थापित कर अपूर्व ख्याति प्राप्त की और जायसी खास अमेठी चले गये। अमेठी के समीप एक जंगल में उन्होंने अपना स्थान निश्चित किया। इस घटना का उल्लेख सैयद कल्ब मुस्तफा ने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' के पृष्ठ ३८ पर किया है।

दूसरी कथा—अपनी प्रतिभा और चिन्तन के बल पर जायसी एक बड़े सिद्ध पुरुष विख्यात हुए। अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बने। वे सब जायसी के अमर ग्रंथ 'पद्मावत्' से पद्य गा-गाकर भिक्षा माँगा करते थे। एक दिन ऐसा ही एक चेला अमेठी में नागमती का बारहमासा गाता फिर रहा था। पद्मावत के निम्न दोहे को उसके मधुर कण्ठ से जब अमेठी-नरेश ने सुना तो वे उस पर मुग्ध हो गए :—

"कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ।
सखि बेलि पुनि पलुहैं, जो पिउ सींचै आइ॥"

राजा ने पूछा, "शाह जी ! यह किसका दोहा है ?" शिष्य ने अपने विद्वान् गुरु जायसी का नाम बता दिया। फिर राजा जायसी के पास गए और आदरपूर्वक जायसी को अमेठी ले आये। तदुपरि जायसी मृत्युपर्यन्त वहीं रहे। इस कथा का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है।

जनश्रुति है कि अमेठी-नरेश के कोई सन्तान न थी। जायसी की दुआ से उनको पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। उस समय से जायसी का सम्मान और भी बढ़ गया।

जायसी की मृत्यु—उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में मुस्तफा साहब ने एक घटना का उल्लेख किया है। अमेठी नरेश जब जायसी की सेवा में उपस्थित होते थे तो उनका एक बहेलिया (तुफंगची) भी उनके साथ जाता था। जायसी उसका विशेष सत्कार करते थे। जब लोगों ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि 'यह मेरा कातिल है।' इस पर सब आश्चर्य चकित हो गए। बहेलिये ने प्रार्थना की कि इस पाप कर्म को करने से पूर्व मुझे कत्ल करा दिया जाय। इस प्रकार मैं एक गुरुतम पाप से बच जाऊँगा। राजा ने भी इसे उचित समझा, परन्तु जायसी ने कातिल को आग्रह पूर्वक कत्ल होने से बचा दिया। राजा ने आज्ञा घोषित कर दी कि उस समय से उस बहेलिए को कोई बन्दूक, तलवार आदि न दी जावे।

परन्तु विधि का विधान कदापि टाले नहीं टलता है। एक अँधेरी रात को जब बहेलिया राजभवन से अपने गाँव जाने लगा तो दारोगा से कहा,'समय तंग हो गया है और मेरी राह जंगल में होकर है इसलिए रात भर के लिये एक बन्दूक दे दो। प्रातःकाल ही लौटा दूंगा।' दारोगा ने इसमें कोई आपत्ति न की और एक बन्दूक उस बहेलिये को दे दी। जब बहेलिया जंगल में होकर जाने लगा तो उसे शेर को पास जान कर बहेलिये ने शब्द की दिशा में गोली छोड़ दी, शब्द बन्द हो गया। उसने सोचा शायद शेर मर गया और फिर वह बिना रुके आगे चला गया। उसी समय राजा ने स्वप्न देखा कि कोई कह रहा है "आप सो रहे हैं और आपके बहेलिये ने मलिक साहब को मार डाला।" राजा यह सुनकर चौंक पड़ा और नंगे पैरों जायसी के स्थान पर पहुँचा। वहाँ पहुँच कर वह क्या देखता है कि जायसी का निर्जीव शरीर धरती पर पड़ा है, मस्तक में गोली का निशान है। इस दुर्घटना से राजभवन तथा नगर में शोक उमड़ पड़ा। जायसी की लाश गढ़ के समीप ही दफ़ना दी नई। इस सम्बन्ध में डा० जयदेव ने अपने शोध ग्रंथ 'सूफी महाकवि जायसी' के पृष्ठ ३६ पर यह भी उल्लेख किया है कि **"सूफियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी बोली में उसी परम प्रियतम का स्मरण करता है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वे किसी भी पक्षी या अन्य प्राणी की बोली का अनुकरण करते हैं और वही उनके लिये प्रियतम का प्यारा बन जाता है। इस प्रकार रात्रि की निस्तब्धता में उनका जप (स्मरण, जिक्र) का अभ्यास चलता रहता है। कुछ सूफी 'मोर-मोर' अथवा 'पिउ-पिउ' का जप करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी 'जिक्र असदी' (शेर की ध्वनि के अनुकरण) का अभ्यास करते थे। इसीलिये बहेलिये को आवाज सुनाई दी और उसने गोली छोड़ दी।"**

सैय्यद कल्ब मुस्तफा ने जायसी की मृत्यु १०४९ हिजरी लिखा है। परन्तु इस तिथि को मान लेने में कुछ आपत्तियाँ हैं। पहली बात तो यह कि १०४९ हि० मृत्यु सं० होने से जायसी की आयु १४९ वर्ष की ठहरती है जो असम्भव न होते हुए असाधारण घटना

तो अवश्य ही है। ऐसा लगता है उनके किसी शिष्य या प्रशंसक ने दीर्घायु होने की यह बात लिख दी होगी जिसे पढ़ गुलाम सरवर लाहौरी तथा शेख अब्दुल कादिर को विश्वास हो गया होगा और उसके आधार पर मुस्तफा साहब भी जायसी का मृत्यु-काल १०४९ हिजरी मान बैठे होंगे।

दूसरी बात यह है कि जायसी के १०४९ हिजरी तक जीवित रहने का अर्थ है कि वे शाहजहाँ के प्रारम्भिक शासन में भी वर्तमान थे। परन्तु शेरशाह के पुत्र सलीमशाह सूर के समय के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक व्यक्तियों में भी उनका नाम नहीं है, यद्यपि उन्होंने शेरशाह के राज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सलीमशाह सूर के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही जायसी इस संसार से विदा हो चुके थे।

तीसरी बात यह कि यदि वे १०४९ हिजरी तक वर्तमान थे और ९४७ हिजरी में ही पद्मावत की रचना कर चुके थे तो शेष १०० वर्ष के लम्बे अवकाश में 'अखरावट' के अतिरिक्त उन्होंने अन्य किसी ग्रंथ का प्रणयन क्यों नहीं किया। उन जैसे क्रियाशील-सूफी के लिये यह असम्भव प्रतीत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि १०४९ हिजरी उनका मृत्युकाल नहीं हो सकता।

दूसरा आधार हमारे पास नसीरुद्दीन हुसेन जायसी का है। उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी का मृत्यु-काल ४, रजब, ९४९ हिजरी कहा है। इस काल की सत्यता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल कुछ अंश में इसी ओर झुके जान पड़ते हैं।

प्रबल ऐतिहासिक तथ्यों तथा अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विवशतावश ९४९ हिजरी को (सन् १५४२ ई० के लगभग) ही जायसी का मृत्यु-काल मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है। मलिक साहब का ९४८ हिजरी में अमेठी राज्य की ओर से आमंत्रित होना प्रसिद्ध है। वे अमेठी आये और साल भर वहाँ रहने के उपरान्त ९४९ हिजरी में किसी दुर्घटना के शिकार हो गए।

गुरु-परम्परा—मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में से थे। इस परम्परा की दो शाखाएँ थीं। अपने 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोनों ग्रंथों में जायसी ने गुरु-परम्परा का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है। इस आधार पर डाक्टर ग्रियर्सन शेख मोहिदी को इनका दीक्षा गुरु मानते हैं। पद्मावत में दो पीरों का उल्लेख किया है :—

"सैयद अशरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।
गुरु मोहिदी सेवक में सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥"

इसी प्रकार अखरावट में भी दोनों का उल्लेख है :—

"कही सरीअत चिस्ती पीरू। उधरी असरफ औ जँहगीरू।
या पांयउ गुर मोहिदी दीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा॥"

'आखिरी कलाम' में केवल सैयद अशरफ जहाँगीर का ही उल्लेख है। पीर शब्द का प्रयोग भी जायसी ने सैयद अशरफ के नाम के पहले किया है और अपने को उनके घर का बन्दी कहा है। इससे आचार्य शुक्ल यह अनुमान लगाते हैं कि उनके दीक्षा गुरु तो थे—सैयद अशरफ—परन्तु पीछे से उन्होंने मुहीउद्दीन की भी सेवा करके उनसे ज्ञानोपदेश और शिक्षा प्राप्त कर ली थी। डा० जयदेव ने जायसी की गुरु परम्परा का सिलसिला निम्न प्रकार से बताया है—
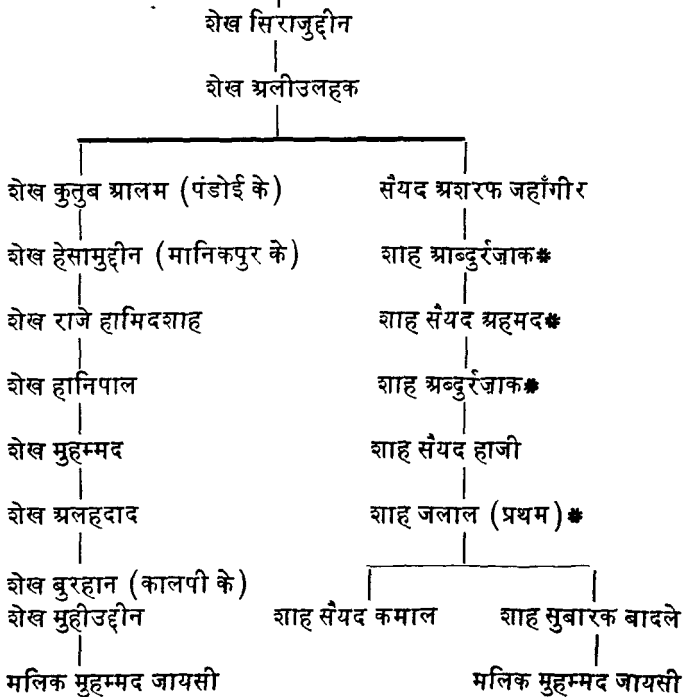
नोट—(पुष्पांकित नाम शुक्ल जी ने नहीं दिये हैं।)

डाक्टर साहब का कहना है कि जायसी ने अपनी रचनाओं को मसनवी साँचे में ढाला है। अतः उनमें गुरु-स्तुति भी है। ''आखिरी कलाम'' में एक गुरु की वन्दना है, शेष दो काव्यों (पद्मावत और अखरावट) में दो गुरु परम्पराओं का वर्णन है।.........एक पुस्तक में केवल एक परम्परा का वर्णन करना तथा दो अन्य पुस्तकों में दो गुरु परम्पराओं का वर्णन करना प्रमाणित करता है कि आरम्भ में एक गुरु से दीक्षा प्राप्त की, तत्पश्चात् दूसरे गुरु से भी लाभ उठाया।

मलिक साहब जायस के रहने वाले थे। वहाँ पर सैयद अशफर जहाँगीर की

ख्याति थी। उनकी दरगाह जायस में अब तक विद्यमान है। इधर-उधर भटकते हुए सूफी सन्तों के सत्संग से लाभ उठाते हुए तथा अपनी शक्तियों के विकसित होने पर जब मलिक साहब जायस लौटे, तो प्रायः शेख मुबारक की सेवा में जिज्ञासु की भांति उपस्थित होते रहे। क्षेत्र तैयार था सूफीमत की ओर रुझान भी था। प्रियतम के दीदार की तीव्र उत्कंठा जागृत हो चुकी थी। शेख साहब ने जिज्ञासु की परीक्षा की। उसको अधिकारी समझकर दीक्षा दे दी। जायसी कृत-कृत्य हो गये। जायसी ने अशरफी घराने के प्रति अपनी कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट की है:—

"जहाँगीर वे चिस्ती निहकलंक जस चाँद।
वै मखदूम जगत के, हौं ओहि घर कै बाँद॥"

—(पद्मावत, स्तुतिखण्ड पृष्ठ ७)

अतः इस विवेचन से यह तो निश्चय ही है कि जायसी का गुरुद्वारा जायस था और उनके दीक्षा-गुरु 'मखदूम' साहब की गद्दी के उत्तराधिकारी शेख मुबारक थे। शुक्ल जी ने सैयद अशरफ को उनका दीक्षा गुरु माना है परन्तु उनकी मृत्यु जायसी के जन्म से बहुत पूर्व सन् ८०८ हिजरी में हो चुकी थी। अतः वे दीक्षा-गुरु नहीं हो सकते, वरन् उनके उत्तराधिकारी शाह मुबारक बोदले जो मुहीउद्दीन के समकालीन थे। जिन्होंने जायसी को अपना खलीफा नियत करके सूफीमत के प्रचार की आज्ञा प्रदान की थी।

आगे चलकर डा० जयदेव पुनः लिखते हैं कि **"जब प्रौढ़ावस्था में सूफीमत में दीक्षित जायसी शेख मुहीउद्दीन से मिले तब मलिक साहब की वृत्ति, उत्कण्ठा एवं आचरण पर मुग्ध होकर उन्होंने ऐसे सुयोग्य अधिकारी को अपनी साधना के कुछ रहस्य बतला दिए। जायसी की कृतज्ञता ने इस अनुकम्पा का ऋण स्वीकार किया और शेख मुहीउद्दीन को भी गुरु माना। परन्तु जायसी ने गुरु मेंहदी की परम्परा को सदैव द्वितीय स्थान ही दिया है तथा अशरफी परम्परा के प्रति जो कृतज्ञता एवं भक्ति प्रकट की वह शेख मुहीउद्दीन के प्रति नहीं।"**

सारांश यह है कि जायसी के दीक्षा गुरु अशरफी परम्परा के शाह मुबारक बोदले (शेख मुबारक) थे और उन्होंने अधिक समय इन्हीं गुरु की सेवा में व्यतीत किया तथा इन्हीं की अनुकम्पा से जायसी को अपनी साधना में साफल्य प्राप्त हुआ। साथ ही शेख मुहीउद्दीन से भी जायसी को कुछ गुह्य बातों का उपदेश मिला था। अतः वे विनयशील जायसी की दृष्टि में गुरु के समकक्ष सम्माननीय हुए। इस प्रकार उनके दो गुरु प्रसिद्ध हुए।

ज्ञानार्जन—यह तो मैं लिख ही चुका हूँ कि बालक जायसी आरम्भ में ही अनाथ हो गया। ऐसी अवस्था में वह इधर-उधर मारा-मारा फिरा। साधु-सन्तों तथा पीरों और फकीरों की संगति की। फिर यह कहाँ सम्भव था कि किसी पाठशाला में विधिवत अध्ययन करता। उसकी पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र था। उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएँ और व्यापार थे। सहपाठी ज्ञानेन्द्रियाँ और सत्संग थे, तथा पुस्तक निर्मल हृदय था

जिसमें अनुभूत व्यापारों का पारायण होता रहा था। इस प्रकार मननशील जायसी युवा-वस्था तक शिक्षा प्राप्त कर संसार के समक्ष आया।

विविध विषयों तथा धर्मादि की जानकारी—जायसी मुसलमान माता-पिता के घर पैदा हुए थे इसलिए कम से कम 'इस्लाम धर्म' की मुख्य-मुख्य बातों का जानना बिल्कुल ही स्वाभाविक था। परन्तु वास्तविकता यह है कि उनका इस्लाम सम्बन्धी ज्ञान भी गम्भीर नहीं कहा जा सकता। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने ग्रंथ में हिन्दू धर्म की रीतियों तथा कथाओं आदि का भी प्रयोग किया है जिससे पता चलता है कि उन्हें हिन्दू धर्म की भी कुछ जानकारी थी, यद्यपि इस दिशा में उन्होंने कहीं-कहीं भयंकर भूलें भी की हैं। जायसी-प्रतिभा सम्पन्न तथा कुशाग्र बुद्धि थे, सूफी फकीरों के साथ-साथ उन्होंने हिन्दू-सन्तों साधु की भी संगत की थी। और सबसे बड़ी बात यह है कि वह युग ही धार्मिक हलचल का था। ऐसी दशा में उन्हें हिन्दू धर्म की भी कुछ जानकारी हो जाना कोई असम्भव बात नहीं थी।

हठयोग, रसायन तथा वेदान्त आदि अनेक बातों का सन्निवेश जायसी की रचना में मिलता है। हठयोग में मानी हुई इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की ही चर्चा उन्होंने नहीं की है बल्कि सुषुम्ना नाड़ी में नाभिचक्र (कुन्डलिनी) हृत्कमल और दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) का भी बार-बार उल्लेख किया है। इसी प्रकार पद्मावत में भी रसाय-नियों की भी कई बातें आई हैं। गोरख पंथियों की तो जायसी ने अनेक बातें रखी हैं। सिंहल द्वीप में पद्मिनी स्त्रियों का होना और योगियों का सिद्ध होने के लिए वहाँ जाना उन्हीं की कथाओं के अनुसार है। इन सब बातों से पता चलता है कि जायसी साधारण मुसलमान फकीरों की भाँति नहीं थे। वे सच्चे जिज्ञासु थे और हर एक मत के साधु-सन्तों तथा महात्माओं से वे मिलते-जुलते रहते थे और उनकी बातों से सार-तत्व ग्रहण करते रहते थे।

जायसी एक भावुक, सहृदय, संवेदनशील और भगवद्भक्त व्यक्ति थे। वे अपने समय के पहुँचे हुए एक सिद्ध और फकीर माने जाते थे। सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टि-कोण रखना उनकी विशेषता थी। देखिए ईश्वर तक पहुँचने के अनेक मार्गों को वे कितनी उदारतापूर्वक स्वीकार करते हैं—

"विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत, तन रोवां जेते॥"

लेकिन यह सब होने पर भी मोहम्मद साहब में उनकी गहरी आस्था है—

"तिन मँह पंथ कहौं अलगाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई॥
से बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलाश बसेरा॥"

उन्हें अहंकार छू नहीं गया था। विनम्रता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। कबीरदास की भाँति एक नया पंथ निकालने की उन्हें कभी नहीं सूझी, और न उनकी तरह **'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया'** कहने का साहस ही वे कर सके। क्योंकि वे यह

जानते थे कि सब कुछ हो जाने पर भी मैं एक मनुष्य हूँ। इसलिये मुझमें अपूर्णता भी बनी रहेगी। कबीर की भाँति उन्होंने किसी की निन्दा नहीं की और न कटु हुए। उनमें प्रत्येक प्रकार का महत्व स्वीकार करने की अपूर्व क्षमता थी। वीरता, धीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष पर मुग्ध होने वाला उन्हें हृदय प्राप्त था। समाज के प्रति अपने विशेष कर्तव्यों के पालन के साथ-साथ वे सामान्य मनुष्य धर्म के सच्चे अनुयायी थे। वे बहुविज्ञ होते हुए भी अपने ज्ञान को पंडितों द्वारा दिया गया प्रसाद मानते थे।

"हौं पंडितन्ह केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा।।"

कबीर के विरोधी प्रकृति के होते हुए भी उनको एक महान साधक के रूप में उन्होंने स्वीकार किया है—

"ना नारद तब रोई पुकारा। एक जोलाहे सौ मैं हारा।।
पेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैंकरा भरई।।"

जायसी ने अपनी कृतियों में ज्योतिष, ऋतु, त्योहार आदि का भी अच्छा परिचय दिया है। इतिहास, भूगोल तथा राजनीति आदि के सफल और अधिकारपूर्ण प्रयोग उन्होंने किये हैं। व्यवहार ज्ञान तो उनका बहुत ही उच्चकोटि का था। हिन्दू परिवार की प्रत्येक गतिविधि का सम्यक अध्ययन उन्होंने किया था, ऐसा उनके पद्मावत से प्रकट होता है। एक का दूसरे के प्रति व्यवहार कब कैसा होता है, यह वे भलीभाँति जानते थे। बानगी के रूप में दो-एक स्थल लीजिए—

(१) हिन्दू-परिवार में सास-ननद के मध्य नवागता वधू की स्थिति—

"सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेंही। दारुन ससुर न विसरे देंही।।"

× × ×

"सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुनौ कर जोरे।।"

(२) सपत्नियों में प्रेम का न होना जगत प्रसिद्ध है। वे एक ही आसन पर बैठकर परस्पर मीठी-मीठी बातें करती हैं किन्तु उनके हृदय विरोधपूर्ण रहते हैं। इस सत्य को जायसी ने कितनी सरल भाषा में प्रकट किया है—

"दुनौ सवति मिलि पास बईठी। हिय विरोध, मुख बातें मीठी।।

इसी प्रकार अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अंत में हम निष्कर्ष रूप में डाक्टर जयदेव के शब्दों में कहेंगे कि **"जायसी अध्ययनशील व्यक्ति तो न थे किन्तु बहुश्रुत थे। उनकी धारणा और मर्मवेक्षणा-शक्ति विलक्षण थी। इनकी सहायता से वे अपने अनुभव को, जो उन्होंने सतसंग में, पर्यटन में व्यवहारादि में प्राप्त किया था, अपने काव्यों में इस युक्ति से उपयोगी बनाकर सज्जित किया है कि उनके अक्षय ज्ञानागार को देखकर चकित होना पड़ता है। निस्सन्देह उनका साहित्यिक तथा धार्मिक ज्ञान साधारण, इतिहास तथा भूगोल का विशेष और व्यवहार पटुता तथा अनुभव शक्ति उच्चकोटि की थी।"**

जायसी का कवि और सामान्य दोनों रूप हमारे लिए आदर्श हैं। उनका व्यक्तित्व

महान तथा अत्यन्त ही गम्भीर और शांत था। वे बड़े ही विनम्र और कृपालु स्वभाव के थे। ईश्वर ने उन्हें शारीरिक-सौन्दर्य नहीं प्रदान किया था किन्तु उनका हृदय सौन्दर्य के चरम उत्कर्ष पर था। उतना सुन्दर, कोमल तथा भावुक और प्रेम की पीर से भरा हृदय शायद ही किसी को मिला हो। 'पद्मावत' उनके इस हृदय का सच्चा परिचय देने वाला अमर ग्रंथ है। उसमें उन्होंने लोक-पक्ष और भगवद्पक्ष दोनों की गूढ़ता तथा गम्भीरता का निरूपण किया है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'अखरावट' है जिसमें वर्ण-माला के एक-एक अक्षर पर सिद्धांत सम्बन्धी कुछ बातों का विवेचन है। 'आखिरी कलाम' में मृत्यु के बाद जीव की दशा तथा कयामत के अंतिम न्याय का वर्णन है।

'पद्मावत' ऐसे उच्चकोटि के ग्रंथ के महाप्रणेता के रूप में जायसी अमर रहेंगे। उनका भावुक सुकोमल और प्रेम की पीर से भरा हृदय प्रेम पथ के पथिकों का सदैव मार्ग-दर्शन करेगा और उनके लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में नई ज्योति भरता रहेगा। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के महान समन्वयकारी, उच्चयातिउच्च कोटि के कवि और आदर्श मानव के रूप में जायसी भारतीय साहित्य तथा समाज में सदैव स्मरणीय रहेंगे।

●

: ४ :

जायसी के काव्य ग्रन्थ

मलिक मुहम्मद जायसी निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके जीवन और साहित्य दोनों को हिन्दी जगत ने आदर्श एवं महान के रूप में ग्रहण किया है; परन्तु दुःख इस बात का है कि तत्कालीन अन्य कवियों तथा संतों की भाँति इनके जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में भी भ्रांतियाँ कम नहीं हैं। जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर ही जायसी का जीवन-वृत्त, रचनाकाल तथा कृतियों आदि का मूल्यांकन एवं परीक्षण किया जाता है। यहाँ हम उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

जयासी कृत रचनाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। सभी अनिश्चित संख्या में बात करते हैं। सामान्यतया उनके नाम से निम्न ग्रंथ बताये जाते हैं—

१. पद्मावत	**११. खुर्वानामा**
२. अखरावट	**१२. मोराई नाम**
३. आखिरी कलाम	**१३. मुकहरानामा**
४. सखरावत	**१४. मुहरानामा**
५. चंपावत	**१५ कहारनामा**
६. इतरावत	**१६. मेखरावटनामा**
७. मटकावत	**१७. धनावते**
८. चित्रावत	**१८. सोरठ**
९. नैनावत	**१९. परमार्थ जपजी**
१०. पोस्ती नामा	**२०. स्फुट छंद**

२१. मुखरानामा

इन ग्रंथों में पद्मावत, अखराट और आखिरी कलाम से हिंदी के सभी पाठक परिचित हैं, शेष के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भविष्य ही इन पर प्रकाश डलेगा। आइये अब क्रमशः एक-एक का मूल्यांकन एवं परीक्षण किया जाय।

पद्मावत

इस ग्रंथ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विवाद जो उठता है, वह है इसके रचनाकाल का। विद्वानों के दो दल हो गये हैं। एक दल इसका रचना-काल ९२७ हिजरी मानता है और दूसरा ९४७ हिजरी। ऐसा लिपि की त्रुटि के कारण हुआ है। जायसी के समय फारसी

राजभाषा थी। इस नाते फारसी लिपि का प्रयोग मुसलमानों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू परिवार भी करते थे। सूफियों के सभी ग्रंथ इसी लिपि में लिखे गये। जायसी के काव्यों की लिपि भी फारसी ही थी। इस लिपि में स्वर व्यंजनों की न्यूनता होती है जिससे सब शब्द ठीक-ठीक व्यक्त नहीं हो पाते। इसके अतिरिक्त इस लिपि के लेखक प्रायः घसीट के अभ्यस्त होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप नुक्ता (बिन्दी) तथा ज़बर, ज़ेर-पेश (मूलस्वर अ, ई, उ के सूचक चिन्ह) छूट जाया करते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी ये लेखक अपनी लिखी वस्तु को स्वयं भी नहीं पढ़ पाते। लेखकों की इस घसीट मनोवृत्ति का शिकार पद्मावत को भी होना पड़ा; और उसकी रचनाकाल सम्बन्धी पंक्ति के दो पाट हो गये—

"सन नौ सै सत्ताइस अहा।"

तथा

"सन नौ सै सैंतालिस अहा ।।"

मूल पद्मावत की प्रतिलिपि तैयार करने में लेखकों की इस साधारण असावधानी से हिन्दी जगत को इतनी माथा-पच्ची करनी पड़ रही है।

९४७ हिजरी मानने वालों का यह कहना है कि कवि ने अपनी साहित्यिक-परम्परानुसार तत्कालीन राजा शेरशाह की वंदना की है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग चार (१९३७) के पृष्ठ ५१ के अनुसार शेरशाह २६ जून १५३९ को गद्दी पर बैठा था। कुछ विद्वानों का विचार है कि उसका सिक्का इससे पूर्व ही चल गया था। ९४७ हिजरी ८ मई १५४५ से प्रारम्भ होता है। इससे पता चलता है कि ग्रंथ का रचना काल ९४७ हिजरी से पूर्व का नहीं है।

इस तर्क के प्रत्युत्तर में ९२७ हिजरी मानने वालों का यह कथन है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० के आस-पास अर्थात् ९२७ हिजरी में ही बनाये, परन्तु ग्रंथ को शेरशाह के समय में पूरा किया। इसलिये कवि ने भूतकालिक क्रिया 'कहा' और 'अहा' का प्रयोग किया है।

"सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा अरंभ बैन कवि कहा ।।"

डा० कमलकुल श्रेष्ठ इस मत के अर्थात् ९२७ हि० मानने वालों के समर्थन में अपना एक तर्क और जोड़ते हैं, वह यह कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना अन्तिम ग्रंथ 'आखिरी कलाम' १५२९ ई० अर्थात् ९३६ हि० में लिखा था। वह अन्तर्साक्ष्य से प्रमाणित एवं निर्विवाद है—

"सन नव सै छत्तीस जब भये।
तब एहि कथा के आखर कहे ।।"

जब कि कवि का 'आखिरी कलाम' अर्थात् कवि की अन्तिम रचना ९३६ हिजरी की है तो पद्मावत निश्चयरूप से उससे पूर्व की होगी।

डा० विमलकुमार जैन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री यज्ञदत्त शर्मा आदि

९२७ हिजरी के पक्ष में हैं; किन्तु डा० रामकुमार वर्मा व श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित तथा डा० जयदेव आदि ९४७ हिजरी का समर्थन करते हैं। डाक्टर जयदेव अपनी बात के प्रमाण में जो तर्क उपस्थित करते हैं उनका सारांश इस प्रकार है—

१—**'आखिरी कलाम'** कवि की अन्तिम रचना नहीं है। इसलिये उसके आधार पर 'पद्मावत' को उससे पहले अर्थात् ९३६ हिजरी से पूर्व का मान लेना मुझे स्वीकार नहीं। 'आखिरी कलाम' कवि की पहली रचना है।

२—**'पद्मावत'** के पूर्वार्द्ध में सिंहल द्वीप का वर्णन है। जिसमें कवि सामयिक परिस्थितियों का निर्देश कर सकता है, जैसाकि निम्न पंक्तियों से ध्वनित होता है—

"फरै आस अति सघन सुहाए। औ जस धरै अधिक सिर नाये॥

× × ×

पैग पैग पर कुवाँ बावरी। साजी बैठक और पाँवरी॥

× × ×

राव रंक जावत सब जाती। सब कै चाह लेहि दिन राती॥
पंथी परदेसी जत आवहिं। रस कै चाह दूत पहुंचावहिं॥"

यह वर्णन शेरशाह के काल पर लागू होता है। डा० चन्द्रबली पाण्डेय ने भी लिखा है, **"उन्होंने पद्मावत में जिन रजवाड़ों का वर्णन किया है उनकी संगति प्रायः शेरशाह के समय में ही ठीक-ठीक बैठती है।"** डा० कमलकुल श्रेष्ठ का इस सम्बन्ध का यह कथन उन्हें मान्य नहीं कि **"कथा के आरम्भिक वचन कवि ने ९२७ हिजरी में कहे थे। बाद में सारा ग्रंथ लिख डाला गया। शेरशाह के समय में कवि ने उसकी भूमिका (स्तुति खंड) लिखी। उसमें भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए प्रारम्भिक काल दिया और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की वंदना की।"** इसपर आक्षेप करते हुए वे कहते हैं— **"कहने की आवश्यकता नहीं कि डाक्टर महोदय स्तुति खंड को ग्रंथ की समाप्ति के उपरान्त की रचना मानते हैं और कथा की प्रथम पंक्ति 'सिंहल दीप कथा अब गाओं' के "अब" शब्द से दृष्टि चुरा लेते हैं।"**

३—**'अखरावट'** की रचना ९२५ हिजरी में नहीं हुई यदि इसकी रचना ९२५ हिजरी मान ली जाय तो निम्न पंक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं—

"भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।"

दूसरी बात यह भी कि 'आखिरी कलाम' ९३६ हिजरी में रच लेने के उपरान्त जीवन के शेष १२-१३ वर्षों में कवि का मौन रहना असम्भव नहीं तो असंगत अवश्य है।

४—**'पद्मावत'** शेरशाह के समय में ही रचा गया। यह मानना कि स्तुति खण्ड (सम्पूर्ण अथवा उसका केवल शेरशाह सम्बन्धित स्पष्ट अंश) शेरशाह के जमाने में लिखा गया, बिल्कुल ही भ्रामक और असंगत है।

५—बंगला अनुवाद प्राचीनतम नहीं कहा जा सकता और न उसकी शुद्धता ही

सर्वथा विश्वसनीय है। आलो उजालो इस पंक्ति—"शेख मुहम्मद जाति जावन रचित ग्रंथ संख्या सप्तविंशनवसत" के णनुसार निश्चय ही ग्रंथ ९२७ हिजरी में पूरा हो गया था। पर इसे प्रमाण कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इसी प्रकार अन्य विद्वान भी अपने-अपने मत के समर्थन में अपना-अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत कृति के लेखक का विनम्र निवेदन यह है कि 'पद्मावत' जायसी की समस्त कृतियों में सभी दृष्टियों से प्रौढ़तम रचना है। कवि का जन्म ९०० हिजरी उसके अन्त-र्साक्ष्य से पूर्णतया प्रमाणित है—

"भा अवतार मोर नवसदी"

यदि इस ग्रंथ का रचनाकाल ९२७ हिजरी मान लिया जाय तो उस समय कवि की अवस्था केवल २७ वर्ष ठहरती है। २७ वर्ष की अल्पायु में इतने बड़े 'महाकाव्य' का प्रणयन यदि मैं असम्भव न मानूँ तो असंगत तथा अति कठिन अवश्य कहना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि यदि कवि २७ वर्ष की अल्पायु में ही पद्मावत ऐसा महाकाव्य लिख सकता था तो वह अपने जीवन के शेष २०-२२ वर्षों में किसी अन्य तथा अपेक्षाकृत प्रौढ़-तर महाकाव्य की रचना क्यों नहीं कर सका? और छोटी-छोटी कृतियों के निर्माण में उन बहुमूल्य तथा अनुभवी वर्षों को व्यय कर डाला। सहृदय तथा भावुक कविजन जायसी के स्थान पर स्वयं को बिठाकर सोचें कि वे 'पद्मावत' ऐसे महाकाव्य के निर्माण के बाद जीवन के शेष २०-२२ वर्षों में केवल एक '**अखरावट**' अथवा उसी प्रकार की अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के सृजन में ही क्या वे सन्तोष प्राप्त कर लेते? शायद नहीं।

जायसी की मृत्यु ९४९ हिजरी सब प्रकार से प्रमाणित हो चुकी है। जो लोग 'आखिरी कलाम' को कवि की अन्तिम कृति मानते हैं तथा उसका रचनाकाल ९३६ हिजरी बताते हैं, उनसे अब मेरा एक प्रश्न है और वह यह कि 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ में कर लेने के उपरान्त जायसी ने क्या कवि कर्म से मुक्ति ले ली थी? यदि नहीं तो जीवन के शेष १२-१३ वर्षों में उन्होंने अन्य कौन सी रचना की?

उत्तर में कहा जा सकता है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि कवि जीवन के अंतिम दिनों तक लिखता ही रहा हो। सम्भव है वह जीवन की अन्य परिस्थितियों तथा कठोर आवश्यकताओं में उलझा रहा हो और काव्य-सृजन का अवकाश न पा सका हो।

तर्क अपने में ठीक है और मैं इसे असम्भव भी नहीं मानता। पर इतना अवश्य कहूँगा कि १२-१३ वर्षों के लम्बे अन्तर में कवि का एकदम मौन रहना असंगत-सा जान पड़ता है। कवि चाहे जितनी विषद परिस्थितियों से क्यों न घिरा हो, उसकी वीणा के तार मौन नहीं रह सकते। सुख की मादक घड़ियों में यदि वे झंकृत होने के लिए विवश हैं तो दुःख और वेदना के सघनतम क्षणों में हाहाकार करने को मजबूर भी। कवि की हृद्-तंत्री सुख और दुख दोनों के आघातों से झंकृत होती है, केवल एक के आघातों से ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि 'आखिरी कलाम' कवि की अंतिम रचना नहीं है, उसके

बाद भी कवि ने रचनाएँ की होंगी, पर वे अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं; तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि निश्चय ही वे रचनाएँ अपेक्षाकृत पद्मावत आदि से श्रेष्ठतर रही होंगी और उन्हें लोकप्रियता भी खूब मिली होगी। किन्तु कहीं से भी और किसी भी रूप में इस दिशा में कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भव है भविष्य की खोजों में वे प्राप्त हों और उनका रूप वस्तुतः पद्मावत आदि से सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर भी हो, परन्तु जब तक वे प्राप्त नहीं होतीं तब तक -'**पद्मावत**' ही कवि की श्रेष्ठतम रचना कही जायगी और वह २७ वर्ष की अल्पायु (९२७ हिजरी) में नहीं लिखी जा सकती।

अस्तु ! अब मैं निर्विवाद और अधिकारपूर्ण शब्दों में यह कहूँगा कि 'पद्मावत' निश्चय ही ९४७ हिजरी में पूर्ण हुआ। यह और बात है कि कवि उसे पिछले कई वर्षों से लिखता चला आया हो। आरम्भ की वह तिथि ९२७ हिजरी हो सकती है अथवा ९२७ हिजरी से ९४७ हिजरी के बीच की अन्य कोई भी तिथि। पद्मावत में प्राप्त शाहे-वक्त की बन्दना तथा अन्य प्रशंसात्मक अंश पुकार-पुकार कर उसे शेरशाह के समय की कृति बताते हैं; फिर भी उसका रचनाकाल ९२७ हिजरी मानना एक दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जायगा।

पद्मावत का साहित्यिक मूल्यांकन—'पद्मावत' का साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि वह किस कोटि का ग्रंथ है। सामान्यतया आचार्यों ने काव्य में दो भेद किए हैं—

१. **मुक्तक**—जिसमें प्रत्येक छन्द स्वतः सम्पूर्ण और स्वतन्त्र हैं। पद्मावत इसमें नहीं आता।

२. **प्रबन्ध काव्य**—जिसमें कथावस्तु का रहना नितान्त आवश्यक है और प्रत्येक छन्द पूर्वापर की अपेक्षा रखता है। प्रबन्ध काव्य में कथावस्तु को अपने उद्देश्य की ओर अबाधरूप से प्रवाहित होना चाहिये। उसमें न तो किसी अनावश्यक प्रसंग अथवा कथा को लाना चाहिए और न आवश्यक को छोड़ना ही चाहिए। उसका कोई अंग ऐसा न होना चाहिए जो मुख्य उद्देश्य की पूर्ति न करता हो। साथ ही संगठन की दृष्टि से प्रत्येक प्रसंग को उचित विस्तार एवं संकोच प्रदान करना चाहिये। इतिवृत्तात्मकता एवं रसात्मक स्थलों में उचित सामंजस्य होना चाहिये। रसात्मक स्थलों में मनुष्य के हृदय की वृत्तियाँ लीन होती हैं और इतिवृत्तात्मकता से उसकी जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति होती है। प्रबन्ध काव्य में भावों की सुन्दरता के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि भाव परिस्थिति के अनुकूल हैं या नहीं ?

इस दृष्टिकोण से यदि हम पद्मावत को देखें तो इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उसमें अनावश्यक प्रसंगों का समावेश अवश्य है किन्तु अनावश्यक बातों का समावेश नहीं हुआ है। कथानक में सम्बन्ध-विच्छेद भी पाया जाता है पर जो प्रसंग बीच में लाये गये हैं उनका मुख्य कथा से सामंजस्य स्थापित कर दिया गया है। जैसे समुद्र में पाँच रत्नों की प्राप्ति और उनका अलाउद्दीन को दिया जाना तथा देवपाल की शत्रुता और दूती का भेजा

जाना और राजा का उससे मृत्यु को प्राप्त होना । इसमें घटनाचक्रों के भीतर जीवन दशाओं और पारस्परिक सम्बन्धों की वह अनेकरूपता तो नहीं है जो तुलसीदास के रामचरितमानस में है तथापि यह मानना पड़ता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबन्ध-काव्य का जैसा घटनाचक्र होना चाहिए पद्मावत का वैसा ही है।[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में हम कहेंगे कि "**प्रबन्धकाव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृङ्खला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसमें नाना भावों को रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो पद्मावत में कहीं तो जायसी को घटना का संकोच करना पड़ा है और कहीं विस्तार। पद्मावत में भाव परिस्थिति के अनुरूप हैं।**"

इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो गया कि पद्मावत में प्रबन्ध काव्य के लिए अपेक्षित प्रायः सभी गुणों का समावेश है। प्रेमाख्यान काव्यों में उसकी समानता का अन्य कोई ग्रंथ नहीं। वह अवधी भाषा का एक श्रेष्ठतर और रहस्यात्मक ग्रंथ है जिसकी रचना मसनवियों के ढंग पर हुई है। उसमें सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम रखा गया है। प्रारम्भ में ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त तथा गुरु की क्रमानुसार स्तुति की है। तदुपरि कथारम्भ हुआ है।

पद्मावत हिन्दू और मुस्लिम विचारों का सम्मिलन प्रस्तुत करता है। वह दो संस्कृतियों का केन्द्र-बिन्दु है जहाँ वे परस्पर मिलती हैं। तत्कालीन वातावरण और अभिन्न विषमतम परिस्थितियों को ध्यान में रखकर यदि पद्मावत का मूल्यांकन किया जाय तो हमें उसकी महानता एवं सफलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जायसी मुसलमान थे, हिन्दू घरानों की कहानी ले उन्होंने जिस सफल काव्य का निर्माण किया और उसके द्वारा पावन प्रेम का जो अमर सन्देश दिया वह सर्वथा सराहनीय है। इससे पारस्परिक मतभेद को दूर करने में उन्हें काफी सफलता मिली और लोगों ने अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप एवं लक्ष्य को पहचाना और वे उसकी ओर गतिशील हुए।

पद्मावत का उद्देश्य था मानव को उद्विग्नता रहित चिरशांति का आभास कराना। कवि ने (ब्रह्म स्वरूप) पद्मावती को सती करा संसार की असारता की ओर ही संकेत किया है। देखिये उस समय वह कितना शांत वातावरण प्रस्तुत करता है। जीवात्मा और आत्मा का महासम्मेलन कितना शान्तिप्रद होता है।—

"राती पिउ के नेह गई, सरग भयउ रतनार।
जो ऊवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार॥"

पद्मावत एक सफल महाकाव्य है। उसमें महाकाव्यत्व के पर्याप्त लक्षण विद्यमान हैं जो थोड़ी बहुत कमियाँ हैं वे उसके महान सन्देश में तिरोहित हो जाती हैं।

---

१. कविवर जायसी—डा० सुधीन्द्र

उसकी कथा का निर्माण कल्पना और इतिहास दोनों के सहयोग से किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार रखता है; पर उसमें भी कवि की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि एक उत्कृष्ट काव्य का प्रणयन कर रहा था, ऐतिहासिक विवरण नहीं प्रस्तुत कर रहा था। सौन्दर्य और पवित्र प्रेम के पुजारी कवि ने पद्मावत में काव्य-कला का एक आदर्श रूप प्रस्तुत किया है।

प्रेम-काव्य होने के कारण पद्मावत का प्रधान रस श्रृङ्गार ही है। श्रृङ्गार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग का इसमें बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। मसनवियों के ढंग पर लिखे गये इस काव्य में जायसी ने अपनी मौलिकता सुरक्षित रखी है जो भारतीय रंग से संपृक्त है। इसे यों कहिये कि दोनों का सार चुनकर जायसी ने इस प्रेम मन्दिर का निर्माण किया है जो सर्वथा प्रशंसनीय और आदर्श कहा जायगा। काव्य की उत्कृष्टता के साथ अध्यात्म की गहनतम ऊँचाई भी उसमें प्राप्त है। काव्य के भाव और कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय इस ग्रंथ में हुआ है।

कवि की वर्णनशैली तथा चरित्र-चित्रण आदि सभी अनुपम हैं। हाँ, कहीं-कहीं पुनरुक्ति दोष उसमें अवश्य आ गया है और कहीं-कहीं पर कवि अपनी विविध-विषयक, जानकारी प्रस्तुत करने के लिये वर्णन में नीरसता उत्पन्न कर देता है जहाँ पाठकों का मन ऊबने लगता है। पर ऐसे स्थल थोड़े ही हैं।

अन्य दोषों में अरोचक और अपेक्षित प्रसंगों का सन्निवेश, अनुचितार्थत्व तथा एकाध स्थल न्यून पदत्व आदि में गिनाये जा सकते हैं।

पद्मावत में लौकिक प्रेम-पंथ के त्याग, कष्ट सहिष्णुता तथा विघ्न-बाधाओं का चित्रण करके कवि ने भगवत्प्रेम की उस साधना का स्वरूप दिखाया है जो मनुष्य की वृत्तियों को विश्व का पालन और रंजन करने वाली उस परमवृत्ति में लीन कर सकती है। सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रेम की अत्यन्त व्यापक और गूढ़भावना तथा मर्मस्पर्शिनी भाव-व्यंजना का निदर्शन है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सुन्दर समन्वय और ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य तो देखते ही बनता है। भाषा माधुर्य का एक स्थल लीजिए—

**"पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोलै पिउ-पिऊ॥
अधिक काम दाधे सो रामा। हरी लेइ सुवा गएउ पिउ नामा॥
विरह बाग तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि गइ चोली॥
सूखा हिया, हार भा भारी। हरे-हरे प्रान तजहि सब नारी॥
खन एक आव पेट मँह साँसा। खनहि जाइ जिउ होइ निरासा॥
प्रान पयान होत को राखा। को सुनाव पीतम कै भाखा॥"**

पद्मावत के विशाल सौन्दर्य और साहित्यिक गरिमा पर मुग्ध हो डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि **"पद्मावत का सबसे बड़ा सौन्दर्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है। नागमती का विरह वर्णन उसकी उन्माद दशा पशु-पक्षियों का उससे सहानुभूति प्रकट**

करना, पक्षी द्वारा सन्देश आदि सभी स्वाभाविकता के साथ विदग्धतापूर्ण भाषा में वर्णित हैं। बारहमासा में वेदना का कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य और प्रकृति की सजीव अभिव्यक्तियों में हृदय की मनोहर अनुभूति है। इसी मनोवैज्ञानिक चित्रण में रसों का सफल प्रदर्शन हुआ है।"

जहाँ रत्नसेन-पद्मावती मिलन में संयोग और नागमती के विरह वर्णन में वियोग शृङ्गार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वहाँ गोरा बादल के उत्साह में वीर रस जैसे साकार हो गया है। रत्नसेन के योगी होने और कथा के अन्तिम भाग में मारे जाने पर करुण रस की बड़ी सरस अभिव्यक्ति है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं 'पद्मावत' प्रेम-काव्य का एक चिर स्मरणीय रत्न रहेगा।

हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य, और प्रेम-काव्य-जगत का अनूठा एवं जगमगाता रत्न 'पद्मावत' जायसी की काव्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में तुलसीकृत रामचारतमानस के बाद उसकी समकक्षता में और कोई भी कव्य नहीं ठहरता। साहित्यिक और रहस्यवादी एवं दार्शनिक सौन्दर्य से परिपुष्ट जायसी की यह रचना उनकी कीर्ति को युग-युग तक अमर रखेगी, इसमें सन्देह नहीं।

आखिरी कलाम

कवि की नवीनतम प्राप्त कृति है। इसमें ६० दोहे और ४२० चौपाइयाँ (अर्द्धालियाँ) हैं।

रचनाकाल—अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों के प्राप्त प्रमाणों से परीक्षित इसका रचना-काल ९३६ हिजरी है। इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। यह एक मसनवी काव्य है। इसे हम भारतीय खण्ड काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत ले सकते हैं।

नाम—इस ग्रंथ के नाम के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। 'आखिरी-कलाम' में 'आखिरी' शब्द को देखकर कुछ विद्वान इसे कवि की अन्तिम रचना बताते हैं। कलाम का शाब्दिक अर्थ वक्तृता, साहित्यिक कृति एवं आपत्ति है। इसके साथ विशेषण जोड़ देने से यथा कलाम-पाक, कलामुल्ला, कलाम-मजीद आदि का विशिष्ट अर्थ कुरआन होता है जिसको आखिरी कलाम भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें अन्तिम रसूल के उपदेशामृत संग्रहीत हैं।

प्रस्तुत जायसी कृत 'आखिरी-कलाम' में सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन है। कवि ने इसमें मुहम्मद साहब के दैन्य तथा अपने अनुयायियों के उद्धार के लिए उनकी तीव्र लालसा एवं व्याकुलता के वर्णन के साथ-साथ उनके सर्वोपरि महत्व-स्थापन का प्रयत्न किया है। सम्भव है इन्हीं बातों के कारण काव्य का नाम आखिरी कलाम पड़ा हो।

कुछ लोग इसका नाम 'आखिरीनामा' भी बताते हैं; और यह उनके नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रंथों के नाम से मेल भी खाता है। यथा—पोस्तीनामा, खुर्वानामा, मोराई-

नामा, मुकहरानामा, कहारनामा आदि) ; परन्तु वस्तुतः काव्य का जायसी ने क्या नाम रखा था, प्रबल और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तविक नाम जो कुछ भी रहा हो, हिन्दी जगत उसे 'आखिरी कलाम' के नाम से ही जानता है।

केवल नाम के आधार पर इस काव्य को जायसी का अन्तिम काव्य नहीं कहा जा सकता। वर्ण्य-विषय के आधार पर ग्रंथ का नाम 'आखिरी कलाम' ठीक है।

कथावस्तु—डा० जयदेव ने अपने शोध ग्रंथ "सूफी महाकवि जायसी" में 'आखिरी कलाम' की कथावस्तु निम्न प्रकार से दी है—

कवि ने सर्वप्रथम ईश-स्तुति करके अपने जन्मकाल के भूकम्प का वर्णन किया है। तत्पश्चात् रसूल-स्तुति करके बाबर शाह की प्रशंसा की है। इसके बाद गुरु-वन्दना,[1] जायस वर्णन,[2] माया वर्णन करके काव्य का रचनाकाल दिया है। (१ से १३)

जायस का प्राचीनतम नाम 'उदयगनर' था। मुसलमानों ने इसका नाम जायस रखा जो फारसी 'जैश' पड़ाव से निकला है।

—(रायबरेली प्रांत का गजेटियर, पृष्ठ १८१, वी० ६)

प्रलयकाल का वर्णन करते हुए पृथ्वी का द्रव्य उगलना, तथा बिलाई के सूँघने से मृत्यु का वर्णन किया है, तत्पश्चात् मिकाइल फरिश्ते द्वारा चालीस दिन तक अग्नि-उपल वर्षण से समस्त सृष्टि के विनाश का वर्णन किया है। जिबराइल फरिश्ता आकर यह दृश्य देखता है और ईश्वर से निवेदन करता है कि संसार में कोई जीवित नहीं रहा है। (१८ तक)

मिकाइल आज्ञा पाकर चालीस दिन तक जल बरसाकर समस्त संसार को जल-मग्न कर देता है। तत्पश्चात् इसराफील 'सूर' बजाते हैं जिससे पृथ्वी समतल हो जाती है। (१६ तक)

ईश्वर की आज्ञा पाकर जिबराइल अपने साथी फरिश्तों को एक-एक कर मार डालता है और स्वयं ईश्वर द्वारा मारा जाता है। (२१ तक)

अब ईश्वर चालीस वर्ष तक अकेला रहा और विचार किया कि सबको पुनः जीवित करके पुले-सरात पर चलाना चाहिए और कौसर—स्नान कराना चाहिये। (२२ तक)

यह विचार आते ही पहिले चारों फरिश्ते जीवित किये गए। जिबराइल पृथ्वी पर आये और मुहम्मद साहब को पुकारा। उत्तर में लाखों स्वर सुनाई पड़े। फिर जिबराइल ने उनकी खोज की। वे अपनी उम्मत समेत उठ खड़े हुए। वे सब नंगे थे और उनके नेत्र तालू में थे। (२५ तक)

मुहम्मद साहब की उम्मत का पुले-सरात को पार करना वर्णन किया है। धर्मी

---

१. इस काव्य में केवल एक 'गुरु' की वंदना की गई है।

२. जायस-नगर मोर अस्थानू। नगर के नाम आदि उदयानू॥

लोग तो शीघ्र पार कर गये, अन्य लोग अपने कर्मों के अनुसार धीरे-धीरे पार कर गये, किन्तु पापी पीव के समुद्र में पुल से नीचे गिर गए। (२८ तक)

तत्पश्चात् आज्ञा पाकर सूर्य ६ मास तक तपता रहा। पापियों को धूप और प्यास सहनी पड़ी। किन्तु धर्मियों के सिर पर छाँह थी। रसूल छाया में नहीं बैठे, क्योंकि उनको अपने अनुयायियों की बड़ी चिन्ता थी। अन्य सवा लाख पैगम्बर भी उपस्थित थे। वे छाँह में बैठे थे। (३० तक)

जब मुहम्मद साहब की उम्मत बुलाई गई, तो उन्होंने आदम, इब्राहीम, नूह आदि के पास अलग-अलग जाकर प्रार्थना की कि मेरी कुछ परमात्मा से सिफारिश कर दो। किन्तु सबने अपने-अपने दुःखों का पचड़ा गाकर कोरा टरका दिया। (३६ तक)

तब रसूल ने अपनी उम्मीद का सारा कष्ट अपने ऊपर लेकर परमात्मा से विनती की। खुदा ने कुपित होकर फातिमा की खोज कराई। जब सबने आँखें बन्द कर लीं, तब बीबी फातिमा हसन-हुसेन को लेकर खुदा के पास पहुँची और न्याय की याचना की—कि यदि मेरा न्याय न किया तो शाप दे दूँगी। फातिमा के क्रोध को देखकर ईश्वर ने रसूल को धौंस दी कि यदि वे अपनी पुत्री को शान्त न कर देंगे, तो उनके समस्त अनुयायी नरक में डाल दिये जावेंगे। रसूल ने फातिमा को समझाया, सारी स्थिति उसके समक्ष रखी। फातिमा को अपने पिता पर दया आ गई। उन्होंने क्रोध छोड़ दिया। ईश्वर भी मुहम्मद साहब पर प्रसन्न हो गए और मजीद (हसन-हुसेन) को नरक में डाल दिया। (४२ तक)

तत्पश्चात् रसूल के अनुयायी बुलाये गये। उनका न्याय किया गया। मुहम्मद साहब ने सबको क्षमा कर दिया, कौसर-स्नान हुआ। उम्मत सहित रसूल का निमन्त्रण हुआ। भोजन की विशेषता का वर्णन कर कवि ने शराब और पानों का वर्णन किया है। रसूल की प्रार्थना पर ईश्वर ने सबको दर्शन दिया। (५१ तक)

दर्शन पाकर सब दो दिन तक बेहोश रहे। तीसरे दिन जिबराइल ने आकर जगाया, वस्त्र पहनाये और स्वर्ग को ले गए। यहाँ पर सबको बहुत सी हूरें और अप्सराएँ प्राप्त हुईं। (५५ तक)

अन्त में स्वर्ग और वहाँ के रहन-सहन का वर्णन कर जायसी ने अपने काव्य को समाप्त कर दिया है—

"नित पिरीत नित नव-नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू।।
नित्तइ नित्त ओ वारि विया है। बीसो बीस अधिक ओहि चाहै।।
तहाँ न मीचु, न नींद दुख, रह न देइ महँ रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब दुख मानै भोग।।"

प्रबन्ध काव्य के रूप में—कथावस्तु को जान लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आखिरी कलाम' एक प्रबन्ध-काव्य है। इस काव्य को मुख्यतः दो भागो में बाँटा जा सकता है।

प्रथम भाग में काव्य का वह अंश आता है जो धार्मिक ग्रंथों पर आधारित है; तथा कयामत का होना, प्राणियों का उठना, पुले-सरात को पार करना, परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होना। रसूल के अनुयायियों को ईश्वर द्वारा क्षमा प्रदान करना तथा अन्त में शाश्वत स्वर्ग-विहार आदि है।

द्वितीय भाग में काव्य का वह अंश आता है जिसका आधार कवि-कल्पना है। इसमें ४० दिन अग्नि-उपल वर्षण, ४० दिन जल-वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकांतवास और विचार, प्राणियों का नंगे बदन होना, तालू में आँखें होना, रसूल का अन्य पैगम्बरों के पास जाकर दैन्य-प्रदर्शन, फातिमा की खोज, फातिमा का क्रोध, खुदा का रसूल पर धौंस गालिब करना, रसूल का फातिमा को समझाना, अतिरंजित रूप से दावत का वर्णन, ईश्वर-दर्शन, दो दिन तक सबका बेहोश पड़े रहना आदि।

काव्य का उक्त कथित प्रथम अंश तो अपनी जगह पर ठीक है परन्तु द्वितीयांश जो कवि-कल्पना प्रसूत है। काव्य को आवश्यकता से अधिक कमजोर बना देता है। अनेक स्थल तो ऐसे हैं, जहाँ प्रणेता द्वारा कवि कर्म की भी रक्षा नहीं हो पाई है। सभी बातें बेसिर-पैर की मालूम होती हैं जिनका काव्य के साथ कोई मेल नहीं बैंठता। ये कल्पना-प्रसूत वर्णन बड़े विचित्र और उपहासास्पद हैं। इन स्थलों से काव्य की प्रबन्धात्मकता को बड़ा धक्का पहुँचा है। इससे यह प्रतीत होता है कि कवि में अभी तक वह क्षमता न आ सकी थी जो एक सफल प्रबन्धकार में होनी चाहिए।

ग्रंथ में यत्र-तत्र इस्लामी विचारों का भी समावेश है जिससे कवि की धर्म सम्बन्धी मोटी-मोटी बातों की जानकारी ज्ञात होती है। काव्य में विरह की अभिव्यक्ति, गुरु-महिमा का श्रद्धा और विश्वासपूर्ण वर्णन, उसके सूफीमत की ओर झुकाव का संकेत है। नाथपंथियों और योगियों का भी प्रभाव आंशिक रूप में परिलक्षित होता है। इस दिशा में अभी उसे अच्छी गति नहीं प्राप्त हो सकी थी।

सबसे प्रमुख और उल्लेखनीय बात जो इस ग्रंथ में है वह हिन्दू और मुसलिम संस्कृति में मेल करने का कवि का प्रयास है। कवि की यह प्रवृत्ति उस युग की देन है। देखिये कवि 'अजराइल' को 'यम' की संज्ञा देकर किस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं में ऐक्य का सम्पादन कर रहा है—

"पुनि पूछब यम ! सब जिउ लिन्हा। एकौ रहा बांचि जौ दीन्हा॥"

अल्लाह का संहारक रूप रौद्र (शंकर) की संज्ञा से अभिहित होता हुआ देखिए—

"जो जम आन जिउ लेत है। शंकर तिनहू कर जीव लेउ।
सो अब तरं मुहम्मद, देखु तहूँ जिउ देव॥"

नीचे की पंक्तियों में कवि ने 'इबलीस' को शैतान और चंचल-वृत्ति नारद को झगड़ालू के रूप में चित्रित कर दोनों को एकरूपता प्रदान करने की कोशिश की है—

"धूत एक मारत घन गुना। कपर रूप नारद कर चुना॥"

हिन्दुओं की आरती प्रथा को भी कवि ने किस सुन्दरता के साथ अपनाया है, नीचे देखिये—

"आरति करि सब आगे ऐहैं । नन्द सरोदन सब मिलि गैहैं ॥"

कवि के रचना-क्रम के रूप में—कुछ विद्वान इसके नाम के आधार पर इसे कवि की आखिरी रचना मानने का दुराग्रह करते हैं जिसका संकेत पिछले पृष्ठों में मैं कर चुका हूँ। कुछ लोगों का यह कथन है कि यह कवि की अन्तिम कृति नहीं हो सकती क्योंकि इसमें अन्तिम कृति के अपेक्षित सम्भावित गुण नहीं पाये जाते। ऐसी दशा में इसकी वस्तुस्थिति की जाँच करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है।

किसी भी कवि की अन्तिम रचना भले ही उसकी समस्त कृतियों में श्रेष्ठतम न हो परन्तु प्रौढ़तर अवश्य होती है। इस दृष्टि से 'आखिरी कलाम' की साहित्यिकता पर जब हम विचार करते हैं तो हमें बहुत निराशा होती है। इसमें अनेक काव्यगत त्रुटियाँ हैं जिनमें से कुछ का संकेत मैं नीचे कर रहा हूँ—

१. अनेक शब्दों का विकृत रूप प्रयोग किया गया है।

२. कहीं-कहीं शब्दों के वास्तविक अर्थ को छोड़ मनमाने अर्थ के लिए उनका प्रयोग किया गया है।

३. क्रियाओं के रूप प्रायः अशुद्ध हैं।

४. मुहाविरा सूचक शब्दों का प्रयोग भी अनुचित और असंगत रूप में किया गया है।

५. छन्दों में पर्याप्त शैथिल्य है। मात्राओं के न्यूनाधिक होने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

६. शब्द योजना प्रायः अशक्त और अनुपयुक्त है।

७. निम्नकोटि के अलंकारों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण भद्दे, अरुचिकर तथा बेमेल हैं।

८. अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य है।

ये सभी त्रुटियाँ काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत आती हैं, अब भावपक्ष की भी कुछ त्रुटियाँ देखिए—

१. सम्पूर्ण काव्य में किसी भी स्थल पर कोई भी रस पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका जो कवि की काव्य-साधना के प्रथम चरण का द्योतक है।

२. कवि अपनी कथावस्तु को उचित ढंग से प्रस्तुत करने में भी असफल है। कहीं भी पाठक की उत्सुकता वह जागृत नहीं कर पाता।

३. काव्य में नीरस और अनावश्यक स्थल बहुत हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसे दो-दो, तीन-तीन पद पाये जाते हैं। यह कवित्व का भारी दोष है। इससे पता चलता है कि इस समय तक कवि की काव्य-कला अत्यन्त ही अविकसित अवस्था में थी।

४. काव्य में अपेक्षित सौष्ठव एवं सौंदर्य का इसमें सर्वथा अभाव है।

ऐसी दशा में निश्चय ही कवि की प्रारम्भिक कृति है। किसी भी प्रकार अन्तिम कृति नहीं कही जा सकती।

डा० कमलकुलश्रेष्ठ का कहना है कि 'आखिरी कलाम' की शैली पद्मावत की शैली से अधिक प्रौढ़ है। इस कथन की वास्तविकता की जाँच करने के लिए दोनों काव्यों की कतिपय पंक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा—

सर्वप्रथम हम दोनों ग्रंथों की प्रथम पंक्ति को ही लेते हैं—

"पहिले नाँव दैव कर लीन्हा। जेइ जिउ दीन्ह, बोल मुख कीन्हा।।"

—(आखिरी-कलाम)

"सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह, कीन्ह संसारू।।"

—(पद्मावत)

इन पंक्तियों में भाव समान होते हुए भी पद्मावत का सौंदर्य निश्चय ही अधिक है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

"मरम पाँव कै तेहि पै दीठा। होइ अपाय भुइँ चलै बईठा।।"

—(आखिरी-कलाम)

"दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेइ दीन्हेसि नाहीं।।"

—(पद्मावत)

दूसरी पंक्ति में सौंदर्य छलका पड़ रहा है जब कि पहली पंक्ति (अर्थात् 'आखिरी कलाम' वाली) शिथिलता से भरी हुई है।

इसी प्रकार अनेक स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे पता चलता है कि इस ग्रंथ के रचनाकाल तक कवि की अभिव्यंजना-शक्ति में अभी पूर्ण प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की इस रचना में उसकी कला के उज्ज्वलतर रूप प्रस्तुत करने वाले तथा उसे अमर बनाने वाले वे तत्व नहीं उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम इसे उसकी अन्तिम कृति कह सकें। अस्तु मेरी राय में 'आखिरी कलाम' कवि की प्रारम्भिक कृतियों में से है। हाँ, यह आवश्यक नहीं कि वह कवि की प्रथम कृति ही हो।

अखरावट

जायसी के प्रसिद्ध तीन काव्य-ग्रंथों में यह तीसरा काव्य-ग्रंथ है। इसमें कुल ४७६ पंक्तियाँ हैं। जिसके अन्तर्गत ५४ दोहे, ५४ सोरठे और ३७१ चौपाइयाँ (अर्द्धालियाँ) हैं। यह जायसी का सिद्धान्त-ग्रंथ कहा जाता है।

रचनाकाल—सम्पूर्ण ग्रंथ में कहीं भी रचनाकाल का स्पष्ट संकेत नहीं है। मसनवी-काव्य न होने कारण इसमें शाहेवक्त की चर्चा भी नहीं है। ऐसी दशा में इसके रचनाकाल का निश्चय करने में अन्य बातों का ही सहारा लेना पड़ता है।

काफ़ी छान-बीन के उपरान्त काव्य के अन्तरंग की दो बातों से हमें अपने इस प्रयत्न

में थोड़ी सहायता मिलती है। प्रथम बात कवि द्वारा गुरु परम्परा का उल्लेख है। जायसी ने अपने प्रारम्भिक काव्य-ग्रंथ 'आखिरी कलाम' में केवल एक गुरु-परम्परा की चर्चा की है। शेष दो ग्रंथों 'पद्मावत' और 'अखरावट' में दो-दो परम्पराओं का उल्लेख है। इससे यह पता चलता है कि जायसी का सम्बन्ध प्रारम्भ में केवल एक गुरु परम्परा से था, किंतु कुछ कालोपरान्त दूसरी गुरु परम्परा से भी हो गया। 'अखरावट' में दो गुरु परम्पराओं का उल्लेख इस बात का संकेत है कि वह 'आखिरी कलाम' से बाद की रचना है।

अब 'पद्मावत' और 'अखरावट' में से किसे पहले की रचना मानी जाय और किसे बाद की, यह प्रश्न उठता है। इस दिशा में 'अखरावट' की एक पंक्ति बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह पंक्ति पैंतालिसवें दोहे की पहली चौपाई है—

"कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भये धियानी।"

निश्चय ही ज्ञानी लोगों को प्रेम में ध्यानावस्थित कराने वाली वह प्रेम कहानी 'पद्मावत' ही थी। इससे स्पष्ट हो जाता है 'अखरावट' 'पद्मावत' के बाद की रचना है।

सैयद कल्बे मुस्तफा अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' के १६० वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

"अल्फाज का इन्तखाब जुबान की रवानिगी, बन्दिश की चुस्ती पता देती है कि यह नज्म शायर जायसी के दौर आखिर का नतीजा है। इसके वह करायन हैं कि 'अखरावट', 'पद्मावत' के बाद तसनीफ हुई हैं।" डाक्टर जयदेव भी सैय्यद मुस्तफा के स्वर में स्वर मिलते हुए अपनी पुस्तक "सूफी महाकवि जायसी" के पृष्ठ १३५ पर लिखते हैं कि **' हम भी मुस्तफा साहब के निर्णय से पूर्णतया सहमत हैं। इस काव्य में छन्दगत दोष न्यूनतम हैं। दोहे चौपाइयों में माधुर्य भी अधिक है और भाषा भी अधिक सुस्थिर तथा व्यवस्थित है। कवि ने एक नवीन छन्द सोरठे का भी सफल प्रयोग किया है।"**

जनश्रुति के अनुसार 'अखरावट' की रचना अमेठी के राजा के कहने पर हुई थी। यह पाठकों को याद रखना चाहिए कि अमेठी के राजा का जायसी से परिचय 'पद्मावत' के ही माध्यम से हुआ था। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अखरावट' 'पद्मावत' के बाद की ही रचना है।

जनश्रुति, शैली की प्रौढ़ता और विशदता, तथा कवि की आध्यात्मिकता की गहराई 'अखरावट' की 'पद्मावत' के बाद की रचना मानने को विवश करती है। पिछले पृष्ठों में मैं यह प्रमाणित कर चुका हूँ कि 'पद्ममावत' ९४७ हिजरी में पूर्ण हुआ था। ऐसी दशा में यह निश्चित होता है कि 'अखरावट' की रचना ९४८-४९ हिजरी के बीच ही हुई। जायसी की मृत्यु ९४९ हिजरी सर्वसिद्ध है।

शैली—'अखरावट' न प्रबन्ध काव्य है न मुक्तक वरन यह तो एक सिद्धान्त-काव्य के रूप में है। उस समय में प्रचलित सिद्धान्त-काव्य की अशास्त्रीय पद्धति के अन्त गत 'ककरहा-पद्धति' में इसकी रचना हुई है जिसका विषयानुकूल विभाजन नहीं हो सकता है। हाँ, वर्णमाला के अक्षर-क्रम से इसका विभाजन किया जा सकता है परन्तु

उसका मूल्य नगण्यवत है।

इस ग्रंथ का आरम्भ दोहे से किया गया है और उसमें मुहम्मद साहब के नूर के सर्वप्रथम निर्माण किये जाने की घोषणा की गई है। एक दोहे के पश्चात् एक सोरठा है और फिर सात अर्द्धालियाँ हैं। इसी प्रकार दोहे, सोरठे और अर्द्धालियों का चक्र घूमा करता है।

वर्ण्य-विषय और उसका साहित्यिक मूल्यांकन—'अखरावट' कवि के सिद्धान्तों और दार्शनिक विचारों का ग्रंथ है। इसमें कवि ने सृष्टि के मूल प्रयोजन और प्रकारों आदि का वर्णन किया है। कवि ने योग, उपनिषद, अद्वैतवाद, भक्ति और इस्लामी एकेश्वरवाद अदि से महत्वपूर्ण सामग्री ग्रहण कर अपने ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का निर्माण किया है। इस ग्रंथ के अनुसार आरम्भ में आदि ब्रह्म था। उसने अपने मनोरंजन और आनन्द के लिए आनन्द की सृष्टि की। सृजन के क्रम में सर्वप्रथम चार फरिश्तों का निर्माण हुआ और इन चारों ने वायु, जल, अग्नि और मिट्टी इन चार तत्वों को मिलाकर पाँच भूतों से युक्त दस द्वार वाला एक पुतला रचा जो आदम कहलाया। फिर "**हौआ**" की रचना की गई और इन दोनों को स्वर्ग में विहार करने भेज दिया गया। वहाँ नारद के बहकाने से इन दोनों ने वर्जित फल 'गेहूँ' खा लिया। परिणामस्वरूप इन्हें अल्लाह का कोप भाजन बन कर एक लम्बे काल तक वियोग का कष्ट उठाना पड़ा। अन्त में भगवान की ही कृपा से उनका पुर्नमिलन हुआ और फिर उन दोनों से समस्त मानव-सृष्टि की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और तुरक दोनों उन्हीं की संतान हैं। शरीर में ही कवि ने स्वर्ग-नरक, सूर्य, चन्द्र, ऋतु तथा पुले-सरात आदि सबकी कल्पना की है। साथ ही पांच ठग भी बताये हैं और उनसे अधिकाधिक सचेष्ट रहने को कहा है।

इसी प्रकार अन्य अनेक बातों का वर्णन करते हुए अन्त में कवि ने चेला-गुरू-सम्वाद के रूप में सिद्धान्त विवेचन किया है; और बताया है कि मनुष्य को उस परम शक्ति के प्राप्त करने के साधनों में लग जाना चाहिए। प्रेम गाथाओं का वर्णन करना चाहिए क्योंकि अन्य सभी चीजें मिट जायेंगी। इस संसार में केवल एक प्रेम कहानी ही अमर रहेगी।

'अखरावट' की विशेषता उसके आध्यात्मिक विचारों में ही है। ब्रह्मवाद, हठयोग, चक्रभेद और आनन्दवाद तथा सूफी इस्लामी सिद्धान्तों का समन्वयात्मक एकीकरण इस ग्रंथ की विशिष्टता है। ग्रंथ में वर्णित आध्यात्मिक विचारों को संक्षेप में डाक्टर रामरतन भटनागर ने इस प्रकार दिया है—

१—आदि में एक चित्सत्ता ही की स्थिति थी, उसे चाहे आदि गोसाईं कहो, या नूर कहो, या अल्लाह, या सुन्न (शून्य)। कालांतर में इसी अस्तित्व से द्विधायुत जग का निर्माण हुआ—आकाश-पाताल, पाप-पुण्य, सुख-दुख।

२२—नारद या शैतान के भुलावे में आकर जीव की अभेद स्थिति जाती रही। आदम स्वर्ग से निकाला गया। जीव अल्लाह के जमाल और जलाल से वंचित हुआ।

३—जीव में इसी वियोग की तड़पन है। वह एक बार फिर इसी अल्लाह के जमाल और जलाल को प्राप्त करना चाहता है। यह उसी समय सम्भव है जब पहली अभेद स्थिति को वह प्राप्त हो सके; जब जीव, ब्रह्म हो जावे।

४—इसके लिए प्रधान साधन है मन का परिष्कार।

५—परन्तु केवल मन के परिष्कार से ही कुछ नहीं होता। साधक को कुछ विशिष्ट साधनाओं की भी आवश्यकता पड़ती है। जायसी का सूफी-पंथ पर विशेष आग्रह है, यद्यपि वह प्रत्येक पंथ को उपादेय मानते हैं।

६—जायसी का सूफी-पंथ उनकी अपनी खोज है। वह न शास्त्रीय सूफी-पंथ है, न केवल भावनात्मक रहस्यवादिता। उनके अंग हैं—

(क) नमाज, तरीकत, मारफत, हकीकत और शरीअत; ये इस्लामी विधि विधान हैं परन्तु जायसी ने इनकी नई व्याख्या की है, यद्यपि इनके सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक उन्होंने नहीं लिखा।

(ख) उसमें योग की भाँति कायानिष्ठ ब्रह्म की भावना है। इस पिंड (शरीर) में ही अल्लाह समाया है। 'त्रिकुटि', 'चक्रभेद' इत्यादि यौगिक साधनाओं द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव है।

(ग) नैतिक आचरण और हृदय-मन की शुद्धता।

(घ) 'प्रेम की पीर' की साधना।

७—यह निश्चय है कि जायसी ने अन्तिम अंग पर अधिक बल दिया है। सूफी तो एकमात्र प्रेम को जानता है। 'पद्मावत' में इस अंग को ही काव्य का विषय बनाया गया है। 'पद्मावत' की कहानी 'प्रेम की पीर' की ही कहानी तो है। इसी से जायसी 'अखरावट' में प्रेम की साधना को विस्तारपूर्वक नहीं समझाते। यह समझाने की बात भी नहीं है। इसे तो हृदय ही समझ सकता है। फिर इस साधना के आनन्द का आभास गुरु-मुख होने से मिलता है। जायसी स्पष्ट कहते हैं—

"भा फल मीठ जो गुरु हुंत पावै।"

परन्तु गुरु भी साधक को कितनी दूर बढ़ा सकता है। सँकरे पथ पर तो अकेला ही चलना होगा। कवि कहता है—

"कठिन खेल औ मारग सँकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा॥
मरन-खेल देखा सो हँसा। होइ पतंग दीपक महं धँसा॥
तन पतंग भिरिंग कै नाईं। सिद्ध होइ सो युग-युग ताईं॥
बिनु जिउ दिये न पावै कोई। जा मर जिया अमर भा सोई॥"

इस कठिन प्रेम-पंथ के साधक का यह एक चित्र कितना सजग है—

"प्रेम तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारध जैस अहेरे कहँ, लाग रहे सर साधि॥"

यह प्रेम की एक लक्ष्य साधना ही एक रूपक में रत्नसेन की पद्मावती प्राप्ति

की कहानी बन गई है।

८—आध्यात्म दर्शन के रूप में जायसी औपनैषदिक ब्रह्मवाद से भी आगे जाते हैं। वह कहते हैं—

"जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहे सो होइ॥"

वह जीव, ब्रह्म और प्रकृति को तत्वत: एक मानते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं जहाँ वे प्रकृति को उसकी छाया कहते हैं, वहाँ प्रतिबिंबवाद की झलक आ जाती है। जो अन्तर है, यह माया के कारण नहीं है, शैतान की करनी है। शैतान के भुलावे में आकर जीव अपने जमाल और जलाल को भूल गया है। इसी से उसके, अल्लाह के और प्रकृति के बीच में परदा पड़ गया है। परन्तु जब सब अल्लाह ही अल्लाह है तो यह दुःख-सुख, पाप-पुण्य इत्यादि द्वैध स्थिति क्यों है? जायसी ने इसका भी उत्तर दे दिया है। जैसे जीवात्मा शुद्ध आनन्द स्वरूप है पर शरीर के संयोग में दुःख आदि से युक्त दिखाई पड़ता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म संसार के व्यवहारिक क्षेत्र में भला-बुरा आदि कई रूपों में दिखाई पड़ता है—

"सुनु चेला! अस सब संसारू। ओहि भांति तुम कया बिचारू॥
जो जिउ कया तौ दुःखसो भीजा। पाप के ओट पुन्नि सब छीजा॥
जस सूरज उअ देस अकासू। सब अस पुन्नि उहै परगासू॥
भल औ मन्द जहां लगि होई। सब पर धूप रहै पुनि सोई॥
मंदे पर वह दिस्टि जो परई। ताकर मैलि नैनि सौं हरई॥
अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महँ बासा॥
सबै ठाँव औ सब परकारा। ना वह मिला न रहै निनारा॥
ओहि जोति परछाहीं, नवो खंड उजियार।
सूरज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार॥"

इस प्रकार केवल अद्वैतवाद के आधार पर ही जायसी अपने आध्यात्म जगत का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं। 'अखरावट' में एक स्थान पर 'माया' का उल्लेख अवश्य है, परन्तु शंकराद्वैत के अर्थों में नहीं। जायसी जीव-ब्रह्म के बीच में माया की स्थिति नहीं मानते।[1]

सूफियों में एक प्रधान वर्ग का मत है कि नित्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है। यह अनेकत्व जो दिखलाई पड़ता है वह उसी का ही भिन्न रूपों में आभास है। यह नाम रूपात्मक दृश्य जगत उसी एक सत् की वाह्य अभिव्यक्ति है। परमात्मा का बोध इन्हीं नामों और गुणों के द्वारा हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर जायसी ने कहा है—

---

१. **जायसी**—डा० रामरतन भटनागर

"दीन्ह रतन विधि चार, नैन, बैन, सरवन्न, मुख।
पुनि जब मेंटिहि मार, मुहमद तब पछिताब मैं॥"

—(अखरावट)

इस परमात्मा के दो स्वरूप हैं—नित्यत्व और अनंतत्व। दो गुण हैं—जनकत्व और जन्यत्व। शुद्ध सत्ता में तो न नाम है, न गुण। जब वह निर्विशेषत्व या निर्गुणत्व से क्रमशः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तब उस पर नाम और गुण लगे प्रतीत होते हैं। इन्हीं नाम रूपों और गुणों की समष्टि का नाम जगत है। सत्ता और गुण दोनों मूल में जाकर एक ही हैं। दृश्य जगत भ्रम नहीं है, उस परम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति या ऊपर रूप में उसका अस्तित्व है। वेदान्त की भाषा में वह ब्रह्म का ही 'कनिष्ठ स्वरूप' है। हल्लाज के मत की अपेक्षा यह मत वेदान्त के अद्वैतवाद के अधिक निकट है।[1]

जायसी मूल अद्वैत स्थिति तक पहुँचने के बीच में अहंकार को सबसे बड़ा विघ्न मानते हैं। इस सम्बन्ध का उनका उपदेश देखिये—

" 'हौं-हाँ' कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहि आहि सब कोई॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ, आपु अकेला॥
'सोऽहं-सोऽहं' बसि जो करई। जो बूझै, सौ धीरज धरई॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥
'हौं-हौं कहत धोख इतराही। जब भा सिद्ध कहाँ परछांही॥"

कबीर ने भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति की है—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं 'मैं' नाहि।"

जायसी की चित्त और अचित्त की एकता शांकर के वेदान्त से मिलती हुई भी पर्याप्त मतभेद रखती है। शांकर-वेदान्त विवृतिवाद के अधिक निकट है—**"यह जगत ब्रह्म का विवर्त्त (कल्पित कार्य) है। मूल सत्य द्रव्य ब्रह्म ही है जिस पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहने वाले दृश्यों का अध्यारोप होता है। जो नाम रूपात्मक दृश्य हम देखते हैं वह न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप ही है, न ब्रह्म का कार्य, या परिणाम ही है। वह है केवल अभ्यास या भ्रांति ज्ञान है। उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। नित्य तत्व एक ब्रह्म ही है।"**[2]

जायसी 'माया' के स्थान पर प्रकृति में प्रतिबिम्बवाद की जो प्रतिष्ठा करते हैं वह और कुछ नहीं, अद्वैतवाद के महत्व का प्रतिपादन ही है—

"आपुहि आप जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपुसौ कहा॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा॥
आपुहि बन, औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा, आपु अहेरू॥

१—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ १४४, ४५—शुक्ल जी
२—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ १४७—शुक्ल जी

आपुहिं पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहिं भँवर बास-रस भूलै॥
आपुहिं घट, घट महँ मुख चाहै। आपुहिं आपन रूप सराहै॥
दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साधु, मुहमद एकै जानिये॥"

इन पंक्तियों की आचार्य शुक्ल ने जो व्याख्या की है वह भी पठनीय है—"**आपुहि दरपन, आपुहि देखा।**" इस वाक्य से दृष्य और दृष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता का एक दूसरे से अलग न होना, सूचित होता है। इसी अर्थ को लेकर वेदान्त में यह कहा जाता है कि ब्रह्म जगत का केवल निमित्त कारण ही नहीं उपादान कारण भी है। '**आपुहि आप जो देखै चहा**' का मतलब यह है कि अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार जब देखना चाहा। शक्ति या माया ब्रह्म ही की है। ब्रह्म से पृथक् उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। '**आपुहि घट-घट महँ मुख चोहे**'—प्रत्येक शरीर में जो कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह उसी का है। किस प्रकार एक ही अखण्ड सत्ता के अलग-अलग बहुत से प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं। यह बताने के लिए जायसी यह पुराना उदाहरण देते हैं—

"गहरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सूरुज दिपै अकास, मुहमद सब मंह देखिये॥"

—(जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ १४८)

जायसी भारत में जन्मे थे, भारत की मिट्टी से उनका पालन पोषण हुआ था; फिर यह कैसे सम्भव था कि वे भारतीय जीवन-दर्शन से प्रभावित न होते। यही कारण है कि 'अखरावट' में हम एक साथ वेदान्ती अद्वैतवाद और सूफी प्रेमवाद (इश्क) का समन्वय पाते हैं।

जायसी का यह ग्रंथ उनकी काव्य-कला और दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक विचारों का एक प्रौढ़तर स्तम्भ है। जिस सीधी-सादी और बोधगम्य भाषा-शैली में धार्मिक एवं आध्यात्मिक गूढ़ भावों को कवि ने व्यक्त किया है, वह भारतीय साधना और साहित्य में सब प्रकार से प्रशंसनीय है। 'अखरावट' अपनी श्रेष्ठता और गम्भीरता के लिए हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट और सम्मानपूर्ण स्थान रखता है।

●

: ५ :

जायसी के पद्मावत का हिन्दी साहित्य में स्थान

पद्मावत का सम्यक अध्ययन तथा निरूपण कर हिन्दी साहित्य में उसका स्थान निश्चत करने के लिए हम अपनी सुविधानुसार उसे निम्नलिखित बिन्दुओं से देखेंगे—

१—रचनाकाल

२—कथानक

३—कहानी कला (तत्वों के आधार पर)

४—काव्य-सौंदर्य (भावपक्ष और कलापक्ष के आधार पर)

५—महाकाव्यत्व

६—दार्शनिकता

७—रहस्यवाद

८—हिन्दी साहित्य में स्थान (विष्टिताएँ)।

रचनाकाल—इस ग्रंथ की रचना ९४७ हि० में हुई थी। वैसे इस संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, जिसकी चर्चा विस्तार में हम जायसी की कृतियों वाले अध्याय में कर चुके हैं। मेरी अपनी मति में इसका रचनाकाल सन् ९४७ हिजरी ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। अपने इस कथन के प्रमाण एवं समर्थन में मैं पिछले पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ। पद्मावत, जायसी की प्रौढ़तम कृति है, इसलिए इसका निर्माण काल हम जायसी की प्रौढ़ आयु में ही मानना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं।

कथानक—डाक्टर कमलकुल श्रेष्ठ के शोध-प्रबन्ध हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के अनुसार पद्मावत या पद्मावती की कथा निम्न प्रकार से है—

सिंहलगढ़ के राजा गंधर्वसेन और रानी चंपावती के एक संतान हुई। उसका नाम पद्मावती रखा गया। पद्मावती अत्यन्त सुन्दर थी। पाँच वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उसने पढ़ना प्रारम्भ किया। पढ़ने में वह बहुत दक्ष थी। जब वह बारह बरस की हो गई तो सात खंड वाले महल में उसे अलग वासस्थान दिया गया। उसकी अगणित सखियाँ थीं और उसके एक तोता था। तोते का नाम हीरामन था। वह महापंडित था। और वेदशास्त्र पढ़ा था। गन्धर्वसेन को अपने वैभव का बड़ा गर्व था। इस कारण वह पद्मावती का विवाह किसी से नहीं करता था एक दिन मदन संतप्त होकर पद्मावती ने हीरामन से कहा—'हीरामन सुनो, दिन-दिन मुझको मदन अधिक सताता है। पिता मेरा विवाह नहीं करवाते और डर के मारे माँ भी कुछ नहीं कह सकतीं। देश-देश के वर मेरे लिये आते हैं;

परन्तु पिता उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते।' हीरामन ने कहा—'यदि तुम्हारी आज्ञा है तो देश-देशांतर घूमकर मैं तुम्हारे योग्य वर खोजूँगा। जब तक मैं लौटकर नहीं आता, तब तक धैर्य धारण करो।' कोई दुर्जन इस बात को सुन रहा था। उसने राजा से सारी बात कह दी। राजा ने सुए को मार डालने की आज्ञा दी। परन्तु जब तक मारने वाला वहाँ आ सके, रानी ने उसे छिपा दिया। नौकर कह सुनकर लौट गए; परन्तु हीरामन ने कहा—'रानी, यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो अब 'बन' जाऊँ। जब राजा नाराज़ हो गये हैं तो यहाँ रहने में कुशल नहीं है।'

हीरामन उड़ गया। वह जंगल में गया। वहाँ पर उसे बहुत से पक्षी मिले। उन्होंने उसका आदर किया। वह उनके साथ बड़े सुख से रहने लगा। एक दिन वहाँ एक व्याध आया। हीरामन उसके जाल में फँस गया। बहेलिए ने उसे झावे में रख लिया, और ले गया।

चित्तौड़ में चित्रसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रत्नसेन रखा गया। ज्योतिषियों ने उसके जन्म लेते ही उसे बतलाया कि यह बड़ा सौभाग्यवान है। यह पद्मावती से विवाह करेगा और सिंहलद्वीप में जाकर सिद्ध बनेगा।

चित्तौड़ का एक बनिया सिंहलद्वीप व्यापार करने के लिए गया। एक गरीब ब्राह्मण भी किसी से ऋण लेकर उस बनिये के साथ गया। सिंहलद्वीप में जाकर उस ब्राह्मण ने देखा कि कहाँ बहुत बड़ा बाजार लगा हुआ है और सभी चीजें ऊँचे दामों की हैं। इस कारण वह बड़ा निराश हो उठा। इतने में वह व्याध हीरामन को ले आया। ब्राह्मण उसके सोने जैसे रंग को देखकर विमोहित हो गया। उसने तोते से पूछा—"तुझ में गुण भी है या तू निरगुण ही है।" हीरामन ने उत्तर दिया—"मैं ब्राह्मण और पण्डित दोनों हूँ। जब इस पिंजड़े के बाहर था तो मेरे पास सभी गुण थे; परन्तु जब बन्दी बना हुआ हूँ, तब तो कोई भी गुण नहीं है।" ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया और चित्तौड़ ले आया।

चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु हो चुकी थी और रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। उसके दरबार में एक दिन यह बात चली कि सिंहल से कुछ बनिये आये हैं, वे विचित्र-विचित्र वस्तुएँ लाए हैं, जिनमें एक ब्राह्मण एक अत्यन्त सुन्दर तोता लाया है। राजा ने अपने नौकरों को भेजकर पंडित को बुलवाया। दरबार में आकर हीरामन ने कहा, मेरा नाम हीरामन है, मैं तुम्हारी भेंट पद्मावती से करवा दूंगा और वहीं पर तुम्हारी सेवा करूँगा। रत्नसेन ने यह सुनकर उसे मोल ले लिया।

थोड़े दिन बीतने पर एक दिन राजा शिकार खेलने गए हुए थे, नागमती ने, जो कि रत्नसेन की पटरानी थी, हीरामन से पूछा, 'मेरे स्वामी के प्रिय, यह बताओ कि क्या मुझसे अधिक सुन्दर भी कोई स्त्री तुमने इस संसार में देखी है? क्या तुम्हारे सिंहलद्वीप की पद्मिनी स्त्रियाँ मुझसे अधिक सुन्दर हैं?' पद्मावती के रूप का स्मरण कर हीरामन

हँसा और बोला, 'वास्तव में सुन्दर वह है जिसे उसका प्रिय प्यार करे। और यदि वैसे पूछती हो तो सिंहल की पद्मिनियों और तुममें कोई भी तुलना नहीं है। तुममें और उनमें दिन और रात का अंतर है। वे सोने की बनी हैं और सुगन्ध से भरी हुई हैं!' नागमती ने जब यह उत्तर सुना तो उसे बड़ी चिंता यह हुई कि रत्नसेन से यह तोता अगर यह बात कह देगा तो वह उसे छोड़कर सिंहल की ओर उसे प्राप्त करने के लिए चल देगा। इस नाते उसने अपनी धाय को वह तोता मार डालने के लिए दे दिया। धाय उसे ले गई, किन्तु यह सोचकर कि यह तोता राजा का प्यारा है और जिसे स्वामी चाहता हो उसे मारना नहीं चाहिए; उसने उसे नहीं मारा, छिपा लिया। जब रत्नसेन शिकार खेलकर लौटे तो उन्होंने हीरामन की खोज की। नागमती ने सभी बात सच-सच बता दी। राजा को इस पर बड़ा क्रोध आया। नागमती धाय के पास दौड़ी हुई गई। धाय ने तोता दे दिया। रानी ने वह तोता राजा को लाकर दे दिया।

राजा ने तोते से सत्य बात पूछी। तोते ने सिंहल की बड़ी प्रशंसा करते हुए गन्धर्व सेन का परिचय दिया और कहा कि उसकी कन्या पद्मावती अत्यन्त सुन्दर है। राजा ने ज्योंही यह सुना, उसके मन में प्रेम जाग गया। उसने उसका नखशिख पूछा।

हीरामन ने कहा, राजा, उसका शृङ्गार क्या वर्णन करूँ? वह उसी पर शोभा देता है। उसके बाल कस्तूरी रंग के घुँघराले हैं। माँग लाल रंग की है और ललाट द्वितीया के चाँद की तरह है। इसी प्रकार हीरामन ने उसका सारा नखशिख बताया।

राजा इस नखशिख को सुनते ही मुरझा गया। वह बेहोश हो गया। उसके मुख से बस त्राहि-त्राहि का शब्द भर निकलता था। राजा के कुटुम्बी परिजन सभी आ गए। परन्तु किसी की भी समझ में कुछ नहीं आता था। जब राजा को होश आया तो वह रोने लगा। सबने उसे समझाया। परन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया। हीरामन ने भी सयझाया, 'राजा मन में धैर्य धरो और विचार करो। प्रीति करना अत्यन्त कठिन है। वह सिंहल का पथ अगम है। वहाँ जाना बड़ा कठिन है। वहाँ योगी सन्यासी ही जा पाते हैं। तुम भोगी व्यक्ति हो, तुम्हारा वहाँ जाना अत्यन्त कठिन है।' राजा ने ज्योंही यह बात सुनी, वह जाग सा पड़ा। उसने शीघ्र ही सिंहल यात्रा का निश्चय कर लिया।

राजा ने राज्य छोड़ दिया और वह योगी हो गया और चल दिया। रत्नसेन सात समुद्र पार करके सिंहलद्वीप पहुँच गया। हीरामन उसे एक जगह टिकाकर पद्मावती के पास गया। पद्मावती काम से तड़प रही थी।

इसी व्यथा के बीच हीरामन पहुँच गया। पद्मावती को ऐसा लगा मानो उसमें प्राण आ गए हों। रानी उसे गले लगाकर रोई और उससे कुशल पूछी। हीरामन बोला, 'रानी, तुम युग-युगों तक जीती रहो। मैं यहाँ से वन में उड़कर गया। वहाँ पर एक व्याध ने मुझे पकड़ लिया और एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया। ब्राह्मण मुझे जम्बू द्वीप ले गया। वहाँ चित्रसेन का पुत्र रत्नसेन चित्तौड़ में राज्य कर रहा था। वह देश बड़ा ही वैभववान एवं सुन्दर है। रत्नसेन में बत्तीसों शुभ लक्षण हैं। उसने मुझे ले लिया। उसे

देखकर मेरी इच्छा हुई कि वह तुम्हारे योग्य है, इस कारण तुम्हारा वर्णन मैंने उससे किया। तुम्हारा वर्णन सुनते ही उसके अन्दर प्रेम की चिनगी पड़ गई। वह तुम्हारे लिए राज्य छोड़कर भिखारी हो गया। वह सोलह हजार चेलों के साथ योगी बनकर आया है और महादेव की मढ़ी में है।' यह सुनकर पद्मावती के मन में अभिमान हुआ। योगी से प्रेम करने को वह अपमान समझती थी। हीरामन फिर बोला, 'रानी, तुम्हारे विरह में उसने अपनी कंचन जैसी काया जलाकर भस्म कर दी है।' यह सुनकर रानी के मन में दया उत्पन्न हुई और काम भी जागा। वह बोली, 'यदि वह योगी अब मर जायगा तो यह हत्या मुझे ही लगेगी। अब मैं बसन्त पूजा के बहाने वहाँ जाकर उससे मिलूँगी।' यह सुनकर हीरामन प्रसन्न वदन वहाँ से उड़कर रत्नसेन के पास गया और उसका सन्देश उसने उसे सुना दिया।

बसन्त की श्री पंचमी को पद्मावती महादेव की पूजा के लिए सखियों के साथ वहाँ गई। पद्मावती ने महादेव की पूजा करते हुए कहा 'देवता, मेरी सारी सखियों का विवाह हो गया है परन्तु अभी तक मेरे लिए वर नहीं मिलता। मेरी इच्छा पूरी करो और मुझे एक वर मिला दो।' इसी समय एक सखी हँसकर बोली, 'रानी, यह तमाशा तो देखो। पूर्व द्वार पर बहुत से योगी आये हुए हैं।' उनमें एक गुरु कहलाता है वह बत्तीस लक्षणयुक्त राजकुमार प्रतीत होता है। यह सुनकर पद्मावती वहाँ गई। उसको देखते ही राजा बेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन लगाया। एक क्षण के लिए तो राजा अवश्य जागा परन्तु शीघ्र ही ठंडक पाकर और गहरी नींद में सो गया। तब रानी पद्मावती ने उसके हृदय पर चन्दन से यह लिखा कि जोगी, तू भीख लेना नहीं सीखा है। जब घड़ी आई तब तू सो गया। यह लिखकर पद्मावती लौट गई। रात में उसने स्वप्न में देखा कि चन्द्रमा का उदय पूर्व से हुआ और सूर्य का पश्चिम से। फिर सूर्य चाँद के पास चला आया और चाँद और सूर्य दोनों का मिलन हो गया है और हनुमान ने लंका लूट ली। सखियों से जागने पर उसने सपने का अर्थ पूछा। सखियों ने कहा तुम्हें वर प्राप्त होने वाला है।

पद्मावती के चले जाने पर रत्नसेन जागा। वह पद्मावती को गया हुआ देखकर रोने लगा और जल मरने का निश्चय करने लगा।

उसी समय वहाँ पर महादेव एवं पार्वती पहुँच गए। उन्होंने चिता देखकर रत्न-सेन से आत्म-हत्या और योग नष्ट करने का कारण पूछा। राजा ने संक्षेप में अपनी व्यथा बतलाई। पार्वती के हृदय में उसे सुनकर दया आ गई। वह अप्सरा के समान सुन्दर रूप धारण कर बोली, 'राजकुमार मेरी बात सुनो। मुझ जैसी सुन्दर और कोई स्त्री नहीं है। इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेज दिया है। यदि पद्मावती गई तो जाने दो। तुम्हें अप्सरा मिल गई।' रत्नसेन ने कहा, 'मेरा प्रेम तो एक से है, दूसरी से मुझे कुछ भी मतलब नहीं है।' तब गौरी ने महेश से कहा, 'इसका प्रेम सचमुच बड़ा गहरा है। तुम इसकी रक्षा करो।' इतने में रत्नसेन को महादेव का वास्तविक रूप ज्ञात हो गया। वह रोने लगा।

उसको ढाढ़स बँधाते हुए महादेव ने कहा, 'रोम्रो मत। जैसा तुम्हारा शरीर नौ पौरी का है उसी प्रकार यह गढ़ भी है। दसवें द्वार तक इसमें भी चढ़ना पड़ेगा। जो दृष्टि को उलटकर लगाता है, वही उसे देख पाता है। वहाँ वही जा सकता है।'

इस सिद्धि गुटका को पाकर राजा एकाएक महल में घुस पड़ा। गन्धर्वसेन को खबर मिली। उसने अपने नौकर भेजे। नौकर से रत्नसेन ने कहा कि मैं राजा की कन्या पद्मावती का भिखारी हूँ। यदि वह मुझे दे दी जाय तो मैं लौट जाऊँगा। नौकरों ने यह बात राजा गन्धर्वसेन से कही। गन्धर्वसेन को यह सुनकर बड़ा क्रोध हुआ।

रत्नसेन उत्तर की प्रतीक्षा में दिन बिताने लगा। उसने एक पत्र हीरामन के हाथ पद्मावती के पास भेजा। पद्मावती ने उत्तर के रूप में अपने प्रेम की दृढ़ता का सन्देश भेजा। पद्मावती का सन्देश सुनकर रत्तसेन प्रसन्न-सा हो उठा।

गन्धर्वसेन ने अपने मन्त्रियों की सलाह ली। सब ने रत्नसेन को बन्दी बनाने की सलाह दी। वह बन्दी बना लिया गया। इधर पद्मावती बड़ी दुखी थी। वह एक बार बेहोश हो गई। हीरामन सुआ वहाँ पर लाया गया उसकी आवाज सुनकर उसे होश आया और पद्मावती ने एक सन्देश रत्नसेन के लिए भेजा।

रत्नसेन बन्दी बना कर गन्धर्वसेन के पास लाया गया। वहाँ पर गन्धर्वसेन के पूछने पर उसने अपनी व्यथा सच-सच बतला दी। इसे सुनकर महादेव का आसन भी डोल उठा महादेव और पार्वती भाट-भाटिन का रूप धर कर वहाँ आए। रत्नसेन आसन जमाए 'पद्मावती-पद्मावती' जप रहा था। इतने में सुए ने आकर पद्मावती का सन्देश सुनाया। महादेव भी आगे बढ़े। उन्होंने राजा को समझाया और रत्नसेन का सच्चा परिचय दिया, हीरामन ने भी साक्षी दी। तब विवाह का निश्चय कर रत्नसेन का तिलक किया गया और विवाह हो गया।

उधर नागमती के दिन रत्नसेन के विरह में बड़े दुख में बीत रहे थे। नागमती रोती फिर रही थी। एक दिन आधी रात के सयम एक पक्षी को उस पर दया आ गई; उसने उसकी कथा सुनी। नागमती ने अपने विरह की कहानी उसे सुनाते हुए उससे रत्न-सेन के पास तक उनका सन्देश ले जाने की प्रार्थना की। पक्षी ने उसे स्वीकार कर लिया।

पक्षी सन्देश को लेकर चला। सिंहल में बड़ी आग जल उठी। सब जगह आग लगी हुई देखकर सारे पक्षी तीर के एक वृक्ष पर आकर बैठ गए। उसी पेड़ के नीचे रत्नसेन जो कि वहाँ शिकार खेलने आये थे बैठ गए। यह पक्षी भी उसी पेड़ पर जा बैठा। उन पक्षियों में आपस में बातें होने लगीं। इस पक्षी ने अपना परिचय दिया और नागमती की कथा पक्षियों को सुनाई। राजा नीचे बैठा सब कुछ सुन रहा था। उसने पक्षी से फिर सारी बात पूछी और कहा, 'पक्षी, मेरी आँख सदा नागमती की राह पर ही लगी रहती है परन्तु कोई भी आकर उसका सन्देश नहीं सुनाता।' पक्षी ने नागमती की विरह कथा फिर कह सुनाई और वह उड़कर चला गया। रत्नसेन उसे पुकारता रह गया परन्तु वह न लौटा। रत्नसेन को अब चित्तौड़ की याद आ गई। वह एक बरस से चित्तौड़ को भूला हुआ था। वह उदास

रहने लगा। गंधर्वसेन उसे उदास देखकर उसके पास आया और बोला, "तुम मेरे प्राणों के समान हो, तुम्हें मैंने अपनी आँखों में रहने को जगह दी है। यदि तुम उदास हो जाओगे तो यह महल किसका होकर रहेगा ?"

रत्नसेन ने हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए कहा, "मैं काँच था, आप ही ने मुझे कँचन बना दिया है परन्तु आज मेरा परेवा पत्र लेकर आया है। मेरा राज्य मेरा भाई ले रहा है। उधर दिल्ली सुल्तान भी हमला करने वाला है। इस कारण मुझे विदा दी जाय।" गंधर्वसेन ने रत्नसेन की बात मान ली। शुभ मुहूर्त में वहाँ से अगणित द्रव्य लेकर रत्नसेन पद्मावती के साथ चला।

समुद्र में जब कि आधा रास्ता भी तय नहीं हो पाया था, एक बड़ी जोर की आँधी उठी। इसमें राजा के जहाज अपना रास्ता भूल गए। विभीषण का एक केवट राक्षस मछलियों का शिकार करते-करते वहाँ आ गया था। राजा ने आफत में पड़कर उससे अपना जहाज ठीक रास्ते पर लगा देने की प्रार्थना की। राक्षस ने कपट रूप से उसकी विनय स्वीकार की और उसे एक अत्यन्त गहरे और भवरों से भरे सागर में ले गया। वहाँ राजा का जहाज डूब गया।

बहते-बहते पद्मावती समुद्र तट पर लगी वहाँ पर समुद्र की बेटी जिसका नाम लक्ष्मी था, खेल रही थी। उसने पद्मावती को देखा और वह उसे होश में लाई। होश में आने पर पद्मावती ने पूछा कि वह कहाँ है और रत्नसेन कहाँ है ? लक्ष्मी ने कहा, 'मैं तुम्हारे प्रिय को नहीं जानती। मैंने तुम्हें तो किनारे पर ही पाया है।' पद्मावती यह सुन-कर सती होने का यत्न करने लगी। लक्ष्मी ने उसे समझाया और रत्नसेन को ढूंढ़ने का आश्वासन दिया। उसने अपने पिता से यह सब बात कही। पिता ने पुत्री को आश्वासन दिया। आश्वासन पाकर लक्ष्मी समुद्र तट पर जाकर बैठ गई। वहाँ पर रत्नसेन आया। उसने अपने को पद्मावती बतलाया परन्तु रत्नसेन ने उसे पहचान लिया, वह पद्मावती न थी। तब लक्ष्मी उसे पद्मावती के पास ले गई, बिछुड़े हुए प्रेमी मिल गए। वहाँ से वे जगन्नाथपुरी होते हुए अपने देश की ओर बढ़े।

जब राजा चित्तौड़ के निकट पहुँच गया तो नागमती को बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु पद्मावती को देखकर उसमें सपत्नी की ईर्ष्या जाग उठी। उसने उसे दूसरे महल में उतारा। दिन भर राजा दान-पुण्य करता रहा। रात में वह नागमती से मिला, नागमती का जीवन फिर हरा-भरा हो उठा।

नागमती को प्रसन्न देखकर पद्मावती के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह एक दिन नागमती से लड़ गई। दोनों में हाथापाई होने लगी, जब रत्नसेन ने यह सुना तो वह वहाँ पहुँचा। उसने समझाया—तुम दोनों का प्रिय मैं हूँ। जिस प्रकार रात दिन दोनों बराबर होते हैं उसी प्रकार तुम मेरे लिए हो।' दोनों रानियाँ यह सुनकर सन्तुष्ट हो गईं।

रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नामक एक बड़ा पंडित था। उसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन अमावश थी। राजा ने पूछा, 'दूज कब है' राघव के मुँह से निकला—'आज'। पंडितों ने कहा—'महाराज कल है।' इस पर विवाद उठ खड़ा हुआ। शाम को राघव ने यक्षिणी के बल से चाँद दिखला दिया। उस समय तो राजा ने बात मान ली। दूसरे दिन फिर द्वितीया का चाँद दिखलाई पड़ा। राजा को राघवचेतन पर बड़ा क्रोध आया। उसने राघवचेतन को अपने राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा दी।

जब पद्मावती ने यह सुना तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। ऐसा गुनी आदमी निकाला जा रहा था, यह उसे अच्छा नहीं लग रहा था। वह झरोखे पर आई। उसी के नीचे से राघव चेतन जा रहा था। उसने पद्मावती की ओर देखा। पद्मावती ने अपना एक कंगन उतार कर उसकी ओर फेंका और मुस्करा दिया। राघवचेतन इसे देखकर बेहोश हो गया। सखियाँ उसे होश में लाई। वह उस कंगन को लेकर चला गया।

वह दिल्ली गया। वहाँ वह अलाउद्दीन से मिला और उसने पद्मिनी के सौन्दर्य की चर्चा की। अलाउद्दीन ने कहा, ऐसी पद्मिनी स्त्रियां 'कहाँ मिलती हैं ? 'उसने कहा, 'ये जम्बू द्वीप में नहीं मिलतीं। ये सिंहलद्वीप में मिलती हैं।'

फिर उसने रत्नसेन की पद्मावती का नखशिख वर्णन किया। उसे सुनकर शाह चेतना खो बैठा। जब उसे होश हुआ तो उसने पद्मावती को शीघ्र भेज देने के लिए रत्न-सेन के पास एक पत्र अपने दूत द्वारा भेजा और राघवचेतन को धन एवं सम्मान दिया।

जब रत्नसेन ने वह पत्र पढ़ा तो अतिक्रोधित हुआ। उसने दूत को यों ही लौटा दिया। दूत लौटकर अलाउद्दीन के पास गया। दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ पूरी तरह से होने लगीं। अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर बढ़ा।

अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। सौ-सौ मन के गोले रत्न-सेन के गढ़ पर गिरते थे परन्तु वह डटा हुआ था। उसने अपने भोगविलास को भी नहीं छोड़ा। एक दिन एक वैश्या को अलाउद्दीन के पक्ष के एक व्यक्ति ने तीर मार दिया। वह मर गई। इससे राजपूतों को बड़ा क्रोध आया। वे जी जान से लड़ने लगे। कई वर्षों तक यह युद्ध चलता रहा। अलाउद्दीन को खबर मिली कि दिल्ली पर लोग हमला करने वाले हैं। उसने यह भी सोचा कि अगर वह इस समय चित्तौड़ जीतेगा तो पद्मावती जलकर सती हो जायेगी, इस बार संधि करना उसे उचित दिखाई पड़ा! अलाउद्दीन ने अपना दूत रत्नसेन के पास भेजा। शर्त यह रखी कि रत्तसेन पद्मावती न दे और साथ ही साथ चन्देरी भी ले ले परन्तु समुद्र ने उसे जो पाँच रत्न दिये थे, उन्हें दे दे। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन रत्नसेन के यहाँ अलाउद्दीन प्रीतिभोज के लिए गया।

राजा ने बड़े अच्छे व्यंजन बनवाये थे। बादशाह ने भोजन किया और वह चित्तौड़ गढ़ देखने लगा। देखते-देखते वह रनिवास पहुँचा, वहाँ पर रत्नसेन की दासियाँ थीं। अलाउद्दीन ने उनको स्वरूपवान देखकर समझा कि इन्हीं में कोई पद्मावती है। उसने

राघवचेतन से पूछा। राघव ने उसे बताया कि वे तो दासियाँ हैं, पद्मावती नहीं।

भोज के बाद गोरा बादल ने रत्नसेन को समझाया कि अलाउद्दीन का विश्वास करना उचित नहीं। परन्तु रत्नसेन ने बात न मानी। एक जगह बैठकर वह अलाउद्दीन के साथ शतरंज खेलने लगा। वहाँ पर एक बड़ा दर्पण रखा था। दर्पण में एकाएक पद्मावती का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा। अलाउद्दीन उसे देखते ही बेहोश हो गया।

जब अलाउद्दीन होश में आया तो राजा उसे अपने गढ़ के दरवाजे तक पहुँचाने आया। दरवाजे पर आते ही अलाउद्दीन ने उसे बाँध लिया और दिल्ली ले गया।

कुम्भलनेर का राजा देवपाल रत्नसेन का शत्रु था। जब उसने यह सुना तो पद्मावती को फुसलाने के लिए अपनी एक दूती भेजी। परन्तु पद्मावती का रत्नसेन से इतना दृढ़ प्रेम था कि उसने दूती को अपमानित कर निकाल दिया।

बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर भेजा परन्तु वह भी पद्मावती को फुसलाने में असफल रही।

पद्मावती अपने चारों ओर यह जाल बिछा हुआ देखकर गोरा बादल के पास गई और उनसे अपनी कथा सुनाई। गोरा और बादल को दया आ गई। उन्होंने रत्नसेन को छुड़ा लाने का वचन दिया।

बादल का उसी दिन गौना होकर आया था। माँ ने उसे जाने से रोका। परन्तु वह न माना। पत्नी ने भी रोका परन्तु उसने अनसुनी कर दी और चला गया।

सोलह सौ पालकियाँ सँवारी गईं। उनमें हथियारों से लैस राजपूत सरदार बैठाये गये। उनमें एक पालकी पद्मावती की भी बनी। उसमें एक लोहार बैठाया गया। इन पालकियों के साथ गोरा बादल यह कहते हुए चले कि पद्मावती अलाउद्दीन के पास जा रही है।

वे दिल्ली पहुँचे और अलाउद्दीन से प्रार्थना के स्वर में बोले कि पद्मावती कह रही है "मैं तो दिल्ली आ गई हूँ, परन्तु मेरे पास चित्तौड़की कुंजियाँ हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो उन्हें रत्नसेन को सौंप दूँ?" अलाउद्दीन ने इसे स्वीकार कर लिया। वह लोहार वाला विमान रत्नसेन के पास गया। उस लोहार ने रत्नसेन के बन्धन काट दिये और बादल उसे लेकर चित्तौड़ की ओर भागा। गोरा और अलाउद्दीन की सेना में वहीं युद्ध होने लगा। इस युद्ध में गोरा की मृत्यु हो गई।

रत्नसेन चित्तौड़ आकर पद्मावती से मिला। पद्मावती ने बादल की भुजाओं की पूजा की। रात में पद्मावती ने देवपाल की बात रत्नसेन से कही।

देवपाल की चाल सुनकर रत्नसेन को बड़ा क्रोध आया। वह उससे लड़ने चल पड़ा। युद्ध में रत्नसेन को देवपाल परस्पर लड़कर मर गए।त्नसेन की मृत्यु पर गढ़ बादल को सौंप दिय गया।

पद्मावती एवं नागमती भी राजा के साथ सती हो गईं। उनके सती होने के बाद अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर हमला किया। बादल लड़ा परन्तु हार गया। सारी स्त्रियाँ

जौहर में जल कर सती हो गईं और पुरुष संग्राम में खेत रहे। चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन पद्मावती को न पा सका।

कहानी-कला—कहानी-कला के विकास में निम्न बातों का अध्ययन आवश्यक होता है।

१. कथावस्तु
२. पात्र
३. चरित्र चित्रण
४. कथोपकथन
५. शैली
६. उद्देश्य।

इस कसौटी पर पद्मावती की कहानी कला को कसने के पूर्व हमें यह जानना चाहिए कि मध्ययुग में, आधुनिक काल की भाँति, कहानी कला का विकास इस उच्च स्तर पर नहीं हुआ था। इस युग में पाई जानेवाली प्रेमाख्यानक कहानियों का प्रमुख उद्देश्य उपदेश देना ही होता था। ये उपदेश भी साधारणतया तीन प्रकार के होते थे:—

१. प्रेम विषयक
२. सामान्य
३. इस्लाम अथवा यों कहिये—धर्म सम्बन्धी।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम पद्मावत की कहानी कला को उक्त कसौटी पर कसते हैं। कथावस्तु—पद्मावत की कथावस्तु प्रमुखरूप से प्रेमविषयक ही है। धर्मगत बातें गौण होकर आई हैं। इसे हम यों भी कहेंगे कि पद्मावत की कथा-वसुन्धरा प्रेम की धुरी पर घूमती है। इस ग्रंथ में रत्नसेन और पद्मावती की कथा है। वस्तुत: इसमें प्रेम ही सारी कथा का मूल है। प्रेम के उदात्त और अखिल सृष्टि व्यापी एवं लोकोत्तर स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए इसकी कथावस्तु का निर्माण किया गया है। कथा के पूर्वार्द्ध में रत्नसेन-पद्मावती, नागमती और सुआ—नायक नायिका, प्रति-नायिका और दूत के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। उत्तरार्द्ध की सारी कथा प्रेम-परीक्षा के उपकरण के रूप में आती है। लक्ष्मी परीक्षा लेती है। रत्नसेन सफल होता है, अलाउ-द्दीन परीक्षा लेता है पद्मावती को विजय मिलती है। आदि से अंत तक कथानक प्रेम-रंग में सराबोर है। प्रेम का स्वरूप लौकिक होते हुए भी पारलौकिक में गति पाता है। देखिये! अन्त में पद्मावती द्वारा कहे गए इन शब्दों से क्या ध्वनित होता है—

"औ जो गांठ कंत तुम जोरी।
आदि अन्त लहि जाय न छोरी॥
यह जग काहि जो अछहिन आथी।
हम तुम नाथ दुहूँ जग साथी॥"

'पद्मावत' की संवेदना ही यह है कि प्रेम जीवन का सार है। उसके सम्मुख स्वर्ण

भी झूठा है। प्रेम सर्वोपरि है।

पद्मावत की कथावस्तु घटना प्रधान न होकर चरित्र प्रधान ही कही जायगी। रत्नसेन और पद्मावती का चरित्र ही कथावस्तु का मेरुदण्ड है। इन दोनों के चरित्र के विकास के निमित्त ही घटनायें सहायक रूप में उपस्थित होती हैं। उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। कथानक के घटना-प्रधान न होकर चरित्र प्रधान होने का एक प्रमाण और यह है कि यदि लेखक का ध्यान कथानक को घटना प्रधान करने पर रहा होता तो वह इतने खण्डों का निर्माण कर कथा को अनावश्यक विस्तार न देता, अपितु थोड़े में ही इति पर पहुँच जाता। परन्तु उसके विस्तार को देखते हुए हमें ऐसा ही प्रतीत होता है कि लेखक का ध्यान घटनाओं पर केन्द्रित न रह पात्रों के चरित्रों पर केन्द्रित रहा है।

पद्मावत की कथावस्तु का पर्यवसान दुःख में होता है इस नाते हम उसे सुखान्त न कह दुखान्त ही कहेंगे। अलाउद्दीन तथा देवपाल के साथ पाठकों को कोई सहानुभूति नहीं होती। मध्य युग के अन्य प्रेमाख्यानक काव्य-ग्रंथ. की भाँति इस ग्रंथ की कथावस्तु में भी लेखक का ध्यान इस बात की ओर नहीं जाता कि कौनसी घटना को किस प्रकार प्रस्तुत करने से उसका कैसा प्रभाव होगा। वह अपनी बात कहने में घटनाओं को अपनी रुचि के अनुसार मोड़ता रहता है। पाठकों को चाहे वे स्वाभाविक जान पड़ें, चाहे अस्वाभाविक। उसे अपनी बात कहनी है और वह कहेगा। जायसी को पद्मावती और रत्नसेन के माध्यम से प्रेम का उज्ज्वलतम स्वरूप प्रस्तुत करना था। वे उसमें भूले हुए थे। इसलिए घटनाओं की ओर स्वतन्त्र दृष्टि डालने का उन्हें अवकाश न मिल सका; अथवा यों कहिये कि उन्होंने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

सम्पूर्ण कथावस्तु प्रेम से आरम्भ होती है, प्रेम-चर्चा में उसका विकास होता है और प्रेम का प्रौढ़तर रूप प्रस्तुत करने में उसका पर्यवसान।

अपने युग के अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति जायसी ने भी अपनी कथावस्तु का निर्माण राज दरबारों से किया है। नायक रत्नसेन चित्तौड़ का राजा है और नायिका पद्मावती सिंहल की राजकुमारी।

उस युग की परम्परानुसार पद्मावत की कथावस्तु का भी प्रारम्भ और अन्त कथा में नहीं हुआ है। आरम्भ में एक स्तुति खण्ड है और अन्त में कवि अपनी बात कहने लगा है, जिसके लिये उसने इस ग्रंथ का निर्माण किया है।

पद्मावत में भी पशु-पक्षी एवं अमानुषिक शक्तियाँ यत्र-तत्र भाग लेती हुई दिखाई पड़ती हैं। पद्मावती का हीरामन, नागमती का पक्षी, राक्षस, शिव-पार्वती और लक्ष्मी इसी रूप में वर्णित हैं। वस्तुतः इस ग्रंथ में सुआ ही सारे प्रेम-व्यापार के मूल में हैं। यदि सुआ न होता तो रत्नसेन के हृदय में प्रेम का प्रारम्भ ही न होता। इसी कारण जायसी ने अन्त में हीराराम के महत्व को घोषित किया है—

"गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा।
बिना गुरु को निरगुन पावा॥"

सम्पूर्ण कथावस्तु प्रेम के ही इर्द-गिर्द घूमती है। जीवन की प्रमुख समस्या 'रोटी' को इसमें कहीं स्थान नहीं दिया। कवि की यह उपेक्षा उसके कथानक को निर्बल बनाती है। कथन में व्यापकता नहीं आ पाती। ऐसा कवि ने क्यों किया कुछ समझ में बात नहीं आती। सम्भव है यह उस युग में कोई बड़ी समस्या न रही हो।

'पद्मावत' की कथावस्तु को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं—१. पूर्वार्द्ध षट्ऋतु वर्णन खंड तक और २. उत्तरार्द्ध नागमती वियोग खंड से आगे तक। पूर्वार्द्ध में प्रेम की पीर एवं प्रेम-पथ की यात्रा का वर्णन है और उत्तरार्द्ध में प्रेम-परीक्षा की जाती है। उत्तरार्द्ध में घटनाएँ अधिक हो गई हैं। इस नाते वह भागों-उपभागों में बँट जाता है। चरित्रों के विकास में कथानक कहीं-कहीं डगमगाता-सा नजर आता है और कहीं-कहीं अत्यंत दृढ़ रूप में भी। पद्मावती के विवाहोपरान्त रत्नसेन का चरित्र हल्का दिखाया गया है। पद्मावती का चरित्र वहाँ दृढ़तर है। कवि ने जौहर-खंड का निर्माण कर अपने काव्य को अमर बना दिया है। प्रेम का जो उदात्त स्वरूप हमें वहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टिकोण से पद्मावती का कथानक अत्यन्त सफल है। वैसे संपूर्ण कथावस्तु को हम गठी हुई और सर्वथा शक्त नहीं मान सकते। उसमें अनेक कमजोरियाँ भी हैं। कवि का सन्तुलन सर्वत्र ठीक नहीं रह सका है। चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं हुआ है। मानवीय शक्तियाँ अपने प्राकृतिक रूप में सर्वत्र नहीं आई हैं। एक वाक्य में हम यह कहेंगे कि सारी कथावस्तु प्रेमरस से सराबोर है और कवि को अपनी बात कहने में पर्याप्त सफलता मिली है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—पद्मावत के पात्रों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—१. आलौकिक और २. लौकिक।

आलौकिक पात्रों में शिव, पार्वती तथा लक्ष्मी आती हैं। शिव और पार्वती को कवि ने आलौकिकतामय दिखाया है तथा लक्ष्मी को अलौकिक चरित्र स्वीकार करते हुए भी लौकिक रूप में चित्रित किया है। कवि के शब्दों में ही लक्ष्मी का लौकिक रूप देखिये—

"लछमी चंचल नारि परेवा। जेहि सत होइ छरै कै सेवा॥
रतनसेन आवै जेहि घाटा। अगमन होइ बैठी तेहि बाटा॥
औ पदमावति कै रूपा। कीन्हेसि छाँह जरै जहँ धूपा॥
देखि सो कँवल भँवर होइ धावा। साँस लीन्ह वह बास न पावा॥
निरखत आय लक्ष्मी दीठी। रतनसेन तब दीन्हीं पीठी।"

तिस पर भी—

"पुनि धनि फिर आगे होइ रोई।
पुरुष पीठि कस दीन्ह निछोई॥"

रत्नसेन को विश्वास दिलाती है—

"हौं रानी पदमावति रतनसेन तू पीउ।
आनि समुद महँ छाड़ेउ अब रोवौं देइ जीउ॥"

इस प्रकार लक्ष्मी एक लौकिक स्त्री की भाँति हमारे सामने आती है।

पार्वती और शिव क्रमशः रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा लेकर उसके सहायक के रूप में चित्रित हैं। देखिये रतनसेन के सिंहल पहुँचने पर भवानी एक सुन्दर अप्सरा का रूप धारण कर कितनी चतुराई से उसके प्रेम की परीक्षा ले रही है—

"सुनहु कुँवर मोसों यह बाता। जस मोंहि रंग न औरहि राता॥
ओ विधि रूप दीन्ह है तोका। उठा सो सबद जाइ सिव लोका॥
तब हौं तोपहँ इन्द्र पठाई। गइ पदमिनि तैं अपछरि पाई॥

परन्तु रत्नसेन अपूर्व दृढ़ता के साथ कहता है—

"भलेहि रंग अछरी तोर राता।
मोंहि दूसर सों भाव न भाता॥"

इस प्रकार रत्नसेन अपनी परीक्षा में सफल होता है।

यही रत्नसेन विषय परिस्थितियों के चक्र में फँसकर जब किंकर्तव्यविमूढ़ हो जल मरने को तैयार होता है, उस समय शिव ने आकर सिद्धि गुटका दिया और सिंहलगढ़ में घुसने का मार्ग बताया। गन्धर्वसेन जब उसे शूली देने को तैयार था उस समय भी शिव ने ही उसकी रक्षा की। अलौकिक पात्रों के रूप में ही जायसी ने राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों को भी अन्तरकथाओं के मध्यम से स्वीकार किया है।

पद्मावत में आये लौकिक पात्रों के रूप में चित्रित चरित्रों को भी हम दो वर्गों में बाँटेंगे—

१. काल्पनिक और २. प्राकृतिक।

काल्पनिक पात्रों में राक्षस आता है जिसने सिंहल से लौटते समय समुद्र में रत्न-सेन को बड़ा कष्ट प्रदान किया था।

प्राकृतिक चरित्र भी दो कक्षाओं में आते हैं—

१. पशु-पक्षी।

२. मानव

पद्मावती का हीरामन तथा नागमती का पक्षी प्रथम श्रेणी में आते हैं। इनका प्रयोग दूत रूप में हुआ। ये दोनों मानव की भाँति ही कार्य करते हैं। हीरामन पद्मावती के पथ का सहायक है और पक्षी नागमती के पथ का। पक्षी होने के नाते इनका सभी विश्वास करते हैं अपने कार्य में दोनों पूर्ण सफल हुए हैं। इसके अतिरिक्त ग्रंथ में इनका और कोई महत्व नहीं। इसी कारण पद्मावती-रत्नसेन के मिलन के पश्चात् हीरामन का क्या हुआ, हमें कुछ पता नहीं चलता।

मानव पात्रों में स्त्री और पुरुष दोनों आते हैं। पुरुषों में नायक प्रतिनायक तथा अन्य पात्र हैं और इसी भाँति स्त्री पात्रों में भी नायिका प्रतिनायिका तथा अन्य पात्र हैं।

रत्नसेन नायक तथा राजकुमारी पद्मावती नायिका है। अलाउद्दीन प्रतिनायक तथा नागमती प्रतिनायिका है। शेष स्त्री पुरुष अन्य पात्रों की श्रेणी में चित्रित हैं।

नायक रत्नसेन के चरित्र में पर्याप्त दृढ़ता है। गुणों के समक्ष उसकी कमजोरियाँ बहुत थोड़ी हैं। तथा रत्नसेन सब पर विश्वास नहीं करता, अपने को अधिकाधिक बुद्धि वाला समझता है। झूठ बोलता है, राजनीतिक दाँव-पेंच में कच्चा है। इसमें वीरोचित उत्साह पाया जाता है वह अपने बाहुबल पर भरोसा रखता है। प्रेम-पथ की कठिनाइयों से विचलित नहीं होता। प्रेम सम्बन्धी समस्त संकल्पों में अत्यंत ही दृढ़ है। उसमें धीरोदात्त नायक की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं।

प्रतिनायक के चरित्र चित्रण में भी जायसी को सफलता मिली है। अलाउद्दीन के प्रति पाठकों के हृदय में घृणा का भाव उप्पन्न कर देने में जायसी पूर्ण समर्थ हैं।

नायिका पद्मावती राजा गन्धर्वसेन की अविवाहिता कन्या है। उसके चरित्र में भी पर्याप्त दृढ़ता और उज्वलता है। देखिये रत्नसेन की सूली की आज्ञा सुनकर वह कितना दृढ़ सन्देश उसके पास भेजती है।

"काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा।
मरैं तो मरौं जिऔं एक साथा।।"

इसी प्रकार देवपाल की दूती से वह कहती है—

"रँग ताकर हौं जारौं काचा।
आपन तज जो पराएहि रांचा।।"

× × ×

"जोबन मोर रतन जहँ पीऊ।
बलि तेहि पिउ पर जोबन जीऊ।।"

पद्मावती की चर्चा करना तो व्यर्थ ही है। विश्व की, वह, सर्वश्रेष्ठ अनिंद्य सुन्दरी है।

प्रतिनायिका नागमती के चरित्र को भी जायसी ने खूब निखारा है। वह भी पर्याप्त सौंदर्य तथा रत्नसेन के प्रति एकनिष्ठ पवित्र प्रेम रखती है। उसके प्रेम की ऊँचाई पद्मावती भी नहीं छू पाती। कितना आदर्श और कितना निर्मल प्रेम है। देखिए पक्षी से कैसा सन्देश भेजती है—

"पदमावति सौं कहेउ बिहंगम।
कंत लोभाय रही करि संगम।।"

× × ×

"अबहु मया करु करु जिउ फेरा।
मोंहि जियाउ कंत देइ मोरा।।
मोंहि भोग सों काज न बारी।
सौंह दीठि कै चाहन हारी।।

सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर तोर पाँय मोर माथ॥"

परन्तु स्त्री होने के नाते नागमती और पद्मावती दोनों में पर्याप्त दुर्बलताएँ भी हैं। सफलता इसी में है कि एक ही पति से दोनों प्रेम करती हैं, इस नाते उसकी मृत्यु के उपरान्त दोनों एक साथ सती हो जाती हैं।

पद्मावत के पात्रों को कवि ने सांकेतिक माध्यम या प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है परन्तु उसे इस दिशा में पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी है। सभी पात्रों के चरित्र की दुर्बलताएँ उसे प्रतीकों के आसन से गिरा देती हैं। पद्मावती का नागमती से वादविवाद एवं रत्नसेन के प्रति एकाधिपत्य की भावना का अनुभव आदि उसकी कमजोरियाँ हैं। वह सुन्दरी है, दृढ़ प्रेमिका है, प्रथम अविवाहित तथा राजकुमारी है—यह उसके चरित्र का सबल पक्ष है। इसी प्रकार नायक राजा रत्नसेन अनेक गुणों को धारण करता हुआ भी बहुपत्नीत्व स्वीकार करने के नाते अपने प्रतीकत्व की रक्षा नहीं कर पाता। अभिप्राय यह है कि रत्नसेन जीवात्मा तथा पद्मावती परमात्मा का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण सफल नहीं है।

सुआ को गुरू का प्रतीक जायसी ने माना है, पर उसके चरित्र में गुरु के अनुकूल गम्भीरता तथा ज्ञान गरिमा का अभाव है। इस कारण यह प्रतीक भी अपने स्थान पर ठीक नहीं कहा जा सकता। नागमती दुनियाँ धन्धा होकर पद्मावती के बराबर हो जाता है। यहाँ भी कवि प्रतीकत्व की रक्षा करने में असफल है। इसी प्रकार अन्य पात्रों की भी स्थिति है।

कथोपकथन—इसमें सन्देह नहीं कि 'पद्मावत' के कथोपकथन सबल-सरस तथा स्वाभाविक हैं। इस दिशा में जायसी को पर्याप्त सफलता मिली है। सबसे बड़ी विशेषता जायसी के कथोपकथन की यह है कि उनके माध्यम से ही चरित्रों का विकास हुआ है। नीचे हम कुछ ऐसे स्थलों का संकेत कर रहे हैं जो जायसी की कथोपकथन कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इनके द्वारा क्रमशः नागमती, रत्नसेन और पद्मावती के चरित्रों का विकास हुआ है।

१. नागमती-सुआ संवाद
२. नागमती-धाय संवाद
३. रत्नसेन प्रस्थान के समय नागमती-रत्नसेन संवाद
४. नागमती और उसकी सखी संवाद (नागमती के चरित्र का भव्य स्वरूप)
५. नागमती-पक्षी सम्वाद (जायसी के काव्य की काव्यात्मकता का चरमबिंदु)
६. चित्तौड़ लौटने पर नागमती-रत्नसेन सम्वाद।
७. पद्मावती-नागमती सम्वाद (कथोपकथन का सर्वोत्कृष्ट रूप)
८. सती होने के समय नागमती के वचन।
९. रत्नसेन-सुआ सम्वाद

१०. रत्नसेन-पार्वती सम्वाद
११. रत्नसेन-नागमती सम्वाद
१२. रत्नसेन-अलाउद्दीन दूत सम्वाद
१३. पद्मावती-सुआ सम्वाद
१४. पद्मावती-राजा सम्वाद
१५. पद्मावती-लक्ष्मी सम्वाद
१६. पद्मावती-गोरा बादल सम्वाद
१७. पद्मावती-देवपाल-दूती सम्वाद

इसी प्रकार अन्य अनेक ऐसे स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे कवि की कथोपकथन कला का सुन्दर प्रमाण मिलेगा। कथोपकथन का सौंदर्य ही जायसी की कहानी में जान डाल देता है अन्यथा पूरे काव्य में एक विचित्र सी नीरसता छाई होती। अस्तु, जायसी का कथोपकथन उनकी कहानी कला के विकास में अपूर्व योग देने वाला कहा जायगा।

शैली—पद्मावत मसनवी शैली का ग्रंथ है, इसमें दो मत नहीं। जायसी को अपनी बात कहने के लिए इससे सुन्दर ढंग उस समय कोई प्राप्य भी नहीं था। वैसे यदि हम उनकी शैली का विवेचनात्मक अध्ययन करें तो प्रमुख रूप से उनके काव्य में हमें उनकी शैली के निम्न तीन रूप प्राप्त होते हैं—

१· कथोपकथन की शैली
२. वर्णनात्मक शैली
३. उपदेशात्मक शैली

अपनी शैली के इन विविध रूपों में जायसी को अपनी बात कहने में काफी सहायता मिली है। शैली की दृष्टि से काव्य में उनका विशिष्ट महत्व है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास के लिए भी शैली का पथ जायसी द्वारा तैयार किया गया था। दोहे चौपाइयों में कहे उनके वाक्य बड़े ही सरस और प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। चंदवरदाई का साहित्य अभी विद्वानों के वादविवाद में उलझा हुआ है। इस प्रकार उसे छोड़ देने पर जायसी ही हिन्दी के प्रथम महाकाव्यकार ठहरते हैं और उनकी शैली आदर्श शैली कही जाती है। रामचरितमानस ऐसा महाग्रंथ भी पद्मावत की शैली पर ही लिखा गया। अस्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि शैली के क्षेत्र में जायसी का स्थान बड़े गौरव का है।

उद्देश्य—कहानी कला के विकास का अन्तिम-बिन्दु उद्देश्य होता है। पद्मावत की कहानी कला का उद्देश्य उस युग के अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति प्रेम का उपदेश उपस्थित करना है। लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिक प्रेम की ओर पाठकों को उन्मुख करना यही जायसी की कहानी का प्रमुख ध्येय कहा जायगा। साथ ही कहानी के सरस और मनोरम आवरण में सूफी सिद्धान्तों को कुशलता के साथ पिरो देना भी कवि

नहीं भूला है।

इस दृष्टि से अन्त में अब हम यह कहेंगे कि 'पद्मावत' की कहानी कला अपने में कुछ कमजोरियों को समेटे हुए भी काफी सफल है।

काव्य-सौन्दर्य—पद्मावत के काव्य-सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उसके अन्तरंग-वहिरंग अर्थात् भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

जहाँ तक पद्मावत के भावपक्ष का प्रश्न है जायसी ने अपनी काव्य-कुशलता का चरम बिन्दु उसमें प्रतिष्ठापित कर दिया है। भावपक्ष का जो भव्यस्वरूप पद्मावत में हमें मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार कवि का कलापक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। वस्तुतः भावपक्ष और कलापक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। भावपक्ष का सौन्दर्य कलापक्ष के माध्यम द्वारा ही उद्घाटित होता है। दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। एक को यदि काव्य की आत्मा कहेंगे तो दूसरे को काव्य का शरीर। दोनों के सामंजस्य से ही काव्य की स्थिति है।

भावपक्ष के तीन उपांग हैं—रागात्मक तत्व, बुद्धि तत्व और कल्पना तत्व। पद्मावत में इन तीनों तत्वों का बड़ी कुशलता से प्रतिपादन किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिये—

'पदमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि धरि चन्द छपाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
पहुचहि छपि कँवल पौनारी। जाध छपा कदली होइ बारी॥"

× × ×

"अनचिन्ह पिउ कांपौं मनमाँहा। का मैं कहव गहब जो बाँहा॥
बारि बैस गहै प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब न किछु मैं चेता। नेह न जानौं साम कि सेता॥
अब सो कँत जो पूछिहि बाता। कत मुख होइहि पीत किराता॥
करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओहि देखहुँ मैं ठांवहि ठाँऊ॥
जो जिउ मँह तो उहै पियारा। तन मन सो नहिं होई निनारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहि कोउ आना॥"

× × ×

"काह हँसौ तुम मोंसो, किएउ और सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, हम मुख बरसै मेह॥"

× × ×

"नागमती तू पहिल बियाही। कठिन बिछोह दहै जनु दाही॥
बहुतै दिन पै आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ॥"

× × ×

"उन बानन्ह अस को जो न मारा । बेधि रहा सगरो संसारा ।।
गगन नखत जो जाहिं न गने । ते सब बान ओहि के हने ।।"

× × ×

"सूरज बूड़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेसू बन राता ।।
भा वसंत राती बनसपतीं । औ राते सब जोगी जती ।।
भूमि जो भीज भएउ सब गेरू । औ राते सब पंखि पखेरू ।।
राती सती अगिनि सब काया । गगन मेघ राते तेहि छाया ।।"

इसी प्रकार अनेक उत्कृष्ट और मनोमुग्धकारी स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिन्हें पढ़कर सहृदय भावुक जन विभोर हो उठते हैं ।

रस काव्य की आत्मा और भावपक्ष का प्राण है । पद्मावत में प्रधानतः शृङ्गार रस का ही वर्णन है। इसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कवि ने सांगोपांग निरूपण किया है। शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। हास्य का प्रायः अभाव-सा है । करुण का चित्रण दो प्रसंगों में मिलता है—एक तो रत्नसेन के योगी होने पर और दुबारा देवपाल से युद्ध करते हुए जाने पर । रौद्र की झलक तब दिखाई देती है जब रत्नसेन अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त करता है। वीर रस की व्यंजना युद्धों में हुई है। युद्ध वर्णन में भयानक और वीभत्स रसों के चित्र भी सामने आ गये हैं। कवि ने जहाँ अपने वर्णनों में चमत्कारवादिता दिखाई है और संसार की नश्वरता का प्रतिपादन किया है वहाँ क्रमशः अद्भुत और शांत रस की सृष्टि हुई है । अभिप्राय यह कि रसों के वर्णन में कवि असफल नहीं रहा है। अपने ग्रंथ के मूल रस शृङ्गार का रस राजकत्व प्रदर्शित किया है ।

कलापक्ष में शब्द शक्ति, अलंकार, गुण, छन्द और भाषा-शैली आदि का समावेश होता है। इस दृष्टि से भी कवि को अपने कार्य-व्यापार में पर्याप्त सफलता मिली है । उसका कलापक्ष पूर्ण सशक्त और सम्पन्न है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शब्द शक्तियों से कवि ने काम लिया है । उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति और तदगुण, आदि अलंकारों की पद्मावत में प्रचुरता पाई जाती है । गुणों में प्रसाद और माधुर्य की प्रधानता है । छन्दों में कवि ने दोहा और चौपाई का क्रम अपनाया है। भाषा ठेठ अवधी है। कहीं-कहीं ब्रज और बँगला के भी कुछ शब्द तद्भव रूप में मिलते हैं। पूरा पद्मावत मसनवी ढाँचे में ढला होने पर भी कवि की मौलिकता से संपृक्त है । फारसी और भारतीय दोनों शैलियों का इस ग्रंथ में अद्भुत मेल पाया जाता है। इस प्रकार कवि ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का सम्मिलन कराया है ।

पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य अनुपम है । क्या भाव और क्या शैली का विचार—सभी दृष्टियों से यह ग्रंथ उत्कृष्ट है । इसमें कवि की काव्य कला का भव्यतम रूप प्रस्फुटित हुआ है । काव्य-सौन्दर्य में इस महाकाव्य की समता रामचरितमानस के अतिरिक्त हिन्दी का अन्य कोई ग्रंथ नहीं कर सकता । जायसी के कवि ने इसे अपने कुशल हाथों से स्वयं ही

सँवारा है। इसी नाते यह इतना बहुमूल्य ग्रंथ बन सका।

महाकाव्यत्व—विद्वानों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के समस्त लक्षण पद्मावत में पाये जाते हैं—

१. पद्मावत की कथा इतिहास प्रसिद्ध कथा है। कवि ने उसमें अपनी कल्पना का समावेश कर, उसे एक अद्भुत स्वरूप प्रदान किया है। इससे उसकी उत्कृष्टता ही बढ़ती है।

२. ग्रंथ में ५७ सर्ग हैं, जिनका नाम वर्णनीय कथा पर है।

३. नायक धीरोदात्त, उच्च क्षत्रिय वंश का है और नायिका भी ऐसी ही है।

४. ग्रंथ में श्रृङ्गार रस की प्रमुखता और साथ ही अन्य रसों का भी समावेश है।

५. पद्मावती रूप ईश्वर की प्राप्ति ग्रंथ के नायक का लक्ष्य है।

६. प्रातः मध्यान्ह, संध्या और रात्रि, सूर्य, चन्द्रमा, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, समुद्र, यात्रा, यश, संग्राम, विवाह, मंत्र आदि सबका यथासम्भव सांगोपांग वर्णन है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ की कुछ अपनी विष्टिताएँ भी हैं।

कहने का अभिप्राय यह कि पद्मावत हिन्दी का प्रथम और सफल महाकाव्य है।

दार्शनिकता और रहस्यवाद—जायसी निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सूफी कवि हैं। अस्तु, सूफी सिद्धांतों का उनके काव्य में पूर्ण समावेश होना स्वाभाविक है। पद्मावत में उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा का उन्हीं सिद्धान्तों पर तात्विक दृष्टि में अभेद का वर्णन किया है। लौकिक दृष्टि में जीव को ब्रह्म के प्रति प्रेमोन्मुख माना है। ब्रह्म की कल्पना उस शक्ति के रूप में उन्होंने की है जिसने प्रथम ज्योति (नूर) की सृष्टि की; और फिर उसके द्वारा अखिल विश्व का निर्माण हुआ। उनका ब्रह्म अजन्मा है—

"जना न काहु न कोइ ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥"

यह चराचर, अखिल सृष्टि उसी अनन्त और प्रेममय को पाना चाहती है।

"पवन जाइ तहँ पहुँचे यहा। मारा तैस, लोटि भुंइ रहा॥
अगिनि उठी, जरि उठी निआना। धुँआँ उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ मुँइ चूआ॥"

प्रकृति के समस्त तत्व इसी आशा से जीवन के सहज धर्म को धारण करते हैं कि एक दिन हम उससे अवश्य मिलेंगे।

सूफी सिद्धान्तों में साधक की चार अवस्थाएँ बताई बताई गई हैं। पद्मावत में उनका संकेत है—"**चारि बसेरे जो चढ़ै, सत सो उतरै पार।**" शरीअत, तरीक़त, हकीकत और मारिफत यही चार अवस्थाएँ हैं, जिन्हें साधक को पार करना पड़ता है, तब उसे ब्रह्म के दर्शन होते हैं। जायसी का ब्रह्म पूर्ण प्रेममय है। पद्मावती जो ज्ञान या बुद्धि की प्रतीक है, यथा सम्भव प्रेममय परमेश्वर के समस्त गुणों से युक्त है। उसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला गुरु सुआ है। रत्नसेन के पथ पर चलने वाला साधक जीवात्मा है। नागमती को मार्ग

की बाधा के रूप में ग्रहण किया गया है। डा० सुधीन्द्र ने इसे 'काया' कहा है। साधक को भटकाने वाला शैतान राघवचेतन है। अलाउद्दीन माया का प्रतीक है।

जायसी के सूफी सिद्धान्तों पर भारतीय नाथपंथ का पूर्ण प्रभाव है। ग्रंथ में गुरु की महत्ता सर्वोपरि स्वीकार की गई है।

डा० सुधीन्द्र के शब्दों में **"जायसी सूफी होने के नाते निर्गुण निराकार ब्रह्म (खुदा) की माधुर्य भावमूलक, प्रेम प्रधान, प्रणय साधना के पोषक हैं। समस्त 'पद्मावत' सूफी जायसी के ज्ञान का रूपात्मक पदार्थ पाठ है। उसमें अपने सिद्धान्त, जीव की ब्रह्म प्राप्ति की साधना को रूपक कथा के आवरण में प्रस्तुत किया है।"**

"चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन् चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहिचित्त बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥"

जायसी का मन्तव्य यह है कि ज्ञानरूप ब्रह्म (खुदा) की प्राप्ति के साधक भक्त को अपने मन को निर्गुण परमेश्वर में लीन करना चाहिए। उसके स्वरूप की पहचान बिना सदगुरु के ज्ञान-दान के नहीं होती। सांसारिक मोह (माया और स्वजन-परिजन) के बंधनों को ठुकराकर ही जो 'शैतान' और 'माया' को विजय कर लेता है वह परमेश्वर को पाता है।

पद्मावत में लौकिक प्रेम के माध्यम से परलौकिक प्रेम की प्राप्ति-साधना का दिग्दर्शन कराया गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ में दार्शनिक और रहस्यवादी विचारों का समावेश है। 'पद्मावत' के सृजन में कवि का प्रमुख लक्ष्य ही यही था। इस दृष्टिकोण से उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

अन्य विशेषताएँ—'पद्मावत' एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य है। उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों में कवि की काव्य-कला का उत्कृष्ट स्वरूप मिलता है। वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन का एक सफल प्रयास है। मुसलमान कवि के द्वारा भारतीय कहानी का अपनाया जाना, और उसमें वर्णित देवी देवताओं को उचित श्रद्धा की दृष्टि से कवि द्वारा देखा जाना, पद्मावत की उत्कृष्टता की ओर संकेत करता है। ग्रंथ में भारतीय जीवन की एक सुन्दर झाँकी मिलती है। साथ ही तत्कालीन विविध परिस्थितियों का उल्लेख भी।

पद्मावत की सबसे बड़ी विशेषता, जो उसे भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथों में स्थान देती है, यह है कि उसमें मानव जीवन की प्रधान वृत्ति प्रेम का सांगोपांग निरूपण और प्रतिपादन है। प्रेम की महत्ता सर्वोपरि स्वीकार की गई है। प्रेम के सम्मुख स्वर्ग

तक को त्याज्य और हेय बताया गया है। अखिल चराचर प्रेममय ब्रह्म की छाया है, उसे पहचानना जीव का धर्म है। प्रकृति से प्रेम करके ही जीव, ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

अपनी इन विशिष्टताओं के कारण 'पद्मावत' एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। भारतीय साहित्य में उसका स्थान अन्यतम है।

: ६ :

पद्मावत में संयोग शृङ्गार

प्रेम की पीर के अमर गायक कविवर जायसी का पद्मावत शृङ्गार-प्रधान काव्य है। वैसे अन्य रसों का भी उसमें यथास्थल समावेश हुआ है किन्तु सम्पूर्ण काव्य में शृङ्गार रस ही प्रमुख रूप से रम रहा है। शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दो मुख्य भेद होते हैं। पद्मावत में इन दोनों रसों को उचित प्रश्रय मिला है। जायसी वियोग पक्ष का जितना मार्मिक वर्णन प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं, उतना संयोग पक्ष का नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि सूफियों के प्रेम में विरह को प्रमुखता दी जाती है। उस परम प्रियतम से भिन्न जीवात्मा तथा सम्पूर्ण प्रकृति की उससे मिलने की उत्कंठा और व्याकुलता विरह रूप में ही चित्रित हुई है। इस अलगाव या विरह से सारी सृष्टि व्यथित है। सभी उस महामिलन के अभिलाषी हैं। सूफी काव्यों में इस पक्ष की बड़ी विशद विवेचना की गई। संयोग पक्ष का भी वर्णन सूफी कवियों ने किया है और सुन्दर वर्णन किया है। उसमें पर्याप्त रमणीयता है किन्तु इस पक्ष का अपेक्षित सांगोपांग विवेचन नही हो पाया है। फारसी शैली के प्रभाव और तीव्र आध्यात्मिक झुकाव ने रस-भंग उपस्थित कर दिया है। कहीं-कहीं तो वर्णन बड़ा ही स्थूल और निकृष्ट कोटि का हो गया है जिससे कवियों की महानता को भारी धक्का भी पहुँचा है। हमारे कविवर जायसी में भी उपर्युक्त सभी गुण-दोष पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। यदि वे फारसी शैली से बुरी तरह प्रभावित न होते और आध्यात्मिकता की झलक बरबस स्थान-स्थान पर देने का दुराग्रह न करते तो उनका शृङ्गार वर्णन (संयोग-शृङ्गार) अधिक स्वाभाविक और उत्कृष्ट रूप में निखर सका होता। फिर भी जायसी के संयोग वर्णन की रमणीयता और सजीवता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि अन्य सूफी कवियों की भाँति जायसी को भी रस-शास्त्र का ज्ञान नहीं था और इसी कारण वे उसका साँगोपाँग विवेचन नहीं कर सके तथापि उन्होंने ऐसे स्थलों पर मनोहर वातावरण का सृजन किया है जो लौकिक सौन्दर्य के साथ-साथ पारलौकिक सौन्दर्य का भी भान कराता है। भौतिक प्रणय के द्वारा उन्होंने लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि की और अन्त तक उसमें लगे रहे, यह सभी स्वीकार करते हैं।

'**पद्मावत**' की कथा रत्नसेन और पद्मावती तथा नागमनी को लेकर चलती है। संयोग शृङ्गार के लिए नागमती और पद्मावती दोनों महत्वपूर्ण हैं। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में, **"साधना की दृष्टि से नागमती और पद्मावती में चाहे जो अंतर हो, साहित्य की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। दोनों रत्नसेन की प्रिया हैं। जहाँ तक**

नागमती और रत्नसेन के संयोग का प्रश्न है इसका वर्णन केवल एक स्थल पर आया है— जब रत्नसेन सिंहल से लौटकर नागमती के पास जाता है। परन्तु वस्तुतः वह मिलन भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अधिकाँश नागमती द्वारा मान-प्रदर्शन और सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ही व्यक्त हुआ है।" रात्रि में रत्नसेन जब नागमती के कक्ष में पहुँचता है तो यह पद द्रष्टव्य है—

"नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुख सौं डीठी।।"

और उससे कहती है—

"ग्रीषम जरत छाँड़ि जो जाई। पावस आव कवन मुखलाई"

तथा—

"काह हँसौ तुम मो सौं, किएउ और सों नेह।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरिसै मेह।।"

सपत्नी पद्मावती के प्रति यह ईर्ष्याभाव तथा पति रत्नसेन के प्रति यह व्यंग भरा प्रेम बिल्कुल स्वाभाविक है, किन्तु संयोग का माधुर्य यहाँ नष्ट हो गया है। रत्नसेन का यह कहना—

"नागमती तू पहिल बियाही। कठिन प्रीति दाहै जस दाही।।
बहुतै दिनन आव जौ पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ।।
काह भएउ तन दिन दस दहा। जौ बरखा सिर ऊपर अहा।।"

तो वातावरण को और भी हल्का कर देता है। रत्नसेन का यह सारा कथन उसका फुसलाना प्रतीत होता है। संयोगकालीन मधुमय वातावरण की सृष्टि में इससे कोई योग नहीं मिलता; किन्तु कवि जब आगे कहता है—

"कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी सों बेलि सींचि पलुहाई।।"

तो वातावरण में एक नई ज़िन्दगी आ जाती है और पहले की उदासी के स्थान पर एक मुस्कान खेल जाती है, भले ही वह क्षणिक होती है। इतना करने पर ही तो—

"फरै सहस साख होइ दारिउँ-दाख-जंभीर।
सबै पंख मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भइ भीर।।"

× × ×

"पलुही नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलवारी।।
संग सहेली नागमति, आपनि बारी माँह।
फूल चुनहिं, फल तूरहिं, रहसि कूदि सुख-छाँह।।"

× × ×

इस तरह हम देखते हैं कि कवि ने रत्नसेन और नागमती के संयोग में पर्याप्त मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक कटुता को प्रदर्शित करते हुए भी आवश्यक सरसता का यथास्थल निर्देश कर ही दिया है जिसकी रमणीयता पाठक के हृदय पर अपनी छाप अंकित किए बिना नहीं रहती।

पद्मावती और रत्नसेन के संयोग पक्ष में हमें प्रमुख रूप से निम्न स्थल मिलते हैं—१. बसन्त खण्ड, २. विवाह तथा पद्मावती रत्नसेन-भेंट खंड और ३. षटऋतु वर्णन।

जहाँ तक बसन्त खंड की बात है उसमें संयोग का पूर्ण विधान नहीं हो पाता। पद्मावती अपनी सखियों के साथ जब रत्नसेन तथा उनके साथ के अन्य योगियों को घेर लेती है उस समय दोनों के दृग मिलते हैं, परन्तु अपूर्व सुन्दरी पद्मावती के मनमोहक रूप को देखकर रत्नसेन मूर्च्छित हो जाता है। पद्मावती भी तोते के कथनानुसार सहस्रों किरणों वाले सूर्य रूपी रत्नसेन को देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाती है, किन्तु रत्नसेन का मूर्छित हो जाना संयोग की सृष्टि में विघ्न डाल देता है। प्रथम मिलन का सारा माधुर्य विनष्ट हो ज्ञाता है। राजा के मूर्छित हो जाने पर पद्मावती उसके वक्षस्थल पर इस आशा से चन्दन लगा देती है कि शायद वह जग जाय, किन्तु ठंडक पाकर वह और भी सो जाता है। अन्ततः पद्मावती इस असफल मिलन की बात उसके वक्षस्थल पर चन्दन के अक्षरों में लिख वापिस चली आती है। इस प्रकार मिलन का यह नीरस दृश्य समाप्त होता है। जायसी का साधक रूप ही यहाँ अधिक उभरा है, कवि रूप नहीं। इसी से वर्णन में वह सजीवता नहीं है, हाँ उसका अपना एक अलग आकर्षण अवश्य है जो सहृदय पाठकों को अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहता।

संयोग पक्ष का वास्तविक आरम्भ तो पद्मावती रत्नसेन के विवाह खंड से ही होता है। देखिये रत्नसेन बारात सजाकर आ रहा है। पद्मावती महल के सबसे ऊपरी भाग पर खड़ी हो रत्नसेन की आती हुई बारात के अपरिमित सौंदर्य और साज-बाज को देख रही है। उसका मन-मयूर आनन्दातिरेक से नाच रहा है। हृदय-सरोवर में कामना की चंचल लहरियाँ अठखेलियाँ कर रही हैं और रोम-रोम एक अपूर्व उल्लास से सिहर रहा है। कितना मादक और हृदयग्राही चित्र है—

> **"हुलसे नयन दरस मदमाते। हुलसे अधर रंग रस राते।।**
> **हुलसा बदन ओप रवि पाई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई।।**
> **हुलसे कुच कसनी-बंद टूटे। हुलसी भुजा, वलय कर फूटे।।**
> **हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं आजू।।**
> **आजु चाँद घर आवा सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू।।**
> **आजु कटक जोरा है कामू। आजु विरह सो होइ संग्रामू।।**
> **अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहूं न समाइ।**
> **ठांवहि ठांव विमोही, गइ मुरछा तन आइ।।"**

यहाँ पर जायसी का कवि जागा है, जिसने साहित्य और मनोविज्ञान को एक साथ वाणी प्रदान की है। वस्तुतः इस वर्णन के शब्द-शब्द में जीवन डोल रहा है।

इसके उपरान्त विवाह होता है और विवाह के बाद पद्मावती-रत्नसेन के मिलन का आयोजन। ऐसे अवसर के उपयुक्त जायसी ने पहले कुछ विनोद का विधान किया है।

सखियाँ पद्मावती को छिपा देती हैं और रत्नसेन मिलने को आतुर होता है। सखियों ने शायद ऐसा कुछ छेड़-छाड़ करने के उद्देश्य से ही किया था। परन्तु इस विधान में जायसी को सफलता नहीं मिली है। **"विनोद का कुछ भाव उत्पन्न होने से पहिले ही रसायनियों की परिभाषाएँ आ दबाती हैं। सखियों के मुख से 'धातु कमाय सिखै तौं योगी' सुनते ही राजा भी धातुवादियों की तरह बर्राने लगता है जिसमें पाठक या श्रोता का मन कुछ भी लीन नहीं होता।"** ऐसा जायसी ने अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए ही किया। फिर भी कुछ ऐसे स्थल-विशेष को छोड़कर जायसी ने कई रसपूर्ण स्थल भी प्रदान किए हैं। देखिए पद्मावती जिस समय शृङ्गार करके राजा के पास जाती है उस समय कवि कैसा मनोहर चित्र खड़ा करता है—

"साजन लेइ पठावा, आयसु जाय न मेट।
तन, मन जोबन साजि कै देइ चली लेइ भेंट॥"

इस दोहे में तन, मन और यौवन तीनों का अलग-अलग उल्लेख बहुत ही सुन्दर है। मन का साजना क्या है? समागम की उत्कंठा या अभिलाषा? बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती। देखिये पिय के पास गमन करते समय कवि परम्परा के अनुसार शेष-सृष्टि से चुनकर सौंदर्य का कैसा संचार कैसी सीधी-सादी भाषा में किया गया है—

"पदमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चँद छपाना। दसन देखि कै बीजु लजाना॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना॥
पहुँचहि छपी कँवल-पौनारी। जाँघ छपी कदली होइ बारी॥"

इस प्रकार जायसी पहले तो सौंदर्य के साक्षात्कार से हृदय के उस आनन्द सम्मोह का दर्शन करते हैं जो मूर्छा की दशा तक पहुँचा हुआ जान पड़ता है। फिर राजा अपने दुख की कहानी तथा प्रेम-मार्ग में अपने ऊपर पड़े संकटों का वर्णन करके प्रेम-मार्ग की उस सामान्य प्रवृत्ति का परिचय देता है जिसके अनुसार प्रेमी अपपे प्रियतम के हृदय में अपने प्रति दया या करुणा का भाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया करता है।

जायसी को हावों की सुन्दर योजना प्रस्तुत करने में असफलता मिली है। हाँ पद्मावती के स्वभाव सुलभ कुछ अनुभावों का वर्णन अवश्य सुन्दर प्रस्तुत किया है। तदुपरि कवि ने दोनों का मिलन कराया है जिसमें पर्याप्त सरसता है।

"कहि सत भाउ भएउ कँठ लागू। जनु कंपन सो मिला सोहागू॥
चौरासी आसन बर योगी। खट रस बिदक चतुर सो भोगी॥
कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चम्पा गहि डार ओनाई॥
करी बेधि जनु भँवर भुलाना। हना राहु अर्जुन के बाना॥
कँचन करी चढ़ी नग जोती। बरमा सौं बंधा जनु मोती॥
नारंग जानु कीर नख देई। अधर आँबु रस जानहु लेई॥

कौतुक केलि करहिं दुख नसा। कुंदहि कुरुलहिं जनु सर हंसा ।।
रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेद।
जो अस पदुमिनि रावै, सो जानै यह भेद ।।"

× × ×

"कहौं जूझि जस रावन रामा। सेजि विधंस विरह संग्रामा ।।
लीन्ह लंक कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ।।
ओ जोबन मैमंत विधंसा। विचला विरह जीव लै नंसा ।।
लूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मांग, भंग भे केसा ।।
कंचुकि चूरि, चूर भे ताने। टूटे हार, मोति छहराने ।।
वारी टाड सलोनी टूटी। बाहूँ कंगन कलाई फूटीं ।।
चंदन अंग छूट तस भेंटी। वेसरि टूटि, तिलक गा मेटी ।।
पुहुप सिंगार सँवारि जो, जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउ हिय लाइ के मरगज कीन्हें कंत ।।"

इसमें सन्देह नही कि वर्णन में घोर अश्लीलता के साथ निकृष्टता भी है तथापि उसकी सरसता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत प्रश्न में सरसता का परिचय प्राप्त करना मात्र ही हमारा लक्ष्य भी है। वर्णन लौकिक पक्ष में ही अधिक घटता है, इसी नाते आलोचक को यहाँ बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि वह किस पक्ष का समर्थन करे। अंततः आचार्य शुक्ल के शब्दों में मैं तो यही कहूँगा कि इस विलासिता के बीच-बीच में भी प्रेम का भावात्मक स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है। राजा जिससे मतवाला हो रहा है वह प्रेम की सुरा है जिसका वर्णन सूफी शायरों ने बहुत किया है—

"सुनु धनि ! प्रेम-सुरा के पिये। करन-जियन उर रहै न हिए ।।
जेहि मद तेहि कहा संसारा। की सो घूमि रहु की मतवारा ।।
जाकहं होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओहो चाहा ।।
अरथ दरब सो देह बहाई। की सब जाहु, न लाइ पिग्राई ।।"

अन्त में लेखक ने निम्न मधुर शब्दों के साथ इस मिलन प्रसंग को समाप्त किया है :—

"आजु मरम में जाना सोई। जस पियार पिउ और न कोई ।।"

कवि का यह वर्णन आध्यात्मिकता के रंग से रँगा होते हुए भी काफी सरस और सजीव है जो किसी भी सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखता है।

इसी प्रकार कवि ने षटऋतु वर्णन खण्ड में भी बड़े ही सरस और हृदयग्राही स्थल प्रस्तुत किए हैं। एक उदाहरण देखिए—

"पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई ।।
चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना ।।

रंग राती पीतम सँग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी ।।
सीतल बूंद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा ।।

राजा रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पावस की शोभा का कैसा सुखद् अनुभव हुआ है। ऐसे ही अन्य ऋतुओं का भी वर्णन (यद्यपि सभी उन्हीं के रूप में ही हैं) बड़ा ही हृदयग्राही है।

अस्तु अब हम निष्कर्ष रूप में यह कहेंगे कि जायसी के पद्मावत के संयोग शृंगार की सजीवता में किसी भी सहृदय को विभोर कर देने की पर्याप्त क्षमता है। यद्यपि जायसी मूलतः वियोग के कवि हैं तथापि संयोग वर्णन में भी जीवन डाल देने की कला वे खूब जानते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपने संयोग-वर्णनों को अपेक्षित निखार नहीं दिया है, फिर भी उनकी सरसता और सजीवता तो स्तुत्य है ही। पता नहीं संयोग की इस व्यापक भाव-भूमि में उतरने का कवि ने उतना विस्तृत विधान क्यों नहीं किया।

●

: ७ :

पद्मावत में विरह-वर्णन

रत्नसेन की प्रथम परिणीता श्यामांगी नागमती का विरह-वर्णन पद्मावत का प्राण-विन्दु है। जायसी का भावुक हृदय इस भारतीय हिन्दू रमणी के पवित्र आँसुओं में डूब कर अपनी सुध-बुध खो बैठा है। विरह-विदग्ध हृदय की संवेदनशीलता के इस चरम उत्कर्ष को देख ऐसा लगता है जैसे प्रेम के चतुर चितेरे कवि ने नागमती को स्वयं में साकार कर लिया हो और उसके हृदय की व्यथा के रूप में अपने ही हृदय की व्यथा को उँडेलने लगा हो। परम प्रियतम के चिरंतन-वियोगी सूफी-भक्त-कवि का हृदय, अश्रु का जलजात बन गया है। नागमती के विरह-वर्णन में नागमती नहीं व्यथा स्वयं बोलती है।

निर्मोही प्रियतम के प्रवास से ही इस विरहिणी की विरह-कथा का प्रारम्भ होता है। उसके एकनिष्ठ प्रेम और अपूर्व सौन्दर्य की अवहेलना करके किसी अज्ञात रूपसि के प्रणय में उन्मत्त हो उसका पति चला गया। उसके व्यवहार विश्वास, पूजना-अर्चना तथा धर्म और सेवा को पति की निर्मम अवहेलना की ठेस लगी। वह विचलित हो गई। स्त्री का ऐसा अपमान, जिसमें उसका रूप कुरूप घोषित कर दिया जाय, उसकी यौवन-अभिलाषा को दुत्कार दिया जाय, विश्वास के स्वाभिमान को ठुकरा दिया जाय—और वह भी अपने ही पति द्वारा—नागमती को मिला था। जिस पति ने उसके साथ अनेक वर्षों तक यौवन की कलकेलियाँ कीं, जीवन की इन्द्रधनुषी कल्पनाओं के मधुमय ताने-बाने बुने, उसमें इतनी भी श्रद्धा शेष न रह गई कि मोह-तन्तु को एक झटके से तोड़ किसी कथित स्त्री की रूप-शिखा का शलभ बन प्रवासी हो गया, निवेदन तक न सुना। कितना निठुर व्यवहार था। कितनी हृदय-विदारक क्रिया थी। ऐसी दशा में कठोराघात से व्याकुल हो मानिनी नारी के लिए एक ही मार्ग रहता है कि या तो वह जीवन से वैराग्य ले उस जगत प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर दे अथवा सदैव के लिए इस जीवन लीला का क्रूर-विसर्जन कर दे। अपमान और तिरस्कार की अग्नि में तिल-तिल जलना किसी भी रूप और प्रेम गर्विता को मान्य नहीं। किन्तु प्रणय-सागर के कुशल नाविक जायसी ने अपनी नागमती को इनमें से किसी भी पंथ की पंथिनी नहीं बनाया, अपितु उसके नारित्व और सतीत्व को एक दिव्य आभा प्रदान की, महाशक्ति दी। कठिन परीक्षा ली और अंत में उसके कुंदन से खरे रमणीत्व को प्रकट कर सहृदय पाठकों को चकित कर दिया।

नागमती का पति-प्रेम विरहावस्था में प्रगाढ़तर हो चला। संयोगकालीन सुखद-केलियों की भाँति यह विरह भी उसके पति ने ही दिया था, इसलिए उसने उसका हँसकर

अभिनन्दन किया और इस काल में भी पूर्ण मनोयोग से पति की अराधना की। पथ पर उसके प्रत्यागमन की आशा से पलकें बिछाये रही, किन्तु जब पूरा वर्ष बीत गया और निर्मोही न लौटा, तो पतिपरायणा का हृदय डोल गया, विकलता रोम-रोम से विद्रोह करने लगी। मन को शंका हो चली कि यह प्रवास कहीं आजीवन प्रवास तो नहीं बन जायगा। वेदना की ज्वाला में हृदय-तन्तु टूट-टूट भस्म होने लगे और सुधि की आँधी प्रबल वेग-गामिनी बनी—

"नागमती चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा॥
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसों हरा॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात वरु जीऊ॥
सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।
झुरि-झुरि पींजर हौं भई, विरह-काल मोहि दीन्ह॥"

विरह व्यथिता राजमहिषी को राजधानी की वर विलास-सज्जा के प्रति रंचमात्र भी आकर्षण न रह गया। समस्त संसार उसे भयावह प्रतीत होने लगा। प्रकृति की सौंदर्य स्निग्ध कमनीयता, मलयज मोहकता और वासन्ती कौमार्य आदि सभी कष्टदायक बन गये और जब प्रकृति षटऋतु बार-बार अपना परिधान बदलती हुई सौन्दर्य-सुषमा से होड़ करने लगी तो नागमती की वेदना त्रिजटा के समान विशाल देह हो गई—

"पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोलै पिऊ-पीऊ॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुआ गएउ पिउ नामा॥
विरह-वन तन लाग न डोली। रकत पसीज भीज गई चोली॥
सूखा हिया हार भा भारी। हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी॥
खन एक आव पेट मँह साँसा। खनहिं जाइ जिउ होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं सींचहिं चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला॥
प्रान पयान होत को राखा। को सुनाव पीतम कै भाखा॥
आहि जो मारै विरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा शरीर मँह, पाँख जरा गा भागि॥"

आकाश में पावस के मेघ चढ़ आए; पृथ्वी की तप्त छाती शीतल हो चली। झुलसी हुई प्रकृति हरी-भरी हो गई। वृक्ष, लता और पुष्प सबकी काया मिलन-आँसुओं से धुल-धुल एक अपूर्व सौन्दर्य बिखेरने लगी। जड़-चेतन उल्लसित हो उठे; पर हाय रे भाग्य! नागमती का प्रियतम नहीं लौटा। जग को सुखदायक लगने वाले पावस-कण उसके लिए वाण बन गए—**"खड्ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुन्द-बान बरसहिं घनघोरा॥"** विकल नागमती कातर स्वरों में पति को पुकार-पुकार उससे विनय करने लगी—**'कन्त उबारु, मदन हौं घेरो।"**

श्रावण में मेघों ने मरुथल में भी झीलें बना दीं। उन्माद के साथ वर्षा का प्रादुर्भाव हुआ। हृदय में हिलोरें आईं, पवन के साथ झूलते हुए बादलों को देखकर सखियों ने

हिंडोला सजा दिया किन्तु नागमती का हृदय हिंडोले के समान झूलकर भी विरह के हाथ में था :—

"हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। विरह झुलाइ देइ झकझोरा॥"

वर्षा के जल ने जल-थल एक कर दिया। वेदना के आँसू भी उतना ही विस्तृत और महान समुद्र भर रहे थे। दोनों को पार करने के लिए पंख अथवा परों की आवश्यकता थी। नागमती ने कहा—

"परवत समुद अगम विच, बीहड़ घन बन ढांख।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोंहि पांव न पांख॥"

रत्नसेन वहाँ अपने पैरों से गया और हीरामन पंखों से—नागमती स्त्री है, उसके पास न तो पाँव हैं और न पंख। वह प्रियतम तक कैसे पहुँच सकती है।

वर्षा समाप्त हो गई और निरभ्र नीलाकाश में शरद का चन्द्रमा शुभ्र क्रीड़ा करने लगा। हंस, सारस, और खंजन लौट आए किन्तु कन्त न फिरे, **"विदेसहिं भूले"**। विरह के कारण नागमती को चन्द्रमा में अजस्र दाह, राहू का सा डसन और कृष्णपक्ष का सा अंधकार दिखाई पड़ने लगा। प्रिय के बिना आने वाली दीपावली भी उसके मन में आलोक न भर सकी और उसका प्रांगण दीप शिखा के बिना ही सूना रह गया। रत्नसेन के अभाव का कष्ट था। और **'सवति दुख दूजा'** के कारण वह और व्याकुल थी। इसलिए अपने दुख की अवधि उसे दीर्घतम प्रतीत होती थी। यदि सवति न होती तो रत्नसेन को नागमती की स्मृति स्वभावतः आती किन्तु स्त्री का प्रेम उसे पद्मावती से प्राप्त हो रहा था। इसलिए अपनी स्मृति जागृत कराने के लिए भौंरे और काग से उसने अपना संदेश इस प्रकार कहलाया—

"प्रिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुंआ हम लाग॥"

फागुनी उल्लास ने भू-नभ सब में नवजीवन भर दिया। चतुर्दिक केलि-क्रीड़ाएँ होने लगीं पर नागमती की दशा और ही थी—

"तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा॥
तरिवर झरहिं-झरहिं बन ढाखा। भइ ओनंत फूल फरि साखा॥
करहिं बनस्पति हिये हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू॥
फागु करहिं सब चांचरि चोरी। मोहिं तन लाइ दीन्ह जस होरी॥
राति दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत अब तोरे॥
यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जँह पांव॥"

कितनी गहरी व्यथा और पति प्रेम की एक निष्ठा है। इसी प्रकार बारहों मास रानी के दुख की उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहे। धीरे-धीरे वह दशा भी आ पहुँची जब वह राजमहल छोड़ वन-उपवन में भटकने लगी। पति वियोग में बावली रानी नागमती को अपने

रानीपन की सुधि न रही और वह सामान्य विरहिणी नारी की भाँति बिलख-बिलख कर अपना तन मन भस्म करने लगी। जगत-माता सीता के खो जाने पर जिस प्रकार भगवान राम एक सामान्य मानव की भाँति बावले हो बन के खग-मृग और मधुकर स्रेनी से उनका पता पूछते फिरे थे (हे खग, मृग, हे मधुकरस्रेनी ! तुम देखी सीता मृगनयनी ?) उसी प्रकार नागमती पति-वियोग में बावली हो बन के सभी पशु-पक्षियों और जीव-जंतुओं से अपना विरह-निवेदन करती फिरने लगी। सारी सृष्टि उसके आँसुओं से भीग गई और हर एक पशु-पक्षी का हृदय उसकी व्यथा से द्रवित हो उठा। वियोगाग्नि की भीषणता का अन्त न था :—

"जेहि पंखी के निअर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥"

आकाश को कंपा देने वाले उसके विलाप से घोंसलों के बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई—

"फिर-फिर रोव, कोइ नहिं डोला। आधी रात विहंगम बोला॥
तू फिर-फिरि दाहै पांखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥"

दुर्भाग्य की निविड़-निशा में, पक्षी द्वारा दया और सहानुभूति के इन शब्दों को सुन नागमती ने अपनत्व के भाव से कहा:—

"चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा टेक।
कहौं विरह-दुख आपन, बैठि सुनहु दंड एक॥"

पक्षी सन्देशा ले जाने को तैयार हो जाता है। अब मान, गर्व आदि से रहित, सुख भोग की लालसा से अलग और नम्र, शीतल तथा विशुद्ध प्रेम के प्रतिबिम्ब से आलोकित पति-परायणा का सन्देश सुनिए :—

"पद्मावति सौं कहेउ, विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मों कँह हिए दुंद दुख-पूरा॥
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ॥
मोंहि भोग सो काज न, बारी। सौंह दिस्टि कै चाहन हारी॥"

कितनी मृत भावना है और साथ ही कितने सरल उद्‌गार हैं। एक स्त्री के हृदय की व्यथा को दूसरी स्त्री ही समझ सकती है इसीलिए नागमती ने पद्मावती के पास सन्देश भेजा। रत्नसेन को अपना सन्देश तथा दुःख का एक शब्द भी नहीं भेजा। हाँ, रत्न-सेन की माता की व्यथा अवश्य उस पक्षी से कही। यहाँ हम देखते हैं कि उसके दृढ़ प्रेम और गहरी आस्था के साथ-साथ स्त्रीजन्य मान का अभिमान भी कवि ने सुरक्षित रक्खा है। दग्ध होकर भी नागमती प्रिय को अपनी अवस्था से दुःखी नहीं करना चाहती। पति की सुख शान्ति की भावना के लिए एक भारतीय आदर्श हिन्दू रमणी की सी प्रेम पवित्रता है।

नागमती का विरह भारतीय नारी का विरह है। इसीलिए उसमें उपेक्षित गाम्भीर्य

है। जहाँ कहीं कवि पर फारसी प्रभाव अधिक आ पड़ा है वहाँ कुछ वीभत्सता अवश्य आ गयी है पर उससे नागमती के मूल-विरह-प्रसङ्ग पर कोई आघात नहीं पहुँचता। नागमती की व्यथा का जो विषद और सजीव चित्र कवि ने उपस्थित किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नारी की संवेदना अपनी सीमा छू रही है और हृदय के वेग की व्यंजना उत्कर्ष पर है।

प्रकृति के परिवर्तन में मानवीय भावनाओं का आरोपकर कवि ने उसके प्रति अपनी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का परिचय दिया है। बारहमासे के वर्णन में उसकी इस विलक्षण प्रतिभा का स्पष्ट बोध होता है। उसमें विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यंजना को प्रकट करने में कवि को अधिकाधिक सफलता मिली है। विरह वर्णन में कवि का सदैव यह प्रयत्न रहा है कि विरह-ताप की मात्रा को न प्रकट कर वह संवेदना ही अधिक प्रकट करे। कवि के इस प्रयत्न ने ही उसके वर्णन को अतिशयोक्ति और उदात्मकता के भारी अपराध से कुछ मुक्ति दिला दी है।

नागमती के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता नागमती का अपने रानीपन को भूल सामन्य नारी की भाँति विरह-व्यथित हो अपने हृदयोद्गारों को प्रगट करना है। रानी के इस स्वरूप को प्रस्तुत करने में कवि की भावुकता अपनी चरम-सीमा का स्पर्श करती है और उसकी काव्य-कला में एक नवीन आकर्षण आता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि **'जायसी ने स्त्री जाति की या कम से कम हिन्दू गृहिणी मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलंभ शृङ्गार के अत्यन्त समुज्ज्वल रूप का विकास दिखाया है।"** नागमती के विरह व्यथित वाक्य प्रत्येक पाठक के हृदय को वेध जाते हैं। उसकी व्यथा के प्रति मानव ही नहीं सभी पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं के भी हृदय में करुणा का अपार समुद्र उमड़ आता है। सारी सृष्टि ही उसके आँसुओं से भीग उठती है। यह सामान्य लेखक के वश की बात नहीं। जायसी ऐसे भावुक और महाकवि की सशक्त लेखनी से ही ऐसे स्थल प्रादुर्भूत हो सके।

यही सब विशेषताएँ हैं जिनके कारण नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय बन गया है। पद्मावत का तो वह प्राण-बिन्दु ही है। जायसी के हृदय की कोमलता और चरम-संवेदन शक्ति का सच्चा परिचय हमें नहीं मिल पाता यदि उन्होंने नागमती के इस अद्वितीय विरह-वर्णन का सृजन न किया होता।

चूंकि सारी सूफी साधना उस परम प्रियतम के विरह की साधना है, इसलिए सम्पूर्ण सूफी साहित्य में उसी का स्वर प्रधान है। पद्मावत काव्य का सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूरे काव्य में विरह तत्व ही प्रमुख होकर बोल रहा है। रत्नसेन रूपी जीवात्मा पद्मावती रूपी ब्रह्म अथवा बुद्धि के विरह में तड़पती हुई चित्रित की गई है। गुरु रूपी सुआ के द्वारा उसके विरह यज्ञ में ज्ञान की आहुति पड़ती है जिससे तड़पन-शिखा प्रज्वलित होती है। पद्मावती को प्राप्त कर लेने के उपरांत रत्नसेन उसके संयोग का पूर्ण सुखोपभोग भी नहीं कर पाता कि तब तक कवि नागमती के अगाध विरह-सागर की गाथा छेड़ बैठता है। फलतः विवश होकर रत्नसेन को

पद्मावती सहित सचिन्त मष्तिष्क से चित्तौड़ लौटना पड़ता है। सिंहलगढ़ से चित्तौड़ लौटते समय मार्ग में रत्नसेन का जहाज राक्षस द्वारा तूफान में डाल दिया जाता है जहाँ पद्मावती और रत्नसेन का विछोह हो जाता है। जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। बड़ी कठिनाइयों के उपरांत समुद्र की कन्या लक्ष्मी की कथा के साथ कवि दोनों का पुर्नमिलन कराता है। समुद्र से पाँच रत्न प्राप्त कर रत्नसेन और पद्मावती चित्तौड़ पहुँचते हैं। कुछ दिनों के उपरान्त ही राघवचेतन का निकाला होता है, वह अलाउद्दीन के दरबार में जाकर पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य का बखान करता है। रूप का लोभी अलाउद्दीन उसके उकसाने से चित्तौड़ पर आक्रमण कर देता है। काफी लम्बा संघर्ष चलता है। रत्नसेन बन्दी होता है, पद्मावती तथा गोरा बादल के बुद्धि-कौशल से वह पुनः छूटता है। अन्त में देवपाल से युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु होती है और दोनों रानियाँ उसके शव के साथ सती हो जाती हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को पढ़ने के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

१—पद्मावती रूपी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए सभी बेचैन हैं। समस्त जड़-चेतन की विरह-व्यथा में रत्नसेन के वियोग को कवि ने प्रखरता प्रदान की है। रत्नसेन और पद्मावती ही इस विस्तृत विरह कथा के केन्द्र बिन्दु हैं।

२—नागमती के विरह के आँसुओं से पद्मावत की आत्मा भीगी हुई है।

३—भारतीय सांस्कृतिक बिन्दु जो नागमती के माध्यम से काव्य में चित्रित हुआ है, विरह की स्याही से ही लिखा गया है।

४—प्रकृति का विरह व्यथित रूप ही काव्य में प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है। संयोगकालीन प्रकृति उतने व्यापक, विशद तथा सजीव रूप में चित्रित नहीं हुई है जितने विशद रूप में विरहकालीन प्रकृति।

५—काव्य के अत्यंत मार्मिक और अधिकाधिक संवेदनशील स्थल विरह के प्रसंग ही हैं जिनके द्वारा काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

६—पद्मावत के शब्द-शब्द, प्रत्येक घटना और वर्णन में जायसी का विरहाकुल हृदय डोलता नजर आता है यही कारण है कि संयोग के स्थल बहुत कम हैं और जो हैं भी उनमें कवि का हृदय पूर्णतः नहीं रम सका है।

७—विरह के वर्णन जायसी ने बड़ी ही सावधानी, लगन और एक निष्ठा के साथ किये हैं।

८—पद्मावत की मूल कथा का आरम्भ विरह से होता है और उत्कर्ष तथा अन्त भी विरह में ही हुआ है।

९—पद्मावत में वियोग शृङ्गार की प्रधानता है और इसी का काव्य में पूर्ण परिपाक भी हुआ है। अस्तु काव्य का मूल रस वियोग शृङ्गार (विरह) ही कहा जायगा।

१०—सम्पूर्ण काव्य को पढ़ने के बाद एक ऐसी शान्ति का अनुभव होता है जो

दर्द, तड़प, टीस और आकुलता आदि उपकरणों से निर्मित हुई है। एक वाक्य में इसे यों कहा जा सकता है कि पद्मावत काव्य विरह-काव्य है।

इतना स्पष्ट हो जाने के उपरांत अब हमें यह देखना है कि पद्मावत के विरही-स्वरूप (विरह-तत्व) को उसकी आध्यात्मिकता ने कहीं विकृत तो नहीं किया है।

इस दृष्टि से पद्मावत पर जब विचार करते हैं तो हमें यह कहना पड़ता है कि पद्मावत की आध्यात्मिकता ने उसके विरही स्वरूप (अर्थात् शुद्ध विरह-काव्य-तत्व) को निश्चय ही विकृत कर दिया है। यदि कवि ने पद्मावत को अपनी आध्यात्मिकता के प्रचार का माध्यम न बनाया होता तो काव्य का स्वरूप और भी निखरा होता, सरसता बढ़ी होती और काव्य-सिद्धांतों की अधिकाधिक रक्षा हुई होती। परन्तु दुःख है कि कवि ने वैसा नहीं किया (करता भी वैसे, क्योंकि उसके काव्य-प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य ही आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार था) परिणामस्वरूप काव्य के प्रवाह में बड़ा विघ्न पड़ता है, उसकी प्रगति और विकास में व्याघात पहुँचा है। कथा बोझिल सी लगती है, अभि-व्यक्ति में शैथिल्य आ गया है और साथ ही साथ स्वाभाविकता को भी भारी चोट पहुँची है। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ काव्य के साथ कवि की आध्यात्मिकता का मेल नहीं हो सका है जिससे कथा प्रवाह में जो बाधा पड़ी है वह तो पड़ी ही है, काव्य-सौन्दर्य में पर्याप्त विकृति आ गई है। वहाँ कला का रूप निखर नहीं सका है। पाठक ऐसे स्थलों पर एक विचित्र खीझ और नीरसता का अनुभव करता है। योग और रसायन के वर्णनों में तो यह स्थिति प्रायः सभी स्थानों पर आई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की आध्यात्मि-कता के दुराग्रह से उसके कवित्व को भारी क्षति पहुँची है। धर्मान्धता ने भले ही कवि को अपनी इस कमजोरी की ओर ध्यान न देने दिया हो परन्तु सामान्य पाठक तथा जिज्ञा-सुओं को यह कमी सदैव खटकेगी।

अन्त में निष्कर्ष और सारांश रूप में अब हम यह कहेंगे कि पद्मावत एक विरह काव्य है परन्तु उसके प्रणेता के आध्यात्मिक दुराग्रह ने काव्य सौन्दर्य को भारी क्षति पहुँ-चाई है, उसका वास्तविक स्वरूप विकृत हो गया है।

: ८ :

पद्मावत में प्रतिष्ठित प्रेम-पद्धति

जायसी ने अपने पद्मावत के अन्त में लिखा है—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह कछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ-धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥
तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहि।
जेहि मँह मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि॥"

अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय-कथा साधारण मानवीय-प्रेम कथा न होकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है। जीवात्मा रूप रत्नसेन, ब्रह्मरूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन कष्टों का सामना करता है वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयाँ हैं। सिद्धि को प्राप्त करने के हेतु इन सभी विषय-स्थलों से प्रत्येक सूफी साधक को गुजरना पड़ता है। सूफी-साधना में जगत और प्रकृति का बहिष्कार नहीं हुआ है वरन् उसके कण-कण में ब्रह्म के अपरिमित सौन्दर्य का दर्शन किया गया है। जीवन और जगत का सौन्दर्य उस परमब्रह्म का सौन्दर्य है। तात्पर्य यह कि लौकिक सौंदर्य के माध्यम से ही पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन समस्त सूफी साधकों और कवियों का अभिप्रेत रहा है। जायसी उन सभी कलाकारों के सिरमौर हैं। उनका पद्मावत इस तथ्य का जीता-जगता प्रमाण है।

ग्रंथ-नायिका पद्मावती के अपरिमत सौन्दर्य में जायसी ने उस परम प्रियतम के अपरिमित सौन्दर्य के दर्शन किए हैं और उसकी विशालता, व्यापकता तथा गम्भीरता का बड़ा ही चमत्कारिक और हृदयस्पर्शी उद्घाटन किया है। पद्मावती का चरम सौन्दर्य वर्णनात्मक और भावनात्मक दोनों रूपों में चित्रित हुआ है। वैसे तो सम्पूर्ण पद्मावत में उसकी छटा विद्यमान है किन्तु दो स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१—चित्तौड़-दरबार में तोते द्वारा राजा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के रूप-सौन्दर्य (नखशिख-शिखनख) का प्रभावशाली वर्णन और—

२—दिल्ली-दरबार में राघवचेतन द्वारा अलाउद्दीन के सम्मुख उसके (पद्मावती) रूप-सौन्दर्य का मनोमुग्धकारी वर्णन।

ग्रंथ का यह अपूर्व-रूप-सौन्दर्य-वर्णन ही प्रेम-कथा का मूलाधार है। तोते द्वारा पद्मावती के मादक-रूप का वर्णन सुनकर ही रत्नसेन उसकी प्राप्ति के लिए लालायित है और उसकी यह लालसा धीरे-धीरे पूर्व राग—तथा परिपक्व प्रेम में परिणत हो जाती है। यदि तोते ने रत्नसेन के सम्मुख, पद्मावती के अपरिमित सौन्दर्य का उद्‌घाटन न किया होता तो शायद इस प्रेम-कथा का श्रीगणेश ही न हो पाता। सभी सूफी-काव्यों में इस परम्परा का मसनवी शैली के आधार पर निर्वाह हुआ है। जायसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी सूफी-काव्य इसके प्रमाण हैं। अस्तु, जायसी ने भी अन्य सूफी कवियों की भाँति इस रूप-सौन्दर्य को अपनी प्रेम-कथा का आधार बनाया। आइए अब इस लौकिक रूप-सौन्दर्य वर्णन के माध्यम से उस पारलौकिक-सौन्दर्य अथवा प्रेम की मनहर झाँकी का रसास्वादन करें। अमर प्रेम के सन्देश-वाहक जायसी की कुशल लेखनी से रूप और प्रेम का जो चित्र उतरा है वह सर्वथा श्लाघनीय है।

पद्मावती सखियों सहित मानसरोवर पर स्नान करने पहुँची। वहाँ वह उनके साथ केलि करने लगी, तब सखियाँ उससे नैहर-सुख एवं प्रेम का महत्व बतलाती हुई कहती हैं—

"ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम, कित यह सरवर-पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथ। कित मिलि कै खेलब एक साथ॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं॥
पिउ पियार सब ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निवाह॥"

इस छन्छ में जायसी आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत करते हैं। नैहर से उनका तात्पर्य इस संसार से है। यहाँ संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद और प्रमोद के साधन हैं, पर अन्त में उस पार अवश्य जाना है जहाँ प्रियतम परमेश्वर हैं। उस लोक में पता नहीं कैसी बीतेगी। सास ननद के कटु वचन से तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों अवगुणों की ही आलोचना होगी। मुसलमानों के मत से पुनर्जन्म नहीं होता, इसीसे जायसी लिखते हैं **"दारुण-ससुर न आवै देहीं।"** अन्तिम दोहे में अपने प्रेम-पंथ की झलक भी उन्होंने एक ही शब्द **"पिउ-पियार"** में दे दी है। सूफी प्रेम में सुख और आनन्द की उतनी कल्पना नहीं है जितनी पीड़ा की, इसलिए वे कहते हैं कि सबसे अधिक तो प्रियतम का प्यार है जिसकी उलझनें और आशंकाएँ अनुमानित नहीं हो सकतीं। कबीर ने भी इस लोक को नैहर और परलोक को ससुराल कहा है।[1]

---

१. **जयसी ग्रन्थावली सटीक—डा० मनमोहन गौतम**

"खेलि लेइ नैहर दिन चारी।
पहिलो पठौनो तीनि जन आये, नाऊ, ब्राह्मण बारी।।
दुसरो पठौनी पिय आपुहि आये, डोली, बाँस, कहारी।।
धरि बहियां डुलियां बैठावें, कोउ न लगत मोहारी।।
अब कर जाना बहुरि न अवना, इहै भेंट अंकवारी।।

—(कबीर)

तालाब-तट पर खड़ी पद्मावती का सौन्दर्य देखिए—

"सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।।
ससि मुख अंग मलयगिरि वासा। नागिनि झांप लीन्ह चहुँपासा।।
ओनई छटा परी जग छांहां। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां।।
छपिगै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चांद परगसा।।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा मँह चँद देखावा।।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौंहें धनुष गगन लेइ राखी।।
नैन खँजन दुइ केलि करेंही। कुच-नारंग मधुकर रस लेंही।।
सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहिं लेइ।
पांव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ।।"

सरवर का रूप-विमुग्ध हो हिय में हिलोरे लेना देख सूर के बसुदेव द्वारा कृष्ण को ले जाते समय यमुना का उन पावन-चरणों के स्पर्श के लिए तरंगाकुल होना याद आ जाता है।

सखियों सहित स्नान करते समय पद्मावती—

"नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग-हीर।।"

तोते द्वारा पद्मावती के रूप वर्णन (नख-शिख) की एक झाँकी देखिए—

"भँवर केस वह मालति रानी। विसहर लुरहि लेंहि अरघानी।।
बेनी छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा।।
कोंवल कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअँग विसारे।।
बेधे जानि मलयगिरि वासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँपासा।।
घरवारि अलकें विष भरी। सिकरीं पेम चहैं गिह परी।।
अस फँदवारे केस वै, परा सीस गिउ फांद।।
अस्तौ कुरी नाग सब, अरुझ केस कै बांध।।"

× × ×

"वरुनी का वरनौ इमि बनी। साधे बान जानु दुइ हनी।।
उन बानन्ह अस को जो न मारा? बेधि रहा सगरौ संसारा।।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने।।

धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े ॥
बरुनि-बान अस ओपँह, बेधे रन-बन-ढांख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पांख ॥"

× × ×

"जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जँह जँह बिहँसि सुभावहि हँसी। तँह-तँह छिटकि जोति परगसी ॥
दामिनि दमक न सरवर पूजा। पुनि वह जोति और को दूजा ॥
बिहँसत हसत दसन तस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिवं सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥"

ऐसे विशद सौन्दर्य वर्णन के उपरान्त फिर क्या होता है कि—

"सुनतहिं राजा गा मुरझाई। जानहु लहर सुरुज कै आई ॥
प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै तै सोई ॥
परा सो प्रेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसभारा ॥
बिरह-भौंर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीउ हिलोरा लेई ॥
कठिन मरन ते पेम-बेवस्था। ना जिउ जियै, न दसवँ अवस्था ॥
जनु लेनिहार न लेहिं जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।
एतनै बोल आव मुख, करै "तराहि-तराहि" ॥"

—(प्रेम खण्ड)

× × ×

"सुए कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा ॥
तुम राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा ॥
साधन्ह सिद्ध न पाइअ, जौ लहि साध तप्प।
सोइ जानहि बापुरे, जो सिर करहिं कलप्प ॥"

× × ×

"तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरे घटहिं माँह दस पंथा ॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पांचौं चोर न छाड़हिं काया ॥
नव सेधें ओहि घर मझिआरा। घर मूसहिं निसि कै उजियारा ॥
अबहू जागु अयाने, होत आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागहिं मूसि जांहि जब चोर ॥"

× × ×

"सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार पेम चित लागा ॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा ॥

हिए की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधियार भा बूझा ॥
उलटि दिस्टि माया सों रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी ॥
जो पै नाहीं अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा ॥
गुरू विरह चिनगी पै मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥
अब कै फनिग भृङ्गि कै करा। भँवर होहि जेहि कारन जरा ॥
फूल फूल फिर पूछौं, जौं पहुँचौं ओहि खेत।
तन नेवछावर कै मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत ॥"

—(प्रेम खण्ड)

× × ×

"तजा राज, राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहे वियोगी ॥
तन विसँभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥"

—(जोगी खण्ड)

बीहड़ मार्ग के अनेक संकटों और कष्टों को पार कर राजा सिंहलगढ़ पहुँच गया। और तब—

"पूछा राजा कहु गुरु सूआ। न जानौं आजु कहाँ दिन ऊवा ॥
पवन वास सीतल लै आवा। कया दहत जनु चंदन लावा ॥
कबहुं न अंस जुड़ान सरीरू। परा अगिनि महँ मलै समीरू ॥
निकसत आव किरिन रवि रेखा। तिमिर गए जग निरमर देखा ॥
उठे मेघ अस जानहु आगें। चमकै बीजु गगन पर लागें ॥
तेहि ऊपर जस ससि परगासू। औ सो कचप चिन्ह भएउ गरासू ॥
और नखत चहुं दिसि उजियारे। ठांवहि ठांव दीप अस बारे ॥
औरु दछिन दिसि निअरें, कंचन मेरु देखाव।
जस बसंत रितु आवै, तस बाग जस पाव ॥"

योग मार्ग में सिद्धि प्राप्ति के पूर्व आनन्द का आविर्भाव होता है, अनहद नाद सुनाई पड़ता है, ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र दिखाई पड़ता है, सारे वातावरण में दैवी सुगन्ध आती है। कबीर ने इसी स्थिति का निरुपण इस प्रकार किया है—

"गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहर गम्भीर।
चहुं दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥"

उसी उल्लासमय स्थिति का निरूपण जायसी ने उक्त पद में किया है।[1]

रत्नसेन को यहीं छोड़ दीजिए और आइए अब पद्मावती के पास चलें।

राजा के योग का अप्रत्यक्ष प्रभाव पद्मावती पर पड़ रहा है। वह उसके प्रेमवश हो गयी और उसे वियोग सताने लगा। रात्रि में उसे नींद नहीं लगती, शय्या काटने दौड़ती

---

1. जायसी ग्रन्थावली सटीक—डा० मनमोहन गौतम

है। शीतलता प्रदायक चन्द्रमा, चंदन आदि उसे अंगार से लगते हैं। वह गंभीर विरह में जलने लगती है। रात कल्प के समान बड़ी मालूम पड़ती है। क्षण-क्षण का समय युग-युग के समान बड़ी कठिनाई से कटता है। जब रात नहीं कटती तो वीणा ले लेती है कि शायद संगीत में रात कट जाय, पर वीणा का स्वर सुनकर चन्द्रमा का वाहन मृग स्वर पर मुग्ध होकर ठहर जाता है इस प्रकार रात का बीतना और कठिन हो जाता है—

"गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि वाहन तब रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंह उरे है लागै। ऐसी बिथा रैनि सब जागै॥
कहा सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घिरिन परेवा॥
सो धनि विरह पतंग होइ, जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृङ्गि होइ, को चंदन तन लीप॥"

सूरदास ने भी इसी प्रकार राधा की आकुलता के वर्णन क्रम में लिखा है—

"दूर करहु वीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को हरिबो॥"

पद्मावती की यह अवस्था देख उसकी धाय समझाती है—

"जब लगि पिउ न मिलै तोहि, साधु पेम कै पीर।
जैसे सीप सेवाति कँह, तपै समुद मँझ नीर॥"

यहाँ जायसी ने सूफी मतानुसार प्रिय मिलन से पूर्व प्रेम की पीर का संकेत किया है।

इसी बीच सुआ पहुँच जाता है और उसके प्रति रत्नसेन की गम्भीर आसक्ति का विशद वर्णन करता है। रत्नसेन की अनुरक्ति और उसके संकटों का विवरण सुन पद्मावती का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह उसके प्रेम में विभोर हो उठती है।

"सुनि कै विरह चिनगि ओहि परी। रतन पाव जौ कंचन करी॥

× × ×

हीरामन जौ कही रस बाता। सुनि कै रतन पदारथ राता॥

पद्मावती को सब समझा बुझा हीरामन पुनः रत्नसेन के पास लौटता है—

आवा सुआ बैठ जँह जोगी। मारग नैन वियोग वियोगी॥
आइ पेम रस कहा संदेसू। गोरख मिला मिला उपदेसू॥
तुम्ह कँह गुरु मया बहु कीन्हा। लीन्ह अदेस आदि कँह दीन्हा॥
सबद एक होइ कहा अकेला। गुरु जस भृङ्गि फनिग जस चेला॥
भृङ्गि ओहि पंखिहि पै लेई। एकहि बार छुए जिउ देई॥
ताकँह गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ नै काया॥
होइ अमर अस मरि कै जीया। भँवर कमल मिलि कै मधु पीया॥
आवै रितू बसंत जब, तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोग जो इमि करहिं, सिद्धि समापति तासु॥"

इस प्रकार कथा आगे बढ़ती है। अनेक लड़ाई झगड़े और वादविवाद के उपरान्त दोनों का विवाह होता है और फिर बंधन मुक्त हो दोनों मिलते हैं। देखिए प्रथम समागम के अवसर पर पद्मावती के मुँह से कैसे व्यंग गर्भित वाक्य जायसी ने कहलवाये हैं—

"मानचिन्ह पिउ काँपौं मन माँहा। का मैं कहब गहब जो बाहाँ॥
बारि बंस गहै प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब न कछु मैं चेता। नेह न जानौ साम कि सेता॥
अब सो कंत जो पूँछहि बाता। कस मुख होइहि पीत कि राता॥"

इसी प्रकार पद्मावती के विदाई के समय का दृश्य देखिए—

"रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जो कंत चलाई॥
भरी सखी सब भेंटत फेरा। अंत कंत सौं भएउ गुरेरा॥
कोउ काहू कर नाहि नियाना। माया मोह बंधा अरुझाना॥
जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन औगुन दोऊ॥"

सिंहल से चित्तौड़ जाते समय समुद्र में राक्षस और लक्ष्मी की कथा के प्रसंग में अनेक ऐसे मार्मिक स्थल आये हैं जो आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट झलक देते हैं। चित्तौड़ के अल्पकालीन निवास के उपरान्त ही राघवचेतन का निष्कासन और दिल्ली दरबार में उसका रूप वर्णन करना, अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण व सन्धि आदि के प्रसंग भी इस दिशा में हमारे सहायक हैं।

दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब, अलाउद्दीन द्वारा देखे जाने का दृश्य देखिए—

"विहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी॥
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥
राजा भेदु न जानै झाँपा। भँविख नारि पवन बिनु काँपा॥"

इसी प्रकार रत्नसेन के दिल्ली में कैद रहने पर पद्मावती का विलाप भी पठनीय है—

"सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहि पूछहुँ को कहै सँदेसू॥
जो कोइ जाइ तहाँ कर होइ। जो आवै कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गवउ सो बहुरि न आवा॥"

अलाउद्दीन तथा देवपाल की दूती और पद्मावती के प्रसंग में प्रेम की बड़ी गंभीर व्यंजना जायसी ने प्रस्तुत की है। उन्हें जहाँ कहीं भी अवसर मिला है पारलौकिक प्रेम का संकेत करने में नहीं चूके हैं। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है, **"एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर अध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है। क्या संयोग, क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है जगत के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं।"**

पद्मावती और रत्नसेन के लौकिक प्रेम की सिद्धि का मार्ग बताते हुए जायसी

ने जीव और ब्रह्म के चिरन्तन मिलन का मार्ग स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। सूफी मत की शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत चारों अवस्थाओं की ओर संकेत करना भी वे नहीं भूले हैं—

"चारि बसेरे जो पढ़ै सतसों उतरै पार।"

इस प्रकार उन्होंने योगमार्ग की साधना का सहारा लेकर अपने ग्रंथ को एक अन्योक्ति काव्य बना दिया है। वर्णित प्रेम-कथा के बीच-बीच में अनेक स्थानों पर संसार की नश्वरता, शरीर की क्षणभंगुरता, साधना की जटिलता तथा प्रेम की सर्वश्रेष्ठता आदि की ओर संकेत करते रहे हैं। लौकिक प्रेम कथा तो उनके आध्यात्मिक विचारों के प्रकट करने का एक माध्यम मात्र थी। सारी प्रेम-कथा आध्यात्मिक संकेतों से भरी हुई है। भले ही वर्णन कसौटी पर सर्वत्र खरी न उतरती हो परन्तु कवि की रुझान प्रमुख रूप से उधर ही थी इसे तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अब हम कतिपय ऐसे स्थलों के उद्धरण मात्र देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं।

"विरह के आगि सूर जरि काँपा। रातिउ दिवस जरै ओहि तापा।"

× × ×

"परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोंहि पाव न पाँख॥"

× × ×

"पिउ हिरदय मँह भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि सोई॥"

× × ×

"करि सिंगार तापर का जाऊँ? ओहि देखहुँ ठावँहि ठाऊँ॥
जौ जिउ मँह तौ उहै पियारा। तन मन सो नहिं होइ निनारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौ तहाँ नाहिं कोउ आना॥"

× × ×

"हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन मँह, तुम अपने घर जाहु॥"

× × ×

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि छूटी॥
'अस्ति-अस्ति' सब साथी बोले। अंध जो अहे, नैन निज खोले॥"

× × ×

"ओहि मिलान जो पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा। विसय हार, अगम सुठि घाटा॥
बिच-बिच नदी खोह औ नारा। ठाँवहि ठाँह बैठ बटमारा॥"

× × ×

"गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे । जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा । औ तँह फिरहिं पांच कोतवारा ॥
दसँव दुआर गुपत एक ताका । अगम चढ़ाव, बाट सुठि बांका ॥
भेदै जाइ कोइ वह घाटी । जो लह भेद चढ़ै होइ चांटी ॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माँहा । तहं वह पंथ, कहौं तोहि पाँहा ॥
दसँव दुआर ताल कै लेखा । उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥"

× × ×

अन्तिम उद्धरण सिंहल की हाट का देखिए—

"जिन्ह एहि हाट न लीन्ह वेसाहा । ता कँह आन हाट कित लाहा ?
कोई करै वेसाहनी, काहू केर बिकाइ ।
कोइ चलै लाभ सों, कोई मूर गँवाइ ॥"

निष्कर्ष रूप में अब हम यह कहेंगे कि लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की गंभीर-व्यंजना ही जायसी का मुख्य उद्देश्य है ।

: ६ :

जायसी का रूप-वर्णन

पद्मिनी जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' की नायिका और उनके सूफी धर्मानुसार ब्रह्म की लौकिक प्रतीक है। उसके सौन्दर्य वर्णन के माध्यम से उन्होंने उस चिरंतन महा-ज्योति के अपरिमित सौन्दर्य का वर्णन किया है। वस्तुतः रूप सौन्दर्य वर्णन ही पद्मावत की कथा का मूलाधार है। अस्तु जायसी ने पद्मावती के रूप का बहुत ही विशद वर्णन उप-स्थित किया है। अब हमें यह देखना है कि उनके रूप वर्णन के वे कौन-कौन से आकर्षण-बिन्दु हैं जिन्हें देखते ही पाठक की दृष्टि सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न हो जाती है।

'पद्मावत' में रूप-सौन्दर्य वर्णन की योजना आठ स्थलों पर की गई है। उनमें से भी दो स्थलों पर अलौकिक सौन्दर्य समन्वित, पद्मावती के स्त्री रूप का वर्णन विशेष उल्लास और उत्साह से किया गया है। वे दोनों प्रमुख स्थल निम्न हैं—

१—तोते द्वारा राजा रत्नसेन के सम्मुख।

२—राघव चेतन द्वारा बादशाह अलाउद्दीन के सम्मुख।

दोनों वर्णन नखशिख प्रणाली पर हैं। (यद्यपि फारसी शैली से प्रभावित होने के नाते जायसी ने उसे शिख-नख रूप में उपस्थित किया है। अंग-प्रत्यगों के वर्णन के लिए प्रमुखतः सादृश्य मूलक उपमानों का विधान किया गया है। अधिकतर उपमान परम्परा प्रचलित ही हैं। हाँ, कुछ उपमान फारसी साहित्य के प्रभाव से भी आ गए हैं और कुछ लोक गृहीत तथा कुछ नवीन मौलिक उपमान हैं।

पद्मिनी के सौन्दर्य को कवि ने दिव्य-सौन्दर्य के रूप में देखा है। इसी नाते गर्भ-काल से ही उस अलौकिक-सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करने में वह सतर्क है। कवि का संकेत देखिए :—

"प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई॥
पुनि वह ज्योति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई॥
जस औधान पूर होइ तासू। दिन-दिन हिए होइ परगासू॥
जस कंवल झीने मँह दीया। तस उजियार दिखावै हीया॥"

—(जन्म खण्ड)

दिव्य-सौन्दर्यशालिनी का जन्म हो गया :—

"भए दस मास पूरि भे घरी। पद्मावति कन्या औतरी॥

जानहु सुरुज किरन हुति काढ़ी। सूरज करा घाटि वह बाढ़ी ॥
भा निसि मांह दिन कै परगासू। सब उजियार भएउ कवि लासू ॥
अते रूप भइ कन्या, जेहि सरि पूज न कोई ॥"

अलौकिक-रूपा पद्मावति के रूप-वर्णन के निम्नलिखित आकर्षण-बिन्दु विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(अ) पद्मावती का पारस रूप।
(ब) रूप सौन्दर्य का सृष्टि-व्यापी प्रभाव तथा लोकोत्तर-कल्पना।
(स) अप्रस्तुत-विधान।
(द) यौवन-भार-भरिता पद्मिनी का नख-शिख।
(य) रूप-सौन्दर्य के उपमान।
(फ) उपमान-रूपों का सौन्दर्य।

(**अ**) पद्मावती रूप को कवि ने पारस-रूप की संज्ञा दी है। उस पारस-रूप की चर्चा 'पद्मावत' में स्थान-स्थान पर आई है। मानसरोवर खण्ड की अन्तिम पंक्तियों में पद्मावती के पारस-रूप की व्यंजना देखिए:—

"कहा मानसर चाह सो पाई। पारस-रूप इहां लगि आई ॥
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप, रूप के दरसे ॥
मलय समीर बास तन आई। भा शीतल गै तपनि बुझाई ॥
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहि रूप जहां जो देखा ॥
पाए रूप, रूप जस चाहा। शशि मुख सब दरपन होइ रहा ॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर ॥"

"पद्मावती के हँसते ही चन्द्र किरण सी आभा फूटी, इससे सरोवर के कुमुद खिल उठे। यहीं तक नहीं, उसके चन्द्रमुख के सामने वह सारा सरोवर दर्पण सा हो उठा अर्थात् उसमें जो-जो सुन्दर वस्तुएं दिखाई पड़ती थीं वे सब मानों उसी के अंगों की छाया थीं। सरोवर में चारों ओर जो कमल दिखाई पड़ रहे थे उसके नेत्रों के प्रतिबिम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दिखाई पड़ रहा था वह उसके स्वच्छ निर्मल शरीर के प्रतिबिम्ब के कारण। उसके हास की शुभ्र कांति की छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखाई पड़ते थे और उस सरोवर में (जिसे जायसी ने एक झील या छोटा समुद्र माना है) जो हीरे थे उसके दशनों की उज्ज्वल दीप्ति से उत्पन्न हो गए थे। पद्मावती का रूप वर्णन करते-करते किस सौंदर्य सत्ता की ओर कवि की दृष्टि जा पड़ी है। जिसकी भावना संसार के सारे रूपों को मॅदती हुई उस मूल सौंदर्य सत्ता का कुछ आभास पा चुकी है वह सृष्टि के सारे सुन्दर पदार्थों में उसी का प्रतिबिम्ब देखता है।"[1]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका भाग—रामचन्द्र शुक्ल

जायसी की इन्हीं पंक्तियों की प्रशंसा करते हुए प्रो० शिवसहाय पाठक लिखते हैं, **"वह है पद्मावती के पारस रूप का लोकोत्तर-सृष्टि व्यापी प्रभाव। जिस प्रकार पारस-पत्थर के स्पर्शमात्र से कुधातु स्वर्ण बन जाती है उसी प्रकार पद्मावती का 'पारस रूप' समस्त सृष्टि को अपने रंग में रंग सकता है। उसी के आलोक से समग्र संसृति आलोकित है। पारस रूप वाली पद्मावती सरोवर के पास तक चली आई तब सरोवर उन चरणों के स्पर्श करने से निरमल हो गया। 'पावा रूप-रूप के परसे' उस पारस रूप के दर्शन मात्र से सरोवर रूपवान् हो गया। उसकी चन्द्रकला को देखकर कुमुद विकस गए आदि।"**

इसी प्रकार कवि ने राजा-सुआ संवाद खण्ड में भी पद्मावती के 'पारस रूप' के सृष्टि व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है।

"सुनि रवि नाव रतन भा राता। पंडित फेरि उहै कहु बाता।।
तीन लोक चौदह खंड सबहि परै मोंहि सूझि।
प्रेम छांड़ि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि।।"

नीचे की पंक्तियों में, लिलाट कांति के माध्यम से लोकोत्तर तथा सृष्टि व्यापी ज्योति का वर्णन देखिए:—

"पारस जोति लिलार्टाहि ओती। दृष्टि जो करै होय तेहि जोती।।
ससि औ र सूर जो निरमल, तेहि लिलाट के ओप।
निसि दिन दौरि न पूजहि, पुनि-पुनि होंहि अलोप।"

अलाउद्दीन जैसे अधम पात्र को भी दर्पण द्वारा उस पारस रूप का प्रतिभास हो जाता है:—

"विहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साह दरपन मँह देखी।।
होतहि दरस, परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना।।"

(ब) रूप-सौन्दर्य के उपमान—अन्य प्रेमाख्यानक कवियों की भांति जायसी ने भी अपनी काव्य-नायिका के चरम-सौन्दर्य का उद्घाटन किया है और उसके लिए उन्होंने सुन्दरतम उपमान ढूंढे हैं।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने पद्मावती के रूप वर्णन की विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा है, **"केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिए परम्परा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके लोकव्यापी प्रभाव की ओर संकेत किया है।"** इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी मत कुछ इसी प्रकार का है, **"केशों की दीर्घता सघनता और श्यामता के लिए सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अन्धकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।"** वस्तुतः जहाँ कहीं जायसी को अवसर मिला है वे तुरन्त श्लेष समासोक्ति आदि के माध्यम से सृष्टि-व्यापी सुन्दर सत्ता की ओर इंगित करने से नहीं चूकते:—

"सरवरि-तीर पद्मिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई ॥
ओनई घटा परी जग छांहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा ॥
बेनी छोरि छार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा ॥"

इसी प्रकार पद्मावती के पुतली फेरने से उत्पन्न रस समुद्र को देखिए:—

"जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहिं पल माँहा ॥
जबहि फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वे भँवर चक्र कै डोरा ॥
पवन झकोरहिं देहिं हिलोरा। सरग लाइ भुँह लाइ बहोरा ॥"

मंद मृदु हास का विशद चमत्कारिक प्रभाव तो पारस रूप के अन्तर्गत देख ही चुके हैं। अब भौंहों का वर्णन देखिए:—

"भौंहें स्याम धनुक जनु ताना। जासहुँ फेर हनै विष बाना ॥
उहै धनुक किरसुन पर अहा। उहै धनुक राघौ कर गाहा ॥
ओहि धनुक रावन संघारा। ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥"

पद्मावती के भृकुटि विलास का सृष्टि व्यापी प्रभाव था—

"वरुनी का बरनौ इमि बनी। साधै बान जान दुइ अनी ॥"

वरुनी को बाणों का रूप देकर संसार के रोम-रोम में उसका अस्तित्व घोषित करना वास्तव में उच्चकोटि का संकेत है। यह कवि की प्रतिभा की महानता है।"[1]

"उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा ॥
गगन नखत जो जांहि न गने। वे सब बान ओहि के हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
'बेनि छोरि झार जो बारा।' 'रैनि होइ जग दीपक लेसा ॥'

"ऊपर की चौपाइयों से स्पष्ट है कि पद्मावती के रूप वर्णन में जायसी ने सौंदर्य के स्पष्ट व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है। लगता है कि जायसी की भावना संसार के समस्त रूपों को भेदती हुई उस अप्रतिम अनन्त मूल सुन्दर सत्ता का कुछ प्रतिभासित ज्ञान प्राप्त कर चुकी थी। अतः वे सृष्टि के नाना पदार्थों में उसी का प्रतिबिम्ब प्रोद्भासित रूप में देखते हैं।"[2]

(स) अप्रस्तुत विधान (उपमान रूप)—पद्मावत में प्रयुक्त उपमानों को स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है:—

(१) नखशिख वर्णन के उपमान।
(२) अन्य विषयों के वर्णनों से सम्बन्धित उपमान।

---

१. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४५८

२. प्रो० शिवसहाय पाठक—पद्मावत का काव्य सौंदर्य, पृष्ठ ६४

इन दोनों वर्गों पर प्रकाश डालते हुए प्रो० पाठक लिखते हैं कि "**इन दो कोटियों के अन्तर्गत जायसी द्वारा गृहित साहित्यिक परम्परा के रूढ़िगत उपमान, जायसी द्वारा गृहित लोक-परम्परा और लोक-जीवन के उपमान तथा जायसी के नवीन मौलिक उपमान सम्मिलित हैं। इसी अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत जायसी द्वारा प्रयुक्त भाव वर्णन के उपमान, तथा वस्तु वर्णन के उपमान भी आ जाते हैं। जायसी ने उत्कृष्ट कोटि के अप्रस्तुत विधान द्वारा पद्मावत के काव्य-सौंदर्य को अपेक्षाकृत अधिक तीव्र बताया है।**"

(द) **यौवन-भार-भरिता पद्मावती का नखशिख**—जन्म खण्ड में ही जायसी ने पद्मावती के संक्षिप्त नखशिख का बड़ा ही मनमोहक और ललित वर्णन किया है। वर्णन का आकर्षण देखिए :—

"भै उनन्त पद्मावत बारी। रचि-रचि विधि सब कला सँवारी॥
जग वेघा तेहि अंग सुवासा। भँवर आइ लुब्धे चहुँ पासा॥
बेनी नाग मलयगिरि पैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी॥
भौंह धनुष साधे सर फेरें। नयन कुरंग भूलि जनु हेरें॥
नासिक कीर कँवल मुख सोहा। पद्मिनी रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर, दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक गँभीरा॥
केहरि लंक, गवन गज हारे। सुर नर देखि माथ भुंइ धारे॥
जग कोइ दीठि न आवे, आछहिं नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी, तप साधहिं तेहि आस॥"

इसमें अप्रस्तुत उपमानों के द्वारा पद्मावती के अप्रतिम रूप का वर्णन किया गया है। कवि ने श्लेष का सहारा लेकर दो-दो अर्थों की निष्पत्ति की है। एक तो इसमें पद्मावती रूपी बाग का चित्रण किया गया है और दूसरे यौवन भार से झुकी कुमारी पद्मावती के अंग-प्रत्यंगों का रूप वर्णन। यहाँ 'बारी' शब्द श्लिष्ट है। बारी का अर्थ बाग भी होता है और बालिका अथवा कुमारी भी।

(ध) **रूप-सौन्दर्य के उपमान**—पद्मावत में आठ स्थलों पर नखशिख वर्णन मिलते हैं :—

(१) सिंहल की वेश्याओं का अव्यवस्थित नखशिख।

(२) यौवन-भार-भरिता पद्मावती का नखशिख (रूप वर्णन)

(३) मानसरोवर में स्नान के लिए उद्यत पद्मावती के केश खोलते समय का संक्षिप्त व्यंजनात्मक नखशिख।

(४) हीरामन शुक द्वारा रत्नसेन से कथित पद्मावती का नखशिख (रूप वर्णन)।

(५) लक्ष्मी-समुद्र खण्ड में व्यथित, मुरझाई और क्लाँत पद्मावती का नखशिख।

(६) नागमती और पद्मावती के वादविवाद में आत्मप्रशंसा रूप में वर्णित नखशिख।

(७) पद्मावती का नागमती से आत्मश्लाघात रूप में वर्णित सौंदर्य।

(८) अलाउद्दीन से राघव चेतन द्वारा कथित पद्मावती का नखशिख।

इनमें से प्रथम को छोड़ शेष सभी पद्मावत से सम्बन्धित हैं। इन सभी स्थानों पर जायसी ने शरीर के विभिन्न अंगों उपांगों के लिए जिन उपमानों के प्रयोग किए हैं वे समष्टि रूप में निम्नलिखित हैं :—

(१) **केश-राशि**—जिसके लिए नाग, नागिन, कस्तूरी, प्रेम जंजीर, भ्रमर तथा राहु आदि प्रयुक्त हुए हैं।

(२) **मस्तक (मांग)**—यमुना में सरस्वती, वीरबहूटी, विद्युत, आरक्त अस्ति, कंचन रेखा, सूर्यकिरण, बग पंक्ति, राग रंजित मधुऋतु आदि।

(३) **ललाट**—सूर्यकिरण, द्वितीया का चन्द्र, पारस ज्योति आदि।

(४) **भौंह**—धनुष आदि।

(५) **नेत्र**—रक्त कमल, खंजन, तुंशा, तरंग, मानिकमय सरोवर आदि।

(६) **वरुनी**—राम रावण की सेना, संधान किया गया बाण।

(७) **नासिका**—शुक, सेतु बंध, आर्स, तिल पुष्प आदि।

(८) **अधर**—दुपहरिया फूल, विद्रुम, माणिक्य, सूर्य (प्रातः कालीन) रक्त रंजित आर्स।

(९) **दांत**—हीरा, दाड़िम, विद्युत, श्याम, मकोय आदि।

(१०) **रसना**—अमृत कौंप, सरसुती की जीभ आदि।

(११) **कपोल**—खाँड़ के लड्डू, कमल, गेंद नारंग आदि।

(१२) **तिल**—घुंघुची का काला मुंह, भ्रमर, विरह की स्फुलिंग तथा अग्निवाण व ध्रुव आदि।

(१३) **श्रवण**—नक्षत्र खचित चन्द्र, सूर्य, सीप आदि।

(१४) **मुख**—चन्द्र तथा पद्मनाल आदि।

(१५) **ग्रीवा**—कम्बु, सुराही, मयूर, घिरिन परेवा, तमचुर आदि।

(१६) **भुजा**—कनक दण्ड, कदली गात, पद्मनाल, चंदन खंभ आदि।

(१७) **हथेली**—कमल।

(१८) **स्तनद्वय (उरोज)**—कंचन लड्डू, कनक कचौड़ी, कंचन बेल, नारंगी, जंभीर, श्रीफल, अग्निवाण, तुरंग, लट्टू आदि।

(१९) **कुचाग्र भाग**—श्याम छत्र।

(२०) **रोमावलि**—श्याम सर्पिणी।

(२१) **कटि**—भृंग, कमल नाल के रेशे, केहरिलंक।

(२२) **नाभि**—सागर भँवर।

(२३) **पीठ**—मलयगिरि।

(२४) **उर**—कदली स्तम्भ।

(२५) **जांघ**—केरा खंभ।

(२६) **चरण**—कमल।

(२७) **गति**—गजगति, हंसगति।

उपमान रूपों का सौन्दर्य—उपर्युक्त समस्त बातों की चर्चा करते हुए प्रो० पाठक लिखते हैं कि **"संक्षेप में नखशिख और रूप वर्णन में प्रयुक्त हुए उपमानों की दो कोटियाँ हैं (१) प्रकृति से गृहीत उपमान (२) अन्य सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्धित उपमान। उक्त नखशिख वर्णन में अधिकांशतः उपमान प्रकृति से गृहीत हैं। कमल, भ्रमर, चन्द्र, सूर्य, प्रकृति उपमान प्रकृति क्षेत्र से गृहीत हैं; खंभ प्रभृति उपमान अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की कोटि में आते हैं। अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। माँग के लिए आर्सधार, नासिका के लिए सेतुबंध और तलवार एवं उरोज के लिए क्रमशः कमल के लड्डू और लट्टू।**

उपमानों के चयन में कतिपय स्थलों पर जायसी की मौलिकता तथा स्वतन्त्र नवीन कल्पना शक्ति ने सौन्दर्य को जीवित रूप प्रदान किया है। मौलिक उपमानों के चयन में जायसी परम्परागत उपमानों की सीमित परिधि से ऊपर उठे हुए तथा मुक्त हैं। जायसी के मौलिक उपमान प्रधानतः प्रकृति से गृहीत न होकर अन्य सांसारिक पदार्थों से गृहीत हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन बड़े ही मनोयोग से किया है। वह पाठकों को सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है। अपूर्व सुन्दरी पद्मिनी का सौन्दर्य जायसी की तूलिका से बहुत सुन्दर और उचित रूप में आंका गया है। कहीं-कहीं वर्णन में अतिशयोक्ति अवश्य आ गई है पर वहाँ भावात्मक दृष्टि अथवा अनुभूति-पक्ष की प्रधानता है। इस प्रकार जायसी का रूप वर्णन उक्त दोष से बच जाता है। पद्मिनी का आकर्षण लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि में पूर्ण समर्थ है।

: १० :

जायसी का प्रकृति-चित्रण

प्रकृति अनादिकाल से ही मानव की सहचरी रही है। उसके जीवन की अनु-भूतियाँ प्रकृति की क्रोड़ में ही विकास की विविध शाखाओं से अपना स्नेह-सम्बन्ध जोड़ सकीं हैं। प्रकृति की गतिविधि, और मानव की गतिविधि में प्रकृति की गतिविधि प्रारम्भ से ही डोलती आई है। दोनों में एक प्राण, दो-देह का सम्बन्ध है । तात्पर्य यह कि मानव और प्रकृति का संयोग पुरातन संयोग है। दोनों जन्म से ही एक दूसरे पर मुग्ध हैं।

कविता-कामिनी के शृङ्गार में प्रकृति ने अपना सर्वाधिक योग-प्रदान किया है। देश और काल से प्रभावित होते हुए कवियों ने विविध रूपों में प्रकृति को निहारा है, जिनमें आलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, रहस्यात्मक संकेत, अलंकारिक रूप, उपदेश ग्रहण रूप तथा पूर्व पीठिका आदि रूप प्रमुख हैं।

भावुक जायसी के हृदय ने भी प्रकृति के साथ नाना क्रीड़ाएँ की हैं। उनके काव्य में प्रकृति के अनेक सुन्दर और हृदयग्राही स्थल हैं जिनसे उनके सूक्ष्म निरीक्षण और अनु-भव शक्ति का पता चलता है। स्थूल रूप में जायसी के प्रकृति-चित्रण को निम्न दृष्टि-बिन्दुओं से देखा जा सकता है :—

१—अलंकारिक रूप।
२—उद्दीपन रूप।
३—भावात्मक रूप।
४—रहस्यात्मक रूप।
५—उपदेशात्मक रूप।
६—प्रतीकात्मक रूप।
७—वस्तु परिगणन रूप।
८—स्वतन्त्र रूप।

१. अलंकारिक रूप—अलंकारिक वर्णनों में अन्य कवियों की भाँति जायसी ने भी प्रकृति को अमोघ अस्त्र के रूप में अपनाया है और उसकी सहायता से अपनी अलं-कार योजना में प्राण फूंका है। प्रकृति-प्रांगण में लहराते उपमानों के मनोहर उपवन से उन्होंने मनचाहे पुष्प चुने हैं। देखिए तोता, राजा रत्नसेन से पद्मावती के श्यामल केश राशि के बीच निकली सेंदूररहित माँग का वर्णन करते समय किस प्रकृति से उपमान लेता है—

"बरनौं मांग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दिया। उजियर पंथ रैन मंह किया॥
कंचक रेख कसौटी कसी। जनु घन मह दामिनी परगसी॥
सुरुज किरनि जस गगन विसेखी। जमुना मांझ सरसुती देखी॥"

× × ×

इसी प्रकार क्रमशः ललाट तथा नेत्रों का वर्णन देखिए।

'कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहि जोति कहा जग ओती।"

× × ×

"नैन चतुर वै रूप चितेरे। कंवल पत्र पर मधुकर घेरे॥
समुद तरंग उठहि जनु राते। डोलहि तस घूमहि जनु माते॥
सरद चंद मंह खंजन जोरी। फिरि-फिरि लरहि अहोरि-बहोरी॥"

सिंहलदीप से पद्मिनी को साथ ले रत्नसेन जब चित्तौड़ वापिस पहुँचा है और रात में नागमती के शयनकक्ष में गया है तो उस समय नागमती की भाव-व्यंजना प्रकृति के योग से कितनी मनोहर हो उठी है, नीचे की पंक्तियों में देखते ही बनती है :—

"काह हँसौ पिय मोसों, किएउ और सो नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, हम मुख बरसै मेह॥"

प्रकृति के सहारे जायसी ने दशा व्यंजना जो प्रस्तुत की है वह भी कम आकर्षक और प्रभावोत्पादक नहीं :—

"सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहि सो बुंद॥
गगन सरोवर ससि कंवल, कुसुम तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ भौंर होइ, पौन मिला लेइ वास॥
कमल जो विगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुं बेलि पुनि पलुहै, जो पिउ सीचैं आइ॥

पद्मावती का प्रकृति के उपमानों के सहारे धाय से कथन देखिए :—

"जोबन चाँद उआ जस, विरह भएउ संग राहु।
घटति घटत अति खीन भा, कहै न पावौं काहु।।"

समासोक्ति के सहारे कवि ने प्रकृति का चित्रण अनेक स्थानों पर किया है। कथा के प्रारम्भ में सिंहल द्वीप का वर्णन करता हुआ वह वृक्षों की छाया का प्रसंग आते ही अप्रस्तुत की ओर संकेत करता है। स्थल दर्शनीय है :—

"घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
राविर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छांह रैन होइ आई॥
मलय समीर सुहावन छांहा। जेठ जाड़ लागै तिहि मांहा॥
ओही छांह रैन होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै॥

पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥
जेइ वह पाई छांह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै वह धूपा ॥
अस अमराउ सघन घन, बरनि न पावौं अन्त।
फूलै छहों ऋतु, जानहु सदा बसन्त ॥"

२. **उद्दीपन रूप**—इस रूप में जायसी ने दो प्रकार का चित्रण किया है :—

(अ) सुखद रूप उद्दीपन।

(ब) दुखद रूप उद्दीपन।

सुखद रूप उद्दीपन—पद्मावती परिणय के उपरांत षटऋतु वर्णन की भूमिका में, मानसरोवर तथा बसंत वर्णन में सुखद उद्दीपन के चित्र हैं। कतिपय स्थलों द्वारा वर्णन-मनोहरता का आस्वादन कीजिए। राजा रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पर्वत की शोभा का कैसा अनुभव हो रहा है :—

पद्मावति चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सोहाई ॥
चमकि बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना ॥
रँग राती पीतम सँग जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी ॥
शीतल बूंद, ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा ॥
हरियर भूमि, कुसंभी चोला। औ धनि पिउ संग रचा हिंडोला ॥"

नागमती को जो बूंदें विरह दशा में बाण की तरह लगती हैं पद्मावती को संयोग दशा में वे ही बूंदें कौंधे की चमक में सोने की सी लगती हैं।

शरद् ऋतु का आनन्द देखिए :—

"आइ शरद् ऋतु अधिक पियारी। नौ कुवार कातिक उजियारी ॥
पद्मावति भै पूनिउँ-कला। चौदह चांद उइ सिंहला ॥
सोरह-कला सिंगार बनावा। नखत-भरा सूरुज-ससि पावा ॥
भा निरमल सब धरति अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल-बासू ॥
सेज बिछावन औ उजियारी। हँसि-हँसि मिलहि पुरुष औ नारी ॥
सोन-फूल भइ पुहुपी फूली। पिय धनि सौं, धनि पिय सौं भूली ॥
चख अंजन देइ खंजन देखावा। होइ सारस जोरी रस पावा ॥
एहि ऋतु कंता पास जेहि, सुख तेहि के हिय मांह।
धनि हँसि लागै पिउ गरै, धनि गर पिउ के बांह ॥"

हेमन्त और बसंत के बिना तो यह वर्णन अधूरा ही रह जायगा। अतः उसे भी देखिए :—

"ऋतु हेमंत संग पियउ पियाला। अगहन पूस शीतल सुख-काला ॥
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिलि लागा ॥
मन सौं मन, तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय, बिच हार न रहा ॥
जानहु चंदन लागउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा ॥

भोग करहि सुख राजा रानी। उन लेखे सब सिस्टि जुडानी ।।
जूझ दुबौ जोबन सौ लागा। बिच हुत सीउ जीउ लेइ भागा ।।
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं, तबहूँ न अघाहीं ।।
हंसा केलि करहिं जिमि, खूँदहिं कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारि कै पार भा, जस चकई क बिछोउ ।।"

× × ×

"प्रथम वसंत नवल ऋतु आई। सुरितु चैत बैसाख सुहाई ।।
चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह विहंसि भरि मंगा ।।
कुसुम हार औ परिमल वासू। मलयागिरि छिरका कवि लासू ।।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुख वासी ।।
पिउ संजोग धनि जोबन जारी। भंवर पुहुप संग करहि धमारी ।।
होइ फागु भलि चांचरि जोरी। विरह जराइ दीन्ह जस होरी ।।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होंहि सब चूरू ।।
जेहि घर कन्ता रितु भली, आउ बसन्ता नित्तु।
सुख बहरावैं देव हरै, दुक्ख न जानहि किन्तु ।।"

दुखद उद्दीपन रूप—नागमती प्रियतम के विरह में झुलस रही है। उसे प्रकृति का विकास अच्छा नहीं लगता अपितु और भी दुख बढ़ रहा है। जिधर ही उसकी दृष्टि जाती है, उधर ही उसे अपने विरह को उद्दीप्त करने वाली सामग्री दिखाई देती है, असाढ़ के घिरते हुए बादल उसके हृदय में हर्ष का संचार न कर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उसे मदन की सेना घेरती आ रही हो—

"चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा विरह दुंद दल साजा ।।
धूम साम धौरे घन धाए। सेत धजा वग पाँति देखाये ।।
खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान बरसहि घनघोरा ।।
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारु मदन हौं घेरी ।।
दादुर मोर कोकिला, पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ ।।"

इसी तरह कार्तिक में शरद ऋतु का शशि उसके विरह को कई गुना बढ़ा देता है—

"कातिक सरद चन्द उजियारी। जग शीतल, हौं विरहै जारी ।।
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा ।।
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहं चंद, भएउ मोहि राहू ।।"

फागुन का दृश्य देखिए—

"फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा ।।
तन जस पिपर पात भा भोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा ।।
तरिवर झरहिं-झरहि वन ढाखा। भइ ओनंत फूल फरि शाखा ।।

करहिं वनस्पति हिए उलासू। मो कहं भा जग दून उदासू॥
फागु करहिं सब चांचरि चोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी॥"

ऐसे ही बारहों महीनों में प्रकृति का विकास नागमती के विरह को उद्दीप्त करता रहता है। पद्मावती के विरह में भी कवि ने यथास्थल प्रकृति के उद्दीपन रूप का सहारा लिया है।

३. भावात्मक रूप–इस शैली में कवि ने प्रकृति को अपने भावुक हृदय की आँखों से देखा है। भावुकतावश वर्णन अतिरंजित हो गया है, किन्तु प्रकृति का सत्य पूर्ण वेग से उद्घाटित हुआ है। यह तो सभी जानते हैं कि समुद्र का वर्णन करके जायसी ने हिन्दी काव्य-साहित्य में एक बड़ा ही मनोहारी और नवीन अध्याय जोड़ा है। उन्होंने सातों समुदों की कल्पना की है। उनमें से किलकिला समुद्र का वर्णन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। देखिए कल्पना-प्रसूत अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन भी कितना भावात्मक और सशक्त है—

"भा किलकिला अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुं ओरा॥
उठे लहर परवत की नाईं। फिर आवै जोजन सो ताईं॥
धरती लेइ सरग लेहि बाढ़ा। सकल समुद्र जनहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होय तर ऊपर सोई। माथे रंग समुद्र जस होई॥
फिर समुद्र जोजन सो ताका। जैसे भवै कोहार को चाका॥"

सागर की भयानकता, बड़ी-बड़ी गम्भीर लहरों, हिलोरों का कितना सजीव चित्रण है। भँवरों के वर्णन में उसने और भी मनोहरता ला दी है। इसी प्रकार भावात्मक शैली का एक दूसरा उदाहरण लीजिए :—

"ताल तलाब वरनि नहिं जाहीं। सूझै बार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। माना हुए गगन महँ तारे॥
उतरहि मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहि मच्छ विजु कै बानी॥"

४. रहस्यात्मक रूप—इस शैली में जायसी ने प्रकृति का अत्यन्त व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है। प्रकृति का कण-कण उस परम प्रियतम के अनन्त सौंदर्य से परिवेष्टित देखा है। सर्वत्र उसकी छाया का आभास प्राप्त किया है। देखिए उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्य सत्ता की ओर लौकिक दीप्ति और सौंदर्य के द्वारा जायसी कितना सुन्दर संकेत करते हैं :—

"बहुतै जोति-जोति ओहि भई।
रवि शशि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जह विहंसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर॥"

प्रकृति के बीच दिखाई देने वाली सारी दीप्ति उसी से है। इस बात का आभास

हमें पद्मावती के प्रति कहे गए रत्नेसेन के वाक्य से मिलता है—

"अनु धनि ! तू निसिअर निसि माँहा। हौं दिनिअर जेहि कै तू छाँहा ॥
चाँदहि कहा जोति औ करा। सुरुज के जोति चाँद निरमरा ॥"

मानस के भीतर प्रीतम के सामीप्य से उत्पन्न उस अपरिमित विश्वव्यापी आनंद की व्यंजना में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप ही चित्रित हुआ है। देखिए वर्णन कितना हृदयग्राही है :—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरहनि होइ छावा ॥
गा अँधियार रैन-मसि छूटी। भा भिनसार, किरन रवि फूटी ॥
कँवल विगस तह विहँसी देही। भंवर दसन-होइ कै लेहीं ॥"

५. **उपदेशात्मक रूप**—प्रकृति का यह रूप कवि की लेखनी से बहुत कम स्थलों पर चित्रित हुआ है। वैसे जहाँ-जहाँ ऐसे स्थल आए हैं। कवि ने उपदेशक रूप में प्रकृति के अनेक पदार्थों द्वारा अपने तात्विक सिद्धान्त प्रकट कराये हैं—

(१) **'पिव-पिव' कर लाग पपीहा। तुही-तुही कर गडुरी जीहा ॥"**

—(सिंहलद्वीप खण्ड)

(२) **"जावत पंछी जगत के भरि बैठे अमराऊ।**
आपनि-आपनि भाषा, लेहि दई कर नाऊँ ॥"

कहीं-कहीं दृष्टांत की व्यंजना भी मिलती है :—

"मुहमद बाजी प्रेम की ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलाहल तेल ॥"

एक स्थान पर कवि लोभ को पाप की नदी बताते हुए लिखता है—

"लोभ पाप कै नदी अकोरा। सत्त न रहै हाथ जो बोरा ॥"

६. **प्रतीकात्मक रूप**—यह शैली बहुत कुछ अंशों में रहस्यात्मक शैली के अंतर्गत ही आ जाती है। किन्तु कहीं-कहीं इसका स्वतन्त्र चित्रण भी मिलता है। नीचे की पंक्तियों में देखिए उस प्रियतम पुरुष के प्रेम से प्रकृति कैसी बिद्ध दिखाई दे रही है—

"उन बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरो संसारा ॥
गगन नखत जों जाहि न गने। वे सब बान ओहि के हने ॥
धरती बान वेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥
रोव-रोव मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत वेद अस गाढ़े ॥
वरुनि चाप अस ओपहं, बेधे रन बन ठाख।
सौजहि तन सब रोआं, पंखहि तन सब पाख ॥"

प्रकृति की ये सभी वस्तुएं उस व्यापक ब्रह्म के प्रेम वाणों के प्रतीक रूप में चित्रित हैं।

सिंहल गढ़ को कवि ने परलोक का प्रतीक माना है। वहीं पर आंतकित होकर चन्द्र-सूर्य तथा नक्षत्र-तारे आदि परिभ्रमण करते हैं—

**"बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। श्रौ जमकात फिरै जम केरी ॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥
चाँद सुरुज श्रौ नखत तराई। तेहि डर अंतरिख फिरहिं सवाई ॥"**

७. **वस्तु परिगणन रूप**—जायसी द्वारा चित्रित प्रकृति का यही रूप सर्वाधिक नीरस सिद्ध हुआ है। कवि को अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन की धुन में वस्तुओं के नाम गिनाने के अतिरिक्त प्रकृति के सौन्दर्य की ओर देखने का ध्यान ही नहीं रह जाता। सिंहलद्वीप का वर्णन देखिए उसमें इस प्रकार के परिगणन का बाहुल्य है। जैसे कवि ने अपनी भावुक आँखों से इन्हें नहीं देखा है :—

**"फरे आँब अति सघन सोहाये। श्रौ जस फरे अधिक सिरनाए ॥
कटहर डार पींड सन पाके। बड़हर, सो अनूप अति ताके ॥
खिरनी पाकि खांड़ अस मीठी। जामुन पाकि भँवर अति डीठी ॥
नरियर फरे, फरी फरहरी। फुरै जानु इन्द्रासन पुरी ॥
पुनि महुवा चुश्र अधिक मिठासू। मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू ॥
और खजहजा अनबन नाऊँ। देखा सब राउन अमराऊँ ॥
लवँग, सुपारी, जायफल, सब फर फरे अपूर।
आस पास घन इमिली, औ घन तार खजूर ॥"**

तथा

**"आस पास बहु अमृत बारी। फरी अपूर होइ रखवारी ॥
नारंग नीबू सुरंग जँभीरा। श्रौ बदाम बहु भेद अँजीरा ॥
गलगल तुरंज सदाफर फरे। नारंग अति राते रस भरे ॥
किसमिस सेव फरे नौ पाता। दारिउ दाख देखि मन राता ॥
लागि सुहाई हार फर्‌योरी। उनै रही केरा कै घौरी ॥
फरे तूत कमरख श्रौ न्योजी। राय करौंदा बर चिरौंजी ॥
संगतरा व छुहारा दीठे। श्रौर खजहजा खारे मीठे ॥
पानि देहि खँडवानी, कुवहि खाड़ बहुमेल।
लागी घरी रहट कै, सींचहि अमृत बेल ॥"**

इसी प्रकार के अनेक स्थल जायसी के काव्य में भरे पड़े हैं जिसने उनके साहित्य की मनोहरता और सरसता में विशेष विघ्न उत्पन्न किया है और कहीं-कहीं तो इससे कथाक्रम में भी व्याघात पहुँचा है। वर्णन बड़ा ही नीरस बन पड़ा है।

८. **स्वतन्त्र रूप**—वस्तु परिगणन की तृष्णा ने कवि को प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण से भी लगभग वंचित ही रखा है। उस क्रम में कवि प्रकृति के सौन्दर्यशाली रूप को जैसे भुला बैठा हो। कुछ थोड़े से स्थल ऐसे अवश्य हैं जहाँ कवि अपनी परिगणन शैली का चित्रण करते हुए सहसा भावुक हो उठा है। ऐसे क्षणों में उसकी लेखनी से प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य का भी कुछ उद्घाटन हो गया है। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

आदेश पर चलना **'रजाश्र'** उससे भयभीत रहना **'खौफ'** जीविका के लिए इधर-उधर न भटकना **'तवक्कुल'** तथा तटस्थ होकर ईश्वर का ध्यान करना **'रजा'** है। इस प्रकार निरन्तर साधाना **'फिक्र'** से उसमें अल्लाह की मोहव्बत का जन्म होता है **'मोहब्बत'** की मंजिल पर पहुँचकर मोमिन सूफी' (सालिक) बन जाता है और फिर तरीकत में प्रवेश करने को पाँव आगे बढ़ाता है।

तरीकतः—वस्तुतः यह 'सूफी' की प्रथम और 'साधक' की द्वितीयावस्था है। इस समय मोमिन साधक (सालिक) बन जाता है और उसे किसी भेदिये की आवश्यकता पड़ती है। वह भेदिया मुरशिद अर्थात् गुरु होता है जो उसे तरीकत के रहस्यों का परिचय कराता है। पीर या मुरशिद अपने मुरीद (शिष्य) की भगवान के प्रति सच्ची लगन देख उसमें प्रेम की चिनगारी डाल देता है। अब चेले का यह काम होता है कि वह उस चिनगी को सुलगाले।

"गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाई लेइ सो चेला।"

—(जायसी)

पीर अपने मुरीद की प्रत्येक कमजोरी को भली-भांति जानता है, इसलिए वह उसमें ऐसे भाव भरता है जिससे शिष्य को अपने लक्ष्य की दिशा में गति मिले।

पीर की अनुकम्पा, दया, दाक्षिण्य तथा अपनी सच्ची लगन के सहारे इस द्वितीयावस्था को पार कर साधक तीसरी कक्षा में प्रवेश करता है।

मारिफतः—यह ज्ञानावस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मुरीद, परम सत्ता के आभास के साथ-साथ उसके सारे रहस्यों की कुंजी भी प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को 'हाल' की दशा भी कहा जाता है। सूफी की संज्ञा 'सालिक' से अब 'आशिफ' हो जाती है।

यह अवस्था ईश्वरी कृपा का प्रसाद है। **"अतः बिना शरीयत और तरीकत के व्याकरण के भी सम्पन्न हो सकता है।"**[1] इस अवस्था के उपरांत ही साधक हकीकत में प्रवेश करता है।

हकीकत—इस अवस्था तक आते-आते साधना में पूर्णता आ जाती है। यह अन्तिम अवस्था है। इसमें साधक **'अनलहक'** का उद्घोष करता है। परमसत्ता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। यही फ़ना की स्थिति है। इस अवस्था को 'मकाम' भी कहा जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त कर मनुष्य पूर्ण बन जाता है। उसकी आत्मा ईश्वर में निवास करती है। यही सूफ़ी का चरम लक्ष्य **'बका'** है। 'फ़ना' और 'बका' में अन्तर इतना है कि **'फ़ना'** में साधक का **'अहंभाव'** तिरोहित हो जाता है और तब वह सब प्रकार के द्वंद्वों से मुक्त हो प्रियतम में लय हो जाता है जिसे **'बका'** की स्थिति कहते हैं।

---

१. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ और सूफीमत

इन चारों अवस्थाओं को अपने यहाँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था कहते हैं।

सूफियों ने उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के साथ-साथ चार लोकों की भी कल्पना की है जो नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत की संज्ञा पाते हैं।

"साधारण धार्मिक मुसलमान (मोमिन) प्रथमावस्था में शरीयत का पालन करते हुए नासूत (नरलोक) का सेवन करता है, द्वितीयावस्था में मुरीद 'तरीकत' पर विचरण करता हुआ मलकूत (देवलोक) का निवासी बनता है। तत्पश्चात् 'सालिक' तुरीयावस्था (मारिफत) में जबरूत (ऐश्वर्य लोक) में बिहार करता है अन्त में 'आरिफ'-'हकीकत' अवस्था में लाहूत (सत्यलोक किंवा माधुर्य लोक) में विचरण करता है।"[1]

सूफियों के मुकामात—सूफियों के निम्न सात मुकामात बताये जाते हैं।

१—अबूदिया (यह मोमिन के लिए है) २—इश्क
३—जहद ४—म्वारिफ
५—वज्द ६—हकीकी
७—वस्ल

जायसी ने भी सूफियों के सात ही मुकामात माने हैं और उनका संकेत 'पद्मावत' तथा 'अखरावट' दोनों में किया है।

"आबिद (खोजी) शरीयत की मंजिल में 'तोबा', आदि पड़ावों को पार करके 'इश्क' के मुकाम पर प्रथम मंजिल समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् इश्क को लेकर 'सालिक' जहद करते हुए तरीकत की दूसरी मंजिल को 'म्वारिफ' मुकाम पर पूर्ण करता है। अब 'म्वारिफ' के पार आरिफ वज्द प्राप्त करता हुआ 'हकीक' के मुकाम पर तृतीय मंजिल समाप्त करता है। तदुपरांत 'हक' वस्ल को प्राप्त कर 'फना' के मुकाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। इस यात्रा के समाप्त होने पर उसे शाश्वत आनन्द (वका) की प्राप्ति हो जाती है जो सूफियों का ध्येय है।"

—(डा० जयदेव)

इस यात्रा का विवरण निम्नांकित चार्ट से कुछ अधिक सरलता से समझा जा सकता है :—

क्रम संख्या	अवस्था	लोक	यात्रा की संज्ञा	मुकामात		
				प्रारम्भ	मध्य	अन्त
१	शरीयत	नासूत	मोमिन	अब्द	—	इश्क
२	तरीकत	मलकूत	सालिक	इश्क	जहद	म्वारिफ
३	मारिफत	जबरूत	आरिफ	म्वारिफ	वज्द	हकीक
४	हकीकत	लाहूत	हक़	हक़ीक	वस्ल	फ़ना

१. डा० जयदेव—महाकवि जायसी

कुछ लोग अंतिम अवस्था 'वका' मानते हैं, जो फ़ना' के पश्चात् प्राप्त होती है और अन्तिम लोक 'लाहूत' बताते हैं।

जायसी एक उच्च कोटि के सूफी साधक थे। सभी सूफी साधकों का यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि वे अपने धर्म का प्रचार करें। इसी नाते सूफी प्रेम गाथाकारों ने अपने काव्यों के माध्यम से सूफी धर्म का प्रचार कार्य सम्पन्न किया है; फिर सर्वश्रेष्ठ हिन्दी सूफी प्रेम गाथाकार जायसी ही इस कथन के अपवाद कैसे हो सकते थे। जायसी के काव्य में सूफीमत के समाविष्ट होने के कौशल के लिए डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि **"समस्त कथा मे सूफी सिद्धान्त बादल में पानी की बूंद की भाँति छिपे हुए हैं।"** सूफियों की नीति उदार होती है। इस्लाम की कट्टरता से उन्हें चिढ़ है। जीवन की स्वच्छ, सरल और पवित्र उदात्त वृत्तियों को वे विशेष प्रश्रय देते हैं, मानवता के विकास मार्ग पर जोर देते हैं। पारस्परिक उछृङ्खल स्वार्थी वृत्ति से परे व्यक्ति को ऊँचा उठाने की बात करते हैं। शाश्वत सत्य की व्याख्या करते हैं, आध्यात्मिक प्रेम का वह महामन्त्र देते हैं जिसके सहारे पतनोन्मुख मानव पारलौकिक सुख की प्राप्ति कर सके। परम प्रियतम का अंश जीवात्मा उसमें लीन हो अखंड आनन्दमय हो जाय। सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाय। प्रेम जो मानव जीवन का चरम-बिन्दु है, इन सूफी कवियों की कविता का प्राण है। जायसी के काव्य में ये समस्त विशेषताएँ अपनी प्रबल शक्ति के साथ विद्यमान हैं। जायसी ने सूफी साधना का बड़ा विस्तृत और गूढ़ तथा व्यापक वर्णन किया है। आखिरी कलाम तो उसके इस्लामी विचारों का प्रतिनिधित्व ही करता है। अखरावट में वे इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विधिना के पास पहुँचने के तो तन-रोआँ और आकाश के नक्षत्रों की भाँति अगणित मार्ग हैं किन्तु उनमें से मुहम्मद साहब द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही सर्वोत्तम है। इस प्रकार अपने धर्म के प्रति वे गहरी निष्ठा व्यक्त करते हैं। अखरावट और आखिरी कलाम दोनों में उनके इस्लामी स्वरूप का प्रकटीकरण है; और पद्मावत का तो कहना ही क्या? वह तो उनकी समस्त साधना का प्रशस्त पथ-निर्माण ही है जिसके प्रति हिन्दू जनता को आकृष्ट कर वे उसे उसकी अनुगामिनी बनाना चाहते हैं। उन्हें हिन्दुओं का सहज विश्वास तो प्राप्त था; पर विधि की कुछ ऐसी मरजी थी कि जायसी को इस दिशा में मनचाही सफलता न मिल सकी। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सूफी धर्म को उन्होंने अपने काव्य में बड़े कौशल से पिरोया है। काव्य की मनोहरता में वे सिद्धान्त वैसे ही घुल-मिल गये हैं जैसे बादल की सघन घटा में बिजली।

अपनी काव्योपासना के साथ-साथ सूफी धर्म साधना एवं उसके प्रसार की बात वे नहीं भूल सके हैं। उसके प्रति उनका संस्कारगत मोह है जिसे उनसे अलग भी नहीं किया जा सकता। श्री यज्ञदत्त शर्मा के शब्दों में, **"महाकवि जायसी मुसलमानी आस्थाओं मे विश्वास रखने वाले सूफी मुसलमान थे और अपनी ही मान्यता का प्रचार उन्होंने किया है। मुसलमान धर्म के प्रवर्तकों में उनका पूर्ण विश्वास था और उनकी मान्यताओं तथा पाबन्दियों की रूढ़ियों का उन पर असर था। वह एक सूफी मुसलमान थे और मुसलमानी**

दर्शन के प्रति ही उनकी मान्यता थी।" सूफी साधना जायसी के जीवन का प्रधान लक्ष्य था और उसकी सिद्धि में जीवन पर्यन्त वे लगे भी रहे। पद्मावत में सम्पूर्ण कथा कह जाने के उपरांत उन्हें यह आशंका बनी रही कि कहीं हमारी यह प्रेम-कहानी दूसरे ढंग से न विचार ली जाय इसलिए उपसंहार में (जो मसनवी शैली के अन्तर्गत देने की मजबूरी भी थी) उन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट कह सुनाया—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम कछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिना गुरु को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥"

अपने उत्तर का अन्तिम निष्कर्ष देने से पूर्व हम दो एक स्थल ऐसे और उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं जिनके द्वारा उनकी सूफी साधना अधिक मुखर हो सकी है।

यह सूर्य की भाँति सबके सामने है कि सूफी साधना का केन्द्र बिन्दु प्रेम है। उसी प्रेम की प्रशस्ति में जायसी ने बहुत कुछ लिखा है—

"भलेहि प्रेम है कठिन सुहेला। दुइ जग तरा प्रेम जेइ खेला॥"

किन्तु शिष्य के अन्दर इस प्रेम ज्योति को जगा देना गुरु का ही कार्य है। वह विरह की एक चिनगारी डालता है, शिष्य उसी चिनगारी को अपने में अधिक सुलगा लेता है—

"गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाई लेइ सो चेला॥"

अथवा

"सबद एक उन कहा अकेला। गुरु जस भृंग फनिग जस चेला॥
भृङ्गी ओहि पांखि पैं लेई। एकहि बार छीनि जिउ देई॥"

जायसी का कहना है कि शुद्ध साधना के लिए पहले अहं को दूर करो। अपने को मिटा दो—

"जब लगि गुरु हौं अहा, न चीन्हा। कोटि अन्तर पट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥
हौं हौं करत धोख इतराई। जब भा सिद्ध कहां इतराहीं॥"

जो इस प्रकार उठकर अपने प्रियतम में लय हो जाता है वह धन्य है। जायसी का कहना है कि प्रियतम के पास जो पहुँच गया उसे फिर इस मायावी विश्व में लौटने की आवश्यकता नहीं रहती। उस आनन्द लोक की महिमा न्यारी है।

जब राजा रत्नसेन दिल्ली में कैद हो गये तब रानी पद्मावती का विलाप कुछ इसी

प्रकार के भावों को ध्वनित करता है—

"सो दिल्ली अब निबहुर देसू। केहि पूछहुँ, को कहै संदेसू ॥
जो कोइ जाइ तहां करि होई। जो आवै किछु जान न सोई ॥
अगम पंथ पिय तहां सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा ॥"

जायसी पर नाथपंथ और हठयोग का पूरा-पूरा प्रभाव था। सिंहलगढ़ के वर्णन में अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे। गढ़ को शरीर का रूपक देकर हठयोग साधना का कैसा सुन्दर चित्र उन्होंने खींचा है, इसे नीचे की पंक्तियों में देखिए—

"गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखि ओही कै छाया ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा। औ तहँ फिरैं पांच कोतवारा ॥
दसवें द्वार गुपुत एक तारा। अगम चढ़ाव बांक सो बांका ॥
भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चांटी ॥
गढ़तर कुंड, सुरंग तेहि मांहा। तहँ वह पंथ कहौं तोहि पांहा ॥
जस मरजीया समुद धँसि, हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेहि जो सरग दुआरि, चढ़ै सो सिंहलदीप ॥"

तथा—

"नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ वज्र किवार ॥
चारि बसेरे जो चढ़े, सत सो उतरे पार ॥"

पर यहाँ हम एक बात का उल्लेख और कर देना चाहते हैं कि पद्मावत के अधिकांश स्थलों में इस आध्यात्मिक या सूफी मत के अनुकूल, अर्थ वहीं ध्वनित हुए हैं। कुछ थोड़े से स्थल ही हैं जहाँ कवि की यह साधना अधिक वेग से मुखरित हुई है। अनेक स्थलों पर तो वर्णन इतना स्थूल हो गया है कि आध्यात्मिक अर्थ की खींचतान करना कवित्व की हत्या करना प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए बादल की नवागता वधू का कथन देखिये—

"जो तुम चहहु जुझि पिउ ! बाजा। कीन्ह सिंगार-जूझ मैं साजा ॥
जोबन आइ सौंह होइ रोपा। बिखरा विरह कामदल कोपा ॥
भौंहें धनुष नैन सर साधे। काजर पनच, बरुनि विष बांधे ॥
अलक-फांस गिउ मेलि असूझा। अधर-अधर सौं चाहहिं जूझा ॥
कुम्भ स्थल कुच दोउ मैमंता। पेलौं सौंह, सँभारहु कंता ॥"

कौन भारतीय वधू इतनी निर्लज्ज हो जायगी कि प्रथम समागम के अवसर पर अपने पति से इस प्रकार प्रलाप करेगी। वर्णन को पढ़कर मन घृणा और क्षोभ से भर जाता है। पद्मावती-रतसेन का मिलन देखिये—

"लीन्ह लंक, कंचन-गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमंत विधांसा। विचला विरह जीव जो नासा ॥
टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मांग, भंग भए केसा ॥

कंचुकि चूर, चूर भइ तानी। टूटे हार मोति छहरानी॥
वारी, टांण सलोनी टूटी। बाहू कंगन कलाई फूटी॥
चंदन अंग छूट अस भेंटी। वेसरि टूटि तिलक गा मेटी॥
पुहुप सिंगार सवार सब, जोवन नवल बसंत।
अरगज जियि हिय लाइ कै, मरगज कीन्हेंउ कंत॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्णन घोर पार्थिव है। लौकिक प्रेम के माध्यम से कवि यहाँ अलौकिक सूफी प्रेम का आभास नहीं दे पाया है।

ऐसे ही ग्रन्थ में अनेक स्थल हैं जिन्हें उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वहाँ पर कवि केवल काव्यात्मक वर्णन करता चलता है। उसका वह वेग, अपेक्षाकृत सूफी सिद्धान्तों का प्रचार करने के, अधिक प्रखर है।

इससे यह पता चलता है कि कवि की काव्य-धारा के प्रवाह को उसके ये सूफी सिद्धान्त नहीं रोक सके हैं। वह जिधर जाना चाहती है स्वेच्छा से उधर बहती गई है। तात्पर्य यह कि कवि की कला के विकास मार्ग में सूफी मत मनचाहा अवरोध नहीं बन सका है।

अस्तु अब हम निष्कर्ष रूप में यह कहेंगे कि कवि की कला में साहित्य-संवर्द्धन-स्वाभाविक प्रबल, तथा सशक्त वेग से हुआ है किन्तु साथ ही जायसी अपने जीवन की मूल साधना सूफीमत को भी नहीं भूल सके हैं। अपने काव्य में उसका संगुंफन भी उन्होंने बड़ी चतुरता से किया है। पक्का मुसलमान होने के नाते अपने धर्म की विशद विवेचना तथा उसके प्रचार व प्रसार का उनका यह प्रयत्न बिल्कुल स्वाभाविक ही था।

: १२ :

जायसी का चरित्र-चित्रण

रत्नसेन

जंबूदीप के चित्तौड़ देश के चौहान वंशी महाराज चित्रसेन का पुत्र और पद्मावत महाकाव्य का धीरोदात्त दक्षिण नायक है। उसके बाल्यकालीन जीवन की कोई भी झाँकी पद्मावत में नहीं मिलती। हीरामन को अत्यधिक मूल्य में भी खरीद सर्व-प्रथम वह अपने चरित्र के कलाप्रेमी एवं गुणग्राहक स्वरूप का परिचय देता है। तदुपरि उसके द्वारा पद्मावती के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुन वह पद्मावती पर मुग्ध हो जाता है। स्थिति यहाँ तक पहुँचती है कि वह तोते के निर्देशन में पद्मावती की प्राप्ति हेतु योगी बन जाता है। पद्मावती की प्राप्ति हेतु योगी बन घर से निकल पड़ना उसके प्रेम की दृढ़ता और महान् संकल्प का द्योतक है। बीहड़ मार्ग के अनेक संकटों और आपत्तियों को सहन करते हुए वह सिंहलगढ़ पहुँच दुर्ग में प्रवेश करता है और काफी संघर्षों एवं परीक्षाओं के उपरान्त अंततः पद्मावती को प्राप्त कर लेता है। इन सभी विषम-परिस्थितियों में समरस भाव से अपने लक्ष्य की ओर गतिशील रहना उसके चरित्र की उज्ज्वलता का प्रमाण है।

वह एक आदर्श-प्रेमी है। उसके प्रेम में पर्याप्त गम्भीरता, एकनिष्ठता तथा गहराई और सच्चाई है। वह पद्मावती की प्राप्ति हेतु प्राणोत्सर्ग के लिए भी उद्यत हो जाता है और अंततः सूली पर चढ़ने की स्थिति भी आ जाती है। इस क्रिया में उसके अनेक गुण यथा साहसिकता, धीरता (कष्ट-सहिष्णुता), अहिंसा (विनय, कोमलता), सत्याग्रह और उत्सर्ग (त्याग तथा बलिदान) आदि प्रस्फुटित हुए हैं। हर प्रकार के अवरोधों का सामना करते हुए भी अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर लेना उसके चरित्र पर भव्य प्रकाश डालता है।

उसे अपनी साधना के प्रति अडिग-विश्वास है, इस नाते वह लोक-धर्म या रीति-नीति की मिथ्या-परवाह नहीं करता। वह अपनी धुन का पक्का है। पद्मावती के अतिरिक्त अन्य किसी की भी उसे चाह नहीं है। इसी से पार्वती आदि की परीक्षाओं में वह ससम्मान उत्तीर्ण होता है; उसे आशातीत सफलता मिलती है।

पवित्र-प्रणय का एकनिष्ठ पुजारी होने के नाते प्रबल-प्रेम के आवेग में उसने जो कुछ भी करणीय-अकरणीय किया है उसका विचार साधारण धर्म-नीति पर करना न्यायसंगत न होगा। अपेक्षाकृत लोकनीति की दृष्टि से देखने से उसे, भावोत्कर्ष की दृष्टि से देखना ही अधिक समीचीन होगा। प्रसिद्ध भाववेत्ता मनोविज्ञानी सेण्ड (Shand) ने भी कहा है, "Every Sentiment tends to acquire the virtues and vices

that are required by the system············These virtues and vices reaccounted such from the different points of view; first from the point of view of society; Secondly, from the point of view of sentiment itself according to a standard which itself furnishes."—Foundations of Character. (प्रत्येक भाव-रति, शोक, जुगुप्सा आदि के कुछ अपने निज के गुण होते हैं जिनमें से लोक नीति के अनुसार कुछ सदगुण कहे जाते हैं और कुछ दुर्गुण जो उस भाव की लक्ष्य पूर्ति के लिए आवश्यक होते हैं)।

तोते द्वारा पद्मावती के अपूर्व सौंदर्य का वर्णन सुन उसके लिए समस्त राजपाट तथा अपनी प्राणप्रिया नागमती की प्रीति का कुछ भी विचार न कर उसे छोड़, योगी हो निकल पड़ना और सिंहलगढ़ में चोरों की भाँति प्रवेश करना लोकनीति की दृष्टि से निंद्य कहा जायगा; परन्तु उसके ये कार्य मूल लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हैं। वह अपने आदर्श प्रेम से च्युत नहीं होता इसलिए हम उसके इन कार्यों को अनैतिक तथा निंद्य मानने को तैयार नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि, **"प्रेम के साधनकाल में जो साहस कष्ट, सहिष्णुता, नम्रता, कोमलता, त्याग आदि गुण तथा अधीरता, दुराग्रह और चौर्य आदि दुर्गुण दिखाई पड़ते हैं वे प्रेमजन्य हैं, वे स्वतन्त्र गुण या दोष नहीं माने जा सकते। यदि ये बातें प्रेमपन्थ के अतिरिक्त जीवन के अन्य व्यवहारों में भी दिखाई गई होतीं तो इन्हें हम रत्नसेन के व्यक्तिगत स्वभाव के अन्तर्गत ले सकते थे।"** इसके अतिरिक्त मूल बात तो यह है कि इन सभी कार्यों में कवि ने आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ चोरी से गढ़ में घुसना लौकिक अर्थ में बुरा है, सांकेतिक अर्थ में वह यौगिक क्रियाओं की अभिव्यंजना करता है।

सिंहल से लौटते समय कवि ने रत्नसेन का जो अर्थ लोभ दिखाया है उसे भी हम सामान्य व्यक्ति के लोभ की श्रेणी में रखने को तैयार नहीं। आचार्य शुक्ल के कथनानुसार, **"किसी विशेष अवसर पर असाधारण सामग्री के प्रति लोभ प्रकट करते देख हम किसी को लोभी नहीं कह सकते।"**

गोरा बादल के चेताने पर भी अलाउद्दीन के छल को छल न समझना और उसके साथ गढ़ के बाहर तक चले जाना राजनीति की दृष्टि से एक राजा द्वारा अपनी सुरक्षा का ध्यान न रखने की अदूरदर्शिता प्रकट करता है किन्तु वैयक्तिक विशेषता के रूप में उससे राजा के हृदय की उदारता और सरलता ही प्रकट होती है।

क्षत्रिय होने के नाते रत्नसेन में जातिगत स्वभाव की स्पष्ट झाँकी हमें देखने को मिली है। दिल्ली से छूटकर जिस दिन वह चित्तौड़ आता है उसी दिन रात को पद्मिनी से देवपाल की दुष्टता का हाल सुनकर क्रोध से भर जाता है और प्रभात होते ही बिना किसी पूर्व तैयारी के देवपाल को बाँधने की प्रतिज्ञा से कुम्भलनेर पर आक्रमण कर देता है। प्रतिकार की यह प्रबल वासना रत्नसेन में राजपूतों के जातिगत लक्षण के कारण ही आई है। इसी प्रकार इससे पूर्व अलाउद्दीन के दूत को, रत्नसेन ने, जो उत्तर दिया है उसके

द्वारा भी रत्नसेन के चरित्र की विशेषता का स्पष्ट बोध होता है—

"का मोहि सिंघ दिखावसि आई । कहौं तो सारदूल धरि खाई ।।
हौं रन थंभउर नाह हमीरू । कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू ।।
तुरुक जाई कहु मरै न धाई । होइसि इसकन्दर की नाई ।।
कालि होइ जो आगमन, सो चलि आवै आज ।"

दो शब्दों में हम यह कहेंगे कि रत्नसेन एक आदर्श उच्चातिउच्च कोटि का प्रेमी, गुणग्राहक, कलाप्रिय, साहसी, उदार व्यक्ति और पद्मावती महाकाव्य का सर्वगुण समन्वित धीरोदात्त दक्षिण नायक है। यद्यपि उसके चरित्र में कुछ दुर्बलताएं भी हैं और कुछ स्थलों पर जायसी उसके उदात्त चरित्र तथा नायकत्व की पूर्ण रक्षा नहीं कर सके हैं तथापि उसके गुणों की अपार प्रभावान राशि इन दुर्गुणों और दुर्बलताओं को नगण्य बनाती हुई उसके चरित्र पर भव्य-प्रकाश डालती है।

अलाउद्दीन

अलाउद्दीन पद्मावत काव्य के प्रतिनायक के रूप में हमारे सामने आता है। रत्न-सेन की भाँति ही पद्मावती के प्रेम में अनुरक्त दिखाई देता है; फिर भी उसके प्रेम को पाठकों द्वारा वह सम्मान नहीं प्राप्त होता जो रत्नसेन के प्रेम को प्राप्त होता है। अलाउद्दीन का प्रेम रत्नसेन के प्रेम की समकक्षता में हेय कहा जाता है। उसे एकनिष्ठ आदर्श प्रेमी के स्थान पर लोभी लम्पट के रूप में देखा जाता है। आइए इस तथ्य के मूलाधार को समझ लें तभी उसके चरित्र का मूल्यांकन करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

अलाउद्दीन के विपक्ष में दो बातें प्रस्तुत की जाती हैं—प्रथम तो यह कि पद्मा-वती दूसरे अर्थात् रत्नसेन की विवाहिता पत्नी है जिसे अलाउद्दीन का उसको प्राप्त करने का दुस्साहस भारतीय समाज की नैतिक दृष्टि में अक्षम्य अपराध है। दूसरी बात यह कि अलाउद्दीन के प्रयत्न उग्र हैं और वासना की गन्ध से दूषित हैं। उनमें शुद्ध एवं पवित्र प्रेम की सुगन्धि का अभाव है। काव्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के उप-रान्त प्रत्येक व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर आता है। उपर्युक्त दोनों बातें अलाउद्दीन के लिए बिल्कुल ठीक-ठीक बैठ जाती हैं। इसके विपरीत रत्नसेन के प्रेम में पर्याप्त धीरता, अहिंसा और उत्सर्ग की भावना का रोमांचकारी समावेश है। अलाउद्दीन के प्रेम में अधीरता, उग्रता, उच्छृंखलता तथा आतंक की प्रखरता है जिससे पवित्र प्रेम की गरिमा विनष्ट हो जाती है।

अलाउद्दीन रूप लोभी है क्योंकि राघव द्वारा पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य की विशद प्रशंसा सुन वह रत्नसेन के पास अपने दूत द्वारा इस आशय का सन्देशा भेजता है कि वह पद्मावती को उसके हरम में भेज दे और बदले में जितना राज्य चाहे उतना ले ले; परन्तु रत्नसेन द्वारा आशा के विपरीत उत्तर पाने पर वह चित्तौड़ पर चढ़ाई कर देता है और आठ वर्ष तक उसके चतुर्दिक घेरा डाले रखता है।

कवि ने अलाउद्दीन को शूरवीर के रूप में भी चित्रित किया है। उसके हृदय में वीरों और उनकी वीरता के प्रति उचित सम्मान है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उस घटना से होता है कि जब अलाउद्दीन के सन्धि-प्रस्ताव को रत्नसेन ने स्वीकार कर लिया तो सरजा ने अलाउद्दीन की चाटुकारिता अर्थात् चापलूसी में राजपूतों को 'काग' की संज्ञा से सम्बोधित किया। इस पर अलाउद्दीन ने उसे बहुत फटकारा और कहा कि काग वे नहीं वरन् तुम हो—जो धूर्तता करते हो और इधर की बात उधर तथा उधर की बात इधर किया करते हो। 'काग' धनुष पर चढ़े हुए वाण को देखकर भाग जाते हैं परन्तु राजपूत उसे देखते ही शत्रु को युद्ध के लिए ललकार कर खड़े हो जाते हैं। जायसी ने अलाउद्दीन के मुख से ऐसी बात कहलवाकर अपनी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

समग्रतः अलाउद्दीन को उदार एवं सरल हृदय हम नहीं कह सकते। वह छली, विश्वासघाती, आक्रामक और जिद्दी है। महान् शासक के अनुरूप गम्भीरता का उसमें अभाव है, यही कारण है कि वीर होते हुए भी वह पाठकों की विरक्ति और घृणा का पात्र बनता है।

सबसे बड़ी बात यह कि आध्यात्मिक संकेत में वह माया (असत) का प्रतीक है, फलस्वरूप पाठकों की सहानुभूति, करुणा तथा आदर और प्रेम के द्वार उसके लिए बन्द हैं। यद्यपि जायसी ने कहीं भी उसके साथ पक्षपात या अन्याय नहीं किया और यथास्थान परिस्थितियों के अनुकूल उसके मनोभावों एवं आचरण का प्रदर्शन किया है, तथापि अलाउद्दीन का चरित्र पूर्णतया नहीं निखर सका है। साँगोपाँग चारित्रिक विवेचन के अभाव में कुछ स्फुट गुण-दोषों के आधार पर हम किसी के प्रति सच्चा न्याय नहीं कर सकते। पद्मावत के प्रतिनायक अलाउद्दीन की ठीक यही स्थिति है।

पद्मावती

काव्य की नायिका पद्मावती प्रथम रत्नसेन की प्रेयसी और बाद में उसकी पत्नी के रूप में चित्रित हुई है। उसका चरित्र भी नायक रत्नसेन की भाँति आदर्शोन्मुख है। सिंहल के आवासकालीन जीवन में उसका स्वरूप एक सच्ची प्रेमिका का है। इस तथ्य का उद्घाटन कवि ने कई बार किया है। प्रमुख रूप से उस समय तो यह अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है जब रत्नसेन को शूली की आज्ञा होती है। देखिए पद्मावती क्या कहती है—

"काढ़ि प्रान बैठों लेइ हाथा। मरे तो मरौं जिऔं एक साथा॥"

सिंहल से चित्तौड़ लौटते समय मार्ग में ही उसके आदर्श गृहणीत्व का स्वरूप प्रकट होने लगता है। पुरी में पहुँचने पर राजा रत्नसेन के पास हंस, शार्दूल आदि पाँच वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पाथेय शेष न रहा तब पद्मावती ने झट उन रत्नों को बेचने के लिए प्रस्तुत किया जो विदा के समय लक्ष्मी द्वारा उसे छिपाकर दिए गए थे। यहाँ पर वह संचय बुद्धिशीला आदर्श गृहणी के स्वाभाविक रूप में उपस्थित होती है।

पद्मावती में व्यक्तिगत दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता भी है। इस बात का पता हमें

दो स्थलों से विशेष रूप से चलता है। प्रथम स्थल तो वह है जब रत्नसेन ने पंडितों के कहने में आकर राघवचेतन को देश निर्वासन की आज्ञा दी। पद्मावती को राजा का यह कार्य अच्छा और राज्य के पक्ष में हितकारी न लगा—

"ज्ञान-दिस्टि धनि अगम विचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निकारा॥"

अस्तु वह अपने हाथ के कंगन-दान से राघवचेतन को संतुष्ट करने का प्रयत्न करती है। एक महारानी के रूप में पद्मावती ने यहाँ बड़ी ही दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

द्वितीय स्थल, जिससे रानी की बुद्धिमत्ता एवं साहसिक उद्योग का पता चलता है, वह यह है कि जब रत्नसेन दिल्ली में कैद हो जाता है और रत्नसेन से रूठे हुए गोरा-बादैल को मनाने वह स्वयं पैदल उनके द्वार पर जाती है। राजा के सच्चे हितैषी और वीरवर उन दोनों योद्धाओं को पहचानने में उसने बड़ी सावधानी से काम लिया।

उसमें जातिगत स्वभावानुसार प्रेमवर्ग और सपत्नी के प्रति ईर्ष्या का भाव भी पाया जाता है। वह रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता दोनों है। जैसे ही उसे यह पता चलता है कि प्रियतम नागमती के प्रमद-कानन में विहार कर रहा है, वह तत्काल वहाँ पहुँचती है—और स्त्रीसुलभ दुर्बलता के अनुकूल वादविवाद छेड़ बैठती है। विद्वानों ने इस प्रकार के गर्व मान तथा ईर्ष्या और प्रेम को स्त्री जाति के सामान्य स्वभाव के अन्तर्गत लिया है।

पद्मावती पतिपरायणा, एकनिष्ठ प्रेमिका एवं पत्नी है। उसकी समस्त कामनाएं और आशायें रत्नसेन में निहित हैं। उसके प्रेम का जो महान् और सतीत्व का भव्य-रूप पद्मावत में जायसी ने प्रस्तुत किया है वह सर्वथा सराहनीय है। दूती संवाद में पद्मावती के पवित्र और एकनिष्ठ प्रेम की स्पष्ट झाँकी हमें देखने को मिलती है। प्रियतम की मृत्यु का समाचार पाते ही वह सपत्नी नागमती के संग चिता पर प्रियतम के शव से लिपट सती हो जाती है। यहाँ पर कवि ने हिन्दू नारी के चरित्र का चरम उत्कर्ष प्रकट किया है।

पद्मावती दिव्य और पावन-प्रेम की साक्षात प्रति मूर्ति है। उसमें एक आदर्श प्रेमिका, पत्नी और राज्य की रानी के समस्त आवश्यक गुणों का उचित समावेश है। कवि ने उसके रूप और शील का बड़ा ही भव्य एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। वह सम्पूर्ण प्रेम-कथा की केन्द्र-बिन्दु है।

नागमती

अत्यन्त सुन्दरी श्यामवर्णा नागमती राजा रत्नसेन की प्रथम पत्नी और काव्य की प्रतिनायिका है। कवि ने सर्वप्रथम उसे रूपगर्विता के रूप में प्रस्तुत किया है।

"नागमती रूपवती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिनु कीन्हा॥
बोलहु सुआ पियारे नाहाँ। मोरे रूप कोई जग माहाँ॥
हँसत सुआ पँह आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी॥

सुआ बानि कसि कहु कस सोना । सिंहलदीप तोर कस लोना ।।
कौन रूप तोरी रूपमनी । दहुँ हौं लोनि, कि वै पदमिनी ।।
जो न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन ।
है कोई एहि जगत महँ, मोरे रूप-समान ।।"

× × ×

"सुमिरि रूप पदमावति केरा । हँसा सुआ, रानी मुख हेरा ।।
जेहि सरवर महँ हंस न आवा । बगुला तेहि सर हंस कहावा ।।
लोनि विलोनि तहाँ को कहै । लोनी सोई कंत जहि चहै ।।
का पूछहु सिंहल कै नारी । दिनहि न पूजै निसि-अँधियारी ।।"

इस पर रानी को चिंता हो जाती है कि :—

"जौ यह सुआ मंदिर महँ अहई । कबहुँ बात राजा सौं कहई ।।
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी । छाँड़ै राज, चलै होइ जोगी ।।"

इसलिये उस विषय को नष्ट कर देने के लिए धाय को शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर मारने का आदेश देती है जो स्त्री स्वभाव सुलभ ईर्ष्या तथा आशंका से परिपूर्ण है—

"पंखि न राखिय होइ कुभाखी । लेइ तहँ मारु जहाँ नहिं साखी ।।"

परन्तु विधना कुछ ऐसा था कि सुआ बच जाता है ।

नागमती में एक आदर्श भारतीय गृहिणी की समस्त भावनाओं का कवि ने समावेश कर रखा है । देखिये पद्मावती के प्रेम में योगी बनकर घर छोड़कर जाते हुए पति रत्नसेन के प्रति उसका निवेदन किस प्रकार उसके सतीत्व की ओर इंगित करता है:—

"अब को हमहि करहि भोगिनी । हमहूँ साथ होब जोगिनी ।।
की हम्ह लावहु अपने साथा । की अब मारि चलहु एहि हाथा ।।
तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता । जहँवा राम तहां संग सीता ।।
जौ लहि जिउ संग छांड़ न काया । करिहौं सेव पखरिहौं पाया ।।"

—(जोगी खंड)

नागमती के चरित्र की सब से उज्ज्वल झाँकी हमें उस समय मिलती है, जब रत्नसेन नवपरिणीता वधू पद्मावती के साथ सिंहल में भोग-विलास में रत था; और नागमती यहाँ चित्तौड़ में उसकी अविकल-प्रतीक्षा में विरह-विदग्ध हो रही थी। उसके वियोग-चित्रण में जायसी की लेखनी ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। दूसरे शब्दों में इसे हम यों कहेंगे कि नागमती के आँसुओं में डूबकर जायसी की लेखनी ने उसकी वियोग-दशा का वर्णन किया है । नागमती को कवि ने एक आदर्श भारतीय हिन्दू रमणी के रूप में देखा है, और उसके विशाल हृदय की पवित्रता एवं संवेदनशीलता का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है । देखिए नागमती की जोड़ी बिछुड़ गई है, जिसके वियोग में सूखकर वह पिंजर मात्र रह गई है । इस तथ्य को कवि ने कितने कुशल और प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया है :—

"सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ?
झुरि-झुरि पींजर हौं भई, विरह-काल मोहि दीन्ह ॥"

वेदना की असीमता देखिए :—

"खन एक आव पेट मँह साँसा । खनहि जाइ जिउ होइ निरासा ॥
पवन डोलावहिं सींचहिं चोला । पहर एक समुझहिं मुख-बोला ॥"

फारसी शैली से प्रभावित होने के नाते वर्णन कहीं-कहीं ऊहात्मक अवश्य हो गया है परन्तु उसमें भी व्यंजना की एकरूपता है। कुछ उद्धरण लीजिए :—

(१) **"जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।**
सोइ पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥"

(२) **"जँह-जँह ठाढ़ि होई बनवासी । तँह-तँह होइ घुघुचि कै रासी ॥**
बूंद-बूंद मँह जानहु जीऊ । गुंजा गूँजि करै 'पिउ-पीऊ' ॥"

(३) **"तेहि दुख भये परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥**
जानहु अगिनि कै उठहिं पहारा । औ सब लागहिं अंग अंगारा ॥"

(४) **"जरत वजागिनि करु पिउ छाँहा । आइ बुझाउ, अँगारन माँहाँ ॥**
लागिउ जरै-जरै नस भारू । फिरि-फिरि भूंजेसि तजिऊ न बारू ॥"

उसके करुण क्रन्दन को सुनकर पक्षी विह्वल हो गए अन्त में एक पक्षी कुछ पूछ ही बैठा। इस पर नागमती उससे अपनी विरह व्यथा का निवेदन करती हुई निम्नसंदेशा पद्मावती तक पहुँचाने की याचना करती है :—

"पदमावति सौं कहेउ विहंगम । कंत लोभाय रही करि संगम ॥
हमहूँ बियाही संग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर जीऊ ॥
अबहु मया करु करु जिउ फेरा । मोंहि जियाउ कंत देइ मोरा ॥
मोंहि भोग सों काज न बारी । सौंह दीठि कै चाहन हारी ॥
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ॥"

इस अस्थिर मनःदशा में भी कितने उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। यहाँ नागमती का चरित्र अपनी उज्ज्वलता की चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है। इस स्थल पर एकनिष्ठ आदर्श पतिप्राणा भारतीय गृहिणी का चरित्र-कमल अपना पूरा परिमल बिखेर रहा है। उसकी वियोग दशा द्वारा पति के प्रति उसके गूढ़ गंभीर प्रेम की व्यंजना हुई है। **"पति-परायणा नागमती जीवन-काल में अपनी प्रेम-ज्योति से गृह को आलोकित करके अन्त में सती की दिगंत व्यापिनी प्रभा से दमक कर इस लोक से अदृश्य हो जाती है।"**[1]

नागमती के चरित्र के माध्यम से ही जायसी ने भारतीय और फारसी शैली का समन्वय किया है जो उनके साहित्य की अपनी विशेषता है।

---

१. **रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका भाग**

: १३ :

पद्मावत में अलंकार-योजना

अलंकार काव्य का शृङ्गार होता है। जायसी ने अधिकतर सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। सादृश्य मूलक अलंकारों से स्वरूप का बोध कराने तथा भावों का उत्कर्ष प्रकट करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। सादृश्य मूलक के अन्तर्गत उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की बहुलता रहती है। इनमें से भी जायसी को हेतूत्प्रेक्षा सर्वाधिक प्रिय थी। इसके सहारे उन्होंने अपनी कल्पना का विस्तार खूब किया है। रूप वर्णन में अलकारों की भरमार हो गई है। पद्मावती के अपरिमित सौन्दर्य का वर्णन करने में कवि ने अपनी कलम तोड़ दी है। नीचे अब हम कुछ प्रमुख अलंकारों के उद्धरण प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम जायसी का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा ही लीजिए—

"कंचन-रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनी परगसी।।
सुरुज किरन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी।।"

आँख की वरुनियों का वर्णन देखिए :—

"वरुनी का वरनौ इमि बनी। साधे वान जान दुइ हनी।।
जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुद भये दुइ नैना।।"

कटि की सूक्ष्मता देखिए :—

"मानहु नाल खंड दुइ भए। दुहु बिच लंक तार रहि गए।।"

इनमें वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

क्रियोत्प्रेक्षा—

"अस वे नयन चक्र दुइ, भँवर समुद उलथाहि।
जनु जिउ घालिहि डोल महँ, लेइ आवहि, लेइ जाँहि।।"

हेतूत्प्रेक्षा—

'सहस किरिन जो सुरुज दिखाइ। देखि लिलार सोउ छपि जाई।।"

× × ×

"दारिउ सरि जो न कै सका। फाटेउ हिया दरक्कि।"

फलोत्प्रेक्षा—

"पुहुप सुगंध करहि एहि आसा। मकु हिरकाई लेइ हम पासा।।"

× × ×

"करवत तपा लेहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू।।"

व्यतिरेक—

"का सरवरि तेहि देऊँ मयँकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
सुआ सो नाक कठोर पंवारी। वह कोमल तिल-पुहुप सँवारी॥"

× × ×

'वह पदमिनि चितउर जो आनी। काया कुंदन द्वादस बानी॥
कुंदन कनक ताहि नहिं बासा। वह सुगंध जस कंवल बिगासा॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोमल रंग पुहुप सुरंगा॥"

रूपकातिशयोक्ति—

"राते कँवल करहि अलि भँवा। घूमहिं मातिं चहहि अपसवाँ॥"

× × ×

'कँवल कली तू पदमिनि! गइ निसि भयऊ बिहानु॥
अबहुँ न सपुट खोलसि, जब रे उआ जग भानु॥
भानु नाँव सुनि कँवल बिगासा। फिरि कै भँवर लीन्ह मधुवासा॥"

× × ×

"साम भुअंगिनि रोमावली। नाभिहि निकसि कंवल कह चली॥
आइ दुवौ नारँग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रहि गई॥
पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ।
छत्र सिंहासन, राज, धन, ता कँह होई जो दीठ॥"

साँगरूपक—

"जोबन-जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपान, हंस परगटा।"

अब कुछ अर्थालङ्कारों के भी उदाहरण लीजिए—

"धरती बान बेधि सब राखी, साखी ठाउ देहि सब साखी।"

निदर्शना एवं यमक—

"तारे गिनत छिपंह सब तारे। छिन न छिपहं पुतरी के तारे।"

तद्गुण अलंकार—

"नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥"

दृष्टान्त—

"मुहमद बाजी प्रेम की ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों होइ फुलयाल तेल॥"

निदर्शना—

"जेहि दिन दसन जोति निरनई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥

जहँ जहँ विहँस सुभावहि हँसी । तहँ तहँ छिटकी जोति परगसी ।।"

विभावना—

"जीउ नाहि पै जिए गुसाईं । कर नाही पै करै सवाई ।।"

संदेह अलंकार—

"मनहुँ चढ़ी भौरन्ह कै पाँती । चन्दन-खाँभ बास कै माती ।।
की कालिन्दी विरह सताई । चलि प्रयाग अरइल बिच आई ।।"

अनुप्रास—

"सिथिल न चंचल बड़ा न छोटा । तरुन न बूढ़ा लटा न मोटा ।।
बहुर न थोरा सजा न फूटा । मिला न बिछुरा जुटा न टूटा ।।"

उपमा अलंकार—

"कया कपूर हाड़ जनु मोती । तेहि ते अधिक दीन्ह विधि जोती ।।"

× × ×

"सुरुज कान्ति करा जसि, निरमल नीर सरीर ।"

उपर्युक्त कुछ थोड़े से अलंकारों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने अलंकारों का प्रयोग अर्थ-विस्तार और भावों के उत्कर्ष के लिए बड़े ही सुन्दर ढंग से और अधिक संख्या में किया है। किन्तु हमें यहाँ यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने परम्परा पालन का ध्यान भी बहुत रक्खा है। इससे कहीं-कही भद्दी परम्परा का चित्र भी आ गया है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे इस तथ्य का उद्घाटन बड़ी ही सरलता से हो जाता है। प्रथम उदाहरण में सामग्री वीर रस की है और उसमें श्रृङ्गार का आरोप किया है। दूसरे उदाहरण में सामग्री श्रृङ्गार-रस की है, उसमें उन्होंने वीर रस का आरोप किया है। प्रथम उदाहरण स्त्री के रूपक में तोप का वर्णन लीजिए—

"कहौं सिंगार जैसि वे नारी । दारू पियहिं जैसी मतवारी ।।
सेन्दुर आगि सीस उपराहीं । पहिया तरविन चमकत जाहीं ।।
कुच गोला दुई हिरदय लाई । अंचल धुजा रहे छिटकाई ।।
रसना लूक रहहि मुख खोले । लंका जरै सो उनके बोले ।।
अलक जँजीर बहु गिउ बाँधे । खींचहि हस्ती, टूटहि काँधे ।।
वीर सिंगार दोउ ऐकै ठाऊँ । सत्रु-साल गढ़-भंजन नाऊँ ।।"

नीचे का दूसरा उदाहरण परिणाम अलंकार का है। बादल युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए तैयार है, ऐसे अवसर पर उसकी नवागता पत्नी उससे वादविवाद करते हुए कहती है—

"जौ तुम चहहु जूझि, प्रिय ! कीन्ह सिंगार जूझ में साजा ।।
जोबन आई सौहं होई रोपा । पिघला विरह कामदल कोपा ।।
भौंहे धनुष नयन सर साँधे । वरुनि बीच काजर विष बाँधे ।।
अलक फाँस गिउ मेलि असूझा । अधर अधर सों चाहहि जूझा ।।

कुंभस्थल कुच दोऊ मैमंता। पेलौं सौंह सँभारहु कंता॥"

उपर्युक्त दोनों वर्णन कितने रस विरोधी हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि फारसी प्रभाव और परम्परा मोह ने ही जायसी के अलंकारिक वर्णन में वीभत्सता उत्पन्न की है। जहाँ इससे विरक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से उन्होंने अलंकारों का वर्णन किया है वहाँ उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है और उसमें उनके काव्य की श्री वृद्धि हुई है।

: १४ :

पद्मावत की मसनवी शैली

मसनवी फारसी साहित्य की एक काव्य-शैली है जिसमें सामान्यतया निम्नलिखित बातों का समावेश रहता है—

१. प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण तथा तुकांत होता है। एक चरण के शब्द दूसरे चरण में नहीं जा सकते।

२. इसका प्रयोग अधिकतर वर्णनात्मक काव्यों, प्रेमाख्यान, उपदेशात्मक या धार्मिक ग्रन्थों के लिए अधिक सुन्दर समझा जाता है।

३. इस शैली के काव्य के प्रारम्भ में ईश्वर, पैगम्बर, पैगम्बर के मित्र, कवि के गुरु और सामयिक राजा की प्रशंसा रहती है। इसके पश्चात् कवि अपना परिचय तथा कथा का सांकेतिक सूत्र बताता है।

४. ग्रन्थ के खंड या विभाग होते हैं फिर ये सर्गबद्ध किये जाते हैं। सर्गों का नाम वर्ण्य विषय के अनुसार रखा जाता है।

५. अन्त में उपसंहार होता है जिसमें कवि अपनी रचना का उद्देश्य तथा ग्रन्थ की समाप्ति की तिथि का उल्लेख करता है।

अब हम इन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए 'पद्मावत' का परीक्षण करेंगे कि वह फारसी शैली का मसनवी-काव्य है या नहीं ? क्रमशः एक एक बिन्दु को लीजिए।

१. जहाँ तक प्रथम बिन्दु का प्रश्न है पद्मावत का प्रत्येक पद अपने में स्वतन्त्र, पूर्ण तथा तुकान्त है। यहाँ हम एक अर्द्धाली की ही चर्चा कर रहे हैं जिसको पूर्ण चौपाई के रूप में जायसी ने अपनाया है। मसनवी में भी प्रत्येक दो मिसरे समतुकांत होते हैं। उदाहरण—

"अनचिन्ह पिउ काँपौं मन माँहा। का मैं कहब गहब जौ बाँहा॥
बारि बैस गहै प्रीति न जानी। तरुनि भई, मैमंत लुभानी॥
जोबन गरब न किछु मैं चेता। नेह न जानौं साम कि सेता॥
अब सो कंत जो पूछहिं बाता। कस मुख होइहि पीत की राता॥"

× × ×

"करि सिगार तापँह का जाऊँ। ओहि देखहुँ ठाँवहि ठाऊँ॥
जौं जिउ में तौ उहै पियारा। तन मन सो नहिं होइ निनारा॥
नैन माँह है बाँहे समाना। देखौं तहाँ नाहि कोउ आना॥"

**"पद्मावति सौं कहेउ विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कंह हिये दुन्द दुख पूरा।।
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ, जानु पर जीऊ।।
मोंहि भोग सो काज न, वारी। सौंह दिस्टि कै चाहन हारी।"**

२. पद्मावत एक प्रेमाख्यानक काव्य है। राजा रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय-कथा का वर्णन ही इसका केन्द्र विषय है। कथा का प्रारम्भ मसनवी शैली पर किया गया है और प्रेम का प्रसंग भी फारसी प्रेम शैली पर है। पद्मावती के रूप वर्णन से ही राजा मूर्छित हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरह वर्णन में भी फारसी शैली के अनुसार प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिए कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमा को लाँघ गया है। रूप वर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वाभाविकता में बाधा डालता है। उदाहरण—

**"हिया थार कुच कंचन लाडू। कनक कचोर उठे करि चाडू।।
कुन्दन बेल साजि जनुँ कूदे। अमृत भरे रतन दुइ मूंदे।।
बधे भँवर कंट केतुकी। चाहँहि बेध कीन्ह कँचुकी।।
जोबन बान लेहि नहिं बागा। चाहहि हुलसि हिए हठि लागा।।
अगिनि बान दुई जानहु सांधे। जग वेधहिं जौं होहि न बांधे।।
उतंग जंभीर होइ रखवारी। छुइ को सका राजा कै बारी।।
दारिव दाख भरे अनचाखे। अस नारंग दहुँ का कँह राखे।।
राजा बहुत मुए तपि, लाइ लाइ भुँइ माथ।
काहू छुअै न पारै, गए मरोरत हाथ।।"**

अर्थ—इस पद में तोता राजा से पद्मावती के स्तनों का सौंदर्य-वर्णन कर रहा है—

हृदय रूपी थाल में उसके दो कुच ऐसे हैं जैसे सोने के लड्डू हों, अथवा सुन्दर सोने के दो कटोरे उलटे लगकर उठे हैं। सुन्दर सोने के बेल खराद पर सजाये हुए हैं, या अमृत से भरे हुए छिपाकर रखे हुए हैं। कुचों के ऊपर जो काली ढेंच होती है उसे दृष्टि में रखकर ज्ञात होता है कि मानो केतकी फूल में काला भौंरा बिंध गया है और अब चोली को बेधना चाहता है। जवानी का रंग उस पर चढ़ा है, वे बाग नहीं लेते अर्थात् रोके नहीं रुकते। अब वे हुलसकर हृदय में लग जाना चाहते हैं, मानो दो अग्निबाण साधे हुए हैं, यदि बंधे न होते तो सारे संसार को बेध डालते। ये उठे हुए उस नींबू के समान हैं जिन की रखवाली होती है। यह तो राजा की लड़की या वाटिका है, इसको कौन छू सकता है। इसमें दाड़िम (दाँत) और दाख (अधर) अनचखे पड़े हुए हैं। तोता कहता है पता नहीं ये नारंगियाँ (कुच) भी किसके लिए रखी हुई हैं। अनेक राजा लोग तपस्या कर कर और पृथ्वी पर माथा रगड़-रगड़कर मर गए, कोई इसे छू न सका। सभी हाथ मरोरते चले गए।[1]

१, जायसी ग्रंथावली, नखशिख खण्ड—डा० मनमोहन गौतम

"सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानहु लहरि सुरुज कै आई॥
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुँद अपारा। लहरहि लहर होइ विस भारा॥
विरह भंवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहिं लेई॥"

—(प्रेम-खंड)

× × ×

"जेहि पंछी कहं अठवौं, कहि सो विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ उहि, तरुवर होइ निपात॥"

—(नागमती वियोग-खण्ड)

प्रेम का यह स्वरूप मसनवी शैली से आरम्भ होकर अन्त में भारतीय परम्परा से समन्वय कर लेता है जो जायसी की अपनी विशेषता है।

३. पद्मावत के आरम्भ में परम पिता परमेश्वर का स्मरण किया गया है। ग्रंथ की पहली पंक्ति उसके सुमिरन से आरम्भ होती है—

"संवरौं आदि एक करतारू। जेइ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कविलासू॥
कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा॥
कीन्हेसि धरती सरग पतारू। कीन्हेसि वरन वरन अवतारू॥
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मण्डा। कीन्हेसि भुवन चौदहउ खंडा॥
कीन्हेसि दिनदिन अर, ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन-पांती॥
कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँहा। कीन्हेसि मेघ बीजु तेहि माँहा॥
कीन्ह सबइ अस जाकर, दोसरहि छाज न काहु।
पहिलेहि तेहिक नाँउ लइ, कथा कहौं अवगाहु।"

—(स्तुति खण्ड)

यहाँ पर 'एक करतारू' शब्द द्रष्टव्य है। एक करतारू कहकर जायसी ने मुस्लिम एकेश्वरवादी ईश्वर का स्मरण किया है। "**कीन्हेसि शब्द भी साभिप्राय है; इसमें भूत-काल (क्रिया) है। इस्लाम मतानुसार वर्तमान सृष्टि प्रथम और अन्तिम है। न तो इस सृष्टि के पहले परमेश्वर ने और कोई सृष्टि की थी और न करेगा। पुनर्जन्म की व्यवस्था वहां है ही नहीं। कयामत के समय सभी जीवात्माओं का एक साथ निर्णय होगा, जिसमें अपने-अपने पुण्य के अनुसार वे या तो अनन्तकाल तक स्वर्ग में चली जायँगी या नरक में। हिन्दू भावना के अनुसार जहाँ सृष्टि का वर्णन होता है वहाँ सामान्यतया वर्तमानकाल सृष्टिकर्त्ता का प्रयोग होता है।**"[1] उस परमशक्तिवान एक करतारू का वर्णन करने के उपरान्त आगे चलकर कवि मुहम्मद साहब का स्मरण करता है।

१. जायसी ग्रंथावली सटीक—डा० मनमोहन गौतम

"कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाऊँ मुहम्मद पूनिउ करा।।
प्रथम जोति बिधि तेहि कै साजी। औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी।।
दीपक लेसि जगत कहं दीन्हा। भा निरमल जग मारग चीन्हा।।
जौं न होत अस पुरुष उज्यारा। सूझि न परत पंथ अंधियारा।।
दोसरई ठाँव दई ओइ लिखे। भए धरमी जो पाढ़ित सिखे।।
जगत बसीठ दई ओइ कीन्हे। दोउ जग तरा नाउँ ओहि लीन्हे।।
जेइ नहिं लीन्ह जनम सौ नाऊँ। ते कहँ कीन्ह नरक मँह ठाऊँ।।
गुन अवगुन विधि पूछत, होइहि लेख अउ जोख।
ओन्ह बिन उव आगे होइ, करब जगत कर मोख।।"

इसके बाद कवि ने पैगम्बर के चारों मित्रों का वर्णन किया है—

"चारि मीत जो मुहम्मद ठाऊँ। चहुँक दुहूँ जग निरमर नाऊँ।।
अबाबकर सिद्दीक सयाने। पहिलइँ सिदिक दीन ओहँ आने।।
पुनि जो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदल दीन जौं आए।।
पुनि उसमान पंडित बड़े गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी।।
चौथइँ अली सिंघ बरियारू। सौंह न कोई रहा जुझारू।।
चारिउ एक मतइँ एक बाता। एक पंथ औं एक संघाता।।
वचन जो एक सुनाएन्हि साँचा। भए परवान दुहूँ जग बाँचा।।
जो पुरान विधि पठवा, सोई पढ़त गिरंथ।
अउर जो भूले आव ते, सुनि लागत तेहि पंथ।।"

—(स्तुति-खण्ड)

पैगम्बर के चारों मित्रों का वर्णन करने के उपरान्त शाहेवक्त दिल्ली अधिपति शेरशाह का वर्णन है—

"सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू।।
ओही छाज छात औ पाटू। सब राजा भुंई धरहिं लिलाटू।।
जाति सूर औ खाँडइ सूरा। औ बुधिवंत सबह गुन पूरा।।
सूर नवाई तवइ खंड भई। सातउ दीप दुनी सब नई।।
तँह लगि राज खरग बर लीन्हा। इसकंदर जुल करां जो कीन्हा।।
हाथ सुलेमा केरि अँगूठी। जग कहं जिअन दीन्ह तेहि मूठी।।
ओ अति गुरू पुहुमि मति भारी। टेकि पुहुमि सब सिष्टि संभारी।।
दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहिं जुग राज।
पातसाहि तुम जग के डग तुम्हार मुहताज।।"

—(स्तुति खंड)

शाहे वक्त शेरशाह के वर्णन के पश्चात् कवि अपने गुरु का स्मरण करता है जिसने कि उसे पंथ सुझाया। बिना गुरु के कोई उसकी दृष्टि में परम प्रियतम को प्राप्त

ही नहीं कर सकता। इस नाते कवि ने गुरु का बड़ा विद्वतापूर्ण वर्णन किया है—

"सैयद असरफ पीर पियारा। तिन्ह मोहि पंथदीन्हि उजियारा॥
लेसा हिए प्रेम कर दीया। उठी जोति भा निरमल हीया॥
मारग हुत अंधियार असूझा। भा अंजोर सब जाना बूझा॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित धरम लीन्ह कइ चेला॥
उन्ह मोर करिअ पोढ़ कर गहा। पाएउ तीर घाट जो अहा॥
जा कंह अइस मोंहि कंडहारा। तुरति बेगि सो पावइ पारा॥
दस्तगीर गाढ़े के साथी। जंह अवगाह देंहि तंह हाथी॥
जहांगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चांद।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उनके घर बांद॥"

—(स्तुत खंड)

आगे चलकर कवि ने शेख मुहीउद्दीन के प्रति भी गुरुवत् श्रद्धा का प्रदर्शन किया है—

"गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिनकर खेवा॥
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि करनी॥
ओइ सो गुरु हौं चेला, नित विनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं, दरस गोसाइँ केर॥"

—(स्तुति खंड)

गुरुओं की चर्चा करने के उपरान्त कवि ने अपना परिचय दिया है। इस वर्णन में सर्वप्रथम उसका ध्यान अपनी कुरूपता की ओर ही गया है। वर्णन में गर्वोक्ति है—

"एक नैन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी॥
चाँद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकइ नैनाहां। उआ सूक अस नखतन्ह मांहा॥
जौ लहि अम्बहि ठाभ न होई। तौ लहि सुगन्ध बसाइ न सोई॥
कीन्ह समुद्र पानि जौ खारा। तौ अति भएहु असूझ अपारा॥
जौ सुमेरु तिरसूल विनासा। भा कंचन गिरि लाग अकासा॥
जौ लंहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहिं कंचन करा॥
एक नैन जस दरपन, औ तेहि निरमल भाउ॥
सब रूपवंत पांव गहि, मुख जोवहिं कइ चाउ॥"

—(स्तुति खंड)

अपना परिचय देने के पश्चात् कवि ने अपने चारों मित्रों का वर्णन किया है। अपना निवास स्थान बताया है और फिर खण्ड के अन्त में कथा का सार संक्षेप में कह दिया है—

"सन नव सै (सत्ताइस) सैंतालिस अहा। कथा आरम्भ बैन कवि कहा॥

सिंहलदीप पदमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीन दिल्ली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकहिं भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै॥
कवि बिआस रस कौला पूरी। दूरिहि नियर-नियर भा दूरी॥
नियरहिं दूरि फुल सँग काँटा। दूरि जो निअर जस गुरू चाँटा॥
भँवर आइ वनखंड हुति, लेहि कंवल कै बास।
दादुर वास न पावहि, भलेहिं जो आछहिं पास॥"

— (स्तुति खंड)

४—पद्मावत का विभाजन कवि ने सर्गों में न करके खण्डों में किया है। ग्रंथ में ५८ खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड का नाम वर्ण्य विषय के आधार पर है।

५—ग्रंथ का अन्तिम खण्ड 'उपसंहार' शीर्षक से विभूषित है। इस खण्ड में कवि ने अपनी सारी कथा के वास्तविक मर्म व अर्थ की ओर संकेत किया है और बताया है कि उसने यह कथा क्यों तथा किस प्रकार लिखी—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेई पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँधा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेउ जौ बूझै पारहु॥
तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबैं सराहैं ताहि॥"

तथा।

"मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम करि पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
कहाँ सो रतनसेन अब राजा। कहाँ सुआ अस बुधि उपराजा॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहाँ राघव जेइ कीन्ह बखानू॥
कहाँ सुरुप पद्मावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी॥
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू॥
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लींह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरे दुइ बोल॥"

ग्रंथ की समाप्ति की तिथि का उल्लेख कवि ने नहीं किया, जिसके कारण

विद्वानों को काफी सिर दर्द है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि पद्मावत के रचयिता ने उसे मसनवी शैली पर ही लिखा है। यद्यपि गहराई में जाने पर पद्मावत पूर्णतः उस शैली का काव्य नहीं ठहरता है। फिर भी अधिकांश लक्षण मिलते हैं। इस नाते हमें अब यह कहने में कोई संकोच नहीं कि पद्मावत फारसी की मसनवी शैली का काव्य है। हाँ, इस सम्बन्ध में हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि पद्मावत हिन्दू घराने की कहानी है और उसका कवि मुसलमान होते हुए भी भारत की मिट्टी में जन्मा और पला है। इससे उस पर भारतीय राजनीति, आचार-व्यवहार तथा धर्म-संस्कृति आदि की भी छाप है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

: १५ :

पद्मावत में रस-योजना

रस काव्य की आत्मा होती है। जिस काव्य में रस का परिपाक जितना ही होता है, वह काव्य उतना ही उत्तम कोटि का होता है। पद्मावत जायसी का महाकाव्य है। ऐसी दशा में उसमें महाकाव्य के अनुकूल समस्त रसों का समावेश आवश्यक है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि पद्मावत महाकाव्य होते हुए भी एक श्रृङ्गार प्रधान प्रेम-काव्य है। कवि का प्रमुख ध्यान प्रेम-तत्व को शृंगारिक आवरण में व्यक्त करने की ओर ही अधिक रहा है। इससे अपेक्षाकृत अन्य रसों के चित्रण की ओर उसकी दृष्टि कम जा सकी है। वैसे इस सत्य को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि पद्मावत में लगभग सभी रसों का समावेश है। अब हम कतिपय उद्धरणों द्वारा इस तथ्य का निरूपण करेंगे।

श्रृङ्गार रस—श्रृङ्गार के दो पक्ष होते हैं—संयोग श्रृङ्गार और वियोग श्रृङ्गार। वियोग श्रृङ्गार की विस्तृत भूमिका में ही विप्रलम्भ श्रृङ्गार का भी समावेश होता है। पद्मावत में श्रृङ्गार रस के इन दोनों पक्षों का उद्‌घाटन किया गया है। हाँ, यह अवश्य है कि इन दोनों में प्रमुखता वियोग शृंगार की है। इसी नाते पद्मावत को विरह काव्य भी कहा जाता है। वियोग शृंगार का जैसा भव्य उद्‌घाटन जायसी करने में समर्थ हुए हैं, वैसा संयोग श्रृंगार का नहीं। अब एक-एक को अलग-अलग लीजिये।

संयोग श्रृङ्गार—इस शृंगार पर इसी ग्रंथ में एक भिन्न स्थान पर हम विस्तार में विचार कर चुके हैं, इसलिए यहाँ हम संकेतमात्र करेंगे।

पद्मावत में संयोग के केवल निम्न स्थल आते हैं। १—वसन्त खण्ड में २—विवाह तथा पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड में ३—षटऋतु वर्णन में और ४—नागमती-रत्नसेन भेंट के अवसर पर।

वसन्त खण्ड में पद्मावती के अपूर्व सौंदर्य को देखते ही रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। इस नाते संयोग का वह वातावरण ही विनष्ट हो जाता है जिसके बीच उसका परिपाक होता। विवाह खण्ड में भी मिलन सुख की स्मृति मात्र से पद्मावती के अंग-अंग हुलसने लगते हैं—

> **"अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहूं न समाइ।**
> **ठाँवहि ठांव विमोही; गई मुरछा तनु आई॥"**

परन्तु यहाँ नायक रत्नसेन के न होने से नायिका पक्ष में उन संचारियों का

समावेश न हो सका जिनके माध्यम से स्थायीभाव रस अवस्था को प्राप्त होता। अस्तु शुद्ध रस की दृष्टि से यह स्थल भी अपने में सर्वाङ्गीण रूप से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वैसे चित्रण बड़ा ही मनोहारी और आकर्षक है।

पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड में संयोग शृङ्गार का पूर्ण परिपाक हुआ है। नायक और नायिका जी खोलकर मिले हैं। बीच में अन्य कोई व्यवधान नहीं उपस्थित हो सका है जो रस विरोध उत्पन्न करता।

षटऋतु वर्णन पद्मावती के पक्ष में संयोग शृंगार का उद्दीपन बनकर आया है। वही ऋतुएँ जो नागमती को पति वियोग से दुखदायिनी प्रतीत होती हैं पद्मावती के संयोगावस्था में सुखप्रदायिनी हो जाती हैं।

नागमती और रत्नसेन के बीच संयोग शृंगार का केवल एक स्थल आया है जब कि रत्नसेन सिंहल से लौटकर नागमती के पास जाता है। किन्तु उस समय के वर्णन को भी हम पूर्ण संयोग नहीं कह सकते क्योंकि उसमें भी अधिकांश नागमती द्वारा मान-प्रदर्शन और सपत्नी पद्मावती के प्रति ईर्ष्याभाव ही व्यक्त हुआ है। कवि चाहता तो संयोग शृंगार का भव्य चित्रण कर सकता था क्योंकि यहाँ उसके पास समस्त सामग्री थी, परन्तु न जाने क्यों उसने वैसा नहीं किया।

वियोग शृङ्गार—पद्मावत में वियोग शृंगार भी नागमती-रत्नसेन और पद्मावती-रत्नसेन के आश्रय से चित्रित हुआ है। विशेष नागमती का वियोग-वर्णन तो कवि की लेखनी से अद्वितीय ही बन पड़ा है। नागमती के वियोग की व्यापकता और गम्भीरता और मार्मिकता बड़ी ही उत्कृष्ट कोटि की है। बारहमासे का वर्णन कवि ने विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन के लिए किया है। यह बारहमासा उसके वियोग को उत्कर्ष प्रदान करता है। प्रत्येक मास की प्रकृति उसकी वियोगाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करती है। संयोगावस्था के सभी चित्र उसे तीक्ष्ण बाण से लगते हैं। वह विरह-विदग्धा पंखहीन पंछी की भाँति तड़पती रहती है। उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। वह बावली सी जंगल में घूमने लगती है। उसे यही चिन्ता है कि किसी प्रकार उसके विरह की यह कथा उसके प्रियतम को मालूम हो जाय। उसे विश्वास है कि उसकी इस दशा को सुनते ही प्रियतम अवश्य लौट आयगा। अस्तु वह वन के पक्षियों से अपनी यह व्यथा-कथा कहती है किन्तु उसके शरीर से विरह की इतनी तेज लपटें निकल रही हैं—

"जेहि पंखी के नियर होई, कहै विरह कै बात।
सोइ पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥"

वियोग का विस्तार जड़ चेतन सब में परिव्याप्त हो रहा है। विरह की मार्मिकता से प्रकृति भी दुखी है—

"तेहि दुख भए पलास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। पखर पाक फाट हिय गोहूँ॥"

कवि ने नागमती के विरह में वियोग की अनेक दशाओं का चित्रण किया है।

कुछ चित्र देखिए—

उन्माद—**"पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।**
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुंआ हाह लाग॥"

अभिलाषा—**'राति दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत बस तोरे।"**

प्रलाप—**"हाड़ भये सब कींगरी, नसैं भईं सब तांति।**
रोंव-रोंव ते धुनि उठै, कहौं विथा केहि भाँति॥"

चिन्ता—**"पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मन्दिर को छावा?"**

× × ×

"बंध नाहि श्रो कंघ न कोई। बात न आव कहौं का रोई॥
साठि नाठि, जग बात को पूछा। बिनु जिउ फिरै मूज तनु छछा॥
भई दहेली टेक विहूनी। थाभ नाँहि उठि सकै न थूनी॥
कोरौ कहा ठाट नव साजा। तुम बिनु कंत न छाज न छाजा॥"

इसी प्रकार अन्य कई दशाओं के चित्र स्पष्ट रूप में मिलते हैं। अब हम एक उद्धरण पद्मावती वियोग से देकर शृङ्गार रस का प्रसंग समाप्त करेंगे। लक्ष्मी समुद्र-खण्ड में पद्मावती जब रत्नसेन से बिछड़ जाती है उस समय की उसकी दशा देखिए—

"खन चेते, खन होइ बेकरारा। भा चंदन बंदन सब छारा॥
बाउर होइ परी पुनि पाटा। देहु बहाइ कंत जेहि घाटा॥
को मोंहि आगी देइ रचि होरी। जियत न बिछुरै सारस जोरी॥"

इसी प्रकार रत्नसेन के मानस में भी विरह का संचार होता है—

"तपि कैं पावा मिलि कैं फूला। पुनि तेहि खोइ सोइ पथ भूला॥
कहँ अस नारि जग उजियाराही। कहँ अस जीवन कैं सुख छाँही॥
कहँ अस रहस भोग अब करना। ऐसे जिए चाह भल मरना॥"

जायसी के हृदय की पीर नागमती के विरह वर्णन में उत्कर्ष के साथ व्यक्त हुई हैं। वियोग का सच्चा चित्र नागमती वियोग में ही मिलता है। फारसी प्रभाव से कहीं-कहीं वीभत्सता तथा अतिशयोक्ति से अस्वाभाविकता भी आ गई है, किंतु उसकी व्यापकता और मार्मिकता के सम्मुख ये दोष नगण्य हो जाते हैं। जायसी का विरह वर्णन परम्परायुक्त होते हुए भी मानसिक दशाओं तथा विभाव अनुभव से परिपूर्ण है। जिससे रस परिपाक में पर्याप्त सहायता मिली है।

करुण रस—शृङ्गार के उपरान्त जायसी का कवि सर्वाधिक करुण रस में ही रमा है। करुण रस का प्रथम दृश्य वहाँ आता है जब रत्नसेन जोगी होकर निकलने लगता है और उसकी माता तथा पत्नी आदि विलाप करती हुई समझाने का प्रयत्न करती हैं:—

"रोवत माय न बहुरत बारा। रतन चला, घर भा अँधियारा॥
बार मोर जो राजहि रता। सो लै चला सुआ परबता॥
रोवहि रानी तजहि पराना। नोचहि बार, करहि खरिहाना॥

चूर्राहि गिउ अभरन, उर-हारा। अब कापर हम करब सिंगारा॥
जाकहँ कर्हहि रहसि कै पीऊ। सोइ चला, काकर यह जीऊ॥
मरै चर्हहि पै मरै न पार्वाहि। उठे आगि, सब लोग बुझार्वाहि॥"

× × ×

"घरी एक सुठि भयउ अंदोरा। पुनि पाछे बीता होइ रोरा॥
टूटे मन नौ मोती, फूटे मन दस काँच।
लीन्ह समेट सब अभरन, होइगा दुख कर नाच॥"

दूसरा दृश्य वहाँ है जब पद्मावती सिंहल से विदा हो रही है—

"रोवति मातु पिता औ भाई। कोउ न टेक जो कंत चलाई॥
रोवहिं सब नैहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥
तजा राज रावन का केहू। छाँड़ा लंक बिभीषन लेहू॥
भरी सखी सब भेंटत फूरा। अंत कंत सौं भएउ गुरेरा॥"

× × ×

"कोउ काहू कर नाहि नियाना। माया मोह बाँधा अरुझाना॥
कंचन काया सो रानी, रहा न तोला माँसु।
कंत कसौटी घालि कै, चूरा गढ़ै कि हाँसु॥"

× × ×

"जब पहुँचाई फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन-अवगुन दोऊ॥"

राजा रत्नसेन की मृत्यु पर भी कवि ने करुण परिस्थिति का दृश्य दिखाया है स्थल। पठनीय है।

वात्सल्य—वात्सल्य का निरूपण वहाँ पर हुआ है जब रत्नसेन के योगी होकर निकलने की सूचना पाकर उसकी माँ का हृदय पुत्र-प्रेम से विह्वल हो पड़ता है—

"कैसे धूप सहब बिनु छांहा। कैसे नींद परिहि भुइ माँहाँ॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा। कैसे पाँव चलब तुम पन्था॥
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे खाब कुरकुट रूखा॥"

ऐसे ही बादल की माँ भी बादल को युद्ध में जाने से रोकती हुई कहती है—

"बादल केरि जसौवै माया। आइ गहोसि बादल करि पाया॥
बादल राय! मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा॥
जहां दलपती दल मर्राहि, तहां तोर का काज।
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज॥"

इस प्रकार वात्सल्य के दृश्य पद्मावत में आये तो हैं पर वे हृदय में करुणा ही अधिक उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई भी पूर्ण वर्णन नहीं जिससे माँ का हृदय पुलक उठे।

भयानक और अद्भुत रस—इन रसों के वर्णन हमें सात समुद्र खण्ड में मिलते हैं :—

"भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटे चहुँ ओरा॥
उठहिं लहर परबत कै नाईं। फिरि आवहिं जोजन सौताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा॥
नीर होई तर ऊपर सोई। माथे रम्भ समुद जस सोइ॥"

वीर रस—पद्मावत में वीर रस के चित्रण के मूल में दो बातें हैं, एक तो वीरगाथा काल की परम्परा और दूसरे पद्मावत की कथा का ऐतिहासिक झुकाव। राजा रत्नसेन और राजा गंधर्वसेन युद्ध वर्णन में, अलाउद्दीन के साथ युद्ध वर्णन में तथा गोरा-बादल की वीरता के प्रसंग में ही वीर रस का प्रस्फुटन हुआ है। अलाउद्दीन के साथ वाले युद्ध में वीर रस का उत्कृष्ट स्वरूप सामने आता है—

"ओनइ आइ दूनो दल साजे। हिन्दू तुरक दुवौ रन गाजे॥
दुओ समुद दधि उदधि अपारा। दूनौ मेरु खिखिद पहारा॥
कोपि जुझार दुवौ दिसि मेले। औ हस्ती-हस्ती सहुँ पेले॥
आंकुस चमक बीजु अस बाजहिं। गरजहिं हस्ति मेघ जनु गाजहिं॥
धरती सरग एक भा, जूहहिं ऊपर जूह।
कोइ टरै न टारे, दूनौ वज्र समूह॥
हस्ती सहुँ हस्ती हठि गाजहिं। जनु पर्वत-पर्वत सौ बाजहिं॥"

× × ×

"कोइ हस्ती असवारहि लेहीं। सूंड समेटि पाम तर देहीं॥"

× × ×

"कोइ मैमंत संभारहि नाहीं। तब जानहिं जब गुद सिरजाहीं॥
गगन रुहिर जस बरसै, धरती बहै मिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहि तस, पानी पंक विलाइ॥"

इसी प्रकार युद्धोत्साह में गोरा कहता है—

"हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौ न टारि, अंग ना मोरा॥
सोहिल जैस गगन उपराहीं। मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं॥
सहसौ ससि सेस सम लेखौं। सहसो नैन इन्द्रसम देखौं॥"

× × ×

"होइ नल नील आजु हौं, देहुँ समुंद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़॥"

तात्पर्य यह कि वीर रस के चित्रण में जायसी को पर्याप्त सफलता मिली है।

वीभत्स रस—गोरा-बादल व अलाउद्दीन की सेना में युद्ध होते समय तथा नागमती के रुदन में, तथा पद्मावती की लाल उँगलियों के सौंदर्य वर्णन आदि में हमें वीभत्स रस के दर्शन होते हैं। नागमती का रुदन देखिए :—

"गिरि-गिरि परै करत कै आँसू। विरह सरागन्हि भूजै माँसू॥"

इसी प्रकार पद्मावती की लाल उँगलियों के सौंदर्य वर्णन में देखिए—

"हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रूहिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥"

रौद्र, शांत तथा हास्य रस—रौद्र रस का वर्णन उस समय आया है जब अलाउद्दीन का पत्र रत्नसेन को मिलता है। किन्तु गहराई में उतरने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ रस का परिपाक नहीं हो पाया है। केवल भाव-मात्र की सृष्टि हुई है।

शांत रस के दृश्य यत्र-तत्र कई स्थानों पर आये हैं जैसे जीवन की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है :—

"मुहम्मद जीवन जल भरन, रहत घरी कै रीति।
घरी जो आइ ज्यों भरी, ठरी जनम गा बीत॥"

पद्मावत का अन्त शांत रस में ही हुआ है।

"राती पिउ के नेह गई, सरग भएउ रतनार।
जोरे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार॥"

जहाँ तक हास्य रस का प्रश्न है उसे नगण्य स्थान मिला है। गम्भीर आध्यात्मिक भावों से भरे होने के कारण पद्मावत में हास्य का कोई उल्लेखनीय स्थल ही नहीं आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावत में शृंगार, वीर और करुण रसों का ही परिपाक हुआ है, शेष रस पूर्ण परिपक्वता को नहीं प्राप्त हुए हैं। रसराज शृंगार का ही पद्मावत में प्रमुख स्थान है।

: १६ :

पद्मावत एक अन्योक्ति

जायसी ने पद्मावत के अन्त में लिखा है :—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुध पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियाँ-धंधा। बाँधा सोइ न एहि चित बँधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेहू जौ बूझै पारहु ॥"

अर्थात् तन रूपी चित्तौड़ का मन रूपी रत्नसेन राजा है। हृदय सिंघल है और पद्मिनी ही प्रज्ञा अथवा ब्रह्म है जिसे प्राप्त करने के लिए सुआ रूपी गुरु की आवश्यकता पड़ती है। बिना गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। नागमती रूपी दुनियाँ-धंधा मनुष्य को विविध प्रकार से अपने में बाँधे रहती है, जो उसे समझ लेता है उसे मुक्ति मिलती है। साधना के मार्ग में अलाउद्दीन रूपी माया और राघवचेतन रूपी शैतान सबसे बड़े अवरोध हैं। इन्हें हटाकर ही चरम सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण कथा एक रूपक (अन्योक्ति) बन जाती है। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि उपर्युक्त अंश जायसी कृत नहीं है और जब यह अंश जायसी कृत नहीं है तो फिर सारी कथा को निश्चित रूप से अन्योक्ति ही मान बैठना काव्य और कथा के साथ जबर्दस्ती करना है। इन विद्वानों को ग्रंथ में आये अनेक पात्र अपने प्रतीकात्मक अर्थ की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ नहीं दिखाई देते। यहाँ तक कि 'पद्मावती' और 'रत्नसेन' के भी प्रतीकों का ठीक-ठीक निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाया है। इन लोगों का यह भी कहना है कि जायसी ने एक सामान्य कथा को काव्यमयी भाषा में प्रस्तुत किया है। उस समय उनका ऐसा अन्योक्ति पूर्ण उद्देश्य नहीं था। भाव और कल्पना के धनी जायसी की लेखनी से कुछ ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल अंकित हो गए हैं कि हमें वहाँ अलौकिक सत्ता का आभास होने लगता है। परन्तु ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं और इन्हीं स्थलों के आधार पर सम्पूर्ण 'पद्मावत' को एक अन्योक्ति नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त मत के समर्थक विद्वानों के विरोध में मुझे यह कहना है कि जिस आधार पर उन्होंने पद्मावत के उक्त अंश को प्रक्षिप्त माना है वह कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं कहा जा सकता। एक गुट का समर्थन पा लेने मात्र से उक्त अंश को मैं प्रक्षिप्त अंश

मानने के लिए तैयार नहीं। जायसी साहित्य की अभी अधिकाधिक खोज होनी चाहिए और प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर ही विद्वानों को कोई ऐसा सर्वमान्य निर्णय करना चाहिए। अभी तक जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। उपर्युक्त अंश कितनी पाण्डुलिपियों में है और कितनी में नहीं यह बात कोई अधिक महत्व नहीं रखती। मेरा तो निवेदन इतना ही है कि काव्य के मूल प्रेरणा-स्रोत को देखा जाय। पद्मावत के प्रणेता को पद्मावत लिखने की प्रेरणा किस बिंदु से मिली है? पता लगाने पर संभवतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि जायसी का हृदय एक लौकिक प्रणय की पीर से भरा होने के नाते ही पद्मावत ऐसे महाकाव्य को वाणी दे सका है। 'पद्मावत' लिखने के मूल में पद्मावती और रत्नसेन की सामान्य प्रेम-कथा की भावना का प्राधान्य नहीं दिखाई देता है। अलौकिक प्रेम से अभिभूत होने के कारण ही ऐसे उत्कृष्ट भाव और कल्पना का सृजन कवि द्वारा हो सकता है; और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जायसी एक सूफी भक्त हैं जिसमें शायद दो मत नहीं। सूफी भक्तों का मूल उद्देश्य क्या रहा है? इसे विद्वान भली-भांति जानते हैं। जायसी अपने मूल लक्ष्य को भूल जाते, यह मैं कैसे मान लूँ? पद्मावत में रूपक (अन्योक्ति) का सांगोपांग निर्वाह न होने का कारण कवि के शास्त्रीय अध्ययन का अभाव कहा जा सकता है। कवि के जीवन वृत्त वाले प्रश्न में मैं इस पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ। विधिवत् अध्ययन के अभाव में कवि अपने चरित्रों का संतुलन नहीं रख पाया है। एक प्रमुख कारण यह भी है कि इस दिशा में उसका निर्देशक करने वाला कोई नहीं था। केवल अनुभव-ज्ञान के आधार पर इतने विशाल काव्य का प्रणयन करते समय यदि कवि से कहीं-कहीं असंतुलन हो गया है तो इस आधार पर हम उसके मूल लक्ष्य पर आक्षेप नहीं कर सकते। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक छोटा सा उदाहरण लीजिए—किसी युवती से यदि एक वैज्ञानिक और एक साहित्यकार दोनों प्रेम करें और कोई ऐसा अवसर आये कि उनके प्रेम की माप की जाने लगे तो शायद साहित्यकार को अधिक अंक मिल जायें क्योंकि वह वाणी का धनी है और बेचारे वैज्ञानिक के पास अगाध भावों से भरा, पवित्र प्रेम से परिप्लावित किन्तु मूक-हृदय-मात्र है। जायसी का भी अध्ययन यदि शास्त्रीय ढंग पर हुआ होता तो शायद अपनी इस असावधानी को वे बड़ी चतुराई से छिपा ले गए होते, परन्तु अनाथ जायसी के भाग्य में तो विद्यालय का मुँह देखना भी नहीं बदा था। विश्व की खुली पाठशाला में अनुभव का पाठ, पढ़-पढ़कर वे विद्वान बने थे और प्रकृति के कण-कण में परम प्रियतम की सत्ता का आभास पाकर महाकवि?

पद्मावत में सूफीमत के साथ-साथ हठयोग आदि का भी पर्याप्त समावेश है। कुछ उदाहरण देखिए:—

"चौदह भुवन जे तर-उपराहीं। ते सब मानुष के घट मांही॥"

× × ×

"नौ पौरी वाकी नौ खण्डा। नवौं जो चढ़ै जाइ बरभंगा॥"

× × ×

"फिरहिं पांच कोतवार सुपौरी। कांपे पांव चढ़त वह पौरी ॥"

× × ×

"गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देख ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हें। जेइ पावा ते आपहिं चीन्हें ॥
नौ पौरी ते गढ़ मँझिधारा। औ तहँ फिरहि पाँच कोतवारा ॥
दसवें दुआर गुपुत इक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥
भेदे जाइ कोइ वह घाटी। जो लह भेद चढ़े होइ चांटी ॥
गढ़तर कुंड सुरँग तेहि भांवा। तँह वह पँथ, कहौं तोहि पांवा ॥
दसँम दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥"

इन पंक्तियों में हठयोगी साधना का चौदहों लोक शरीर के नवद्वार पर (नव-पौरी) कुण्डलिनी शक्ति की नवस्थितियों (नवखंड के ब्रह्म रंध्र) (दशवाँ दुआर), पंच प्राण (पाँच कोतवार), आत्मबोध (आपुहि चीन्हें), साधना का दुर्गम मार्ग (अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका), कुण्डलिनी मार्ग (घाटी), पिपीलिका मार्ग (चढ़े होइ चाँटी), अग्नि चक्र (गढ़तर कुंड,) अंतर्मुखी दृष्टि (उलटि दिस्टि) का स्पष्ट संकेत है।

सूफीमत के अनुसार साधना मार्ग की चारों अवस्थाओं (शरीयत, तरीकत, मारिफत, और हकीकत) का स्पष्ट विवेचन हमें पद्मावत में मिल जाता है।

"नवौ खंड नव पौरी, औ तँह वज्र केवार।
चारि बसेरे जो चढ़ै, सत सौं उतरै पार ॥"

यहाँ चारि बसेरे से चारों अवस्थाओं तथा सत से सात अवस्थाओं की ओर कवि का संकेत है।

सातों मुकामात रत्नसेन रूपी साधक के मार्ग में आये हैं और साधनामार्ग की समस्त कठिनाइयों को पार करके रत्नसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया है। 'पद्मावत' की रूपक कथा को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए मैं यहाँ डा० रामरतन भट-नागर द्वारा किए गए एक विवेचन को प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

इसमें चित्तौढ़ तन है, रत्नसेन मन है। चित्तौड़ रूपी तन में स्थित मन साधारण रूप से लौकिक विषय वासना में लिपटा रहता है। रत्नसेन केवल तन में स्थित है, उसकी वृत्तियाँ कायिक हैं। वह दुनियाँ-धन्धे (नागमती) में लिप्त है। परन्तु ईश्वर की अनु-कम्पा से एक दिन उसे नागमती से भी बड़े सौंदर्य का पता चल जाता है। इस दुनियाँ के धंधे मे भी बड़ा धंधा मनुष्य के लिए है, वह जान लेता है। उस लक्ष्य के लिए उसके हृदय में आकुलता उत्पन्न हो जाती है परन्तु उस लक्ष्य तक उसका पथप्रदर्शक कौन बने। पथ-प्रदर्शक बनता है हीरामन तोता (सुआ) वह सूफी साधना के 'गुरु' का प्रतीक है। अनेक बाधाओं को पार करके गुरू के दिखाये पथ पर बढ़ता हुआ साधक रत्नसेन लक्ष्य की प्राप्ति करता है। परन्तु लक्ष्य कहीं बाहर नहीं है। इसी हृदय (सिंहल) के भीतर अव-स्थित सहज सौंदर्य बुद्धि ही साधक का लक्ष्य है। पहले इस सहज बुद्धि (पद्मिनी) को ही

पाना होता है। सूफी परिभाषा में इस संकेत-कोष को इस प्रकार भी रख सकते हैं:—

चित्तौड़=तन= } सालिक, आबिद की 'अक्ल'
रत्नसेन=मन= }

(सुआ) हीरामन=गुरू=मुरशिद

सिंहलद्वीप=हृदय=कल्व (रूह)

पद्मिनी=सहजबुद्धि=मुआरिफ (प्रज्ञा)

नागमती=दुनियाँ-धंधा=नफ़्स

सालिक (साधक) के मार्ग में दो बाधाएँ हैं, अक्ल (मन) और नफ़्स (नागमती)। वह नफ़्स (नागमती) द्वारा अपने चित्तौड़ में ही लीन रहता है। परन्तु यदि उसे मुरशिद-कामिल (सुआ) मिल जाता है तो वह 'नफ़्स' से छुटकारा पा जाता है और 'कल्व' या 'रूह' में स्थित 'मुआरिफ' (सहज-बुद्धि, प्रज्ञा) की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। नागमती (नफ़्स) भी सुन्दर और मोहक है और पद्मिनी (मुआरिफ़) भी सुन्दर है। अतः जायसी ने दोनों को चित्रित किया है। नफ़्स मुरशिद में विश्वास नहीं करती, इसी से नागमती सुए को मार डालना चाहती है। परन्तु एक बार 'मुआरिफ़' का सौन्दर्य साधक (सालिक) ने जान लिया तो वह मुड़ नहीं सकता। वह लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करेगा। कथा में यदि नागमती की अवतारणा न होती तो नफ़्स की मोहकता और उसके बंधन का चित्रण भी नहीं हो पाता।

परन्तु फिर प्रश्न उठता है, नागमती के विरह और पद्मिनी की प्राप्ति पर नागमती और पद्मावती के रत्नसेन के साथ प्रसन्न रहने और कमलसेन और नागसेन पुत्रों के जन्म का क्या रहस्य है। नागमती का विरह केवल भारतीय साहित्य-परम्परा के कारण पद्मावत में स्थान पा रहा है। रूपक तो है ही। परन्तु जब विशिष्ट पात्र खड़े किए गए हैं तो कथा की आवश्यकता को पूरा करना होगा। 'षटऋतु वर्णन' के बिना कोई काव्य कैसे पूर्ण कहा जा सकता था ? इसी से 'नागमती के विरह' की योजना हुई। उसके पीछे किसी का संकेत ढूँढ़ना बुद्धि विलास ही होगा। हाँ सूफी साधना में विरह का बड़ा महत्व है। इससे नागमती के विरह-वर्णन में स्वतन्त्र रूप से जो प्रेम की पीर प्रकाशित हो गई वह तो सूफी परम्परा की चीज है ही। पद्मिनी की प्राप्ति से नागमती के साथ प्रसन्नता पूर्वक रहने का अर्थ केवल यही है कि मुआरिफ़ का उदय होने पर सालिक नफ़्सपरस्ती से हट जाता है, उसकी इन्द्रियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं। नफ़्स (नागमती) से भागने की उसे आवश्यकता नहीं होती। कमलसेन और नागसेन का जन्म केवल कथा को सुखद बनाने के लिए है। पद्मावती का पुत्र पद्मसेन या कमलसेन और नागमती का नागसेन है। इससे अधिक कोई रहस्य नहीं है।

उत्तरार्ध में नागमती (नफ़्स) का कोई महत्व नहीं रह जाता। वह पद्मावती (मुआरिफ़) की पोषक या सहगामिनी मात्र है। 'सुआ' और 'सिंहल' के प्रतीक भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ नये प्रतीक आये हैं। राघव चेतन—(शैतान) अलाउद्दीन सुलतान—

माया। इन दो प्रतीकों को देकर उत्तर कथा की ओर से जायसी निश्चिन्त हो गए हैं और अर्थ खोलने के लिए पंडित-बुद्धि को चैलेन्ज देते हैं। साधक की नफ़्स—शुद्धि और प्रज्ञा (मुआरिफ) से उसका मेल शैतान को पसन्द नहीं। खुदा और बन्दे के बीच में शैतान है। मुआरिफ खुदा की ओर ले जाती है, अतः शैतान को यह विष लगता है। इइसिए वह बंदे और खुदा (रत्नसेन और पद्मावती) में विछोह डालना चाहता है। वह माया की शरण जाता है। सूफी परिभाषा में राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन—को जायसी ने 'माया' कहा है। सूफी दार्शनिक चिंतन में माया को स्थान ही नहीं है। हमारे यहाँ 'माया' जीव-ब्रह्म के बीच का व्यवधान है। माया का अर्थ साँसारिकता भी है जो जीव-ब्रह्म के मिलन में बाधक होती है जो साधक को ऐन्द्रियता की ओर ले जाती है। इस्लाम में 'माया' का स्थान शैतान ने ले लिया है। अलाउद्दीन को 'माया' कहकर जायसी ने भारतीय दार्शनिक चिंतन के एक शब्द को अपना लिया; परन्तु विद्वानों के लिये समस्या खड़ी कर दी। अलाउद्दीन—माया ?

सालिक जब सहज-बुद्धि, प्रज्ञा या मुआरिफ को प्राप्त हो गया तो फिर शैतान और माया का क्या काम ? परंतु जायसी तो कथा की रक्षा करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे। यदि वे ३७ वें खण्ड (पुत्रजन्म खण्ड) पर ही कहानी समाप्त कर देते तो प्रतीकों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परन्तु अलाउद्दीन-पद्मिनी की अत्यन्त प्रसिद्ध कथा को वे एक दम आँख की ओट नहीं कर सकते थे। जब वह उत्तरार्द्ध की सारी कथा लिख गये तो उन्हें विवश होकर उसके सूफी-अर्थ करने पड़े। इसीसे नए प्रतीक आये। शैतान और (या) माया साधक के प्रज्ञा के अनन्द में बाधा डालने के लिये सब कुछ करेगा यही तथ्य है। हो सकता है वह सफल भी हो जाय (जैसा पद्मावत में हुआ है।) परन्तु यह किसी निश्चित तथ्य को उपस्थित नहीं करता। साधारण कथा को लेकर उस पर आध्यात्म पक्ष का आरोप करने में जो कठिनाइयाँ होती हैं वह जायसी को भी हुई।

संक्षेप में मुझे यही कहना है कि '**तन चितउर मन राजा कीन्हा**' वाला अंश प्रक्षिप्त नहीं है। फिर संपूर्ण कथा को एक अन्योक्ति मान लेने में किसी को विरोध नहीं होना चाहिए। क्योंकि पद्मावत की मूल कथा साधना की कथा है, सामान्य कथा नहीं। साधना के मार्ग में पग-पग पर तर्क से काम लेना काव्य की हत्या करना है। जिस निराकार भक्ति का मसनवी शैली में जायसी ने प्रतिपादन किया है उसकी महानता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। कवि के शास्त्रीय अध्ययन की कमी, काव्य-गुरु का अभाव, जीवन की अस्थिरता आदि ने मिलकर पद्मावत में अनेक स्थलों पर उसके प्रतीकों की निर्वाहगति में विघ्न डाला है, जिसके लिए कवि को एकदम क्षमा तो नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी उसकी मूल साधना को ध्यान में रखकर हमें उसके प्रतीकों पर विश्वास करना ही पड़ेगा। काव्य और भक्ति मस्तिष्क के साथी न होकर हृदय के अधिक साथी हैं। डा० सुधीन्द्र ने ठीक ही कहा है **"पद्मावत एक विराट आध्यात्मिक रूपक संकेत अथवा "अन्योक्ति" है, जिसमें लौकिक, शारीरिक और बोधगम्य प्रतीक**

द्वारा अलौकिक, अशरीरी और ज्ञानातीत ब्रह्म, जीव और उसके चिरन्तन सम्बन्ध अद्वैत की व्यंजना की है।" पद्मावत अपने में समासोक्ति की अधिकाधिक विशेषताओं को समेटते हुए भी अन्ततः एक अन्योक्ति काव्य है।

मेरी मान्यताएँ—१. पद्मावत की मूल कथा अन्योक्ति है।

२. काव्य में आये हर पात्र की प्रतीकात्मकता का प्रश्न उठ कवि के मूल उद्देश्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

३. काव्य में अंकित प्रत्येक पंक्ति अन्योक्ति अर्थ को नहीं ध्वनित करेगी।

४. भक्त साधक होने के साथ-साथ जायसी एक महाकवि भी हैं जो देश काल तथा युग की उपेक्षा नहीं कर सके हैं।

५. काव्य के अपेक्षित विस्तार और कवि की दृष्टि विशदता की ओर से आँख मूँदकर एकमात्र रूढ़िवादिता से अन्योक्ति का अर्थ न ध्वनित किया जा सकेगा।

६. **'तन चितउर मन राजा कीन्हा'** वाला अंश जायसीकृत ही है।

७. जायसी का लक्ष्य महान, युग और साहित्य की माँग के अनुकूल था।

: १७ :

हिन्दी में प्रेमगाथा काव्य और जायसी

हिन्दी में प्रेमगाथा काव्य का इतिहास जानने के पूर्व हमें उन समस्त परिस्थितियों से अवगत होना अनिवार्य है जिनके बीच सूफी-धर्म ने भारत में प्रवेश किया और वह पनपा, क्योंकि सूफी-धर्म ही प्रेमगाथा काव्यों का मूलाधार है।

मुसलमानों की शासनसत्ता के साथ धर्म के प्रचार की आँधी आई। तलवार के जोर से इस्लाम फैलने लगा। कायर और असमर्थ हिन्दू प्राण रक्षा के लिए धर्म परिवर्तन करने लगे। मुसलमानों की धर्मान्धता का यह वेग ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, दोनों जातियों के बीच त्यों-त्यों बैर-विरोध की खाई भी चौड़ी होती गई। लोक जीवन में उसका अनिष्ट-कर प्रभाव फैलने लगा। इस समय कोई ऐसी आध्यात्मिक प्रतिभा अथवा शक्ति वाला व्यक्ति नहीं था जो विच्छिन्न और युयुत्सु जातियों को किसी आंतरिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करता। राजनैतिक हलचल ने देश, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में एक गहरी निराशा उत्पन्न कर दी थी। इस समय सर्वत्र ही शांति, सुव्यवस्था और सहानुभूति की उपेक्षा थी।

ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में इस्लाम फैल चुका था और अब वह दक्षिण की यात्रा पर था। ठीक इसी समय बारहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत में रामानुजाचार्य तथा माधवाचार्य आदि कई धर्माधिकारियों ने अवतरण ले मृतप्राय हिंदू धर्म को पुनर्जीवन प्रदान किया। इस्लाम राजधर्म था और हिन्दू-धर्म लोक-धर्म। यद्यपि विशाल हिन्दू धर्म के सम्मुख इस्लाम धर्म की कोई सत्ता नहीं थी किन्तु राज-धर्म होने के नाते वह हिन्दू धर्म से अपने को घटकर नहीं समझता या। दोनों में घोर प्रतिद्वंदता थी और एक दूसरे से श्रेष्ठ बनने का थोथा अहंकार भी। हिन्दू धर्म यद्यपि बड़ा ही उदार धर्म रहा है तथापि मुसलमानों की संकीर्णता के नाते उनके इस्लाम से मेल नहीं स्थापित कर सका। दूसरे दोनों में व्यावहरिक विरोधी तत्व भी पर्याप्त मात्रा में रहते आये हैं।

बारहवीं शताब्दी में ही सूफियों के भी भारत में प्रवेश करने का अनुमान किया जाता है। वैसे कुछ लोगों का यह भी विचार है कि मुसलमानी सूफी सन्तों का आगमन विदेशी आक्रकण से भी पहले हो गया था, परन्तु राजसत्ता स्थापित होने से पूर्व वे विशेष प्रकाश में नहीं आये थे। शुरू-शुरू में सूफी साधक सिन्ध और पंजाब में आकर बसे; और फिर वहीं से धीरे-धीरे सारे देश में फैल सूफी मत का प्रचार करने लगे। ये साधक अन्यान्य मुसलमानों के समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसलिये भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक

इनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुइनउद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शंकरगंज (१२०० ई०), शेख चिस्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिस्ती (१५१२ ई०) तथा मुबारक नागोरी आदि सूफी साधकों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतों की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या में श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रति वर्ष जाती है। यह बात कुछ बड़ी विचित्र तथा विरोधाभास सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी वैर-विरोध बढ़ा हुआ था, ऐसा मिलन किस प्रकार सम्भव हो सका। इस क्रम में आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि **"मध्य युग बहुत कुछ करामातों का युग था। उस युग के प्रत्येक साधु सन्त के नाम पर दो-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्याति से लोग परस्पर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों-ज्यों निकट आते गये त्यों-त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनों में तात्विक मतभेद बहुत कम हैं। कबीर आदि सन्तों ने इस बात पर बहुत जोर दिया। इन्होंने हिन्दुत्व और मुसलमानत्व के बाह्य उपकरण को हटाकर उनका असली रहस्य पहचानने की चेष्टा की। मुसलमानों की ओर से यह काम प्रेम-कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तों ने किया।"** कबीर आदि झाड़-फटकार के द्वारा चिढ़ाने वाले सिद्ध हुए सन्तों के साथ उनकी तुलना करते हुए आचार्य शुक्ल ने बताया है कि कबीर आदि का प्रयत्न हृदय-स्पर्श करने वाला नहीं हुआ। **"मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उनके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उनसे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"** इन साधकों ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य को लुप्त होने से बचा लिया। आचार्य डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में, **"कबीरदास के निर्गुण भजन, सूरदास के लीलागान और तुलसी के रामचरितमानस अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और हिन्दू जनता का सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए। परन्तु जन-साधारण का एक और विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्य के पश्चिमी आकार से सीधे चला आ रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।"**

ऐसा बताया जाता है कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त से जब खलीफाओं की धार्मिक भावना पर राज्य विस्तार तथा ईश्वर प्राप्ति की भावना ने अपना अधिकार जमा लिया तो इस्लाम धर्म में भी आडंबर और साम्प्रदायिकता का समावेश

होने लगा। इस्लाम से इसे दूर करने अथवा यों कहिए कि इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही सूफीमत का आविर्भाव हुआ था। भारत में यह सूफीधर्म प्रधानतः चार सम्प्रदायों के रूप में प्रविष्ट हुआ और इन्हीं चारों सम्प्रदायों की धार्मिक प्रवृत्ति के रूप में उसका यहाँ विकास हुआ। वे चारों सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—(१) चिश्ती सम्प्रदाय, (२) सोहरावर्दी सम्प्रदाय, (३) कादरी सम्प्रदाय और (४) नक्शबंदी सम्प्रदाय।

ये सम्प्रदाय बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बने रहे। इनके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये न किसी नृपति के आश्रय में पल्लवित हुए और न किसी के द्वारा इनका संगठन ही किया गया। इन सम्प्रदायों के सूफी संत अपनी व्यक्तिगत महत्ता और साधना के आधार पर जनता तथा राज्य में श्रद्धा व आदर प्राप्त करते थे। ये संत अपने धार्मिक जीवन में अत्यंत सरल और सहिष्णु थे। इनमें उदारता और विशालता थी। ये धार्मिक स्थानों का परिभ्रमण कर अपना अनुभवजन्य उपदेश जनता को देते थे। उन्होंने अपने ज्ञान रूपी प्रकाश के स्तम्भों से अपने उपदेशों का आलोक दूर-दूर तक जन-धरा पर बिखेरा। अपने अकर्षण और प्रेम के माध्यम से अन्य मतावलंबियों को व्यक्तिगत सात्विक प्रभाव में लाकर सूफी संतों के अनुयायियों में परिवृद्धि की। ये चारों सम्प्रदाय अपने मूल सिद्धन्तों में समान थे। वाह्य रूप से उनमें वही भेद मालूम होता था जो किन्हीं भी दो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों व सिद्धान्तों में हो सकता है। उनके धार्मिक विचारों और व्यवहारों में पर्याप्त उदारता थी। मुसलमानों के ऐकेश्वरवाद की अपेक्षा उन पर भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव अधिक गहरा पड़ा था। उनकी प्रवृत्ति बड़ी ही सात्विक थी और यही सात्विकता उनकी महत्ता का प्रमुख आकर्षण था। ईश्वर को प्राप्त करने की उनकी प्रेम-मयी साधना ही सूफी-धर्म की प्राण-शक्ति कही जायगी। हिन्दी प्रेम गाथा काव्यों के मूल में सूफियों की यही ईश्वरोन्मुख प्रेममयी वृत्ति काम करती है।

हिन्दी साहित्य में सूफी साधना दो भाषाओं में व्यक्त हुई। प्रथम, हिन्दी या खड़ी बोली में (ब्रज, पंजाबी, दकनी और अन्य प्रान्तीय बोलियों से मिश्रित) और द्वितीय अवधी में। खड़ी बोली में सूफी-साहित्य फुटकर पदों, दोहों और गजलों आदि के रूप में रचा गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं। पूर्वी हिन्दी प्रदेश में अवधी के माध्यम द्वारा यह प्रकाश में आई। दोनों भाषाओ में **"मसनवी"** (कथात्मक) साहित्य की रचना हुई। परन्तु खड़ी बोली की मसनवियाँ **"दकनी"** (फारसी और ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली) में हैं और उन पर भारतीय कथा पद्धति और काव्य का उतना प्रभाव नहीं है जितना पूर्वी साधकों की अवधी कथाओं में जान पड़ता है। जो कथाएँ इन साधकों ने पद्यबद्ध कीं, वे मौलिक रूप से भारतीय थीं और जनसाधारण में लोक-कथाओं के रूप में चली आ रही थीं। उन्होंने उनके प्रभाव को समझा और उन्हें अपने भावों के प्रचार का माध्यम बनाया। वस्तुतः अवधी का सूफी काव्य ही हिन्दी में प्रमुख प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रेम कथाएँ

लिखी हुई हैं।

इनके इतिहास पर दृष्टिपात करने से इन प्रेम कथात्मक काव्यों का परिचय हमें चारण-काल से ही मिलने लगता है। मुल्ला दाउद के 'चन्दावत' को लोग इस परम्परा का प्रथम प्रसिद्ध काव्य बताते हैं, इस नाते उसका ऐतिहासिक महत्व विशेष है। इस काव्य में नूरक और चन्दा की प्रेमकथा का वर्णन है। इसका रचनाकाल १३१८ ई० है। यह समय अलाउद्दीन खिलजी के शासन का था। इसके पश्चात् कुतुबन से पूर्व हमें कोई ऐसा काव्य नहीं उपलब्ध होता। सम्भव है और भी प्रेम कथाएँ लिखी गई हों जो इस समय प्राप्त नहीं हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावती (पद्मावती) नामक ग्रंथ में कुछ प्रेमकथाओं का इस प्रकार संकेत किया है—

"विक्रम धँसा प्रेम कै बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कँह जोगी भयऊ॥
साध कुंवर खंडावत जोगू। मधुमालति कंह कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कँह सुरसर साधा। ऊषा लगि अनिरुध वर बाँधा॥"

—(राजगढ़ घेरा खंड)

इससे प्रतीत होता है कि जायसी (सन् १४९५ ई०) से पूर्व सपनावती, मुगधावती मृगावती तथा मधुमालती और प्रेमावती प्रेम-काव्य लिखे जा चुके थे। इनमें से मृगावती और मधुमालती तो खंडित रूप में उपलब्ध हैं परन्तु शेष का पता नहीं। जायसी द्वारा सांकेतिक कथाओं में विक्रमादित्य एवं उषा अनिरुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। शेष लोक प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर लिखी हुई जान पड़ती हैं।

'मृगावती' की रचना शेख़ कुतुबन द्वारा हुई है जिसका रचनाकाल १५६० है। मृगावती में, मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार की प्रेमकथा का वर्णन पाया जाता है। कथा का वर्णन दोहा चौपाई तथा सोरठा और अरिल्ल-छंदों में हुआ है। इसमें शामी परम्परा का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। साथ ही भारतीय परम्परा का भी इस पर प्रभाव है। राजकुमार की मृत्यु के उपरांत उसकी दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं और तब कवि कह उठता है—

"बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि नियानू॥"

'मधुमालिती' के रचयिता मंझन हैं। अनुमानतः इसका रचनाकाल १५७५ से १५८५ के बीच में कहा जा सकता है। इसकी कथा तथा वर्णन शैली अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों की अपेक्षा अधिक जटिल, प्राँजल व कोमल है। इसमें कनेसर के राजकुमार 'मनोहर' और महारस की राजकुमारी मधुमालती की प्रेमकथा के साथ ही साथ उपनायक ताराचन्द तथा उपनायिका प्रेमा की कथा का भी वर्णन हुआ है। जायसी ने मधुमालती का नायका खंडावत लिखा है, परन्तु उसमान कृत चित्रावली में इसके स्थान पर मनोहर का उल्लेख है—

"मधुमालति होई रूप देखावा। प्रेम मनोहर होई तहँ आवा ॥"

इस काव्य में प्रेम के सिद्धान्त तथा कथा का संगठन और विरह का बड़ा मनोहारी चित्रण हुआ है। यह काव्य वर्णन प्रधान है। कहा जाता है कि इसे अपने समय में सर्वाधिक ख्याति मिली थी। कवि ने अपनी कोमल भावनाओं को मनहर कथासूत्र में बड़ी सावधानी से पिरोया है। इस काव्य के अत्यधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि इसके कवि ने प्रेम भाव को प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर जागृत कराया है।

'मृगावती' और **'मधुमालती'** के बाद जायसी के 'पद्मावती' का ही नाम आता है क्योंकि जायसी के पश्चात् हुए उसमान कवि ने भी 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'पद्मावती' का उल्लेख किया है।

"मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा ॥
सिंहल पदुमावति भो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा ॥
मधुमालति होई रूप देखावा। प्रेम मनोहर होई तहँ आवा ॥"

—(चित्रावली, पृष्ठ १३)

पद्मावती हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है। जिसकी ज्योति कभी क्षीण होने वाली नहीं। इसके प्रेमाख्यान का प्रभाव इतना पड़ा कि उसके बाद प्रेमाख्यान काव्यों की एक परम्परा सी चल पड़ी और वह उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। पद्मावत के बाद लिखे गये प्रमुख प्रेम काव्यों की तालिका डा० विमलकुमार जैन ने अपने शोधग्रंथ **'सूफीमत और हिन्दी साहित्य'** के पृष्ठ ११३ पर इस प्रकार दी है—

काव्य	कवि	काल	
१. चित्रावली	उसमान	सन् १०२२ हिजरी	सन् १६१३ ई०
२. ज्ञानदीप	शेख नबी	लगभग सं० १६७६	सन् १६१६ ई०
३. हंस जवाहर	कासिमशाह	लगभग सं० १७८८	सन् १७३१ ई०
४. इन्द्रावती	नूर मुहम्मद	हिजरी सन् ११५७	सन् १७४४ ई०
५. अनुराग बाँसुरी	,,	हिजरी सन् ११७८	सन् १७६४ ई०
६. प्रेमरतन	फाजिलशाह		सन् १८४८ ई०

इसी क्रम में वे दो काव्यों का और उल्लेख करते हैं, उनके नाम हैं, ७. माधवानल और ८. युसुफ जुलेखा। 'माधवानल' के रचयिता आलम हैं और उसका रचनाकाल हिजरी ६६१ (सन् १५८३ ई०) है। 'युसुफ जुलेखा' के रचने वाले शेख निशार हैं। इसका रचनाकाल हिजरी सन् १२०५ (१७६० ई०) है। परन्तु इन ग्रंथों का प्रेम-गाथा-काव्य परम्परा में कोई विशेष महत्व नहीं। डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने पुहुपावती नाम के एक और ग्रंथ की चर्चा की वह निश्चय ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

'चित्रावली' का स्थान अपनी परम्परा में बड़े गौरव का है। इसका प्रणयन बहुत कुछ पद्मावत के अनुकरण पर हुआ है। प्रमुख अन्तर यही है कि इसकी कथा पद्मावत की भाँति ऐतिहासिक न होकर कल्पना प्रसूत है। इसमें कवि ने स्थान-स्थान पर वेदान्त और

अद्वैतवाद की झलक दिखाई है—

"सब वह भीतर वह सब माँही, सबै आपु दूसर कोउ नाहीं।
दूसर जगत नाम जिन पावा, जैसे लहरा उदधि कहावा॥"

कथा में घटनाओं की शृङ्खला बहुत लम्बी और कौतूहलपूर्ण है। उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत करने की कल्पना की गई है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान, रूपनगर की राजकुमारी 'चित्रावली' और सागर की राजकुमारी कमलावती की प्रेम कथा है। दोनों राजकुमारियों से विवाह करने से पूर्व जितनी कठिनाइयाँ आती हैं उनका विस्तृत-विवेचन इस काव्य में किया गया है। कवि ने कल्पना के साथ आध्यात्म की बड़ी मनोहर व्यंजना की है। चित्रावली को लेकर काव्य में अनेक स्थानों पर ईश्वर और जीव का रूपक बाँधा गया है। वह जब जल में छिप जाती है तो सखियाँ उसे ढूंढ़ती रहती हैं। सखियों का यह ढूंढ़ना आत्मा की जिज्ञासावृत्ति का द्योतक है; और चित्रावली का जल में छिपना ईश्वर के अमूर्त होने से साम्य रखता है। देखिये चित्रावली के जल में छिप जाने पर कवि ने सखियों से कैसे आलौकिक और गूढ़ वचन कहलवाए हैं—

"गुपुत तोहिं पावहिं का जानी। परगट मँह जो रहहि छ्यानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौं वेदू। रहा खोज पै पाव न भेदू॥
संकर पुनि हारे कै सेवा। ताहि न मिलिज और को देवा॥
हम अंधी जेहि आपु न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाँउ जहाँ तुम नाहीं। हम चषु जोति न देखहिं काहीं॥
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भये, औ पुनि पढ़े गरंथ॥"

—(चित्रावली पृष्ठ ४७-४८)

बहुज्ञ उसमान ने अपनी लोकोक्तियों द्वारा काव्य में एक विचित्र प्रभावोत्पादकता ला दी है। यथा स्थान कवि का भूगोलादि का ज्ञान भी परिव्यक्त हुआ है।

'ज्ञानदीप' में राजा ज्ञानदीप और देवजानी की कथा वर्णित है। इसके कवि शेख नबी जौनपुर जिले में मऊ के निवासी थे। इस काव्य में भी परम्परागत गुणों और यथेष्ट सरसता का समावेश है।

'हंस-जवाहर' में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम कहानी है। इसके रचयिता कासिम शाह दरियाबाद (बाराबंकी) में उत्पन्न हुए थे। ये अपनी जाति में निम्नवर्ग से सम्बन्धित थे। 'हंस-जवाहर' की कथा इस तरह है कि बलखनगर के सुलतान बुरहान के घर एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ और चीनाधिपत्य आलमशाह के घर जवाहर नाम की एक सुन्दरी कन्या ने जन्म लिया। बड़े होकर इन दोनों के हृदय में प्रेम का बीजारोपण हुआ। हंस, जवाहर के लिए घर से योगी होकर निकला और अनेक कष्टों के पश्चात् उसे प्राप्त कर घर लौटा। यह काव्य भी अपनी परम्परा के अन्य काव्यों की भाँति आध्यात्मपरक

ही है।

'इन्द्रावती' और **'अनुराग-बाँसुरी'** के रचयिता नूर मोहम्मद हैं। ये जौनपुर जिले में सबरहद नामक स्थान के रहने वाले थे। बाद में आजमगढ़ में अपने ससुर समसुद्दीन के यहाँ रहने लगे। इनका समय १७४० के आस-पास का है क्योंकि 'इन्द्रावती' में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह की प्रशंसा की गई है। 'इन्द्रावती' का रचनाकाल ११५७ हिजरी (सन् १७४४ ई० के लगभग) और 'अनुराग बाँसुरी' सन् ११७८ हिजरी (सन् १७६४ ई० के लगभग) है। डा० विमलकुमार जैन के शब्दों में **"अनुराग बाँसुरी तो तत्वज्ञान की मंजूषिका ही है। ईश्वर जीव के मध्य मनोवृत्ति के सहारे प्रेम कथा का ऐसा सुन्दर चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।"** नूर मुहम्मद का उपनाम 'कामयाब' था।

नूर मुहम्मद के बाद फाजिलशाह ने **'प्रेम-रतन'** लिखा जिसमें नूरशाह और माहे-मुनीर की प्रेम-कथा है, परन्तु इसका अपनी परम्परा में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं। इसमें भी वही सब बातें साधारण स्तर पर दुहराई गई हैं। इसी प्रकार **'नलदमन'** नाम का भी एक काव्य मिला है जो १६५६ ई० का है। इसके लेखक कोई सूरदास हैं पर यह भी महत्व-हीन काव्य है।

'पुहुपावती' का रचनाकाल १६६९ ई० है। इसके रचयिता दुखहरनदास हैं। इसमें राजपुर के राजकुँवर और अनूपनगर के राजा अंबरसेन की पुत्री पुहुपावती और काशी के चित्रसेन की कन्या रूपवती की प्रणय कथा है। यह ग्रन्थ भी उच्चकोटि का आध्यात्म-परक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है।

इस परम्परा के समस्त ग्रन्थों का अवलोकन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इस धारा के कवियों की दृष्टि सूफीमत के प्रचार पर सर्वाधिक सम्पूर्णतः नहीं टिकी रही। हमारे कथन की पुष्टि इस बात से और भी होती है कि सभी ग्रन्थों में पारस्परिक समानताएँ हैं जिनसे यह प्रतिध्वनित होता है कि सभी एक ही लक्ष्य के पथिक हैं। वह लक्ष्य और कोई नहीं सूफी मत का प्रचार ही था। ये कवि बड़े ही उदार और सात्विक विचारों के थे। जैसा कि सूफीधर्म में दीक्षित प्रत्येक व्यक्ति हुआ करता है वैसे ही इनका हृदय प्रेम की पीर से भरा हुआ था। इन ग्रन्थों में पाई जाने वाली कुछ प्रमुख समानताएँ इस प्रकार हैं—

१. प्रायः सभी काव्य मुसलमानों द्वारा लिखे गए हैं। इनके लेखक अत्यन्त ही उदार और सात्विक वृत्ति वाले थे।

२. सभी प्रेमाख्यानक काव्यों के नाम नायिकाओं के ऊपर हैं। नायक और नायिका क्रमशः ब्रह्म और जीव के प्रतीक रूप में चित्रित किये गए हैं। परम सौन्दर्य और अखंड प्रेम भावना रूपी नायिकाओं की प्राप्ति ही नायकों की साधना का लक्ष्य है। इन्हीं के लिए नायक भटकते फिरे हैं।

३. प्रत्येक काव्य का नायक दो पत्नी धारी है। एक पत्नी सांसारिक कार्य भार को वहन करती है और दूसरी परमात्मा की उज्ज्वल ज्योति रूप है। 'पद्मावती' में

पद्मावती और नागमती ; 'मृगावती' में मृगावती और रुक्मनी दो-दो पत्नियों के रूप में चित्रित हैं। मधुमालती के कवि ने स्थिति में थोड़ा-सा मोड़ देकर भारतीय जनता के मर्म की ओर समीप से स्पर्श किया है।

४. सभी सूफी कवियों ने हिन्दू राजाओं को, भले ही वह कल्पित ही क्यों न हों अपने काव्य का विषय बनाया।

५. सूफी कवियों द्वारा वर्णित कथाएँ ही हिन्दू समाज की लोकप्रिय प्रेम कथाएँ नहीं हैं, वरन् काव्यों में प्रयुक्त पृष्ठभूमि भी अपनी सम्पूर्ण रीति-नीति में भारतीय हैं।

६. सभी कवियों ने नायिका (शक्ति) के माता-पिता द्वारा नायिका के विवाह का विरोध प्रदर्शित किया है।

७. सभी काव्यों में प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त ऐसे भी पात्रों की सृष्टि है जिनमें से कुछ व्यर्थ ही में दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, दूसरों की प्रगति पर कुढ़ते हैं और मौका पड़ने पर बुरा करने में भी नहीं चूकते। इसके विपरीत कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो हृदय के कोमल तथा उदार हैं और दूसरों की कार्य-साधना-सिद्धि में हाथ बँटाते हैं।

८. सभी काव्यों में Love at first Sight वाली बात ही चरितार्थ हुई है। साधक में कहीं रूप दर्शन के श्रवण से ही प्रेमोद्दीपन होता है तो कहीं रूप-सुन्दरी के चित्र-दर्शन-मात्र से ही। हीरामन से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर ही रत्नसेन के मन में प्रेम का अंकुर उग आता है। 'चित्रावली' काव्य में चित्रावली का चित्र देखकर ही राजकुमार उस पर मोहित हो जाता है। मोहवश वह अपना चित्र भी उस चित्र के समीप लगा देता है जिसे देखकर चित्रावली भी प्रेमविह्वल हो जाती है। मधुमालती, मृगावती और पुहुपावती में भी प्रथम दर्शन ही प्रेम की महायात्रा का आरम्भ बिन्दु है। इन कवियों ने प्रेम की आग दोनों तरफ से प्रज्वलित की है।

९. ये सभी काव्य फारसी की मसनवियों के ढंग पर लिखे गए हैं। इनमें भारतीय सर्गबद्ध काव्य शैली को नहीं अपनाया गया है। मसनवियों की शैली के अनुसार प्रथम स्मृतियाँ होती हैं जिनमें प्रायः क्रमानुसार ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफा, गुरु एवं शाहे-वक्त की स्तुति का प्राधान्य रहता है। इनमें भी इसी पद्धति का अनुकरण है, साथ ही भारतीय पद्धति का भी इन पर पर्याप्त प्रभाव है।

१०. प्रायः सभी सूफी कवियों ने ठेठ अवधी को अपनाया है और दोहे-चौपाई छन्दों में अपने ग्रन्थों की रचना की है। कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहे का विधान है। मृगावती और मधुमालती में चौपाई की पाँच पंक्तियों के पश्चात् और चित्रावली में सात पंक्तियों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग-बांसुरी' में छः पंक्तियों के पश्चात् दोहा न रखकर एक बरवै रखा है।

११. सबकी वर्णन-शैली, प्रतीक-योजना, अलंकार-योजना, समुद्र-यात्रा लगभग समान है।

१२. सभी काव्य आध्यात्म-भावना से ओत-प्रोत हैं। लौकिक प्रेम-कथाओं में

दिव्य-प्रेम की झाँकी है जिससे रहस्यात्मकता की अखंड व्यापकता प्रदर्शित हुई है। जीवात्मा, ईश्वरीय अंश और सम्पूर्ण विश्व उसी का प्रदर्शन माना गया है। इसी से जीवात्मा ईश्वर से मिलने को व्याकुल रहती है। गुरु की सहायता से ईश्वर की प्राप्ति होती है।

१३. सभी काव्यों में योग-भावना का समावेश है। सभी नायक योगी बने हैं। अनेक यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है। गोरखनाथ, गोपीचन्द तथा भर्तृहरि आदि योगियों का उल्लेख भी आया है।

१४. हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के प्रति समन्वयात्मक प्रेम भावना सभी काव्यों में व्यक्त हुई है। निर्गुण और सगुण का अद्भुत मेल हुआ है जो भारतीय सूफी काव्यों की अपनी विशेषता है।

×　　×　　×　　×

उपर्युक्त पंक्तियों में अभी तक हमने हिन्दी प्रेमगाथा काव्यों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय व विचार-वर्णन-साम्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया है; अब हम इस परम्परा में कविवर जायसी के योगदान का मूल्यांकन करेंगे।

कहना न होगा कि जायसी का पद्मावत हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का सर्वाधिक प्रकाशमान रत्न है। उसकी महानता और गुरुता अपनी परम्परा के समस्त काव्यों में सर्वाधिक है। इस काव्य को पढ़ने से ऐसा लगता है मानो कवि की आत्मा और वाणी दोनों प्रशान्त सागर की चंचल और स्निग्ध लहरियों के अन्तस्थल में डूब कर निकली हों। पद्मावत का शब्द प्रेम और आध्यात्म की व्यंजना से परिपूर्ण है। राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती की प्रणय कथा का जितना सरस, मार्मिक और गम्भीर वर्णन कवि ने पद्मावत में प्रस्तुत किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस परम्परा के ग्रंथ भी इसकी समकक्षता में देर तक नहीं ठहरते। नागमती का विरह-वर्णन तो हिन्दी कविता का प्राण बिन्दु ही है। जायसी ने इतना बड़ा पद्मावत न लिखकर यदि केवल नागमती का विरह वर्णन ही लिखा होता तो भी वे काव्य-जगत में अमर पद के भागी होते। असुन्दर जायसी का मानस कितना सुन्दर था इसे पद्मावत की पंक्तियाँ ही बता सकती हैं।

ग्रंथ का पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। पूर्वार्द्ध में तोते के द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर रत्नसेन का सिंहलद्वीप तक जाना और शिवजी की कृपा से पद्मावती को प्राप्त करना वर्णित है। यह भाग लोक-वार्ता पर आधारित है। उत्तरार्द्ध में राधव का अलाउद्दीन को लाना और रत्नसेन का देवपाल के हाथों द्वारा मारा जाना पूर्णतः ऐतिहासिक तो नहीं किंतु ऐतिहासिक सम्भावनाओं से युक्त है। इस ग्रंथ पर नाथ-पंथ का भी पर्याप्त प्रभाव है क्योंकि सिंहलद्वीप नाथ-पंथियों की सिद्ध पीठ है। हठयोग की क्रियाओं का प्रभाव रत्नसेन पर स्पष्ट दिखाया गया है। ग्रंथ में स्थान-स्थान पर लौकिक प्रेम के सहारे आध्यात्मिक तत्वों की बड़ी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की गई है। काव्य मसनवी ढंग से रचा गया है। आरम्भ में ईश्वर, गुरु, रसूल और शाहेवक्त की बंदना हैं। सम्पूर्ण काव्य अवधी भाषा में दोहे और चौपाइयों की पद्धति पर लिखा गया है। ग्रंथ सर्गों में न

विभाजित होकर खंडो में विभाजित है। कवि को कथा निर्वाह में काफी सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त ऋतु वर्णन, प्रकृति चित्रण, विचारों की उदारता व उदात्तता, मर्म-स्पर्शनी भाव व्यंजना, वर्णन की प्रचुरता, रसपरिपाक, सफल अलंकार योजना और सांस्कृतिक समन्वय की भावना तथा पवित्र प्रेम की व्यापक गूढ़ व्यंजना आदि बातों का समावेश कर कवि ने ग्रंथ को महाकाव्य की गरिमा से भर दिया है। वैसे ग्रंथ में कुछ दोष भी हैं जिसके लिए कवि को यद्यपि क्षमा नहीं किया जा सकता, तथापि प्रेम की व्यापकता और अन्यान्य विशेषताओं के सम्मुख वे दोष नगण्य हो जाते हैं। भाषा, भाव और शैली सभी दृष्टियों से ग्रंथ अनुपमेय बन पड़ा है। तत्कालीन परिस्थितियों और सांस्कृतिक माँग के अनुसार कवि की यह देन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। कवि ने इस ग्रंथ का प्रण-यन करके प्रेमाख्यानक हिन्दी काव्य परम्परा को अत्यन्त गौरव प्रदान किया है। इस दृष्टि से उसका स्थान अन्यतम है।

●

: १८ :

महाकवि जायसी और तुलसी

महाकाव्यकार जायसी और तुलसी दोनों भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवि हैं। जायसी ने निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा का प्रतिनिधित्व किया और तुलसी ने सगुण भक्ति की राममार्गी शाखा का। मुसलमान के घर में जन्म लेने के कारण जायसी में मुस्लिम संस्कार थे, और हिन्दू (ब्राह्मण) घर में जन्म लेने के नाते तुलसी में आर्य जाति के संस्कार विद्यमान थे। दोनों कवियों ने अपने-अपने धर्म, भक्ति और विचारों के प्रतिपादन के साथ-साथ हिन्दी को अनुपम काव्य-ग्रन्थ भेंट किये जिनसे भारती के भंडार में स्थायी वृद्धि हुई। दोनों का युग परिस्थितियों की दृष्टि से एक ही था किन्तु जायसी, तुलसी के पूर्ववर्ती और तुलसी, जायसी के परवर्ती थे। इन दोनों के व्यक्तित्व तथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए हम अपनी सुविधानुसार निम्नलिखित बिन्दु निश्चित करते हैं—

(अ) युग और आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ।

(ब) बाल्यकाल तथा शिक्षा-दीक्षा।

(स) प्रणीत काव्य-ग्रन्थ और उनके विषय।

(द) ग्रंथों का समग्रतः साहित्यिक मूल्यांकन।

(थ) समाज, धर्म और राजनीति विषयक विचार।

(फ) विशिष्टताएँ और परम्परा में स्थान।

युग की दृष्टि से वह भक्ति युग था। राजनीतिक वातावरण शान्त हो चुका था। विजयी मुसलमानों ने हिन्दुओं के उत्साह की कमर तोड़ दी थी, अब उनमें मुसलमानों से लोहा लेने का साहस नहीं रह गया था। विजेता मुस्लिम जाति को यहाँ आए अब काफी दिन हो गए थे और हिन्दुओं को उनके साथ रहने का अब अभ्यास हो चला था। फलस्वरूप दोनों एक दूसरे के आचार-विचार, रहन-सहन तथा व्यक्तित्व और धर्म आदि से परिचित हो चले थे। संघर्षों से दोनों ऊब गए थे और अब वे शान्ति तथा निर्विघ्न जीवन के लिए लालायित थे। परस्पर समझौते की भावना बढ़ती जा रही थी, परन्तु दोनों के मूल संस्कारों की भिन्नता ज्यों की त्यों थी। धार्मिक क्षेत्रों में दोनों जातियों के बीच काफी कोलाहल था। अनेक सम्प्रदाय और विविध प्रकार के धार्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले नेता अपनी-अपनी करामातें दिखा रहे थे जिससे शान्ति का प्यासा जन-हृदय एक विचित्र मृग-मरीचिका में उलझा दुसह-व्यथा का अनुभव कर रहा था। प्रतिभाशाली, स्पष्ट विचारों और सम-रस भाव से आकुल जन-हृदय को शान्ति प्रदान करने वाले

नेताओं की आवश्यकता थी। सामाजिक दुर्व्यवस्था का चित्र तो अवर्णनीय है। उसकी विशृंखलता को एक सूत्र में पिरोने वाले नायक का अभाव था। ऊँच-नीच और छोटे-बड़े आदि की भावना प्रबलतर रूप धारण किए समाज को विकृत करने में संलग्न थी। साहित्य का स्वरूप भी अनस्थिर ही था। उसे सुनिश्चित् दिशा देने वाले मेधावी कलाकारों की अपेक्षा थी। उस युग की इन्हीं विषय-परिस्थितियों के बीच कालान्तर से कविवर मलिक-मोहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदास ने जन्म लिया।

बाल्यकालीन जीवन दोनों कवियों का विचित्रताओं से युक्त था जिनके बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। यहाँ हम व्यर्थ उन किंवदन्तियों की सत्यता-असत्यता की गहराई में न जा एक वाक्य में इतना ही कहना चाहेंगे कि दोनों की बाल्यावस्था अनाथों की-सी बीती जिसमें अपेक्षाकृत तुलसी का जीवन अधिक कष्टमय रहा।

"मातु-पिता जग जाय तज्यो, विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।"

—(तुलसीदास)

"बारे ते ललात बिललात द्वार दीन-दीन,
जानत हौं चारिफल चारि ही चनक कों।"

—(तुलसीदास)

जहाँ तक शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है उस समय दोनों उपयुक्त सुविधाओं से वंचित रहे और जायसी को तो यह अभाव जीवन पर्यन्त ढोना पड़ा। धीरे-धीरे वयस्क होने के साथ-साथ उनके जीवन की दिशायें भी बदलीं। युवाकाल में पत्नी रत्नावली के मर्मभेदी शब्द-वाणों से घायल हो तुलसी ने वैराग्य ले लिया और ज्ञान-तृष्णा की शान्ति हेतु सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान-पीठों एवं तीर्थ स्थानों का परिभ्रमण करते रहे और अन्त में वाराणसी में गुरु शेष सनातन के चरणों में बैठ १५ वर्ष तक साहित्य तथा धर्मादि का अनवरत गम्भीर अध्ययन किया, तदुपरि महाकवि के रूप में सृजन-तूलिका उठाई। प्रतिकूल परिस्थितियों का शिकार जायसी का बाल्यकालीन जीवन विधिवत शिक्षा-ज्ञान का सौभाग्य न प्राप्त कर सका। फलतः विवश हो विश्व की खुली पाठशाला में उसे अनुभव ज्ञान का अवलम्बन लेना पड़ा।

"बालक जायसी अनाथावस्था में इधर-उधर मारा-मारा फिरा। अतः उसको स्कूलीय शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला, किन्तु ईश्वर प्रदत्त धारणा शक्ति का पूर्णोपयोग उसने किया। उसकी पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र था, उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएँ और व्यापार थे, सहपाठी ज्ञानेन्द्रियाँ और सत्संग थे तथा पुस्तक निर्मल हृदय था जिसमें अनुभूत व्यापारों का परायण होता रहता था। इस प्रकार मननशील जायसी युवावस्था तक शिक्षा प्राप्त कर संसार के समक्ष आया। ऐसे ही निरक्षर सम्राट अकबर को संसार ने विद्वान माना और उसकी विद्वत्ता को सराहा था।"[1]

---

१. डा० जयदेव—सूफी महाकवि जायसी, पृष्ठ ४२-४३

जायसी के काव्य ग्रंथों की सूची अन्य कवियों की भाँति लम्बी बताई जाती है किन्तु मान्यता अभी प्रमुख रूप से केवल तीन ग्रंथों को ही मिल सकी है—

(१) आखिरी कलाम, (२) पद्मावत, (३) अखरावट।

तुलसीदास के निम्न ग्रंथों को मान्यता मिली हुई है।

१. रामचरित मानस (सं० १६३१), २. दोहावली (सं० १६४०), ३. कवित्त रामायण(सं०१६६५-७१),४. गीतावली(सं०१६२७),५. कृष्ण गीतावली(सं०१६२८) ६. विनयपत्रिका (सं०१६४२), ७. रामलला नहछू (सं० १६०३), ८. वैराग्य संदीपनी (सं० १६६९), ९. बरवै रामायण (सं० १६६९), १०. पार्वती मंगल (सं० १६४३), ११. जानकी मंगल (सं० १७४३), १२. रामाज्ञा प्रश्न (सं० १६६९)।

जहाँ तक इन ग्रंथों के वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, भक्तिकाल में जन्म लेने के नाते सामान्यतया दोनों ने भक्ति एवं धर्म सम्बन्धी विचारों को प्रधानता दी। साथ ही काव्य-कला का चरम उत्कर्ष भी प्रकट किया। वैसे तुलसी के साहित्य में विविध विचारों का अक्षय भंडार है किन्तु प्रमुखता जायसी की भाँति धार्मिक विचारों की ही है।

दोनों की कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन करते समय सबसे पहला विचार जो हमारे मस्तिष्क में आता है वह यह कि दोनों ही महान प्रतिभाशाली विचारक और भावुक भक्त हृदय सम्पन्न महाकवि हैं। प्रेम के अन्य पुजारी हैं, अपने-अपने धर्म के अन्धविश्वासी हैं, मानव चरित्र के कुशल पारखी और जीवन के सूक्ष्म द्रष्टा हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष में कल्पना तत्व, बुद्धितत्व तथा रागात्मक तत्व का समावेश होता है और कलापक्ष में छन्द, भाषा, शब्द और अलंकार योजना, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों आदि का प्रयोग। इस दृष्टि से दोनों कलाकारों ने महान मेधा शक्ति और सफल कवि-कर्म का परिचय दिया है। भाव तथा कलापक्ष के समस्त तत्वों का समुचित और मूल्यांकन की कसौटी पर खरा उतरने वाला प्रयोग किया है। दोनों महान प्रतिभाशाली हैं जिनके हृदय की भावुकता एक दूसरे से होंड़ करती हुई आगे चलती है।

छन्दों में जायसी ने आखिरी कलाम और पद्मावत में दोहे चौपाइयों का प्रयोग किया है किन्तु अखरावट में दोहे-चौपाइयों के साथ-साथ सोरठे का भी प्रयोग है। तुलसी ने अपने समय की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों में रचनाएँ कीं। चन्द के छप्पय, कबीर के दोहे, सूरदास के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रहीम के बरवै तथा राजदरबारों में प्रचलित कवित्त-सवैया आदि सभी पद्धतियों को अपने काव्य में स्थान दिया। इस दृष्टि से वे प्रतिनिधि कवि हैं।

भाषा के श्रेय में तुलसी का अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार है परन्तु जायसी का केवल अवधी पर ही। तुलसी के रामचरित मानस में पश्चिमी अवधी का साहित्यिक रूप मिलता है और बरवै रामायण में पूर्वी अवधी का। जायसी ने बोल-चाल की ठेठ पूर्वी अवधी का प्रयोग किया है। तुलसी की भाषा में जो प्रांजलता है वह

जायसी की भाषा में नहीं। तुलसी की भाषा भावानुसारिणी, ओज और माधुर्य से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र फारसी और अरबी तथा बुन्देलखण्डी के भी शब्द पाये जाते हैं। जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य "भाषा" का माधुर्य हैं। संस्कृत का माधुर्य निराला है। वह संस्कृत की कोमल-काँत पदावली पर अवलम्बित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। **"मंजु, अमन्द"** आदि की चासनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यही बड़ा भारी अन्तर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोकभाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी, पर गोस्वामी जी की पहुँच दीर्घ-संस्कृत-कवि-परम्परा द्वारा परिपक्व चाशनी भांडागार तक भी पूरी-पूरी थी। दोनों के भिन्न प्रकार के माधुर्य का अनुमान नीचे उद्धृत चौपाइयों से हो सकता है—

(१) **"जब-हुँत कहि गा पंखि संदेशी। सुनिउँ को आवा है परदेसी॥**
तब-हुँत तुम बिन रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत 'पिउ-पीऊ'॥
भइउँ चकोरि सो पंथ निहारी। समुद सीप जस नयन पसारी॥
भइउँ विरह जरि कोइलि कारी। डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी॥"

—(जायसी)

(२) **"अमिय-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू॥**
सुकृत संभु तन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुनगन वस करनी॥
श्री गुर-पद-नख-मनि-गन-जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥"

—(तुलसी)

यदि गोस्वामी जी ने अपने "मानस" की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी कि इन चौपाइयां में की है—

"कोउ नृप होय हमें का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी ?॥
जारै जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥"

तो उनकी भाषा पद्मावत ही की भाषा होती और यदि जायसी ने सारी "पद्मावत" की रचना ऐसी भाषा में की होती जैसी कि इस चौपाई की है—

"उदधि आइ तेइ बंधन कीन्हा। हति दशमाथ अमर पद दीन्हा॥"

तो उसकी और **"रामचरितमानस"** की एक भाषा होती, पर जायसी में इस प्रकार की भाषा कहीं ढूंढ़ने से एकाध जगह मिल सकती है। तुलसीदास जी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह-जगह मिलती है। सारांश यह कि तुलसीदास जी को दोनों प्रकार की भाषाओं पर अधिकार था और जायसी को एक ही प्रकार की भाषा पर। एक ही ढंग की भाषा की निपुणता उनकी अनूठी थी। अवधी की खालिस, बे-मेल मिठास के लिए 'पद्मावत' का नाम बराबर लिया जायगा।[1]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली

तुलसी की शब्द योजना बड़ी ही मनोहर और सशक्त है। वाक्य रचना व्यवस्थित और आकर्षक है। जायसी की वाक्य-रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान सुव्यवस्थित नहीं। न्यूनपदत्व के वाक्य दोष अधिक हैं। शब्द योजना भी उतनी सशक्त नहीं। लोकोक्तियों और मुहाविरों का दोनों कवियों ने सफल प्रयोग किया है। अलंकारों में भी दोनों कवि परम्परा के पालक ही अधिक हैं।

रसों में तुलसी का नवों रसों पर पूर्ण अधिकार है परन्तु जायसी का नहीं। शृंगार, करुण और वीर रसों के चित्रण में ही उन्हें अधिकाधिक सफलता मिल सकी है। शृंगार में वियोग-शृंगार जायसी का बड़ा ही मार्मिक है। नागमती के विरह वर्णन में न केवल पाठक वरन् सम्पूर्ण प्रकृति संवेदनशील हो उठी है और पशु-पक्षियों के दृगों से भी अश्रु-प्रवाहित हो चलता है। 'पद्मावत' रतिभाव का अगाध सागर है, शृंगार रस का महाकाव्य है।

कल्पना की विलक्षणता दोनों कवियों में अपूर्व है। कोई किसी से घटकर नहीं। हाँ, तुलसी सौंदर्य और मर्यादा को कभी नहीं भूलते।

बुद्धितत्व अपेक्षाकृत जायसी से तुलसी में अधिक है। वे मर्यादावादी आदर्श विचारों के सुधारवादी कवि हैं। जायसी इसके विपरीत अपनी प्रेम पीर के अमर गायक ही हैं। जहाँ तक विचारों की बात है तुलसी के साहित्य में जीवन और जगत के विविध अंगों पर पाँडित्यपूर्ण प्रकाश डाला गया है। जायसी में विचारों की उस व्यापकता का अभाव है। शायद उन्होंने इसकी आवश्यकता ही न समझी हो क्योंकि वे प्रेम-मार्ग के धीर पथिक थे। उन्हें अपनी पीर की गहराई और व्यापक संवेदनशीलता की विवेचन सीमा से बाहर निकल जीवन और जगत को इतनी खुली आँखों से देखने का अवकाश ही न मिला; अथवा यह कहिए कि अपने लक्ष्य की तन्मयता में डूबे रहने के कारण उन्होंने इधर देखा ही नहीं। वे अपनी धुन में ही चलते गए, उन्हें तुलसी की भाँति समाज की कोई चिन्ता न थी और न भविष्य के लिए उन्हें कोई सामाजिक आदर्श ही छोड़ जाना था।

तुलसीदास को लोक और शास्त्र का व्यापक ज्ञान था। इसीलिये वे अपने सम्पूर्ण साहित्य में समन्वय की चेष्टा में रत दिखाई देते हैं। लोक और शास्त्र का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, कथा और तत्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाँडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय आदि से उनका रामचरितमानस भरा हुआ है। वे आदर्शवादी थे और अपनी रचनाओं में भावी समाज का ढाँचा उपस्थित करने में प्रयत्नशील रहे। यही कारण है कि उनके पात्रों के आचरण में कोई न कोई समाज सृष्टि का विशेष लक्ष्य होता है। उनका प्रत्येक पात्र किसी न किसी सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

जायसी ने मानव जीवन की सामाजिक एवं नैतिक भावनाओं का अपने काव्य में शून्यवत् ज्ञान दिया है। इसका प्रधान कारण यह था कि जायसी ने तुलसी की भाँति

समाज सुधारक और नीति व्यवस्थापक तथा किसी प्रकार की जातिगत मर्यादा को ध्यान में रखकर अपने काव्य की सृष्टि नहीं की। उन्हें न किसी लोकव्यापी आदर्श की प्रतिष्ठा करनी थी और न भावी समाज का ढाँचा ही तैयार करना था वे तो प्रेम की पीर के गायक थे जिसमें हाल आता है; वेदना और तड़प होती है। लौकिक प्रेम उनके उस प्रेम के प्राप्त करने का सोपान है। लौकिक प्रेम के उत्कर्ष में ही उन्हें दिव्य प्रेम की अनुभूति होती है। नैतिकता का बन्धन इस मार्ग में महान् बाधक है। वे लौकिक प्रतिबन्धों से परे मूक हृदय से खेलते हुए अपने उस परम-प्रियतम के एकनिष्ठ और दिव्य प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इसके विपरीत तुलसी के प्रेम में मर्यादा है, उच्छृङ्खलता और अनैतिकता को वहाँ बिल्कुल स्थान नहीं है। मर्यादा से गिरा हुआ प्रेम—प्रेम की संज्ञा को सार्थक नहीं करता, वह हेय है और उसे वासना की कोटि में स्थान मिलना चाहिए। तुलसी के प्रेम में श्रद्धा का सम्मिश्रण है, जिसने उनके प्रेम को महान् गम्भीरता प्रदान की है।

जायसी ने समाज विषयक यत्र-तत्र जो चर्चाएँ की हैं वे उनके कथा के प्रसंगवश हैं, किसी सामाजिक दृष्टि से नहीं। राजनैतिक विचारों की ओर से जायसी बहुत उदासीन हैं। मसनवी शैली के अनुसार ग्रंथ रचने के कारण अपने 'पद्मावत' में उन्होंने शाहेवक्त (शेरशाह) की प्रसंशा अवश्य की है पर वह परम्परा पालन मात्र ही है। उससे देश की तत्कालीन राजनैतिक दशा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जहाँ तक भक्ति और साधना विषयक प्रश्न है जायसी मुसलमान सूफी भक्त कवि थे किन्तु उनके काव्य पर हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की भी छाप है। वे उदार हृदय और विधि पर पूरी आस्था रखने वाले हैं। वेद, पुराण, कुरान, आदि उनकी दृष्टि में कल्याणकारी हैं। वेद विरोधियों के लिए उनका कहना था।

"वेद वचन मुख सांच जो कहा। सो जुग जुग अहि थिर ह्वै रहा।"

अपनी साधना में उन्होंने सभी धर्मों से कुछ न कुछ लिया है। उपासना के क्षेत्र में वे भगवान् के निर्गुण रूप के उपासक थे किन्तु सूफी सिद्धान्तों की ओर झुकाव होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासक की सहृदयता पाई जाती है। सूफी धर्म उनका अभीष्ट धर्म था और सूफी साधना ही उनकी अभीष्ट साधना थी।

इसके विपरीत तुलसीदास आर्य संस्कारों से सम्पन्न वैष्णव भक्त थे। नवधा भक्ति उनकी वैष्णव साधना के प्राण के रूप में प्रतिष्ठापित हुई है। भगवान् राम की सगुणोपासना करते हुए उन्होंने जन-जन को नवधा भक्ति का सन्देश दिया और समाज में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था करते हुए हिन्दू जाति में आर्य गौरव का महामन्त्र जगाया। उनके राम की साकार उपासना से उनका 'राम नाम' अधिक महत्वशाली है। वे रूप की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ बताते हैं क्योंकि—

"राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥"

यह नाम की महिमा है जो निर्गुण और सगुण दोनों उपासकों के बीच समान

आदर पाती है। शक्ति, शील और सौन्दर्य से समन्वित उनके मर्यादा पुरुषोत्तम ब्रह्म होने के साथ-साथ सामान्य मानव के रूप में भी आचरण करते हैं और लोक-आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं। जायसी के रत्नसेन या पद्मावती द्वारा इस प्रकार की आशा हम नहीं कर सकते। मानव जीवन की जितनी विविध दशाओं का चित्रण तुलसी ने किया है जायसी उतनी सोच भी नहीं सके हैं। प्रेम मार्ग में जिनसे उनका सम्बन्ध हुआ केवल उन्हीं की चर्चा उनको अभीष्ट जान पड़ी।

जायसी भी धार्मिक प्रवक्ता हैं और तुलसी भी, किन्तु तुलसी के प्रवचन में आकर्षण है, व्यापकता और समन्वयात्मकता है, जायसी में इस्लामियत अथवा व्यापक रूप में यों कहिए कि सूफी-मत विशेष की ही स्पष्ट गन्ध है। उसमें जातीयता का संकोच है।

संस्कृति के पोषक के रूप में आचार्य तुलसी अमर हैं। दोनों में समन्वय की भावना है। जायसी सांस्कृतिक समन्वय के लिए कुछ अधिक प्रयत्नशील हैं। भारत की संस्कृति शाश्वत संस्कृति है, इस नाते तुलसी का अपेक्षाकृत कुछ स्वतन्त्र होना स्वाभाविक है। वैसे तुलसी अपनी संस्कृति के महान् पुनरुद्धारक के रूप में प्रसिद्ध हैं और इसी नाते बुद्ध के बाद उन्हें ही लोक नायक की उपाधि मिली, क्योंकि उनमें सब प्रकार के भावों के प्रतिनिधित्व और समन्वय करने की क्षमता थी। जायसी ने भी भारतीय कलेवर में सूफी आत्मा को सजाया और उससे अपनी संस्कृति के मधुर बोल सुनवाये पर उनका जादू भारतीयों के बीच उतना कारगर न हो सका।

महाकाव्य के समस्त लक्षणों के अनुसार दोनों ने क्रमशः अपने पद्मावत और रामचरितमानस को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न किया है। अपनी विशिष्टताओं के कारण रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। पद्मावत का स्थान हिन्दी में दूसरा है। पर यह भी सत्य है कि रामचरित मानस के प्रणेता में भाषा, भाव और विचारों की श्रेष्ठता तथा व्यापकता भले ही अधिक हो किन्तु प्रेम की वह एकनिष्ठता तथा गहराई नहीं जो पद्मावत के प्रणेता जायसी में है। चतुर्दिक सतर्क रहने के कारण गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि निर्विवाद सिद्ध होते हैं और एकांगी दृष्टि रखने के कारण जायसी को उनकी श्रेणी के काव्यकारों में द्वितीय स्थान मिलता है। दोनों महाकवियों ने अपनी-अपनी पावन वाणी से साहित्य की जो श्री-वृद्धि की है उसके लिए हिन्दी आजीवन ऋणी रहेगी। ध्यान रहे रामचरितमानस से ३४ वर्ष पूर्व पद्मावत का सृजन हो चुका था। पद्मावत हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य है। तुलसी काव्य के क्षेत्र में पद्मावत पथ के अनुगामी हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न विनयशील मेधावी महाकवि के रूप में जायसी अमर हैं और हिन्दी काव्य गगन के पीयूषवर्षी इन्दु तुलसी की गरिमा का तो कहना ही क्या !

●

: १९ :

महाकवि जायसी और कबीर की रहस्य-भावना

रहस्यवाद की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं। वह मनोरंजक होते हुए भी बड़ा दुस्साध्य विषय है। उसका विस्तार सागर की भाँति सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में फैला हुआ है। अगणित कवियों के हृदय से उसकी अजस्र धारा प्रवाहित हुई है जिसके कल-कल निनाद में उन्होंने अलौकिक संगीत का अनुभव किया है। वे उसमें खो गये हैं, अपना भौतिक अस्तित्व भुला बैठे हैं। योगी और यती आदिकाल से ही उसे समझने का प्रयास करते चले आ रहे हैं परन्तु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। रहस्य, रहस्य ही बना रह गया। उसे वाणी न मिल सकी; और जो मिली भी वह अटपटी तथा कहीं-कहीं अत्यन्त ही भावात्मक और स्निग्ध पारे की-सी गतिमान। बड़े-बड़े मनीषियों और तत्वचिन्तकों की जब यह दशा है तो सामान्य बुद्धि की बात ही क्या हो सकती है। फिर भी जिज्ञासु मन को आश्वस्त करने के लिए विद्वानों ने रहस्यवाद को यथा सम्भव परिभाषाओं की डोर में बाँधने के प्रयत्न किये हैं। जिनमें से कछ को हम नीचे दे रहे हैं।

"रहस्वाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्च्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता है।"

—(डा० रामकुमार वर्मा)

"साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है काव्य के पक्ष में वही रहस्यवाद है।"

—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

"रहस्यवाद साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार उस मनः प्रवृत्ति का प्रकाशन है जो अव्यक्त और सर्वव्यापी ब्रह्मवाद से परिचित होने के लिए प्रयास करती है। यह प्रवृत्ति मन का गुण है इसका प्रकाशन काव्य में होता है। यह प्रयास जिस भाव साधना के सोपानों से अग्रसर होता है, वह एक उच्च स्तर की मानसिक स्थिति होती है। यह स्थिति साधारण जन के लिए रहस्य है।" —(डा० मुंशीराम शर्मा)

"रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने समीप और पार्थिव स्थिति से उस असीम एवं स्वर्गिक महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।" —(गंगाप्रसाद पाण्डेय)

एक वाक्य में हम यों कहेंगे कि आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध जब काव्यमयी भाषा में व्यक्त होता है तो उसे साहित्य में रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता

है। उस अप्राप्य ब्रह्म अथवा अज्ञात—अव्यक्त चरम सीमा सत्ता को प्राप्त तथा व्यक्त करने के लिए मानव हृदय व मन ने जो निरन्तर प्रयत्न किये हैं उसे ही रहस्यवाद की परिभाषा मिली है।

इस रहस्यवाद में अद्वैतवाद की भावना काम करती है। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद का आधार है। ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत की एकता रहस्यवाद के दो छोर हैं। इसी तथ्य की पृष्ठ में अनेक तत्वचिन्तकों और काव्य-मनीषियों ने उसे विविध दिशायें देने का प्रयत्न किया है। अद्वैतवाद के दोनों पक्ष मिलकर 'सर्ववाद' की प्रतिष्ठा करते हैं।

भारतीय सन्तों और भक्तों ने अपनी साधना के लिए पहले पक्ष के लिए अधिक महत्व दिया है परन्तु दूसरे पक्ष की अनुभूति के बिना उनकी व्यापक भावना को पूर्णता नहीं मिलती। प्रकृति की प्रत्येक विभूति में, संसार के प्रत्येक—कोमल और कठोर, प्रीति-कर और भयंकर कार्य-व्यापार में उन्हें इस अव्यक्त और परोक्ष सत्ता का आभास मिलता है।

"पहले पक्ष को लेकर भारत और फारस में सूफी और योग मार्ग चले हैं। उन पंथों और मार्गों पर चलने वालों का अन्ततः अपनापन खुदा या बन्दे में लय करना ही लक्ष्य है। दूसरे पक्ष को लेकर भावुक हृदय में एक भावलोक की सृष्टि हुई जिसमें कहीं ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ, घटना और व्यापार में उसकी विभूति और व्यापारों का दर्शन है, तो कहीं ईश्वर को प्रेममय, प्रेमरूप मानकर उसकी लीला का प्रसार है। इसीकी परिणति एक दिशा में माधुर्य भावना में हो जाती है।" —(डा० सुधीन्द्र)

आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के दो भेद किये हैं—

१. साधनात्मक।

२. भावात्मक।

जिस रहस्यवाद का आधार योग है वह साधनात्मक रहस्यवाद है और जिसका आधार भक्ति या सूफी प्रेम सिद्धान्त है वह भावात्मक रहस्यवाद है।

साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत योग के अप्राकृतिक और जटिल आसन, कर्म-काण्ड, तप और कायाकष्ट आदि हैं। इसमें बरबस इंद्रियों का दमन किया जाता है। और इस प्रकार साधक मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार तथा अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करता हुआ भगवान के निकट पहुँचने का प्रयत्न करता है। तन्त्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत हो आते हैं पर उनका स्तर अपेक्षाकृत निम्न है।

भावात्मक रहस्यवाद की कई श्रेणियाँ हैं जिसमें से किसी एक रहस्य-भावना को आधार मानकर भक्त सरल एवं मधुर भाव से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। भक्त और साधक में अगाध विश्वास तथा आत्म समर्पण की भावना बड़ी प्रबल रहती है। इस रहस्यवाद के अन्तर्गत अद्वैत ब्रह्म की ही कल्पना होती है।

इस अद्वैतवाद का प्रतिपादन सर्वप्रथम उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् भारतीय ज्ञानकाण्ड के मूल हैं। अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि में एक दार्शनिक सिद्धांत है, कवि कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के तत्वचिन्तन और बुद्धि प्रयास का फल है।

इस ज्ञान का उदय प्रेमोन्माद या इलहाम के रूप में नहीं हुआ था। वस्तुतः अद्वैतवाद चिन्तन की वस्तु है, भावनामात्र की नहीं। ब्रह्म जीव तथा प्रकृति के रहस्यों को समझने के पश्चात् मनीषियों ने उसके उद्घाटन के जो विविध मार्ग अपनाये उनमें भावना को स्थान मिला। रहस्यवादी भावना भी उद्घाटन के विविध मार्गों में से एक है।

गीता के दशवें अध्याय में सर्ववाद का जो अद्वैतवाद का विकसित रूप है, भावात्मक प्रणाली पर निरूपण है। वहाँ भगवान ने विभूतियों का जो वर्णन किया है, वह अत्यंत रहस्यपूर्ण है। सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी तब वह अपने को जगत के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। इस आधार पर अवतारवाद का मूल भी रहस्य भावन ही ठहरती है। परन्तु रहस्यवाद के सिद्धान्त रूप में गृहीत हो जाने पर तथा राम कृष्ण के ईश्वर विष्णु के अवतार निश्चित हो जाने पर यह रहस्य दशा समाप्त हो गई।

श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण भक्ति को जो रूप प्राप्त हुआ उसमें रहस्य भावना को प्रश्रय मिला। भक्तों की दृष्टि से कृष्ण का लोक संग्रही रूप हटने लगा और वे प्रेम-मूर्ति मात्र रह गये। अभिप्राय यह कि भक्त लोग उन्हें अपने निजी दृष्टिकोण से देखने लगे। गोपियों का प्रेम जिस प्रकार एकान्त और रूप माधुर्य मात्र पर आश्रित था उसी प्रकार भक्तों का भी हो चला। यहाँ तक कि कुछ स्त्री भक्तों ने भगवान की कल्पना प्रियतम के रूप में की। बड़े-बड़े मन्दिरों और देवदासियों की जो प्रथा थी उससे इस माधुर्य भाव को और भी सहारा मिला। माता-पिता कुमारी लड़कियों को दान कर आते थे जहाँ उनका बिवाह देवता के साथ हो जाता था। उनकी भक्ति देवता को पति रूप में मानकर ही विकसित हुई। इस पति या प्रियतम के रूप में भगवान की भावना को वैष्णव भक्तिमार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य रूप से रहता है।

स्वभाव से भारतीय भक्ति रहस्यात्मक नहीं है। इस नाते इस भावना का अधिक प्रचार न हो सका। हाँ, जब सूफी भारत में आये तो उनका प्रभाव भारतीय भक्तों पर पड़ा। मीराबाई ने ऐसे भक्तों का प्रतिनिधित्व किया। चैतन्य महाप्रभु की मण्डली, सूफियों की भाँति ही कीर्तन करते-करते मूर्छित हो जाती थी। भारतीय भक्ति-भावना पर सूफियों के प्रभाव सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है :—

"मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा-देखी इस भाव की ओर कृष्ण-भक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हुई जो लोक-लाज खोकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थी। उन्होंने एक बार कहा था कि 'कृष्ण को छोड़

पुरुष है कौन ?' सारे जीव स्त्रीरूप हैं।"

सूफियों का असर कुछ और कृष्ण भक्तों पर भी पूरा-पूरा पाया जाता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं। जैसे सूफी कव्वाल गाते हुए हाल की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु जी की मण्डली भी नाचते-नाचते मूर्छित हो जाती है। यह मूर्छा रहस्यवादी सूफियों की रूढ़ि है। इसी प्रकार मद प्याला उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूररूढ़ व्यंजना भी सूफियों की बंधी हुई परम्परा है। इस परम्परा का अनुसरण भी पिछले कृष्ण भक्तों ने किया। नागरीदास इश्क का प्याल पी-पीकर झूमा करते थे। कृष्ण की मधुर मूर्ति ने कुछ आजाद सूफी फकीरों को भी आकर्षित किया। नजीन अकबराबादी ने खड़ी बोली के अपने बहुत से पद्यों में श्रीकृष्ण का स्मरण प्रेमालंबन के रूप में किया है।

निर्गुण शाखा के कबीर दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है; पर प्रेम-तत्व बिलकुल सूफियों का है। इन में से दादू, दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं। कबीर में माधुर्य भाव जगह-जगह पाया जाता है।

इस तरह हम हम देखते हैं कि भावात्मक रहस्यवाद का प्रभाव हमारे कबीर परम्परा सन्त कवियों तथा कृष्ण भक्ति शाखा के भक्तिमार्गी वैष्णव कवियों दोनों पर था। इसके साथ-साथ मुसलमानों की सूफी धारा भी देश में प्रवाहित हो रही थी जिसकी विचारधाराओं के मूल में भी हमें इसका आभास मिलता है।

इसी क्रम में श्री यज्ञदत्त शर्मा जी ने अपने ग्रंथ 'जायसी साहित्य और सिद्धान्त' में लिखा है—'**साधनात्मक रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान मिश्रित हठयोगी भावना और ब्रह्म की कल्पना से है। हठयोगी, तन्त्र, रसायन इत्यादि की बातें भी साधारण मस्तिष्क के लिये रहस्य की बातें हैं। साधक अपनी साधना के चमत्कार से कुछ विशेष बातें प्रदर्शित करता है, तो वह जनता के लिए रहस्य का विषय है। इन सबका वर्णन और फिर कल्पनात्मक वर्णन, बस यही साधनात्मक रहस्यवाद का विषय है। कबीर ने भारतीय ज्ञान विचारावलि अर्थात् वेदांत और सूफी प्रेम का सम्मिश्रण करके जिस रहस्यवाद की सृष्टि की उसे हम अधिक बल के साथ साधनात्मक रहस्यवाद ही कहेंगे। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी और शरीर के भीतरी चक्रों की चर्चा इस रहस्यवादी धारा में मिलती है। इस विचारधारा में ईश्वर को केवल मन के अन्दर खोजने की भावना रहती है।**" आगे वे फिर लिखते हैं—

"भारतीय भक्त इस काल में ईश्वर की खोज अपने मन में नहीं करता था। भारत में अवतारवाद का प्रचार था और भक्त अपने उपास्य को दिल के एकांत कोने में प्रतिष्ठित न करके उसे बहिर्लोक में प्रतिष्ठित करता था। इसी में भगवान का लोकरंजक स्वरूप निहित था। भारत में भावात्मक रहस्यवाद तेजी से फैल रहा था। इसमें अद्वैत की झलक थी। वहाँ शायरी का तो प्रथम विषय ही यह बन गया था। खलिफाओं की कड़ी

धार्मिक शासन प्रणाली की कड़ियाँ सूफी फकीरों की मधुर वाणी ने छिन्न-भिन्न कर डालीं। जनता सूफियों के प्रेममय संगीत में बह निकली और प्राचीन रूढ़ियाँ आप से आप टूट कर गिर पड़ीं। जब सूफी मुसलमान भारत में आये तो उन्होंने भारत के वेदांती लोगों से भेंट की। दोनों का विचार-विमर्श हुआ और उसके फलस्वरूप वे सभी प्रभावित हुए। हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म दोनों अपनी विभिन्न शाखाओं में बह निकले। इन शाखाओं की मान्यताओं में कहीं मेल था और कहीं बेमेल। विचित्र बात जो सामने आई वह यह थी कि बहुत-सी मुसलमानी शाखाओं की अपनी मान्यतायें और हिन्दू धर्म की शाखाओं की अपनी मान्यतायें इतना मेल खा गई जितना मेल उन शाखाओं का अपने धर्म की अन्य शाखाओं से भी नहीं था। इसके फलस्वरूप एक सामान्य भावना ने जन्म लिया। ये मन्यतायें न अकबर के 'दीन-इलाही' मजहब की मान्यतायें थीं, वरन् ईश्वर भक्तों की भावना थीं, जिनमें सरलता, मधुरता और कोमलता से सच्चाई को परखने की जिज्ञासा थी, यह भक्ति-भावना थी। इसी सामान्य विचारधारा का प्रभाव हमें कबीर, जायसी, मीरा इत्यादि की कविता में मिलता है। इस सामान्य विचारधारा में वेदांत और सूफीमत का सामंजस्य था, अद्वैती रहस्यवाद का मूल सिद्धान्त जहाँ से रस पाता है, खुराक पाता है—यह वह स्थान था।"

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने रहस्यवाद के मूल उद्गम, उसके भारतीय साहित्य तथा भक्ति में प्रवेश और विकास का सांकेतिक परिचय प्राप्त किया है। अब हम जायसी और कबीर के रहस्यवादी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

रहस्यवाद को लेकर जायसी और कबीर के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई कबीर को सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी ठहराता है तो कोई जायसी को रहस्यवाद का कुशल नायक मानकर उसके काव्य-सौंदर्य में अपनी सुधि-बुधि खो बैठता है। अधिक नहीं, हम यहाँ दो-तीन विद्वानों के उद्धरण दे रहे हैं जिनसे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा।

(१) "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली-सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"[1]

(२) "कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृङ्गार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास—कबीर ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ ७५ (पंचम संस्करण)

करते हैं।"[1]

(३) डाक्टर चन्द्रावली पाण्डेय—"**कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं है।**"

इन विद्वानों के मतों को देखने से ऐसा लगता है कि ये अपने-अपने प्रिय कवि को लेकर साहित्य-न्यायालय में वकालत कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि उसका दृष्टिकोण निष्पक्ष और सर्वांगीण नहीं। इन मतों में एकांगिता स्पष्ट परिलक्षित है।

इतना तो सभी जानते हैं कि साधना के क्षेत्र में कबीर और जायसी दोनों साधनात्मक रहस्यवाद को (जिसमें योग, तंत्र, रसायन, आदि का समावेश होता है) मानते हैं। अन्तर केवल भावना के क्षेत्र में है। कबीर प्रकृति को मिथ्या मानते हैं, इस नाते उनके यहाँ से प्रकृति तिरस्कृत है। परंतु जायसी के यहाँ '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' होने के कारण प्रकृति परमात्मा की झलक का साधन बन गई है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कबीर में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है, जबकि जायसी में प्रकृति परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। कबीर में ज्ञान प्रेम पर विजयी हुआ है, परन्तु जायसी में प्रेम ने ज्ञान पर विजय प्राप्त की है। इस प्रकार एक ही लक्ष्य तक पहुँचने वाले इन दो साधकों की भावनाओं में पर्याप्त भेद हो गया है। वैसे जहाँ दोनों में प्रेम की तन्मयता की अभिव्यक्ति है वहाँ उनकी उक्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि दोनों में कोई भेद है ही नहीं। समानता के लिए पहले हम विरह के उदाहरण लेंगे—

"हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।
रोंव-रोंव ते धुनि उठे, कहौं बिथा केहि भाँति॥"

—(जायसी)

'सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साईं के चित्त॥"

—(कबीर)

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कत धरै जहँ पाँव॥"

—(जायसी)

"यह तन जारौं मसि करौं, ज्यो धूआँ जाइ सरग्ग।
मति वे राम दया करें, बरसि बुझावै अग्ग॥"

—(कबीर)

"करि सिंगार तापर का जाऊँ। ओहि देखहु ठावँहि ठाऊँ॥

---

१. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ १६४ (पंचम संस्करण)

जो जिउ में तो उहै पियारा। तन मन सों नहिं होय निनारा॥"

—(जायसी)

"सोवो तो सुपने मिले, जागो तो मन माँहि।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाँहि॥"

—(कबीर)

"कुहुकि-कुहुकि जस कोयल रोई। रकत कै आंसु घुंघुचि बन बोई।
जँह-जँह ठाढ़ होंहि बनवासी। तँह-तँह होंहि घुंघुचि कै रासी॥
बुंद-बुंद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गुंजि करै पिउ-पीऊ॥"

—(जायसी)

"नैना नीझर लाइया, रहत बसै निसि जाम।
पपिहा ज्यों पिउ-पिउ करों, कबरे मिलोगे राम॥"

—(कबीर)

अब मिलन के कुछ उदाहरण लीजिए—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले। अंध जो अहै नैन निज खोले॥"

—(जायसी)

"दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हमारे घर आये राजा राम भरतार॥
तन रत कर में मन रत करिहौं, पाँचो तत्त बराती।
रामदेव मेरे पाहुन आये, मैं जोबन मदमाती॥
सरित सरोवर वेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा।
रामदेव संग भाँवरि लैहौं, धनि-धनि भाग हमारा॥
सुर तैंतीसों कौतुक आये, मुनिवर सहस अठासी।
कह कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी॥"

—(कबीर)

तात्पर्य यह है कि जहाँ मिलन और तीव्रता का वर्णन है, जहाँ शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर आत्मा के शोक और हर्ष की व्यंजना है, वहाँ कबीर और जायसी में कोई भेद नहीं। सूफी सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप अभिव्यक्त होने वाली इस समान अनुभूति में कोई एक दूसरे से पीछे नहीं है। कहीं-कहीं तो यह पता लगाना भी मुश्किल हो जाता है कि प्रेम विरह और मिलन की ये सामान्य कथाएँ जायसी द्वारा पहले लिखी गई या इन दोनों की प्रेरणा का स्रोत कोई तीसरा ही है। —(डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')

कबीर शंकर के मायावाद से प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक है। माया के कारण ही दोनों में भिन्नता है। यदि माया का पर्दा बीच से हट

जाय तो जीव और ब्रह्म पुनः मूलाकार में आ जायँ। दोनों भागों का एकीकरण हो जाय। देखिए इसी तथ्य को कबीर ने अपने काव्य में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तथ कथौ गियानी॥"

कबीर को माया से बड़ी चिढ़ है। उनके विचार में वह पिशाचिनी है। वही जीव को सांसारिक आकर्षणों में बाँधे रहती है। इसीसे वे कहते हैं—

"माया महा ठगिनि हम जानी।
निरगुन फाँस लिए कर डोले, बोलै मधुरी बानी।"

अथवा

"इक डाइन मोरे हिय बसी, निस दिन मोरे हिय को डसी।
या डाइन के लरिका पाँच, निसि दिन मोहि नचावैं नाच॥"

पाँचों लड़कों से तात्पर्य-काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ से है। वस्तुतः जीव भगवान से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है परन्तु मार्ग में सांसारिक माया-मोह बाधक हैं।

"मैं जानूं हरि सो मिलूं, मो मन मोरी आस।
हरि बिच डारे अन्तरा, माया बड़ी पिशाच॥"

इस माया को दूर भगाने का एकमात्र साधन वे ज्ञान बताते हैं। उनका विश्वास है कि इससे मुक्ति पाते ही आत्मा और परमात्मा एक तत्व हो जायगे।—

"जैसे जलहिं तरंग तरंगिनि, ऐसेहि हम दिखरावेंगे।"

जायसी पूर्णतः सूफी हैं। सूफी मत में भी यद्यपि बन्दे और खुदा का एकीकरण हो सकता है, पर उसमें माया का कोई स्थान नहीं। जिस प्रकार अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए एक यात्री को मार्ग में कुछ स्थल पार करने पड़ते हैं, उसी प्रकार सूफी मत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए व्यग्र होती है और परमात्मा से मिलने के पूर्व अपनी साधना के मार्ग में उसे चार दशायें पार करनी पड़ती हैं—१. शरीअत, २. तरीकत, ३. हकीकत, ४. मारिफत। इस 'मारिफत' में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं **'फना'** (स्वाधीनता) होकर **'बका'** (तद्रूपावस्था) के लिए प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा अनुभव होने लगता है और **'अनलहक'** सार्थक हो जाता है। अपने अनुराग में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार करके ईश्वर से उसी प्रकार मिलती है जैसे शराब और पानी। जायसी ने **'चार बसेरे जो चढ़ै, सत से उतरै पार'** कहकर इसी सूफी साधना की ओर संकेत किया है।

कबीर ने जिसे माया कहा है, सूफी कवियों की साधना का वह प्रमुख माध्यम है। जायसी की दृष्टि समष्टि मूलक है। सम्पूर्ण विश्व में वे उसी अनन्त अनादि का व्यापक रूप देखते हैं। इस नाते विश्व की कोई भी वस्तु अनादरणीय व त्याज्य नहीं। देखिए उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य सत्ता की ओर कैसा हृदयग्राही मधुर संकेत है—

"बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ विहंसि सुभावहि हंसी। तँह तँह छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसत जोति नग हीर।"

कबीरदास को बाहर जगत में भगवान की रूप कला नहीं दिखाई देती। वे सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर ईश्वर को केवल अन्तस में बताते हैं—

"मोको कहाँ ढूंढ़ै बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलाश में॥"

इसी भावना को जायसी ने भी व्यक्त किया है—

"पिउ हिरदय मंह, भेंट न होई।
कोरे मिलाव कहौं केहि रोई॥"

उस अखण्ड ज्योति का आभास पाकर जायसी का हृदय किस तरह जगमगा उठता है इसे निम्न पंक्तियों में देखिए—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
कंवल विगस तस विगसी देही। भंवर दसन होइ कै रस लेही॥"

अन्तर्जगत और वाह्य जगत का कैसा अपूर्व सामंजस्य है, कैसी बिंब-प्रतिबिंब स्थिति है। उस प्रेममय के प्रेम से संस्सृति-प्रकृति किस प्रकार ओतप्रोत है। इसके लिए दूसरा उदाहरण देखिए—

"उन बानन अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाँहि न गने। ते सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देंहि सब साखी॥
रोंव-रोंव मानुष तन ठाढ़े। सूतहि सूत भेद अस काढ़े॥
वरुन चाप अस ओपहं, वेधे रन-वन ढाँख।
सौंजहिं तन सब रोवां, पंखहि तन सब पाँख।"

पृथ्वी और स्वर्ग, जीव और ईश्वर दोनों एक थे, न जाने किसने इतना भेद डाल दिया है—

"धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन बिछोहू॥"

समस्त प्रकृति इस विरह-वियोग से पीड़ित है—

"सूरज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत रातो बनसपती। और राते सब योगी यती॥
भूमि जो भीजि भयऊ सब गेरू। औ राते सब पंख-पखेरू॥"

प्रकृति के महाभूत उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं—

**"पवन जाइ तहँ पहुँचे चहा। मारा तैस लोटि भुँइ रहा॥
अगिनि उठी जरि बुझी नियाना। धुँआ उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छुआ। बहुत रोइ आइ भुँइ छूआ॥"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के माध्यम से जायसी अपना मंतव्य कितने सरस, हृदयग्राही तथा प्रभावोत्पदक ढंग से व्यक्त करने में सफल हो सके हैं। प्रकृति को अपने घर से निर्वासित कर देने के नाते कबीर इतने सरस, मनमोहक और प्रभावशाली न बन सके। उनमें नीरसता आ गई।

कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और कुछ सीमा तक मुसलमानों के सूफीमत पर आश्रित है। अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर उन्होंने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है।

उस विराट की महा अनुभूति प्राप्त करने के लिए आत्मा को प्रेममय होना पड़ता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में, **"वह सांसारिकता का बहिष्कार कर दिव्य और अलौकिक वातावरण में उठती है। वह उस ईश्वर के निकट पहुँच जाती है जो इस विश्व का निर्माण करता है। उस ईश्वर का नाम है, सत्पुरुष।"** सत्पुरुष के संसर्ग में वह आत्मा उस दैवी शक्ति के कारण हत्‌बुद्धि सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है। वह अवाक रह जाती है। वह ईश्वरीय शक्ति अनुभव करती है, पर उसे प्रकट नहीं कर सकती। इसीलिये गूंगे के गुड़ के समान वह स्वयं तो परमात्मानुभव करती है, पर प्रकट में कुछ भी नहीं कह सकती। कुछ समय के बाद जब उसमें कुछ बुद्धि आती है और कुछ जबान खुलती है तो वह एकदम से पुकार उठती है—

"कहँहि कबीर पुकारि के, अद्‌भुत कहिए ताहि।"

उस समय आत्मा में इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वह परमात्मा की ज्योति का निरुपण करने में समर्थ हो सके। वह आश्चर्य और जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा की ओर देखती रहती है। अन्त में वह बड़ी कठिनता से कहती है—

**"वरनौं कौन रूप औ रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा।
ओंकार आदि, नहि वेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥"**

× × ×

**"शून्य सहज स्मृति से, प्रकट भई इक जोति।
ता पुरुष की बलिहारी, निरालंब जे होति॥"**

—(रमैनी-६)

यहाँ आत्मा सत्पुरुष का रूप देखकर मुग्ध हो जाती है। धीरे-धीरे आत्मा, परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है और उस समय वह आनन्दातिरेक से परमात्मा के गुण वर्णन करने लगती है—

**"जेहि कारण शिव अजहूँ वियोगी। अंग विभूति लाइ भे जोगी॥
शेख सहस मुख पार न पावें। सो अब खसम सहित समुझावै॥'**

इतना सब कहने पर अन्त में यही शेष रह जाती है—

"तहिया गुप्त स्थल नहिं काया। ताके शोक न ताके माया।।
कमल पत्र तरंग इक माहीं। संग ही रहै लिप्त पै नाहीं।।
आस ओस अंडन में रहई। अगनित अंड न कोई कहई।।
निराधार आधार लै जानी। राम नाम लै उचरै बानी।।"

× × ×

"मर्म क बाँधि लई जगत, कोई न करै विचार।
हरि की शक्ति जाने बिना, भव बूड़ि मुआ संसार।।"

इसी प्रकार संसार के लोगों को उपदेश देती हुई आत्मा कहती है—

"जिन यह चित्र बनाइया, सांचो सो सूरतिहार।
कहहिं कबीर ते जन भले, जे चित्रवंतहि लेहिं विचार।।"

इस प्रेम की स्थिति यहाँ तक पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बन-कर उसका एक भाग हो जाती है। यही इस प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति है—

"एक अंड अंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भर्तार।।"

—(रमैनी २७)

और अन्त में आत्मा कहती है—

"हरि मोर पिउ साईं, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव।।
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।।"

—(शब्द ११७)

यथा—

"जो पै पिय के मन नहिं भाये।
तौ का परोसिन के दुलराये।।
का चूरा पाइल झमकाये।
कहा भयौ बिछुआ ठमकाये।।
का काजल सेंदुर के दीये।
सोलह सिंगार कहा भयौ कीये।।
अंजन मंजन करै ठगौरी।
का पचि मरै निगौड़ी बौरी।।
जो पै पतिव्रता है नारी।
कैसोहि रहे सो पियहि पियारी।।

तन मन जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहैं कबीरा।।"

इस रहस्यवाद की चरम सीमा उस समय पहुँच जाती है जब आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा से सम्बद्ध हो जाती है, दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यहाँ आत्मा अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेती है और फिर आत्मा परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है। कबीर उस स्थिति का अनुभव करते हुए कहते हैं—

"हरि मरिहै तो हमहूँ मरिहैं।
हरि न मरै हम काहे को मरिहैं।।"

आत्मा और परमात्मा में इस प्रकार मिलन हो जाता है कि एक के विनाश से दूसरे का विनाश और एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है। इस चरम-सीमा का पाना ही कबीर के उपदेश का तत्व था। इस तरह रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।

कबीर के रहस्यवाद में ज्ञान अधिक है प्रेम तथा विरह की अभिव्यक्ति कम। इसीसे उनमें नीरसता भी है। वे सर्वत्र पाठक का हृदय रसमग्न नहीं कर पाते। उनकी वाणी अटपटी और जनसाधारण से परे है। इसी कारण उनकी कविता का प्रभाव सर्व-साधारण पर अच्छा नहीं पड़ा। हां, इसमें अवश्य कोई सन्देह नहीं कि कबीर की कविता भारतीय परम्परा के अनुसार है। शंकर के मायावाद से तो वे प्रभावित ही हैं। विरह के पदों में स्त्री रूप आत्मा, पुरुष रूप परमात्मा से मिलने को आकुल है। यह भारतीय पर-म्परा के अनुकूल है। गुरु की महत्ता कबीर ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में स्वीकार की है। वस्तुत: कबीर में मुक्त कण्ठ से मुक्त आत्मा को मुक्त ब्रह्म से मिलाने का प्रयत्न है। कबीर ने मसि कागद तो छुआ नहीं था और न कलम ही हाथ गही थी। उनका सारा ज्ञान सुना सुनाया और सत्संगति द्वारा अर्जित था। यही कारण है कि उनकी कविता का वाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा अधिक निर्बल है। भाषा तो उनकी खिचड़ी और असाहित्यिक है ही। छन्दों की योजना भी कहीं ठीक नहीं है। उनकी कविता पर अनेक लोगों का अनेक प्रकार का प्रभाव है।

जायसी के रहस्यवाद में रमणीयता और सौन्दर्य के साथ-साथ रसमयता है। उच्चकोटि की भावुकता के प्रदर्शन में जायसी पूर्ण सफल हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होंने लौकिक कथा के माध्यम से पारलौकिक बातों का निरूपण किया है। भौतिक सौन्दर्य में आध्यात्मिक सौन्दर्य की झाँकी देखी है। जायसी के रहस्यवाद में प्रेम की पीड़ा है, तड़पन है, मिलन है और है एकात्मकता।

किन्तु साधनात्मक रहस्यवाद के वर्णनों में जायसी भी कबीर की तरह ही नीरस हैं। एक उदाहरण लीजिए—

"नौ पौरी तेहि गढ़ मँझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोतवारा।।
दसंव दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि वाका।।

भेदै जाई सोइ वह घाटी। जो लहि भेद चढ़ै ओहि चाटी।।"

इसमें नाथ पंथियों का प्रभाव है। इसे झूठा रहस्यवाद भी कहा जा सकता है।

चित्तौड़गढ़ के वर्णन में कवि ने इसी प्रकार शरीर स्थित सात खण्ड और नौ भँवरी का वर्णन किया है—

"सातौं भँवरी कनक केवारा।
सातौं पर बाजहिं घरियारा।।
सात रंग तिन सातौं पँवरी।
तब तिन्ह चढ़ै फिरै नव भँवरी।।"

इसी प्रकार की दृढ़ योग की साधना पद्धति और उसकी सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग पद्मावत में स्थान-स्थान पर हुआ है। राजा रत्नसेन तो एक नाथपंथी योगी के ही रूप में चित्रित हुआ है। यथा—

"कहाँ पिंगला सुखमन नारी। सूनि समाधि लागि गई तारी।।
बूंद समुन्द्र जैसे होई मेरा। गा हेराई अस मिलै न हेरा।।"

× × ×

"जस धँस लीन्ह समुद मरजीया। उघरै नैन रै जबस दीया।।
खोजि लीन्ह सो सरग दुवारा। वज्र जो मूँदे जाई उघारा।।"

भावात्मक वर्णनों में जायसी ने कमाल कर दिया है। उनकी दृष्टि व्यापक है। इसी कारण उनकी अनुभूति भी व्यापकता लिए हुए है। सम्पूर्ण संसार उनकी संवेदना में डूबा हुआ है। इसीलिए जीवात्मा स्वरूप रत्नसेन ब्रह्मस्वरूप पद्मावती से मिलने के लिए अकेला नहीं जाता, पूरे समाज के साथ जाता है। दूसरी ओर नागमती के वियोग वर्णन में भी हम इसी व्यापकता को पाते हैं। वह पशु पक्षी तथा सम्पूर्ण प्रकृति में अपनी वेदना को फूंक देना चाहती है।

जायसी की यही विशेषता उन्हें अधिकाधिक सरस और संवेदनशील बना देती है। उनके निकट सबकी सहानुभूति रहती है। प्रकृति के कण-कण में अनन्त ज्योतिर्मय का प्रकाश देखना ही जायसी के रहस्यवाद में मधुरता भर देता है। लोक को साथ रखने से उनकी सरसता सुरक्षित है। कबीर ने प्रकृति को माया कहकर ठुकरा दिया है। इसी कारण वे जायसी की भाँति सरस न बन पाये।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद में अन्तर होने का कारण एक और भी है— वह यह कि कबीर शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित थे और जायसी सूफी फकीरों की प्रेम-साधना से। ज्ञान और प्रेम में अन्तर स्वाभाविक ही है, यद्यपि दोनों एक ही लक्ष्य के गामी हैं। गुरु की महत्ता दोनों स्वीकार करते हैं। जायसी का तो पूर्ण विश्वास है कि बिना गुरु के निर्गुण कौन पा सकता है।

दोनों ने गुरु को अत्यधिक महत्व देते हुए उसे साधना मार्ग का प्रदर्शक बताया है। वह साधक के जीवन में आने वाली कठिनाइयों का सद्ज्ञान द्वारा निवारण करता है।

"गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागूं पांव।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोबिन्द दियो बताय॥"

—(कबीर)

"गुरु विरह चिनगी जो मेला।
जो सुलगाई लेइ सो चेला॥"

—(जायसी)

गुरु के प्रयत्नों से आत्मा और परमात्मा उसी तरह मिलते हैं जैसे शराब और पानी। वस्तुतः भावुकता ने ही जायसी को जनता के अधिक निकट कर दिया। जायसी फारसी और भारतीय दोनों प्रेम पद्धतियों से प्रभावित हैं। किन्तु कबीर विशुद्ध भारतीय पद्धति से ही, कहीं-कहीं अवश्य सूफियों का प्रभाव स्पष्ट झलक आया है। पर यह निश्चित है कि कबीर की रुझान उधर स्थायी रूप से नहीं थी इस प्रकार के कुछ उदाहरण लीजिए :—

"हरि रस पीया जानिए कबहूँ न जाय खुमार।
मैमन्ता घूमत फिरै नाहीं तन की सार॥
लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गइ लाल॥"

अन्त में डा० त्रिगुणायत के शब्दों में हम कहेंगे कि जायसी और कबीर दोनों हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति मार्ग और श्रुति ग्रंथ, सिद्धमत, और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक एकान्तिक व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णनात्मक है; दूसरे का सूफी साधना भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के नाते मधुर और नाटकीय भी है।

आइये मानवता के एकनिष्ठ पुजारी महाकवि कबीर के निम्न सुन्दर और आध्यात्मिक पद के साथ इस प्रसंग को समाप्त करें—

"जोगिया की नगरी बसै मति कोई।
जोरै बसे सो जोगिया होई॥
वही जोगिया के उलटा ज्ञाना।
कारा चोला नाहीं माना॥
प्रगट सो कन्था गुप्ता धारी।
तामें मूल सजीवन भारी॥
वा जोगिया की युक्ति जो बूझै।
राम रमै से त्रिभुवन सूझै॥
अमृत बेली छन-छन पीवै।
कहैं कबीर सो जुग-जुग जीवै॥"

द्वितीय खण्ड

['पद्मावत' की व्याख्या]

●

व्याख्याकार

श्री जीवनप्रकाश जोशी

पद संख्या	खण्ड	कुल संख्या
1-49	= 1, 2.	= 49 पद
83-91	= 8	= 09 "
99-118	= 10	= 20 "
119-125	= 11	= 07 "
159-174	= 16-18	= 16 "
183-198	= 20	= 16 "
207-239	= 22-23	= 33 " ([struck out])
291-373	= 27-31	= 83 "

कुल संख्या – 233

१--स्तुति-खण्ड

(१)

सँवरौं आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।।
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहिं पिरीत कबिलासू ।।
कीन्हेसि अगनि, पवन, जल, खेहा। कीन्हेसि बहुतह रंग उरेहा ।।
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू ।।
कीन्हेसि सात दीप ब्रह्मंडा। कीन्हेसि भवन चौदहउ खंडा ।।
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती। कीन्हेसि नखत तराइन-पांती ।।
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाहाँ। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहिं माहाँ ।।
कीन्ह सबई अस जाकर, दोसरहि छाज न काहु।
पहलेहिं तेहिक नाऊँ लइ, कथा कहौं अवगाहु ।।१।।

भावार्थ:—(कविवर जायसी कहते हैं) उस आदि पुरुष ईश्वर (ब्रह्म) का पहले मैं स्मरण करता हूँ जिसने जग-जीवन की महान रचना की है; जिसने प्रथम प्रकाश फैलाया है, (प्रकाश से मतलब पैगम्बर मुहम्मद साहब के द्वारा उद्भूत उनके नूर अथवा जलाल से है) जिसने ज्योति पैगम्बर मुहम्मद साहब के प्रेमवश कैलाश (यहाँ पर जायसी ने आशय स्वर्ग अथवा जन्नत से रक्खा है) का निर्माण किया है। जिसने अग्नि, वायु, जल, मिट्टी तथा आकाश इन पाँच तत्वों को बनाया है। जिसने इस चित्र-विचित्र रंगमय संसार की रचना की है। तत्पश्चात उसने धरती, आकाश एवम् पाताल का निर्माण किया और फिर अनेकानेक अवतारों का प्रादुर्भाव किया है।

(जायसी कहते हैं) मैं उस ईश्वर का स्मरण करता हूँ जिसने सात द्वीप, ब्रह्मांड, चौदह खण्ड, तीनों लोक, दिवस, सूर्य, चाँद, रजनी, तारावलि, नक्षत्र, धूप, शीत, छाया और बादल, बिजली आदि की महानतम् रचना की है।

ऐसी रचना ईश्वर के अतिरिक्त और कौन कर सकता है, न किसी को ऐसी रचना की सृष्टि करना अच्छा ही सिद्ध होगा। अतः मैं (जायसी स्वयं) ऐसे महान ईश्वर का परम नाम स्मरण करके तब अपने इस पद्मावत काव्य की कथा के भीतर उतरूँगा—उसे कहूँगा या लिखूंगा।

विशेष:—सूफी कवि होने के नाते यहाँ कविवर जायसी ने मसनवी ढंग से पेगम्बर ईश्वर की स्तुति की है। यहाँ पर मुसलमानी एकेश्वरवादी (तौहीद) दृष्टिकोण मुख्य है। यह भारतीय प्रबन्ध काव्य रचना के आदि में मंगलाचरण आदि की परम्परा से मिलता-जुलता सा दृष्टिकोण कहा जा सकता है। ईश्वर की सर्व व्यापकता की भाव-

व्यंजना में जो, सप्तद्वीप, सूर्य, चाँद, रजनी, तारागण, धूप शीत आदि प्राकृतिक उपकरण इस पद में प्रस्तुत किए गए हैं, उनमें रहस्यवादी भाव-माधुर्य परिलक्षित होता है।

शब्दार्थ—सँवरौं = स्मरण करूँ। करतारू = ईश्वर। कीन्हेसि = की है। परगासू = ज्योति अर्थात मुहम्मद स्वरूप 'नूर'। पिरीति—प्रीत या मुहब्बत, इश्क। कबिलासू = कैलाश, किन्तु यहाँ स्वर्ग से आशय है। खेहा = मिट्टी। उरेहा = चित्र रचना। सरग = आकाश। बरन = रंग, यहाँ अनेक ढंग से आशय है। दिनकर = सूर्य। सीउ = शीत। बीजु = बिजली। तेहिमाहा = उसके बीच में। अस = इस तरह। छाज = शोभा देना, ठीक होना। तेहिक = उसका, यहाँ संकेत ईश्वर से है। अवगाहु = उतरकर, पैठकर।

(२)

कीन्हेसि हेवँ समुद्र अपारा। कीन्हेसि मेरू, खिखिन्द पहारा॥
कीन्हेसि नदी, नार, औ झरना। कीन्हेसि मगर मंछ बहु बरना॥
कीन्हेसि सीप, मोति बहु भरे। कीन्हेसि बहुतइ नग निरमरे॥
कीन्हेसि बनखंड औ जरि मूरी। कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी॥
कीन्हेसि साउज आरन रहहीं। कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहँ चहहीं॥
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा। कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा॥
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू। कीन्हेसि बहु औषद, बहु रोगू॥
निमिख न लाग कर ओहि, सबहि कीन्ह पल एक।
गगन अंतरिख राखा, बाज खंभ बिनु टेक॥२॥

भावार्थः—ईश्वर ने बड़े-बड़े सात सागरों, सुमेरू पर्वत, किष्किन्धा पर्वतों को बनाया हैं। उसीने सर, सरिता, और झरने बनाए हैं। अनेक प्रकार के मत्स्य जीवों (मछली आदि) का प्रार्दुभाव किया है। मोती से युक्त, सागर की अनेक सीपियाँ बनाई हैं। अनेक उज्ज्वल नगीने उसने बनाए हैं। उसीने बनखंड, जड़, मूल, पेड़, ताड़ एवं खजूर उगाये हैं। अनेक वन्य जन्तु बनाए, जो जंगलों में रहते हैं। पक्षी पैदा किये जो स्वच्छंदतापूर्वक जहाँ चाहें उड़ान भरते हैं। सफेद और श्याम रंगों का निर्माण भी उसी ईश्वर ने किया है। क्षुधा, नींद, आराम, पान, फूल और संसार के अनेकानेक भोग, अनेक रोगों की दवाएँ (निदान) यह सब कुछ उसी का प्रसाद है।

(जायसी कवि कहते हैं) परमात्मा ने इतना विचित्र निर्माण अधिक समय में नहीं, वरन आश्चर्य है, कि पलक झपकते जैसा शीघ्र कर डाला है। यह सौर जगत् इस बात का साक्षी है। बिना खंभों का आधार दिये यह अंतरिक्ष और आकाश खड़ा कर दिया है।

विशेष—परमेश्वर की लीला विचित्र और अपरम्पार है; इस कथन की काव्यात्मक अनुभूति हम इस पद में पाते हैं। जायसी ने वाह्य-चित्रण (Objective Des cription) में भी सुमधुर भाव-व्यंजना यहाँ की है, यह है उनके काव्य-सौष्ठव का एक सुन्दर उदाहरण।

शब्दार्थ—हेवँ समुद्र = ये शब्द कई प्रकार से मिलते हैं, यहाँ आशय सात समुद्र

से है। खिखिन्द=किष्किन्धा पर्वत। बहु भरे=पूरी तरह पूर्ण। नग=नगीने। निर-मरे=निर्मल या उज्ज्वल। जरि-मूरी=जड़ और मूल। तरवरि=पेड़। साउज=जन्तु। आरन=अरण्य या जंगल। पंखि=पखेरू। जँह चहही=जहाँ चाहें, स्वच्छन्दता-पूर्वक। बरन=रंग। सेत=सफेद। बिसरामा=आराम। बहु=बहुत से। भोगू=खाने योग्य पदार्थ। निमिख=पलक झपकते। ओहि=उसे, अर्थात ईश्वर को। राखा=टिकाये हुए। बाज=बिना। टेक=आधार।

(३)

कीन्हेसि मानुस, दिहस बड़ाई। कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहि पाई।।
कीन्हेसि राजा भूँजहिं राजू। कीन्हेसि हस्ति घोर तिन्ह साजू।।
कीन्हेसि तिन्ह कहँ बहुत बेरासू। कीन्हेसि कोई ठाकुर कोई दासू।।
कीन्हेसि दरब गरब जेहिं होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई।।
कीन्हेसि जिअन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा।।
कीन्हेसि सुख औ कोड़ अनन्दू। कीन्हेसि दुख चिन्ता औ दन्दू।।
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोइ धनी। कीन्हेसि सँपति बिपति पुनि धनी।।
कीन्हेसि कोई निभरोसी, कीन्हेसि कोई बरिआर।
छार हुते सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार।। ३ ।।

भावार्थ—(कविवर जायसी कहते हैं) परमात्मा ने मनुष्य पैदा किया और फिर उसे गौरव से अविभूत किया। (अन्य जीवों से मनुष्य को ही बुद्धिमान बनाया) उसने अन्न उपजाया जिसे खाया जाता है। उसने राज्य भोगने के लिये राजा बनाए, हाथी, घोड़े और साज-समाज प्रदान किये। राजा के भोगने के लिए विलास आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ बनाईं। उसने किसीको राजा बनाया और किसीको दास बनाया। उसने धन ऐश्वर्य बनाया जिसे पाकर गर्व-गौरव होता है। उसने लोभ-लालच की सृष्टि की (माया से आशय है) जिससे कोई सन्तुष्ट नहीं होता। सबको प्यारा लगने-वाला उसीने जीवन प्रदान किया। मृत्यु बनाई, जिसकी झपेट से कोई नहीं बचता। उसने करोड़ों सुख और आनन्द (भोग) बनाए और उसीने दुखद्वन्द की, चिन्ता की अनुभूति बनाई। किसीको मालामाल बनाया और किसीको कंगाल निर्धन बनाया। फिर उसीने दौलत एवं कठिनाई को बनाया।

ईश्वर ने किसीको स्वतन्त्र-बलवान बनाया और किसी को कातर आश्रित बनाया। उसने मिट्टी से सृष्टि बनाई और फिर सारी सृष्टि को मिट्टी बना छोड़ा।

विशेष—इस स्थल पर जायसी ने परमेश्वर के प्रति दार्शनिक भावना का आत्मा-भिव्यंजन प्रस्तुत किया है। सृजन और विनाश की ईश्वराधीन लीला का वेदान्त सम्मत, करुण, काव्यात्मक दृष्टिकोण बड़ा ही स्पष्ट बन पाया है। पन्त ने भी कहा है—

"एक सौ वर्ष नगर उपवन एक सौ वर्ष विजन-वन।
यही तो है असार संसार सृजन, सिंचन संहार।।"

धन-गर्व के सम्बन्ध में तुलसी ने कहा है—"**अस विचार सोचो मन माहीं। प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं।**" माया की उलझन को कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"**माया महा ठगिनि हम जानी।**" इन समस्त अनुभूतियों का मानो जायसी में समाहार हो गया और तब लिखा यह पद! दोहे में "**मिट्टी दीन कितनी हाय**" बच्चन की इस भावना का करुणाजनक चित्र है।

सूचना—यह अंश डा० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित ग्रन्थावली पाठ का है। उसीसे देखें।

शब्दार्थ—मानुस=मनुष्य। दिहस=प्रदान किया। भुगुति=खावा। भूजहिं =भोगें या राज्य करें। छोर=छोड़ा। बेरासू=विलास। दरब=द्रव्य या धन। गरब =घमंड। ठाकुर=स्वामी। अघाइ=सन्तुष्ट। जिअन=जीवन। मीचु=मौत। न कोई रहा=मृत्यु से कोई नहीं बच पाया। कोड=करोड़। दंदू=द्वंद, संघर्ष। पुनि= फिर। निभरोसी=निराश्रय। बरिआर=हृष्ट-पुष्ट, स्वच्छन्द। छार हुते सब कीन्हेसि=जो मिट्टी थी उससे सारी सृष्टि रची।

(४)

कीन्हेसि अगर कस्तुरी बेना। कीन्हेसि भीवँसेन औचेना।।
कीन्हेसि नाग, मुखहि विष बसा। कीन्हेसि मन्त्र हरइ जेहि डसा।।
कीन्हेसि अमिअ जिअन जेहि पाएं। कीन्हेसि विष जो मीचु तेहि खाए।।
कीन्हेसि ऊखि मीठि रस-भरी। कीन्हेसि करुइ बेलि बहु फरी।।
कीन्हेसि मधु लावइ लइ मांखी। कीन्हेसि भँवर, पतंग औ पांखी।।
कीन्हेसि लोवा उंदुर चाँटी। कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माटी।।
कीन्हेसि राखस भूत परेता। कीन्हेसि भोकस देव दयंता।।
कीन्हेसि सहस अठारह, बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेसि पुनि सब कहँ, सकल साजना साजि।। ४।।

भावार्थ—(कविवर जायसी कहते हैं) परमात्मा ने अगर, कस्तूरी, खस नव कपूर (चेना तथा भीवँसेन) आदि सुगन्धित पदार्थों को बनाया। मुख में जहर भरे सर्पों को बनाया, उन मन्त्रों को बनाया जो साँप के ज़हर को मार सकें। उसीने जिलाने वाले अमृत को बनाया। जिसके खाने से मृत्यु होती है, उस विष को बनाया। मधुर रस से युक्त ईख या गन्ना उपजाया। उसने कड़वे फलों को प्रदान करने वाली लताएँ अथवा बेलें बनाईं। शहद, उसे एकत्रित करनेवाली मधु मक्खियाँ, उसीने बनाईं। भंवरे, फुनगे या परवाने तथा विविध प्रकार का पक्षी दल उसीने बनाया। उसीने लोवा, उदुर एवं चींटी आदि जीव जन्तु बनाए और मिट्टी आदि के रहने वाले स्थान बनाए। राक्षस, भूत प्रेन, दानव और दैत्य आदि उसीने बनाए।

इस प्रकार परमात्मा ने विविध प्रकार की अठारह हज़ार योनियाँ या जीवजन्तु की जातियाँ बनाईं। (इस्लाम में अठारह हजार जीव जन्तुओं की जातियाँ हैं। हमारे

यहाँ हिन्दुओं में ८४ लाख हैं) सभी को परमात्मा ने भोगने के सर्व साधन प्रदान किये हैं। उनके आमोद प्रमोद के लिये चित्र-विचित्र साज-सामान प्रदान किये हैं।

विशेष—इस अंश में अठारह हजार जीव जन्तुओं का उल्लेख करने से जायसी में इस्लामी दृष्टिकोण का आग्रह परिलक्षित होता है, पद्मावत में प्रायः ऐसा दृष्टिकोण बना रहा है। "सकल-साजना साजि" में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

शब्दार्थ—अगर = अगर की बत्ती वाला सुगन्धित पदार्थ। भीवँसेन औं चेना = यह कपूर के प्रकार कहे जायँगे। मुखन्ह = मुख के भीतर। हरइ = दूर करें। डसा = काटना। अमिअ = अमृत। जिअन = जीवन। जेहि = जिसे। मीचु = मृत्यु। ऊखि = गन्ना। करुइ = कड़वी। बहुफरी = बहुत फली-फूली। मधु = शहद। लावइ लइ मांखी = मधुमक्खियाँ एकत्रित करती हैं। पाँखी = पक्षी। खनि = पृथ्वी या मही। चाँटी = चींटी लघु जीव। राखस = राक्षस। मोकस = दानव। बरन-बरन = विविध प्रकार। भुगुति = भोग। दिहेसि = देना। उपराजि = पैदा करना। सकल साजना साजि = चित्र-विचित्र साज-सामान।

(५)

धनपति उहइ जेहिक संसारू। सबहि देइ नित, घट न भंडारू॥
जावँत जगति हस्ति औ चाँटा। सब कहँ भुगुति रात दिन बाँटा॥
ताकर दिष्टि सबहिं उपराहीं। मित्र सत्रु काइ बिसरइ नाहीं॥
पंखि पतंग न बिसरइ कोई। परगट गुपुत जहाँ लगि होई॥
भोग भुगुति बहु भांति उपाई। सबहिं खियावइ, आपु न खाई॥
ताकर इहइ सो खाना पिअना। सबकहँ देइ भुगुति औ जिअना॥
सबहिं आस ताकरि हरि स्वासा। ओह न काहु कइ आस निरासा॥
जुग जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ तस कीन्ह।
अउर जो देहिं जगत महँ, सो सब ताकर दीन्ह॥५॥

भावार्थ—(कविवर जायसी कहते हैं) संसार जिसका अपना है, वही धनवान है। ईश्वर सबको नित्यप्रति दान देता है पर उसका कोष रिक्त नहीं होता। इस सृष्टि में जितने भी, हाथी और चींटी—छोटे से लेकर बड़े तक जीव हैं, उन सभी को वह दिन रात भोग्य पदार्थ वितरित करता रहता है। वह अपनी कृपादृष्टि को सर्वोपरीय रखता है। वह अपनी दानशीलता में मित्र-शत्रु और अपने-पराये की दुभाँत न करके समभाव और सम व्यवहार रखता है। सभी का स्मरण रखता है। पखेरू और पतिंगे, छिपे और खुले सभी प्राणधारियों को वह ध्यान में रखकर उनका पोषण करता है। वह अपनी बनाई वस्तुएँ आप न खाकर अनेक प्रकारों और साधनों द्वारा औरों को भोगने के लिए प्रदान करता है। औरों का पालन-पोषण करना ही उसका खाना-पीना है, सुख है। श्वाँस-श्वाँस में सब उसी से आशा रखते हैं, वह महान श्वाँस वाला है। उसे अर्थात् ईश्वर को किसी प्रकार की किसी से आशा-निराशा नहीं है। वह किसी को निराश भी नहीं करता।

युगों से, अर्थात् सदा से वह संसार को देता आया है—दोनों हाथों से देने के उपरान्त भी उसका कोष कम नहीं हुआ। संसार में जो कुछ कोई किसी को देता लेता है वह सब उसी परमात्मा का प्रदान किया हुआ प्रसाद होता है।

विशेष—यहाँ परमेश्वर को विश्वदानी की महत्ता देने का भाव उत्कृष्ट है।

शब्दार्थ–धनपति=धनवान,आशय ईश्वर से है। उहइ=वही ईश्वर। जेहिय=जिसका। भंडारू=कोष। जावँत—जितना कुछ। जगति=सृष्टि में। चाँटा=लघु जीव, चींटा। भुगुति=भोग्य सामग्री। ताकरि=उसकी। दिस्टि=दृष्टि, नजर। सबहिं उपराही=सर्वोपरीय। बिसरइ=भूलती। पतंग=क्षुद्रजीव। परगट=प्रकट, प्रस्तुत। गुपुत=गुप्त, छिपा हुआ। जहाँ लगि=जहाँ तक। खियावइ=खिलाता है। आप न खाई=अर्थात् वह निर्लेप है। ताकर=उसका। इहइ=उसका। खान पिआना=खाना पीना। जिअना=जीवन। उभे=दोनों। अउर=और। मेह=में।

(६)

आदि साईं बरनौं बड़ राजा। आदि हुँ अंत राज जेहि छाजा॥
सदा सरबदा राज करेई। औजेहि चहइ राज जेहि देई॥
छत्रहि अछत, निछत्रहि छावा। दोसर नाहि जो सरबरि पावा॥
परबत ढाह देख सब लोगू। चाँटिहि करइ हस्ति कर जोगू॥
बज्रहिं तिनकैं मारि उड़ाई। तिनहि बज्र की देइ बढ़ाई॥
ताकर कीन्ह न जानइ कोई। करै सोइ जो मन चित होई॥
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू भीख भवन दुख भारा॥
सबइ नास्ति वह अस्थिर, अइस साज जेहिं फेर।
एक साजइ अउ भाँजई, चहइ सँवारइ फेर॥६॥

भावार्थ—(कविवर जायसी कहते हैं) मैं पहले उसी महान राजा ईश्वर का वर्णन करता हूँ जिसका सर्वत्र राज्य फैला है। (यह संसार उसका राज्य है) वह शाश्वत राज्य करता है और जिसे चाहे राज्य सौंप सकता है। शाहंशाह को गुलाम और गुलाम को शाहंशाह वही बना सकता है। उसकी महत्ता के समान कोई दूसरा नहीं है। यह सब देखते हैं कि वह पहाड़ों को रजकण बना देता है और चींटी जैसे लघु जन्तु को हाथी की महिमा से मंडित कर देता है। वह लघु तिनके से बज्र को तोड़ फोड़ देता है—नष्ट कर देता है। तिनके को बज्र जैसा कठोर बना देता है। ईश्वर जो कुछ करता है उसे कोई प्राणी नहीं जानता। उसकी लीला अपरम्पार है। वह स्वयंभू है। किसी को वह संसार के सर्वसुख-भोग प्रदान करता है, और किसी को भीख से भी मुहताज रखता है; घर भी ऐसे के लिये भार स्वरूप बन जाता है।

यह संसार और इसका सब कुछ नाशवान तथा क्षणभंगुर है, केवल एक वही (ईश्वर) चिरंतन है। (उक्त) उसका ऐसा साज विचित्र है। किसी एक को तो वह बनाता है तो दूसरे को नष्ट करता है; और फिर चाहता है तो उसे निर्मित करता है।

विशेष—परमेश्वर की सृष्टि-लय की लीला विचित्र है। यह संसार और इसके जीव उसके साक्षी हैं। कवि ने इस दृष्टिकोण को काव्यात्मक सौष्ठव प्रदान किया है। मूल भाव उपनिषद् दर्शन के टक्कर का है—**एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति**" अथवा—प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः। सर्वगः सर्वव्यापी च कर्त्ता हर्त्ता जगत्पतिः॥

छत्रहि अछतं······छावा—उक्ति में जहाँ सूर की अभिव्यंजना—"**बहरो सुने मूक पुनि बोले, रंक चले सिर छत्र धराई**" का साम्य है, वहाँ शब्द सौष्ठव एवं सानुप्रासिकता आकर्षक बनी है।

शब्दार्थ—सोई=उसी (ईश्वर)। आदि=आरंभ। बड़=महान। जेहि=जिसका। छाजा=सुन्दर लगता है। चहइ=चाहता है। छत्रहि=राजा को, छत्र धारण करने वाले को। अछत=छत्रहीन, कंगाल। निछत्रहिं=रंक को। छावा=राजा बना देता है। सरवरि=समानता। परबत=पर्वत या पहाड़। ढाह=गिरा देना। चाँटिहि=चींटी को। हस्ति=हाथी। करजोगू=युक्त करना, प्रबंध कर देना, बना देना। बज्रहि=बज्र को। तिनके=तिनके द्वारा। तिनहि=तिनके को। काहू=किसी को। ताकर=उसका। काहू=किसी को। मनचित=मन चाहा। सारा=सच्चा सुख सार। नास्ति=नहीं रहने वाला। अइस=ऐसा। साजइ=बनाना। भाँजइ=मिटाना। सँवारइ=बनाना। फेर=फिर।

(७)

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों, सब ओहि सों बरता॥
परगट गुपुत सो सरब बिआपी। धरनी चिन्ह, चिन्ह नहिं पापी॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोइ सँग नाता॥
जना न काहु, न कोइ ओइँ जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥
ओइँ सब कीन्ह जहाँ लगि कोई। वह न कीन्ह काहू कर होई॥
हुत पहिलेइँ औ अब है सोई। पुनि सो रहहि रहहि नहिं कोई॥
अउर जो होइ सो बाउर अंधा। दिन दुइ चारि मरै करि धंधा॥
जो ओइ चहा सो कीन्हेसि, करइ जो चाहइ कीन्ह।
बरजनहार न कोई, सबइ चहइ जिअ दीन्ह॥७॥

भावार्थ—(कविवर जायसी इस अंश में तिरोभाव एवं आविर्भावी ईश्वर के सत्य स्वरूप की ओर इंगित करते हुए कहते हैं) वह परमेश्वर जिसने सृष्टि रची है अदृष्य, सूक्ष्म तथा अरूप है। उसका पूर्ण वर्णन संभव नहीं हो सकता। वह सबमें और सब उसमें व्याप्त हैं। ईश्वर निराकार, रूप रहित और अवर्णनीय होकर भी संसार में जो कुछ भी स्पष्ट और गुप्त है, उसी में लीन है। उसके ऐसे सूक्ष्म स्वरूप को भी धर्मात्मा, ज्ञानी तो देखता है, पर पापी को वह नहीं दिखलाई पड़ता। न वह (ईश्वर) किसी का पुत्र है और न उसके माँ-बाप हैं। न उसका अपना कोई संगी-सम्बंधी है। वह किसी योनि से पैदा नहीं हुआ—वह अजन्मा और अनंत है। नहीं उसने अपने स्थूल रूप से किसी को पैदा किया है। फिर भी

जो कुछ, जहाँ तक सृष्टि में है, वह उस सबका निर्माता है—यही तो उसकी लीला है, जो जानी नहीं जा सकती। वह पहले भी था, अब भी है और फिर भविष्य में भी वही रहेगा। अर्थात् ईश्वर अविनाशी है। (गीता में भी अर्जुन को कृष्ण ने ऐसा ही भाव उपदेश दिया है) सृष्टि के लय होने पर वही रह जायगा। जो इस संसार में उस जैसा होने की बात विचारता है वह पागल और अंधा है (अर्थात् वह ईश्वर की महत्ता को देख—समझ नहीं पाता) ऐसा मूढ़ अज्ञानी दो चार दिन का क्षुद्र जीवन हाय-हाय में व्यतीत करके मर जायगा।

अब तक परमेश्वर ने जो कुछ चाहा है उसे किया है, और वही करेगा भी जो वह चाहेगा। उसे टोकने वाला कोई (Checker) नहीं है, चाहे सब अपने प्राण ही क्यों न दे दें।

विशेष—यद्यपि इस अंश में काव्य की रसमयता नहीं फिर भी अनुप्रास **"अलख अरूप अबरन"** की छटा दृष्टव्य है। गीता के इस श्लोक की व्याख्या जायसी के इस अंश से सरल बन जाती है—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

शब्दार्थ—अलख = न दिखाई पड़ने वाला। अबरन = वर्णन न हो सके जिसका। अरूप = आकारहीन, निर्गुण। करता = रचनाकार। ओहि सों = उससे। सरबबिआपी = सबमें लीन। धरमी = धर्मात्मा। चीन्ह = पहचानता है। जना न काहू = किसी को पैदा नहीं किया। जँह लगि = जहाँ तक। सिरजना = बनाना। हुत = था। सोई = वही। अउर = और। बाउर = पागल। धंधा = यहाँ संसार की 'हाय-हाय' से मतलब है। ओईं = वह (ईश्वर)। बरजन हार = टोकने वाला (Checker)। जिअ = प्राण।

(८)

एहि विधि चिन्हहु करहु गिआनू। जस पुरान मँह लिखा बखानू ॥
जीउ नाहिं, पँ जिअइ गोसाईं। कर नाहीं, पै करइ सबाईं ॥
जीभ नाहिं, गुनना सब बोला। तन नाहीं, जो डोलाब सो डोला ॥
स्रवन नाहिं, पँ सब कुछ सुना। हिअ नाहिं, पँ सब कुछ गुना ॥
नैन नाहिं पँ सब कुछ देखा। कवन भाँति अस जाइ विसेखा ॥
ना कोइ है आहि के रूपा। ना ओहि काहु असत इस अनूपा ॥
ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन ठाऊँ। रूपरेख बिन निरमल नाऊँ ॥
ना वह मिला न बेहरा, अइस रहा भर पूरि ॥
दिष्टिवंत कहं निअरे, अन्ध मूरख कहँ दूरि ॥८॥

भावार्थ—(कविवर जायसी ने इस अंश में भी ईश्वर के अरूप, अलख, निर्गुण स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए भी उसे सृष्टि का नियन्ता व्यक्त करते हुए लिखा है) इस प्रकार ईश्वर के सर्वव्यापकत्व को पहचानो। जैसाकि पुराने धर्म ग्रंथ में

उसका स्वरूप वर्णन है। उसके जीव नहीं है फिर भी वह महाजीव की तरह जीता है। हाथ न होकर भी वह सब कुछ करता है। उसके जिह्वा नहीं है, फिर भी वह वाचाल है। वह शरीरधारी नहीं फिर भी वह जिसे चाहता है, चलाता है। अर्थात् मिट्टी के चोले में जीवन भर देता है। कान नहीं है फिर भी वह सब कुछ सुनता है (अभिमानी के अभिमानी बोल और दयनीय पात्र की करुणा की क्षीण ध्वनि भी) वह हृदय हीन है, किंतु समस्त हृदय की धड़कनों का रहस्य जानता है। (ऐसा लगता है कि इन दार्शनिक अंशों का प्रभाव आगे बहुत से पदों में तुलसी एवं सूर ने भी ग्रहण किया। वैसे यह सब कुछ विचार जायसी के ही नहीं, हमारे पुराण-दर्शनों के हैं, वहाँ से भी तुलसी सूर आदि कवियों ने लिये हों—सीधे न लिये हों, ऐसा हो सकता है)[1] उसके (परमेश्वर के) स्थूल नेत्र नहीं हैं किंतु वह संसार का चित्र देखता है। तो यह सब कुछ, जायसी कहते हैं कि कैसे वर्णन किया जा सकता है? यह तो अत्यधिक विशेष चमत्कार है। उसके महत् स्वरूप जैसा कोई नहीं है। जैसा वह अनुपम है, ऐसा कोई नहीं है। उसके लिये कोई जगह नहीं है, और न उसके बिना ही कोई जगह है—वह सर्वव्याप्त है। वह रूपरेखा से अलग या मुक्त है किंतु उसका नाम अत्यंत निर्मल है। क्योंकि वह निर्विकार और निर्लेप है।

परमात्मा न तो लिप्त है और न किसी से अलग ही है—सर्वत्र है, पर कहीं नहीं है। इसी से तो वह मुक्त पुरुष है। इस प्रकार वह अपने में परिपूर्ण है। जो ज्ञानी दृष्टि रखने वाले हैं वह तो कहते हैं कि वह निकट ही है और मूर्खों तथा अज्ञानियों का कहना है कि वह सदा दूर है—नहीं है।

शब्दार्थ—एहि विधि = इस प्रकार। चीन्हहु = पहचानो। गिआनू = ज्ञान। जस = जैसा। मँह = में। गोसाईं = ईश्वर के लिये। कर = हाथ। सबाई = सब कुछ। जीउ = जीवन। डोलाब = स्पंदित करना। स्रवन = कान। हिअ = हृदय। कवन भाँति = किस प्रकार। अस = ऐसा। विसेखा = विशेष भाव रखना। ठाऊ = स्थल। निरमल = निर्मल। नाऊँ = नाम। मिला = मिला हुआ या मिश्रित। बेहरा = अलग। दिष्टिवंत = ज्ञानी। निअरे = पास। मूरूख = अज्ञानी। कँह = कहते हैं।

(९)

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानइ भोला।।
दीन्हेसि रसना औ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहसइ जोगू।।
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना।।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहाँ।।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं।।
जोबन मरम जान पै बूढ़ा। मिला न तरु नामा जब ढूंढ़ा।।

---

१. **"बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।।"**
—(तुलसी)

सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जा कहँ दुख बाजा॥
कया क मरम जान पै रोगी, भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसांइ जानइ, जो घट घट महँ नित॥ ६॥

भावार्थ—(कविवर जायसी ने इस अंश में बतलाया है कि परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ गुण एवं एश्वर्य प्रदान किये हैं, पर खेद है कि वह अन्य जीव-जन्तुओं से इतना श्रेष्ठ होकर भी परमेश्वर के महत्व एवं अपने गुणों का महत्वांकन नहीं कर पाता।)

ईश्वर ने जो अमूल्य रत्न मनुष्य को दिये हैं, दुख है कि नादान मनुष्य उनका रहस्य या महत्व नहीं जानता। ईश्वर ने केवल मनुष्य को जिह्वा दी है और फिर उसके भोग के लिये अनेक रस-पदार्थों को बनाया है। उसने मनुष्य को दंतावली दी है जिससे वह अपने सुख के भाव को सहास, मनोहर ढंग से अभिव्यक्त कर सके। अन्य जीवों में यह बात कहाँ? ईश्वर ने मनुष्य को संसार की चित्र-विचित्र रचना को देखने का सुख प्रदान करने के लिये अनोखे नेत्र प्रदान किये हैं। वह किसी से कह-सुन सके, अतः उसे कान प्रदान किये हैं। ईश्वर ने मनुष्य को बोलने के लिये कंठ दिया है, पशुओं को यह सब महान अवयव कहाँ दिये गये हैं? मनुष्य को ईश्वर ने कोमल पल्लव जैसी हथेलियाँ और सुन्दर बाहें प्रदान की हैं। मनुष्य को ईश्वर ने स्वच्छन्दता पूर्वक विचरने के लिये सुन्दर चरण दिये हैं। इन चरणों की महत्ता पंगु ही जान सकता है। जवानी का महत्व बुड्ढा ही जानता है क्योंकि उसकी जवानी खो चुकी होती है (जो आके न जाय बुढ़ापा देखा, जो जाके न आए जवानी देखी।) यह सब कुछ अनुभूतिगम्य भाव मनुष्य को छोड़कर ईश्वर ने अन्य प्राणियों को नहीं दिया। सुख क्या होता है, इसका वास्तविक भेद या स्वाद राजा को क्या पता है। सुख का मूल्य तो विपत्ति झेलनेवाला दुखी ही जानता है।

निरोगी शरीर का रहस्य या सुख कैसा होता है, इसे रोगी का मन ही जानता है, पहलवान अथवा भोगी स्वस्थता की मूल बात क्या जानेगा। क्योंकि वह तो भोगों में स्वस्थता के सुख को नष्ट कर रहा होता है। (किन्तु) सब प्रकार के रहस्य को—अच्छे-बुरे को, वह ईश्वर ही जानता है जो प्रत्येक की आत्मा में अवस्थित है—निवास करता है।

विशेष—अँग्रेजी के प्रसिद्ध प्रकृति के कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने प्रकृति एवं मानव जीवन की विपरीतता का जो भाव अपनी "Lines written in early Spring" कविता के इस पद में व्यक्त किया है, जायसी के इस अंश में भी कुछ वही रस है। देखिए—

"To her fair works did nature link.
The human soul that brought me ran.
And much it grieved my heart to think.
What man has made of man."

शब्दार्थ—अउर=और। अमोला=मूल्यवान, बेशकीमत। मरम=भेद या महत्व से तात्पर्य है। भोला=नादान। रसना=जीभ। रस भोगू=रसमय पदार्थ। दसन=दाँत। बिहँसइ जोगू=हँसने योग्य। कहँ=को या के लिए। स्रवन=कान। बैना=बोल। माहाँ=में। कर-पल्लो=कर-पल्लव। बर बाहाँ=सुन्दर बाहें। तरु-नापा=यौवन। कर=का। बाजा=आता है, बजता है। कया=शरीर। निचिंत=बेफिक्र, आवारा। नित=नित्य।

(१०)

अति अपार करता कर करना। बरन न कोई पारइ बरना॥
सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुँद्र मसि भरई॥
जावँत जग साखा बन ढाँखा। जावँत केस रोवँ पँखि पाँखा॥
जावँत रेह खेह जंह ताईं। मेघ बूंद औ गगन तराईं॥
सब लिखनी कइ लिखि संसारू। लिखि न जाइ गति समुँद अपारू॥
एत कीन्ह सब गुन परगटा। अबहुं समुँद बूँद नहिं घटा॥
अइस जानि मन गरब न होई। गरब करइ मन बाउर सोई॥
बड़ गुनवन्त गोसाईं चहइ गरब सोहाइ तेहि बेगि।
औ अस गुनी संवारई जो गुन करइ अनेग॥१०॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में प्रभु की अपरम्पार एवं अवर्णनीय महत्ता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं:—

प्रभु की रचना अपरम्पार है; वह महान रचनाकार है। उसकी महत्ता का कोई कवि-मनीषी वर्णन करके भी पूरा वर्णन नहीं कर सकता। (जायसी कहते हैं) यदि सातों आकाश का कागज़ बनायें एवं सातों समुद्रों की स्याही, धरती रूपी दवात में भरें, यदि सारे संसाररूपी बनों के पलाश आदि पेड़ों की शाखाएँ, सारे पक्षियों के रोम, पंख, धूल, राख तथा बादल, बूंद और आकाश के तारों की लेखनी बनाकर सारे संसार के लोग प्रभु के गुणों को लिखने बैठें तो भी सागर के सदृश अपरम्पार ईश्वर के गुण नहीं लिखे जा सकते।

कबीर ने भी 'साखी में इसी प्रकार कहा है—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि करूँ बनराय।
सात समुंद की मसि करूँ, गुरुगुण लिखा न जाय॥

जायसी कहते हैं इतना करके, उसके सब गुण प्रकट हैं; फिर भी मानो सागर की बूंद नहीं घटी। आशय यह कि जिस प्रकार सागर में से कितना भी जल निकाला जाय उसमें एक बूंद की कमी नहीं आती इसी प्रकार इतने वर्णन से भी परमेश्वर की महत्ता के प्रति कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अतः ईश्वर की महान महिमा को विचारते हुए किसी को भी घमण्ड नहीं करना चाहिए, यदि कोई करता है, तो वह और उसका मन पागलों जैसा है।

ईश्वर बड़ा गुणवान है, वह जो भी चाहता है, शीघ्र ही हो जाता है। वह

ऐसे गुणवानों को आदर देता है जो अनेक गुण सम्पन्न हैं और उनका प्रदर्शन करते हैं।

विशेष—ईश्वर के गुण लिखने में जिस स्याही, दवात, क़लम आदि का उल्लेख किया गया है वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। यहाँ अत्युक्ति वर्णन होने से अलंकार की छटा है। "करता का करना" "सात सरग जौं कागर करई" आदि उक्तियों में अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है। ईश्वर के महत्व प्रदर्शन की व्यंजना पूर्ण है।

शब्दार्थ—करना = रचना। सरग = आकाश। कागर = कागज। मसि = स्याही। जाँवत = जितने या सारे। ढाँखा = पलाश वृक्ष। रोवँ = रोंगटे। पँखि पाँखा = पक्षियों के पंख। रेह = राख। खेह = धूल। ताई = तक। तराई = तारिकाएं। बाउर = पागल। बेगि = शीघ्र। अनेग = अनेक। बड़ = बहुत। गोसाईं = ईश्वर। चहइ = चाहता है। अस = ऐसे। सँवारइ = सँवारना या आदर देना।

(११)

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाऊँ मुहम्मद पूनिउँ करा॥
प्रथम जोति विधि तेहि कै साजी। औ तेहि प्रिति सिस्टि उपराजी॥
दीपक लेस जगत कहँ दीन्हा। भा निरमल जग मारग चीन्हा॥
जौं न होत अस पुरुष उज्यारा। सूझि न परत पंथ अँधियारा॥
दोसरइँ ठाँव दई ओइँ लिखे। भए धरमी जो पाढ़ित सिखे॥
जगत बसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नाऊँ ओहि लीन्हे॥
जेइँ नहि लीन्ह जरम सौं नाऊँ। त कहँ कीन्ह नरक मँह ठाऊँ॥
गुन अवगुन विधि पूँछत हो इहिलेख अउ जोख।
ओन्ह बिनउब आगे होइ करब जगत कर मोख॥११॥

भावार्थ—कविवर जायसी मसनवी ढंग पर यहाँ पैगम्बर मुहम्मद साहब की महत्ता का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं:—

ईश्वर ने निर्मल पुरुष, मुहम्मद नाम की इस सृष्टिमें अवतारणा की, जो चन्द्रमा की कला जैसे उज्ज्वल थे। (आशय यह है कि जो पाक पवित्र जीवन के प्रतीक थे।) विधाता ने अपनी ज्योति का अंश उन्हीं में समाहित किया और उनके प्रेम से इस सृष्टि की रचना की। मुहम्मद साहब रूपी दीपक जलाकर परमेश्वर ने उन्हें संसार को प्रदान किया जिससे संसार प्रकाशवान होकर अपने सद्मार्ग को पहचान सका (आशय है कि ईश्वर की इबादत और अपने मोक्ष के मार्ग को पहचान सका)। यदि मुहम्मद जैसे पुरुष का प्रकाश न होता तो संसार के अज्ञान का अन्धकारमय पथ दिखलाई न पड़ पाता। प्रभु ने दूसरे स्थान पर मुहम्मद पैगम्बर को लिख दिया (आशय है कि अपने बाद इस संसार में उसी को महत्व दिया) वही ज्ञानी, धर्मी और पंडित हुआ कि जिसने मुहम्मद साहब का क़लमा या धर्म ग्रंथ पढ़ लिया। ईश्वर का संदेश देने वाला मसीहा या पैगम्बर या शुभ संदेशवाहक मुहम्मद साहब को ही बनाया गया है। जिसने उनका नाम ले लिया उस मनुष्य का इहिलोक और परलोक दोनो ही से उद्धार हो गया। जिसने जन्म भर उनका नाम नहीं लिया,

उसको नरक या दोज़ख में स्थान मिलता है।

जायसी कहते हैं जब कयामत में परमेश्वर बन्दे के पाप-पुण्यों का समाधान माँगता है और उसके जीवन भर के कर्मों का हिसाब करता है तब वही पैगम्बर आगे आकर मनुष्यों की मुक्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है।

विशेष—जायसी इस्लाम धर्म के पक्के अनुयायी थे और विद्वान भी। इस अंश में उन्होंने बड़ी चतुराई से कुछ प्रतीक भारतीय लेकर मुहम्मद साहब की दिव्य इस्लामी महत्ता का प्रदर्शन किया है। संभवतः तभी सूर तुलसी ने आगे चलकर भारतीय संस्कृति के अनुकूल राम, कृष्ण प्रेम आदर्श विषयक भावना का प्रचार किया। प्रस्तुत क़ल्मे की चिंता धारा का जायसी ने किस सफाई से भाव व्यक्त किया—"**ला इला इलिल्लाह मुहम्मद रसूलल्लाह**" भाव यह है कि परमेश्वर एक है और मुहम्मद उसका रसूल है। इसी भाव व्यंजना से उपरोक्त अंश पूर्ण है। कुरान के एकेश्वरवादी एवं रसूलवादी सिद्धान्त का प्रचार जायसी ने भारतीय चौखटे में तस्वीर की तरह जड़ा है।

शब्दार्थ—निरमरा=निर्मल। नाउँ=नाम। पूनिऊकरा=पूनम की कला, धवल चाँदनी। विधि-विधाता। तेहि कै साजी=उसके लिए बनाई। चीन्हा-पहचाना। तेहि=उसकी। सिस्टि=सृष्टि। उपराजी=पैदा की। लेसि=प्रकाशित किया। भा=हुआ। अस=ऐसा। पाढ़ित=पढ़ना, यहाँ क़ल्मा पढ़ने से अर्थ है। बसीठ=संदेशा। दोउ जग तरा=इहिलोक-परलोक से उद्धार हुआ। जरम=जनम। ठाऊँ=जगह। विधि=ढंग। होइहि=होगा। लेख अउ जोख=हिसाब-किताब। ओन्ह=वे। बिनउब=प्रार्थना या विनय करेंगे। मोख=मोक्ष, मुक्ति।

(१२)

चारि मति जो मुहमद ठाऊँ। चहुँक दुहूँ जग निरमर नाऊँ॥
अबावकर सिद्दिक सयाने। पहिलइँ सिदिक दीन ओइँ आने॥
पुनि जो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदलदीन जौं आए॥
पुनि उसमान पंडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आपत सुनी॥
चौथइँ अली सिंघ बरियारू। सौंह न कोई रहा जुझारू॥
चारिउ एक मतइँ एक बाता। एक पंथ औ एक सँघाता॥
बचन जो एक सुनाएन्हि साँचा। भए परवान दुहूँ जग बाँचा॥
जो पुरान विधि पठवा सोई पढ़त गिरंथ।
अउर जो भूले आवत ते सुनि लागत ते पंथ॥१२॥

भावार्थः—कविवर जायसी मुहम्मद साहब के अन्य दोस्तों का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

मुहम्मद साहब के चार मित्रों के पास ही उनका स्थान था। (आशय यह है कि चारों मित्र मुहम्मद साहब के समान पाए थे) इन चारों का दोनों लोकों में (इहिलोक-परलोक में) उज्ज्वल नाम व्याप्त था। अबाबकर नामक पैगम्बर बड़े चतुर थे। प्रथम

उन्होंने ही सच्चे इस्लाम धर्म के प्रचार का काम किया। तत्पश्चात श्रेष्ठवर उमरखिताब नामक व्यक्ति थे। इनके धर्म-प्रचार से ही यह संसार न्यायोन्मुख (अदल) हुआ। फिर तीसरे पैगंबर उसमान नाम के थे जो अत्यंत विद्वान और गुणवंत थे जिन्होंने क़ुरान को (इस्लाम धर्म का क़ुरान प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ है, अतः जायसी ने 'पुरान' से ही उसकी संज्ञा दी है) मुहम्मद साहब की आयतें सुनकर लिखा। चौथे अली नाम के थे जो शेर के समान अत्यधिक बलवान थे और जिनके समक्ष कोई योद्धा नहीं ठहरा था। ये चारों महान पैगम्बर एक ही मत एवं एक ही इस्लाम धर्म की स्थापना के समर्थक थे—एक विचारधारा थी। यह सब कार्यों में एक साथ रहते थे। इन लोगों ने जो भी एक वचन कहा वह सत्य माना गया और दोनों लोक के लिये धर्म-सच्चाई का प्रमाण हो गया। दोनों लोक के लोगों ने उसे सादर पढ़ा—स्वीकार किया।

जिस धर्म-ग्रंथ पुराण को ईश्वर ने भेजा, उसी ग्रंथ को ये लोग पढ़ते हैं; और जो धर्म के भूले-भटके लोग इसका पाठ सुनने आते हैं, वह उसी के मार्ग पर चलने लगते हैं; इस्लाम मत को मानने लगते हैं।

विशेष—इस अंश में काव्य सौष्ठव न होकर इस्लाम मत के प्रचार, प्रभाव और उसके प्रसार की व्यंजना है। सम्भवतः इस्लाम के धर्म-अन्ध-विश्वास को जायसी ने भारत में प्रसारित करने की भावना से यह लिखा है—ऐसा सोचा जा सकता है।

शब्दार्थ—ठाऊँ = स्थान। चहुंक = चारों का। अबाबकर = पहले पैगम्बर का नाम। पहिलइँ = सबसे पहले। सयाने = चतुर। सिदिक = सत्य। दीन = इस्लाम धर्म। ओहूँ = वे। आने = लाए। उमरखिताब = दूसरे पैगम्बर का नाम। भा = हुआ। अदल = न्यायोन्मुख। पुनि = फिर। उसमान = तीसरे पैगम्बर का नाम। बड़ = बहुत। गुनी = गुणवन्त। पुरान = कुरान से आशय है। आयत = कुरान के श्लोक या मन्त्र। बरियारू = बहादुर। सौंह = समक्ष। जुझारू = जूझने वाला अर्थात् योद्धा। सँघाता = साथ। सुनएन्हि = सुनाए। परवान = प्रमाण। बाँचा = पढ़ा। पठवा = भेजा। गिरंथ = ग्रंथ, यहाँ क़ुरान से तात्पर्य है। अउर जो भूले आवत ते = वे जो भूले-भटके आए। तेहि पंथ = उस रास्ते पर अर्थात् इस्लाम मार्ग पर लगे। सिंघ = शेर।

(१३)

सेरसाहि ढिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू॥
ओहि छाज छात औ पाटू। सब राजा भुइँ धरहिं लिलाटू॥
जाति सूर औ खाँडइ सूरा। औ बुधिवंत सबइ गुन पूरा॥
सूर नवाई नवउ खंड भई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तँह लगि राज खरग बर लीन्हा। इसकंदर जुलकराँ जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमा केरि अँगूठी। जग कहँ जिअन दीन्ह तेहि मूठी॥
औ अति गरू पुहुमि पति भारी। टेकि पुहुमि सब सिस्टि सँभारी॥

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज॥ १३॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ईश्वर एवं पैगम्बरों की स्तुति के पश्चात अपने समय के बादशाह शेरशाह सूरी की प्रशस्ति लिखते हैं। यह मसनवी पद्धति की एक दिशा है:—

दिल्ली के शहंशाह शेरसाह सूरी का प्रताप इस प्रकार देदीप्यमान है जैसे कि चारों भूखंड सूर्य के तेज से प्रकाशित हैं। (यहाँ उत्प्रेक्षा है।) उसे ही राज-छत्र और सिंहासन शोभायमान होता है—वही शहंशाह होने के अनुकूल है। उसके शौर्य के आगे राजाओं ने अपना माथा पृथ्वी पर झुकाया है, वे उसकी आधीनता स्वीकार करते हैं। वह सूर जाति का और खाँडा चलाने में निपुण वीर है। वह बुद्धिमान और सर्वगुण सम्पन्न है। उसने शूरमाओं को परास्त करके नवखंड अपने बनाए। उसके आगे सातों द्वीप और दुनिया झुकी। उसने अपने खड्ग बल से वहाँ तक शासन किया जहाँ तक कि महान सिकन्दर ने जीता था। उसकी अंगुली में यहूदी सम्राट सुलेमान की अंगूठी है। उसने संसार के लोगों को मुट्ठी भर-भरकर दान दिये। वह पृथ्वीपति है; उसने पृथ्वी को सहारा देकर समस्त दुनिया का आधार बना रक्खा है।

उसे मुहम्मद साहब ने वरदान या आशीर्वाद दे रक्खा है कि तुम युग-युग तक शासन करो। उन्होंने बता रक्खा है कि तुम संसार के शहंशाह हो और सारा संसार तुम्हारा है, शासनाधीन है—मुखापेक्षी है।

शब्दार्थ—ढिल्ली=दिल्ली। सुलतानू=शहंशाह। चारिउ=चारों। ओहि=उसे। छाज=शोभायमान है। छात=छत्र। पाटू=तख्त या सिंहासन। भुंइ=पृथ्वी। लिलाटू=माथा। खाँडइ=खाँडा, एक प्रकार का तलवार जैसा कठोर हथियार। सूरा=योद्धा, वीर। बुधिवंत=बुद्धिमान। सबइ=सारे। नवाई=झुकाकर, परास्त करके। नवऊ खंड=सारा संसार। दुनि=दुनिया। नई=झुकी। तँहलगि=वहाँ तक। बर=बल से। इसकंदर=महान सिकन्दर जिसने दुनिया को जीतने का प्रण किया था। सुलेमाँ=यहूदी सम्राट सुलेमान। केरि=की। जीअन=लोग। मूठी=मुट्ठी। गरू=बोझ-वाली। पुहुमिपति=पृथ्वी का मालिक। टेकि=आधार, सहारा। सिस्टि=सृष्टि। सँभारी=संभाली। जुगहिजुग=युग-युगों तक। मुहताज=मुँह ताकने वाला, मुखा-पेक्षी। पातसाहि=राजा।

(१४)

बरनौं सूर पहुमि पति राजा। पहुमि न भार सहइ जो साजा॥
हय गय सेन चलइ जग पूरी। परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी॥
रेनु रइनि होइ रबिहि गरासा। मानुस पंखि लेंहि फिरि बासा॥
ऊपर होइ छावइ महि मंडा। षट खँड धरति अष्ट ब्रह्मण्डा॥
डोलइ गगन इन्द्र डरि काँपा। बासुकि जाइ पतारहिं चाँपा॥

मेरु धसमसइ समुँद सुखाई। बन खँड टूटि खेह मिलि जाई ।।
अगिलहि काहि पानि खर बाँटा। पछिलेहि काहि न काँदहु आँटा ।।
जो गढ़ नए न काऊ चलत होंहि सत चूर।
जबहि चढ़इ पुहुमीपति सेरसाहि जगसूर ।। १४ ।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में शेरशाह सूरी के शौर्य का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

मैं राजा शेरशाह सूरी का अब वर्णन करता हूँ। जब वह सेना सजाता है तो पृथ्वी उसके भार को सहने में असमर्थ होती है। जब उसकी सेना और हाथी-घोड़े युद्ध के लिए चलते हैं तो पृथ्वी चलायमान हो उठती है (दूसरा अर्थ यों भी किया जा सकता है कि शेरशाह की सारी सेना जब प्रस्थान करती है तब धरती उससे चलायमान हो जाती है।) सेना के चलने से पहाड़ टूटकर धूल बनकर उड़ने लगते हैं और धूल इतनी उड़ती है कि रात सी हो जाती है, सूर्य ढँक जाता है। भ्रम होने से, मनुष्य एवं पक्षी—दोनों विश्राम करने को उद्यत होते हैं। (यहाँ भ्राँतिमान अलंकार का स्वाभाविक प्रयोग बन पड़ा है) पृथ्वी धूल से मण्डित हो जाती है। धमाकों से छः खण्डों में धरती और आठ खण्डों में ब्रह्मांड के टूटने का भान होता है। भय से, आकाश दोलायमान होता है, इन्द्र कम्पायमान होता है। शेषनाग भय से पाताल में छिपने चला जाता है। सुमेरु पर्वत धसकने लगता है, समुद्र सूखने लग जाते हैं। जंगल के वृक्ष आदि टूटकर धूल में मिलने लगते हैं। सेना इतनी विशाल है कि यदि कहीं पानी बाँटा जाता है तो केवल आगे के सैनिकों को ही मिल पाता है कि तभी कूप,तालाब आदि सूख जाता है—पानी समाप्त हो जाता है और पीछे के सैनिक लोग प्यासे ही रह जाते हैं। पानी क्या, उन्हें कीचड़ से भी पूरा नहीं पड़ता।

जायसी कहते हैं कि शेरशाह का आतंक ऐसा है कि जो किले अविजित रहे हैं, जगत विजेता पृथ्वीपति शेरशाह की चढ़ाई से टूट-टूटकर चूर्ण बन जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत अंश में वीररस प्रधान है। भूषण ने शिवाजी के विषय में भी एक पद ऐसा ही लिखा है—

"साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
'भूषण' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी-नद मद गैवरन के रलत हैं ।।
ऐल-फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उलसत हैं।
तारा सो तरन धूरि धारा में लगत जिमि,
धारा पर पारा पारावार यों हलत है ।।"

अतिशयोक्ति एवं भ्रान्तिमान अलङ्कार प्रधान है।

शब्दार्थ—बरनौं=वर्णन करता हूँ। पहुमि=पृथ्वी। हय गय=घोड़ा-हाथी। पूरी=यह शब्द 'सारी' सेना का अर्थ बोध कराता है, इसी प्रकार से अर्थ ठीक जँचता है, जैसा कि ऊपर दिया भी गया है। रइन=रात। गरासा=ग्रस लेना। बासा=विश्राम। महि=पृथ्वी। छावइ=मण्डित करना। षट=छै। अष्ट=आठ। डोलइ=दोलायमान होना। बासुकि=शेषनाग, जिसके फन पर धरती ठहरी है। चाँपा=छिपना। मेरु=सुमेरु पर्वत। बनखंड=जंगल, यहाँ जंगल के वृक्ष से अर्थ सिद्धि होती है। खेहि=धूल। अगलहि=आगे की सेना। पिछलेहि=पीछे की सेना। काँदहु आँटा=कीचड़ भी पूरी नहीं पड़ती।

(१५)

अदल कहौं जस प्रथिमी होई। चाँटहि चलत न दुखवइ कोई॥
नौसेरवाँ जो आदिल कहा। साहि अदल सरि सोउ न अहा॥
अदल कीन्ह उम्मर की नाईं। भइ अहान सिगरी दुनिआईं॥
परी नाथ कोई छुअइ न पारा। मारग मानुस सोन उछारा॥
गउव सिंघ रेंगहि एक बाटा। दूअउ पानि पिअहि एक घाटा॥
नीर खीर छानइ दरबारा। दूध पानि सो करइ निरारा॥
धरम निआउ चलइ सत भाषा। दूबर बरिअ दुनहुं सम राखा॥
सब पिरथिमी असीसइ जोरि जोरि के हाथ।
गाँग जउँन जौ लहि जल तौं लहि अम्मर माथ॥१५॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में शेरशाह के शासन की न्याय-प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:—

मैं कहता हूँ कि शेरशाह का न्याय इतना स्थिर अथवा दृढ़ है जैसी कि पृथ्वी अचल है। उसका न्याय इस प्रकार है कि चलती चींटी को भी कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता। राजा नौशेरवाँ को जिसे बड़ा न्यायी कहते हैं सो वह भी शाह सूरी के समान न्याय वाला नहीं था। शेरशाह ने उमर की भाँति न्याय किया है। अतः सारे विश्व में उसकी वाह वाह एवं प्रशंसा है। उसका न्याय इस प्रकार प्रबल है कोई किसी स्त्री की नाक में पड़ी नथ को भी चोरी की दृष्टि से नहीं देख सकता अथवा छू सकता। शेरशाह के शासन में लोग इतने निर्भीक हैं कि पथ पर लोग सोना उछालते चला करते हैं। गाय और शेर एक ही मार्ग पर निर्भय विचरते हैं, और एक घाट पर पानी पीते हैं। (मुहावरा भी है कि गाय और शेर एक घाट पानी पीते हैं) शेरशाह अपने दरबार में नीर-छीर—सच-झूठ—की परख करते हैं और तब अलग दूध का दूध और पानी का पानी जैसा इंसाफ करते हैं। (यह भी मुहावरा प्रसिद्ध है कि दूध का दूध और पानी का पानी करना) धर्म एवं न्याय की सत्य भाषा-परिभाषा चलती है। शेरशाह ने अपने शासन में न्याय के द्वारा निर्बल एवं सबल को समान बना रक्खा है।

शेरशाह की न्यायप्रियता के कारण समस्त पृथ्वी करबद्ध होकर आशीष देती है

कि जब तक गंगा जमुना का जल प्रवाहित है तब तक तेरा मस्तक उन्नत एवं अमर रहे। अर्थात, शेरशाह चिर शासक बना रहे।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने लोक प्रचलित मुहावरे एवं लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग किया है। ऊपर भावार्थ में उनका यथास्थल संकेत दिया गया है। अलंकार—अतिशयोक्ति, उपमा।

शब्दार्थः—अदल=न्याय। प्रिथिमी=धरती। चाँटहि=चींटी। नौसेरवाँ=एक प्रसिद्ध न्यायी मुसलमान शासक। आदिल=न्याय करने वाला। सरि=समान। अहा=था। उम्मर=एक पैगम्बर, जिसका उल्लेख १२ वें अंश में आया है। नाई=भाँति। अहान=प्रशंसा-वाह-वाह। सिगरी=समस्त। परीनाथ=स्त्री की नाक में पड़ी नथ—एक आभूषण। पारा=सकता। सोन=सोना। गउव=गाय। रेंगहि=चलना। बाटा-रास्ता। दूअउ=दोनों। पानि=जल। दूअउ पानि पिअहिं एक घाटा=मुहावरा है कि "शेर बकरी या गाय एक घाट पानी पीते हैं।" निनारा=अलग। निआउ=न्याय। सतभाषा=सत्य की भाषा। दूबर=निर्बल। बरिअ=बलवान। गाँग=गंगा। जऊँन=यमुना। जौलहि जल=जब तक जल है। तौं लहि=तब तक। अम्मर=अमर। माथ=माँथा।

(१६)

पुनि रूपवंत बखानौं काहा। जावँत जगत सबइ मुख चाहा॥
ससि चौदसि जो दइअ सँवारा। तेहूँ चाहि रूप उँजियारा॥
पाप जाइ जौं दरसन दीसा। जग जोहारि कइ देइ असीसा॥
जइस भान जग ऊपर तपा। सबइ रूप ओहि आगें छपा॥
भा अस सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दह आगरि करा॥
सौंह दिस्टि कइ हेरि न जाई। जेइँ देखा सो रहा सिर नाई॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। विधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा॥

रूपवंत मनि माथें चन्द्र घाट वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लोभानी अस्तुति बिनवइ ठाढ़ि॥१६॥

भावार्थः—कविवर जायसी शहंशाह शेरशाह के रूप का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण करते हुए लिखते हैं:—

शेरशाह के रूप का फिर मैं कैसे वर्णन करूँ! सारा संसार ही उसके सुन्दर मुख को देखने को लालायित है। चौदस के चाँद—पूर्ण चन्द्र को जो ईश्वर ने रूप दिया है, वह भी शेरशाह के रूप को पाने का इच्छुक है। आशय यह है कि चौदस का चाँद भी शेरशाह के उज्ज्वल मुख-सौन्दर्य को पाना चाहता है—क्योंकि वह उसकी अपेक्षा कम है। वह दर्शन देता है तो पाप भाग जाता है। संसार उसको प्रणाम करके आशीष देता है। उसका प्रताप ऐसा है जैसा कि विश्व के ऊपर सूर्य का होता है कि उसके तेज के आगे सब कुछ छिप जाता है। वह शूरवीर ऐसा समुज्ज्वल है कि उसकी कलाएँ

सूर्य से भी दस गुनी अधिक प्रकाशवान हैं। उसकी ओर दृष्टि करके देखा नहीं जाता। जो कोई उसे देखता है, सिर झुका कर रह जाता है—प्रणाम करता है। नित्य उसका स्वरूप सवा गुना वृद्धि पाता है। उसका स्वरूप विधाता ने संसार के ऊपर रक्खा है; अर्थात् वह दिव्य पुरुष है।

उसके मस्तिष्क पर रूपवान मणि लगी है। चन्द्रमा का सौन्दर्य उससे घटकर है, और वह उससे बढ़कर है। सारी पृथ्वी उसके दर्शनों को आकर्षित और लालायित है; और स्तब्ध खड़ी उसकी बंदना करती है।

विशेष—सम्बधातिशयोक्ति अलंकार है, क्योंकि शेरशाह का चाँद और सूर्य की कलाओं से कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी उसके सौंदर्य का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है। इस स्थल पर 'अत्युक्ति' अलंकार भी माना जाता है पर चूंकि शेरशाह में रूप-सौंदर्य विद्यमान तो था, यह सर्वथा झूठ नहीं, पर इतना नहीं जितना कि कहा गया है। अतः 'अतिशयोक्ति' अलंकार ही सिद्ध है। उक्ति चमत्कार की दृष्टि से भी यह अंश अलंकृत है।

शब्दार्थ:—काहा = क्या। जाँवत = सारा। चाहा = निहारता या देखता है। ससि चौदसि = चौदस का चाँद, पूर्णचन्द्र। चाहि = इच्छुक होता है। तेहू = वह भी। दीसा = देना। जोहारि = प्रणाम। जइस = जिस प्रकार। छपा = छिपना। निरमरा = निर्मल। दह = दस। आगरि = अधिक। करा = कला। सौंह = सामने। दिस्टि = दृष्टि, नज़र। हेरि = देखी। सिर नाई = सिर झुकाकर। सवाई = सवा गुना। मनि = मणि। चन्द्रघाट = चाँद का सौन्दर्य घटकर है। वह बाढ़ि = शेरशाह का रूप-सौन्दर्य बढ़कर है। मेदिनि = पृथ्वी। लोभानी = लालायित, आकर्षित हुई।

(१७)

पुनि दातार दइअ बड़ कीन्हा। अस जग दान न काहूँ दीन्हा॥
बलि औ विक्रम दानि बड़ अहे। हेतिम करन तिआगी कहे॥
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुंद सुमेर घटहिं नित दोऊ॥
दान डाँक बजाइ दरबारा। कीरति गई समुद्रहँ पारा॥
कंचन बरसि सोर जग भएऊ। दारिद भागि देसंतर गएऊ॥
जौं कोइ जाइ एक बेर माँगा। जरमहु होइ न भूखा नाँगा॥
दस असुमेध जगि जेइं कीन्हा। दान पुन्नि सरि सेऊ न दीन्हा॥
अइस दानि जग उपना सेरसाहि सुलतान।
ना अस भएउ न होइहि ना कोइ देइ अस आन॥१७॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी शेरशाह की दानवीरता का वर्णन करते हैं:—

शेरशाह को ईश्वर ने दानवीर बनाया है। इस तरह संसार में किसी ने दान नहीं दिया जैसा कि शेरशाह ने दिया है। राजा विक्रमादित्य और बलि अत्यंत दानी थे, हातिम और कर्ण भी बड़े त्यागी या दानी कहे गए हैं, किंतु शेरशाह के बराबर इनमें से कोई भी

दानी नहीं हुआ। नित्य उसकी दान संपूर्णता से सागर एवं सुमेरु पर्वत, ये दोनों तक घट कर हैं। उसके दरबार-द्वार पर दान का नगाड़ा बजता रहता है। समुद्र के पार, देश-विदेश में उसकी यह कीर्त्ति जा चुकी है। उसके राज्य में सोने की वर्षा होती है, ऐसी ख्याति संसार भर में फैल गई है। कंगाली उसके राज्य से भागकर अन्यत्र देशों में चली गई है। जीवन भर कोई भूखा नंगा नहीं रह पाता कि जो शेरशाह से एक बार जाकर दान माँग लेता है। जिसने दस बार भी अश्वमेध यज्ञ किया है वह भी शेरशाह की दान-पुण्यता की बराबरी में नहीं है।

शेरशाह संसार में ऐसा दानी पैदा हुआ है कि न तो कोई ऐसा दानी कभी हुआ, न होगा जो इतना बड़ा दान दे सके।

विशेष—यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। शेरशाह की दानवीरता का अस्वाभाविक वर्णन किया गया है। कर्ण, बलि आदि से उसकी दानप्रियता की तुलना कुछ संगत नहीं बैठती।

शब्दार्थ—दातार = दान देने वाला। अहे = थे। करन = राजा कर्ण। सरि = समान। पूज = सम्पूर्ण। डाँक = डंका, नगाड़ा। कंचन = सोना। देसंतर = अन्यत्र देशों में। जरमहु = जन्म भर। असुमेध = अश्वमेध यज्ञ। अइस = ऐसा। उपन = पैदा हुआ।

(१८)

सैयद असरफ पीर पिआरा। तिन्ह मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिएं पेम कर दिया। उठी जोति भा निरमल हिया॥
मारग हुत अँधियार असूझा। भा अँजोर सब जाना बूझा॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहति धरम लीन्ह कइ चेला॥
उन्ह मोर करिअ पोढ़ कर गहा। पाएऊँ तीर घटा जो अहा॥
जा कहँ अइस होंहि कँडहारा। तुरित बेगि सो पावइ पारा॥
दस्तगीर गाढ़े के साथी। जहँ अवगाह देंहि तहँ हाथी॥
जहाँगीर ओइ चिस्ती निहकलंक जस चाँद।
आइ मखदूम जगत के हौं उन्ह के घर बाँद॥१८॥

भावार्थ—कविवर जायसी मसनवी ढंग के अनुसार यहाँ अपने पीर गुरु की महत्ता का वर्णन कर रहे हैं :—

मेरे गुरू (पीर) सैय्यद अशरफ मेरे प्रेम-पात्र हैं। उन्होंने ही मुझे उज्ज्वल ज्ञान का मार्ग सुझाया है। उन्होंने ही मेरे हृदय में प्रेम का दीप जलाया है। उस दिए की दिव्य प्रकाशित शिखा से ही मेरा हृदय पवित्र एवं प्रकाशित हुआ है। इससे पूर्व मेरे जीवन का मार्ग अज्ञान-अंधकारमय था, जो मुझे दीख नहीं पड़ता था। मेरे गुरू की कृपा से उस पर उजाला हुआ तो मैं ज्ञान को सोच-समझ और जान सका। गुरू ने मेरे पापों को खारे सागर में डुबा दिया। आशय यह है कि मुझे संसार से विरक्त बनाया और धर्म रूपी नाव पर चढ़ा कर अपना चेला बना लिया। (यहाँ रूपक अलंकार है—**"धर्म रूपी नाव"**) उन्होंने

मेरे हाथों को कसकर पकड़ लिया; इसलिये कि किनारे पर जो घाट था उसे पा सकूँ। अर्थात् गुरु ने ही मुझे संसार के पार जो परम परमेश्वर का लक्ष है, घाट है,—उस पर पहुँचाने का काम किया। जायसी कहते हैं सैय्यद अशरफ जैसे जिसके तारनहार पीर या गुरू हैं वह शीघ्र ही उद्धार को प्राप्त होता है। मेरे गुरू मेरा हाथ थामकर कठिनाई में साथ निभाने वाले हैं। जहाँ अथाह मिली वहीं पर हाथ का पूरा सहारा लगा कर उन्होंने आगे बढ़ाया। (यहाँ 'अवगाह' में सांसारिक 'माया' की अभिव्यंजना है कि गुरू ही मनुष्य को माया से मुक्त कराते हैं।)

जायसी कहते हैं, सैय्यद अशरफ जहाँगीर चिश्ती थे—कलंक रहित चाँद सदृश समुज्ज्वल! वह संसार-स्वामी हैं और मैं उनके घर का दास हूँ।

विशेष—गुरू की महत्ता का प्रदर्शन बड़ा ही स्वाभाविक बन पड़ा है। भक्त कवियों, कबीर, सूर और तुलसी ने भी इसी गुरू की महत्ता का वर्णन अत्यधिक किया है, देखिए—

बलिहारी वा गुरू की गोविंद दिया मिलाय।

—(कबीर)

वन्दे माद्यमयं नित्यं गुरू शंकर रूपिणाम्।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

—(तुलसी, बालकाँड)

'बोहित धर्म' अर्थात् धर्म रूपी नाव में **"रूपक"** एवं **"जहाँगीर जस चाँद"** में 'उपमा' अलंकार स्वाभाविक बन पड़े हैं।

नोट—जायसी ने धाराओं के ओलियाओं से दीक्षा ली थी–एक कालपीया मानकपुरी और दूसरी जायस की। सैय्यद अशरफ जायस परम्परा के थे और अंश २० के अनुसार शेख मुहीउद्दीन कालपी थे। ये दोनों ही जायसी के गुरू थे, ऐसा कुछ प्रतीत होता है।

शब्दार्थ—पीर=गुरू या साधु। पिआरा=प्यारा। मोहि=मुझे। लेसा=जलाया। हिएँ=हृदय। पेम=प्रेम। भा=हुआ। मारग=मार्ग, पथ। असूझा=दिखाई न पड़ने वाला। अँजोर=उजाला। जानबूझा=समझा-सोचा। मोर=मेरा। मेला=मिलाया। बोहति=नाव। घटा=घाट। अहा=था। अइस=ऐसा। कँडहारा=कर्णधार। दस्तगीर=हाथ पकड़ने वाला। गाढ़े के साथी=कठिनाई का साथी। आवगाह=गहरा। हाथी=हाथ। निहकलंक=कलंक रहित। जस=जैसा, सदृश। मखदूम=स्वामी। बाँद=दास।

(१६)

उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइं भरा॥
तिन्ह घर दुइ दीपक उजिआरे। पंथ देइ कह दइअ सँवारे॥
सेख मुबारक पूनऊँ करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुऔ अचल ध्रुव डोलहिं नाहीं। मेरू खिखिंद तिनहुं उपराहीं॥

दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं । कीन्ह खँभ दुहुँ जगत की ताईं ।।
दुहूँ खंभ टेकी सब मही । दुहुं के भार सिस्टि थिर रही ।।
जिन्ह दरसे औ परसे पाया । पाप हरा निरमल भौ काया ।।
महमद तहाँ निचिन्त पथ जेहि सँग मुरसिद पीर ।
जेहि रे नाव करिया ओ खेवक बेग पाव सो तीर ।।१६।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सैयद अशरफ जहाँगीर के वंश का परिचय देते हुए लिखते हैं :—

सैयद अशरफ जहाँगीर के घर में एक समुज्ज्वल रत्न शेख़ हाजी उत्पन्न हुए जो सौभाग्य से पूर्ण बने। उनके घर में (शेख हाजी के) दो दीपक जले जिन्हें विधाता ने रास्ता दिखाने के लिये सँवारा। एक का नाम शेख़ मुबारक था जो पूर्णचन्द्र की कलाओं से युक्त थे और दूसरे शेख़ कमाल नाम के थे जिनसे संसार निर्मल हुआ। आशय यह कि इन दोनों व्यक्तियों द्वारा संसार कृतार्थ हुआ। दोनों स्थिर ध्रुव के समान चरित्रवान थे। उनका व्यक्तित्व सुमेरु एवं किष्किन्धा पर्वत से भी ऊँचा एवं गौरवशाली था। ईश्वर ने इन्हें रूप सौन्दर्य की दिव्यता दी थी। इन दोनों को ईश्वर ने जगत के लिये स्तंभ स्वरूप बनाया था। इन दोनों स्तम्भ रूपी महापुरुषों ने (यहाँ 'रूपक' अलंकार है। उपमेय दोनों 'महापुरुषों' एवं उपमान 'खम्भों' में निषेध रहित सादृश्य है) पृथ्वी को आधार दिया और इन दोनों के बल से सृष्टि स्थिर बनी रही। जिन्होंने इनके दर्शन किये एवं चरण स्पर्श का सौभाग्य पाया उनके पाप दूर हो गए और उनका शरीर पवित्र, निर्मल हो गया।

जायसी गुरू की महत्ता का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि जिसके साथ में गुरू है, उसका पथ साफ है; वह भय रहित है। जिसकी नाव का माँझी और उसकी पतवार है, वह नाव तीव्रता से पार पर पहुँच जाती है।

विशेष—यहाँ मुक्ति की व्यंजना गुरु के द्वारा अनूठी की है। 'रूपक' का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है। गुरु के प्रति श्रद्धा एवं आस्था की व्यंजना अपूर्व कही जायगी।

शब्दार्थ—उन्ह = उसके। निरमरा = निर्मल। समागइँ = सौभाग्य से। देइ कह = देने के लिए। पूनिऊँ = पूर्णमासी। दुऔ = दोनों। मेरु खिखिद = सुमेरु एवं किष्किन्धा पर्वत। तिनहुं = उनके भी। उपराही = ऊपर। गोसाईं = परमात्मा। खाँभ = स्तम्भ। दुहुँ = दोनों। टेकी = आधारित। मही = पृथ्वी। सिस्टि = दुनियाँ। थिर = स्थिर। दरसे = दर्शन किये। परसे पाया = चरण-स्पर्श किये। भौ = हुई। काया = शरीर। महमद = स्वयं जायसी। निचिन्त = चिन्तारहित। मुरसिद पीर = यहाँ गुरु से अर्थ है। करिया = चप्पू। खेवक = माँझी। बेग = शीघ्र।

(२०)

गुरु मोहदी खेवक में सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा ।।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहि दीन्ह गिआनू ।।

अलहदाद भल तिन्ह कर गरू। दीन दुनिअ्र रोसन सुरखरू॥
सैयद महमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेंहि खेला॥
दानिआल गुरु पंथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए॥
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरए जहं सैयद राजे॥
उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी॥
ओइ सो गुरू होइ चेला निति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं दरस गोसाईं केर॥२०॥

भावार्थ—कविवर जायसी अपने दूसरे गुरु सैयद मुहीउद्दीन की महत्ता में यह अंश लिखते हैं। इस सम्बन्ध में १८ वें अंश के नोट को भी पढ़ें।

जायसी कहते हैं कि गुरु मुहीउद्दीन मेरे नाविक हैं और मैं उनका सेवक हूँ। उनके खेने के कारण तीव्रता से नाव चलती है। तात्पर्य यह है कि उनकी दीक्षा शीघ्र ही उद्धार कर देती है। उनके अग्रणी शेख बुरहान हुए जिन्होंने उनको मार्ग पर लाकर ज्ञान प्रदान किया। उनके भी गुरु अलहदाद नाम के थे इन्होंने दुनिया को रोशन किया अथवा दुनिया को दीप्ति प्रदान की। अलहदाद सैय्यद मुहम्मद के चेले थे। जिनके लिए ईश्वर का साक्षात्कार मानो खेल जैसा था। तात्पर्य यह कि वे ईश्वर को पाए हुए थे। गुरु दानियाल ने मुहम्मद साहब को ज्ञान का मार्ग सुझाया था। उन्होंने हजरत ख्वाजा खिजिर को गुरु रूप में पाया और हजरत ख्वाजा ने उनसे प्रसन्न होकर उन्हें, जहाँ सैयद राजे थे, उनसे भेंट कराई। जायसी कहते हैं, इस वंश परम्परा से जब मैंने सद्संस्कार पाए हैं तब कहीं मेरी वाणी मुखरित हुई है और मैंने प्रेम का वर्णन किया है; यह प्रेम काव्य रचा है।

जायसी कहते हैं, वे ही मेरे गुरु हैं; और मैं उनका शिष्य हूँ। मैं उनका शिष्य हूँ, अतः नित्य उनकी विनती करता हूँ। मैं उनके माध्यम से प्रभु का दर्शन करना चाहता हूँ।

विशेष—१८-१९ वें अश में भी जायसी ने गुरु परम्परा का संकेत किया है। इस विषय में १८ वें छन्द का नोट देखें।

शब्दार्थ—मोहदी=जायसी के गुरु का नाम—सैय्यद मुहीउद्दीन। उताइल=शीघ्र। खेवा=खेने से। अगुआ=अग्रणी। सुरखुरू=दीप्ति वाला, तेजस्वी। सिद्ध पुरुष संगम=ब्रह्म के साथ मिलन। लखाए=दिखाए। परसन=प्रसन्न। लइ मेरइ=मिलाये। करनी=संस्कार। उघरी=मुखरित हुई, खुली। बिनवौं=बिनती करता हूँ। चेर=चेला। उन्ह हुति=उनके माध्यम से। केर=का। दरस=दर्शन। गुसाईं=ईश्वर।

(२१)

एक नैन कवि मुहमद गुनी। सोई विमोहा जेइ कवि सुनी॥
चांद जइस जग विधि ओौतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ॥
जौ लहि अंबहि डाभ न होई। तो लहि सुगंध बसाइ न सोई॥

कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तो अति भएउ ससूझ अपारा।।
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा।।
जौं लहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहि कंचन करा।।
एक नैन जस दरपन ओ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ।।२१।।

भावार्थ—कविवर जायसी इस छंद में अपना व्यक्तिगत परिचय दे रहे हैं। यह अंश उनके जीवन परिचय के अंतःसाक्ष्य के रूप में लिया जा सकता है :—

एक आँख वाला मुहम्मद नाम का एक काना गुणवान कवि है। उसने उसी को मोहित कर लिया जिसने उसकी कविता को सुना है। ब्रह्मा ने उसे चन्द्रमा के अवतार जैसा अवतरित किया है। जैसे चाँद में कलंक होता है पर वह सुन्दर प्रकाश देता है, इसी प्रकार कवि जायसी काना कवि होकर भी अपनी कविता के प्रकाश से दीप्तिवान है। जायसी कवि को अपनी एक आँख से ही समस्त चराचर विश्व दीखता है। एक आँख से देखने का तात्पर्य यह है कि वह समदर्शी हैं। जैसे अनगनित तारों के मध्य शुक्रतारा चमकता है—इसी प्रकार, काने शुक्राचार्य की भाँति संसार के लोगों के मध्य कवि जायसी चमकते हैं। (यहाँ उपमा अलंकार है। जायसी ने अपनी उपमा शुक्रतारे से या शुक्राचार्य के साथ दी है)

जायसी अपनी एक आँख की महत्ता में आगे कहते हैं कि जब तक आम के ऊपरी भाग पर खट्टेपन का चिन्ह(एक आँख से तात्पर्य है)जिसे 'चोपी' कहते हैं, न होगा, तब तक उसमें मिठास की सुगंध कहाँ से होगी ? ईश्वर ने जब सागर के जल को खारा बनाया है तभी तो वह अपरम्पार है। जब शंकर के त्रिशूल से सुमेरू पर्वत नष्ट किया गया तभी तो वह स्वर्णमय होकर इतना गौरवान्वित हुआ कि गगन का छोर छूने लगा। तात्पर्य यह है कि ठेस खाकर, कुरूप होकर ही तो जायसी के अंतर में काव्य की महानता आई है। जब तक घरिया में (सुनार की सोना तपाने वाली कटोरी) सोना डालकर नहीं तपाया जायगा तब तक वह अशुद्ध है। पर घरिया में तपाए जाने से वह 'कंचन' अर्थात् शुद्ध सोना बन जाता है।

कविवर जायसी कहते हैं कि उनका एक नेत्र दर्पण जैसा उज्ज्वल है और उनका स्वभाव अत्यधिक निर्मल है। सब स्वरूपवान उनके पाँव पर लोटते हैं और उनका मुख आश्चर्य से देखते हैं।

विशेष—यद्यपि इस छंद में साधारणतः यह प्रतीत होता है कि जायसी ने अपनी कानी आँख के विषय में गर्वोक्तिपूर्ण वकालत की है किन्तु इस पद की व्यंजना यह है कि कुरूप-शरीर को न देखो, निर्मल प्राणों का सौंदर्य देखो—समदर्शी तभी बन पाओगे। वस्तुतः यह व्यंजना महान है।

यहाँ कुछ 'उपमाएँ' तो ठीक हैं किंतु सागर, पर्वत, चोपी, घरिया और सोने आदि की उपमाएँ असंगत सी लगती हैं।

शब्दार्थ—गुनी=गुणवान। विमोहा=मोहित किया। जइस=जैसा। विधि=ब्रह्मा। नैनाहाँ=आँख से। उवा=उदित हुआ। सूक=शुक्रतारा, शुक्राचार्य से भी तात्पर्य है। नखतन्ह=नक्षत्रों। माहाँ=मैं। जौ लहि=तब तक। अंबहिं=आम के। डाभ=आम के ऊपर की काली घुन्डी जिसका चेंप खाने से पूर्व कसैला होने के कारण निकाल दिया जाता है, उसे 'चोपी' भी कहते हैं। तौ लहि=तब तक। सुगंध=खुशबू—आम के पक जाने वाली बास। सोई=वह। पानि=जल। असूभ अपारा=अदृष्य एवं अपार। बिनासा=नष्ट किया। भा=हो गया। कंचन गिरि=सोने का पहाड़। लाग अकासा=आकाश को छूने लगा। घरी=सुनार के सोने को तपाने वाला वर्तन—घरिया। काँच=अशुद्ध होने से तात्पर्य है। कंचन=शुद्ध सोना। दरपन=दर्पण। भाउ=भाव। पाँव गहि=पाँव छूना। जोवहिं=देखना। चाउ=चाव अथवा प्रेम।

(२२)

चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सरि पहुँचाए॥
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी। पहिले भेद बात उन्ह जानी॥
पुनि सलार काँदन मति माहाँ। खाँडे दान उभै निति बाहाँ॥
मिआँ सलोने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू॥
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अदेस सिद्धन बड़ माने॥
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गुसाईं गढ़े॥
बिरख जो आछहिं चंदन पासाँ। चंदन होहिं बेधि तेहि बासाँ॥
मुहमद चारिउ मीति मिलि भए जो एकहि चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा आहि जग बिछुरन कित्त॥२२॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छंद में अपने चार मित्रों का वर्णन करते हैं:–कवि मुहम्मद ने चार मित्रों को पाया। मित्रता जोड़कर उन्होंने मुहम्मद को भी अपने समान बना दिया। उन चारों में से पहले, मित्र यूसुफ मलिक बड़े विद्वान और ज्ञानी थे। प्रथम उन्होंने ही ईश्वरीय प्रेम-रहस्य को जाना। फिर सलार कादिम हुए जिनके हाथ खाँडा चलाने एवं दान देने में सदा ऊपर रहे। तीसरे मित्र मिआँ सलोने हुए जो सिंह के समान अपार वीर थे, जो रणक्षेत्र में खड्ग से जूझने में सिद्धहस्त थे। चौथे मित्र बड़े शेख नाम के थे जो एक सिद्ध महानुभाव थे। उनके उपदेशों को सुनकर बड़े-बड़े योग्य पहुँचे हुए लोग भी उन्हें महान समझने लगते थे। चारों मित्र बड़े योग्य एवं चौदहों विद्याएँ निधान थे। ईश्वर की कृपा से इन्हें सम्पर्क भी अच्छा मिला था। ज्यों चंदन के वृक्ष के निकट जो अन्य वृक्ष होते हैं वह भी चंदन की सुगंध को समाहित करके चंदन ही बन जाते हैं; इसी प्रकार यह चारों मित्र भी जायसी के संसर्ग को पाकर गुण संम्पन्न हो गए थे।

कविवर जायसी कहते हैं कि ये चारों मित्र मिलकर एक हृदय हो गए थे—पक्के मित्र बन गए थे। यदि इस लोक में उनका संग निभ गया तो वह परलोक में कैसे अलग हो सकते हैं?

विशेष—यहाँ उदाहरण एवं रूपक अलंकारों की छटा क्रमशः इस प्रकार बन पड़ी है—

"बिरख जो आछहि चंदन पासा। चंदन होहिं बेधि तेहि पासा॥"

× × ×

"मिआँ सलोने सिंध अपारू।"

× × ×

शब्दार्थ—मीत=मित्र। मिताई=मित्रता। सरि=समान। मति माहाँ=बुद्धिमान, उभै=उठती है, उभयका अर्थ 'दोनों' से भी है। जुझारू=योद्धा। सिद्ध=योग्य, पूर्ण जानकार। अदेस=उपदेश। चतुर दसौगुन=चौदह विद्याएँ। गोसाई=ईश्वर। बिरिख=पेड़। आछहिं=होते हैं। बेधि=समाहित होकर। बाँसा=सुगन्ध। निवहा=संग बना रहना। कित्त=कैसे। आहि जग=परलोक।

(२३)

जाएस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू॥
औ बिनती पंडितन्ह सों भजा। टूट सँवारेहु मेरएहु सजा॥
हौं सब कबिन्ह केर पछि लगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा॥
हिअ भंडार नग आहि जो पूंजी। खोली जीभ तरा कै कूंजी॥
रतन पदारथ बोलइ बोला। सुरस प्रेम मधु भरी अमोला॥
जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया॥
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा॥
मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जेइँ मुख देखा तेइ हँसा सुना तो आए आँसु॥२३॥

भावार्थः—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में बड़ी विनम्रता से अपने निवासस्थान, काव्य तत्व एवं प्रेम तत्व पर प्रकाश डालते हैं। यहाँ उनका आत्म-निवेदन अपूर्व कहा जावेगा। प्रस्तुत पद उनके अंतः साक्ष्य का उदाहरण कहा जा सकता है।

मेरा जायस नगर धर्म स्थान है। इस कवि जायसी ने वहीं पर अपने प्रेम काव्य को रचा है। वहीं पर उसने पंडितों से प्रार्थना की कि उसके काव्य की त्रुटियों को सुधार लें एवं तदर्थ सजा दे। मैं समस्त कवियों का पिछलग्गू हूँ। उन्हीं की कृपा से मैंने कुछ काव्य कहने को लिखा है, यह मैं डंके की चोट देकर स्वीकार करता हूँ। (यहाँ पर कवि की आत्म-दीनता की व्यंजना निश्च्छल है। तुलसी ने भी ऐसा ही कहा था—**"कवित्त विवेक एक नहीं मोरे। सत्य कहूँ लिखि कागद कोरे"** अथवा **कवि न होऊँ**···आदि) मेरे हृदय रूपी कोष में जो परमेश्वर की रत्न रूपी काव्य पूँजी हैं उसको मेरी वाणी द्वारा इस प्रकार खोल दिया है कि जैसे ताले को ताली के द्वारा खोला जाता है। यों हृदय के कोप के खुल जाने पर रत्नों की भाँति मेरी वाणी (काव्य वाणी से तात्पर्य है) के शब्द निकल पड़े जिनमें मूल्यवान प्रेम का रस निहित है। (यहाँ काव्य में प्रेम तत्व की महान व्यंजना है।

कहा भी है—"रसौ वे सः काव्य") कविवर जायसी कहते हैं, प्रेम तत्व की महानता यह है कि जिसके कंण्ठ एवं हृदयस्थल में विरह निवास यावाघस कर जाता है उसे भूख प्यास कहाँ—छाया कैसी, विश्राम कैसा ? वह संसार का मिथ्या रूप भेष त्यागकर तपी हो जाता है, विरह की ज्वाला में जलता रहता है। वह धूल से मैला ढका माणिक सा बना रहता है। (यहाँ उपमा की छटा अपूर्व है।)

कविवर जायसी कहते हैं कि जो प्रेम करता है, प्रेमी है—उसके शरीर में न माँस रहता है और न खून। उसके मुख की ओर जो देखता है वही हँस पड़ता है—क्योंकि उसकी मुखाकृति पागलों जैसी हो जाती है। किन्तु जो उसकी विरह कथा सुनता है वही आँखों में आँसू भर लाता है, उसे दुख होने लगता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में कवि एवं प्रेमी के जीवन की करुण स्थिति की अभिव्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ी है। लगता है मानो शब्दों के द्वारा जायसी ने एक कवि एवं सच्चे प्रेमी का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है—"मुहमद कवि जो पेम का, ना तब रकत न माँसु।" स्वयं जायसी भी इसी चिन्ताधारा से आग्रस्त एवं अनुप्राणित थे। किसी अँग्रेजी के कवि की निम्न लिखित पंक्तियों की महाप्राणता में जायसी का पद ठहरता है:—(उदाहरण स्मृति से दिया जा रहा है)

"The lunatic, the lover and the poet,
are the imagination of all compact."

अर्थात् पागल, प्रेमी एवं कवि की स्थिति एक जैसी होती है। "हिअ भंडार",··· "धूर लपेटा मानक छपा" आदि उक्तियों में 'रूपक' अलंकार की अपूर्व छटा विद्यमान है।

शब्दार्थः—अस्थानू = स्थान। तहवाँ = वहाँ। बखानू = वर्णन। भजा = किया। टूट सँवारेहु = त्रुटि शुद्ध करना। मेरएहु सजा = मुझे सजा देना। पछिलगा = पिछलग्गू। किछु = कुछ। तबल = नगाड़ा या तबला। डगा = छड़ी। हिअ = हृदय। नग = रत्न। तारा = ताला। कूंजी = ताली। कै = लगाकर। बोला = शब्द। पेम = प्रेम। सुरस — मधुर रस। अमोला = मूल्यवान। घाया = घाव। छाया = विश्राम। फेरे भेसे = रूप बदलकर। भा = हुआ। तपा = तप करता हुआ, तपस्वी। माणिक = एक रत्न। छपा = छिपा हुआ। रकत = खून।

(२४)

सन नौंसे सेंतालीस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै॥
सिंहल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीं ढिल्ली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेका आई। हिन्दू तुरुकहि भई लराई॥
आदि अन्त जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चोपाई कहै॥

कवि बिग्रास रस कौंला पूरी । दूरहि निअर निअर भा दूरी ।।
निअरहि दूरि फूल सँग काँटा । दूरि जो निअर जस गुर चाँटा ।।
भँवर आइ बनखंड हुति लेहि कंवल के बास ।
दादुर बास न पावहिं भलेहिं जो आछहिं पास ।।२४।।

भावार्थ—(कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में सारी पद्मावत कथा की अत्यधिक अलंकारिक भूमिका बाँधते हैं।)

सन् हिजरी ६४७ (१५४० ई०) था जब कवि ने पद्मावत काव्य की कथा को कहना आरम्भ किया। सिंहल द्वीप की रानी पद्मिनी को चित्तौड़ का राजा रत्नसेन अपने महल या किले में ले आया। दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी से राघवचेतन नामक व्यक्ति ने पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया। यह सुनकर दुश्चरित्र अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के क़िले पर हमला कर दिया—उसे घेर लिया। मुसलमान और हिन्दुओं में लड़ाई हुई। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक जैसी कथा थी, जायसी ने उसे अवधी भाषा एवं चौपाई छंद में कहा है। कवि व्यास की भाँति जायसी ने इस कथा में कमल का रस भर रक्खा है। तात्पर्य यह है कि काव्य रसिक भँवरों के लिये इस कथा का कमल जैसा प्रेमरस आकर्षित करेगा। फिर भी भिन्न-भिन्न पात्रों के अनुसार इसका आस्वादन तदनुकूल ही सम्भव है। क्योंकि किसी को पास की वस्तुएँ भी दूर दिखलाई पड़ती हैं और किसी को दूर की भी पास दिखलाई पड़ती हैं। तात्पर्य यह है कि इस कथा के कथानक में, सूफियों के दर्शन अनुकूल इश्क मजाजी और इश्क हकीकी (सांसारिक प्रेम और अलौकिक प्रेम) के स्थूल-सूक्ष्म दोनों ही भाव व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किये जायँगे। फूल और काँटा संग होकर भी ये दोनों अपने-अपने गुण की दृष्टि से सदैव परस्पर दूर ही बने हैं। (यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है) तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु को अच्छा अच्छे रूप में समझता है और बुरा बुरे रूप में। (पद्माकर काव्य के सम्बन्ध में जायसी को भी प्रतीत हो गया था कि उसे लौकिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में लिया जायगा। कवि की यह भविष्य-दृष्टि सराहनीय कही जायगी।) दूसरी ओर गुड़ और चींटी यद्यपि दूर-दूर होते हैं किन्तु दोनों का सम्बन्ध, दोनों का परिचय, अत्यधिक व्यापक है। दूर···गुड़ की सुगन्ध सूँघते ही चींटी उसके निकट आ जाती है। (तात्पर्य यह है कि जायसी के लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना में भी—इश्कमाजाजी में भी—सन्त लोगों को अलौकिक प्रेम—इश्क हकीकी—की अनुभूति मिलेगी। फूल और काँटा, गुड़ और चींटी की अलंकारिक छटा सुन्दर कही जायगी।)

(आगे एक और सुन्दर उदाहरण द्वारा जायसी कहते हैं) भौंरा कमल की रस-गंध दूर जंगल से उड़कर आकर लेता है किन्तु मेंढक जो सदा कमल के पास ही रहता है, वह कभी उसकी रस-गन्ध नहीं ले पाता। तात्पर्य यह है कि पात्र-पात्र के अनुकूल वस्तु का महत्व घट-बढ़ जाता है, इस पद्मावत काव्य की भी यहीं स्थिति है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गहन दार्शनिक भाव की स्पष्टता है। "हम अपने गुणों के

अनुसार गुण को वर्तते हैं"—इस कथन को कई उदाहरण, अलंकारों से स्पष्ट किया गया हैं। उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास एवं अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक है।

नोट—कथा आरम्भ की पाठ पंक्ति "सन नौ से सत्ताइस अहै।" भी कही जाती है। पर यह कहां तक ठीक है, कहा नहीं जा सकता।

शब्दार्थ—अहा = था। बैन = वचन। आनी = लाया। ढिल्ली = दिल्ली। छेंका = हमला। कथ्था = कथा। भाषा = अवधी भाषा। बिआस = व्यास कवि। कौंला = कमल। निअर = पास। बनखंड = जंगल। कँवल = कमल। दादुर = मेंढक। आछहि = अच्छे। पावहिं = पाता है।

●

२--सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड

(२५)

सिंहल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं॥
बरन क दरपन भाँति बिसेखा। जेंहि जस रूप सो तैसेइ देखा॥
धनि सो दीप जँह दीपक नारी। औ सो पदुमिनि दइअ अवतारी॥
सात दीप बरनहिं सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू॥
दिया दीप नहिं तस उजियारा। सराँ दीप सरि होइ न पारा॥
जंबू दीप कहौं तस नाहीं। पूज न लंक दीप परिछाहीं॥
दीप कुसस्थल आरन परा। दीप महुस्थल मानुस हरा॥
सब संसार परथमैं आए सातौं दीप।
एकौ दीप न उत्तिम सिंघल दीप समीप॥ २५॥

भावार्थ—कविवर जायसी ने प्रस्तुत छन्द में सिंहलद्वीप की रूपवती नारी पद्मावती का सौन्दर्य सातों द्वीपों की सुन्दरियों से उत्तम बताया है। पर ये सातों द्वीप, जो छन्द में आए हैं, उनके नाम प्रायः जायसी की कल्पना पर आधारित हैं। सात द्वीपों के नाम इस प्रकार हैं—दियादीप, सरनदीप, जम्बूद्वीप, लंकाद्वीप, कुसस्थल-द्वीप, महुस्थल द्वीप और पद्मिनी सम्बन्धी वर्णित सिंहलद्वीप। पद्मावती का रूप दिव्य बताया गया है।

कविवर जायसी कहते हैं कि अब मैं सिंहलद्वीप की कथा कह रहा हूँ। और उस पद्मिनी सुन्दरी का वर्णन करके सुना रहा हूँ जिसका रूप-वर्ण दर्पण जैसा उज्ज्वल है। जिसका जैसा रूप-भाव हैं वह उस दर्पण में वैसा ही रूप देखता है। (तुलसी ने भी कहा है—**"जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति तिन देखी तैसी"**) तात्पर्य यह है कि पद्मिनी का स्वरूप दिव्य एवं परम है; किन्तु वर्णन में वह लौकिक भी है। वह सिंहलद्वीप धन्य है

कि जिसमें ईश्वर ने वहाँ की नारियों को दीपक की भाँति समुज्ज्वल बनाया है। उनमें वर्णित पद्मिनी तो मानो अवतार स्वरूप ही है। संसार में लोगों ने सात द्वीपों का वर्णन गिनाया है, किन्तु कोई भी इनमें से सिंहलद्वीप जैसा उत्तम नहीं है। तथाकथित दियादीप उसके जैसा प्रकाशवान नहीं है, सरनद्वीप भी नहीं है, और न जम्बूद्वीप ही उसकी समता कर सकता है। लंका द्वीप उसकी छाया की भी बराबरी नहीं कर सकता। कुसस्थल द्वीप तो जंगल है, उसकी उससे भला क्या समानता है? और महुस्थल द्वीप भी तो निर्जन है—वह भी सिंहल द्वीप के समान नहीं हो सकता।

कविवर जायसी कहते हैं कि पहले-पहल संसार में यही सातों द्वीप बने किन्तु इनमें से एक द्वीप भी सिंहलद्वीप की अपेक्षा उत्तम नहीं कहा जा सकता।

विशेष—पद्मिनी के रूप सौन्दर्य में दिव्यता की व्यंजना—

"बरनक दरपन भाँति बिसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा॥"

उक्ति में सुन्दर बन पड़ी है। सिंहल द्वीप की तुलना सातों द्वीपों से नहीं होती अतः 'असम' अलंकार स्वाभाविक है।

शब्दार्थ—बरनि=कहकर। बरनक=रूप-वर्ण। औ सौ=उनमें। दइअ=प्रभु। सात दीप=सात दीपों के नाम ऊपर गिना दिये गए हैं। ओहि=उसके। सरि=बराबर। पूज=प्रतिस्पर्धा। तस=ऐसा। आरन=अरण्य या जंगल। मानुस हरा=निर्जन। परथमैं=प्रथमतः पहले। उत्तिम=अच्छा। (Better) सिंहल द्वीप=सीलोन से तात्पर्य भी हो सकता है।

(२६)

गंध्रपसेन सुगंध नरेसू। सो राजा यह ताकर देसू॥
लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥
छप्पन कोटि कटक दर साजा। सबै छत्रपति औरँगन्ह राजा॥
सोरह सहस घोर घोरसारा। सांवकरन बालका तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंघली। लिमि कबिलास एरापति बली॥
असुपति क सिरमौर कहावा। गजपती क आँकुस गज नावा॥
नरपती क कहाव नरिंदू। भुअपती क जग दोसर इंदू॥
अइस चक्कवै राजा चहु खंड भै होइ।
सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोइ॥२६॥

भावार्थ—गन्धर्वसेन नामक एक प्रतापी राजा था। वह इस द्वीप, सिंहल द्वीप का राजा था और यह उसका देश था। लंका के राजा रावण का राज्य जैसा सोने का सुना गया है, गन्धर्वसेन का राज-साज उससे भी बढ़कर है। इसके यहाँ छप्पन करोड़ बहादुर वीरों की सेना सजती है। सभी राजाओं में यह सम्पन्न तत्त्ववाला है। तात्पर्य यह कि गन्धर्वसेन का शासन सर्वोपरीय है। उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े और घुड़सालें हैं। उसके यहाँ अच्छी-अच्छी नस्लों के—श्यामकर्ण एवं तुरकी सफेद बाँके घोड़े हैं। उसके

सिंहलद्वीपी सात हजार हाथी-दल हैं जो स्वर्ग के इन्द्र वाले ऐरावत हाथी जैसे बहादुर हैं। वह अश्वपति राजाओं का सिरमौर है और गजपतियों को हाथियों के अंकुश से झुकाए रहता है। तात्पर्य यह है कि गन्धर्वसेन की वीरता और उसके शासन का अंकुश बड़े-बड़े हाथियों पर चढ़नेवाले राजाओं को विनत किये रहता है। वह नरपतियों का सम्राट—नरेन्द्र— कहाता है। राजाओं के लिए दूसरा इन्द्रस्वरूप है।

गन्धर्वसेन चारों खण्डों का चक्रवर्ती शासक है। सभी इसके समक्ष आकर नत-शिर होते हैं। कोई इसके आड़े नहीं आता—बराबरी नहीं करता।

विशेष—छन्द की तीसरी पंक्ति में अतिशयोक्ति, पाँचवीं पंक्ति में रूपक अलंकार की शोभा विद्यमान है। इसमें चारण कवियों की वीरगाथा पद्धति का भी आभास होता है।

शब्दार्थ—गंधपसेन = गंधर्वसेन नामक सिंहलद्वीप का राजा। सुगंध = प्रतापी। नरेसू = राजा। सो = वह। ताकर = इसका। कटक दर = वीरों की सेना था लश्कर। औरंगन्ह = तख़्त वाले। सहस = हजार। घोर = घोड़ा। घोरसाला = घुड़साल। साँवकरन = श्यामकर्ण वाले घोड़े। तुखारा = तुरकी। बालका = बाँके। हस्ती = हाथी। कविलास = स्वर्ग। असुपति क = घोड़ेवाले राजा का। सिरमौर = सिरताज। कहावा = कहा जाता है। गजपति क = हाथीवाले नरेशों का। आँकुस = अंकुश। क = का। नरिंदु = नरेन्द्र। भुअपतिक = भूपतियों का। दोसर = दूसरा। इंदू = इन्द्र। अइस = ऐसा। चक्कवै = चक्रवर्ती। भै = में। नावहिं = झुकाये हुए, विनत। सरवरि = समता या बराबरी।

(२७)

जबहि दीप निअरावा जाई। जनु कबिलास निअर भा आई॥
घन अंबराऊं लाग चहुँ पासा। उठै पहुमि हुति लाग अकासा॥
तरिवर सबै मलै गिरि लाए। भै जग छाँह रैन होइ छाए॥
मलै समीर साहाई छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥
ओहि छाँह रैनि होइ आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै॥
पंथिक जो पहुँचै सहि घामू। दुखबिसरै सुख होइ बिसरामू॥
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा॥
अस अँबराऊँ सघन घन बरनि न पारौं अंत।
फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसंत॥२७॥

भावार्थ—(कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सिंहल-बसंत-द्वीप की महत्ता का वर्णन बड़े उत्कृष्ट एवं रहस्यवादी ढंग से करते हुए लिखते हैं):—

जब इस द्वीप के निकट होते हैं तो लगता है मानो स्वर्ग निकट आ गया है, अथवा हम स्वर्ग के निकट पहुँच गए हैं। (उत्प्रेक्षा अलंकार)

चारों तरफ, ओर-पास आम के घने बाग हैं। पेड़ पृथ्वी से आकाश को छूते हैं—

क्योंकि बड़े-बड़े हैं।

यहाँ सारे वृक्ष मलयाचल से लाकर लगाए गए हैं। उनकी छाँह से लगता है कि जग में रात हो गई है (उत्प्रेक्षा अलंकार है)।

यहाँ शीतल मन्द समीर एवं सुखदाई छाया है। जेठ की तपन में भी शीतलता समाती है।

उस छाया में रात प्रतीत होती है। समस्त आकाश हरा-भरा आकर्षक प्रतीत होने लगता है।

कोई राहगीर यदि धूप सहकर वहाँ पहुँच जावे तो वह दुःखों को भूलकर सुख और आराम को प्राप्त करेगा।

जिसे वह रहस्यमयी अपूर्व छाया मिल जाती है, वह फिर इस संसार की कठोर धूप सहने नहीं आता। (यहाँ रहस्यवादी, ईश्वर के प्रेम लोक में पहुँचने की व्यंजना है। समासोक्ति अलंकार है)

यहाँ ऐसा सघन आम्र बन है, जायसी कहते हैं कि, मैं उसकी महत्ता का वर्णन करते अन्त नहीं पा सकता। यह आम्र बन सदा छः ऋतुओं में फलित, पुष्पित और पल्लवित बना रहता है। यहाँ चिर बसन्त समझना चाहिए।

विशेषः—६टवीं पंक्ति में रहस्यवादी अभिव्यंजना है, ऐसी अभिव्यंजनाओं के कारण ही जायसी का पद्मावत उत्कृष्ट प्रेमकाव्य कहा जाता है। प्रकृति का मधुर चित्रण सारे पद में परिव्यक्त हुआ है। अलंकार उत्प्रेक्षा एवं समासोक्ति है।

शब्दार्थ—निअरावा=पास आना। कबिलास=स्वर्ग। जनु=मानो। घन=घने। अँवराउ=आम्रवन। चहुँपासा=चारों ओर। हुति=से। मलेगिरी=मलयाचल। तरिवर=पेड़। जाड़=शीत। हरिअर=हराभरा। घामू=धूप। बिसरै=भूल जाय। बिसरामू=विश्राम। बहुरि=फिर। बरनि न पारौ=वर्णन नहीं कर पाता।

(२८)

फरे आँब अति सघन सुहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए॥
कटहर डार पींड सों पाके। बड़हर सोउ अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जाँबु जो पाकि भँवर असि डीठी॥
नरिअर फरे फरी खुरहुरी। फुरी जानु इन्द्रासन पुरी॥
पुनि महु चुवै सो अधिक मिठासू। मधु जस पीठ पहुप जस बासू॥
और खजहजा आव न नाऊँ। देखा सब रावन अँबराऊँ॥
लाग सबै जस अंम्रित साखा। रहै लोभाइ सोइ जोइ चाखा॥
गुआ सुपारी जायफर सब फर फरे अपूरि॥
आस पास घनि इँबिली औ घन तार खजूरि॥२८॥

भावार्थः—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में प्रकृति की शोभा का इतिवृत्त वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

सिंहल द्वीप के बगीचों में अत्यधिक आम फले हैं जो बड़े सुन्दर लग रहे हैं। जिस प्रकार से वे खूब फल रहे हैं उसी प्रकार सिर भी झुकाये हुए हैं (यहाँ अन्योक्ति का आभास भी है कि अत्यधिक सम्पन्न होने पर मनुष्य को विनत हो जाना चाहिये; गर्व नहीं करना चाहिए।) जड़ों से कटहल और डाल पके हुए हैं। बाग के बड़हर भी अनुपम शोभा को प्राप्त हो रहे हैं। खिरनी पकी हुई खांड या शकर जैसी मीठी हो गई है। पकी जामुने भौरों जैसी काली एवं लुभावनी लग रही हैं (यहाँ उपमा अति स्वाभाविक है) नारियल एवं खुरहुरी पकी हुई है। इस दृश्य को देखकर लगता है कि सचमुच यह इन्द्रपुरी हो। फिर मधूक टपकता है जो अत्यधिक मिठास से पूर्ण है। इसके पुष्प में शहद जैसी मीठी-भीनी सुगंध आ रही है। अन्य खाने वाले फल मेवों के नाम–कविवर जायसी कहते हैं, कि मैं नहीं जानता; फिर कैसे वर्णन करूँ ? ये सब तो रावण के बगीचे में ही देखे गए हैं। सब पेड़ की शाखाएँ जैसे अमृतमई लग रही हैं। जिसने इनके फलों का स्वाद लिया है, वह मुग्ध हो गया है।

लोंग, सुपारी और जायफल—सभी पूर्णतः फले हुए हैं। इधर-उधर घने इमली, ताड़ और खजूर के वृक्ष भी शोभायमान हैं।

शब्दार्थः—फर = फले हुए। आँब = आम। सघव = घने। सुहाए = शोभायमान। नाए = झुकाये। पींड = जड़। असि = ऐसी। जंमु = जामुन। डीठी = दीख पड़ती है। खुरहरी = एक प्रकार की फल देने वाली बेल। फुरी = सत्यता में। महु = मधूक। पहुप = फूल। खगहजा = खानेवाले फल-मेवे। नाऊ = नाम। अँबराऊ = बगीचा। अँब्रित साखा = अमृतमयी शाखाएं। अपूरि = पूर्णतः। इँबिली = इमली। घनि = घनी। घन = घने।

(२६)

बर्साहि पंखि बोलहिं बहु भाषा। करहि हुलास देखि के साखा॥
भोर होत बासहिं चुहचुही। बोलहिं पाँडुक एकै तुहीं॥
सारौ सुवा सो रहचह करहीं। गिरहिं परेवा औ कर बरहीं॥
पिउ पिउ लागै करैं पपीहा। तुही तुही कह गुडुरू खीहा॥
कुहू कुहू कोइल करि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा॥
दही दही कै महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनि हारा॥
कुहकहिं मोर सुहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा॥
जाँवत पंखि कहे सब बैठे भरि अँबराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउं॥२६॥

भावार्थ:—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी पक्षियों की स्वरलिपि को यथातथ्य रूप में वर्णन करते हुए परमेश्वर की व्यापक आराधना का भाव व्यंजित कर रहे हैं—

सिंहल के बागों में अनेकानेक पक्षी रहते हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियां बोलते हैं।

वे हरीभरी शाखाओं को देखकर आनन्द विभोर होते हैं। प्रातःकाल होते ही चुहचुही बोलने लग जाती है। ईश्वर की याद में पाँडुक "दाता तू" रटने लगता है। तोता मैना कलरव करने लगते हैं। 'कबूतर उड़कर गिरते हैं एवं 'गुटुरगूं' करते हैं। पपीहा 'पी पी' करने लगता है। गुडुरू "तुही तुही" बोलकर ईश्वर का नाम लेती है। 'कू-कू' कोयल आलापने लगी है। भौंरे 'गुनगुन' की बोली मैं, अस्पष्ट भाषा में गुंजार करने लगते हैं। ग्वालिनि मादा पक्षी "दही दही" का स्वर पुकारने लगती है। हारिल पक्षी अपनी स्थिति का स्वर बोलता है। कुहुकते हुए मोर भले लगते हैं। कौवों के "काँव काँव" बोलने का कोलाहल होता है।

जितनी भाँति के पक्षी कहे जाते हैं सभी सिंहल की अमराइयों में बैठे हुए अपनी-अपनी बोलियों में प्रभु का नाम स्मरण करते हैं।

विशेषः—प्रकृति निरीक्षण सम्बन्धी मानोविज्ञान का इस अंश में बड़ा नैसर्गिक निरूपण है। कविवर जायसी इस कला में निपुण कहे जा सकते हैं। प्रत्येक पक्षी के स्वरा-लाप में एक नैसर्गिक आनन्द, भोग, प्रभु-स्मरण एवं मनोदशा का भाव व्यंजित है—यहीं जायसी की पैठ गहरी कही जायगी।

शब्दार्थ—बसहि = रहते हैं। बहु = अनेक। हुलास = आनन्द, हर्ष। साखा = शाखा। बासहि = बोलती है। चुहचुही = एक छोटी फूल सूँघनेवाली सुन्दर चिड़िया। पाँडुक = पक्षी। तुही = तू ही अर्थात् ईश्वर। सारी = मैना। रहचह = चहचहाकर परस्पर प्रेम वार्तालाप करना। परेवा = कबूतर। करबरही = गुटरगूं। गुडुरू = एक पक्षी। भिंगराज = भँवरा। महरि = ग्वालिन मादा पक्षी। हारिल = एक चोंच में लकड़ी दबाए रखने वाला कवियों का प्रिय पक्षी। हारा = कैफियत, स्थिति। बिनवै = निवेदन करता है। कुहकहिं = बोलते हैं। कोराहर = शोर। जाँवत = जितने। दइअ = ईश्वर। कर = का। नाँउ = नाम। आपनि = अपनी।

(३०)

पँग पँग पर कुआँ बावरी। साजी बैठक औ पाँवरी॥
और कुंड बहु ठाँवहि ठाऊँ। सब तीरथ औ तिन्हके नाऊँ॥
मढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे॥
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी॥
कोइ ब्रह्मचर्ज पंथ क लागे। कोइ दिगम्बर आछहि नाँगे॥
कोइ सुरसुतीं सिद्ध कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी॥
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देवी सती॥
सेवरा खेवरा बानपरस्ती सिध साधक अवधूत॥
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत॥ ३०॥

भावार्थ—कविवर जायसी सिंहलद्वीप की नगर व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सिंहल में पग-पग पर कूएँ एवं बावरियाँ बनी हुई हैं; जिन पर स्थान-स्थान पर बैठने के लिये बुर्ज एवं सीढ़ियाँ निर्मित हैं। चारों तरफ मठ-मंडप बने हैं, जहाँ पर जप-तप करने वाले लोग साधनासीन हैं। स्थान-स्थान पर कुण्ड हैं, जो सब तीर्थों के नाम से विख्यात हैं। इन जप-तप करने वालों में कोई ऋषि है तो कोई संन्यासी है। कोई रामायणी है तो कोई औघड़ मरघट का हठयोगी है। कोई ब्रह्मचारी पंथ का है तो कोई नग्न है, एवं दिगम्बर सम्प्रपाय का अनुयायी है। कोई दसनामी साधु है, कोई सिद्ध है, कोई योगी है, तो कोई विरक्त उदासी मार्ग का सन्त है। कोई शैव है, कोई जंगम यती है, तो कोई देवी का पुजारी है।

सेवरा, खेवरा, वानप्रस्थ, सिद्ध साधक और अवधूत योगी—इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर के अनुयायी साधु-सन्त वहाँ पर साधनासीन हैं और मन तथा इन्द्रियों का दमन कर रहे हैं। वे आत्मतत्व को पाने की साधना में रत हैं।

शब्दार्थ—पैग=कदम। बैठक=बुर्ज या चौकी। बहु=बहुत। तिन्ह=उनके। नाऊँ=नाम। चाहु पास=चारों ओर। जपा-तपा=जप-तप करने वाले लोग। रिखेस्वर=ऋषिश्वर। रामजन = रामभक्त, रामायणी। मसवासी=मरघट में साधना करने वाला, औधर योगी। आछहिं=हैं। नाँगे=नग्न। सरसुती=दसनामी साधू। महेसुर=शैव साधु। जती=साधु। बानप्रस्थ = भगवद्भक्ति का, चार आश्रमों में एक आश्रम—वानप्रस्थ आश्रम। अवधूत = सिद्ध योगी। जारि = जलाना, तपाना।

(३१)

मान सरोदक देखिअ काहा। भरा समुंद अस अति अवगाहा॥
पानि मोति अस निरमर तासू। अंब्रित बानि कपूर सुबासू॥
लंक दीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥
खँड खँड सीढ़ी भईं गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी॥
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन्ह कर छाता॥
उथलहिं सीप मोति उतराहीं। चुगहिं हंस औ केलि कराहीं॥
कनक पंखि पैरहिं अति लोने। जानहु चित्र सँवारे सोने॥
उपर पाल चहुँ दिसि अंब्रित कर सब रूख।
देखि रूप सरवर कर गइ पिआस औ भूख॥ ३१॥

भावार्थ—(कविवर जायसी यहाँ सिंहल के मानसरोवर की शोभा का वर्णन करते हुए लिखते हैं)—

मानसरोवर की शोभा का क्या दृश्य वर्णन किया जाय? वह समुद्र के समान अथाह गहरा है। उसका जल ऐसा है जैसे निर्मल मोती हो, और वह कपूर की सुगन्ध से युक्त, अमृत जैसा मीठा है। लंका द्वीप से अनोखे पत्थरों को मँगवाकर उस सरोवर का घाट निर्मित कराया गया है। खण्ड-खण्ड पर घुमावदार सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, जिन पर लोग चढ़ते-उतरते रहते हैं। लाल कमल उस तालाब में खिल रहा है और उस पर सहस्रों

पँखुड़ियों का छाता तना है (यहाँ सुन्दर 'उपमा' अलंकार का योग है) तालाब में सीपियाँ प्रस्फुटित होती हैं और उनमें से झिलमिल मोती निकलते हैं। और हंस आमोद करते हुए इन मोतियों को चुगते हैं। ये हंस अपने स्वर्णिम पंखों से जल में तैरते हुए ऐसे लगते हैं मानो सोने के चित्र, जल के ऊपर बना दिये गये हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार)

तालाब के चारों ओर ऊँचा बाँध है। जिस पर अमृत-फल वाले समस्त वृक्ष उगे हुए हैं। इस सरोवर का सौंदर्य देखकर जायसी कवि कहते हैं कि सारी भूख प्यास चली जाती है।

विशेष—यहाँ वर्णन में कितनी सजीव चित्रावली प्रस्तुत की गई है ! इस प्रकार का वर्णन संस्कृत के कवियों ने भी प्रकृति के आलम्बन रूप-चित्रण में खूब किया है। रघुवंश में कालिदास का यह चित्र भी जायसी के उपरोक्त चित्रण से भाव-साम्य रखता है—

एते वयं सैकत भिन्न शुक्ति-
पर्यस्त मुक्ता पटलं पयोधे:
प्राप्ना मुहुर्तेन विमान वेगात्
कूलं फला वर्जित पूगमालम् ॥

अर्थात्—लो हम विमान के वेग से थोड़ी ही देर में रेत में फटी पड़ी सीपियों से बिखरे मोतियों वाले, फलों से झुके हुए सुपारियों के पेड़ों की मालावाले समुद्र के किनारे आ पहुँचे हैं।

शब्दार्थ—मानसरोदक=मानसरोवर तालाब। अवगाहा=गहरा। पानि=जल। निरमर=निर्मल। तासू=उसका। अंब्रित=अमृत। सुबासू=सुगन्ध। अनाई=मँगाई, यहाँ विचित्र के अर्थ भी संगत हैं। गरेरी=घुमावदार। राता=लाल। उथलहि=फटती हैं। लोने=सुन्दर। रूख=पेड़।

(३२)

पानि भरइ आवहिं पनिहारीं। रूप सुरूप पदुमिनी नारीं ॥
पदुम गंध तेन्ह अंग बसाहीं। भँवर लागि तेन्ह संग फिराहीं ॥
लंक सिंघनी सारँग नैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी ॥
आवहिं झुंड सो पाँतिह पाँति। गवन सोहाइ सो भाँतहि भाँती ॥
केस मेघावरि सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु की नाईं ॥
कनक कलस मुख चन्द दिपाहीं। रहस कोड सों आवहिं जाहीं ॥
जासौं वै हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी ॥
मानहु मैन मुरति सब अछरी बरन अनूप।
जेन्हकी ये पनिहारी सो रानी केहि रूप ॥३२॥

भावार्थ—(कविवर जायसी सिंहलद्वीप की उन पनिहारिनों का रूप चित्रण कर रहे हैं जो मानसरोवर से पानी भरने को आती-जाती हैं।):—

मानसरोवर से पानी भरने के लिए पनिहारिने आती हैं। वे सुन्दर स्वरूप वाली

पद्मिनी जाति की नारियाँ हैं। (कामशास्त्र में हस्तिनी, पद्मिनी आदि नारियों का उल्लेख है; पद्मिनी जाति की नारियाँ सर्वश्रेष्ठ कही गई हैं।) उनके अंग-अंग से कमल की गन्ध निकलती है। भँवरे उनकी सुगन्ध का पान करने उनके पीछे लगे रहते हैं। (यहाँ रसिकों की ओर संकेत है) उनकी कमर सिंहनी के समान पतली एवं नयन मृग की भाँति चंचल, कटाक्षमय हैं। उनकी चाल हंस की चाल जैसी मस्तानी है। उनकी मीठी बोली, कोकिल बोली हैं। वे झुण्डों में कतार बाँधे आती हैं। उनकी नई-नवेली चाल बड़ी मनमोहक हैं। शिख से नख तक उनके घने बाल बादलों की घटा जैसी छटा देते हैं। उनके उज्ज्वल दाँत हँसते हुए ऐसे चमकते हैं जैसे बादलों के बीच बिजली चमक उठती है। स्वर्ण कलश रखे हुए उनका शशि-मुख चमकता है। (रूपक अलंकार) वे रास क्रीड़ा करती हुई आती-जाती हैं। जिस रसिक की ओर वे कटाक्ष से देख लेती हैं, मानो उसको कटार रूपी तिरछे नयनों ने गहरा घायल कर दिया हो। (यहाँ उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकार है)।

रूप-वर्ण में अनुपमेय वे नारी-अप्सराएँ ऐसी हैं मानों कामदेव की साक्षात् मूर्तियाँ हों। (उत्प्रेक्षा है) जिनकी ये पनिहारिनें ही इतनी सुन्दरी हैं भला वहाँ की रानी का कितना रूप सौंदर्य होगा—यह बात कल्पनातीत है।

विशेष—सरल सामान्य नारी जीवन के रूप सौंदर्य को किस सजीव चित्र के रूप में जायसी ने प्रस्तुत किया है। सौन्दर्य के कवि 'कीट्स' ने भी ऐसे चित्र अपने काव्य में प्रायः दिये हैं। उद्दीप्त नख-शिख शृङ्गार वर्णन यहाँ प्रधान न होकर नारी के नैसर्गिक रूप की अनुभूति को जायसी ने अभिव्यक्ति दी है। प्रत्येक उपमा उत्प्रेक्षा में एकदम स्वस्थता और ताज़े गुलाब की जैसी महक है। वर्णन में भाव साकार हो गए हैं। ऐसे रूप चित्र सिद्धहस्त कवि ही दे पाते हैं; और जायसी का उनमें स्थान ऊँचा है।

शब्दार्थ—बसाई = सुवासित हैं। लागि = लगे हुए। तेन्ह = उनके। लंक = कमर। सारंग = मृग। गवन = चलना। केस = बाल। सिर ता पाई = सिर से पैर तक। दसन = दाँत। बीजु = बीजली। रहस = रास। कोड = क्रीड़ा। चख = आँख। बाँक = तिरछे। हनहिं = बेधती हैं। मैन = कामदेव। अछरा = अप्सरा। बरन = वर्ण, रूपरंग।

(३३)

ताल तलावर बरनि न जाहीं। सूझइ वार पार तेन्ह नाहीं॥
फूले कुमुद केत उजिआरे। जानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहि मेघ चढ़हि लै पानी। चमकहिं मंछ बीजु की बानी॥
पैरहिं पंखि सों संगहि संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरहिं औ दिनहिं मिलाहीं॥
कुरलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा॥
कँवा सोन ढेक बग लेदी। रहे अपूरि मीन जल भेदी॥

नग अमोल तेन्ह तालन्ह दिनहिं बरहिं जनु दीप।
जो मरजिआ होइ तहँ सो पावइ वह सीप ॥३३॥

भावार्थ—कविवर जायसी सिंहलद्वीप के मानसरोवर ताल की अभिनव प्राकृतिक शोभा का वर्णन करते हुए उसे ईश्वर की रहस्यमयी अभिव्यंजना प्रदान कर रहे हैं। अंतिम पंक्ति में—**"जो मरजिआ होइ तँह, सो पावइ वह सीप"** में रहस्यवादी संकेत है। साधक साध्य के साधना-सागर में डूबकर ही प्रभु रूपी अलभ्य सीपी को प्राप्त कर मोती पा सकता है। शेष सब वर्णन प्रकृति की शोभा से पूर्ण है किंतु वे सब प्राकृतिक उपकरण परमेश्वर की शोभा पर आकर्षित हैं, पर उसे पाने में विवश हैं।

सिंहल के ताल-तलैयों का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका अथवा उनकी रूप-छटा का कोई छोर नहीं है। उज्ज्वल कमल इसमें खिले हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आकाश में झिलमिल तारे उदित हों। (उत्प्रेक्षा) आकाश से बादल इस तालाब में पानी लेने के लिये आते हैं और फिर आकाश की ओर उड़ जाते हैं। सरोवर में मछलियां विजली की भाँति चमकती हैं। (उपमा अलंकार) सरोवर में भाँति-भाँति के लाल, पीले, श्वेत रंग के जलचर पक्षी जल-बिहार करते और तैरते फिरते हैं। यहाँ चकई-चकवा परस्पर आमोद-प्रमोद करते हैं। दिन में वे एक रहते हैं किंतु रात को विलग हो जाते हैं। सारस प्रसन्न होकर बोलते हैं और मानो कहते हैं कि हमारा जीवन-मरण साथ ही होवे। तालाब के ऊपर केंवा, सोन, ढेक, बगुला एवं लेदी पक्षी उड़-उड़कर पानी में तैरती मछ-लियों को गिर-गिरकर पकड़ते हैं और उनको तालाब से कम करते हैं।

मूल्यवान रत्न इस सरोवर में झिलमिलाते हैं। लगता है मानो दिन में ही दीपक जल रहे हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) इस सरोवर के मोतियों को वही प्राप्त कर सकता है जो जान की बाज़ी लगाकर गोता खा सकता है (समसोक्ति है। यहाँ साधक की व्यंजना है, जो ईश्वरीय प्रेम के मुक्ताओं को जान को हथेली पर रख कर ही पा सकता है।)

शब्दार्थ—सूझहि=दीखना। वारपार=छोर। कुमुद=कमल। उए=उदित हुए। मँह=में। मंछ=मछली। बीजु=बिजली। बानी=रंग, छवि। कुरलहि=बोलते हैं। पैरहि=तैरते हैं। पंखि=पक्षी। सेत=सफेद। केलि=क्रीड़ा। निसि=रात। हुलासा=हर्ष में। जिअन=जीवन। मुअहिं=मृत्यु। एक पासा=साथ-साथ या निकट। केंवा, सोन, ढेक, बग, लेदी=यह जलचर पक्षियों की जातियाँ हैं। जल भेदी=जल को भेदकर। नग=रत्न। बरहि=जलते हैं। मरजिआ=जान की बाजी लगाकर गोता खाने वाला गोता खोर।

(३४)

पुनि जो लाग वह अंब्रित बारी। फरी अनूप होइ रखवारी॥
नवरँग नीव सुरँग जँभीरा। औ बादाम बेद अंजीरा॥
गलगल तुरँज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे॥

किसमिस सेब फरे नौ पाता । दरिवँ दारव देखि मन राता ।।
लागि सोहाई हरपारेउरी । ओनइ रही केरन्ह की घउरी ।।
फरे तूत फमरख औ निउँजी । राय करौंदा बैरि चिरउँजी ।।
संखदराउ छोहरा डीठे । औरू खजहजा खाटे मीठे ।।
पानी देंहि खँउवानी कुअँहि खाँड बहु मेलि ।
लागीं घरी रहट की सींचहि अंब्रित बेलि ।।३४।।

भावार्थ—(कविवर जायसी सिंहलद्वीप की वाटिका की हरीभरी शोभा का इतिवृत्त वर्णन करते हुए लिखते हैं)—

फिर जो बहुत-सी अमृतमई वाटिकाएँ लगी हैं वह बेहद फली-फूली हुई हैं, और उनकी खूब रखवाली होती है। नारंगी, नीबू, सुरंगीन जँभीर और बादाम, बेदाना अनार, अंजीर, बड़ा नीबू (गलगल) तुरंज, सदाफल फले हुए हैं। सुर्ख नारंगियां रस से भरी हुई हैं। नूतन पक्तियों के बीच किशमिश एवं सेव के पौधे फले हुए हैं। दाड़मीं और दाख को देखकर जी पुलकायमान होता है। लवली शोभायमान हो रही है। केलों की गुच्छियाँ झुकी हुई हैं। शहतूत, कमरख और लीची; राम करोंदा, बेर, चिरौंजी, संतरा, छुआरा दृष्यमान हैं। दूसरे खट-मितरे फल भी दृष्यमान होते हैं। कूओं के पानी में शक्कर डाल-डालकर इन वृक्षों को सींचा जाता है, ताकि इनके फल मीठे हों। रहट की घरियाँ लगी हुई हैं जो यहाँ की अमृतमई बेलों को सींचती हैं।

विशेष—पिछले अंशों में भी जायसी का प्राकृतिक वर्णन अत्यंत निरीक्षणमय है। आलम्बन रूप में भी जायसी का प्रकृति चित्रण अपने में विशिष्ट है—साकार है।

शब्दार्थ—पुनि = फिर। अंब्रितबारी = अमृत की वाटिका। अनूप = अनोखी। फरीं = फली हुई। नवरंग = नारंगी। बेद = बेदाना अनार। गलगल = बड़ा नीबू। तुरंज, सदाफर = फलों की जातियाँ। नौ पाता = नए पत्ते। दाखि = दाड़मी। राता = पुलकायमान। हरपारेउरी = लवली। ओनइ = झुकी हुई। केरन्ह = केलों की। घउरी = गुच्छीयाँ। तूत = शहतूत। निऊँजी = लीची। संखदराउ = शंतरा। डीठे = दृष्यमान। खंडवानी = खाँडसारी या खाँड का रस। मेलि = मिलाकर। घरी = रहट की छोटी पानी खींचने वाली घरियाएँ या घन्टियाँ।

(३५)

पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा । बिरख बेधि चंदन भै बासा ।।
बहुत फूल फूली घन बेली । केवरा चंपा कुंद चँबेली ।।
सुरँग गुलाल कदम औ कूजा । सुगंध बकौरी गंध्रप पूजा ।।
नागेसरि सदबरग नेवारी । औ सिंगारहार फुलवारी ।।
सोन जरद फूली सेवती । रूप मंजरी औ मालती ।।
जाहि जूही बकचुन लावा । पुहुप सुदर्शन लाग सोहावा ।।
बोलसिरी बोइलि औ करना । सबहि फूल फूले बहु बरना ।।

तेन्ह सिर फूल चढ़ाहिं वै जेन्ह माथें मनि भागु ।
आछहिं सदा सुगंध भे जनु बसंत औ फागु ।।३५।।

भावार्थ—कविवर जायसी पूर्व की भाँति यहाँ भी सिंहलद्वीप की प्राकृतिक शोभा-सुषमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

फिर सिंहलद्वीप के चारों ओर फुलवारी शोभित हैं। वहाँ के वृक्षों को बेंधकर चंदन की वास उनमें समाहित हो गई है। घनवेली पर बहुत से फूल, फूल रहे हैं; वह फूलों से लद रही है। केवड़ा, चम्पा, कुन्द, चमेली, जंगली गुलाब, सुगंधित गुलबकावली, जो गन्धर्वों की पूजा में प्रयोग होती है, नागकेसर गेंदा, नेवारी, हारसिंगार की फुलवारियाँ हैं। सोनजरद, सेवती फूली हुई हैं। रूपमंजरी एवं मालती विकसित हैं। जाही, जुही, बकचुन, पुष्प सुदर्शन—ये सभी फूल शोभायमान हैं। मौलश्री, बलि आदि सभी पुष्प अनेकानेक रंगों एवं आकारों के खिले हुए हैं।

ये रंग-बिरंगे सजीव पुष्प, जिनकी अर्चना में उनके शिर पर धारण होते हैं, कविवर जायसी कहते हैं कि उनके लिलार में सौभाग्य मणि जड़ी हुई है। ये फूल सदा सुगंधमय रहते हैं मानो सदा बसंत और फागुन का पुष्पमय वातावरण हो।

शब्दार्थ—चहुँपास=चारों ओर। बिरख=बृक्ष। बेधि=फाड़कर। भैं=हुई। बासा=सुगंध। कूज=जंगली गुलाब। बकौरी=गुलबकावली। गंध्रप पूजा=गंधर्वों की पूजा।

नोट:—भावार्थ में प्रत्येक पुष्प का उल्लेख प्रायः यथास्थल है। उसके अनुसार देखें।

(३६)

सिंघल नगर देखु पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा ।।
ऊँची पंवरी ऊँच अवासा। जनु कबिलास इन्द्र कर बासा ।।
राउ रांक सब घर घर सुखी। जो देखिअ सो हँसता मुखी ।।
रचि रचि राखे चंदन चोरा। पोते अगर मेद औ केवरा ।।
सब चौपारिन्ह चंदन खंभा। ओठंघि सभापति बैठे सभा ।।
जनहुँ सभा देवतन्ह कै जुरी। परी द्रिस्टि इन्द्रासन पुरी ।।
सबै गुनी पंडित औ ग्याता। संसकिरत सबके मुख बाता ।।
अहिक पंथ सवाँरहिं जस सिवलोक अनूप।
घर घर नारि पदुमिनी मोहहिं दरसन रूप ।।३६।।

भावार्थ—कविवर जायसी यहाँ सिंहल देश का आदर्श दृश्य वर्णन करते हैं,—उनका सिंहल देश गाँधी के रामराज्य जैसा ही सत्य एवं काल्पनिक दोनों प्रकार का कहा जायगा। जायसी के सौन्दर्य कल्पना का आधार भी सम्भवतः ऐसा ही है। वह विशेषतः सुन्दर इन्द्रपुरी की शोभा-सुषमा का लोक है।

फिर देखो ये सिंहल नगर बसा हुआ है। वह राजा धन्य है कि जिसका ऐसा सुंदर

देश है। ऊँची-ऊँची सीढ़ियों वाले यहाँ ऊँचे-ऊँचे महल हैं। ऐसा लगता है कि यह इंद्रपुरी है, जहाँ राजा इंद्र रहते हैं। यहाँ धनवान एवं निर्धन,—घर-घर में सभी सुख का समान जीवन व्यतीत करते हैं। जिसे देखो वही प्रसन्न मुद्रा में दिखलाई पड़ता है। यहाँ सबने चंदन की चौकियाँ सुशोभित कर रक्खी हैं और उनपर सुगन्ध हेतु अगर, मेद और केवड़ा चुपड़ रक्खा है। सारे चौपालों में चंदन के खम्भे हैं जिनका आधार लेकर सभा के सभापति विराजमान हैं। ऐसा लगता है कि देवताओं की सभा जुड़ी है और इंद्रपुरी के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। यहाँ सभी विद्वान और गुणी हैं तथा संस्कृत भाषा ही बोलते हैं।

यहाँ सब ऐहिक जीवन को धर्म-कर्म से पवित्र बनाते हैं—अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह सब ऐसा है कि जैसा अनुपमेय शिवलोक हो। ग्रहणीया घर-घर में पद्मिनी सी सुन्दर हैं जो अपने रूप-दर्शन से मन को लुभा लेती हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ नारी और पुरुष महत्तम जीवन के राग से अनुप्राणित हैं।

शब्दार्थ—धनि=धन्य। असि=इस प्रकार का। दसा=नगर। पँवरी= सीढ़ियाँ। अवासा=महल। राउ राँक=राज रंक। चोरा=चबूतरा या चौकियाँ। ओठँधि=आधार लेकर। संसकिरत—संस्कृत भाषा। ओहिक पंथ=ऐहिक जगत का मार्ग।

(३७)

पुनि देखिअ सिंघल की हाटा। नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा॥
कनक हाट सब कुँहकुँह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी॥
रचै हँथोड़ा रूपईं ढारी। चित्र कटाउ अनेग सँवारी॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हीर पँवार अनबन जोती॥
सोन रूप सब भएउ पसारा। धवलसिरी पोतहि घर बारा॥
औ कपूर बेना कस्तूरी। चन्दन अगर रहा भरिपूरी॥
जेइँ न हाट एहि लीन्ह बेसाहा। ताकहँ आन हाट कित लाहा॥
कोई करैं बेसाहना काहू केर बिकाई।
कोई चला लाभ सौं कोई मूर गवाँइ॥३७॥

भावार्थ—कविवर जायसी इस स्थल पर सिंहल नगर के सुन्दर बाजार का चित्रण करते हुए लिखते हैं:—

फिर सिंहल के बाजार को देखो। सब दुकानदारों ने नवों निधियों और लक्ष्मी को यहाँ बाँट रखा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दुकानदार सम्पन्न प्रतीत होता है। इस सोने के बाजार को सौदागरों ने केसर-कुंकुम से लीप-पोत रक्खा है, और ये महाजन उसके अधिकारी बने बैठे हैं। रूप को ढालकर उन्होंने हथौड़ा बना रक्खा है। अनेक प्रकार के चित्रों के कटाव बनाव से यह बाजार सजा रक्खा है। रत्न, पदार्थ, माणिक, मोती, हीरा, पन्ना, आदि की झिलमिलाट है। स्वर्ण के स्वरूप का यहाँ सर्वत्र प्रसार है। घर-द्वार, सफेदी (चूने) एवं रोली से पुते हुए हैं, और कपूर, खस, कस्तूरी, चन्दन, अगर की सुगंध से वे भरपूर हैं। नगर के इस बाजार से जो आदमी कुछ खरीद नहीं करता उसके लिये

और कौन सी बड़ी हाट होगी जहाँ से वह खरीद करेगा ?

इस बाजार में कोई कुछ क्रय करता है और कोई कुछ विक्रय करता है। कोई यहाँ से लाभ लेकर चलता है और कोई यहाँ पर गाँठ की रकम भी गँवा देता है। (यहाँ समासोक्ति से जायसी बतलाते हैं कि यह संसार चकाचौंध में पूर्ण है; यहाँ ईश्वर के स्वरूप की प्राप्ति भी की जा सकती है और जीवन के धन को कोड़ियों के मोल पर भी गँवाया जा सकता है। समझदार व्यक्ति यहाँ ईश्वर के स्वरूप का क्रय करने की साधना करने की फिक्र में रहते हैं। पर मूर्ख ? वह तो हीरे जैसा जनम कोड़ी के बदले में गवाँ देते हैं।)

शब्दार्थ—हाटा=बजार। नवौ=नौ। बाटा=विभाजित किया हुआ। कनक =सोना। कुँहकँह=कुंकुम। अनेग=अनेक। सँवारी=सजाना। हीर=हीरा। पँवार =पन्ना या लाल। पसारा=प्रसार। धवल=सफेदी। सिरी=रोली, सिर पर लगाने वाली। बेना=खस। बेसाहा=खरीद। एहि=इस। ताकहँ=उसको। मूर=असल, मूलधन।

(३८)

पुनि सिंगार हाट धनि देसा। कइ सिंगार तँह बैठी बेसा॥
मुख तँबोर तन चीर कुसंभी। कानन्ह कनक जराऊ खुंभी॥
हाथ बीन सुनि मिरग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं॥
भौंह धनुक तँह नेन अहेरी। मारहि बान सान सौं फेरी॥
अलक कपोल डोल हँस देहीं। लाइ कटाख मारि जिउ लेहीं॥
कुच कंचुकि जानहु जुग सारी। अंचल देहि सुभावहि ढारी॥
केत खेलार हरि तेन्ह पासा। हाथ झारि होइ चलहि निरासा॥
चेटक लाइ हरहिं मन जो लहि गथ है फेंट।
साँठ नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट॥३८॥

भावार्थः—कविवर जायसी इस अंश में सिंहलद्वीप के वेश्याबाजार (चकले) एवं यहाँ की वैश्याओं का साकार चित्रण करते हैं:—

फिर सिंहल का वैश्याबाजार (चकला) भी सराहनीय है। वहाँ श्रृंगार से लक-दक वैश्याएँ बैठी हैं। मुख में पान का बीड़ा, उसकी लाली तथा शरीर पर केसरी रंग के सुहावने वस्त्र हैं। कानों में सोने के रत्न-जटित कर्णफूल पहने हुए हैं। हाथों में समुधुर वीणा लिये हैं; जिनके स्वरों पर मृग मुग्ध होते हैं। मनुष्य भी स्वर मोहित होकर एक क़दम आगे नहीं बढ़ा पाते। उनकी भौहें धनुष हैं, उनके नेत्र शिकारी हैं, जो भृकुटी के संकेत रूपी तीर घुमाकर अचूक निशाना बनाते हैं। (यहाँ अन्यत्त स्वाभाविक "रूपक" है। उक्ति वेचित्र्य उर्दू आनी टक्कर का कहा जायगा।)

ये वेश्याएँ घुंधराली काकुलों को अपने गालों पर छिटका कर ज़रा सा हँस देती हैं। अपने नेत्र-कटाक्षों से वे रसिकों के प्राण ले लेती हैं। चोली के भीतर उठे हुए उनके दो

स्तन ऐसे लगते हैं मानो पाँसे की दो गोटें हों जिनको अंचल स्वतः दाँव पर फेंकता है। (स्वभावतः अंचल की ओट में उभरे हुए स्तन थमे नहीं रहते—बाहर हो हो जाते हैं। यहाँ सुन्दर 'उत्प्रेक्षा' है। संयोग शृंगार उद्दीपनकारी है)

कितने चतुर खिलाड़ी इन दो स्तन रूपी पाँसों से सब कुछ गँवा कर निराश पथिक से लौट जाते हैं। (यहाँ वैश्या-संभोग के पश्चात् जिस जुगुप्सा वृत्ति का जागरण होता है, उसकी भी व्यंजना है।)

ये वैश्याएँ अपने रूप का जादू तबतक लोगों पर चलाती हैं, उन्हें लुभाती हैं, जब तक कि उनकी गाँठ में पूँजी है। किन्तु उनकी गाँठ की पूँजी ज्योंही समाप्त हो जाती है तब वे रसिक इनकी ऐसी उपेक्षा के पात्र बन जाते हैं कि जैसे उनका इनसे कोई कभी कैसा भी परिचय सम्बन्ध नहीं रहा।

विशेष:—वेश्याओं के शरीरज शृंगार का जहाँ यथार्थ वर्णन जायसी ने यहाँ किया है वहाँ वैश्याओं के स्वार्थी मनोविज्ञान का काव्यात्मक निरूपण भी बड़ा ही सफल बन पड़ा है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकारों की छटा तो दर्शनीय है ही।

शब्दार्थ—सिंगार हाट=शृंगार का बाजार अर्थात् वेश्याओं का बाजार—चकला। बेसा=वैश्या। तँवारे=ताम्बूल, पान। चीर=वस्त्र। कुसुम्भी=केसरी रंग की। कानन्ह=कानों में। कनक=सोना। जराऊ=जड़े हुए। खुंभी=कर्णफूल। मिरिग =मृग। सान=सैन। अलक=काकुलें। कपोल=गाल। कटाख=कटाक्ष। जुग= दो। जिउ=प्राण। लेहीं=लेती हैं। कुच=स्तन। कंचुकि=चोली या ब्लाउज़। सुभावहिं=स्वभावतः। डारी=फेंकना। केत=कितने। खिलार=खिलाड़ी, यहाँ रसिकों से अर्थ है। निरासा=निराश भाव से। चेटक=जादू। गथ=पूँजी। फेंट=कमर में या पास में। साँठि=पूंजी। नाठि=समाप्त। बटाऊ=पथिक।

(३६)

लै लै बैठ फूल फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी॥
सोंधा सबै बैठु लै गाँधी। बहुल कपूर खिरौरी बाँधी॥
कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू॥
कतहूं कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाच कोड भलि होई॥
कतहूँ छरहटा पेखन लावा। कतहूँ पाखंड काठ नचावा॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला॥
कतहूँ काहुँ ठग विद्या लाई। कतहूँ लेहि मानुस बौराई॥
चरपट चोर धूत गँठि छोरा मिले रहहिं तेहि नाँच।
जे तेहि नाँच सजग भा अगुमन गथ ताकर पै बाँच॥ ३६॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सिंहलद्वीप के सुशोभित बाजार का ही वर्णन कर रहे हैं। इस वर्णन में समासोक्ति के द्वारा संसार के मंच के मिथ्या नाटक और उस नाटक में जीव के मिथ्या अभिनय की ओर व्यंजना भी की गई है।

सिंहल के बाजार में मालिन मनमोहक फूलों को लेकर बेचने के लिये बैठी हैं। अपूर्व सजे-धजे पानों को लेकर पनवाड़ी बैठे हैं। सुगन्धित इत्र द्रव्यादि लेकर गंधी बैठे हुए हैं। वे कपूरी तथा केवड़ा से सुगन्धित किये कत्थे की टिकियाँ लिये है। कहीं पंडित लोग पुराणों का पाठ करते हैं और धर्म के मार्ग का बखान कर रहे हैं। कोई कुछ कथाएँ कहते हैं। कहीं कोई सुन्दर नाच-कूद या नाटक हो रहा है। कहीं कोई बहेलिया पक्षियों का प्रदर्शन कर रहा है। कहीं कठपुतली वाला काठवाली कठपुतलियों को नचा रहा है। कहीं पर सुन्दर संगीत-स्वर चल रहे हैं। कहीं नाटक एवं जादू के तमाशे हो रहे हैं। कहीं कोई ठग-विद्या से लोगों को पागल बना रहा है।

इन नाच-रंगों में चतुर, चोर, गठकटे रले-मिले रहते हैं। किन्तु यहाँ जो भविष्य-दृष्टा एवं सजग होते हैं वे अपनी निधि को सुरक्षित वापिस बचाकर ले जाते हैं। (यहाँ समासोक्ति से यह भाव व्यंजित किया गया है कि दुनिया-धंधा का जो मेला है इस पर ज्ञानी अनुरक्त होकर नहीं ठगे जाते, किन्तु मूर्ख ठग जाते हैं।)

शब्दार्थ—फुलहारी=फूलवाली, मालिन। अपूरब=अनोखे। सँवारी=सजाधजाकर। सौधा=इत्रादि। गाँधी=इत्रफरोश। खिरोरी=कत्था की टिकियाँ। कोड=खेलकूद, नाटक। छरहटा=बहेलिया। पेखन=पक्षी। पाखँड=कठपुतली वाला। काठ=कठपुतली। नाद=स्वर। चेटक=जादू। मानुस=मनुष्यों को। बोराई=पागल बनाना। अगुमन=भविष्यदृष्टा, ज्ञानी। गथ=पूंजी। बाँच=बची।

(४०)

पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौ जस लाग अकासा॥
तरहिं कुरुंभ बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी॥
परा खोह चहुं दिसि तस बाँका। काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका॥
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सप्त पतारन्ह जाई॥
नव पँवरी बाँकी नव खंडा। नवहुँ जो चढ़इ जाइ ब्रह्मण्डा॥
कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा॥
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका॥
हिअ न समाइ दिस्टि नहिं पहुँचे जानहु ठाढ़ सुमेरु।
कहं लगि कहौं ऊँचाई ताकरि कहँ लगि बरनौ फेरू॥ ४०॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सिंहलद्वीप के विशाल क़िले की महत्ता का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन कर रहे हैं। "**नव पँमरी बाँको नव खंडा, नवहु जु चढ़ै जाइ ब्रह्मण्डा॥**"—उक्ति में सिद्धों का हठयोगी दृष्टिकोण झलक रहा है। रूपक के माध्यम से नवइन्द्रियों को हठयोग के द्वारा साधने एवं संयम में करने से ब्रह्माण्ड में पहुँचने वाली बात कही गई है। यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक रूपक अथवा ऊहोपोह की कल्पना उचित नहीं समझनी चाहिये। जायसी का विशेष लक्ष सिंहल के क़िले का ही वर्णन करना है। हाँ, आगे भाव व्यापक बना है।

अब सिंहल के गढ़ के पास आइये। जायसी कहते हैं कि इस क़िले का क्या वर्णन करूँ? यह तो ऐसा लगता है मानो आकाश को छू रहा हो। इस क़िले की नींव इतनी गहरी गई है कि कच्छप एवं शेषनाग, जिनके ऊपर धरती टिकी है, की पीठ को छूती है। इधर इसकी ऊँचाई इतनी है कि इन्द्रलोक दृष्टिगत होता है (अतिशयोक्ति है) इसके चारों ओर की खाई इतनी विकट एवं गहरी है कि जिसको झाँकने से जंघाएँ भय से कम्पायमान हो जाती हैं और झाँकते नहीं बनता। देखने में इतना गहरा भयावना और अदृश्य लगता है, कि यह प्रतीत होने लगता है कि यदि गिर पड़े तो सातवें पाताल पहुँचेंगे। (अतिशयोक्ति है) यदि इसकी नव पोड़ियों—जो बड़ी विकट हैं—पर चढ़कर कोई नव-खण्डों पर पहुँच जाय तो ब्रह्माण्ड पर पहुँच जायगा। (यहाँ समासोक्ति है—कुण्डलिनी के, ब्रह्मरन्ध्र में, नव-इन्द्रियों को जीतकर सात सतह पार करके पहुँचने की व्यंजना निकलती है) यह क़िला या गढ़ स्वर्ण का है जिस पर जवाहरात जड़ी हैं। नगों–नक्षत्रों से भरा हुआ यह ऐसी झलक देता है मानो बिजली का बना हो (उत्प्रेक्षा अलंकार) लंका के गढ़ से भी ऊँचा गढ़ है, देखा नहीं जाता, दृष्टि और मन थक जाते हैं।

उस गढ़ की विशालता हृदय में नहीं समाती, उस पर पूरी दृष्टि नहीं पहुँचती। ऐसा लगता है कि सुमेरु पर्वत खड़ा हो। जायसी कहते हैं कि उसकी ऊँचाई एवं घेरे का कहाँ तक वर्णन करूँ।

शब्दार्थ—गढ़=किला। कुरुम=कच्छप, जिस पर पृथ्वी ठहरी है। तरहिं=तल या नींव। डीठी=नजर, दृष्टि। खोह=खाई। बाँका=विकट। नव पँवरी=नव ड्योढ़ी, यहाँ नौ इन्द्रियों से भी अर्थ लिया जाता है। जरे=जड़े हुए। नखतन्ह=नक्षत्रों से। दीसा=दीखता है। हिअ=हृदय।

(४१)

नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहिं त बाजि होइ रथ चूरू॥
पँवरी नवौ बज्र कइ साजी। सहस सहस तँह बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कोटवार सो भँवरी। काँपै पाँय चँपत वै पँवरी॥
पँवरिहि पँवरि सिंहगढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े॥
बहु बनान वै नाहर गढ़े। जनु गार्जहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूंछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाई। जगमगाहिं मढ़ ऊपर ताईं॥
नवौ खंड नव पंवरी औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सो चढ़ैं सत सत सौ चढ़ै जो पार॥४१॥

भावार्थ—प्रस्तुत स्थल पर जायसी ने पूर्व वर्णित गढ़ का कुछ और विचित्र ढंग से चित्रण किया है। यहाँ जायसी ने हठयोगी सिद्धान्त के द्वारा नौ पौरियों को नव इन्द्रियाँ, हजार-हजार सैनिकों को जीवन के विकार, पाँच कोतवालों को काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, सिंह को अहंकार, सोने की सीढ़ी को सुषुम्ना नाड़ी, उसकी चमक को सुषुम्ना

नाड़ी के भीतर से उर्ध्वमुखी कुंण्डलिनी शक्ति एवं चार बसेरों को सूफी सिद्धान्त के अनुसार चार अवस्थाओं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत का रूपक दिया है। यह अर्थ समासोक्ति अलंकार द्वारा पुष्ट होता है।

सिंहल का गढ़ इतना उच्च है कि नित्य चाँद एवं सूर्य उससे टकराने के भय से बच-बचकर चलते हैं। यदि ऐसा न हो तो उनका रथ उससे टकरा कर चकनाचूर हो जाए। उस गढ़ की नौ पौरियाँ कठोर शिलाखंडों से निर्मित है। उनपर हजार-हजार सैनिक तैनात हैं। पांच कोतवाल उसके इर्द-गिर्द चक्कर लगाते हैं। (समासोक्ति से तात्पर्य है पांच जीवन के शत्रु—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ) उन पौरियों पर पांव पड़ते ही डगमगा जाते हैं। (इन्द्रियां सदा मनुष्य के पांव डगमगाती रहती हैं–समासोक्ति) हर पौरी पर शेरों के चित्र अंकित हैं, उन्हें देखकर बड़े-बड़े शाह भयातुर हो जाते हैं। वह शेर बड़े विचित्र हैं, लगता है मानो अभी वे सिर पर झपटना चाहते हैं। वे पूँछ चलाते हैं और जीभ निकालते हैं। उनसे हाथी भी डरते हैं कि वे गरजकर उन्हें निगल जायँगे। सोने की शिला से उस गढ़ में सीढ़ी लगाई गई हैं, जो ऊपर तक जगमगाती हैं।

इस गढ़ में नौ खंड, नौ पौरी हैं जिसमें बज्र का दरवाजा है। जो चार आश्रमों या अवस्थाओं को पार करके सत्यतः चढ़ता है वही इसके ऊपर चढ़ सकता है। (समासोक्ति से तात्पर्य है कि इस हठयोग रूपी गढ़ के ऊपर वही ब्रह्म से साक्षात्कार कर सकता है जो सत्य का सम्बल साथ लिये है)।

विशेष—इसी रहस्यवादी सिद्धान्त का बहुत कुछ खंडन करने के लिये आगे तुलसीदास ने भगवान राम के स्पष्ट भगवद् रूप की काव्य-धारा प्रवर्त्तित करके भारतीय संस्कृति को नवजीवन प्रदान किया। चूँकि जायसी के समक्ष पद्मावत का कथा आग्रह भी था, अतः ऐसे स्थल पर उनका आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रतिपादन प्रतीक की झोंक में प्रायः उलझ गया है।

शब्दार्थ—बांचि=बच कर। सहस=हजार। पाजी=सैनिक। कोटवार=कोतवाल। भँवरी=चक्कर। चँपत=पड़ना। काढ़े=अंकित, कढ़े हुए। राय=राजे। बनान=भाँति। नाहर=सिंह। गाजहि=गरजकर। टारहि=हिलाना। जीहां=जीभ। चारिबसेरे=चार ठहरने के स्थान (भारतीय चार आश्रम, ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ आदि एवं सूफियों की चार अवस्थाएँ तरीकत, मारफत आदि।)

(४२)

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू॥
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर पहर सों आपनि बारी॥
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी घरी घरिआर पुकारा॥
मरा जो डाँड जगत सब डाँडा। का निचिंत माटी कर भाँडा॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरै घटै तुम आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ॥

पहरहि पहर गजर नित होई। हिश्रा निसोगा जाग न सोई॥
मुहमद जीवन जल भदन रहँट घरी की रीति।
घरी सो श्राई ज्यों भरी ढरी जनम गा गीत॥४२॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में दार्शनिक ढंग से जीवन की क्षणभंगुरता और काल की कठोरता की ओर मनुष्य को सजग करते हुए उसे परलोक को बनाने की व्यंजना देते हैं। यहां भारतीय वेदान्तवाद की छाप परिलक्षित होती है।

इस सिंहल की नव पौरियों के ऊपर दसवां दरवाजा है। (समासोक्ति से ब्रह्म रध्र का तात्पर्य लगता है।) उस पर काल राजा का घंटा घहरता है। घड़ी को गिनने वाले वहाँ पल-पल की गणना किया करते हैं। वे अपनी-अपनी बारी पर, हर पहर में घंटे को बजाते हैं। जभी पल गुजरता है कि घंटे पर चोट पड़ती है और यों हर घड़ी घड़ियाल ठनकता है। (तात्पर्य यह है कि पल-पल में काल या मौत का मनुष्य को ज़ोर का संदेशा मिलता रहता है) यों सारे संसार पर काल अपना क्रूर दण्ड का डंडा पीट रहा है। हे मिट्टी के बरतन, मनुष्य ! तू क्यों बेफिक्र है ? तू जिस चाक (कुम्हार का मट्टी के बरतन बनाने का चक्कर) पर चढ़ा है उससे कच्चा रहा है। तेरी आयु अस्थिर है और तू स्थिर होकर या अमर होकर नहीं रह सकता। (आशय यह है कि तेरा आवागमन बना रहेगा। पर विस्मय यह है कि कट्टर मुसलमानों के सिद्धान्तानुसार क़यामत तक रूहें संसार में नहीं आ सकतीं—पर यहाँ जायसी पर भारतीय जन्म-मरण सम्बन्धी दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।) ज्यों-ज्यों घड़ियाँ पूरी हो रही हैं, हे मनुष्य ! तेरी आयु कम हो रही है। इसलिये, हे जन्म-मरण के राहगीर ! तू किसलिये बेफिक्र सो रहा है ? नित्य, पल-पल गजर हो रहा है कि हृदय की चिंता को दूर कर और मत सो।

कविवर जायसी कहते हैं, जीवन क्या है ?—इसकी स्थिति ऐसी है जैसे रहट की छोटी सी घरिया की होती है। जो घड़ी में भर जाती है और दूसरी ही घड़ी वह रिक्त हो जाती है। इसी प्रकार जन्म पल-पल में व्यतीत हो जाता है।

विशेष—जीवन की क्षणभंगुरता के सम्बन्ध में जायसी ने रहट की घरिया का जो रूपक प्रस्तुत किया है वह अत्यधिक यथार्थदर्शी एवं काव्यात्मक भी है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'प्रसाद' ने भी कहा है—

"जलता है यह जीवन पतंग ?
जीवन कितना रे अति लघु क्षण,
ये शलभ पुंज से कण कण।"

शब्दार्थ—दसौं दुआरू=दसवाँ द्वार, ब्रह्मांड। घरिआरू=घड़ियाल। घरी=घड़ी या पल। घरिआरी=घंटे वाले। आपनि=अपनी। बारी=दफा या (Turn) गनै=गिनते हैं। डाँड=दंण्डा। हाँडा=बर्तन। आऊ=उम्र। गजर=समय से घंटे की आवाज़। थिर=ठहरी हुई, अमर। बटाऊ=राहगीर। निसोगा=शोक-रहित। बीत=व्यतीत।

(४३)

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसे दुरुपदी ।।
औरूं कुण्ड एक मोती चूरू। पानी अंब्रित, कीच कपूरू ।।
ओहि क पानि राज पै पिआ। बिरिध होइ नहिं जौलहिं जिआ ।।
कंचन बिरख एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा ।।
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाँव को चाखा ।।
चाँद पात औ फूल तराई। होइ उजिआर नगर जँह ताईं ।।
वह फर पावै तपि कै कोई। बिरिध खाइ नव यौवन होई ।।
राजा भए भिखारी सुनि वेह अंब्रित भोग।
जेइं पावा सो अमर भा ना कछु व्याधि न रोग ।।४३।।

भावार्थः—कविवर जायसी पूर्व की भाँति ही यहाँ पर हठयोग के सिद्धान्तों का समासोक्ति के द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं। सिंहलद्वीप शरीर का प्रतीक है, दो नदियाँ—इड़ा नाड़ी विष की एवं पिंगला अमृत की प्रतीक हैं। अमरबेल सुपुम्ना नाड़ी है जिसमें से कुंडलिनी शक्ति विचरती है। मोती सा स्वच्छ कुंड हृदय है, उसमें प्रेम अमृत का प्रतीक है और वासना कीच है। सुषुम्ना नाड़ी का एक छोर पाताल है और दूसरा स्वर्ग है। इसी सुषुम्ना के द्वारा शरीर रूपी गढ़ प्रकाशमान है। साधना द्वारा ही कोई साधक-योगी मोक्ष का फल चख सकता है। यह प्रेम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जायसी ने हठयोग की अंतःसाधना एवं सूफियों के प्रेम तत्व का सैद्धान्तिक समन्वय इस अंश में किया है। यह सब समासोक्ति के द्वारा ही प्रकट होता है, वैसे सिंहल के गढ़ का वर्णन प्रबंधात्मकता की दृष्टि से भी किया गया है।

इस सिंहल के गढ़ पर दूध और पानी की दो नदियाँ हैं। द्रोपदी जैसी सुन्दर नारियाँ उससे पानी भरती हैं। और वहाँ एक मोती के चूर्ण जैसा उज्ज्वल कुंड है। उसका पानी अमृत है, और कीचड़ कपूर है। उसका पानी कोई राजा यदि पीता है तो वह जब तक ज़िन्दा रहता है, बूढ़ा नहीं होता। (समासोक्ति से आशय यह कि यम-नियमादि करने वाला निर्द्वंद योगी इस हृदय रूपी कुण्ड का प्रेम जल पीता है तो वह अमर रहता है)। उसके निकट एक सोने का पेड़ है जो इन्द्र के स्वर्ग का कल्पतरु जैसा है। इस पेड़ की मूल पाताल में और शाखाएँ स्वर्ग में हैं। अमरबेल को कौन पाकर उसका अमृत फल चख सकता है? उसके पत्ते चाँद और फूल तारे हैं। (रूपक अलंकार है)। यह सिंहल नगर अर्थात निर्गुणात्मक संसार उससे प्रकाशवान है। कोई तपस्या एवं योग द्वारा ही उसके फल प्राप्त कर सकता है। यदि कोई बूढ़ा इसके फल खा ले तो वह नई तरुणाई को प्राप्त होगा।

जो इसका फल प्राप्त करता है वह अमर हो जाता है। न उसको कोई रोग रहता है और न कोई चिन्ता रहती है।

विशेष—योग का यह विषय जायसी के काव्य में जटिल है। उसकी चिन्ताधारा

को समझने की सुविधा को ध्यान में रखते हुए हम एक चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है कि शक्तिपात द्वारा गुरू अपने शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करता है। गुदा एवं उपस्थ के मध्य में योनिस्थान है। योनिस्थान के ऊपर मेरुदण्ड के पास एक अण्डाकृति माँसपेशी है जिसकी नाभि में एक गाँठ है। जिसको अंग्रेजी में Ganglion impar और संस्कृत में उस माँसपेशी को 'कन्द' कहते हैं। इसी गाँठ में से इड़ा-पिंगला क्रमश: विष अमृत की नाड़ियाँ निकलतीहै। यह दोनों मेरुदण्ड के बाहर हैं जिन्हें Sympathetic Columns कहते हैं। और तीसरी सुषुम्ना Spinal Cord भीतर सीधी सहस्रार को स्पर्श कर रही है। सुषुम्ना में प्राणशक्ति का प्रवाह होकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचता है, तब समाधि लगती है। सुषुम्ना में षटचक्र ऐसे हैं जो नाड़ियों के उद्गम स्थान कहे जा सकते हैं, और वे नाड़ियाँ बाहर आकर जाल बनाती हैं उसको Plexuses कहते हैं। गुदा के निकट मूलाधार पृथ्वीतत्व का चक्र, उपस्थ के पास स्वाधिष्ठान जलतत्व का चक्र, ग्रीवा में विशुद्ध आकाशतत्व का चक्र, हृदय में अनाहत वायुतत्व का चक्र, और भृकुटि में आज्ञा नाम का मन से सम्बन्ध रखने वाला चक्र है। ऊपर मस्तिष्क में सस्रहार (Cerebrum) है। प्राणशक्ति का प्रवाह होने पर उक्त शक्ति छ:वों चक्रों को चीरती हुई सहस्रार में चढ़ती है तब पाँचों तत्वों से सम्बन्ध रखनेवाली—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दात्मक इन्द्रियें मन को साथ लेकर बुद्धि सहित अपने कारणों में लीन हो जाती हैं, और समाधि लग जाती है। यही ब्रह्म का साक्षात्कार है—हठयोग की सिद्धि अवस्था है। तब मन से संकल्प-विकल्प निर्मूल हो जाते हैं, वासनाओं का क्षय हो जाता है और आत्मशक्ति के कारण परम सन्तोष और शान्ति का उदय होता है। आत्मानन्द का प्रकाश फैलता है। संसार के सुख-दु:खमय द्वन्द्व-जाल नष्ट हो जाते हैं। वह ज्ञानी कर्म करता हुआ भी जीवनमुक्त कहलाता है। कन्द में प्राणशक्ति सुप्त Potential रहती है। जब तक यह सोई हुई है, इन्द्रियाँ,मन तथा बुद्धि सहित बहिर्मुखी रहती हैं और जागने पर अंतर्मुखी होने लगती हैं। इस शक्ति को ही कुण्डलिनि शक्ति कहते हैं। यह चेतन शक्ति है—एक है, पर सबमें व्याप्त है।

"यादेवी सर्वभूतेषु चिति रूपेणसस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम:।"

अगले पृष्ठ पर योग-चित्र देखें—

शब्दार्थ—दुरुपदी = द्रौपदी । ओहि = उस । क = का । बिरिध = बूढ़ा। जौलहिं = जब तक। जिआ = जीवित रहे। कविलासा = स्वर्ग। पतार = पाताल। सरग = स्वर्ग। तराई = तारिकाएँ। भा = हुआ।

योग-चित्र

(४४)
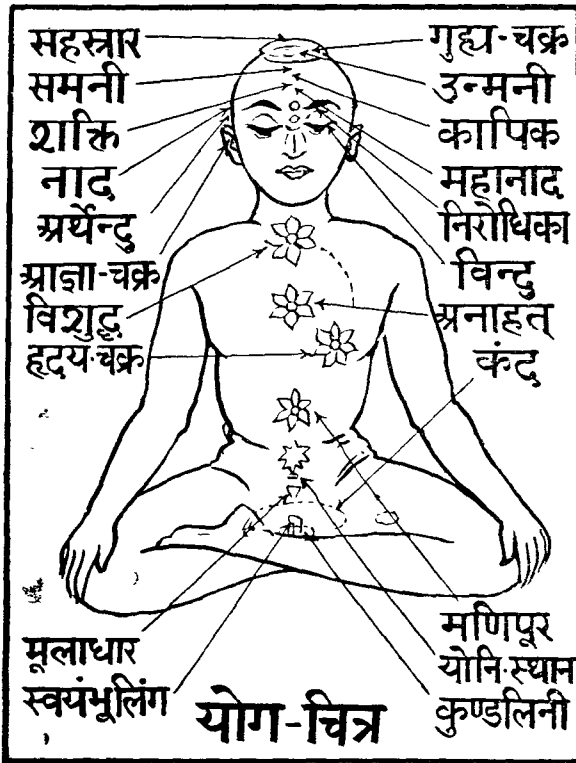
गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती । असुपति गजपति औ नरपती ।।
सब क धौरहर सोनै साजा । औ अपने अपने घर राजा ।।
रूपवंत धनवंत सभागे । परस परखन पँवरि तेन्ह लागे ।।
भोग बेरास सदा सब माना । दुख चिन्ता कोइ जरम न जाना ।।
मँदिर मँदिर सबकें चोपारी । बैंठि कुँवर सब खेलहिं सारी ।।
पाँसा ढरैं खेल भलि होई । खरग दान सरि पूज न कोई ।।
भाँट बरनि कहि कीरति भली । पावहिं हस्ति घोर सिंघली ।।
मँदिर मँदिर फुलवारी चोवा चंदन बास ।
निसि दिन रहै बसंत भा छहु रितु बारहु मास ।। ४४ ।।

भावार्थ—इस स्थल पर कविवर जायसी ने शरीर रूपी गढ़ के भीतर जो चार गढ़ के स्वामी—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—हैं उनका संकेत दिया है।

सिंहल के गढ़ में चार स्वामी रहते हैं। ये चारों घोड़े, हाथी एवं मनुष्यों

के नायक हैं। सबके प्रासाद स्वर्ण-सज्जित हैं। वे अपने-अपने घर के राजा हैं। वे रूपवान, धनवान एवं सौभाग्यशाली हैं। उनकी ड्योढ़ियों में पारस-पत्थर जटित हैं। वे भोग-विलास के सुख में निमग्न रहते हैं। सांसारिक दुख-चिन्ता को जीवन में उन्होंने कभी नहीं जाना। उनके महलों में चौपालें अर्थात् क्रीड़ा के स्थान हैं, जहाँ चारों कुँवर शतरंज खेलते हैं। पाँसे फेंककर सुन्दर खेल होता है। उनके खड्ग चलाने की समता भी कोई नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि ये चारों कुँवर विनोदी और वीर, दोनों ही हैं। अतः चारण लोग इनकी कीर्ति का गान-बखान करते हैं और उसके एवज़ में सिंहलद्वीप के सुन्दर हाथी घोड़े इनाम में पाते हैं।

महल-महल में फुलवारी लगी है और वहाँ चोवा-चन्दन की सुगन्ध बनी रहती है। वहाँ छहों ऋतुओं और बारहों महीनों वसन्त बना रहता है—सुख बना रहता है।

शब्दार्थ—चारि=चार। असुपनि=घोड़ों के स्वामी। गजपति=हाथियों के स्वामी। परस पखान=पारस पत्थर। सभागे=सौभाग्यशाली। पँवरि=ड्यौढ़ी। बेरास=विलास। जरम=जीवन में। मँदिर=महल। सारी=शतरंज। भाँट=चारण कवि।

(४५)

पुनि चलि देखा राज दुआरू। माँहि छूँविअ पाइअ नहि बारू॥
हस्ति सिंघली बाँधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा॥
कवनौ सेत, पीत रतनारे। कवनौ हरे, धूप औ कारे॥
बरनहि बरन गगन जस मेघा। ओ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा॥
सिंहल के बरने सिंघली। एकेक चाहि सो एकेक बली॥
गिरि पहार पब्बे गहि पेलहिं। बिरख उपारि झारि मुख मेलहिं॥
मान निमत सब गाजहिं बाँधे। निस दिन रहहिं महाउत काँधे॥
धरती भार न अँगवै पांव धरत उठ हालि।
कुरुम टूट फन काटे तिन हस्तिन की चालि॥४५॥

भावार्थ—कविवर जायसी यहाँ सिंहल नगर के स्थानीय वातावरण का अतिशयोक्ति पूर्ण, उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णन करते हुए लिखते हैं—

फिर सिंघल के राजद्वार को देखो। समस्त पृथ्वी या दुनियां को घूमकर देखा है किन्तु इस प्रकार का दरवाजा नहीं देखा। द्वार पर सुन्दर सिंहली हाथी बँधे हुए हैं। ये इस प्रकार के लगते हैं मानो पहाड़ खड़े हों (उत्प्रेक्षा अलंकार है)। उनमें से कोई हाथी पीला है, कोई सफेद, कोई लाल, कोई हरा कोइ धूप एवं श्याम-चितकबरे रंग का हैं। वे बादलों की तरह विविध रंग के है। वे इतने ऊंचे हैं कि मानो उन्होंने अपनी पीठ पर आकाश को टिका रक्खा हो। (यहाँ उत्प्रेक्षा है।) वे सिंहल के हाथी हैं। अतः एक-से-एक बलवान हैं। वे पैरों से पहाड़ को ढकेल देते हैं। वृक्षों को उखाड़ कर, झकझोरकर अपने मुख में डाल लेते हैं। मस्त हुए सब हाथी बंधे-बंधे चिघाड़ते रहते हैं। रात-दिन

उनके कन्धे पर महावत चढ़े रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे अधिक मस्त न हों, अतः महावत का अंकुश-आतंक उन पर हर समय बना रहता है—महावत हर समय उनसे सतर्क रहता है।

पृथ्वी उनके भार को नहीं सँभाल या सह पाती। उनके पाँव धरते ही हिलने लगती है। कच्छप की पीठ टूटने लगती है, शेषनाग का फन फटने लगता है, जब वे हाथी चलते हैं। आशय यह है कि उन हाथियों की चाल बड़ी विकट है। (यहाँ अतिशयोक्ति है)

शब्दार्थ—दुआरू=द्वार। महि=धरती। घूंमिअ=घूमी। बरू=हार। बारा=द्वार। जस=जैसे। ठेंघा=टिका। एकेक=एक से एक। पव्वे=पांव से। पेलहि=ढकेलते हैं। बिरख=बृक्ष। झारि=झकझोर कर। मेलहिं=लेते हैं। गाजहि=चिंघारते हैं। मात=मस्त। काँधे=कंधे पर। न अँगवे=संभाल या सह नहीं पाती हैं। हालि=हिलन। कुरूँम=कच्छप। फन=शेषनाग के फन से तात्पर्य है। तिन्ह=उन।

(४६)

पुनि बाँधें रजबार तुरंगा। का बरनौ जस उन्ह के रंगा॥
लील समुंद चाल जग जानै। हाँसुल भँवर किआह बखानै॥
हरें कुरंग महुअ बहु भाँती। गुरं कोकाह बलाह सो पाँती॥
तीख तुखार चाँड औ बाँके। तरपहि तबहि तायन बिनु हाँके॥
मन तें अगुमन डोलहि बागा। देत उसास गगन सिर लागा॥
पाँवहि सास समुंद पर धावहि। बूड़ न पाँव, पार होइ आवहि॥
थिर न रहहि रिस लोह चबाहीं। भाँजहि पूंछि सीस उपराहीं॥
अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाह।
नैन पलक पहुंचावहि, जहँ पहुंचा कोउ चाह॥४६॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सिंहल के राजद्वार के विचित्र घोड़ों का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन कर रहे हैं।

फिर राजद्वार पर बँधे घोड़े हैं। जायसी कहते हैं, उनके जैसे रगों का क्या वर्णन करूँ? नीले और बादामी रग के घोड़ों की चाल को तो संसार जानता ही है। कुछ के शरीर का रँग मँहदी का जैसा है, और पैर काले हैं, कुछ का रंग ताड़ के पके फल जैसा है। हरे और महुए के रंग के भी घोड़े हैं। लाल सफेद रँग-रोओं वाले सफेद और चितकबरे रंग के घोड़े भी हैं। ये तुरकी घोड़े तेज, चतुर और फुर्तीले हैं। कोड़ा या चाबुक से बिना हाँके ही ये तेजी से भागने लगते हैं। मन की गति से भी आगे उनकी बाग रहती है। संकेत मात्र से ही वे आकाश से सिर लगाने लगते हैं, या आकाश छू लेते हैं। (अतिशयोक्ति अलंकार है) साँस लेते ही वे समुद्र पर दौड़ जाते हैं। किंतु समुद्र में उनके पैर डूबते नहीं हैं, वरन् वे उससे पार हो जाते हैं। वह स्थिर नहीं रह पाते। क्रोध से लोहे की लगाम को चबाते रहते हैं। पूँछ को ऊपर उठाकर वे द्रुतता से दौड़ते हैं।

कविवर जायसी कहते हैं, ऐसे यहाँ पर विचित्र तुरंग देखे हैं। लगता है मानो ये

मन के रथ के वाहक हैं—चलाने वाले हैं। जहाँ जो कोई पहुँचना चाहता है उसे ये घोड़े पलक मारते ही वहां पहुँचा देते हैं।

विशेष—यहाँ मन के साथ इन विचित्र घोड़ों की संगति बिठाल कर जायसी ने जीवन के द्रुतगामी इरादों एवं उसकी परिकल्पनाओं का भाव भी व्यंजित किया है।

शब्दार्थ—रजबार=राजद्वार। तुरंगा=घोड़े। जस=जैसे। लील=नीले। समुंद=बादामी। हाँसुल=घोड़ों की एक जाति का संकेत है जिसका शरीर तो मेहदी के रँग का और पैर कुछ काले होते हैं। भँवर=मुश्की। किआह=ताड़ के पके फल के रँग का। गुर्र=लाल सफेद रोएँ। बलाह=गर्दन और पूँछ के काले बाल। तीख=तीव्र। तुखार=मशहूर तुरकी घोड़े। चाँड=चंट। बांके=फुर्तीले। तरपहि=दौड़ते हैं। तापन=हंटर। अगुमन=आगे। बागा=बाग। उसास=संकेत। धावहिं=दौड़ते हैं। बूड़=डूबना। रिस=क्रोध। लोह=लोहे की लगाम। उपराही=ऊपर करके। रथ-वाह=घोड़े, रथ को खींचने वाले। नैन पलक=पलक झपकते ही।

(४७)

राज सभा पुनि दीख बईठी। इन्द्रसभा जनु परि गई डीठी॥
धनि राजा असि सभा सँवारी। जानहु फूलि रही फुलवारी॥
मुकुट बंध सब बैठे राजा। दर निसान नित जेन्ह के बाजा॥
रूपवंत, मनि दिपै लिलाटा। मांथे छात, बैठ सब पाटा॥
मानहुं कँवल सरोवर फूले। सभा क रूप देखि मन भूलै॥
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगँध बास भरि रही अपूरी॥
माँझ ऊँच इन्द्रासन साजा। गंध्रपसेनि बैठ जहँ राजा॥
छत्र गगन लहि ताकर सूर तवै जसु आव।
सभा कँवल जिमि बिगसै माँथे बड़ परतापु॥४७॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत स्थल पर राज सभा की महत्ता का चारण-सदृश गुणगान कर रहे हैं।

और फिर राजसभा जो बैठी दीख रही है, लगता है, मानो इन्द्र-सभा को देख लिया हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है।) ऐसी सभा को सजाने वाला राजा धन्य है। लगता है, मानो फुलवारी फूल रही हो। सब राजा इस सभा में मुकुट धारण किये बैठे हैं। उनके द्वार पर नित्य नगाड़े बजते हैं। वे बड़े सुन्दर हैं। उनका मणिमय माथा दमदमाता रहता है। सिर के ऊपर छत्र हैं, और वे सब सिंहासनासीन हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो सरोवर में कमल खिले हों। (उत्प्रेक्षा है) ऐसी सभा का रूप देखकर मन भूला-भूला-सा हो जाता है। इन राजाओं के मुख में पान, कपूर एवं खुशबू वाली जलमेद की सुगंध भरी रहती है। इन सारे क्षत्रियों के बीच, राजा गन्धर्वसेन इन्द्रासन के आसन पर सुसज्जित बैठे हुए सुशोभित हो रहे हैं।

गन्धर्वसेन के छत्र आकाश पर छाये हुए हैं। (अतिशयोक्ति अलंकार है) वह सूर्य

के समान तेजवान हैं। (उपमा अलंकार) उनकी सभा कमल की भाँति विकसित है। (उपमा है) उनके ललाट पर प्रताप प्रकट होता है।

शब्दार्थ—बईठी=बैठी। जनु=मानो। धनि=धन्य। असि=ऐसी। दर=द्वार, यह शब्द विदेशी है। डीठी=निगाह। दिपै=दमदमाता है। लिलाटा=माथा। छात=छत्र। पाटा=सिंहासन। क=का। मेद=एक सुगंधित जड़ द्रव्य। माँझ=बीच में। लहि=तक। बिगसै=खिला हुआ। बड़=बड़ा।

(४८)

साजा राजमँदिर कबिलासू। सोने कर सब पहुमि अकासू॥
सात खंड धौराहर साजा। उहै सँवारी सके अस राजा॥
हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा॥
जाँवत सबै उरेह उरेहे। भाँति भाँति नग लाग उबेहे॥
भा कटाव सब अनबन भाँती। चित्र होत गा पाँतिहि पाँती॥
लागे खँभ मनि मानिक जरे। जनहु दिया दिन आछत बरे॥
देखि धौरहर कर उजियारा। छपि गे चाँद सूर औ तारा॥
सुने सात बैकुंठ जस तस साजे सँख सात।
बहर बेहर भाउ तेन्ह खंड खंड उपर जात॥४८॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में सिंहल के राजा के राजप्रासाद का विशिष्ट वर्णन करते हुए लिखते हैं—

राजा ने राजप्रसाद को स्वर्ग जैसा सजा रक्खा है। (उपमा) वहाँ के पृथ्वी और आकाश (ऊपर-नीचे) सोने के ही बने हैं। महल की मीनारें सात खंडों से सुशोभित हैं। उनको ऐसा अनौखा राजा ही सजा सकता है। महल में हीरे की ईंटें और कपूर का गारा लगा है। उसमें नग जड़े हैं, मानो वे स्वर्ग से लाकर लगाए गए हों। जितने प्रकार के चित्र हैं सब वहाँ पर लगाए या चित्रित किए गए हैं। चुने हुए, भाँति-भाँति के नग वहाँ लगे हैं। अनेक प्रकार की पच्चीकारी वहाँ हुई है। पंक्ति-पंक्ति पर चित्र बनाए गए हैं। मणि-माणिक्य से जड़े हुए खंभे लगे हैं। उन्हें देखकर ऐसी चमक आती है, लगता है, मानो दिन में दीपक जले हुए हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) घरहरे की चमकीली आभा को देखकर चाँद, सूर्य एवं तारे छिप गए हैं। उनका प्रकाश मध्यम पड़ गया है। (अतिशयोक्ति)

राजा ने सातों खण्ड को इस प्रकार से सजाया है जैसे सजे हुए सात बैकुंठ सुने जाते हैं। वे खण्ड ज्यों-ज्यों ऊपर होते हैं उनके अलग-अलग साजसज्जा के मूल्य-भाव होते जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ऊपर जाते-जाते इन सात खंडों के सौन्दर्य का मोल-भाव भी बढ़ता जाता है।

शब्दार्थ—राज मंदिर=राज प्रासाद। पहुमि=पृथ्वी। धौराहर=घरहरा, यहाँ मीनारें भी अर्थ लिया जाता है। गिलावा=गारा। नग=रत्न। लाह=लाकर। सरग=स्वर्ग। लावा=लगाए। जाँवत=जितने। उरेह=चित्र। उरेहे=चित्रित किए

या लगाए गए। उरेहे = चुने हुए। कटावक = ाँट-छाँट या पच्चीकारी। अनबन = अनेक। गा = गया। जरे = जड़े। जनहु = मानो। आछत = हुए। बरे = जले। सूर = सूरज। बेहर = अलग।

(४६)

बरनौं राज मंदिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू।।
सोरह सहस पदुमिनी रानी। एक एक तें रूप बखानी।।
अति सरूप औ अति सुकुमारा। पान फूल के रहहिं अधारा।।
तिन्ह ऊपर चम्पावति रानी। महा सुरूप पाट परधानी।।
पाट बैसि रह किए सिंगारू। सब रानी ओहि करहिं जोहारू।।
निति नव रंग सुरंगम सोई। प्रथमैं बसैं न सरबरि कोई।।
सकल दीप मँह चुनि चुनि आनी। तेन्ह मँह दीपक बारह बानी।।
कुँअरि बती सौं लक्खनी अस सब माँह अनूप।
जाँवत सिंघल दीपइ सबै बखानइ रूप।। ४६।।

भावार्थ—अन्त में, कविवर जायसी सिंहल के रनिवास का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

मैं राज-रनिवास का वर्णन करता हूँ। वह अप्सराओं से इस प्रकार भरा है मानो स्वर्ग हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) राजा की सोलह हजार रानियाँ पद्मिनी हैं। वह एक से एक रूपवती हैं। वह अति रूपवती एवं सुकोमलांगी हैं। उनका जीवन फूल-पत्ती के आधार पर रहता है। (यहाँ अतिशयोक्ति है) इन सबसे ऊपर या बढ़कर सुन्दरी चम्पावती नामक पटरानी है। वह महा रूपवती और सिंहासनारूढ़-शृंगार किये रहती है। उसको आदर के साथ अन्य सभी रानियाँ अभिवादन करती हैं। वह सुन्दर वर्ण वाली नित्य नए-नए वस्त्र धारण किये सुशोभित बनी रहती है। वह नई उम्र वाली है। उसके समान सुन्दरी दूसरी कोई नहीं है। सारे द्वीपों से चुन-चुनकर वह रानियाँ लाई गई हैं। उनमें रानी चम्पावती इस प्रकार चमक वाली है जैसे दीपकों में द्वादश आदित्य ! (उत्प्रेक्षा अलंकार) यह रानी बत्तीसों सुन्दर लक्षणों वाली है। सभी रानियों में वह अनुपम है। जितना सिंहल द्वीप है सब उसके रूप का बखान करता है।

शब्दार्थ—रनिवासू = जहाँ रानियाँ रहती हैं, अन्तःपुर। अछरिन्ह = अप्सराओं से। जानु = मानो। कबिलासू = स्वर्ग। सहस = हजार। पाट=सिंहासन। बैसि = बैठी। ओहि = उसको, चम्पावती को। जोहारू = अभिवादन। प्रथमैं बैस = नव वय, नई उम्र। सरबरि = बराबर या समान। बारह बानी = चमक वाली। लक्खनी = लक्षणों वाली। बतीसौ = बत्तीसों। माँह = में। जाँवत = जितना। बखानइ = वर्णन करते हैं।

३--जन्म-खण्ड

(५०)

चम्पावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाँहा ।।
भै चाहै असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जसि होनी ।।
सिंघल दीप भएउ तब नाऊँ। जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊँ ।।
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथें मनि भई ।।
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई ।।
जस औधान पूर होइ तासू। दिन दिन हिए होइ परगासू ।।
जस अंचल झीने महँ दिया। तस उजियार देखावै हिया ।।
सोनै मँदिर सँवारै औ चन्दन सब लीप।
दिया जो मनि सिब लोक महँ उपना सिंघलदीप ।। ५० ।।

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने चम्पावती के गर्भ से पद्मावती के पैदा होने वाले शुभ चिन्हों को अत्यन्त स्वाभाविक, काव्यात्मक ढंग से प्रकट किया है। दिव्य अवतारों के प्रकट होने में जो शुभ-लक्षण प्रकट होते हैं, वही जायसी ने यहाँ उल्लेख किये हैं। कहावत मशहूर है—(Coming events cast theirs hadows before.) अर्थात् **"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।"**

रानी चम्पावती का जो उत्तम रूप था उसमें पद्मावती के रूप-मन की पूर्व छाया पड़ी हुई थी। जायसी कहते हैं कि पद्मावती के जन्म के कारण एक ऐसी सुन्दर कथा बनने वाली है कि जो लिखी हुई भाग्य लिपि के समान कभी मिटाई नहीं जा सकती। (कितनी सत्य उक्ति जायसी ने कही है।) सिंहलदीप का नाम तभी उजागर हुआ जबकि ईश्वर की कृपा से पद्मावती गर्भ से दीप-ज्योति सी बनकर झिलमिला उठी। पहले वह ज्योति आकाश में बनी फिर गंधर्वसेन के मस्तिष्क में मणि रूप में आई। फिर वह ज्योति माता चम्पावती के गर्भ से उतरी और गर्भ में आकर उसको बड़ा सम्मान मिला। जैसे-जैसे चम्पावती के गर्भ की अवधि बढ़ी त्यों-त्यों, चूँकि पद्मावती का जन्म होना था, अतः उसका हृदय प्रकाशित होने लगा। जैसे झीने या बारीक अंचल में दीपक झिलमिलाता दीखता है ऐसे ही चम्पावती के हृदय से उस ज्योतिरूपिणी पद्मावती का प्रकाश झिलमिलाने लगा। (यहाँ उपमा अलंकार है)।

जन्मोत्सव के लिये, सोने के प्रासादों को सँवारना-सजाना आरम्भ हुआ और और चन्दन से लीपा जाने लगा। कारण यह है कि जो दीप-ज्योति शिवलोक की है वही सिंहलदीप में अवतरित हुआ चाहती।

शब्दार्थ—उतिमाहाँ=उत्तम । भै=होने या बनने वाली । असि=ऐसी । सलोनी=सुन्दर । मेटि=मिटाई । होनी=जो होने वाली बात हो, भाग्य की लिपि । नाऊँ=नाम । अस=ऐसा । ठाऊँ=स्थान । घट=गर्भ । ओदर=उदर या पेट । औघान=अवधि या समय । परगासू=प्रकाशित । झीने=बारीक । महँ=में । तस=ऐसा । हिया=हृदय । मँदिर=प्रासाद । उपना=उत्पन्न या अवतरित होना ।

(५१)

भए दस मास पूरि भै घरी । पदुमावति कन्या औतरी ॥
जानहुँ सूरुज किरन हुति काढ़ी । सूरज करा घाटि वह बाढ़ी ॥
भा निसि माँह दिन क परगासू । सब उजियार भएउ कविलासू ॥
अतें रूप मूरति परगटी । पुनऊँ ससि सो खीन होइ घटी ॥
घटतहि घटत अमावस भई । दुइ दिन लाज गाड़ि भुँइ गई ॥
पुनि जौं उठी दुइजि होइ नई । निहकलंक ससि विधि निरमई ॥
पदुम गंध बेधा जग बासा । भँवर पतंग भए चहुँ पासा ॥
अतें रूप भइ कन्या जेहि सरि पूज न कोइ ।
धनि सो देस रूपवंता जहाँ जनम अस होइ ॥५१॥

भावार्थ—कविवर जायसी पद्मावती के जन्म एवं उसके अनूप रूप का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

दस मास बीतने पर पद्मावती के उत्पन्न होने की अवधि पूरी हुई और वह कन्या अवतार के रूप में अवतरित हुई । वह इतनी तेजस्वी थी कि ऐसा लगता था मानो वह सूरज की किरणों से निकाली गई थी । (उत्प्रेक्षा अलंकार है ।) सूरज की किरणें उससे घट-कर और पद्मावती उनसे बढ़कर थी । रात में ही उसके उत्पन्न होने से दिन का सा प्रकाश फैल गया । सारा स्वर्ग उससे प्रकाशित हो गया । वह इतनी रूपवती पैदा हुई कि पूनम का चन्द्रमा भी उसके कारण घटने लगा—अपनी कलाएं क्षीण करने लगा । इस प्रकार चन्द्र के घटते घटते अमावस्या आ गई । दो दिन, अमावस्या एवं प्रतिपदा को तो लाज के कारण चाँद पृथ्वी में ही गढ़ गया । फिर जो उदय हुआ तो दोयज का निष्कलंक रूप लेकर । इस प्रकार का ब्रह्मा ने उसे नवीन रूप दिया । तत्पर्य यह है कि पद्मावती के कारण चाँद को कलंक रहित न रहकर द्वितीया का नया निष्कलंक रूप धारणा करना पड़ा । (पद्मावती का सम्भवतः जन्म दिवस कुछ इसी हेर-फेर से रहा हो, ऐसा संकेत देना जायसी का यहाँ और आगे के छन्द में भी लक्ष है) पद्मावती के शरीर से कमल की गन्ध उठी जो संसार में व्याप्त हो गई । उस सुवास से भँवरे और भुनगे एकत्रित होकर उड़ने लगे ।

कविवर जायसी कहते हैं कि पद्मावती कन्या इतनी रूपवती पैदा हुई कि जिसकी कोई समता में नहीं ठहर सकता । वह सुन्दर देश (सिंहसद्वीप) धन्य है जहाँ ऐसा सुन्दर जन्म हो ।

विशेष--आगे छन्द में "चाँद उषा भुइँ दिया आकासू" से प्रकट है कि पद्मावती का जन्म दौज के नये चाँद उगने पर हुआ होगा।

शब्दार्थ—औतरी=अवतरण होना। हुति=थी। काढ़ी=निकली। करा=कला या किरणें। घाटि=कम। बाढ़ी=बढ़कर। भा=हुई। निसि=रात। मँह=मैं। परगासू=प्रकाश। कबिलास=स्वर्ग। भएउ=हुआ। परगटी=प्रकट हुई। ससि=चन्द्र। खीन=क्षीण। "दुइदिन लाज गाड़िभुइँ गटी"=(चाँद) दो दिन लाज से भूमि में गड़ा रहा। दुइज=द्वितीया का चाँद–उसे "दौज" कहते हैं। निहकलंक=निष्कलंक, बिना धब्बे के। विधि=ब्रह्मा। पदुम=कमल। बेधा=व्याप्त होना। अतें=इतने। सरि=बराबर।

(५२)

भइ छवि राति छठी सुख मानी। रहत कोड सों रैनि बिहानी॥
भा विहान पण्डित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए॥
उत्तिम घरी जनम भा तासू। चाँद उवा भुइँ दिपा अकासू॥
कन्या रासि उदौ जग किया। पदुमावति नाउँ जसु दिया॥
सूर परस सों भएउ किरीरा। किरिन जामि उपना नग हीरा॥
तेंहि तें अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा॥
सिंहल दीप भएउ अवतारू। जंबू दीप जाइ जम बारू॥
रामा आइ अजोध्याँ उपने लखन बतीसौं संग।
रावन राइ रूप सब भूलै दीपक जैस पतंग॥५२॥

भावार्थ--कविवर जायसी पद्मावती के जन्म लग्न का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

छः रात्रियों के बीतने पर छठी का सुख, भरपूर रास-रंग पैदा हुआ। रास और क्रीड़ा (अश्लील) उत्सव में रात्रि व्यतीत हो गई। सबेरा हुआ, सारे पंडित लोग आ गए। पत्रा निकालकर उन्होंने जन्म लग्न का विचार किया। कहा कि पद्मावती का जन्म शुभ घड़ी में हुआ है। पृथ्वी में चाँद उदय हुआ है, उसके कारण पृथ्वी पर भी नव निष्कलंक दौज का चाँद उदित हुआ है। पंडितों ने पद्मावती को कन्या राशि में पैदा हुआ बतलाया। अतः पद्मावती जैसा उत्कृष्ट नाम उसे दिया गया। तात्पर्य यह है कि जैसी शुभ कन्या राशि में वह पैदा हुई वैसा ही उसे नाम भी दिया गया। सूर्य के स्पर्श से किरणें पैदा हुई और किरणों से नग हीरे पैदा होते हैं। इन सबसे अधिक उज्ज्वल वस्तु राजा रत्नसेन के लिये पद्मावती पैदा हुई। पद्मावती का जन्म तो सिंहल द्वीप में हुआ किन्तु जम्बू द्वीप में उसकी मृत्यु हुई।

कविवर जायसी कहते हैं कि सीता अयोध्या में आई जो बत्तीसों लक्षणों से युक्त थी। तात्पर्य यह है कि बत्तीसों लक्षणों से युक्त पद्मावती सीता की भाँति सिंहलद्वीप में पैदा हुई। रावण की भाँति रत्नसेन राजा उसके स्वरूप पर ऐसे ही भ्रमित हुआ जैसे दीपक पर परवाना जल जाता है।

विशेष:—राम के साथ जिस प्रकार का सादृष्य पद्मावती में व्यंजित है उसकी संगति उचित प्रतीत नहीं होती। कारण यह कि जायसी का रामचरित्र सम्बन्धी ज्ञान परिपक्व न था। अतिशयोक्ति अलंकार "चाँद उवा भुइँ दिया आकासू" उक्ति में व्यंजित है।

शब्दार्थ:—छठि=छः रात्रियों। रहस कोड=रास क्रीड़ा (अश्लील रागरंग जो अवध में बच्चे की छठी के उत्सव में प्रायः मनाया जाता था) भा=हुआ। विहान= सबेरा। पुरान=पत्रा। अरथाए=विचार किया। उवा=उदित हुआ। दिया अकासू= आकाश का दीपक, चाँद। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के चाँद अर्थात् पद्मावती का प्रतिबिम्ब आकाश का चाँद है। उदो =उदय। नाउँ=नाम। सूर=सूर्य। परस=छूना। करीर =किरणें। उपना=पैदा हुए। रतन जोग=रत्नसेन के लिए। जमबारू=यम का द्वार अर्थात् मौत। राइ = राजा।

(५३)

अही जनम पत्री सो लिखी। दें असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरसि महँ भई सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ बैसारी॥
भै पदुमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सिंहल दीप राज घर बारी। महाँ सुरूप दैयँ औतारी॥
एक पदुमिनी औ पंडित पढ़ी। दुहुँ केहि जोग दैयँ अस गढ़ी॥
जाकहँ लिखी लच्छि घर होनी। असि सो पाव पढ़ी औ लोनी॥
सप्तदीप के बर जो ओनाहीं। उतर न पावहिं फिरि फिरि जाहीं॥
राजा कहै गरब कै हौं रे इंद्र सिवलोक।
को सरि मोसों पावै कासों करौं बरोक॥५३॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में जायसी पद्मावती के रूप-गुण की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:—

उसकी जन्मपत्री अनेक आशीर्वाद देकर ज्योतिषियों ने लिखी थी और चले गये। जब पद्मावती पाँच वर्ष की बाला हुई तो उसे पुराण पढ़ने के लिए बैठाया गया। पद्मावती पढ़-लिखकर बड़ी योग्य एवं विदुषी बनी। यह बात चारों खण्ड के भूपतियों ने सुन ली कि सिंहलदीप के राजा के यहाँ महा रूपवती देवी अवतार स्वरूप एक बाला है। एक तो वह पद्मिनी जाति की नारी है दूसरे वह पढ़ी-लिखी है, विदुषी है। कौन जाने, किसके वरण के लिए उसे ईश्वर ने ऐसा बनाया है ? जिसके घर या भाग्य में लक्ष्मी का होना लिखा होता है, वही ऐसी योग्य सुन्दरी को पाता है। सातों द्वीपों के राजा उसे वरने के लिए झुकते हैं, पर उसकी योग्यता के प्रश्नों का उत्तर न पाकर निराश, अविवाहित ही लौट जाते हैं।

सिंहल का राजा गर्व के साथ कहता है कि मैं शिवलोक (सिंहल) का इन्द्र हूं। कौन मेरी समता का है ? किसके साथ, अतः मैं अपनी कन्या का विवाह रचाऊं ?

विशेष—चार प्रकार की नारियों का हमारे यहाँ उल्लेख है—पद्मिनी, शंखिनी, चित्रणी और हस्तिनी। विदुषी नारी पद्मिनी ही कही गई है। लगता है जायसी की कल्पना में पद्मिनी नारी श्रेष्ठ थी। अन्त में, राजा जनक और उसकी दुहिता सीता—इन दोनों की सूक्ष्म महत्ता व्यंजित है। सीता में भी पद्मिनी के गुण थे और सिंहल के राजा में जनक जैसे। आगे रत्नसेन का प्रतिरूप राम ठहरते हैं—योग्यता, लगन और प्रेम की दृष्टि से, नीति आदर्श की तुलसी की दृष्टि से नहीं। प्रतीत होता है तुलसी ने इस व्यंजना को अपने बिम्ब पात्रों में प्रकट किया है। उपरोक्त पद की व्यंजना की तुलना में तुलसी की यह पंक्तियाँ दर्शनीय हैः—

दीप दीप के भूपति नाना······

× × ×

काहु न संकर चाप चढ़ावा······

× × ×

अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर विहीन मही मैं जानी।

—(तुलसी बालकाण्ड, पृष्ठ २४१)

जायसी ने लिखा हैः—

सप्तदीप के वर जो ओनाहीं। उतर न पावहि फिरि फिरि जाहीं।।

× × ×

को सरि मोसो पावै कासों करौं बरोक।

स्पष्ट है कि जायसी की पूर्व रचना का तुलसी की उपरोक्त व्यंजना में सूक्ष्म साम्य है। सीता-पद्मावती के विवाह आयोजन एवं जनक तथा गन्धर्वसेन की गर्वोक्ति में साम्यता स्पष्ट है।

शब्दार्थ—अही=थी। बहुरे=चले गए। महँ=में। बारी=वाला। बैसारी=बैठाया। दैयँ=देव। दुहुँ=कौन जाने। केहि जोग=किसके योग्य। असि=ऐसी। गडी=बनाया। जाकहँ=जिसके। असि=वही। लोनी=सुन्दरी। लच्छि=लक्ष्मी, यहाँ पद्मावती के लिए प्रयोग हुआ है। ओनाहीं=झुकते हैं।

(५४)

बारह बरिस माँह भइ रानी। राजैं सुना संजोग सयानी।।
सात खण्ड धौराहर तासू। पदुमिनि कहँ सो दीन्ह नेवासू।।
औ दीन्ही संग सखी सहेली। जो संग करहि रहस रस केली।।
सबै नवल पिय संग न सोई। कँवल पास जनु बिगसहिं कोई।।
सुआ एक पदुमति ठाऊं। महापंडित हीरामन नाऊं।।
दैयं दीन्ह पांखिहि असि जोती। नैन रतन मुख मानिक मोंती।।
कंचन बरन सुआ अति लोना। मानहु मिला सोहगहि सोना।।

रहहिं एक सँग दोऊ पढ़हिं सास्तर बेद।
ब्रह्मा सीस डोलावहिं सुनत लाग तस भेद ॥५४॥

भावार्थ—(कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में अविवाहिता रानी पद्मिनी के पास रक्खे हुए पंडित तोते हीरामन का वर्णन करते हुए लिख रहे हैं) :—

रानी पद्मिनी बारह वर्ष के बाद युवती हो गई। (पूर्व पाँच वर्ष की आयु में वह पढ़ने बैठा दी गई थी। अतः १२+५=१७ वर्ष की आयु समझनी चाहिये। पर प्रबन्ध निर्वाह को ध्यान में रखते हुए इतना बड़ा समय कैसे बीता, यह विचार व्यतिक्रम पैदा करता है और इससे प्रबन्ध निर्वाह को चोट पहुँचती है।) राजा ने सुना कि वह विवाह के योग्य सयानी हो गई है, तो उसे सात खण्ड के ऊँचे धरहरे पर रक्खा गया और उसके साथ अविवाहित सहेलियाँ क्रीड़ा-विनोद के लिए नियुक्त कर दी गई जिनके साथ पद्मिनी हँस-खेलकर समय व्यतीत कर सके। वे सब सहेलियाँ नववय वाली थीं जिनका विवाह नहीं हुआ था और जो प्रियतम के पास नहीं सोई थीं। वे पद्मावती के पास ऐसे खिली रहती थीं जैसे कमल के पास कुमुदनियाँ। एक तोता पद्मिनी के पास था जिसका नाम हीरामन था और जो बड़ा पंडित था। ईश्वर ने उस पक्षी को भी इस तरह की ज्ञान की दिव्य ज्योति दी थी। उसके नेत्र में रत्न भरे थे और मुख में मणि-माणिक्य मोती भरे थे। वह तोता सुनहरे रंग का बड़ा सुन्दर था। ऐसा लगता था मानो सोने में सुहागा मिला हो।

रानी पद्मावती और हीरामन तोता साथ-साथ रहकर वेद-शास्त्र पढ़ते थे। वह जो वेद-शास्त्रों की गम्भीर चर्चा करते थे उसे सुनकर ब्रह्मा भी प्रफुल्लित होकर झूमने लगते थे।

विशेष—यहाँ जायसी ने अवध की प्राचीन कुवाँरियों के परदे में रहने वाली प्रथा, पक्षियों के आदम सम्बन्धी किस्सों एवं लोक मुहावरों के प्रयोग का परिचय दिया है। यह जायसी के व्यावहारिक ज्ञान का प्रमाण है जिसे उन्होंने काव्योक्तियों में ढाल दिया है। आगे तोता गुरु का प्रतीक बना है।

शब्दार्थ—बरसि=वर्ष। माँह=में। भई रानी=जवान होगई, १६-१७ वर्ष की हो गई। सँजोग=विवाह योग्य। धौराहर=धरहरे। रहस रस केली=क्रीड़ा, विनोद, चुहल। नवल=कुँवारी कलियाँ। पिय संग न सोई=पति के साथ सम्भोग नहीं किया। बिगसहि=खिली। सुआ=तोता। देयँ=प्रभु। पंखिहि=पक्षी को। बरन=रंग। कंचन=सोना। लोना=लुभावना। मानहु मिला सोहागहि सोना=यह मुहावरा है कि "सोने में सुहागा मिला हो" आशय यह है सर्वथा सुन्दर एवं अनुकूल मेल। सास्तर= शास्त्र। तस भेद=ऐसा रहस्य, आशय है ऐसी चर्चा।

(५५)

भइ आनंत पदुमावति बारी। धज धोरें सब करी सँवारी॥
जग बेधा तेइ अँग सुबासा। भँवर आइ लुबधे चहुँ पासा॥

बेनी नाग मलैगिरि पीठी। ससि माँथे होइ दुइजि बईठी॥
भौहें धनुक साँधि सर फेरी। नैन कुरँगिनि भूलि जनु हेरी॥
नासिक कीर कँवल मुख सोहा। पदुमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिअ हुलसै कुच कनक जँभीरा॥
केहरि लंक गवन गज हरे। सुर नर देखि माथ भुइं धरे॥
जग कोइ दिस्टि न आवै आछहि नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी तप साधहि तेहि आस॥५५॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी सूफी चिन्ताधारा के अनुकूल पद्मावती को प्रेयसी, माशूक, ईश्वर एवं आत्मा-रूप को आशिक या प्रेमी मानकर दिव्य रूप-विधायक चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं।

यौवन के भार से अब पद्मावती बाला झुक रही है। वह सर्व प्रकार से स्वच्छ सजाई-धजाई हुई है। उसके अंगों की सुगन्ध से संसार घायल हो गया है। उसकी सुगन्ध से भँवरे चारों ओर मधु के लोभ से घिर गए हैं। उसकी वेणी नाग की भाँति एवं पीठ की उठान मलयागिरि पर्वत की भाँति है। इन दोनों का संयोग है। (रूपक तथा उत्प्रेक्षा का सन्देह होने से सन्देह-संकर अलंकार है।) उसका माथा द्वितीया का चाँद जैसा शोभायमान है। वह भौंह-रूपी धनुषों पर कटाक्ष रूपी बाण साध रही है (रूपक अलंकार है) आँखें ऐसी लग रही हैं मानो स्थान को भूली हुई कोई हिरणी भोलेपन से देख रही हो (व्यंजना है—पद्मावती के चंचल नैनों की प्रकट होने वाली सरलता की) उसकी शुद्ध नासिका तथा मुख-कमल शोभायमान है। (रूपक है) आशय यह है कि उसकी नासिका तोते एवं मुख कमल के समान शोभित है। पद्मावती के ऐसे सौन्दर्य को देखकर सारा संसार मोहित है। उसके लाल-लाल अधर माणिक हैं, दाँत उज्ज्वल हीरे हैं, उसके स्तन उभरी छाती पर छोटे-छोटे सोने के नीबू हैं। (रूपक)। आशय यह है कि उसके अधर माणिक के समान दाँत हीरे के समान तथा उभरी छाती पर छोटे-छोटे स्तन सोने के नीबू के समान सुन्दर एवं आकर्षक हैं। उसकी कमर शेर की कमर-सी पतली एवं चाल हाथी की चाल को नीचा दिखाने वाली है। वह गजगामिनी है। देवता, मनुष्य उसको देखकर धरती पर सिर झुका लेते हैं। वह सर्वव्यापक रूपणी है। संसार में उस जैसा स्वरूपवान कोई नहीं दीखता। अतः लोग उसे देखकर आकाश पर आँखें बिछाते हैं। बड़े योगी, यति एवं संन्यासी उसे पा लेने के लिए तपस्या और साधना करते हैं। (समासोक्ति)।

विशेष—प्रस्तुत अंश में श्लेषात्मक अभिव्यंजना अपूर्व है। ऐहिक जगत के सौन्दर्य-बोध में अपार्थिव रूप की परिकल्पना बड़ी संशलिष्ट एवं चित्रात्मक बनी है। नारी सौन्दर्य का शरीरज मोहक चित्र सा उपरोक्त पंक्तियों में प्रदर्शित होता है। किन्तु रति शृंगार की सम्पूर्ण धड़कनों को जगाता तथा दिव्यता का आभास करता हुआ सा; जड़ नहीं। काव्यात्मक दृष्टि से जायसी के इस प्रकार के नख-शिख और मिलन-विरह

सम्बन्धी अंश बेजोड़ हैं, जिनमें काया और माया और दिव्यता का अपूर्व समन्वय आभासित होता है।

शब्दार्थ—ओनंत = झुकी, भारावह। बारी = कुमारी, सुन्दरी। धज धोरें = स्वच्छ, सजाई-धजाई। बेधा = घायल। लुबुधे = मोहित, आकर्षित हुए। चहुँपासा = चारों ओर। बेनी = वेणी। मलेगिरि = मलय पर्वत। नाग = साँप। ससि = चाँद। दुइज = दौज। सर = बाण। कुरंगिनि = हिरणी। नासिक = नाक। कीर = तोता। अधर = ओठ। दसन = दाँत। हिअ = छाती। हुलसै = उभरी। कुच = स्तन। कनक = स्वर्ण। जँभीरा = नीबू। लंक = कमर। गवन = चाल। भुँइ = धरती। दिस्टि = दृष्टि। आछहिं = हैं। तेहि आस = उसको पाने के लिये।

(५६)

राजै सुना दिस्टि भइ आना। बुधि जो देइ संग सुआ सयाना॥
भएहु रजाएसु मारहु सुआ। सूर सुनाव चाँद जहँ उआ॥
सतुरु सुआ के नाऊ बारी। सुनि धाए जस धाव मँजारी॥
तब लगि रानी सुआ छपावा। जब लगि आइ मँजारिन्ह पावा॥
पिता क आएंसु माँथे मोरे। कहहु जाइ बिनवँ कर जोरे॥
पंखि न कोई होइ सुजानू। जानै भुगुति कि जान उड़ानू॥
सुआ जो पढ़हि पढ़ाए बैना। तेहि कत बुधि जेहि हिएँ न मैना॥
मानिक मोति देखावहु हिएँ न ग्यान करेइ।
दारिवँ दाख जानि कँ अबहि ठोर भरि लेइ॥ ५६॥

भावार्थ—कविवर जायसी ने यहाँ हीरामन विद्वान तोते को राजा द्वारा कुपित होकर मारे जाने की भावना व्यक्त की है। किन्तु कथा-सूत्रता की दृष्टि से तोते का कसूर राजा को ज्ञात होना चाहिये था। फिर तोते का प्रसंग; आगे रतनसेन को पद्मावती के रूप सौन्दर्य का बताना भी इसी बात का पुष्टि करता है कि इस अंश के पूर्व कोई अंश और होगा जो कथासूत्रता की दृष्टि से नितान्त अनिवार्य है। जायसी उसे चुका नहीं सकते थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित ग्रंथ में यह पद है। यद्यपि ग्रियर्सन आदि ने प्रक्षिप्त माना है पर हमारी दृष्टि से इसका होना अनिवार्य है। कुछ भी हो, हम आगे इस अंश को दे रहे हैं।

राजा ने सुना कि पद्मावती को, चालाक तोता ही उसके यौवन को भड़काने की बात करता है तो उसकी दृष्टि कुपित हो गई। राजा की आज्ञा हुई कि तोते को मार दिया जाय। क्योंकि यह तोता उल्टी बातें पद्मावती को पढ़ाता है। जहाँ चाँद उगा होता है वहाँ सूर्य का उदय होना बतलाता है। तोते के दुश्मन नाई और बारी (नौकर) होते हैं। मृत्यु की राजाज्ञा सुनकर ये लोग तोते पर ऐसे झपटे जैसे बिल्ली झपटती है। तब तक ये झपटें कि रानी ने तोते को छिपा दिया। रानी ने फिर कहा कि पिता की आज्ञा मुझे सिर माथे है किंतु मेरी एक प्रार्थना उनसे हाथ जोड़कर कहना। कहना, कि पक्षी कोई भी

विद्वान नहीं होता। वह या तो खाना जानता है या उड़ना। तोता तो वह बोलता है जो उसे बुलाया जाता है। उसे बुद्धि कहाँ से आई, जिसके पास न हृदय है और नेत्र हैं !

उसे यदि मोती दिखाए जायें तो उसको मन में इतना बोध नहीं होता कि वह मोती है। वह उन्हें दाख अनार समझकर मुँह में भर लेता है।

शब्दार्थ—दिस्टि=नज़र। आना=और। सयाना=चालाक। रजाएसु=राजाज्ञा। सूर=सूरज। उआ=उदय हुआ। सतुरु=शत्रु। मँजारी=बिल्ली। आएसु=आज्ञा। बिनवै=प्रार्थना। करजोर=हाथ जोड़कर। पंखि=पक्षी। सुजानू=पंडित। भुगति=खाना। बैना=बोल। हिए=हृदय।

(उपरोक्त से पूर्व का प्रक्षिप्त कहा गया अंश):—

एक दिवस पदमावति रानी। हीरामनि तहँ कहा सयानी॥
सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहिं माता॥
देस देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥
हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहिं जाई॥
अज्ञा देउ देखौं फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै नरेसा॥
जौ लगि मैं फिरि आवौं मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन राजहि कहा विचारि॥

भावार्थ—कविवर जायसी इस अंश में मानो आगामी सारे कथा प्रबन्ध की भूमिका प्रस्तुत करते हैं और पद्मावती के अत्यधिक युवती और कामातुर होने पर तोते ने उसे सम्भावना सन्तोष प्रकट किया, जो आगे पूरे पद्मावत के कथानक का प्राण है:—

एक दिन पद्मावती रानी ने हीरामन तोते से कहा—हे हीरामन तोते ! सुन, तुझसे एक बात कहती हूँ। मुझे दिन-दिन कामदेव सताने आ रहा है। मेरे पिता मेरे विवाह की चर्चा नहीं चलाते। माता भी उनके भय से इस विषय में कुछ नहीं कह पाती। देश-देश के वर मोहित होकर आते हैं पर पिताजी उनको देखने के लिए आँख तक नहीं उठाते। मेरा यौवन गंगा की भाँति उज्ज्वल होकर उमड़ रहा है। हमारे अंग-अंग से काम लिपट रहा है। यह सुन-समझकर हीरामन ने कहा—हे रानी, ईश्वर का भाग्य में लिखा कौन मिटा सकता है ? (तुलसी ने भी कहा है—"**विधि का लिखा को मेटनि हारा।**") यदि तू मुझे आज्ञा दे तो मैं तेरे वर के लिए देश-विदेश घूमूं, ताकि तेरे योग्य कोई राजा वर मिल सके।

हे रानी, जब तक मैं लौटकर आऊँ, तू मन में धैर्य रख। यदि कोई दुष्ट मेरी-तेरी बातों को सुनकर राजा से चुगली करेगा तो राजा क्या सोचेगा ?

शब्दार्थ—तइँ=से। मदन=काम। त्रासहि=भय से। वर=दूल्हा। भयउ=हुआ। अनंगा=कामदेव। जोग=योग्य। नरेसा=राजकुमार। दुरजन=दुष्ट।

(५७)

वै तौ फिरे उतर अस दावा । बिनवा सुअँ हिएँ डर खावा ।।
रानी तुम जुग जुग सुख आऊ । हौं सब बनोवास कहँ जाऊँ ।।
मोंतिहि जौ मलीन होइ करा । पुनि सो पानि कहाँ निरमरा ।।
ठाकुर अन्त चहै जो मारा । तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा ।।
जेहि घर काल मँजारी नाचा । पंखी नाउँ जीउ नहिं बाँचा ।।
मैं तुम्ह राज बहुत सुख देखा । जौं पूँछहु दै जाइ न लेखा ।।
जो इंछा मन कीन्ह सो जेंवा । भा पछिताउ चलेउँ बिनु सेवा ।।५७।।

भावार्थः—कविवर जायसी इस अंश में तोते की बुद्धि-व्यवहारिकता का परिचय देते हुए लिखते हैं—

पद्मावती के ऐसा कहने पर नाई-बारी तो चले गए पर तोते ने मन में भयातुर होकर उससे कहा—हे रानी, तुम युग-युग तक सुख पाती रहो, मैं यह कामना करता हूँ। पर मैं जंगल को जाना चाहता हूँ। कारण यह है कि मेरा अब यहाँ रहना उचित नहीं। क्योंकि यदि मोती की चमक मलीन हो जाती है तो फिर उसमें पहली सी वह उज्ज्वल आभा कहाँ रह जाती है ? तात्पर्य यह है कि एक बार इज़्जत पर हाथ पड़ जाने से फिर वह लौट कर नहीं मिलती। स्वामी के साथ या सामने सेवक की भला क्या बिसात है, अन्ततः जब राजा मुझे मारना ही चाहेगा तो मार देगा, उससे छुटकारा कहाँ है ? (यहाँ सेवक स्वामी के सम्बन्ध का सैद्धान्तिक भाव व्यक्त है)। जिस घर में काल रूपी बिल्ली नाच रही हो वहाँ पक्षी नाम का जीव नहीं बच सकता। (रूपक अलंकार है) हे रानी, मैंने तुम्हारे राज में बड़ा सुख देखा या पाया है। यदि कहूँ तो उसका हिसाब तक नहीं दे सकता। जो इच्छा की वही भोजन खाया। दुख और पश्चाताप इसी बात का है कि चलते चलते तुम्हारी कुछ सेवा भी न कर सका।

मुझे राजा मार देगा, इस बात का कोई शोक मुझे नहीं है। मैं अपने कसूर के लिए नहीं डरता। आशय यह है कि मैं पद्मावती को सान्त्वना देने का कसूर भी करता हूँ, तो उसका कोई पश्चाताप मुझे नहीं है। क्योंकि वह कोई वस्तुतः पाप नहीं है। पर समस्या यह है कि यदि केला बेरी के पड़ोस या निकट में रहेगा तो कैसे झूम या क्रीड़ा कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि यदि मैं अब राजा के निकट रहूँगा तो कैसे जी-मानी बात कर सकूँगा, जिससे सुख मिले।

शब्दार्थः—उतर = उत्तर। वे = नौकर, जो तोते को मारने आए थे—नाई और बारी। फिरे = लौटे। मलीन = मैला। पानि = आब। उबारा = छुटकारा। जेंवा = खाया। मँजारी = बिल्ली। नाऊँ = नाम। जीउ = जीव। लेखा = हिसाब। इंछा = इच्छा। निसोगा = शोक रहित। दोस = कसूर। केलि = क्रीडा या झूमना। भा = हुआ। परोस = पड़ौस या निकट में।

(५८)

रानी उत दीन्ह कै मया। जौं जिउ जाइ रहै किमि कया।
हीरामन तूं प्रान परेवा। धोख न लाग करत तोहि सेवा।।
तोहि सेवा बिछुरन नहि आखौं। पींजर हिए घालि तोहि राखौं।।
हौं मानुस तूं पंखि पिआरा। धरम पिरीति तहाँ को मारा।।
का सो प्रीति तन माँह बिदाई। सोइ प्रीति जिअ साथ जो जाई।।
प्रीति भार लै हिए न सोचू। ओहि पंथ भल होइ कि पोचू।।
प्रीति पहार भार जो काँधा। सो कस छूट लाइ जिऊ बाँधा।।
सुआ न रहै खुरुक जिअ अबहि काल सो आउ।
सतरू अहै जो करिआ कबहुं सो बोरै नाउ।।५८।।

भावार्थ—प्रस्तुत पद में जायसी पद्मावती का तोते के प्रति अगाध प्रेम प्रदर्शित करते हुए सूफी प्रेमतत्व की मार्मिक अभिव्यंजना कर रहे हैं। यह उक्तियाँ सीधी हृदय से निःसृत होकर हृदय को छूती हैं।

पद्मावती ने तोते को अत्यन्त प्रेम से कहा—रे प्रिय तोते ! भला प्राण के चले जाने पर यह शरीर रह पाता है ? तेरे चले जाने पर मैं रह सकूँगी ? (स्वभावोक्ति अलंकार है।) हे हीरामन, तू मेरा प्राण प्यारा पंछी है। तुझे कभी मेरी सेवा करते हुए चूक नहीं हुई। तेरी सेवा से विमुक्त होने के लिए मैं कभी भी नहीं कह सकती। हृदय रूपी पिंजरे में मैं तुझे छिपाकर रक्खूँगी। मैं जानती हूँ तू मेरा प्यारा पंछी है। धर्म से जुड़ी प्रीति को कौन मार सकता है ? वह प्यार ही क्या जो शरीर में ही विदा पा ले ? प्यार आत्मा सा अमर है। प्रीति वही है जो आत्मा के साथ जाती है। परलोक में भी जो प्रीति बनी रहे, वह प्रीति है। प्रीति का बोझ लेकर हृदय कुछ सोचता विचारता नहीं है कि क्या उचित है, क्या अनुचित है; चाहे प्रेम का मार्ग अच्छा हो या बुरा हो। कहा भी है—"Love is Blind" प्रीति के पहाड़ को उठाने के लिए जो स्नेह के कंधे लगा देता है उसका लगा दिल कैसे छूट सकता है ?

किंतु पंडित तोता यहाँ रहना नहीं चाहता था। क्योंकि उसके हृदय में चिंता थी कि वहाँ अभी उसकी मृत्यु आ सकती है। जहाँ खेवट ही दुश्मन बन गया हो वह नाव को कहीं पर भी डुबो सकता है। (दृष्टान्त अलंकार है)।

शब्दार्थ—उतर=उत्तर। मया=मोह। किमि=कैसे। कया=काया। परेवा=पंछी। आंखौं=कहूँगी। हिए=हृदय। पींजर=पिंजरा। पिरीत=प्रीति। भल=अच्छा। पोचू=कमजोर, यहाँ 'बुरा' से अर्थ है। पहार=पहाड़। काँधा=कंधा। खुरूक=फिक्र। करिआ=खेवट। बोरे=डुबो दे।

R.V

४--मानसरोदक-खण्ड

(५९)

एक दिवस कौनिउँ तिथि आई । मानसरोदक चली अन्हाई ।।
पदुमावति सब सखीं बोलाई । जनु फुलवारि सबै चलि आई ।।
कोइ चंपा कोइ कुंद सहेलीं । कोइ सुकेत करना रस बेलीं ।।
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती । कोइ बकौरि बकचुन बिहँसाती ।।
कोई सु बोल सरि पुहुपावती । कोइ जाही जूही सेवती ।।
कोइ सोनजरद जेउँ केसरि । कोइ सिंगार हार नागेसरि ।।
कोइ कूजा सदबरग चँबेली । कोई कदम सुरस रस बेली ।।
चलीं सबै मालति सँग फूले कँवल कमोद ।
बेधि रहे गन गंध्रप बास परिमलामोद ।।५९।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत पद में पद्मावती के स्थान, उसके सौंदर्य एवं उसकी सहेलियों की स्थूल शोभा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

एक दिन किसी शुभ तारीख, पूर्णिमा को पद्मावती मानसरोवर में स्नान करने के लिये चली। पद्मावती ने अपनी सब सहेलियों को बुलाया। उसके बुलाने पर मानो फुलवारी चली आई हो, ऐसे सारी सखियाँ चली आई। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) उनमें से कोई सहेली, चम्पा, कुन्द, केतकी करना, रसबेलि, गुलाल, लालसुदर्शन, बकावली और कोई बकचुन के पुष्पों की भांति सुन्दर एवं प्रसन्न हैं। (यहां मालोपमा अलंकार है) और सहेलियां मौलश्री, पुष्पावती, जाही, जूही, सेवती, सोनजरद, हरसिंगार, श्वेत गुलाब, सद-बरग, चमेली, कदम्ब एवं रसबेलि की भांति सुन्दर हैं।

इस प्रकार पद्मिनी के साथ सभी सखियाँ मिलकर मालती, कमल, कुमुदनी की भाँति चलीं। उनकी सुगंध-सुन्दरता से सारा गंधर्व का वातावरण आनन्दमय हो गया।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी की नाम परिगणन शक्ति-अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। प्रकृति के साथ कवि के नेत्रों-भावों का कितना सजीव-साकार सम्पर्क है !

शब्दार्थ—अन्हाई = स्नान। शेष फूलों के नाम भावार्थ से देखें।

(६०)

खेलत मान सरोवर गईं । जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं ।।
देखि सरोवर रहसहिं केली । पदुमावति सौं कहहिं सहेलीं ।।
ए रानी मन देखु बिचारी । एहि नेहर रहना दिन चारी ।।

जौ लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जौं खेलहु आजू ।।
पुनि सासुर हम गौनब काली । कित हम कित एह सरवर पाली ।।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ । किति मिलिकै खेलब एक साथाँ ।।
सास नँनद बोलिन्ह जिउ लेहीं । दारुन ससुर न आवै देहीं ।।
पिउ पिआर सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ काह ।
कहुँ सुख राखै की दुख दुहुँ कस जरम निवाहु ।।६०।।

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में जायसी ने ऐहिक संसार एवं पारलौकिक जगत की रहस्यवादी भावना को व्यक्त किया है । प्रतीक, रूपक, समासोक्ति के द्वारा उन्होंने एक अभिनव सूफी प्रेम व्यंजना को प्रकट किया है। रहस्यवादी दृष्टि से यह पद काव्य-माधुर्य से परिपूर्ण है। रहस्यवाद में आत्मा-परमात्मा के चिर-दाम्पत्य प्रेम का भाव विशेष होता है। आत्माएँ इस संसार रूपी सरोवर पर भटकती हुई विरहणियां हैं। इस संसार में जीव कर्म करने में स्वतंत्र होता है। किंतु आत्मा रूपी बधू के लिये सुसराल में पति-परमेश्वर के प्यार के सौ-सौ बन्धन होते हैं, सौ-सौ साधनाएँ होती हैं। फिर इस नेहर रूपी सरोवर में स्वच्छंदता से विहार करने का अवसर नहीं मिलता। यहाँ पर रहस्यवादी प्रतीक—आत्मा, परमात्मा, संसार, परलोक आदि भारतीय भाव के अनुकूल हैं; पर 'प्रेम की पीर' सूफीयाना ही है।

यों सभी कुमारियाँ मानसरोवर पहुँचीं। वे ताल के ऊपरी भाग पर खड़ी हो गईं। उस सरोवर को देख-देखकर वे मनोविनोद और क्रीड़ा करती हैं। पद्मावती से सभी सहेलियाँ कहती हैं—हे रानी, ज़रा मन में सोचो तो, इस सुखद पीहरमें चार दिन ही रहकर सुख लूटना है। पिता के राज्य में जबतक हैं तबतक जो स्वच्छंद क्रीड़ाएँ करनी हैं, आज ही करली जाँय। (स्वभावोक्ति अलंकार है)। कल जब सुसर के घर के लिये हमारा गोना हो जायगा, तब, कहाँ हम और कहाँ ये सुन्दर सरोवर ! एकदम हम सब स्वप्न सी विलग हो जायँगी। तब यहाँ आना हमारे लिये कहाँ संभव होगा—कब वश में होगा ? फिर हम साथ-साथ मिलकर कहाँ खेल पाएँगी ? वहाँ हरदम सास-नन्द हमारे मन को मसोसेगीं और कठोर सुसर हमें यहाँ नहीं आने देगा।

इन सबके ऊपर, प्रियतम का भय बना रहेगा कि न जाने वह क्या कर बैठे। क्या पता कि वह हमें सुख से रक्खेगा या दुख देगा ? क्या पता है, वहाँ जीवन किस भाँति व्यतीत होगा !

विशेष—यद्यपि इस पद में रहस्यवादी अभिव्यंजना समासोक्ति के द्वारा निरूपित है तथापि लोक-व्यवहार के वैवाहिक पक्ष की—सास, सुसर, पति-पत्नी, सखी-सहेली, क्रीड़ा दुख सम्बधी बातें बड़ी स्वाभाविकता से काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी है—यही जायसी की अपनी काव्यात्मक विशेषता कही जायगी।

शब्दार्थ—पालि=भींटा, या सरोवर का ऊपरी भाग। रहसहि=विनोद करती हैं। केलि=क्रीड़ा। नेहर=पिता का घर। काली=कुल। जिउ=मन। काह=क्या।

दहुँ = कौन जाने। दहुँ = देवे। कस = कैसे। जरम = जीवन। निबाहु = गुजारा, निर्वाह।

(६१)

सरवर तीर पदुमिनीं आईं। खोंपा छोरि केस मोकराईं॥
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरधानी॥
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन्ह जनु राहाँ॥
छवि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दिस्टि तँह लावा। मेघ घटा मँह चाँद देखावा॥
दसन दामिनी कोकिल भाखीं। भौंहें धनुक गगन लै राखीं॥
नैन खँजन दुइ केलि करहीं। कुच नारँग मधुकर रस लेहीं॥
सिखर रूप बिमोहा हिएँ हिलोर करेइ।
पाय कछुक मकु पावौं तेहि मिसु लहरैं देइ॥६१॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने पद्मावती के सरोवर में स्नान करते समय उसके निरावरण स्वरूप की कल्पना अति अलंकारिक ढंग से की है। अनेक अलंकारों का, रूप सौन्दर्य का चित्रण करने के लिये, आरोप किया है। रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, उपमा आदि अलंकारों का चित्रण प्रधान है। यह शृंगार वर्णन नखशिख परम्परा के वर्णन का है किंतु स्वाभाविकता एवं सौष्ठव की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कहा जायगा—रीतिकालीन शृंगार परम्परा का जैसा निर्जीवप्राय चित्रण नहीं।

सरोवर के किनारे रानी पद्मिनी आई और उसने अपने बालों के जूड़े को खोलकर केशराशि को बिखेर दिया। उसका मुख चंद्र और अंग मलयगिरि है। तात्पर्य है, ऐसा मुन्दर है। (रूपक अलंकार)। उसके खुले केश ऐसे लग रहे हैं मानो नागों ने उसके आधे शरीर को ढंक लिया है (उत्प्रेक्षा अलंकार)। पद्मावती के घने बिखरे केश इस तरह छा गए कि संसार में छाया हो गई है। (अतिशयोक्ति अलंकार है) उसके मुख पर बिखराए-बिखराए केश ऐसे लग रहे हैं मानो चाँद की शरण राहु ने लेली हो (उत्प्रेक्षा है।) इस छवि को देखकर, कातर हुआ, सूर्य दिन में ही छिप गया है। लगता है, पद्मावती रूपी चंद्र अपनी सखी रूपी तारावलियों को लेकर रात में प्रकट हो गया है। (रूपक तथा भ्रम) भ्रम में पड़कर, चकोर चाँद को उदित हुआ जानकर पद्मावती के मुखचन्द्र को निहारने लगा; (भ्रांति अलंकार है) क्योंकि उसे लगा कि पद्मावती की केशराशि रूपी घटा के भीतर चाँद ही निकला हुआ है। उसके दाँत बिजली और बोली कोकिल जैसी है। उसकी भौहें ऐसी हैं मानो आकाश में इन्द्रधनुष निकला हो। दो नैन रूपी पक्षी ऐसे लगते हैं कि जैसे परस्पर क्रीड़ा कर रहे हों। आशय यह कि वह चंचल नयना है। उसके स्तन नारंगी हैं; जिनपर बिखरे केश अथवा स्तनों की काली घुंड़ी ऐसी लगती है मानों भँवरे उनका रस पी रहे हों।

पद्मावती के इस अपार रूप को देखकर, उसपर मोहित होकर, सरोवर उच्छल हो रहा है। वह शायद उसके सुन्दर पांवों का ही स्पर्श पा जाय, अतः इस उत्साह से वह लहरों के बहाने उमड़ रहा है।

शब्दार्थ—तीर=किनारा। खोपा=जूड़ा। मोकराई=खोला। मलयगिरि=पर्वत मलयगिर। नागन्ह=नागों ने। अरधानी आधा अंग। झांपि=ढँकलेना। ओनए=छागये। मेघ=बादल। सरन=शरण। राहाँ=राहू। ससि=शशि। भानु=सूर्य। परगसा=प्रकट हुआ। दिस्टि=दृष्टि। दसन=दाँत। दामिनी=बिजली। भकु=शायद। मिसु=बहाने से।

नोट :—जायसी रचित ही एक और छंद शुक्ल जी ने अपनी प्रति में रक्खा है; इसे भी प्रक्षिप्त माना जाता है। किंतु इस पद की व्यंजना पद संख्या ६० से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अतः इसको प्रक्षिप्त कहना अधिक उचित नहीं लगता। यों तो जायसी रचित सम्पूर्ण पद्मावत ही प्रक्षिप्त कहा जायगा—भाषा, ऐतिहासिकता आदि की सूक्ष्म दृष्टि से ! पर यह न्यायोचित नहीं। अस्तु हम इस छंद को सटीक प्रस्तुत कर रहे हैं—

(प्रक्षिप्त कथित पद)

मिलहिं रहसि सब चढ़हि हिंडोरी। झूलि लेहि सुख बारी भोरी॥
झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहिं झूलनि देइहि साईं॥
पुनि सासुर लेई राखहि तहाँ। नेहर चाह न पाउब जहाँ॥
कित यह धूप, कहाँ यह छाँहा। रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ॥
गुन पूछिहि और लाइहिं दोखू। कौन उतर पाउब तह मोखू॥
सास ननद के भौंह सिकोरे। रहब संकोच दुवौ कर जोरे॥
कित यह रहस जो आउन करना। ससुरेई अंत जनम दुख भरना॥
किन नेहर पुनि आउब कितु सुसरे यह खेल॥
आपु आपु कहँ होइहि परब पंखि जस डोल॥

भावार्थ—कविवर जायसी पद्मावती और उसकी सखियों का सरोवर के निकट झूला झूलने और आमोद प्रमोद लूटने का भाव व्यक्त करते हुए लिखते हैं:—

आनन्द के साथ मिलकर सब सखियाँ हिडौंला झूलती हैं। वे सब कुमारी एवं नादान बालाएँ झूले का सुख-आनन्द लेती हैं। जब तक पीहर है तब तक आनन्द से झूल लें। हे सखी, फिर सुसराल में पति नहीं झूलने देगा। फिर जैसे सुसर चाहेगा रक्खेगा। नैहर की चाह वहाँ नहीं मिलेगी। कहाँ यहाँ की सलौनी धूप होगी; कहाँ यहाँ की शीतल छाया होगी ? वहाँ हे सखी, घर में ही रहना होगा। वहाँ गुणों पर दोष लगाया जायगा। उस समय उसका क्या उत्तर मिलेगा ? वहाँ सास-नंद हर समय भौंहे चढ़ाकर कुटिल बंर्ताव करेंगी और हमें संकोचवश दोनों हाथ जोड़कर ही गुजारा करना होगा—सब कुछ सहना होगा। कहाँ यह रास-रंग रहेगा ? सुसराल में तो जन्म भर दुख ही भोगना होता है।

कहाँ फिर इस नैहर में आना होगा, कहाँ सुसराल में यह खेल मिलेगा ?

विशेष—शब्दार्थ सरल है—यहाँ पर भी सूफी ढंग की रहस्यवादी व्यंजना है। देखें छन्द संख्या ६०

(६२)

धरीं तीर सब दीपक सारी। सरवर महँ पैठी सब बारी॥
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं काम कै केलीं॥
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरी॥
करिल केस बिसहर बिसभरे। लहरैं लेहि कँवल मुख धरे॥
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम के साखा॥
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा॥
धनि सो नीर ससि तरई उईं। अब कत दिस्टि कँवल औ कुईं॥
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दोसर जल माँहि॥६२॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत पद में पूर्व की भाँति पद्मावती की सखियों के मानसरोवर में निरावरण स्नान करने वाले सौंदर्य की सालंकारिक अभिव्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट शृंगार में कर रहे हैं —

सभी सखियों ने अपनी छपी हुई साड़ियों को किनारे पर रख दिया और सरोवर में स्नान करने के लिए गई। पानीमें सब ऐसे बन गई मानो बसंत उन नव-कलियों को गुदगुदा रहा हो जो यौवन के रस से भरी प्रस्फुटित होने को हो रही हों। उनके काले केश पानी में इस प्रकार तिरते लग रहे हैं मानों विष भरे नाग लहरा-लहरा कर कमलों के मुख को चूमना चाहते हों। (उत्प्रेक्षा) वे प्रेम यौवन से इस प्रकार से झुक-झूम पड़ रही हैं मानों दाड़िम और दाख में कोपलें उग रही हों और वह प्रेम की शाखा पर झुकझूम रही हो। (उप्रेक्षा) वह सरोवर में इस प्रकार से लग रही हैं मानों रूप का संसार तालाब में नहीं समाएगा। अपनी सखि रूपी तारिकाओं के साथ चन्द्र रूपी पद्मिनी मानो तालाब में स्नान के लिए आसीन है। कविवर जायसी कहते हैं कि उस तालाब का पानी सौभाग्य-शाली है कि जहाँ इस प्रकार के अपूर्व चाँद-तारें उदित हो गए हैं। अब यहाँ कमल एवं कुमुदिनी कहाँ दिखलाई पड़ सकते हैं? (भ्राँतिमान अलंकार है।)

सरोवर में दिन में ही चाँद-तारों की आभा देखकर चकई को शाश्वत वियोग हुआ और वह अपने चकवे को पुकारने लगी कि हे प्रिय, अब कैसे मिलन होगा? एक चाँद तो रात को आकाश पर निकलता है और दूसरा दिन में जल के ऊपर उदय होने लगा है। (भ्राँतिमान अलंकार)

विशेष—यहाँ शृंगार का उद्दीपन विभाव प्रधान है। ऐसा वर्णन प्रायः संस्कृत कवियों द्वारा प्रधानतः हुआ है।

शब्दार्थ—छीपक=छपी हुई। सारी=साड़ी या वस्त्र। मँह=में। बारी=कुमारी। बेली=लताएँ। काम के केलि=काम की क्रीड़ा। करीं=कलियाँ। करिल=काले। केस=केश। बिसहर=सर्प। उठें=उगे। कोंप=कोपल। ओनंत=झुकी हुई। धनि=सौभाग्य शाली। तरइ=तारिकाएँ। उई=उदय हुई। कुई=कुमुदिनियाँ। नहाँ

=प्रिय, यहाँ चकोर के लिए आया है। दोसर=दूसरा।

(६३)

लागीं केलि करैं मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा॥
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी॥
बादि मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा॥
सँवरिहि साँवरि, गोरिहि गोरी। आपनि-आपनि लीन्ह सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हाथ न होइ पराए हाथा॥
आजुहि खेल, बहुरि कित होई। खेल गए कत खेले कोई॥
धनि सो खेल खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा॥
मुहमद बारि परेम की जेउँ भावै तेउं खेलु।
तीलहि फूलहि सँग जेउँ होइ फुलाएल तेल॥६३॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत पद में पद्मावती की सखियों की जल-क्रीड़ा के आनन्दकरी वातावरण का चित्रण करते हुए इसी क्रीड़ा को ईश्वरीय प्रेम की क्रीड़ा की अभिव्यंजना प्रदान करते हैं—समासोक्ति के द्वारा।

सब सखियाँ पानी में केलि-क्रीड़ा करने लगीं। उनकी मनमोहक क्रीड़ा को देखकर पानी में बैठे हंस लजाकर किनारे पर आ बैठे। पद्मावती को कौतुहल हो रहा था। सखियों ने कहा—हे पद्मावती, तुम हमारे बीच चाँद हो (बड़ी हो) और हम तारिकाएँ! अतः तुम हमारे केलि-कौतुक की साक्षी बनो कि इनमें से कौन खिलाड़ी है। यों परस्पर बाज़ी लगाकर खेल आरम्भ हुआ। शर्त रही कि जो हारेगी वह जीतने वाली को अपना हार देगी। साँवली साँवली के और गोरी गोरी सखी के साथ अपनी-अपनी जोड़ में बँध गईं। जायसी कहते हैं कि समझ-बूझकर खेल खेलना, कहीं ऐसा न हो कि गले का हार किसी पराये का हो जाय! यह खेल केवल आज ही आज का है, कल फिर न होगा। खेल के बीत जाने पर फिर क्या खेल खेला जायगा? (यहाँ पर समासोक्ति के द्वारा यह अर्थ लगता है कि जीवन की क्रीड़ा बस क्षणिक है, अतः इस क्रीड़ा को सतर्क होकर—ईश्वरीय लक्ष को न भूलते हुए, खेलना चाहिए) वह धन्य है जो प्रेम के रस से इस खेल को खेलता है—माया अथवा धोखे से नहीं। इस प्रेम-रस के खेल का प्राप्त होना और फिर उसका बना रहना, यह बड़े ही आनन्द का सुयोग है। पर यह दोनों बातें होना तो कठिन होता है। आशय यह है कि प्रेम की क्रीड़ा दुर्लभ है, क्योंकि हम उसकी रक्षा नहीं कर सकते।

कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम की वाटिका में जिसे खेलना रुचे वह खेल ले। प्रेम की फुलवारी में खेलने से, जैसे फूलों के सँग रखने से तिलों में भी सुगन्ध हो जाती है,—इसी प्रकार मानव जीवन भगवत् प्रेम से आनन्दमय एवं महान बन जाता है।

विशेष—सूफी मत में "मारिफत" के भावावेगमय रूप का नाम ही प्रेम है। इसीको 'इश्क' कहते हैं, जिसमें वज्द (उन्मदना) और वस्ल (ईश्वर मिलन) सन्निहित हैं। जायसी ने उपरोक्त छन्द में और सारे पद्मावत में ही इतस्ततः प्रेमतत्व की ऐसी ही

अभिव्यंजना की है। इसी कारण यह अन्य प्रेम-काव्यों से श्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

शब्दार्थ—लागी=लगी। साखी=साक्षी। ससि=चन्द्र। बारी=बाज़ी। पसारा=शुरू हुआ। हारु=हार, पराजय। रौताई=प्राप्ति। खेम=क्षेम। रौताई और खेम=अवधी की कहावत है जिसे कुशल-मंगल में अर्थ में लिया जाता है। जेउँ=ज्यों। फुलाएल=खुशबूदार।

(६४)

सखी एक तइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवाना॥
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा॥
कत खैलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ सँ हाथाँ॥
घर पैठत पूंछब एहि हारू। कौन उतर पाउबि पैसारू॥
नैन सीप आँ सुन्ह तस भरे। जानहु मोति गिरहिं सब ढरे॥
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला॥
हारु गँवाइ सो ऐसेहिं रोवा। हेरि हेराइ लेहु जौं खोवा॥
लागीं सब मिलि हेरैं बूड़ि बूड़ि एक साथ॥
कोई उठी मोंति लै घोंघा काहू हाथ॥ ६४॥

भावार्थ—कविवर जायसी इस पद में एक उस सखी का वर्णन कर रहे हैं जो जल-क्रीड़ा मैं नितान्त भोली है। फलस्वरूप, अपना बहुमूल्य हार सरोवर के जल में गँवा बैठती है। समासोक्ति के द्वारा संकेत यह होता है कि मूल्यवान जीवन की क्रीड़ा तब तक व्यर्थ है जब तक प्रेम और ज्ञान की जानकारी साधक अथवा खिलाड़ी को नहीं होती। पर फिर भी उसे पाया जा सकता है यदि डुबकी लगाई जाय—कर्म किया जाय तो? भले ही उसमें मोती प्राप्त हो अथवा घोंघा। तात्पर्य यह है कि प्रेम की अगाध साधना करनी चाहिये; तभी ईश्वरीय प्रेमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है।

कविवर जायसी कहते हैं, उनमें से एक सखी जल-क्रीड़ा के उस खेल से अनभिज्ञ थी। वह ग़ाफिल हो गई और उसने अपना मूल्यवान हार गँवा दिया—पानी में खो दिया। वह किसी कमल की डंडी या नाल को पकड़कर उस हार की चिन्ता में पड़ गई। रोने लगी कि हाय किससे अपने हार को ढूँढ़ देने के लिये कहूँ? पश्चात्ताप करती है कि मैं क्यों इन सबों के साथ क्रीड़ा करने को तत्पर होकर यहाँ आई। अभागिन हूँ कि अपने गले का हार भी गँवाकर चली जा रही हूँ। जब घर वाले पूछेंगे कि हार कहाँ गया, तो मैं क्या उत्तर या बहाना करके उनके घर में रह सकूँगी। यों उसके नैन—सीपियों से जो भरे आँसू ढुलक रहे थे वह ऐसे ढुलकर गिर रहे थे जैसे मोती गिर रहे हों। सखियों ने उससे कहा—अरी, तू तो निरी भोली कोकिला सी है जो वर्षा को ही बसन्त जानकर कूकने लगती है। तात्पर्य यह है कि वर्षा में वसन्त की हरियाली जैसी छा जाती है और कभी-कभी कोयल कूक उठती है, पर फिर मौन हो जाती है। क्योंकि वास्तव में बसन्त-प्रियतम को वह नहीं पाती। सखी कहती हैं—कौन बादल या पानी ऐसा है जिसके पीछे आँधी न हो?

आशय यह है कि खेल में कुछ खोकर रोना ही होता है—खुशी के बाद रंज का होना स्वाभाविक ही है। अरे, तू तो हार के लिये व्यर्थ रो रही है। जो खो गया है उसे ढूंढ़ने की साधना करें। (ईश्वर भी इसी प्रकार पाया जाता है।)

यों उस हार को खोजने के लिये सब सखियाँ एक साथ मिलकर जल में डुबकी लगाने लगीं। उसमें किसीको मोती मिला और किसीको घोंघा। आशय यह है कि प्रेम में साधना की गहरी डुबकी लगाने पर ईश्वर रूपी मोती मिलता है, नहीं तो उथली डुबकी लगाने पर व्यर्थता मिलती है—घोंघे की निधि !

विशेष—सूफी इमाम गजाली ने ईश्वर रूपी मोती की दुर्लभता को एक स्थल पर इन शब्दों में प्रकट किया है—

"अल्लाह सत्तर हजार पर्दों के भीतर है जिनमें से कुछ प्रकाशमय और कुछ अन्धकारमय हैं और यदि वह उन आवरणों को हटा लेवे तो जिस किसी की दृष्टि उस पर पड़ेगी वह उसके प्रकाश से दग्ध हो जायगा।" हाल, आनन्द, उन्माद एवं क्रीड़ा उसके स्वरूप के दर्शन पाने की एक दिशा है। जायसी ने यहाँ सूफी मत की इसी चिन्ताधारा का दिग्दर्शन कराया है जिसमें काव्यालंकारों का मधुर समावेश है। रूपक, उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकारों का मिश्रित प्रयोग है, जो पद में शोभा वृद्धि कर रहा है।

शब्दार्थ—चित अचेत=गाफिल होना। गँवाना=खो देना। डार=नाल, कमल की डंडी। भै=हुई। बेकरारा=चिंताकुल। एहि=इसको। उतर=उत्तर। पैसारू=रहने पायेगी भोगी=नादान, भोली। पानि=पानी, बादल। पौनु=आँधी। हेराई=तलाश करना।

(६५)

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमर तेन्ह पायन परसें। पान रूप रूप के दरसें॥
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना॥
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहि रूप जहाँ जो देखा॥
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे॥
नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर समीर।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नगहीर॥६५॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी ने पद्मावती रूपी दिव्यता के चरण-स्पर्श को पाने के लिए हार छिपाए सरोवर की मनोभावना का बड़ा सजीव चित्रण किया है। शिशु-कृष्ण की दिव्य पुरुषता के चरण का स्पर्श पाने के लिए कभी इसी प्रकार यमुना जी उमड़ी थीं—ठीक वैसा ही भाव यहाँ है। पद्मावती में ईश्वरत्व की परिकल्पना इस

छन्द में व्यापक हुई है—यह जायसी का प्रसिद्ध छन्द है। भाव समासोक्ति के आधार पर रहस्यवादी है।

कविवर जायसी कहते हैं—तट पर बैठी क्रीड़ा निहारनेवाली पद्मावती ने भी हार को खोज लेनेके लिए सरोवरमें प्रवेश किया। मानसरोवर ने यह देखकर अपने मन में आप ही कहा—मेरी चोरी सुकार्थ हुई। पारस-पवित्रमयी रूपवती पद्मावती मुझ तक आ रही है। उसके पाँवों का स्पर्श पाकर मैं निर्मल और निहाल हो गया। उसके स्वरूप में मिलकर मैं तद्रूप हो गया हूँ। (कबीर की प्रसिद्ध पंक्तियाँ भी इसी आत्म-परमात्म भाव की अभिव्यँजना करती है—**"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल, लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल।"**) पद्मावती की शरीर की सुगन्धित वायु से मैं शीतल हो गया हूँ, मेरी हृदय की ज्वाला शान्त हो गई है। आशय यह है कि मानसरोवर रूपी हृदय में जब परमेश्वर के दिव्य सौन्दर्य की अनुभूति स्पर्श होने लगती है तो आत्मा को 'वज़्द' उन्माद और 'वस्ल' महामिलन का आनन्द प्राप्त होने लगता है। अमीर खुसरो ने इसी प्रकार का भाव व्यंजित किया है—**"खुसरू रैन सुहाग की, जागी पीके संग। तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग।"**

कविवर जायसी आगे कहते हैं कि सरोवर सोच रहा है—न जाने कौनसी वायु आज इस पद्मावती को मेरे निकट तक खींच लाई है! आज मेरी पुण्यदशा जागी है और पाप कटे हैं। तभी तुरन्त हार ऊपर तैरने लगा। सखियों ने उसे पा लिया और वह चन्द्र-बदनी पद्मावती यह देखकर मुस्करा उठी। उसकी मनमोहक चन्द्रकिरण सी मुसकान को देखकर कमल खिल गए। और सबने देखा कि सारा सरोवरही चन्द्रमुखी पद्मावती के मुख का दर्पण हो गया है। (यहाँ रहस्यवादियों के आत्मा-परमात्मा के बिम्ब-प्रतिबिम्ब संबन्धी मधुर भाव की अभिव्यक्ति है) उस समय जैसा रूप जिसने देखना चाहा उसने देखा। आशय यह है कि परमेश्वर के अनेक रूप हैं। उसे जिस भावना से कोई देखना चाहता है, देख लेता है। तुलसी ने भी कहा—**'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन देखि तैसी।'** पद्मावती का समासोक्ति रूप से यही रूप यहाँ व्यक्त है।

पद्मावती की रूपदृष्टि से ही सर्वत्र सौन्दर्य के उपकरण खिल उठे। सरोवर में जहाँ उसके नेत्र पड़े वहाँ कमल हँस पड़े। सरोवर का सारा जल उसकी सुषमा से निर्मलतम हो गया। जहाँ जिस ओर उसने हँसकर निहारा तो राजहंसों की सृष्टि बन गई और जहाँ दन्तावली की झलक पड़ी वहीं नग हीरे झिलमिला लठे—उत्पन्न हो गए।

विशेष—इस पद में वस्तुतः जायसी ने काव्य की महाप्राण कल्पना, श्रृंगार का अनूपम चित्रण एवं ईश्वरीय रहस्य का महान सौन्दर्य व्यक्त किया है। जो लोग भारतीय रहस्यवादी काव्य को पश्चिम की वस्तु मानते हैं, वह इस पद को स्मरण रखें तो उनकी धारणा निर्मूल हो जायगी।

शब्दार्थ—चहा=चाहा। इहाँ=यहाँ। भा=हुआ। निरमर=निर्मल। परसें=छूने से। समीर=वायु। तपनि=ज्वाला। जनौं=जानता। पौन=वायु। पुन्नि=

पुण्य। भै=हुई। गँवावा=नष्ट हुए। ततखन=उसी क्षण। वेगि=शीघ्र। उतिराना=ऊपर तैरने लगा। दसन=दाँत। जोति=झलक।

●

५--सुआ खण्ड

(६६)

पदुमावति तँह खेल धमारी। सुआ मँदिर मँह देखि मँजारी॥
कहेसि चलौं जौं लहि तन पाँखा। जिउ लें उड़ा ताकि बन ढाँखा॥
जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हे। मिले पंख बहु आदर कीन्हे॥
आनि धरीं आगे बहु साखा। भुगुति न मिटै जौं लहि विधि राखा॥
पाई भुगुति सुक्ख मन भयऊ। अहा जो दुक्ख बिसरि सब गएऊ॥
ए गोसाईं तू अैस बिधाता। जाँवन जीउ सब क भख दाता॥
पाहन महँ न पतंग बिसारा। जँह तोहिं सँवर दीन्ह तुइँ चारा॥
तब लगि सोग बिछोह कर भोजन परा न पेट।
पुनि बिसरा भा सँवरना जनु सपने भइ भेंट॥६६॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छंद में राजा के आतंक से भयातुर, तोते के सिंहल छोड़कर निर्जन के प्रयाण का कथानक जोड़ते हुए प्रभु के विश्व-पोषक रूप का बड़ी सफाई से प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं :—

पद्मावती वहाँ मानसरोवर पर धमारी-क्रीड़ा करने में लगी हुई थी और इधर हीरामन तोते ने महल में एक मृत्यु रूपिणी बिल्ली को देखा। तोते ने उसे देखकर सोचा, जबतक शरीर में पंख हैं, जीने की ममता है—तो यहाँ से उड़ चलूं। अतः जान लेकर तोता वन-वृक्षों ढाखों को देखता उड़ चला। अपनी जान लेकर वह बन में पहुँच गया। उसे अन्य पक्षी वहाँ पर मिले और उन्होंने उसे आदर दिया। पक्षियों ने उसके सत्कार में फली डालियां रख दीं। उसने उनके फल खाए। जायसी कहते हैं, जब तक ईश्वर ने जीवन-प्राण दिये हैं, भूख मिटाने के साधन नहीं मिट सकते। (यहां ईश्वर के पौषक रूप पर असीम आस्था प्रकट की गई है) किंतु जब सुख-भोग मन को उपलब्ध हो जाते हैं तो पिछला दुख भूल जाता है—ईश्वर की कृपा से मनुष्य विमुख और कृतघ्न हो जाता है। (इसी प्रकार और भी कहा है—**"दुख में सुमरन सब करें, सुख में करे न कोइ, जो सुख में सुमरन करे तो दुख काहे कू होय।"**) जायसी कहते हैं, हे प्रभु! तू ऐसा दयालु है कि संसार में जितने जीव हैं, सबको खाने के लिये भोजन देता है। पत्थर के कीट को भी तू भोजन देना नहीं भूलता। जो तुझे

दुख में याद करता है तू उसे भोजन अवश्य देता है।

किंतु यह संसार बड़ा कृतघ्न है ! जबतक मनुष्य को भूख की चिंता रहती है, तब-तक तेरा विरह उसे बना रहता है। पर भोजन मिल जाने पर फिर तुझे भूलने को ही वह याद करता है (विरोधाभास अलंकार है) तात्पर्य यह है कि सुख में ईश्वर का नाम भुला देना मनुष्य का स्वभाव बन जाता है। सुख में मनुष्य ईश्वर के साथ ऐसा भाव दर्शाता है मानो उससे वह सपने में ही मिला था। तात्पर्य यह है कि यदि सुख में ईश्वर का स्मरण मनुष्य करता भी है तो मिथ्या के रूप में, सत्य नहीं। (विरोधा भास अलंकार है)।

शब्दार्थ—धमारी=खेलकूद में लगी हुई। मंदिर=महल। मँजारी=बिल्ली। जिउ=जीवन। ढांखा=वृक्ष। बनखंड=जंगल। पंखि=पक्षी। भुगुति=भोजन। जौं लहिं=जबतक। विधि=ईश्वर। सुक्ख=सुख। गोसाईं=ईश्वर। भख=भोजन। पाहन=पत्थर। मँह=में, के। बिसारा=भुलाता। चारा=भोजन।

(६७)

पदुमावति पहँ आइ भँडारी। कहेसि मँदिर महँ परी मँजारी ।।
सुआ जो उतर देत हा पूँछा। उड़िगा पिंजर न बोलै छूँछा ।।
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ। जनु निसि परी अस्त दिन भएऊ ।।
गहनै गही चाँद कै करा। आँसु गगन जनु नखतन्ह भरा ।।
टूटि पालि सरवर बहि लागे। कँवल बूड़ मधुकर उड़ि भागे ।।
एहि विधि आँसु नखत होइ चुए। गगन छाँड़ि सरवर भरि उए ।।
चिहुर चुर्पाहं मोतिन्ह कै माला। अब हम फिरि बांधा चह बाला ।।
उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु ।।६७।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छंद में हीरामन तोते का उड़कर चले जाने और उसके वियोग में पद्मावती की विवर्ण अवस्था होने का अतिशयोक्ति पूर्ण, मार्मिक, सजीव, सालंकारिक चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

पद्मावती के पास भंडारी आया और सूचना दी कि राजमहल में बिल्ली घुस आई है। जो तोता प्रश्न करने पर उत्तर देता था वह उड़ गया है और रिक्त होने के कारण पिंजरा मौन है। तोते के उड़ जाने की ख़बर सुनकर रानी के सारे सुख तिरोहित हो गए। उसको इतना अपार दुख प्रतीत हुआ, मानो दिन अस्त हो गया है; अंधेरी रात जीवन पटल में घिर गई है। किंवा चांद की कला को ग्रहण ने दबा लिया हो। भरे आकाश के तारे मानो उसकी आंखों के अश्रुकण हों। आसुओं के कारण तालाब का बांध टूट गया, पानी बह निकला। सारे कमल डूब गये और उनपर मँडराते भौंरे अदृष्य हो गए। (अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है)। पद्मावती के नेत्रों से आंसू तारों से बनकर इस प्रकार से टपके कि ऐसा प्रतीत हुआ मानो तारों ने अम्बर को छोड़ दिया है और तालाब में पूर्णतः उदित हो गए हैं। उसके खेल, विनोद के कारण बिखरे हुए कुन्तलों से आंसू लिपट कर मोतियों की माला

से झलकने लगे; मानो चाहते हों कि हम फिर उन्हीं बालों से बधना चाहते हैं। आशययह है कि बिखरे बालों से आंसू के कण-कण जुड़कर मालाकार हो गए हैं।

पद्मावती बोली, हे सखा, वह तोता उड़कर के कहां जा बसा ? उसके उस निवा-स्थान की तलाश करो। कौन जाने, पृथ्वी पर ही है या स्वर्ग चला गय है। वायु भी तो उसका पता नहीं पा सकती!

विशेष—सारे छंद में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार का मिश्रण है।

शब्दार्थ—पहँ=पास। भँडारी=भंडारी। मँदिर=महल। मँह=में। मँजारी=बिल्ली। उतर=उत्तर। हा=था। छूंछा=खाली, रिक्त। सुक्ख=सुख। निसि=रात। अस्त=छिप गया। गहने=ग्रहण ने। गही=दवा लिया। करा=कला। नखतन्ह=तारों में। पालि=बांध। सरबर=सरोबर। बूड़=डूब। मधुकर=भौंरे। एहिविधि=इस प्रकार। नखत=नक्षत्र। चुए=टपके। उए=उदित हुए। चिहुर=केश। दहुँ=कौन जाने। बाला=वाल। चाहा=चाहते हैं। गा=गया।

(६८)

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहा सो अब पाइअ गा पँखी॥
जौं लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि कीन्हेसि निति सेवा॥
तेहि बँदि हुतें जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँदि होइ कित आवा॥
ओइँ उड़ान फर तहिअँ खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए॥
पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ॥
दस बाटैं जेहि पिंजरे माहाँ। कैसें बांच मंजारी पाहाँ॥
एइँ धरति अस केतन लीले। तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले॥
जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न धानि।
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि॥६८॥

भावार्थ—कविवर जायसी ने इस छंद में तोते के उड़ जाने पर पद्मावती को उसके लिये शोक न करने वाली बात जो सखियों ने कही है, उसे दर्शाया है। प्राय: कहीं २ जायसी का सूक्ष्म लक्ष लौकिक कथा का आधार लेकर आध्यात्मिक रूपक बांधना था। यहां पर तोता जीव का प्रतीक है जो इस शरीर रूपी दस इन्द्रियों के पिंजरे को छोड़कर विलग हो जाता है। मुक्ति ही उसका लक्ष (Aim) है। यह अर्थ समासोक्ति के द्वारा लगता है। जीव, इंद्रियां, परमलक्ष और मिलन-विरह, दर्शन, काल, जग, जीवन की अनुभूतियों का समन्वय कर जायसी ने भारतीय एवं सूफी सिद्धान्तों को एकत: घटाया है। यहां "**कोरे मिलावै आनि**" में 'विरह की पीर' व्यक्त है।

पद्मावती के चारों ओर से घिर कर सखियां समझाती हैं कि जो पक्षी पिंजरे से उड़ गया है उसे कहां पाया जा सकता है? (जीव भी देह रूपी पिंजरे से उड़कर फिर नहीं लौटता—यहां समासोक्ति है) जबतक पिंजरे में पक्षी बंदी रहा, बंदी की तरह उसने तुम्हारी नित्य सेवा की। जब ऐसे बंधन से छुट गया तो फिर लौटकर वह क्यों बंदी बनने

आएगा ? उसने तो उड़ान का सौभाग्य-फल उसी दिन खा लिया था जिस दिन वह पक्षी हुआ और उसे पर प्राप्त हुए थे। जिसका पिंजरा है उसे उसके हवाले करके वह चल दिया। जो जिसका था वह उसका हो गया। (आशय समासोक्ति से यह है कि पंचतत्व का शरीर पंचतत्व में मिल जाता है और ईश्वर की ज्योति में जीव-ज्योति मिल जाती है—यह भारतीय अद्वैतवादी मत है) जिस पिंजरे में दस मार्ग खुले हों वहां का पंछी बिल्ली से कैसे बच सकता है ? आशय समासोक्ति यह है कि इस शरीर रूपी पिंजरे में इन्द्रियां रूपी दस राहें हैं; काल रूपी बिल्ली से इसमें रहने वाला पंछी रूपी जीव कैसे बचकर रह सकता है ? (रूपक प्रधान है) इस बिल्ली ने पृथ्वी पर अनगिनतियों को खा लिया है, फिर भी इसका पेट इतना गहरा है कि वह भर नहीं सका। जो इसमें पहुँच गया, लापता हो गया।

अब वह तोता ऐसे अज्ञात लोक में जा बसा है जहां न रात होती है न दिन होता है। जहां न पवन है न कालचक्र है। ऐसे बन में तोता जा बसा है कि फिर कौन उससे अब मिलन कराएगा ?

शब्दार्थ—चहूँ पास=चारों ओर। पाइअ=पाया। गा=गया। पँखी=पक्षी, तोता। अहा=था। परेवा=पक्षी। बाँदि=कैदी। कीन्हेसि=किया। निति=नित्य। कित=क्यों। हुतें=से। होइ=होने। फिरि=लौटकर। तहिअैं=तभी। ओइँ=उसने। फर=फल। भा=हुआ। पाँख=पर, डैने। जेहि क=जिसका। तेहि=उसको। बाटै=रास्ते। जेहि=जिस। माँहा=में। बाँच=बच। एइँ धरति=इस धरती पर। लीले=खा लिये, निगल लिये। तस=ऐसा। गाढ़=गहरा। बहुरि=फिर। ढीले=ढीला छोड़ना। देवस=दिन। पौन=वायु। घानि=घानी, कोल्हू, अर्थ है काल चक्र से।

(६६)

सुअैं तहाँ दिन दस कलि काटी। आइ बिआघ ढुका लै टाटी॥
पैग पैग भुइँ चांपत आवा। पंखिन्ह देखि सबन्हि डर खावा॥
देखहु कछु अचरिजु अनभला। तरिवर एक आवत है चला॥
एहि बन रहत गई हम आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ॥
आज जो तरिवर चल भल नाहीं। आवहु एहि बन छाँड़ि पराहीं॥
वै तौ उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राजु जनु पावा। बैठ निचिंत चला वह आवा॥
पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तनु अरुझा कत मारे बिनु बाँच॥ ६६॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में तोते के उड़कर जंगल में चले जाने की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं। छन्द की अन्तिम पंक्तियों में पुनः दार्शनिक भाव की अभिव्यंजना हो रही है—पाँच बान=पंचेन्द्रिय और लासा=जीव को मोहने वाले इन्द्रियों के आकर्षक पाँच गुण—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। इनमें पुनः-पुनः लिप्त होने-

वाला तोता रूपी जीव है। इस गूढ़ दर्शन के अतिरिक्त छन्द में कथाक्रम भी निहित है। इन दोनों बातों का निर्वाह जायसी ने बड़ी उत्तमता से किया है।

जंगल में तोते ने आराम के साथ दस दिन गुज़ारे। तभी बहेलिया जाल लेकर वहाँ चुपके से आ बैठा। वह धरती पर चुपके-चुपके पाँव रखता हुआ आया। पक्षियों के मन में उसे देखकर बड़ा भय पैदा हुआ। उनको ऐसा अमंगल आश्चर्य का दृश्य नज़र आया कि कोई वृक्ष चलकर आ रहा है। (बहेलिये इसी प्रकार का रूप धरकर शिकार फँसाया करते हैं, आपस में पंछी कहने लगे—इस जंगल में रहते-रहते हमारी उम्र व्यतीत हो गई है किन्तु हममें से किसीने कभी किसी निर्जीव पेड़ को ऐसे चलते नहीं देखा। आज जो यह वृक्ष चलता दीखा है, तो निश्चय ही हमारा अमंगल होगा—हमारी खैरियत नहीं है। आओ, जंगल को छोड़कर कहीं और जा बसें। वह तो ऐसा विचार-विमर्श करके उड़ दिये और अन्य जंगल की तलाश की, किन्तु हीरामन तोता पंडित होकर भी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया—मन का साहस हार गया। शाखों की ओर उसने एक दृष्टि डाली तो उसे लगा वह राज्य पा गया है। इधर वह संतोष वेफिक्री के साथ बैठा रहा, उधर बहेलिया चला आ रहा था। बहेलिये ने लग्गी पर शिकार फँसाने वाला पंच बाँस और उसमें पंखों को चिपटा लेने वाला पदार्थ लासा भर रक्खा था। इस में हीरामन के पंख लिसड़ गए। उसका शरीर चिड़िया फँसाने वाले खोंचा बाँस में उलझ गया। ऐसी दशा में वह बिना मरे कैसे बचता ?

विशेष—संसार की माया का जाल भी इसी प्रकार जीवों का शिकार किया करता है। कबीर ने भी कहा है—

"माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोले बोले मधुरी बानी।।"

यहाँ माया की 'फिलासफी' हमारे भारतीय दर्शन का प्रभाव है। जायसी में वस्तुतः भारतीय दर्शन का प्रभाव आग्रह अत्यंत था—यद्यपि वह सूफी थे और स्वभा-वतः उनकी अभिव्यंजना प्रायः स्वतः वैसी हो गई है। उसमें किसी प्रकार जायसी, प्रैमी, भक्त, कवि का छलछद्म मुझे नहीं लगा। वह जैसा है, निश्छल है, अटल है।

शब्दार्थ—आइ=आकर। कलि=आराम से। काटी=बिताए। बिअन्ध=बहेलिया। ढुका=छिपा बैठा। पैग=पाँव। भुँई=धरती। चाँपत=दबे हुए, चुपके से। अनभल=अमंगल। आऊ=उम्र। काऊ=किसी। पराहीं=भाग जायँ। तरिवर =वृक्ष। औरु=दूसरा। ताका=तलाश किया। भूलि मन थाका=किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ, साहस हारा। जनु पावा=मानो पा लिया हो। निचित=बेफिक्र, संतोष। खोंचा =चिड़िया फसाने का बाँस। बान=तीर, डंडियाँ। लासा=लिबलिबा पंख लिपटाने वाला गूलर के पेड़ का दूध। तनु=शरीर। अरुझा=उलझ गया। कत=कैसे। बाँच=बचेगा।

(७०)

बंदि भा सुआ करत सुख केली। चूरि पाँखि धरि मेलेसि डेली।।
तहवाँ बहुल पंखि खरभरहीं। आपु आपु कहँ रोदन करहीं।।
बिख दाना कत देय अँकूरा। जेहि भा मरन डहन धरि चूरा।।
जौं न होति चारा कै आसा। कत चिरिहार ढुकत लै लासा।।
एइँ बिख चारै सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लै लगी।।
एहि झूठी माया मन भूला। चूरे पाँख जैस तन फूला।।
यहु मन कठिन मरै नहिं मारा। जार न देखु देखु पै चारा।।
हम तो बुद्धि गँवाई बिख चारा अस खाइ।
तूं सुअटा पंडित हता तूं कत फाँदा आइ।। ७०।।

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी बहेलिया द्वारा तोते के फँसकर बन्दी बन जाने का वर्णन करते हैं। मन ही चंचल है। उसीके कारण जीव माया द्वारा छला जाता है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने अर्जुन को मन की कायरता एवं मिथ्यात्व को जीतने का आदेश दिया है। जायसी का संकेत भी कुछ इसी प्रकार का यहाँ व्यंजित है। गीता के दूसरे अध्याय का ५५वाँ श्लोक जायसी की व्यंजना के प्रति देखिए। भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतम्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। ५५।।

अर्थात् हे अर्जुन! जब कोई मन की सारी कामवासनाओं को छोड़ देता है और अपने आप ही में सन्तुष्ट होकर रहता है, तब उसको कहते हैं—स्थित प्रज्ञ! जायसी के तोते का जाल में उलझना गीता के इस कथन की अक्षम्य प्रतिक्रिया ही कही जायगी।

सुख पूर्वक रहने वाला तोता क़ैदी हो गया। बहेलिये ने उसके पंख झिझोड़कर अपने झाँबे में रख लिया। उस झाँबे में और बहुत से कैदी पंछी फडफड़ा रहे थे। वे अपनी-अपनी दयनीय अवस्था पर रुदन कर रहे थे। वे सोच रहे थे, ईश्वर ने यह फँसा लेनेवाला लोभ-भोग का विष-अंकुर या दाना क्यों उत्पन्न किया? जिसके लालच में पड़कर पक्षी मारे गए और उनके पंख मरोड़ दिये गये। आशय यह है कि माया से लिप्त मन को बाद में अपनी दुष्करनी का बोध होता है और वह किये पर पछताता है। यदि हमारे मन में चारे के प्रति लोभ न जागता तो क्यों यह बहेलिया लासा लगाकर हमें पकड़ने के लिए छिपकर बैठता? जायसी कहते हैं कि इसी विषैले चारे ने संसार के प्राणियों की बुद्धि भ्रष्ट कर दी है और बहेलिया हाथ में बाँस लेकर काल-रूप हो गया। आशय यह कि भौतिक सुख भोग की आकाँक्षा ही प्राणी के दयनीय अन्त का कारण है। यह मन बड़ा कठिन है, चंचल है। प्रायः संयम से भी नहीं मारा जाता। यह जाल नहीं देखता, बस भोग या दाना देखता है।

अन्य क़ैदी पक्षियों ने हीरामन तोते से कहा—भाई, हमने तो ऐसे विष-चारे को

खाकर शपनी बुद्धि भ्रष्ट की, किन्तु तू तो ज्ञानी तोता था, कैसे इस जाल में फँस गया ?

शब्दार्थ—बंदि=कैदी। भा=हुआ। चूरि=मरोरकर। मेलेसि=डाल दिया। खरभरहीं=फड़फड़ाना। विख=विष। दैयँ=ईश्वर। अँकूरा=पैदा किया। डइन=पंख। कँ=का। चिरिहार=बहेलिया। ढुकत=छिपना। कत=कैसे। लगी=बाँस। जार=जाल। हता=था।

(७१)

सूअँ कहा हमहू अस भूले। टूट हिंडोर गरब जेंहि भूले।।
केरा के बन लीन्ह बसेरा। परा साथ तहँ बैरी केरा।
सुख कुरिआर फरहरी खाना। बिख भा जबहिं बिआध तुलाना।।
काहेक भोग बिरख अस फरा। अड़ा लाइ पंखिन्ह कहँ धरा।।
होइ निचिन्त बैठे तेहि अड़ा। तब जाना खोंचा हिय गड़ा।।
सूखी चित जोरब धन करना। यह न चित आगे है मरना।।
भूले हमहु गरब तेहि माहाँ। सो विसरा पावा जेहि पाहाँ।।
चरत न खुरुक कीन्ह तब जस सो चरा सुख सोइ।
अब जो फांद परा गियँ तब रोए का होइ।।७१।।

भावार्थ—पण्डित हीरामन तोते से, पक्षियों के उससे पूछे गए क्यों पकड़े जाने वाले प्रश्न का उत्तर कविवर जायसी हीरामन के मुख से ही दिलाते हैं। जीवन में सुख के पीछे चुपचाप कैसे दुःख प्रकट हो जाता है, इस बात का यहाँ जायसी ने बड़ा हृदयस्पर्शी चित्रण किया है—

पक्षियों का उत्तर देते हुए तोते ने कहा—हम इसी प्रकार जाल से फँस गये जैसे कि आप सब फँसे हैं। अब वह घमंड का झूलना टूट गया है जिसके कारण हम अपने को सब कुछ समझते थे–अहंवादी थे। हमने केले के वन में विश्राम किया किन्तु वहाँ पर बेरी भी उगी हुई थी। आशय यह है कि हमने जिसे सुख समझ कर अपनाया उसमें दुख भी छिपा हुआ सम्मलित था; जिस प्रकार केले के झूमने पर पास लगा बेर का वृक्ष उसे चोर फाड़ देता है इसी प्रकार हमारे सुख रूपी केले के तले के विस्राम को बेर रूपी दुख के वृक्ष ने झिझोड़ डाला। (रूपक है) हमें कलरव करके फलों को खाने में बड़ा मज़ा आता था किन्तु व्याध के सहसा आ जाने पर, उन्हीं फलों का स्वाद विष के स्वाद में परिवर्तित हो गया। वह सुख-वृक्ष इस प्रकार क्यों फला जिस पर बहेलिये ने जाल बिछाकर पक्षियों को बन्दी बना लिया। (यहाँ रूपक अलंकार है) हम बेफिक्र होकर उस जाल या अड्डे पर ही बैठ गए और तब हमें अपनी भूल की वास्तविकता ज्ञात हुई कि जब व्याध का खोंचा या बाँस हमारी छाती में घुस गया। जायसी कहते हैं कि धन जोड़ते समय जीव के मन की भ्रमित ऐसी हालत हो जाती है कि उसे आगे मारने वाली मृत्यु की भी चिंता नहीं रहती। हम भी ऐसे ही घमंड के मद में ग़ाफिल थे। अतः हम अपने उस दाता को भी भूल गए जिसने हमें जीवन का सर्वस्व प्रदान किया है। खाने के सुख में तो किसी बात की चिन्ता

नहीं की और अब एक अपनी ही मन्द-भूल से गरदन में फंदा पड़ गया है तब रोने, पश्चात्ताप करने से क्या लाभ ?

विशेष—दुख की सुख में गोपन स्थिति और उसका प्रकटीकरण आधुनिक लब्ध प्रतिष्ठ कविवर बच्चन ने इस प्रकार व्यक्त किया है जो जायसी की परिकल्पना की पुष्टि सहज करता है—

"मानव के सुख में दुख ऐसे चुपचाप उतर कर आ जाता
है ओस ढुलक पड़ती जैसे मकरंदमई पंखुरियों पर
है क्रूर समय जिससे सपना, सच होता, सच सपना होता !"

शब्दार्थ—हिंडोर=झूलना। केरा=केला। गरब=घमंड। बसेरा=विश्राम। कुरिआर=कलरव। फरहरी=फलाहार। बिख=विष। भा=हुआ। बिआध तुलना=बहेलिया आ गया। काहेक=क्योंकर। बिरख=वृक्ष। अड़ा=जाल या अड्डा। खोंचा=बहेलिये का बाँस। गड़ा=घुसा। हिय=हृदय। चित=मन। चित=चिन्ता। जोरब=जोड़ते हुए। सो=वह, यहाँ ईश्वर के लिये प्रयोग है। बिसरा=भूला। चरत =खाते हुए। खुरूक=चित्त। फाँद=फन्दा। गियँ=गरदन में।

(७२)

सुनि कै उतर आँसु सब पोंछे। कौनु पंखि बाँधा बुधि ओछे।।
पंखिन्ह बुधि जौं होति उज्यारी। पढ़ा सुआ कत धरति मँजारी।।
कत तीतर बन जीभ उघेला। सकति हँकारि फाँदि गियँ मेला।।
ता दिन व्याध भएउ जिउ लेवा। उठे पाँख भा नाउँ परेवा।।
भै बिआधि तिस्ना सँग खाधू। सूझै भुगुति न सूझ बिआधू।।
हमहिं लोभ ओइँ मेला चारा। हमहिं गरब वह चाहै मारा।।
हम निचिंत वह आउ छपाना। कौनु बिआधहि दोख अपाना।।
सो औगुन कत कीजै जिउ दीजै जेहि काज।
अब कहना कछु नाहीं मस्ट भली पँछिराज।।७२।।

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने निरीह पक्षियों की विवशता का मार्मिक वर्णन किया है—

हीरामन तोते की करुण बात को या उत्तर को सुनकर सारे पक्षियों ने अपने उमड़े आँसुओं को पोंछा और कहा— पक्षियों को किसने पंख दिये हैं और समझ न दी। आशय यह है कि जिसने पक्षि जैसे निरीह जीव को बनाया उसे पंख देकर बुद्धि भी क्यों न दी ताकि वह धोके के जाल में न फँसता। अरे, यदि पक्षियों में उज्ज्वल बुद्धि होती तो तथाकथित बुद्धिमान हीरामन-तोते को कैसे बिल्ली पकड़ पाती ? और क्या तीतर जंगल के बीच ज़ोर से जीभ फाड़कर बोलता और अपनी शक्ति-पुकार से चिड़ीमार का फंदा गरदन में डालता ? बहेलिया तो उसी दिन प्राण लेने वाला हो गया था जिस दिन पक्षी नामधारी जीव पैदा हुआ। हमारे भोजन के साथ ही तृष्णा रूपी व्याधि साथ हो गई थी। हमें चारा

ही दीखता है, चड़ीमार नहीं। हमारे चारे में लोभ मिल गया है। हमारे घमंड ने ही हमें व्याध के रूप में मारा है। हम अपने घमंड के मद में बेफिक्र रहे और व्याध छिप कर घात लगा बैठा। इसमें व्याध का क्या कसूर है—हमारा ही है।

वह औगुन कैसा, जिसके लिए हम जीवन दे देते हैं। अतः अपने पागलपन का अब क्या कहना ? उसे कहना ठीक नहीं, केवल तदर्थ मौन ही रहा जाय—पंछीराज ! यही अच्छा है।

शब्दार्थ—उतर=उत्तर। बुधि=बुद्धिमान। उज्यारी=उज्ज्वल। कत=कैसे। मँजारी=बिल्ली। उघेला=फाड़ता। सकत=शक्ति। हुंकार=पुकार। फाँदि=फंदा। गियँ=गरदन। मेला=डालता। लेवा=लेने वाला। जिउ=प्राण। नाउँ=नाम। तिस्ना=तृष्णा। खाधू=भोजन। सूझै=दीखना। भुगुति=भोजन। चारा=चुगा। निचिंत=बेफिक्र। आउ=आया। छपाना=लुका लुका। अपाना=अपना निजी। औगन=बुरा काम। जेहि काज=जिसके लिये। मस्ट=चुप्पी।

●

६--रत्नसेन-जन्म खण्ड

(७३)

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोटि चित्र जेइँ साजा।।
तेहि कुल रतनसेनि उजिआरा। धनि जननी जनमा अस बारा।।
पंडित गुनि सामुद्रिक देखहिं। देखि रूप औ लगन बिसेखहिं।।
रतनसेनि एहि कुल औतरा। रतन जोति मन माथें बरा।।
पदिक पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरूज जस होइ अँजोरी।।
जस मालति कहँ भँवर बियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी।।
सिंघल दीप जाइ ओहि पावा। सिद्ध होइ चितउर लै आवा।।
भोग भोज जस मानै विक्रम साका कीन्ह।
परखि सो रतन पारखी सबै लखन लिखि दीन्ह।।७३।।

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी पद्मावती के होनेवाले पति रत्नसेन राजा के जन्म का विवरण प्रस्तुत करते हुए साथ ही साथ पद्मावती के साथ उसके विवाह-परिणय का भी भूमिका के रूप में परिचय-संकेत दे जाते हैं।

चित्तौड़गढ़ का राजा चित्रसेन था। उसने क़िले—परकोटे को भाँति-भाँति के अनेक चित्रों से सज्जित किया था। उसके कुल में कुँवर रत्नसेन के जन्म का प्रकाश हुआ।

वह माँ धन्य है जिसके गर्भ से ऐसा पुत्र रत्न पैदा हुआ। पंडित और सामुद्रिक उसके लक्षण, रूप एवं जन्ममुहूर्त को देखकर विचार करने लगे। विचारोपरान्त उन्होंने कहा, इस कुल में रत्नसेन ने अवतार लिया है, जिसके माथे पर रत्नज्योति और मणि चमकती है। इसकी जोड़ी ऐसी ही रहेगी जैसी कि रत्न पदार्थ की है। इसका विवाह-संयोग चाँद सूरज की भाँति का होगा। आशय यह है कि रत्नसेन की रानी, मानिक सी पद्मावती उसके रूप गुण के अनुकूल ही प्राप्त होगी। जिस प्रकार मालती को प्राप्त करने के लिए वियोगी भौंरा उड़कर जाता है, इसी प्रकार ये भी अपनी रानी को पाने के लिए वैसा ही जोगी-वियोगी बनेगा। (उपमा अलंकार हैं) उसे पाने के लिए यह सिंहल द्वीप जायगा और सिद्ध बनकर उसे चित्तौड़ में ले आएगा।

राजा भोज की भाँति यह भोगों को भोगेगा और राजा विक्रमादित्य की भाँति इसका प्रताप फैलेगा। योग्य ज्योतिषियों ने इस रत्न को परखकर उसके लक्षण लिख दिये—भविष्य-फल बना दिया।

विशेष—रत्नसेन का जन्म पद्मावती के पश्चात दिखाया गया है जो भारतीय विवाह की दृष्टि से जँचता-सा नहीं है। उपमा-उत्प्रेक्षा अलंकारों की छटा पद में सुन्दर वन पड़ी है। यथा, "**जस मालति कहँ भँवर वियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी।**"

शब्दार्थ—चितउर=चित्तौड़। कोटि=अनेक। साजा=सजे हुए। बिसेखहिं=विचार करते हैं। पदिक=मनका। अँजोरी=उजाला। मालति=भँवरे को लुभानेवाला एक पुष्प। ओहि=उमे। विक्रम=विक्रमादित्य। साका=प्रताप। लखन=लक्षण।

७--बनिजारा खण्ड

(७४)

चितउर गढ़ क एक बनिजारा। सिंघल दीप चला बैपारा॥
बाँभन एक हुत नष्ट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी॥
रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहँ गएँ होइ किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भए। नाँघि समुद्र दीप ओहि गए॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत किछु दीख न थोरा॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ निधनी मुख हेरा॥
लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोई ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर।
बाँभन तहाँ लेइ का गाँठि साँठि सुठि थोर॥७४॥

भावार्थ—प्रस्तुत छंद में कविवर जायसी हीरामन तोते को बहेलिये द्वारा बेचे जाने एवं आगे एक ब्राह्मण द्वारा खरीदे जाने की कथा-सूत्रता बना रहे हैं। सिंहल का शानदार बाज़ार है और चित्तौड़ के एक बनजारे के साथ निर्धन-ब्राह्मण भी इस बाज़ार में आता है—

चित्तौड़ का एक बनजारा था, वह व्यापार करने के लिये सिंहलद्वीप के लिये रवाना हुआ। एक निर्धन भिखारी ब्राह्मण भी था, वह भी व्यापारियों के साथ-साथ हो लिया था। किसी से उसने कुछ कर्ज़ा लिया था। और वह भी इस आशा से साथ हो लिया कि शायद वहां जाने से कुछ लाभ होगा और ऋण की रक़म से मेरा फायदा भी हो जायगा। सिंहल के कठिन मार्ग में बहुत दुख मिले। सभी समुद्र को पार करके उस द्वीप में गये। वहां का बाज़ार देखकर कुछ और महत्वपूर्ण नहीं दीख पड़ता था। वहां सबकुछ अधिक ही दीखता था, थोड़ा कहने को कुछ भी नहीं था। आशय यह है कि उस बाज़ार में जो कुछ भी दीखता था, सभी खरीदने की सामर्थ्य से अधिक क़ीमत का प्रतीत होता था। वहां का व्यापार बहुत ऊँचा था, अतः वहां धनी ऊँचे व्यापारी तो अपनी वांछित वस्तुएँ खरीद कर पा लेते, किंतु निर्धन मुख देखता रहता। उस बाज़ार में लाखों करोड़ों के मूल्य की वस्तुएँ बिकती थीं; हजारों की क़ीमत वाली वस्तुओं को खरीदने को तो कोई झुकता भी न था।

सब व्यापारियों ने अपनी-अपनी वस्तुएँ खरीदलीं और घर को लौट चले। किंतु बिचारा गरीब ब्राह्मण वहां क्या खरीदता? उसकी गांठ में बहुत थोड़ी-सी धनराशि थी। (यहां "**गाँठि साँठि सुठि में**" अनुप्रास अलंकार है)।

विशेष—उपरोक्त बाज़ार के वर्णन से इस मायावी, स्वार्थी संसार के बाज़ार के कर्मों के क्रय-विक्रय करने की व्यंजना निकलती है। वही इस संसार के बाज़ार में सच्चा व्यापारी है जो स्वयं कर्मों का धनवान है। आगे के छंद में इसका अधिक स्पष्टीकरण है।

शब्दार्थ—क=का। बनिजारा=व्यापारी। यह एक जाति भी है जो घूम-फिर कर कुछ वस्तुओं का क्रय-विक्रय करती है। नष्ट=निर्धन से तात्पर्य है। रिनि=कर्ज। काढ़ी=लिया हुआ। मकु=शायद। मारग=मार्ग। नाँधि=पार करके। ओहि=उस। सूझ=समझ, नज़र में। सुठि=सुन्दर। निधनी=निर्धन। मुख हेरा=मुहावरा मुख ताकना अर्थात् निराश देखना। बेसाहना=खरीदा। बहोर=लौटना। साँठि=पूंजी। थोर=कम। सुठि=बहुत।

(७५)

झुखं ठाढ़ कहाँ हौं आवा। बनिज न मिला रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ। मूर गंवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ॥
का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउँ मरै मीचु हुति लिखी॥
अपने चलत न कीन्हि कुबानी। जाभ न दीख मूर भौ हानी॥
का मैं बोबा जरम ओहि भूंजी। खोइ चलेउँ घरहूँ कै पूंजी॥

जेहि बेवहरिया केर बेवहारू। का लै देव जौं छेंकिहि बारू॥
घर कैसें पैठव मैं छूंछें। कौन उतर देबेउँ तिन्ह पूंछें॥
साथ चला सत बिचला भए बिच समुंद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं तू बिध देहि अधार॥ ७५॥

भावार्थ—पूर्व छन्द के प्रसंग के अनुसार कविवर जायसी उस ब्राह्मण की पश्चातापमय स्थिति का वर्णन कर रहे हैं जो सिंहल के शानदार बाज़ार में से कुछ भी लाभप्रद वस्तु का सौदा न कर सका। व्यंजना यहाँ भी वही है कि मानव जीवन के इस संसार रूपी बाज़ार में समुचित कर्म को प्राप्त न होने वाला मनुष्य किस प्रकार अपनी दयनीय दशा पर रोता है। यहाँ ईश्वर रूपी महाजन का संकेत बड़े दार्शनिक ढंग का है। ईश्वर ने जीवन को ऋण रूप में दे रक्खा है। उसे वह सुकर्मों के सूद सहित मनुष्य से वापिस लेना चाहता है; तब कहीं उद्धार होता है। ऐसा न होने पर परमेश्वर नाराज़ होता है, नरक देता है। महाकवि मिल्टन ने भी अपनी प्रसिद्ध कविता ' On his blindnes."में जायसी के इस छन्द की जैसी सूक्ष्म व्यंजना की है—देखिए,

"To serve there with my maker, and present.
My true account, lest he returning chide."
"Doth God exact day labour, light denied ?"
I fondly ask........."

इस छन्द का मूल संकेत बाइबिल की एक कथा से है। उसका आशय यही है कि कि जो समझदारी से मालिक की दी हुई वस्तु से अधिक उसे लौटा देता है, मालिक उसी को चाहता है।

ब्राह्मण खड़ा खड़ा सोचने पछताने लगा कि हाय, मैं कहाँ आ गया ? यहाँ कोई लाभ भी न मिला और मिला भी तो पश्चात्ताप मिला। कुछ लाभ के लोभ में मैं इस बाज़ार में आया था। पर यहाँ तो असल भी गँवाकर लौटना पड़ा है, ऐसी अनर्थकारी राह पर मैं चला हूँ ! क्या मैं मौत की शिक्षा या सीख पाकर ही यहाँ मरने के लिए आया था ? मैं यहाँ आकर मरूँ,—क्या मेरे भाग्य में ऐसी ही मौत लिखी थी ? मेरे से जहाँ तक हो सका है मैंने कोई बुरी बात नहीं की फिर भी लाभ तो नहीं ही हुआ पर दुख है कि असल धन भी गँवा चला हूँ। मैंने उस जन्म में ऐसा कौन-सा पाप का बीज बोया था जिससे यह दुःख भोग रहा हूँ ? मैं तो अपनी गिरह की पूँजी भी गँवा चला हूँ। इस सबका आशय यह है कि मनुष्य हीरे जैसे जन्म को पहले तो लोभ, लालच और स्वार्थ की कौड़ियों पर बेच देता है फिर पश्चाताप करता है कि हाय, मैंने तो अपनी स्वीय जीवन की पूँजी को भी व्यर्थ ही गँवा दिया !

और जिस साहूकार से मैंने ऋण लिया था, जब वह तकादा करने के लिए द्वार आ धमकेगा या घेर लेगा, तो मैं उसको क्या दूँगा ? घर को मैं खाली हाथ किस प्रकार जाऊँ ? जब घरवाले मुझसे पूछेंगे कि क्या कमाकर लाया, तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा !

वणिक् समूह चला गया। ब्राह्मण अकेला अधीर हो गया। समुद्र, पहाड़ बीच में पड़े हैं। ब्राह्मण ने आर्त्त पुकार की—मैं आशा से उपेक्षित घोर निराश होकर लौट रहा हूँ। हे प्रभु, मुझे अपना अवलम्ब प्रदान करो!

शब्दार्थ—झुखे=खीजता पश्चाताप करता हुआ। बनिज=व्यापार। हाटा=बाजार। मूर=मूलधन या गाँठ की निजी पूँजी। बटा=रास्ता। मीचु=मौत। हुति=थी। अपने चलत=जहाँ तक हो सका। कुवानी=बुराई। बोवा=बोया। बेवहरिआ=साहूकार। बेवहारू=कर्ज। छेकहि=छेकेहि=आ धमकना, घेरना। पैठव=जाऊँ। बारू=दरवाजा। छूँछे=खाली हाथ। उतर=उत्तर। समुँद=समुद्र। पहार=पहाड़। विधि=ईश्वर। आधार=अवलम्ब।

(७६)

तबहि बिआध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
बेचैं लाग हाट लै ओहीं। मोल रतन मानिक जहँ होहीं॥
सुआ को पूँछ पतिग मँदारे। चल न देखि आछै मन मारे॥
बाँभन आइ सुआ सौं पूँछा। दहुँ गुनवंत कि निरगुन छूँछा॥
कहु परबते जो गुन तोहि पाहाँ। गुन न छपाइअ हिरदै माहाँ॥
हम तुम्ह जात बराभँन दोऊ। जातहि जाति पूँछ सब कोऊ॥
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिन पूँछे पाइअ निहिं भेदू॥
हौ बाँभन औ पंडित कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहि होइ॥७६॥

भावार्थ—कविवर जायसी इस छन्द में हीरामन तोते की बिक्री का भाव उस गरीब ब्राह्मण के शब्दों में प्रकट करते हुए लिखते हैं—

इसी समय व्याध तोता ले आया। तोते का रंग सुनहला था और उसका रूप सुन्दर प्रतीत हो रहा था। बहेलिया तोते को उसी बाजार में लाकर बेचने लगा जहाँ रत्नों-माणिकों के मोल-भाव हो रहे थे। ऐसे बड़े बाजार में उस क्षुद्र मदार के पेड़ के एक पतिंगे जैसे तोते को भला कौन पूछता? बड़े लोग मन मारकर उसे बिना देखे ही से चल देते थे। तभी एक ब्राह्मण ने उस तोते से आकर पूछा—"तोते, गुणवान भी हो या केवल अबोध पक्षी ही हो? हे तोते, जो तुम्हारे पास गुण हों तो कहो, गुणों को मन में छिपाकर नहीं रखना चाहिए। हम तुम दोनों एक ही जाति के हैं—ब्राह्मण हैं। सभी अपनी जाति वाले से ही पूछा करते हैं। यदि ज्ञानी पंडित हो तो वेद सुनाओ। बिना कहे-सुने-पूछे किसी की कुछ असलियत का पता नहीं लगता।"

मैं ब्राह्मण हूँ और फिर विद्वान भी हूँ। इसलिए हे तोते, अपने गुणों को प्रकट करो। यदि विद्वान के आगे विद्वान विद्वत्ता की चर्चा करेगा तो दुगुना लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि विद्वान विद्वान को ज्ञान देता है, और लेता भी है। अतः यही दुगुना लाभ कहा जायगा।

शब्दार्थ—तबहि=तभी। बिआध=बहेलिया। कंचन बरन=सोने का रंग। सोहाबा=शोभायमान, सुन्दर। बेंचै लाग=बेचने के लिए। हाट=बाजार। पूंछ=पूंछना। पतिंग=पतिंगा। मँदारे=एक वृक्ष का नाम। बाँभन=ब्राह्मण। दुहुँ=या। हिरदै=मन। छूंछा=खाली। परबते=पक्षी। हहु=हो।

(७७)

तब गुन मोहि अहा जो देवा। जब पिंजर हुत छूट परेवा॥
अब गुन कवन जो बँदि जजमाना। घालि मँजूसा बेंचै आना॥
पण्डित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा॥
दुइ मारग देखौं एहि हाटाँ। दैय चलावै दहुँ के बाटाँ॥
रोवत रकत भएउ मुख राता। तन भा पिअर कहौं का बाता॥
राते स्याम कंठ दुई गीवाँ। तिन्ह दुइ फाँद डरौं सुठि जीवा॥
अब तै कंठ फाँद गिवँ चीन्हा। दुहुँ कै फाँद चाह का कीन्हा॥
पुढ़ि गुनि देखा बहुत मैं है आगें डरु सोइ।
धुंध जगत सब जानि कै भूलि रहा बुधि खोइ॥७७॥

भावार्थ—कविवर जायसी तोते का उत्तर ब्राह्मण को अवगत करा रहे हैं—

तोते ने कहा—हे देव, जब मैं पिंजरे से आज़ाद पंछी था तब मेरे पास गुण था। हे यजमान! अब मुझ में कौन सा गुण रह गया है जबकि झावे में पड़ा क़ैदी हो गया हूं और बिकने आया हूं। आशय है, कहीं क़ैदी के भी गुण देखे जाते हैं? व्याध मुझे अपने झावे में डालकर यहाँ बेचने ले आया है। जो पंडित होता है वह इस प्रकार बाज़ार में बिकने के लिये नहीं आता। अब तो मैं बिकना चाहता हूँ, जो कुछ ज्ञान था उसे भूल गया हूँ। अब मैं अपने भविष्य के दो मार्ग देख पा रहा हूँ। ईश्वर जाने किस मार्ग पर चलायेगा! आशय यह है कि दो मार्ग ख़रीदारों के हैं—एक सज्जन ख़रीदार और दूसरा दुष्ट। तोता कहता है, रोते रोते रक्त से मेरा मुख लाल हो गया है। शरीर पीला पड़ा गया है। अपनी स्थिति, हे देव, तुम्हें क्या बयान करूँ? मेरे गले में जो यह काली और लाल लकीरें या कंठियाँ हैं, अब वह फंदे सी भयानक लगती हैं—इन दोनों फंदों से मैं जीवन के प्रति शंकित हूँ। अब मैंने अपने गले की इन फाँसियों को पहचान लिया है। कौन जाने, ये फाँसियाँ अब क्या करना चाहती हैं?

मैंने पढ़कर और चिंतन मनन करके बहुत कुछ भाँप लिया है कि भविष्य में अत्यन्त भय भरा हुआ है। संसार में मेरे लिये निराशा का कोहरा या अँधेरा ही व्याप्त है। यह सब सोच-समझकर मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है। मैं भ्रमित हो रहा हूँ।

शब्दार्थ—अहा=था। हुँत=से। परेवा=पक्षी। बँदि=क़ैदी। घालि=डाल कर। मँजूसा=झाबा। आना=आकर। दैय=ईश्वर। दुहुँ=पता नहीं। रकत=खून। राता=लाल। भा=हुआ। पिअर=पीला। कंठ=तोते के गले की दो लाल और काले रंग की लकीरें या कण्ठीयाँ। गीवाँ=गरदन। फाँद=फन्दा या फांसी। चीन्हा=पह-

चाना। धुंध=धुंधला।

(७८)

सुनि बाँभन बिनवा चिरिहारू। करु पंखिन्ह कँह मया न मारू ॥
कतरे निठुर जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डरु आवा ॥
कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मंसु खावा ॥
आवहिं रोइ जाहि कै रोवना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोवना ॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखहिं माँसु पराएँ माँसू ॥
जौं न होत अस पर मंस खाधू। कत पंखिन्ह कँह धरत बिआधू ॥
जौं रे ब्याध पंखी नित धरई। सो बेंचत मन लोभ न करई ॥
बाँभन सुआ बेसाहा सुनि मति वेद ग्रन्थ।
मिला आर कै साथिन्ह भा चितउर के पंथ ॥७८॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में तोते की पूर्व दयनीयता की वार्त्ता से प्रभावित, यहाँ ब्राह्मण एवं बहेलिया के हिंसा-अहिंसावादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं। विस्मय क्या, महानता है कि जायसी मुसलमान मांस-भक्षक जाति से सम्बन्ध रखते हुए भी अहिंसा का मत महान बतलाते हैं। बहेलिया स्पष्ट शब्दों में कहता है कि शिकार करने वाले से माँस खाने वाले कहीं अधिक पापी हैं। यहाँ अहिंसावादी व्यंजना परिलक्षित है :—

तोते की पूर्व बात सुनकर ब्राह्मण उस बहेलिये से प्रार्थना करने लगा कि तुम इन निरीह पंक्षियों पर दया की दृष्टि रक्खो, उन्हें मारो मत। हे ज़ालिम, तू दूसरों की हत्या का पाप क्यों करता है ? क्या हत्या करने में तुझे भय प्रतीत नहीं होता ? इस पर बहेलिये ने कहा—पंक्षियों का माँस तो मनुष्य खानेवाले हैं। निठुर अथवा ज़ालिम तो वे कहे जायँगे जो दूसरों का माँस खाते हैं। मनुष्य रोकर ही जन्म लेता है और जाता भी रोकर ही है। फिर मी वह इतना बुरा है कि तुच्छ विश्राम और सुख-भोगों का परित्याग नहीं करता। वह यह भी जानता है कि उसका शरीर नाशवान है, फिर भी वह दूसरे का मांस खाकर अपना पोषण किया चाहता है। बहेलिया आगे ज़ोर देता है कि यदि इस प्रकार के मांस-भक्षी न होते तो व्याध किस लिये पंक्षियों को पकड़कर मारता ? जो पक्षी व्याध नित्य फँसाता है उन्हें बेच देता है और उन पक्षियों के प्रति उसके मन में तो कोई लोभ नहीं होता।

तोते की बुद्धि एवं वेद आदि ग्रन्थों की बातें सुनकर ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया। फिर अपने साथियों के साथ मिलकर चित्तौड़ के रास्ते पर चल पड़ा।

शब्दार्थ—चिरिहारू=चिड़ीमार। बिनवा=प्रार्थना। मया=दया। केर=का। खाधुक=खानेवाले। मानवा=मनुष्य। पर मँसु=दूसरे का मांस। सोवना=विश्राम। कत=क्यों। धरई=पकड़ता है। बेसाहा=खरीदा। चितउर=चित्तौड़।

(७९)

तब लगि चित्रसेनि सिब साजा। रतनसेनि चितउर भा राजा ॥

आइ बात तेहिं आगें चली। रजा बनिज आव सिंघली॥
हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। औरु वस्तु बहु सिंघल दीपी॥
बाँभन एक सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा। राते डहन लिखे सब पाठा॥
औ दुइ नैन सोहावन राता। राता ठोर अमिय रस बाता।
मस्तक टीका काँध जनेऊ। कबि बिआस पंडित सहदेऊ॥
बोल अरथ सों बोले सुनत सीस पै डोल।
राजमँदिर मँह चाहिअ अस वह सुआ अमोल॥७९॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु एवं रत्नसेन के सिंहासन पाने की बात बतलाते हुए हीरामन तोते के खरीदे जाने वाली घटना का वर्णन करते हैं :—

तब तक राजा चित्रसेन स्वर्गलोक पहुँच गए और चित्तौड़ के राजा रत्नसेन हो गए। राजा रत्नसेन के यहाँ लोगों ने चर्चा चलाई कि हे राजान्, सिंहलद्वीप गए हुए यहाँ के व्यापारी लौट आए हैं। वे गजमोतियों भरी हुई सीपियाँ वहाँ से लाए हैं; और भी बहुत सी सिंहलद्वीप की सुन्दर वस्तुएँ हैं। एक ब्राह्मण एक तोता लाया है जिसके शरीर का रंग सुनहरा है और जो बड़ा आकर्षक लगता है। उसके गले में काली लाल दो कंठियाँ हैं। उसके पंख लाल हैं। जिन पर चितकवरापन ऐसा प्रतीत है कि मानो ग्रंथों के पाठ लिखे हों। उसके दो लाल नेत्र सुहावने लगते हैं। लाल चोंच है, जिसमें से रसमई बातें निकलती हैं—तोता अमृत सा मीठा बोलता है। उसके माँथे पर शुभ टीका लगा है, कंधे पर जनेऊ पड़ा दीखता है। वह ज्ञानवंत ऐसा लगता है जैसा कि कवि व्यास और पंडित सहदेव जी हों। (ऐसा लगता है कि जायसी यहाँ के ऋषि-मुनियों की बातें सुनते रहते थे। अपरिपक्व रूप में यह प्रभाव उनके काव्य में साफ़ परिलक्षित होता है। यहाँ व्यास और सहदेव जी के नाम प्रमाण हैं।) वह तोता जो कुछ बोलता है अर्थपूर्ण या गम्भीर बोलता है। जिसको सुनकर सब शीश हिलाने लगते हैं। हे राजन् ! वह तोता तो राजमहल में होना चाहिये, शोभा बढ़ेगी।

शब्दार्थ—सिवसाजा=शिवलोक या स्वर्गलोक चले गए, मर गए। भा=हुआ। बनिज=व्यापारी। हहिं=हैं। औरू=ओर। कंचन बरन=सुनहरा रंग। राते=लाल। काँठा=लकीरें। दुइ=दो। कंठ=गले। डहन=डैने। ठोर=चोंच। अमिय=अमृत। काँध=कंधा। बिआस=व्यास जी। सहदेऊ=सहदेव जी।

(८०)

भई राजाएसु जन दौराए। बाँभन सुआ बेगि लै आए॥
बिप्र असीसि बिनती औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पै यह पेट भएउ बिसवासी। जेहिं नाए सब तपा सँन्यासी॥
दारा सेज जहाँ जेहि नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिव बाहीं॥

अंध रहै जो देख न नैना। गूंग रहै मुख आव न बैना ॥
बहिर रहै सरवन नहिं सुना। पै एक पेट न रह निरगुना ॥
कै कै फेर अंत बहु दोषी। बारहिं बार फिरै न सँतोषी ॥
सो मोहिं लिहैं मँगावै लावै भूख पिआस।
जौ न होत अस बैरी तौ केहि काहू कै आस ॥ ८० ॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी ने तोते का ब्राह्मण द्वारा रत्नसेन के यहाँ खरीदे जाने का वर्णन किया है :—

राजा रत्नसेन की तोते को लाने की आज्ञा हुई और प्यादे दौड़ाए गए। वे लोग ब्राह्मण और तोते को जल्दी ही वहाँ ले आए। ब्राह्मण ने राजा को आशीश देकर प्रार्थना की कि तोता मेरा प्राण प्यारा है, अलग करना नहीं चाहता। पर यह पेट बड़ा विश्वास-घाती है। इसी ने तपस्वी-मुनियों को नीचा दिखा दिया है। (कहा भी है—**भूखे भजन न होइ गुपाला, धर लो अपनी कंठी माला**) जिसके पास सेज-विस्तर नहीं होते वह पृथ्वी पर हाथ का सिरहाना लगाकर पड़ रहता है। अन्धा आँखों के अभाव में भी जीवन बिता लेता है। गूँगा बिना बोले भी काम चला लेता है। बहरा बिना सुने भी काम की बातें समझ लेता है। पर यह पेट ही ऐसा है कि भूख के गुण और उसके प्रभाव से मनुष्य को माँफ नहीं करता। आशय यह है कि बिना पेट भरे जिया नहीं जा सकता। (कहा भी है—Hunger is the best sauce—अर्थात् भूख में किवाड़ पापड़ हो जाते हैं।) मनुष्य संसार में चक्कर लगाकर, बार-बार गुनाह करके भी, फिर भी इस पेट के लिये कभी शान्त नहीं होता, चक्कर काटता ही रहता है।

ब्राह्मण कहता है, ऐसा ये पेट ही मुझे मँगवाता है। इसी में भूख-प्यास भरी है। यदि यह पेट ही दुश्मन न होता तो कौन किसका इस संसार में मुँह ताकता—आश्रित होता ?

शब्दार्थ—दोराए=दौड़ाए, भेजे। बेगि=जल्दी। ओधारा=किया। निनारा =अलग। बिसवासी=विश्वासघाती। नाए=झुकाया। तपा=तपस्वी। दारा= विस्तर। लाइ=लगाकर। गिव=गरदन। बाँही=बाँह। अन्ध=अन्धा। बैना= बोल। कै कै=कर करके। फेर=चक्कर। सरवन=कान। मँगावै=मँगवाता है।

(८१)

सुऐं असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू ॥
भागवंत बड़ बिधि औतारा। जहाँ भाग तँह रूप जोहारा ॥
कोउ केहु पास आस कै गोना। जो निरास दिढ़ आसन मौना ॥
कोउ बिनु पूंछें बोल जो बोला। होइ बात मांटी के मोला ॥
पढ़ि गुनि जानि बेद मत भेऊ। पूंछी बात कही सह देऊ ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जो सो बिकाइ कहा पै चाहा ॥
जौ लहि गुन परगट नहिं होई। तौं लहि मरम न जानै कोई ॥

चतुर बेद हौं पंडित हीरामनि मोहि नाउँ।
पदुमावति सो मेरवौं सेव करौं तेहि ठाउँ॥ ८१॥

भावार्थ—कविवर जायसी तोते हीरामन का परिचय, रत्नसेन के आगे उसी के मुख से ही दिलाते हुए लिखते हैं :—

तोते ने राजा को आशिर्वाद दिया कि तेरा ऐश्वर्य महान हो, यश बड़ा हो और साम्राज्य अखण्ड हो। हे राजन्! तू बड़ा सौभाग्यशाली है और ईश्वर का भेजा गया अवतार स्वरूप है। तेरा भाग्य जहाँ महान है वहाँ तू रूपवान भी अत्यन्त है। कोई किसी के पास आशा लेकर ही जाता है। जो कोई आशा नहीं रखता वह अपने आसन पर अटल और मौन रहता है। यदि कोई अकारण ही किसी के कुछ पूछे बिना बोलता है तो उसका वचन मिट्टी के डले जैसा मूल्यहीन होता है। सहदेव जी ज्ञानी वेदज्ञ होते हुए भी पूछी हुई बात का ही उत्तर देते थे। गुणवान अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं किया करता। किन्तु जो बिका हुआ है वह तो कहना ही चाहेगा, क्योंकि जब तक गुण प्रकट न होंगे तब तक उसके रहस्य या गुण का पता नहीं चल सकता। अर्थात् मुझे (तोते) अपना ज्ञान तुमसे, हे राजन्! कहना ही होगा; क्योंकि मैं बन्दी हूँ।

मैं वेद को जानने वाला पंडित हूँ। मेरा नाम हीरामन है। मैं आपको पद्मावती से मिलाऊँगा और आपकी उसी स्थान पर रहकर सेवा करूँगा।

विशेष—यहाँ पर जायसी ने तोते के मुख से बड़ी लोक-व्यवहार की बात बतलाई है। साथ ही, योग्य आदमी जब दयनीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब उसके गुण कितने मूल्यहीन रह जाते हैं—इस भाव की यहाँ करुणाजनक अभिव्यंजना भी है। जायसी कवि हृदय थे, पर प्रतीत होता है कि उनका लोक-ज्ञान भी गहरा था। प्रस्तुत अंश इस बात का प्रमाण कहा जायगा।

शब्दार्थ—बड़साजू=बड़ा ऐश्वर्य। गोना=जाता है। दिढ़=अटल। मौना=खामोश। भेउ=भेद। सराहा=प्रशंसा। मेरवौं=मिलाऊँगा। सेव=सेवा। तेहि=उस। ठाऊँ=जगह।

(८२)

रतसेनि हीरामनि चीन्हा। एक लाख बांभन कहँ दीन्हा॥
बिप्र असीसा कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमँदिर मँह आना॥
बरनौ काह सुआ क भाखा। धनि सो नाउँ हीरामनि राखा॥
जौं बोलै तो मानिक मूंगा। नाहिं तो मौन बाँध होइ गूँगा॥
जौं बोले राजा मुख जोवा। जनहुँ मोति हिअ हार पिरोवा॥
जनहुँ मारि मुख अंब्रित मेला। गुरु होइ आपु कीन्ह चह चेला॥
सूरज चाँद कै कथ्या कहा। पेम क गहन लाइ चित रहा॥
जो जो सुनै धुनै सिर राजा प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवन्त नाहिं भल सुअटा बाउर करिहै काहु॥८२॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी हीरामन तोते के ज्ञान से प्रभावित, रत्नसेन के अमित आकर्षण का भाव अपनी ओर से व्यक्त करते हैं। यहाँ तोते को प्रेम-गुरू के रूप में वर्णन किया गया है। यह सूफी प्रेम मार्ग की एक दिशा है। जायसी यहाँ उसी दिशा का संकेत दे रहे हैं। रत्नसेन एक साधक है, तोता उसको प्रेम मार्ग पर ले चलने वाला गुरु है। अन्ततः रत्नसेन के प्रेम का मतवालापन इस बात की पुष्टि है कि यहाँ सूफी प्रेमवाद का आग्रह है :—

राजा रत्नसेन ने हीरामन को प्रेम-गुरु के रूप में पहचान लिया। अतः ब्राह्मण को एक लाख मुद्राएँ देकर राजा ने तोते को खरीद लिया। आशीष देकर ब्राह्मण चला गया। तोता राजमहल में लाया गया। कविवर जायसी कहते हैं कि उस विलक्षण तोते का मैं क्या वर्णन करूँ? जिसने उसको हीरामन नाम दिया है, वह धन्य है। जब वह बोलता है तो प्रेम के माणिक-मूँगे जैसे वचन बोलता है—अन्यथा वह मौन रहता है। जब वह बोलता है तब राजा उसका मुँह निहारता है; प्रतीत होता है कि शब्दों से निर्मित मानो वह मोतियों का हार हृदय में गूँथ रहा है। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) मानो तोते के मुख में अमृत धुला है, जिससे उसकी वाणी में इतनी मृदुता है। लगता है, वह गुरु बनकर रत्नसेन राजा को अपना शिष्य बनाना चाहता है। उसने सूरज एवं चाँद की प्रेममई कथा राजा से कही और राजा प्रेमपूर्वक उस कथा को हृदयंगम करता रहा।

उस तोते की कथा को जो भी सुनता है सिर धुनता है और गहरा प्रेम का सागर ही बनता जाता है। जायसी कहते हैं, ऐसा तोता अच्छा नहीं। यह किसी को पागल बना देगा।

विशेष—जायसी अपने हर पात्र का अपनी कथा में रहस्यमय रूप भी स्थल-स्थल पर कथा के क्रम में प्रकट करते आ रहे हैं। इसी कारण उनका पद्मावत एक अन्योक्ति काव्य भी कहा जाता है। किन्तु उनकी अन्योक्ति में नीरसता नहीं, काव्य माधुर्य ही छलका किया है—इसीलिए तो उनकी कृति महान प्रेम-काव्य कहलाती है!

शब्दार्थ—चीन्हा=पहचाना। विप्र=ब्राह्मण। आना=ले आया। भाखा=वाणी। जोवा=देखता था। हिअ=हृदय। पिरोवा=गूँथना। मारि=बहुत। गहन=ग्रहण। अगाहु=अथाह। अस=ऐसा। गुनवन्त=गुणवान। भल=अच्छा। बाउर=पागल।

●

८--नागमती-सुआ-खण्ड

(८३)

दिन दस पाँच तहाँ जो भए। राजा कतहुँ अहेरें गए॥
नागमती रुपवंती रानी। सब रनिवास पाट परधानी॥

कै सिंगार दरपन कर लीन्हा । दरसन देखि गरब जियँ कीन्हा ॥
भलेहि सो और पिआरी नाहाँ । मोरे रूप कि काइ जग माहाँ ॥
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी । दीन्ह कसौटी औ बनवारी ॥
सुआ बान दहुँ कहु कसि सोना । सिंघल दीप तोर कस लोना ॥
कौन दिस्टि तोरी रुपमनी । दुहुँ हौं लोनि कि वै पदुमिनी ॥
जौं न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन ।
है कोइ एहि जगत महँ मोरें रूप समान ॥८३॥

भावार्थ—कविवर जायसी यहाँ रत्नसेन की रानी नागमती के रूप घमंड की चर्चा करते हुए लिखते हैं :—

तोते को वहाँ दस पाँच दिन ही बीते और राजा कहीं पर आखेट करने के लिए चले गए । सुन्दरी रानी नागमती सारे रनिवास में पटरानी थी । उसने शृङ्गार करके दर्पण हाथों में लिया और अपनी छवि उसमें देखकर उसे अपने रूप-सौन्दर्य के प्रति मन में बड़ा घमण्ड हुआ । एक तो वह सुन्दरी थी, और दूसरे अपने राजा रत्नसेन प्रियतम की बड़ी प्यारी थी । उसने विचारा, मेरी जैसी सुन्दरी एवं मेरे रूप की समता में कोई दूसरी इस संसार में होगी ? प्रसन्नवदना हँसती हुई वह स्त्री हीरामन तोते के पास आई । तोते को चमकीली कसौटी देकर पूछा—हे तोते, सोने को कसौटी पर कसकर बताओ कि इसका रंग कैसा है ? यह असली है क्या ? तेरा सिंहलदीप कितना सुन्दर है ? तेरी सुन्दरी की मुख मनुहार कैसी है ? बता मैं सुन्दर हूँ कि वह तेरी पद्मिनी ?

हे तोते ! यदि तू सच नहीं बताएगा तो तुझे राजा की क़सम है । क्या इस संसार में मेरे समान कोई रूप सुन्दरी है ?

विशेष—नारी के रूप सौन्दर्य के अहंभाव को जायसी ने प्रस्तुत अंश में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है । नारी अपने सौन्दर्य के आगे दूसरों के सौन्दर्य के प्रति कितनी चिर ईर्ष्यालु है !

शब्दार्थ—तहाँ=वहाँ पर । कतहुँ=कहीं । अहेरैं=आखेट को । रनिवास=अन्त:पुर । पाट परधानी=पटरानी । बनवारी=शुद्ध स्वर्ण पत्री । बरन=रंग । दहुँ=कैसा । लोना=सुन्दर । आन=शपथ । मँह=में ।

(८४)

संवरि रूप पदुमावति केरा । हँसा सुआ रानि मुख हेरा ॥
जेहि सरवर मँह हँस न आवा । बकुली तेहि जल हंस कहावा ॥
दैयँ कीन्ह अस जगत अनूपा । एक एक तें आगरि रूपा ॥
कै मन गरब न छाजा काहू । चाँद घटा औ लागा राहू ॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहा । लोनी सोइ कन्त जेहि चहा ॥
का पूँछहु सिंघल की नारी । दिनहि न पूजै निसि अँधियारी ॥
पुहुप सुगन्ध सो तिन्ह के काया । जहाँ माँथ का बरनौं पाया ॥

गढ़ी सो लोने सोंधै भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भै रानी हिएँ लोन अस लाग ।।८४।।

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी ने नागमती के रूप-सौन्दर्य की उपेक्षा तोते के मुख से प्रकट कराई है :—

पद्मावती के सजे-सँवरे स्वरूप का स्मरण करके तोता रानी नागमती का घमंडी मुख देखकर व्यंग से हँस पड़ा। वह बोला, रानी, जिस सरोवर पर हंस का आगमन नहीं होता वहाँ बगुली ही हँस कहाती है। (यहाँ जायसी ने कितनी काव्यात्मक संगति दी है। संस्कृत की इस उक्ति में भी इसी बात को सिद्ध किया है—"यत्र विद्वज्जनों नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्य धीरपि। निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमापते।।" किन्तु जायसी की उक्ति में इस छन्द की अपेक्षा कहीं अधिक माधुर्य है) तोते ने आगे कहा, इस संसार में इतना अनौखा सौन्दर्य है कि जो एक से एक सौन्दर्य से बढ़कर है। किसी का मन में घमंड करना अच्छा नहीं लगता। चाँद कितना सुन्दर होता है, पर उसे भी तो राहू निगल लेता है। आशय यह है कि घमंडी का सिर नीचा होता है। इस संसार में सुन्दरी या असुन्दरी किसको कहा जाय ? अरे, सुन्दरी तो वही है जिसे उसका पति-प्रियतम अच्छा माने। और तुम सिंहलदीप की रानी के बारे में क्या रूप की समता पूछती हो ? भला कहीं दिन की समता अँधियारी रात कर सकती है ? उस सुन्दरी के शरीर से फूलों की खुशबू आती है। भला सिर की समता में मैं पैरों का कैसे वर्णन करूँ। तात्पर्य यह है कि तोता पद्मावती के सौन्दर्य के आगे नागमती का सौंदर्य तुच्छ बताना चाहता है।

पद्मावती तो निर्मल स्वर्ण से बनाई गई है। उसमें रूप और सौभाग्य परिपूर्ण है। ऐसी बात सुनकर नागमती शुष्क हो गई, उमका मन मसोसने लगा। उसके मन में मानो नमक लगाया गया हो।

विशेष—उपरोक्त छन्द में कविवर जायसी ने रूप-कुरूपमय भाव का विश्लेषण सुंदर किया है। यहाँ जो जिसको जाहता है बस वही सुंदर है ! यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। जायसी ने "लोनि बिलोनि तहाँ को कहा। लोनि सोइ कंत जेहि चाहा" उक्ति में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की काव्यात्मक पुष्टि की है। नागमनी एवं पद्मावती की रूप-सौंदर्न्य की तुलना में कवि ने कई अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है।

शब्दार्थ—सँवरि = स्मरण किया। केरा = का। सरवर = सरोवर। बकुली = बगुली। देयँ = ईश्वर। गरब = गर्व। हेरा = देखा। आगरि = बढ़कर। छाजा = शोभायमान होना। काहू = किसी को भी। बिलोनी = असुन्दरी। कंत = पति। पूजै = समता। निसि = रात। रूखी = शुष्क हुई। हिए = हृदय। लोन = नमक।

(८५)

जौं यह सुआ मँदिर मँह रहई। कबहुँ कि होइ राजा सौं कहई।।
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी। छांड़ै राज चलै होइ जोगी।।
बिख राखै नहि होइ अँगूरू। सबद न देइ बिरह तवँ रू।।

धाइ धामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा जिअ रिसि न सँभारी॥
देखु यह सुअटा है मँदचाला। भउए न ताकर जाकर पाला॥
मुख कह आन पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना॥
पँखि न राखिअ होइ कुभाखी। तहँ लै मारू जहाँ नहिं साखी॥
जेहि दिन कहँ हौं निनि डरौं रैनि छिपावौं सूर।
लै चह दीन्ह कँवल कह मोकहँ होइ मँजूर॥८५॥

भावार्थ—कविवर जायसी ने प्रस्तुत छन्द में पद्मावती के रूप-सौंदर्य के प्रति नागमती की नारी सुलभ प्रतिक्रिया प्रदर्शित की है। तोता उसके विद्रोह का स्वरूप है। सूर्य, कमल, रात्रि आदि का रूपक धर कर जायसी ने संसार की झूठी माया रूपी रात में जीव को आवद्ध बताया है। इसीलिये वह प्रेम रूपी कमल को पा लेने में असमर्थ है। यहाँ रत्नसेन सूर्य के रूप में है, नागमती रात के रूप में और कमल पद्मावती के रूप में। तात्पर्य यह है कि रत्नसेन रूपी जीव मायारूपी रात—नागमती के पाश में आबद्ध है। अतः उसे कमल रूपी परमेश्वर—पद्मावती का साक्षात्कार नहीं हो पाता। यह सब कुछ आशय अर्थ श्लेष से प्रकट होता है और वर्णन में रूपकातियोक्ति अलंकार है।

नागमती ने विचारा कि यदि यह तोता इस राजभवन में रहेगा तो पद्मावती के रूप-सौंदर्य की बात कभी न कभी राजा रत्नसेन से अवश्य कह देगा। यह सुनकर राजा पद्मावती के विरह में वियोगी हो जायगा और राजपाट छोड़कर साधू बन जायगा। विष का पौधा नहीं रखना चाहिये। उसमें अंगूर पैदा नहीं हो सकता। कहीं ऐसा न हो कि यह मुर्गे की तरह बाँग देकर राजा में विरह का भाव जाग्रत कर दे। शीघ्र दौड़कर उसने धामिनी नामक बाँदी को टेर लगाई। वह गुस्से को सहन नहीं कर पा रही थी अतः उसने वह तोता उसे सौंप दिया। नागमती ने बाँदी से कहा, देख, यह तोता बड़ी बुरी चाल का है। जिसने इसे पाला यह उसी का सगा न हो सका। यह मुख से कुछ और तथा पेट से कुछ और है। आशय यह है कि इसकी दशा अविश्वसनीय है। जैसे, "मुँह में राम बगल में छुरी!" इसी बुराई के कारण ही तो यह दस बाज़ारों में बिकता फिरा है। इस बुरा बोलने वाले पक्षी को नहीं रखना चाहिये। हे बाँदी, इसे उस स्थान पर जाकर मार दे जहाँ कोई इसकी मौत का गवाह न हो।

मैं जिस दिन के लिए नित्य डरती हूँ और रात्रि बनकर सूरज को छिपाए रखती हूँ, यह तोता उसी मेरे प्रिय रत्नसेन रूपी सूरज को पद्मावती रूपी कमल से मिला देना चाहता है। यह तोता तो मुझ 'नाग' अर्थात् सर्पमती या नागमती के लिए 'मँजूर' अर्थात् मयूर या मोर की भाँति शत्रु बन गया है। ('नागमती' ने यहाँ व्यंजना से अपने को 'नाग' एवं तोते को अपना शत्रु मोर कहा है।)

शब्दार्थ—मँदिर=महल। विष=जहर। अँगूरू=अँगूर। सबद=शब्द। तवँचूरु=मुर्गा। धाइ=दौड़कर। धामिनी=बाँदी का नाम। बेगि=शीघ्र। हँकारी=आवाज़ दी। आन=दूसरा। मारु=मारो। साखी=साक्षी, गवाह। कमल=पदम या

पद्मावती । भँजूर=मोर।

(८६)

धाइ सुग्रां लै मारैं गई। समुझि गिआन हिएँ मति भई ।।
सुग्रा सो राजा कर बिसरामी । मारि न जाइ चहै जेहि सामी ।।
यह पण्डित खंडित बैरागू । दोस ताहि जेहि सूझ न आगू ।।
जौं तिवाईं कै काज न जाना। परैं धोख पाँछें पछिताना ।।
नागमती नागिनि बुधि ताऊ। सुग्रा मँजूर होइ नहिं काऊ ।।
जो त कंत के आएसु माहाँ । कौन भरोस नारि के नाहाँ ।।
मकु एहि खोज होइ निसि आई । तुरै रोग हरि माथें जाई ।।
दुए सो छपाए ना छपैं एक हत्या और पापु ।
अंतहु करहिं बिनास ये सै साखी दै आपु ।।८६।।

भावार्थ—कविवर जायसी धाय द्वारा तोते को मार देनेवाले प्रसंग में कहते हैं :-

धाय तोते को मारने के लिए तत्पर हुई तो सहसा उसके मन में ज्ञान जगा कि यह तो राजा के लिए बड़ा सुखकारी है। अतः जो स्वामी का हितैषी है उसे मारा नहीं जाना चाहिये। यह तोता तो पंडित है। हो सकता है इसके पूर्वजन्म का वैराग्य कहीं खंडित हुआ है; उसी के पाप मार्जन के कारण यह तोता बना है। वस्तुतः वही दोषी होता है जिसे भविष्य के फल का ज्ञान नहीं रहता। आशय यह है कि बाँदी अपने भविष्य के बारे में सोचने लगी है कि तोते को मारकर उसका प्रिय राजा रत्नसेन कितना नाराज़ होगा ! जो नारी की गति को नहीं समझता वही धोखा खाकर बाद में पछताता है। रानी नागमती की मति-गति नागिन जैसी विषैली ही है.। भला तोता किसी नाग के लिए मोर या शत्रु कैसे हो सकता है ? जो नारी अपने पति की परायणता एवं आज्ञा के अनुकूल नहीं है उस नारी का पति के प्रति क्या भरोसा किया जा सकता है ? सम्भव है इस तोते को मार देने के उपरांत रात को इस तोते की खोज राजा को हो और व्यर्थ ही में घोड़े का रोग बन्दर के सिर मढ़ जाय। आशय यह है कि कहीं मुझ निर्दोष बाँदी को ही इसकी मौत का कारण बना लिया जाय और रानी को कोई कुछ न कहे।

हत्या और पाप—ये दो बातें छिपाये नहीं छिपती। अन्त में विनाश करनेवाले का विनाश ये स्वयं प्रमाण देकर कर देती हैं।

विशेष—जायसी को लोक-व्यवहार की नीति एवं मुहावरों का कितना ठोस ज्ञान था यह इस छन्द की पंक्तियों में द्रष्टव्य है:—

"जो तिवाइ के काज न जाना। परैं धोख पाछें पछिताना ।।"

× × ×

"जौ न कंत के आयसु माहाँ। कौन भरोस नारि कै नाहाँ ।।"

× × ×

"दुइ सों छपाए ना छपै एक हत्या और पाप ।।"

शब्दार्थ—धाइ=दासी या बाँदी । मारैं=मारने को । गिम्रान=ज्ञान । बिस-रामी=सुखकारी । खंडित=जिसकी साधना कुछ कारण से टूट जाय । आगू=भविष्य । तिबाइ=औरत । मकु=शायद । तुरे=घोड़ा । हरि=बंदर । विनास=नाश । साखी=साक्षी, प्रमाण । आपु=स्वयं ।

(८७)

राखा सुआ धाइ मति साजा । भएऊ खोज निसि आएँ राजा ।।
रानी उतर मान सौं दीन्हा । पंडित सुआ मँजारी लीन्हा ।।
मै पूछा सिंघल पदुमिनी । उतरु दीन्ह तूँ को नागिनी ।।
वै जस दिन तूँ निसि अँधिआरी । जहाँ बसंत करील को बारी ।।
का तोर पुरुष रैनि को राऊ । उलू न जान देवस कर भाऊ ।।
का वह पंखि कोटि मँह कोटी । अस बड़ बोल जीभ कह छोटी ।।
रुहिर चुअै जब जब कह बाता । भोजन बिनु भोजन मुख राता ।।
माथें नहि बैसारिअ सठहि सुआ जौं लोन ।
कान टूट जेहि अभरन का ले करब सो सोन ।।८७।।

भावार्थ—कविवर जायसी नागमती के कूट चरित्र (त्रिया चरित्र) का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

धाय ने अपनी बुद्धि को निश्चय करके सुए को न मारा, बचा लिया । जब राजा रत्नसेन रात को आए तो तोते की खोज हुई । रानी नागमती ने बड़ी गर्व-कुशलता से कहा, उस चतुर पंडित तोते को तो बिल्ली ने पकड़ लिया । मैंने उससे सिंघल की सुंदरी पद्मिनी के विषय में पूछा तो उसने उत्तर दिया कि तू नागिनी पद्मिनी के बारे में पूछने वाली कौन होती है ? वह पद्मिनी तो दिन के समान सुंदरी है और तू काली रात के समान असुंदरी है । जहाँ बसंत वहाँ करील की काँटेदार झाड़ी की शोभा भला कैसी ? इनकी समता कैसी ? और तेरा पति रत्नसेन ही कहाँ का सुन्दर है ? वह तो रात का राजा अर्थात उल्लू है । उल्लू दिन का महत्व नहीं जानता । अतः ऐसा उदण्ड पक्षी भी क्या ! उस जैसे करोड़ों सुन्दर पक्षी हैं । अपनी छोटी सी जीभ से वह ऐसी बुरी-बुरी बातें बढ़बढ़ कर कहता था । जब वह अपनी लाल चोंच से बात करता था तो मानो उसके मुख से लोहू टपकता था । बिना शिकार का भोजन किये भी मानो उसके मुख मे ख़ून बरसता था या उसका मुख लाल था । वह क़ातिल पक्षी था ।

नागमती कहती है, यदि तोता सुन्दर हो तो भी उसे सिर पर तो नहीं चढ़ाना चाहिये । जिस गहने से कान ही फट जाय उसके सोने को लेकर क्या करेंगे ? (दृष्टान्त अलंकार है)

विशेष—कविवर जायसी ने यहाँ नारी के छल-चरित्र का बड़ा तथ्यपूर्ण मनो-वैज्ञानिक भाव व्यक्त किया है । इससे सिद्धि होता है कि कवि होने के साथ-साथ जायसी का लोक व्यवहार पक्ष भी अध्ययनपूर्ण था । संस्कृत में भी कहा है—त्रिया चरित्रं,

पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः" ।

शब्दार्थ—मति साजा = बुद्धि को निश्चय करके । निसि = रात । उतर = उत्तर । मान = कुशलता, घमंड । मँजारी = बिल्ली । जस = जैसे । रेनि = रात । राउ = राजा । उलू = उल्लू । देवस = दिन । कोटि = करोड़ों । रुहिर = खून । राता = लाल । बैसारिअ = बैठाना । लोन = सुंदर । अभरन = आभूषण ।

(८८)

राजैं सुनि बियोग तस माना । जैसें हिएँ बिक्रम पिछताना ।।
वह हीरामन पंडित सुआ । जौं बोलै तौ अंब्रित चुआ ।।
पंडित दुख खंडित निरदोखा । पंडित हुतें परै नहिं धोखा ।।
पंडित केरि जीभि मुख सूधी । पंडित बात न कहै निबूधी ।।
पंडित सुमति देइ पँथ लावा । जो कुपंथ तेहि पँडित न भावा ।।
पंडित राते बदन सरेखा । जो हत्यार रूहिर पै देखा ।।
कै परान घट आनहु मती । कै चलि होहु सुआ सँग सती ।।
जनि जानहु कै औगुन मँदिर होइ सुख साज ।।
आएसु मोटि कंत कर काकर भा न अकाज ।।८८।।

भावार्थ—मृत्यु के झूटे समाचार को नागमती के मुख से सुनकर रत्नसेन की मनोवेदना उमड़ आती है । कविवर जायसी उसे व्यक्त करते लिखते हैं :—

राजा तोते की मृत्यु का समाचार सुनकर वियोग से दुखी हुआ । वह इसी प्रकार से पछताने लगा जैसे कि राजा विक्रमादित्य ने अपने उस तोते हीरामन के मरवा देने के लिए पश्चात्ताप किया था जिसने उसे एक फल दिया था, जिसे खाकर वह कभी बूढ़ा न होता । किन्तु दैवयोग से जब विक्रमादित्य ने उसे बगीचे में बोने के लिये दे दिया और उसके वृक्ष में फले, पहले रानी द्वारा दिये गये फल को खाकर कुत्ता मर गया था; क्योंकि उस फल में एक सांप ने विष डाल दिया था । इस अधराध में ही राजा विक्रम ने उस तोते को मरवा दिया था । किन्तु कुछ दिन पश्चात् एक मलीनमना मालिन ने मरने के लिये उसी वृक्ष का दूसरा फल खाया तो वह बूढ़ी से जवान हो गई थी । विक्रमादित्य को यह सुनकर तोते को मरवा देने वाली अपनी भूल बड़ी खली और वह पश्चाताप करने लगा । इसी प्रकार हीरामन तोते की मृत्यु से राजा रत्नसेन दुखी हुआ । वह हीरामन तोता जब बोलता था तो उसके बोलों से अमृत-वर्षा होती थी । वह तोता पंडित था और दुख को दूर करने वाला, बेगुनाह था । अतः ऐसे पंडित तोते से कोई धोखा सम्भव नहीं था । पंड़ित के मुँह में जीभ सीधी होती है, वह सत्य और स्पष्ट कहती है । अतः पंडित से कभी तथ्यहीन असत्य बात नहीं कही जाती । पंड़ित सद्मति देकर पुण्य के मार्ग पर अग्रसर करता है । जो बुरे मार्ग पर चलता होता है, वह पंडित को अच्छा नहीं लगता । पंडित योग्यता की दीप्ति मुख पर लिये होता है, अतः उसका चेहरा लाल होता है । किन्तु हत्यारे को उसके मुख पर खून लगा दाखता है । रत्नसेन कहता है कि हे नागमती ! मेरे प्राण रखने के लिए

(या मेरे प्राणस्वरूप) तोते को लाओ अन्यथा तुम भी तोते के साथ ही सती हो जाओ। आशय यह है कि मैं और तोता एक प्राण हैं। अतः मैं भी जीवित नहीं रहूँगा तो तुम्हें भी सती होना होगा।

हे नागमती ! तुम यह मत सोचो कि अवगुन करके या तोते को मारकर तुम राजमहल में सुख से रहोगी। किस नारी को पति की आज्ञा का उल्लंघन करके हानि नहीं होती ?

विशेष—जायसी ने यहाँ पंडित की महत्ता का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन किया है। इस प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि उन्हें भारतीय मान्यताओं पर पूर्ण आस्था थी; यद्यपि उन पर सूफी कवि होने का तथाकथित विद्वान आक्षेप, पद्मावत के विवेचन में, लगाते हैं। पर यह न्यायोचित नहीं कहा जायगा।

शब्दार्थ—अम्रित = अमृत। निरदोषा = निर्दोष। हुते = से। केरि = की। सूधी = सीधी। निबूधी = व्यर्थ की। सुमति = अच्छी बुद्धि। देइ = देता है। भावा = अच्छा लगना। राते = लाल। सरेषा = कुशल। रुहिर = रुधिर, खून। परान = प्राण। आएसु = आज्ञा। कंत = पति। काकर = किसका। अकाज = बुरा।

(८६)

चांद जैस धनि उजिअर अही। भा पिउ रोस गहन अस गही॥
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवाँ जब हारी॥
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा॥
अैसें गरब न भूलै कोई। जैहि डर बहुत पिआरी सोई॥
रानी आइ धाइ के पासाँ। सुआ मुआ सेंवर के आसाँ॥
परा प्रीति कंचन महँ सीसा। विथरि न मिलै, स्याम पै दीसा॥
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ। देइ सोहाग करै एक ठाऊँ॥
मैं प्रिय प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिअ माँह।
तेहि रिसि हौं परहेलिऊँ निगड़ रोस किअ नाँह॥८६॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी ने बड़ी काव्य निपुणता से भारतीय नारियोचित पतित्व भाव की रूपक-सालंकारिक व्याख्या की है। बिना पति के नारी का उद्धार नहीं है। नागमती अपनी करनी पर पछता रही है—

नागमती चाँद के समान उज्ज्वल थी किंतु पति रत्नसेन के क्रोध करने पर मानो उसे ग्रहण लग गया हो—वह मलिन हो गई। (उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकार है।) वह क्षुद्र नारी अपने परम सौभाग्य एवं सुहाग का महत्व स्थिर न रख सकी, उसे निभा न सकी। ज्योंही वह अपने कर्तव्य से विमुख हुई कि उसे दुर्भाग्य से मिलना पड़ा। उसने विचार किया कि इस ज़रा-सी बात या कसूर के लिए पति नाराज़ हो गया। अतः जो पति को अपना माने, वह उसकी मिथ्या विडम्बना है। कविवर जायसी कहते हैं कि नागमती जैसे मिथ्या अभिमान पर कोई अन्य पत्नी न भरमाए। जिस नारी को पति का भय रहता है,

वस्तुत: वही अपने पति की प्यारी होती है। रानी नागमती शीघ्र उसी कुटिल धाय के पास इस प्रकार आई जैसे तोता सेमर के भुए पर फल की आशा से आता है। (उपमा अलंकार है) लगा, जैसे प्रेमरूपी स्वर्ण में सीसा पड़ गया है; जिससे स्वर्ण का रँग अपना अलग स्पष्ट नहीं रहा, वह काला दीखने लगा। (रूपक अलंकार है) नागमती ऐसी दशा में सोचती है, अब मैं किस सुनार के पास जाऊँ जो मेरे प्रेम के अशुद्ध स्वर्ण को सुहाग के सुहागे से शुद्ध कर दे, मुझे मेरे प्रियतम से पुनः प्यार से मिला दे? (यहाँ 'सुहाग' श्लेष है) तात्पर्य यह है कि नागमती सोचती है कि अब उसका खण्डित सुहाग किस प्रकार से वापस मिले?

नागमती सोचती हुई पश्चात्ताप करती है कि मैंने अपने पति के भरोसे पर मन में घमण्ड किया अत: तोते की उपेक्षा की। किन्तु अब मेरे पति ने ही तदर्थ मुझे अपने अत्यधिक क्रोध से तिरस्कृत किया है। मैं उसी के समक्ष अपराधिन हूँ।

शब्दार्थ—जैस = जैसी। धनि = स्त्री, यहाँ नागमती के लिए प्रयुक्त है। उजियर = उज्ज्वल। अही = थी। भा = होना। रोस = क्रोध। गहन = ग्रहण। गही = ग्रसित हुई। सोहाग = सौभाग्य। निवाहि = निर्वाह। पारी = सकी। दोहाग = दुर्भाग्य। एतनिक = इतने से। दोस = कसूर। बिरचि = करके। पिउ = प्रियतम। पिउ = प्रियतम। कंचन = स्वर्ण। बिथरि = अलग। स्याम = काला। दीसा = दीखता है। सोहाग = = सुहागा, वह पदार्थ जिससे अशुद्ध सोना शुद्ध बन जाता है। गरब = घमंड। रिस = गुस्सा। निगड़ = अत्यधिक।

(९०)

उतर धाइ तब दीन्ह रिसाई। रिसि आपुहि बुधि औरहिं खाई॥
मैं जो कहा रिसि करहु न बाला। को न गएउ एहि रिसि कर घाला॥
तू रिसि भरी न देखेसि आगू। रिसि महँ काकर भएउ सोहागू॥
बिरस बिरोध रिसिहि पै होई। रिसि मारै तेहि मार न कोई॥
जेहि की रिसी मरिए रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै॥
जेहि रिसि तेहि रस जोग न जाई। बिनु रस हरदि होइ पिअराई॥
कंत सोहाग कि पाइअ साँधा। पावै सोइ जो ओहिं चित बाँधा॥
रहै जो पिय के आएसु औ बरते होइ लीन।
सोइ चाँद अस निरमरि जरम न होइ मलीन॥९०॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में धाय का कथन प्रकट करते हुए लिखते हैं :—

तब धाय ने क्रोधित होकर उत्तर दिया कि हे रानी, क्रोध अपने को और बुद्धि दूसरे को खाती है। मैंने तो पूर्व ही कहा था कि हे बाला, गुस्सा न करो। इस क्रोध से कौन नहीं मिटा? पर तू क्रोध से भरी हुई अग्रिम अनर्थ को न देख सकी। भला क्रोध में किसका सौभाग्य सुरक्षित रहता है? क्रोध में तो मनमुटाव एवं विरोध ही होता है। यदि किसी

ने क्रोध रूपी शत्रु को मार दिया तो वह किसी के द्वारा नहीं मारा जाता, वह जीता रहता है। जिस प्रेमी के क्रोध से मरना एवं प्रेम-रस से जीना होता है, उस प्रेमी के प्रेम-रस को छोड़कर उसपर कभी क्रोध न करना चाहिये। क्रोध में प्रेम-रस की रक्षा नहीं की जा सकती और उस अवस्था में बिना प्रेम के हल्दी के जैसा पीलापन छा जाता है। आशय यह है कि प्रेम के अभाव में जीवन नीरस या मुर्दा हो जाता है। कहीं पति का प्रेम या सुहाग केवल इच्छामात्र से साधा जाता है ? नहीं, वह तो वही पा सकती है जिसका हृदय पति के प्रेम-सूत्र से बँधा है।

जो नारी पति की आज्ञा मानती है और उससे नम्रता का व्यवहार करती है वही चाँद जैसी जीवन भर निर्मल बनी रहती है। पति-सुख के लिए वह जीवन में कभी स्वयं सुखी नहीं रहती, उसकी प्रेम-सेवा में क्षीण बनी रहती है।

विशेष—पति परायणता का सुन्दर लोकपक्ष यहाँ जायसी ने प्रस्तुत किया है। भारतीय नारी का उद्धार पति परायण होने में ही है—ऐसा शास्त्रों में भी कहा है।

शब्दार्थ—उतर = उत्तर। रिसि = क्रोध। घाला = मारा। आगू = भविष्य। काकर = किसका। बिरस = नीरस या मनमुटाव। रस = प्रेम। जीजै—जीते हैं। तजि = छोड़कर। जोगै = बचाना, रक्षा। हरिद = हल्दी। पियराई = पीला होना। आएसु = आज्ञा। बरतै = व्यवहार करे। खीन = क्षीण। निरमर = निर्मल। जरम = जन्म। मलीन = दुखी।

(६१)

जुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहँ आनी॥
मान मते हौं गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हारा मरम मैं लीन्हा॥
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा॥
जो तुम्ह देइ नाइ कै गीवाँ। छाँड़हु नहिं बिनु मारें जीवाँ॥
मिलतहि महँ जनु अहहु निनारे। तुम्ह सौं अहै अदेस पिआरे॥
मैं जाना तुम मोहीं माहाँ। देखौं ताकि तौ हहु सब पाहाँ॥
का रानी का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भलि सोई॥
तुम्ह सों कोइ न जीता हारे वररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै करै तुम्हारा खोज॥६१॥

भावार्थ—प्रस्तुत ग्रंश में कविवर जायसी नागमती माया एवं रत्नसेन जीव का मिथ्या कथित सम्बन्ध व्यंजित कर रहे हैं :—

रानी मन में जान गई कि वह अपने छल-छिद्र का दाँव हार गई है। अन्ततः उसने तोते को लाकर राजा को दे दिया और विनय की कि वह अपने घमंड के वशीभूत होकर ऐसा कर गुजरी और हे पति, मैंने तो तुम्हारा प्रेम का रहस्य समझने के लिए ऐसा किया था, कि तुम्हें मेरा कितना प्रेम है ? जो व्यक्ति तुम्हारी सदा, बारह महीने सेवा करता है, मैंने जान लिया कि तुम उसे जरा से अपराध पर नष्ट कर सकते हो। जो अपनी गरदन

तुम्हारे आगे झुका रखता है तुम उस प्राणी को भी बिना मारे छोड़ नहीं सकते। तुम मिलते हुए भी मानो विलग हो। हे प्रिय, तुम्हें मेरा प्रणाम है। मैं तो समझती थी कि तुम मेरे ही भीतर हो, किन्तु जब गहराई से झाँककर मैंने देखा तो पाया कि तुम मुझमें या मेरे ही नहीं सबमें या सबके हो। आशय यहाँ समासोक्ति से यह है कि रत्नसेन आध्यात्मिक रूप से जीव बनकर सब में व्याप्त हैं। वह ब्रह्म का ही अंश है। पर माया मिथ्या है और नागमती उसी का रूप है। नागमती कहती है, यहाँ कोई क्या रानी है और क्या दासी है ? जिस पर आपकी कृपा हो जाय बस वही अच्छी है।

अन्त में माया रूपी नागमती कहती है, हे राजा रूपी जीव ! तुम्हारे स्वरूप से कौन जीता है, कोई नहीं ! भोज और वररुचि विद्वान भी तुम्हारे को समझने में असमर्थ हैं। जो स्वयं को पहले मिटा दे वही तुम्हारी थाह पा सकता है। (आशय है अहंभाव मिटाने से)

शब्दार्थ—मान = घमंड। मते = बुद्धि, पर यहाँ वशीभूत होने के अर्थ है। गरब = गर्व। कंत = पति। मरम = रहस्य या भेद। एतनिक = इतना सा। नाइके = झुककर। गीवाँ = गर्दन। अहहु = हो। निनारे = विलग। अहै = है। अदेस = प्रणाम। माँहाँ = में। मोही = मुझमें। ताकि = झाँककर। हहु = हो पाहाँ = पास। भया = कृपा। वररुचि = भोज के दरबार के एक विद्वान का नाम।

●

९--राजा-सुआ-संवाद-खण्ड

(९२)

राजें कहा सत्त कहु सुआ। बिनु सत कस जस सेंवर भुआ॥
होइ मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धरम सँघाता॥
बाँधी सिस्टि अहै सत केरी। लखिमी आहि सत्त की चेरी॥
सत्त जहाँ साहस सिधि पावा। जौ सतवादी पुरुष कहावा॥
सत कहँ सती सँवारै सरा। लागि लाइ चहुँ दिसि सत जरा॥
दुइ जग तरा सत्त जेइँ राखा। औ पिआर दैअहि सत भाखा॥
सो सत छाँड़ि जो धरम बिनास। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा॥
तुम्ह समान औ पंडित असत न भाखहु काउ।
सत्त कहहु सो मोसों दहु काकर अनियाउ॥९२॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी रत्नसेन की सत्यप्रियता प्रकट करते हुए तोते से सत्य घटना का प्रकाशन करने का आग्रह राजा के मुख से कराते हैं :—

राजा ने कहा कि हे तोते, सत्य कहना कि क्या बात है ? बिना सत्य के मनुष्य का

मूल्य इसी प्रकार व्यर्थ एवं आडम्बरपूर्ण है जैसे कि सेमर का फल देखने में आकर्षक होता है पर उसमें रूई मात्र भरी होती है। वह फल और स्वाद से हीन होता है। सत्य का बोल मुख पर उज्ज्वल आभासित हो जाता है। जहाँ सत्य है वहीं धर्म साथ होता है। सारी सृष्टि सत्य पर आधारित है। लक्ष्मी भी सत्य की ही अनुचरी है। जहाँ पर सत्य है वहीं साहस और सिद्धियाँ निवास करती हैं। जो सत्य बोलने वाला है; वही सत्यवादी महापुरुष कहाता है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही साध्वी नारी चिता जलाती है और चारों ओर से आग लगाकर वह सत्य के हित ही जल मरती है। जो सत्य की आन पर रहता है उसका उद्धार दोनों लोक में निश्चित होता है। सत्यवादी मनुष्य ईश्वर को भी प्यारा होता है। ऐसे महान सत्य को छोड़कर जो धर्म भ्रष्ट होता है उसके पास बुद्धि कहाँ? आशय यह है कि जिसने सत्य का नाश कर दिया वह स्वयं विनाश को प्राप्त हो जाता है।

हे तोते, तुम तो चतुर और पंडित हो। किसीसे असत्य नहीं बोल सकते। अतः मुझसे सत्य-सत्य कहो कि आखिर किसका कसूर या अन्याय है?

शब्दार्थ—भुआ = सेंमर का फल। रात = दीप्तिमय से आशय है। सँघाता = साथ। सिस्टि = सृष्टि। अहै = है। केरी = की। लखिमी = लक्ष्मी। आहि = भी। चेरी = अनुचरी। सिधि = सिद्धि। सरा = चिता। लाइ = लगाकर। तरा = उद्धार हुआ। दुइ = दोनों। भाखा = बोल। बिनासा = नष्ट। असत = झूठ। काकर = किसका। अनियाउ = कसूर या अन्याय।

(६३)

सत्त कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौं काऊ॥
हौं सत लै निसरा एहि पतें। सिंघल दीप राज घर हतें॥
पदुमावति राजा के बारी। पदुम गन्ध ससि विधि औतारी॥
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। कनक सुगन्ध दुआदस बानी॥
हैंहि जो पदुमिनि सिंघल माहाँ। सुगंध सुरूप सो ओहि की छाहाँ॥
हीरामनि हौं तेहि क परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा॥
औ पाएउँ मानुस कै भाखा। नाहि त कहाँ मूठि भरि पाँखा॥
जौ लहि जिऔं रात दिन सुमिरौं मरौं तो ओहि ले नाउँ।
मुख राता तन हरिअर कीन्हे ओहूँ जगत लै जाउँ॥ ६३॥

भावार्थ—कविवर जायसी राजा रत्नसेन के सत्य बात बतलाने के उत्तर में तोते का दिया गया प्रण-परिचय प्रकट करते हुए लिखते हैं:—

तोते ने उत्तर दिया कि हे राजा! सत्य कहने से चाहे प्राण चले जाते हों, तदपि मैं अपने मुख से असत्य नहीं कहूँगा। मैं सत्य का विश्वास लेकर ही सिंहल द्वीप के राजघराने में यद्यपि था किन्तु निकलकर इस मार्ग पर आ गया हूँ। सिंहल के राजा की कन्या पद्मावती है जिसके शरीर से कमल की सुगंध आती है और मानो ब्रह्मा ने उसके रूप में, चन्द्रमा का अवतार ही पृथ्वी पर अवतरित किया है। उसका मुख चाँद सदृश एवं शरीर के अंगों की

गंध मलय गिरि चन्दन के समान है। (यहाँ रूपक, उपमा अलंकार है) उसका शरीर सुगंधित बारहबानी स्वर्ण के समान स्वरूपवान है। (उपमा) सिंहलद्वीप में जो अन्य पद्मिनी नारियाँ हैं वे सारी उसकी रूप-छवि-गंध की छाया के समान हैं। मैं हीरामन नामक उसी सुन्दरी पद्मावती का पक्षी हूँ। जबसे मेरी कंठी फूटी है या मैं सेवा करने योग्य हुआ हूँ तभी से मैंने उसकी सेवा की है; और मैं मनुष्य की बोली बोलता हूँ। यह सब उसी की महत्ता का फल है कि जो मैं ऐसा विलक्षण-सा पक्षी बना हूँ। अन्यथा मैं भी दूसरे सामान्य पक्षियों की तरह मुट्ठी भर पंखों का ढाँचा ही तो हूँ! उसके अभाव में मेरा महत्व कहाँ?

जब तक जीवित रहूँगा रात दिन पद्मावती का नाम लूँगा और मरने पर भी उसका ही नाम रटूँगा। अपने मुख को लाल और शरीर को हरा लेकर मैं परलोक को भी ऐसे ही जाऊँगा या जाना चाहूँगा।

विशेष—अत्यन्त व्यंजना से तोते ने पद्मावती के रूप-गुण एवं सौन्दर्य का प्रभाव प्रकट किया है। साथ ही अन्तिम पंक्तियों में तोते के परलोक में जाने वाली परिकल्पना बड़ी ही हृदयस्पर्शी बन सकी है। कितना उर्ध्व स्नेह कि पद्मावती के लिये वह उसी स्थूल को परलोक मिलन में भी रखना चाहता है, ताकि रानी को उससे सुख हो।

शब्दार्थ—निसरा=निकला। पतें=विश्वास। हौं=मैं। तेहिक=उसीका। परेवा=पक्षी। कंठाफूट=कंठा निकलते ही या सयानेपन से ही। तेहि=उसकी। भाखा=बोली। पाँखा=पंख। राता=लाल। हरिउर=हरा, सुर्खरू। ओहूँ=उस। नाउँ=नाम।

(९४)

हीरामनि जो कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भँवर भुलाना॥
आगें आउ पंखि उजिआरे। कहहि सो दीप पतंग कै मारे॥
रहा जो कनक सुवासित ठाऊँ। कस न होइ हीरामन नाऊँ॥
को राजा कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि सो समुंद चखु भे किलकिला। कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला॥
कह सुगन्ध धनि कसि निरमरी। आ अलि सँग कि अबहिं करी॥
औ कहु तहाँ जो पदुमनि लोनी। घर घर सबके होइ जसि होनी॥
सबें बखान तहाँ कर कहत सो मोसों आउ।
चहौं दीप वह देखा सुनत उठा तस चाउ॥ ९४॥

भावार्थ—कविवर जायसी यहाँ राजा रत्नसेन की, सुन्दरी पद्मावती से मिलने की उत्सुकता प्रकट हुए लिखते हैं:—

हीरामन तोते ने ज्यों ही पद्मावती रूपी कमल का वर्णन किया कि उसे सुनकर और उस पर मोहित होकर राजा भँवर या पागल-सा हो गया और अपनी सारी सुधि-बुधि खो बैठा। राजा ने कहा कि हे उज्ज्वल पंख वाले पक्षी! मेरे सामने आओ। तुम उस द्वीप रूपी दीपक का वर्णन करते हो जिसके लिये मेरा उर पतंग के समान बेचैन हो गया है; जलने

मरने को है। हे तोते ! तू तो उस स्वर्ण-सुगन्धमय स्थान पर रहा है, अतः तेरा नाम हीरामन भला क्यों न हो ! मुझे बता कि वहाँ का महीप कौन है ? वहाँ का कैसा ऊँचा द्वीप है, जिसके सुनने मात्र से मेरा मन पतंगे की भाँति हो गया है ? उस सौन्दर्य के सागर को अर्थात् 'पद्मावती' सुनते ही मेरे नेत्र किलकिला पक्षी बन गए हैं। मैं भ्रमर बनकर चाहता हूँ कि उस कमल (पद्मावती) के ऊपर मँडराता रहूँ या उसमे मिलूँ। बता, वह सौरभमई नारी पद्मावती कितनी उज्ज्वल है ? वह किसी भौंरे रूपी प्रेमी से अब तक मिली है कि नहीं,—या अब तक अविकसित कली ही है ? और भी वहाँ की अन्य सुन्दरी पद्मिनी नारियों का वर्णन कर। उनके घर-घर में कैसा व्यवहार चलता है, यह भी बता।

हे तोते ! तू वहाँ का सब कुछ मुझसे वर्णन कर। मैं उस द्वीप को देखना चाहता हूँ, तेरी बात सुनकर ऐसी इच्छा-उमंग मेरे मन में उठ रही है।

विशेष—अदृष्य या ईश्वर के प्रेम की तीव्रता यहाँ व्यंजित है। यह रहस्यवाद की प्रथम स्थिति है—जिज्ञासा ! 'रूपक' अलंकार की इस छन्द में बड़ी स्वाभाविक छटा है।

शब्दार्थ—पतंग = परवाना। कनक = सोना। सुबासित = सुगंधित। नाऊँ = नाम। उतंगू = ऊंचा। किलकिला = एक जलपक्षी। चख = चक्षु या नेत्र। धनि = नारी। निरमरी = निर्मल। अलि = भौंरा। करी = कली, यहाँ अक्षत बाला का अर्थ है। लोनी = सुन्दरी। चाव = इच्छा।

(९५)

का राजा हौं बरनौं तासू। सिघल दीप आहि कबिलासू॥
जो गा तहाँ भुलानेउ सोई। गे युग बीत न बहुरा कोई॥
घर घर पदुमिनि छतिसौ जाती। सदा बसंत देवस औ राती॥
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी॥
गंध्रपसेन तहाँ बड़ राजा। अछरिन्ह माहँ इन्द्र विधि साजा॥
सो पदुमावति ताकरि बारी। औ सब दीप माँहि उजिआरी॥
चहुँ खंड के बर जो ओनाहीं। गरबन्ह राजा बोलै नाहीं॥
उअत सूर जस देखिअ चाँद छपै तेहि धूप।
अैसै सबै जाहिं छपि पदुमावति के रूप॥९५॥

भावार्थ—कविवर जायसी तोते के मुख से सिंहलदीप एवं पद्मावती का दिव्य, अलौकिक सौदर्याकर्षण प्रकट करते हुए लिखते हैं—

तोता बोला कि हे राजा ! मैं वहाँ का क्या वर्णन करूँ ? सिंहलद्वीप तो स्वर्ग के सदृश सुन्दर है। (उपमा अलंकार है) वहाँ जो भी जाता है यहाँ की सुधि-बुधि भूल जाता है। व्यंजना परलोक की है कि जहाँ पद्मिनी रूपी ईश्वर रहता है वहाँ रूह या आत्मा जाकर इस लोक का ध्यान नहीं रखती। पुनर्जन्म की बात वहाँ, मुसलमानी अक़ीदे (विश्वास) के अनुसार, नही है : वहाँ जानेवाला युगों के बीत जाने पर भी यहाँ नहीं लौटा। वहाँ छत्तीसों या सभी जाति की स्त्रियाँ घर-घर में पद्मिनी ही हैं। वहाँ दिन-रात

सदा बहार या बसंत की छटा विद्यमान रहती है। फुलवारी में जितने वर्ण-रूप-गंध के फूल होते हैं उतने ही रूप-वर्ण-गंध की वैसी ही वहाँ की स्त्रियाँ हैं। वहाँ का महान महीप गंधर्वसेन है। उसका साज-स्वरूप ब्रह्मा निर्मित अप्सराओं के बीच में इन्द्र सदृश है। वह सुन्दरी पद्मावती उसकी कन्या है। वह सारे सिंहलद्वीप की प्रकाशकिरण है। उससे विवाह करने के लिए चारों खण्डों के विनत बर आते हैं किन्तु वह अभिमानी उसका पिता या राजा किसी से बात तक नहीं करता।

हे राजा ! सब देशों के राजकुमार पद्मावती के रूप-आलोक के सामने इस भाँति क्षीण पड़ जाते हैं जैसे सूर्योदय को देखते ही उसकी धूप के कारण, चांद की प्रभा क्षीण पड़ जाती है; अथवा छिप जाती है। या यह कि पद्मावती का सौन्दर्य उगते सूर्य के प्रकाश की भाँति महत्तम है और सब परियाँ पद्मावती के सौंदर्य के आगे तुच्छ हैं। (उपमा अलंकार है।)

विशेष—राम का ऐसा सौन्दर्य-चित्रण तुलसी ने 'मानस' में भी किया है। देखें बालकांड।

शब्दार्थ—आहि=है। कबिलासू=स्वर्ग। गा=गया। तहाँ=वहाँ। भुलानेउ सोई=अपना ध्यान भी न रहना। गे=गए। जुग=युग। बहुरा=लौटता। छतिसौ= छत्तीसों। देवस=दिन। राती=रात। बरन=रंग या वर्ण। अछरिन्ह=अप्सराओं। माँह=में या बीच में। ओनाही=विनत। उअत=उदय होना। सूर=सूर्य। छपि= छिप जाना या क्षीण पड़ जाना। तेहि=उसकी।

(९६)

सुनि रबि नाउँ रतन भा राता। पंडित फेरि इहै कहु बाता॥
तुइँ सुरंग मूरति वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही॥
जनु होई सुरुज आइ मन बसी। सब घटि पूरि हिएँ परगसी॥
अब हौं सुरज चाँद वह छाया। जल बिनु मीन रकत बिनु काया॥
किरिनि करा भा पेम अँकूरू। जौं ससि सरग मिलौं होइ सूरू॥
सहसहुँ कराँ रूप मन भूला। जहँ जहँ दिस्टि कँवल जनु फूला॥
तहाँ भँवर जेउँ कँवला गंधी। भै ससि राहु केरि रिनि बंधी॥
तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि।
पेम छाड़ि कछु ओरू न लौना जौ देखौं मन बूझि॥९६॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी रत्नसेन के मानस प्रेम की व्यापक स्थिति का चित्रण सूर्य, चाँद कमल आदि प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से प्रकट कर रहे हैं। उपमा एवं रूपक अलंकारों के द्वारा वह एकान्त प्रेम की व्यंजना करते हुए लिखते हैं—

सूर्य सदृश पद्मावती का नाम सुनकर रत्न सदृश रत्नसेन अत्यन्त आह्लादित हो उठा। उसने कहा कि हे तोते ! फिर पद्मावती के रूप सौन्दर्य की चर्चा कर। तूने उस

सुन्दर सुरंगोंवाली पद्मावती की चर्चा क्या की कि मेरे उर में वह चित्र बनकर समा गई है, या लिपट गई हैं। ऐसा लगता है मानो वह सूर्य की दिव्यता बनकर मेरे मन में रम गई है। मेरा मानस उसकी दिव्यता मे परिपूर्ण हो उठा है—प्रकाशित हो गया है ! अब मैं सूर्य एवं वह चाँद की छाया जैसी—इस प्रकार हम दोनों एक दूसरे के अभिन्न सम्बन्ध में बँध चुके हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे चाँद-सूर्य एक ही आकाश से सम्बन्धित हैं, अज्ञात, अनिकट होकर भी एक हैं; इसी प्रकार पद्मावती का एवं मेरा रूप एक ही हो गया है। जिस प्रकार जल के बिना मछली और खून के बिना काया का कोई महत्व नहीं इसी प्रकार मैं पद्मावती के बिना नही रह सकता। अब मेरे मन में उसके प्रेम का अंकुर किरणों की कला के रूप में प्रस्फुटित हो गया है। यदि पद्मावती अम्बर का चाँद है तो मैं सूर्य बनकर उससे मिलूँगा। उसकी शीतल सहस्रों किरणों जैसी सुन्दरता पर मेरा मन प्रेमी बनकर भुलावे में पड़ गया है। जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है मानो पद्मावती का प्रस्फुटित रूप-कमल ही दृष्टिगत होता है। भँवरा वहीं तो जाता है जहाँ कमल की सुगन्ध होती है ! अब तो चाँद राहु के ऋण में बन्दी हो गया है ! कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम का संस्कारिक ऋण अब चुकता करना होगा। मेरा और उसका प्रेम होकर ही रहेगा।

हे तोते, तीनों लोक एवं चौदहों भुवनों में मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि प्रेम को छोड़कर और कुछ सुन्दर नही है। इस बात को मैंने मन में खूब समझ-बूझ लिया है।

विशेष—इस छन्द में जायसी ने चाँद और सूर्य का जो प्रेम-सम्बन्ध जोड़ा है वह यद्यपि कुछ संगत-सा प्रतीत नहीं होता, किन्तु इन दोनों की पारस्परिक जोड़ी तो शाश्वत है; और जायसी भी, जीव रूपी रत्नसेन एवं पद्मावती रूपी परमात्मा का कुछ इसी प्रकार से शाश्वत प्रेम-सम्बन्ध प्रकट किया चाहते हैं। चन्द्र की राहू-ऋण में बँध जाने वाली उक्ति की सार्थकता साफ़ नहीं है। व्यंजना यही है कि प्रेम भी एक ऋण है जो दिया ही जाता है :—

प्रसाद कहते हैं :—

"पागल वह मिलता है कब,
उसको तो देते ही हैं सब,
फिर क्यों तू उठता है पुकार,
मुझको न मिला रे कभी प्यार !"

शब्दार्थ—रबि=सूर्य। रात=आल्हादित, अनुरक्त। सुरंग=अच्छे वर्ण वाली। परगसी=प्रकाशित हुई। किरन=किरण। करा=कला। लोना=सुन्दर। पेम=प्रेम। बूझ=सोच समझ।

(९७)

पेम सुनत मन भूलु न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा ॥
पेम फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह बहु फाँद न टूटा ॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता। खिन खिन रात पीत खिन सेता ॥

जानि पुछारि जो भै बनवासी । रोवँ रोवँ परे फाँद नगवासी ।।
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू । उड़ि न सकै अरुझी भा बाँदू ।।
मुयों मुयों अहनिसि चिललाई । ओहि रोस नागन्ह धरि खाई ।।
पाँडुक सुआ कंठ ओहि चीन्हा । जेहि गियँ परा चाह जिउ दीन्हा ।।
तीतर गियँ जो फाँद है नितहि पुकारै दोख ।
सकति हँकारि फाँद गियँ मेलै कब मारे होइ मोख ।। ९७ ।।

भावार्थ—कविवर जायसी हीरामन तोते के मुख से प्रेम की चरम स्थिति का वर्णन करा रहे हैं। प्रेम की यह स्थिति मुसलमानी ढंग की है जिसमें किंचित वीभत्स रस का भी भाव व्यक्त होता है। यह भारतीय प्रेम पद्धति के अनुकूल नहीं। यहाँ का प्रेम तो अपनी वेदना में मौन है:—

तोते ने रत्नसेन से कहा कि हे राजा ! प्रेम का चित्रण सुनने से ही मन को भुलावे में न डालो। प्रेम का सौदा महँगा होता है। जो सिर देता है, प्रेम उसीके लिये शोभायमान होता है। प्रेम के फन्दे में कोई एक बार फँसा हुआ फिर कभी मुक्त नहीं होता। जीवन देकर भी प्रेम का यह फन्दा नहीं टूट पाता। उदाहरण के लिए, गिरगिट भी प्रेम के रूप पर रीझा होगा तभी तो वह उसका दुख लिये है कि पल-पल में लाल, पीला और श्वेत रंग बदलता है। प्रेम के कारण ही मोर बनवासी हो गया और उसके अंग की लकीरें, प्रेम के नागपाश के फन्दे हैं—वह प्रेम की चोट को प्रकट करते हैं। विवशतः मोर अपने पंखों से अधिक न उड़ सकने के कारण फिर-फिर फुदककर उसी फन्दे में पड़ जाता है। वह प्रेम के फन्दे को तोड़कर उड़ नहीं सकता और वन्दी बना रहता है। वह प्रेम के नागपाश के दर्द में 'मुयो मुयो' की आवाज में दिन-रात कराहता रहता है और उसी के क्रोध के कारण वह मानो नागों को पकड़-पकड़कर खा जाता है। पंडुक और तोते के गले में भी वही प्रेम के फन्दों के निशान (कंठे) होते हैं। जायसी कहते हैं कि जिसके गले में यह प्रेम का फन्दा पड़ गया वही जान दे देना चाहता है।

तीतर के गले में भी प्रेम का फन्दा होता है, अतः दुख में वह नित्य हुमक-हुमक कर चीखता है और व्याध के द्वारा हना जाता है। हीरामन तोता राजा रत्नसेन से कहता है; हे राजा ! क्या तुझमें इतनी सामर्थ्य है कि जिस प्रेम के फन्दे को तू अपनी गरदन में डालने के लिये पुकार रहा है उसका दुख झेल ले ? कौन जाने, यह फन्दा कब मार दे और कब इससे मुक्ति मिले !

शब्दार्थ—पेम = प्रेम। छाजा = शोभनीय। फाँद = फन्दा। जीउ = जीव। छन्द = रूप। खिन = पल। पीत = पीला। रात = लाल। सेत = सफेद। पुछारि = पूछ वाला अर्थात् मोर। नगवासी = नागपाशिक। पाँखन्ह = पंखों से। मुयो मुयो = मोर के बोलने का स्वर। अहनिसि = दिन-रात। ओहि = उसी। रोस = क्रोध। पाँडुक = एक पक्षी। चीन्हा = निशान। गियँ = गरदन। सकति = शक्ति या सामर्थ्य। हँकारि = पुकार। मोख = मोक्ष या मुक्ति।

(६८)

राजैं लीन्ह ऊभ भरि साँसा। अैस बोल जनि बोलु निरासा ।।
भलेंहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला ।।
दुख भीतर जो पेम मधु राखा। गंजन मरन सहै सो चाखा ।।
जेइँ नहिं सीस पेम पँथ लावा। सो प्रिथिमी मँह काहे कों आवा ।।
अब मैं पेम पंथ सिर मेला। पाँव न टेलु राखु कै चेला ।।
पेम बार सो कहै जो देखा। जेइँ न देख का जान बिसेखा ।।
तब लगि दुख प्रीतम नहिं भेंटा। जब भेंटा जरमन्ह दुख मेटा ।।
जसि अनूप तुइँ देखी नख सिख बरनि सिंगार।
है मोहि आस मिलन कै जो मरवै करतार ।। ६८ ।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में रत्नसेन के मुख से प्रेम की महानता का चित्रण कराते हुए लिखते हैं :—

राजा ने दीर्घ निश्वास लेकर कहा कि हे तोते ! इस प्रकार के निराशाजनक बोल न बोलो। भले ही प्रेम एक दूभर क्रीड़ा हो किन्तु प्रेम करने वाला या प्रेम का खेल खेलने वाला खिलाड़ी इहिलोक एवं परलोक दोनों से तर जाता है। दुख के भीतर जो प्रेम का मधु सुरक्षित है उसे वही चाख सकता है जो मृत्यु की पीड़ा सहन कर ले। आशय यह है कि जो मृत्यु का भय नहीं करता वही प्रेम की अमरता का मधु स्वाद चख सकता है। जिस व्यक्ति ने प्रेम के मार्ग पर अपना सिर नहीं रक्खा वह पृथ्वी पर जन्मा ही क्यों ? अर्थात् उसका जन्म लेना व्यर्थ है ! रत्नसेन तोते से कहता है कि जब मैंने प्रेम-मार्ग पर अपना सिर धर दिया है तो तू मुझे ठोकर न मारकर अपना प्रेम का शिष्य बना ले। प्रेम के द्वार का महत्व वही जान और कह सकता है जो उसे देख लेता है। जिसने उसे नहीं देखा वह उसकी महत्ता को क्या जानेगा ? जब तक प्रियतम से मिलन नहीं होता, तभी तक दुख का अस्तित्व है। जब प्रेमी अपने प्रियतम से मिल जाता है; तब जन्म-जन्मान्तर के दुख समाप्त हो जाते हैं।

हे तोते ! तूने जिस अनुपम सुन्दरी पद्मावती को देखा है उसके नख-शिख शृंगार का वर्णन कर। मुझे उससे मिलन की उत्कट आशा है। काश, ईश्वर ने मुझे उससे मिला दिया तो।

विशेष—तुलसी ने भी प्रेम की साधनात्मक सफलता के प्रति इस प्रकार इंगित किया है :—

जाकर जाको सत्य सनेहू। ते ताहि मिलै न कछु सन्देहू ।।

और प्रेम के प्रति बलिदान की भावना कबीर की भी देखना उचित है :—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुइँ धरे तब पैठे घर माहिं ।।

निश्चय ही जायसी के प्रेम की अभिव्यंजना अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक

मौलिक एवं व्यापक बन पड़ी है।

शब्दार्थ—अैस = इस प्रकार के। जनि = न या मत। दुहेला = कठिन खेल। गंजन = दुलन। सीस = सिर। मेला = लगाया, धरा। प्रिथिमी = धरती। ठेलु = ठुकराना या डिगाना। चेला = शिष्य। बार = द्वार। बिसेखा = महत्ता। भेंटा = मिलन। जरमन्ह = जन्मजन्मान्तर। करतार = ईश्वर।

१०--नख-शिख-खण्ड

(९९)

का सिंगार ओहि बरनौं राजा। ओहि क सिंगार ओहि पै छाजा॥
प्रथमहि सीस कस्तुरी केसा। बलि बासुकि कौ और नरेसा॥
भँवर केस वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी॥
बेनी छोरि झारु जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
कोंवल कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअंग बिसारे॥
बेधे जानु मलैगिरि बास, सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा॥
घुँघुरवारि अलकैं बिख भरीं। सिकरी पेम चहहिं गियँ परीं॥
अस फँदवारे केस वै राज, परा सीस गियँ फाँद।
अस्टो कुरी नाग ओरगाने भै केसन्हि के बाँद॥ ९९॥

भावार्थ—कविवर जायसी इस छन्द में तोते के मुख से पद्मावती के केशों का अनन्य शृंगार वर्णन करा रहे हैं :—

तोते ने कहा कि हे राजा ! मैं पद्मावती के शृंगार का क्या वर्णन करूं ? उसका शृंगार तो उसीका जैसा अद्भुत, उसको शोभा देता है। (यहाँ अनन्वय अलंकार है।) पहले तो शीश पर बाल कस्तूरी सदृश श्याम एवं सुगन्धिमय है। (उपमा अलंकार है) जब शेषनाग ही उन पर न्योछावर होते हैं तो कौन राजा उसकी बराबरी करके उसकी कामना करेगा ? पद्मावती मानो मालती का फूल है और उस पर मँडराने वाले भँवरे मानो उसके केश हैं। ये केश ज़हरीले नागों की भाँति लहराकर उसकी सुगन्ध ले रहे हैं। (यहाँ उपमा और रूपक अलंकार हैं) जब वह अपने जूड़े को खोलकर बालों को झारने लगती है तो उनकी श्यामता के कारण स्वर्ग और पाताल, सर्वत्र अँधेरा छा जाता है। (अतिशयोक्ति अलंकार है।) उसके कोमल, टेढ़े, काले लहरीले बाल इस प्रकार लहराते हैं, जैसे विष वाले सर्प हों। उसके शीश पर चढ़े हुए चारों ओर बाल इस प्रकार लगते हैं मानो मलयगिरि पर वास के लिये सर्प लिपटे हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) उसकी विषही

घुँघराली अलकें मानो प्रेम की शृंखलाएं हैं जो किसी के गले से लिपटकर जकड़ जाना चाहती हैं।

हे राजा ! पद्मावती के वे केश ऐसा फन्दा डाल देने वाले हैं कि दूर होने पर भी राजा (रत्नसेन) के सिर और उसकी गर्दन में उनका फंदा पड़ गया है। आठों कुल के नागाधिराज झुककर उन केशों के बन्दी हो गए हैं।

विशेष—यहाँ अनेक अलंकारों के योग मे जायसी ने केशों का सौन्दर्य वर्णन किया है, जो यद्यपि अनोखा है; तथापि भारतीय नख-शिख रूढ़ परम्परा का न होकर फारसी कवियों जैसा है, जो नख से आरम्भ न होकर शिख से आरम्भ होता है।

शब्दार्थ—सिंगार=शृङ्गार। बरनौं=वर्णन करूँ। ओहि क=उसका। छाजा=शोभा देना। बलि=न्योछावर। बासुकि=शेषनाग। लुरहि=लहराना। अरधानी=सुगन्ध। बेनी=जूड़ा या चोटी। कोंवल=कोमल। कुटिल=टेढ़े। बिसारे=विषैले। अलक=लटें। सिकरी=शृङ्खलाएँ। पेम=प्रेम। गियं=गर्दन। फंदवार=फन्दे में फंसाने वाले। अस्टो=आठों। कुरी=कुल। ओरगाने=प्रधान। बाँद=बन्दी।

(१००)

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं॥
बिधु सेंदुर अस जानहु दिया। उजिअर पंथ रैनि महँ किया॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
सुरुज किरिनि जस गगन बिसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी॥
खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा॥
तेहि पर पूरि धरे जौं मोती। जमुना माँझ गाँग के सोती॥
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू॥
कनक दुआदस बानि होइ चह सुहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत औ तरईं उअै गगन निसि गाँग॥ १००॥

भावार्थ—कविवर जायसी यहाँ पद्मावती की सुशोभित माँग का संश्लिष्ट शृङ्गार वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन अत्यधिक उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं से सिद्ध है। किन्तु इतस्ततः शृङ्गार वर्णन में वीभत्स वर्णन भी आ गया है जिससे शृङ्गार का पूर्ण परिपाक नहीं हो सका। उदाहरण—

"**खाँडै धार रुहिर जनु भरा**" अथवा "**मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू।**"

तोता कहता है कि हे राजा ! अब मैं पद्मावती के सिर के ऊपर की सुन्दर-माँग का वर्णन कर रहा हूँ जिसके ऊपर अभी सिंदूर भी नहीं चढ़ा है। आशय यह है कि वह अभी कुँवारी है। बिना सिंदूर के उसकी माँग ऐसी स्वच्छ-श्वेत लगती है जैसे दीपक की जोत, अथवा रात में उजियारी पगडंडी, अथवा कसौटी पर कसी हुई सोने की रेखा, अथवा बादलों में चमकती बिजली की रेखा, अथवा नील गगन में सूर्य की कोई विशेष चमकीली किरण अथवा श्याम यमुना की धारा के बीच श्वेत सरस्वती की पतली फूटती धारा

अथवा खाँडे पर लगे गाढ़े श्याम रक्त के बीच तलवार की धार की चमक, अथवा त्रिवेणी के संगम पर चमकीला आरा रक्खा हो। उस माँग पर जो मोती गुँथे हैं, लगता है, मानो गंगा में यमुना की धारा मिली है। तपी इसलिये आरे से अपने को चिरवाते हैं कि शायद वे अपने रक्त से उस दिव्य माँग का सिंदूर लगा सकें। आशय यह है कि पद्मावती के सिंदूर भरने के लिये बलिदान की एवं तप की आवश्यकता है।

हे राजा ! पद्मावती की स्वर्णमयी एवं चमकीली माँग सुहाग अथवा प्रेमी की इच्छा कर रही है। उसकी सुनहरी एवं द्वादशादित्य के समान चमकीली माँग ऐसी लगती है मानो नक्षत्रों और तारों की आकाश गंगा उसकी सेवा करने के लिये आकाश में दृष्टिगत है।

शब्दार्थ—उपराही=ऊपर। उजिअर=उजियारी। रैनि=रात। दिया=दीपक। वेनी=त्रिवेणी। करवत=आरे लगी काशी की मोक्ष प्रदान करने वाली करवट। सोती=धारा। तपा=तपस्वी। चूरु=चीरा जाना। मकु=शायद।

(१०१)

कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहिं जोति कहाँ जन ओती॥
सहस कराँ जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई॥
का सरबरि तेहि देउ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
तेहि लिलाट पर तिलक बईठा। दुइजि पाट जानहुँ ध्रुव डीठा॥
कनक पाट जनु बैठेउ राजा। सबै सिंगार अत्र लै साजा॥
ओहि आगें थिर रहै न कोऊ। दहुँ काकह अस जुरा सँजोऊ॥
खरग धनुक औ चक्र बान दइ जग मारन तिन्ह नाऊँ।
सुनि कै पट मुरुछि कै राजा मो कहँ भए एक ठाउँ॥१०१॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी पद्मावती के ललाट के सौन्दर्य का वर्णन तोते के मुख से कराते हुए लिखते हैं—

तोता कहता है कि हे राजा ! अब मैं उसके ललाट का वर्णन करता हूँ। उसका ललाट द्वितीया के चन्द्रमा के सदृश सुन्दर है। (उपमा अलंकार है) किंतु दोज के चाँद में भी उतनी चमक कहाँ है ? (यहाँ चतुर्थ प्रतीप अलंकार है) सहस्र किरणों वाला उदित सूर्य भी उसके ललाट को देखकर छिप जाता है; फिर उसकी समता में चाँद की क्या बिसात है ? चाँद में तो कलंक है, पर उसका मत्था कलंकरहित अर्थात् देदीप्यमान है। इसके अतिरिक्त, फिर चांद को तो राहु ग्रस लेता है किन्तु पद्मावती का ललाट तो बिना राहु के ग्रसे ही सदा चमकता रहता है। (यहाँ व्यतिरेक अलंकार है) उसके माँथे पर बिन्दी लगी है; मानो दोज के चाँद रूपी आसन पर ध्रुवतारा आसीन हो। (यहां उत्प्रेक्षा, रूपक है) या सोने के सिंहासन पर मानो कोई राजा बैठा हो, जो सुन्दर वस्त्राभूषणयुक्त सुसज्जित हो। पद्मावती के माँथे के तिलक-सौन्दर्य के आगे कोई ठहर नहीं सकता। कौन

जाने, उसका संयोग अथवा विवाह किस भाग्यशाली के साथ जोड़ा जायगा !

हे राजा ! खड्ग, धनुष और चक्रबाण देकर उसका नाम संसार को मारनेवाला दिया गया है। आशय है कि पद्मावती की नासिका, भौं, पुतली आदि की शोभा अत्यंत घातक है। यह सुनकर राजा ऐसा कहता हुआ मूर्छित हो गया कि मेरे लिए तो सब स्थान अब एक जैसे हो गए हैं। आशय यह है कि पद्मावती का रूप-सौंदर्य इतना व्यापक है कि उसका नाम संसार को उसके ऊपर बलिहार हो जाने के लिए काफ़ी है और रत्नसेन उसके इस विराट सौन्दर्य की चर्चा सुनकर आत्मविस्मृत-सा होने लगा।

विशेष—सूफीमत के अन्तर्गत प्रेम या इश्क में 'हाल' की स्थिति होती है; जिसमें ईश्वर के इश्क में आशिक या भक्त आत्मविस्मृत सा हो जाता है। छन्द की अन्तिम पंक्तियों में यही अवस्था व्यंजित है। चैतन्य, मीरा अन्दाल आदि कृष्णभक्त कवियों की प्रेम-लक्षणा भी कुछ ऐसी ही स्थिति से गुजरी है।

शब्दार्थ—दुइज=दोज। ओती=उतनी। सहस=सहस्र। करां=किरण या कलाएँ। दिपाई=प्रकाशित। सरवरि=बराबर। मयंकू=चाँद। पाट=आसन। डीठा=देखा। अत्र=वस्त्राभूषण। संजोउ=संयोग या विवाह। दुहुँ=कौन जाने।

(१०२)

भौंहें स्याम धनुकु जनु ताना। जासौं हेर मार बिख बाना।।
उहै धनुक उन्ह भौंहन्ह चढ़ा। केहि हतियार काल असि गढ़ा।।
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौं कर गहा।।
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा।।
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सर बाहू।।
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा। धानुक आपु बेझ जग कीन्हा।।
उन्ह भौंइन्ह सरि केउ न जीता। अछरि छपीं छपीं गोपीता।।
भौंह धनुक, धनि धानुक दोसरि सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगवै लाजन्ह सो छपि जाइ।।१०२।।

भावार्थ—इस अंश में कविवर जायसी पद्मावती की भौहों का वर्णन तोते के मुख से कराते हुए लिखते हैं—

हे राजा, उसकी काली भौहें तने हुए धनुष के समान हैं मानो जिसपर तीर चढ़ा हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है)। वे जिसको देख लेती हैं मानो विष का बाण मार देती हैं। धनुष उन भौहों पर चढ़ा हुआ है। किस हत्यारे ने इन भौहों को काल के समान निर्मित किया है? कृष्ण एवं राम के पास यही धनुष था जिससे कंसासुर एवं रावण राक्षसों को मारा गया था। इसी धनुष से राहु को हना गया, सहस्रबाहु को बेधा गया। पद्मावती के पास भौह के रूप में मैंने ऐसा ही अद्भुत धनुष देखा या पहचाना है। वह धनुष को चलानेवाली है और सारे संसार को उसने अपने धनुष से बेध छोड़ा है या शिकार बना लिया है। इसकी क़ातिल भौंहों से कोई भी नहीं जीत सका। अप्सराएँ एवं गोपियाँ उसके आगे छिप गई।

आशय यह है कि अन्य श्रेष्ठ सुन्दरियां उसके रूप कटाक्ष के आगे कुछ नहीं हैं।

पद्मावती जैसी धनुःधारिणी एवं उसकी धनुषाकार भौंहें, तोता कहता है कि वे धन्य हैं। दूसरा कोई उसकी तुलना में नहीं है। आकाश में उदित सुन्दर इन्द्रधनुष भी उसकी भौहों के सुन्दर धनुष के आगे लाजवश छिप जाता है।

विशेष—प्रस्तुत छन्द में राम, कृष्ण आदि जो नाम आए हैं वह जायसी की हिंदू-मान्यताओं के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। जायसी ने यहाँ इन्द्रधनुष के साथ काली भौंहों को धनुष का रूप देकर जो तुलनात्मक दृष्टिकोण स्थापित किया गया है, वह असंगत सा है। न रंग साम्य है और न सौन्दर्य साम्य! इन्द्रधनुष एवं भ्रूभंगों के प्रति पंत की ये पंक्तियाँ सुन्दरता को जानने के लिए उचित रहेंगी—

"तजकर तरल तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवावूं निज मृग-सा मन!"

यहां जायसी की अपेक्षा अधिक सुन्दर परिकल्पना है।

शब्दार्थ—धनुकु=धनुष। हेर=देखना। बिख=विष। केइ=किस। हतियार=हत्यारा। किरसुन=कृष्ण। राघौ=राम। हुत=था। ओ पहँ=उस पर या उसके पास। चीन्हा=पहचाना। धानुकध=नुर्धर। सरि=बराबरी। आछरि=अप्सराएँ। गोपीता=गोपियाँ। दोसर=दूसरा। गगन धनुक=आकाश का धनुष, इन्द्रधनुष। ऊगवै=निकलता है। छपि=छिपना।

(१०३)

नैन बाँक सरि पूज न कोऊ। मान समुंद अस उलथहिं दोऊ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माँति चहहिं उपसवाँ॥
उठहि तुरंग लेहिं नहिं बागा। चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा॥
पवन झकोरहिं देहिं हलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार चाह पल माहाँ॥
जबहिं फिराव गँगन गहि बोरा। अस वै भवर चक्र के जोरा॥
समुद हिंडोर करहु जनु झूले। खंजन लुरहिं मिरग जनु भूले॥
सुभर समुँद अस नैन दुइ मानिक भरे तरंग।
आवत तीर जाहिं फिरि काल भवर तेन्ह संग॥ १०३॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी तोते के द्वारा पद्मावती के नेत्रों का अत्यन्त सालंकारिक शृङ्गार वर्णन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं:—

हे राजा! उसके नेत्रों के कटाक्षयुक्त बाँकपने की कोई बराबरी नहीं कर सकता। उसकी आँखों में भरा उन्माद का तरल नशा ऐसा लगता है मानो सागर उछल रहा हो। (उत्प्रेक्षा है) उसके लाल नेत्र मानो कमल हैं; जिन पर पुतली, भौंरे जैसी मँडरा रही हैं। वे चंचलता से मँडराते हैं—मानो उड़कर चले जाना चाहते हों। आशय यह है

कि वे अति रागारुण एवं चंचल हैं। (उत्प्रेक्षा अलंकार से यह वर्णन अति सुन्दर है।) वे उदण्ड घोड़ों के समान हैं जो बागडोर अथवा कोई बन्धन मानना नहीं चाहते। वे आकाश को उछलकर छूना चाहते हैं। वे वायु को झकझोर देते हैं और हिलोरें पैदा करते हैं। स्वर्ग को पृथ्वी पर लाते हैं फिर उड़ा ले जाते हैं। (यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है) उन नेत्रों के डोलते-डोलते ही संसार डोलने लगता है। बड़ी-बड़ी स्थिर वस्तुएँ पल में उलट जाती हैं। उन नेत्रों में सागर के भँवर-चक्र की जैसी गति है। जब वे फिरते हैं तो अपनी लपेट में आकाश को लेकर डुबा देते हैं। वे नेत्र, मानो समुद्र की हिलोरें, किंवा टूटते हुए पक्षी किंवा भूले-भूले मृग हैं। (यहाँ द्वितीय उल्लेख अलंकार है)

तोता कहता है कि हे राजा! पद्मावती के दोनों नेत्र समुद्र के समान हैं। और उनकी लाल रेखाएँ माणिक्य की चपल तरंगों जैसी हैं, जो किनारे अथवा कोरों तक आकर काल-भँवर जैसी पुतलियों के साथ लौट जाती हैं। (उपमा अलंकार है)

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने नेत्रों के भावानुभावों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। कवित्व शक्ति का पूर्ण विकास इस छन्द में परिलक्षित होता है। बिहारी का नयनों की शोभा के प्रति यह दोहा भी देखिए :—

"चमचमात चंचल नयन, बिच घूंघट पटझीन।
मानहु सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन॥"

किन्तु जायसी के वर्णन में हृदय तत्व प्रधान है और बिहारी का केवल कलापक्ष!

शब्दार्थ—बाँक=कटाक्षमय। सरि=बराबर। समुंद=समुद्र। उलथहिं=उछलता है। भवाँ=घुमाव, पानी का भँवर। उपमवां=उड़ जाना। सरग=स्वर्ग। अड़ार=अड़ियल या स्थिर। बोरा=डुबाना। लुरहिं=टूटते हुए। खंजन=पंक्षी।

(१०४)

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुर अनी॥
जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुंद भए दुइ नैना॥
बारहिं पार बनावरि साँधी। जासौं हेर लाग बिख बाँधी॥
उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा॥
गँगन नखत जस जाहिं न गने। है सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े॥
बरुनि बान सब ओपहं बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ पंखिन्ह तन सब पंख॥ १०४॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य की रहस्यवादी अभिव्यंजना तोते के मुख से कराई है। अन्योक्ति का आधार लेकर कहा जायगा कि अणु-अणु, कण-कण एवं निखिल सृष्टि में उसी एक ईश्वर के महान सौन्दर्य का अंश पुरा हुआ है—पद्मावती उसी का स्वरूप है!—

तोता कहता है कि हे राजा ! उसकी बरौनियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उनका मैं कैसे वर्णन करूँ ? लगता है मानो तीर का निशाना बाँधे दो सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हों, अथवा आँखें ऐसी हैं मानो समुद्र के बीच में, राम और रावण की दो सेनाएं जुड़ी खड़ी हों। वारपार बाणों की क़तारें चल रही हैं। जिसकी ओर ये आँखे दृष्टि डाल देती हैं उसीके ज़हरीले तीर लग जाते हैं, वह ऐंठ जाता है। यहाँ कौन ऐसा है जो पद्मावती के नेत्र-बाणों से घायल होकर नहीं मरा है ? सारा संसार इन तीरों से बिंधा पड़ा है। अनगिनत आकाश के तारे उसी के बाण से घायल हैं। समस्त धरती उन्हीं तीरों से बिंधी पड़ी है। ये खड़ी हुई वन-वृक्ष-शाखें इसकी साक्षी हैं। मनुष्य के शरीर के रोम-रोम की जड़ में उसीके बाण चुभे हैं, ये रोमरंध्र इसी बात का प्रमाण देते हैं।

हे राजा ! उसी की बरोनियों के बाणों ने वन के सारे ढाकों को बेध रक्खा है। ये जानवरों के शरीर के रोम एवं पक्षियों के शरीर के पंख—सब उसी की चितवन के बाणों का बेधा हुआ स्पष्ट रूप है।

विशेष—यह पद जायसी के रहस्यवादी दृष्टिकोण का अत्यन्त पोषक पद माना जाता है।

शब्दार्थ—बरुनी = बरौनी। बरनौ = वर्णन। जानु = मानो। अनी = सेनाएं। बनावरि = बाणों की कतारें। हेर = देखना। नखत = नक्षत्र, तारे। गने = गिने। ओहि उसके। हने = छोड़े, या मारे हुए। सरवरी = प्रमाण, साक्षी। ढंख = ढाक के वृक्ष।

(१०५)

नासिग खरग देऊँ केहि जोगू। खरग खीन, ओहि बदन सँजोगू॥
नासिक देखि लजानेउ सुआ। सूक आइ बेसरि होइ उआ॥
सुआ सो पिअर हिरामन लाजा। और भाउ का बरनौं राजा॥
सुआ सो नाँक कठोर पँवारी। वह कोकिल तिल पुहुप सँवारी॥
पुहुप सुगन्ध करहि सब आसा। मकु हिरगाइ लेइ हम बासा॥
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिवँ देखि सुआ मन लोभा॥
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस को पाव को नाहीं॥
देखि अमिअ रस अधरन्हि भएउ नासिका कीर।
पवन बास पहुँचावै अस रम छाँड़ न तीर॥१०५॥

भावार्थ—इस अंश में विभिन्न अलंकारों के द्वारा जायसी तोते के मुख से पद्मावती की नासिका का सौन्दर्य वर्णन करते हुए लिखते हैं—

हे राजा, मैं पद्मावती की नासिका की समता खड्ग से किस भाँति करूँ? खड्ग तो पतली होती है और क्योंकि उसकी नासिका का मेल उसके भरे-भरे मुख से है अतः खड्ग उसकी इस शोभा के समक्ष तुच्छता अनुभव करके क्षीण है। उसकी नासिका को देखकर तो तोता भी लज्जित होता है और शुक्र तारा भी बेसरि का मोती बनकर उसकी नाक में उदित हो गया है। आशय यह है कि नाक में पहना आभूषण का नग शुक्र तारे सा समुज्ज्वल

है। (यहाँ व्यतिरेक अलंकार है) मैं हीरामन तोता भी स्वयं उसके रूप सौन्दर्य की लाज के कारण ही तो पीले रंग का हो गया हूँ! हे राजा, मैं और अधिक उसका क्या वर्णन करूँ? तोते की चोंच तो लोहार की पाँवरी जैसी कठोर होती है अतः उसकी समता पद्मावती की तिल के फूल सी सुन्दर कोमल नासिका से कैसे हो सकती है? समस्त फूल इस आशा में भटकते हैं कि शायद वह हमें अपनी नासिका से लगाकर सुगन्ध लेने हेतु सूँघ ले। उसके ओठों एवं दाँतों के ऊपर नासिका इस प्रकार सुशोभित है मानो अनार को देखकर तोते का मन भी लुभा गया हो, वहाँ बैठा हो। (यहां उत्प्रेक्षा है) खंजन पक्षी सदृश उसकी दो आँखें दोनों ओर क्रीड़ा कर रही हैं। उसकी नासिका के दोनों ओर खंजन पक्षी सदृश दो चंचल आँखें क्रीड़ा करती हैं। कौन जाने, कोई पद्मावती के रूप-रस का पान कर पायगा या नहीं! (रूपक अलंकार है)

उसके ओठों का अमृत-रस देखकर ही नासिका भी तोते की चोंच बन गई है। आशय यह है कि वह झुकी हुई सी पद्मावती के अधरों के अमृत का पान किया चाहती है। क्योंकि साँसों की सुरभित वायु, तोते की चोंच के सदृश उसकी नासिका तक पहुँचती है; अतः वह उसके निकट स्थित है। आशय यह है कि पद्मावती की साँसें सुरभित हैं, अधर मधुर हैं एवं नासिक अपने स्थान पर अत्यन्त सुंदर लगती है।

शब्दार्थ—नासिक=नाक। जोगू=समता। खीन=पतली। बदन=मुख। लजाने=लज्जा करता है। सूक=शुक्रतारा। बेसरि=नाक का चमकीला आभूषण। पिअर=पीला। पँवारी=लोहार का एक पैना औजार। कोंवलि=कोमल। पुहुप=फूल। मकु=शायद। हिरगाइ=मिला लेना। दुहुँ=कौन जाने। को=कोई। तीर=निकट।

(१०६)

५८:

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिम्ब सुरंग लाजि बन फरै॥
फूल दुपहरी मानहुँ राता। फूल झरहिं जब जब कह बाता॥
हीरा गहै सो विद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजियारा॥
भए मँजीठ पानन्ह रँग लागें। कुसुम रंग थिर रहा न आगें॥
अस कै अधर अमिअ भरि राखे। अबहिं अछूत न काहूँ चाखे॥
मुख तँबोल रँग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंब्रित बसा॥
राता जगत देखि रँग राते। रुहिर भरे आछहिं बिहुँसाते॥
अमिअ अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कँवल बिगासा को मधुकर रस लेइ॥ १०६॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में पद्मावती के अधरों का सालंकारिक वर्णन तोते के मुख से कराते हुए कविवर जायसी लिखते हैं:—

पद्मावती के सुन्दर रंगीन ओठ अमिय रस से पूर्ण हैं। बिम्बाफल उसके ओठों के सौन्दर्य से लजाकर ही वन में जा फले हैं। दुपहरिया के फूल "बन्धूक" के सदृश उसके ओठ लाल हैं। जब वह उन ओठों से बात करती है तो मानो फूल झरते हैं। (सर्वत्र उत्प्रेक्षा

अलंकार है।) उसके विद्रुम जैसे लाल मसूढ़ों में हीरे से उज्ज्वल दाँत जड़े हैं। जब वह हँसती है तो जगत विभासित हो जाता है। वे ओठ पान की पीक लगने से ऐसे लाल हो गये हैं जैसे मजीठ हो। उसके ओठों के आगे फूल की रँग-शोभा नहीं ठहर सकती। इस प्रकार से पद्मिनी के अधर रस से भरे हुए हैं। अभी वे अधर अछूते हैं। किसी ने उनका रसास्वादन नहीं किया—चुम्बन नहीं लिया! उसकी जीभ, मुख में दबे पान की लाली धारण किये हुए है। देखें, कौन सौभाग्यशाली उसके अमृत-मुख का सुयोग पाता है—अर्थात्, उसका मुख-अमृत कौन पान करता है! उसके लाल रंग को देखकर संसार लाल हो गया है, अनुरक्त हो गया है। (कबीर ने भी कहा है—**"लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल"**) वह रक्तमय ओठ हँसते हुए भले प्रतीत होते हैं।

तोता कहता है कि हे राजा! पद्मावती के ओठों का मधु ऐसा है कि उसको पान करने के लिये सारा संसार आश लगाए बैठा है। देखना है कि वह कमल किसके लिये खिला है और कौन सौभाग्यशाली भँवरा उसके रस का पान करेगा? आशय यह है कि पद्मावती रूपी कमल का कौन राजा रूपी भौंरा वरण करेगा। (यहाँ श्लेष है)

शब्दार्थ—विद्रुम=मूँगा। तँबोल=पान। रसा=जीभ। राता=लाल, अनुरक्त। रुहिर=रक्त। बिहँसाते=हंसते हुए। अमिअ=अमृत। करेइ=करता है। केहि कहँ=किसके लिये। बिगासा=खिला। को=कौन। मधुकर=भौंरा।

(१०७)

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रँग स्याम गँभीरा॥
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठी तसि भीनि बतीसी॥
वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दीपहि सो तेहि परिछाहीं॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई॥
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोंती॥
जँह जँह बिहँसि सुभावहि हँसी। तँह तँह छिटकि जोति परगसि॥
दामिनि दमकि न सरबरि पूजा। पुनि वह जोति और को दूजा॥
बिहँसत हँसत दसन तस चमके पाहन उठे झरक्कि।
दारिवँ सरि जो न कै सका फाटेउ हिया दरक्कि॥ १०७॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी तोते के द्वारा पद्मावती के दाँतों के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन कर रहे हैं। यहाँ समसोक्ति से आध्यात्मिक रहस्यमयी व्यंजना है कि ईश्वर की सौन्दर्य ज्योति ने ही संसार के उपकरणों में सौन्दर्य का प्रकटीकरण किया है। सर्वत्र उसी ईश्वर की झलक है। तारे-सूर्य-चन्द्र आदि में उसीके उज्ज्वल हास का प्रतिबिम्ब आभासित है।

तोता कहता है कि हे राजा! पद्मावती के आगे के चार दाँत ऐसे उज्ज्वल हैं कि जैसे हीरे जड़े हों। उनके बीच में मिस्सी का गहरा काला रंग दिखलाई पड़ता है। उस कालिमा के बीच में उसकी हंसी से उसकी दंतावली ऐसी प्रतीत होती है मानों भादों की मेघमई

रात्रि में बिजली चमकती हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) उसके दाँतों की समुज्ज्वलता हीरे की चमक से भी बढ़कर है। हीरा जो चमकता है, वह तो उसी की उज्ज्वलता का प्रतिबिम्ब आभासित होता है। जिस दिन उसके दाँतों की हँसी उद्भूत हुई, उसी दिन बहुत सी ज्योतियाँ प्रकट हुई। उसी ने सूर्य, चाँद और तारों को अपनी ज्योति प्रदान की है। माणिक, मोती और अन्य रत्न पदार्थ उसी की ज्योति से ज्योतित हैं। जहाँ-जहाँ वह स्वाभाविक मुस्कराई है, वहीं वहीं उसकी हँसी ज्योति बनकर प्रकाशित हुई है। चंचला भी चमककर उसकी हँसी की ज्योति की समता नहीं कर सकती; भला फिर कोई दूसरी ज्योति उसकी समता कैसे कर सकती है ?

उसके हँसने से दाँत ऐसे चमके कि जिससे पत्थर भी झलक उठे, रत्न बन गए। तात्पय यह है कि हीरे-रत्न उसकी हँसी से उद्भुत हुए हैं। अनार उसकी उज्ज्वल हँसी की समता में फीका रहा; अतः दुख के कारण उसकी छाती फट गई।

विशेष—रूप सौन्दर्य का इतना व्यापक भावमय वर्णन अन्यत्र कम ही मिलता है। यह जायसी के महाप्राण कलाकार होने का ज्वलंत उदाहरण है। उक्ति चमत्कार एवं अलंकारिक सौन्दर्य, भाव गम्भीरता एवं अभिव्यक्ति सशक्तता इस छन्द में अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। सूर, तुलसी आदि ने भी कृष्ण-राम के दाँतों के सौन्दर्य का चित्रण किया है किन्तु वह जायसी जैसा उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता!

शब्दार्थ—दसन = दाँत। दीसी = दिखाई पड़ी। चौक = चार। भीनि = सुन्दर। बतीसी = दन्तावली। उपराहीं = ऊपर। पाहन = पत्थर। झरक्कि = झलक। दाखि = अनार। सरि = बराबरी। कै = कर। फाटेउ = फट गया। दरकि = दरककर।

(१०८)

रसना कहौं जो कह रस बाता। अम्रित बचन सुन मन राता॥
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि वह बैनु न मिला॥
चात्रिक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं॥
भरे पेम मधु बोलै बैना। सुनै सो माति घुमि कै डोला॥
चतुर बेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह बरम्हा सिर धुना॥
अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता॥
भावसती व्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहिं बान॥१०८॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी तोते के मुख से पद्मावती की मृदुभाषिता एवं विद्वत्ता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

तोते ने कहा कि हे राजा! अब मैं उसकी जीभ के बारे में वर्णन करता हूँ; जिससे वह मीठे रसमय बोल बोलती है। उसके अमृत तुल्य वचन सुनकर सबका मन मोहित हो जाता है। उसकी मृदु वाणी चातक एवं कोकिल के मीठे वचनों को भी लज्जित

करती है। वीणा एवं बाँसुरी के स्वर भी उसकी बोली से नहीं मिलते—उसकी बोली अधिक मृदु है। चातक एवं कोकिल जो प्रत्येक मौसम में नहीं रहते, उसका कारण यह है कि पद्मावती के मीठे वचनों को सदा सुनकर वे लाज से छिप जाते हैं। वह प्रेम के मधु से मिश्रित वाणी बोलती है। जो उसकी बोली सुनता है वह पागल सा बनकर घूमने लगता है। ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारों वेदों का ज्ञान उसके पास है। उसके प्रत्येक शब्द के चार-चार अर्थ होते हैं; इन्द्र एतदर्थ उस पर मोहित है। वेदों का रचयिता ब्रह्मा उसकी विद्वत्ता पर सिर धुनता है। अमरकोष, महाभारत, पिंगलशास्त्र और गीता के अर्थों के करने में पंडित-विद्वान भी उससे नहीं जीत पाते।

भास्वती ज्योतिष ग्रन्थ, व्याकरण, पिंगलशास्त्र, पुराण एवं वेद आदि के गूढ़ रहस्यों को वह सरस्वती सी इस प्रकार पढ़कर कहती है कि मानो बाण लगने का प्रभाव पड़ रहा हो। आशय यह है कि उसकी विद्वत्ता का प्रभाव बुद्धि-हृदय पर तीर के जैसा सीधा पड़ता है।

विशेष—यहाँ कुछ हिंदू धर्मग्रंथों के नाम गिनाये गए हैं जिनसे जायसी के गम्भीर ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं—केवल उनपर सुना सुनाया प्रभाव आग्रह है कि वे उसे भारतीय काव्य चित्रण में जोड़ें।

शब्दार्थ—रसना = जीभ। अंब्रित = अमृत। राता = मोहित। हरै = हरण करना, यहाँ लज्जित करने से अर्थ है। सुर = स्वर। चात्रिक = चातक। बीन = वीणा। बंसि = बाँसुरी। छपि = छिपना। माति = मतवाला। घूमि = खोकर, डोलकर। कै = कर। चतुर = चारों। मति = ज्ञान। रिगु, यजु, साम अथर्वन = चारों वेद—ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। भारथ = महाभारत। जूझ = युद्ध, विवाद। अरथ = = अर्थ। भावसती = एक ज्योतिष ग्रंथ—भास्वती।

(१०६)

पुनि बरनौं का सुरंग कपोला। एक नारंग कै दुऔ अमोला॥
पुहुप पंक रस अंब्रित साँधे। केइँ ये सुरँग खिरौरा बाँधे॥
तेहि कपोल बाएँ तिल परा। जेइँ तिल देखि सो तिलतिल जरा॥
जनु घुँघुची वह तिल करमुहाँ। बिरह बान साँधा सामुहाँ॥
अगिनि बान तिल जानहुँ सूझा। एक कटाख लाख दुइ जूझा॥
सो तिल काल मेंटि नहिं गएउ। अब वह गाल काल जग भएउ॥
देखत नैन परी परिछाहीं। तेहतें रात स्याम उपराहीं॥
सो तिल देखि कपोल पर गगन रहा धुव गाड़ि।
खिनहि उठै खिन बूड़ै डोलै नहिं तिल छाँड़ि॥१०६॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी तोते द्वारा पद्मावती के मुख-तिल के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

हे राजा! फिर मैं उसके सुन्दर गालों का क्या वर्णन करूँ? मानों एक नारंगी

के दो अमूल्य भाग हों। वह कपोल इतने रसमय हैं कि लगता है मानो पुष्प के पराग में अमृत गूँथा गया हो और उससे सुन्दर कत्थे की टिक्कियाँ (खिरौरा) बाँधी गई हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है, उपमा ऊपर की पंक्ति में है)। उसके वाम गाल पर एक तिल का चिन्ह झलकता है। जो उस तिल के सौन्दर्य को देखता है उसके रोम-रोम में रूप की दाह उठती है। मानो रत्ती या घुँघची भी उस तिल को देखकर काले मुख वाली बन गई है। (उत्प्रेक्षा है) मानो विरह का तीर सामने सधा हुआ है। किंवा वह तिल अग्नि-बाण जैसा है, जिसके एक निक्षेप से दो लाख योद्धा अथवा रसिक जन मर मिटते हैं। उस तिला को काल भी नहीं मिटा सका। अतः वह गाल का तिल अब संसार का काल बना हुआ है। नेत्रों की काली पुतली की जो प्रतिच्छाया गाल पर पड़ रही है वही लाल गालों पर काला तिल हो गया है।

गाल के उस अद्भुत तिल को देखकर आकाश का ध्रुवतारा अचल हो गया है। वह पल-पल उदय-अस्त होता है, पर अपना स्थान न छोड़कर अचल है। आशय यह है कि कपोल के तिल सौन्दर्य को सदा देखते रहने के लिए ध्रुवतारा उज्ज्वल होकर भी अटल है।

विशेष—तिल जैसी वस्तु के सौन्दर्य चित्रण में जायसी कितने स्पष्ट हैं, यह बड़ी विशेषता है। यहाँ ऊहा का सर्वथा प्रयोग नहीं है।

शब्दार्थ—पुनि = फिर। कपोला = गाल। नारँग = नारंगी। दुऔ = दोनों। पहुप पंकरस = फूल का पराग। साँधे = गूँथे। केइँ = किंवा। खिरौरा = कत्थे की टिक्कियाँ। घुँघची = गुंजा या रत्ती। करमुँहा = काले मुख वाली। सामुँहा = समक्ष। रात = लाल। कटाख = कटाक्ष। मेंटि = मिटाया। तेहतें = उससे। उपराहीं = ऊपर। धुव = ध्रुव-तारा। गाड़ि = अचल। खिनहि = पल में। बूड़ै = अस्त होना।

(११०)

स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उँजियारे॥
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कौंधा लौकहिं दुहु कोने॥
दुहु दिसि चाँद सुरज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ धुव दुऔ खूँट बैसारे॥
पहिरे खुंभी सिंघल दीपी। जानहु भरी कचपचो सीपी॥
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा। काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा॥
डरपहिं देव लोक सिंघला। परै न बीज टूटि एहि कला॥
करहिं नखत सब सेवा स्रवन दिपहिं अस दोउ।
चाँद सुरज अस गहने औरु जगत का कोउ॥ ११०॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी पद्मावती के कानों की शोभा का वर्णन तोते के मुख से कराते हुए लिखते हैं :—

तोता कहता है कि हे राजा! पद्मावती के कान रूपी सीपों में दो दीपक झिल-

मिलाते हैं। ये दो दीपक पहने हुए चमकीले स्वर्ण कुण्डल हैं। (रूपक एवं उपमा अलंकार हैं।) ये मणि जटित कुण्डल बिजली से सुन्दर चमकते हैं। लगता है मानो दोनों कानों में चंचला चमक रही हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) प्रतीत होता है, कि वे कुण्डल मानो दो दिशाओं में रत्नजटित रूपी सूरज और चांद जैसे चमक रहे हैं। जिन्हें देखा भी नहीं जाता। उनके खूंट पर दो दीपक और जल रहे हैं। लगता है दो ध्रुवतारे दो किनारों पर आसीन हैं। आशय यह है कि दो कर्णफूल शोभायमान हो रहे हैं। सिहलद्वीप की बनी हुई उसने खुंभी पहिन रक्खी है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानों सीपी में झिलमिल कचपचिया भरी हों। पल-पल में जब वह सिर के पट या चुनर को थामती है तो कुण्डलों की झलक से लगती है कि दोनों दिशाओं में बिजली काँप उठी है। देवता भी सिहलद्वीप से भय खाते हैं कि कहीं वहां की शोभा से बिजली न गिर पड़े।

पद्मावती के कर्ण इतने विभामय हैं कि उसकी झलक की तारे भी सेवा करते हैं। जब सूर्य एवं चांद जैसे उसके आभूषण हैं तो संसार में कौन उस जैसा सुन्दर होगा ?

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में ईश्वर का सुन्दर स्वरूप अभिव्यंजित है। प्रकृति के महान तत्व उसकी शोभा के दास हैं। 'प्रसाद' ने कामायनी में इसी रहस्यवादी भाव को यों प्रकट किया है :—

"महा नील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिमान,
गृह, नक्षत्र और विद्युतकण किसका करने से संधान !
छिप जाते है और निकलते आकर्षण में खिचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए !"

शब्दार्थ—स्रवन = कान। कनक = सोना। लोने = सुन्दर। कौंधा = बिजली। लौकहि = चमकते हैं। निरखि = देखना। खूंट = कान का आभूषण। बारे = जलाये। धुव = ध्रुव। खूंट = किनारे। बैसारे = बिठाये। कचपची = कृत्तिका नक्षत्र।

(१११)

बरनौं गीवँ कूंज कै रीसी। कंज नार जनु लागेउ सीसी।।
कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी। हरी पुछारि ठगी जनु ठाढ़ी।।
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा। तेहि तें अधिक भाउ गिउ बाढ़ा।।
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा। बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा।।
गिउ मंजूर तँवचुर जो हारा। वहै पुकारहिं साँझ सँकारा।।
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा। घूंटत पीक लीक सब देखा।।
धनि सो जीव दीन्हेउ विधि भाऊ। दहुँ कासौं लै करै मेराऊ।।
कंठ सिरी मुकुताहल माला सोहै अभरन गीवँ।
को होइ हार कंठ ओहि लागै केइँ तपु साधा जीवँ।। १११ ।।

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में तोते के मुख से पद्मावती की सुन्दर गर्दन का वर्णन कराते हुए लिखते हैं :—

तोता कहता है कि हे राजा ! अब मैं पद्मावती की गर्दन का वर्णन करता हूँ जो अपनी सुन्दरता के कारण क्रौंच पक्षी को भी ईर्ष्या देने वाली है, क्योंकि वह उससे भी अधिक सुन्दर है। उसकी गर्दन ऐसी प्रतीत होती है मानो शीशी में कमल की नाल चमक रही हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है।) या लगता है कि जैसे वह गर्दन खराद पर चढ़ाकर निकाली गई है। किंवा मोरनी से वह गर्दन हरी गई हो जिससे कि उस सुन्दर गरदन को देखकर मोरनी स्तम्भित-सी खड़ी रह जाती है। तात्पर्य यह है कि मोरनी की गर्दन से भी अधिक सुन्दर गर्दन पद्मावती की है। उसकी गरदन को देखकर मानो कबूतर अपना हृदय निकालकर खड़ा हो जाता है। कारण यह है कि उसे पद्मावती की गर्दन में अधिक सौन्दर्य लगता है। उसकी गर्दन ऐसी है कि मानो उसके बनाने के लिये चाक पर चढ़ाकर साँचा रक्खा गया हो। अथवा, उसकी गरदन ऐसी प्रतीत होती है मानों रास खिंचे हुए घोड़े की उठी हुई सुन्दर गर्दन हो। उसकी गर्दन की सुन्दरता से मयूर एवं मुर्गों की गर्दन लजा गई; अतः वे सुबह-शाम पुकार मचाते हैं। और उसकी गर्दन में जो तीन धारियें पड़ी हैं, जब वह पान की पीक निगलती है तो उनमें उसकी जाती हुई लकीरें दृष्यमान होती हैं। वह गर्दन धन्य है जिसको ईश्वर ने इतना सुन्दर बनाया है। देखते हैं, किसके साथ ऐसी ग्रीवा वाली का संयोग होता है।

हे राजा ! उसकी गर्दन में कंठश्री एवं मोतियों की माल, ये आभूषण शोभायमान होते हैं। कौन जाने, कौन ऐसा होगा जो गलहार बनकर उससे मिलेगा। साधक या तपस्वी होगा जिसने उसके लिये भारी तपस्या की होगी !

शब्दार्थ—गीवँ = ग्रीवा। कूँज = क्रोंच पक्षी। रीसी = ईर्ष्या। कंजनार = कमल की नाल। कुन्दे = खराद। गिउ = गर्दन। पुछारि = मोर। सांच = सांचा। मँजूर = मोर। तुरंग = घोड़ा। तँवचुर = मुर्गा। सँकारा = प्रात। अभरन = आभूषण।

(११२)

कनक दंड दइ भुजा कलाई। जानहु फेरि कुँदेरें भाई॥
कदलि खाँभ की जानहुँ जोरी। औ राती ओहि कँवल हथोरी॥
जानहुँ रकत हथोरीं बूड़ीं। रबि परभात तात वह जूड़ीं॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथाँ। रकत भरी अँगुरी तेहिं साथाँ॥
औ पहिरें नग जरी अँगूठी। जग बिनु जीव जीव ओहि मूठी॥
बाँहु कंगन टाड़ सलोनी। डोलति बाँह भाउ गति लोनी॥
जानहु गति बेड़िनि देखराई। बाँह डोलाइ जीउ लै जाई॥
भुज उपमा पँवनारि न पूजी खीन भई तेहि चित।
ठांवहिं ठाँव बेह भे हिरदें ऊभि सांस लई नित॥११२॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत छन्द में पद्मावती की कोमल कलाइयों, भुजाओं एवं हथेलियों का शृंगार वर्णन तोते के मुख से कराते हैं। यह शृङ्गार वर्णन फारसी शृङ्गार वर्णन के अनुकूल वीभत्स चित्रण से सम्मिश्रित है।

तोता कहता है कि हे राजा ! पद्मावती की भुजाएँ और कलाइयाँ सोने के डंडे के समान सुन्दर हैं। मानो वे खराद पर खरादी द्वारा घुमाई गई हों। (यहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।) वे केले के नरम कल्लों की जोड़ियों के समान गद्दर या मांसल हैं और उसकी हथेलियाँ लाल कमल जैसी हैं। (उपमा है) वे हथेलियाँ इतनी लाल हैं मानो रक्त में डूबी हुई हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) प्रभातकालीन सूर्य की लाली भी उस जैसी नहीं क्योंकि वह तो तापमय होती है पर पद्मावती की लाली तो शीतल है। (यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।) ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसकी हथेलियाँ क्या हैं; हृदय निकालकर बाहर रख लिया गया हो। (उत्प्रेक्षा है।) अतः उसके करतल के साथ उसकी रक्त मे भरी लाल अँगुलियें हैं जिसमें वह हीर जटित अँगूठियाँ पहने है। जायसी कहते हैं कि संसार जीव-रहित है क्योंकि उसका जीवन तो उसने अपनी मुट्ठी में ले रक्खा है। बाँहों और कलाइयों में उसने सुन्दर कंगन तथा टाड़ (वलय) आभूषण पहिन रक्खे हैं। जब वह अपनी भुजाओं को हिलाती है तो वे ऐसी सुन्दर प्रतीत होती हैं मानो नर्तकी अपनी तिरछी बाँकी कला का प्रदर्शन कर रही हो और लोगों का मन हर रही हो—लुभा रही हो।

उसकी भुजाओं की उपमा पद्मनाल पर पूरी नहीं उतर सकी। अतः इस चिन्ता में पद्मनाल पतली हो गई है। उसके उर में इसीलिए जगह-जगह छेद हो गए हैं और वह ऊपर उठ-उठकर नित्य दुःख की साँसें लेती है।

शब्दार्थ—कनक दंड = सोने का डण्डा। कुँदेरे = खरादी। भाई = घुमाई गई। कदलि = केला। खंभा = केले के नरम कल्ले। राती = लाल। हथोरी = हथेली। रकत = खून। बूड़ी = डूबी। परभात = सबेरा। तात = गरम। जूड़ी = शीतल। अंगुरी = अँगुली। जरी = जड़ी हुई। नग = हीरा। सलोनी = सुन्दर। टाड़ = वलय, टड्डे। बेड़िन = नर्तकी। पँवनारि = पद्म-नाल। न पूजी = बराबर नहीं उतरी। खीन = दुर्बल या पतली। तेहि चिन्त = उस चिंता में। ठाँवहिं = ठाँव, जगह-ब-जगह। बेह = छेद। हिरदै = उर। उभि = उठकर। नित = नित्य।

(११३)

हिया थार कुच कंचन लाडू। कनक कचोर उठे कर चाडू॥
कुन्दन बेलि साजि जनु कूँदे। अंब्रित भरे रतन दुइ मूँदे॥
बेधे भँवर कंट केतुकी। चाहहिं बेध कीन्ह कंचुकी॥
जोबन बान लेइ नहिं बागा। चाहहिं हुलसि हिएँ हठि लागा॥
अगिनि बान दुइ जानहुँ साँधे। जग बेधहिं जौं होहिं न बाँधे॥
उतँग जँभीर होइ रखवारी। छुइ को सकै राजा कै बारी॥
दारिंव दाख फरे अनचाखे। अस नारँग दहुं का कहँ राखे॥
राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुइँ माथ।
काहु छुअँ न पारे गए मरोरत हाथ॥११३॥

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में कविवर जायसी तोते के मुख से पद्मावती के स्तनों के

नग्न सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। यहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकार का अत्यन्त उचित प्रयोग द्रष्टव्य है। किन्तु वर्णन में अश्लीलता प्रकट है।

तोता कहता है कि हे राजा! उसके वक्षस्थल रूपी थाल में दो स्तन रूपी स्वर्ण-लड्डू शोभायमान है; या लगता है सोने के दो सुन्दर कटोरे उलटकर बाँध रक्खे हों, जो मानो चाटुकार हों और उभरे हुए वृक्ष स्थल की गरिमा का प्रकटीकरण करते हों। (यहाँ स्वर्णमयी चोली की शोभा से भी अर्थ व्यक्त हो सकता है क्योंकि स्तन उससे बँधे और उभरे हुए लगते हैं।) (यहां रूपक अलंकार प्रधान है।) वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो स्वर्ण के बेल या बिल्वफल खरादकर सजा रक्खे हों; या अमृत से भरे दो रत्न ढके हों। उनके ऊपर काली घुन्डी ऐसी प्रतीत होती है मानो केतकी फूल के काँटें में भौंरा बिंध गया हो और वह निकलने के लिए अब चोली को चीर देना चाहता हो। आशय यह है कि पद्मावती के स्तनों की घुण्डी का उभार अत्यन्त पैना है। पद्मावती के वे स्तन रूपी यौवन के तीर अब भरपूर तेज़ हो गए हैं और अब वह रुक नहीं पा रहे हैं; अतः वे उभरते जा रहे हैं। वे मस्ती से चलकर किसी रसिक के हृदय से बरजोरी बिंध जाना चाहते हैं। (यहाँ 'ह' की आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार है।) ऐसा लगता है कि वे स्तन मानो दो सधे हुए अग्निबाण हैं। यदि वे चोली से बँधे न होते तो संसार को घायल कर देते। वे बड़े-बड़े जम्भीरी नीबूओं के समान हैं जिनकी पूरी रखवाली होती है। किसका साहस है जो उस राजा की कन्या अथवा वाटिका को हाथ लगाए, अर्थात् उसके स्तनों का कौन मर्दन कर सकता है? (यहां 'वारी' शब्द में श्लेष अलंकार है।) इस बाड़ी में अनार और दाख अनचाखे पड़े हैं। आशय यह है कि पद्मावती रूपी वाटिका में उसके अनार के दाने जैसे सुन्दर दाँत एवं दाख जैसे सुन्दर अधर अभी किसी ने चूमे-चखे नहीं हैं। कौन जाने, ये सुन्दर नारंगियाँ (कुच) किसके मसलने या चखने के लिए सुरक्षित हैं?

तोता कहता है कि हे राजा! अनेक राजा लोग तप करके एवं पृथ्वी पर माथा रगड़-रगड़ करके मर मिटे किन्तु कोई उस सुन्दरी एवं उसके सुन्दर कुचों को स्पर्श न कर सका—बस सभी हाथ मलते-मलते इस संसार से कूच कर गये!

शब्दार्थ—थार=थाल। लाडू=लड्डू। कुच=स्तन। अंब्रित=अमृत। मूँदे=ढके हुए। कँचुकी=चोली। बान=तीर। उतंग=उभरे हुए। जंभीर=बड़े नींबू। वारी=लड़की या वाटिका। दारिवँ=अनार। दहुँ=कौन जाने। का कहै=किसके लिए। मुए=मर गए। पारे=सके।

(११४)

पेट पत्र चंदन जनु लावा। कुंकह केसरि बरन सोहावा॥
खीर अहार न कर सुकुवाँरा। पान फूल कै रहै अधारा॥
स्याम भुअंगिनि रोमावली। नाभी निकसि कँवल कहँ चली॥
आइ दुहूँ नारँग बिच भई। देखि मँजूर ठमकि रहि गई॥
जनहुँ चढ़ी भँवरन्हि के पाँती। चंदन खाँभ बास कै माँती॥

कै कालिंद्री बिरह सताई । चलि पयाग अरइल बिच आई ।।
नाभी कुण्डर बानारसी । सोहँ को होइ मीचु तहँ बसी ।।
सिर करवत तन करसी लै लै बहुत सीझे तेहि आस ।
बहुत धूम घूँटत मैं देखे उतरु न देइ निरास ।।११४।।

भावार्थ—प्रस्तुत छन्द में तोता पद्मावती के पेट का सौन्दर्य वर्णन करता है—

हे राजा ! उसका पेट ऐसा हैं मानो चन्दन का पत्र हो । कुंकुम और केसर के रंग जैसा शोभायमान है । वह ऐसा सुकुमार है कि दूध का भी भोजन नहीं कर सकता । वह केवल पान फूल खाकर ही रहता है। नाभि से काली रोमावलि निकलकर इस प्रकार ऊपर जा रही है मानो नागिन कमल-मुख की ओर उससे मिलने जा रही हो । वह स्तन रूपी दो नारंगियों के बीच ठहर गई है; मानो गर्दन रूपी मोरनी का भय खा गई हो । लगता है, भौरों की टोली चढ़ी जा रही है और चन्दन के खंभे की सुगंध पर मतवाली होगई है । या विरह से संत्रस्त जमुना चलकर प्रयाग और अरैल गाँव के बीच में आ गई है । उसकी नाभि काशी करवट के कुण्ड या कूँए जैसी है, जहाँ मृत्यु निवास करती है ।

अनेक राजाओं ने पद्मावती की प्राप्ति की आशा लेकर काशी करवट ली, सिर कटवाया, उपले जलाकर तप के धुएँ में घुटे-मरे, किंतु मैंने देखा है कि उस सुन्दरी ने उनके प्यार प्रदर्शन का कोई एवज़ नहीं दिया—वह ममत्वहीन रही । आशय यह है कि पद्मावती को पा लेना बड़ी कठिन साधना है ।

विशेष—स्त्रियों के पेट पर रोमावली नहीं होती किंतु जायसी ने यहाँ "कवि-समय" के अनुसार उसका वर्णन किया है। ऐसा प्रायः प्राचीन सभी कवियों ने किया है ।

शब्दार्थ—लावा=लगाया । अहार=भोजन । भुअंगिनि=नागिनि । सुकुवाँरा=कोमल । मँजूर=मोर । ठमकि=ठहर कर । कालिंद्री=यमुना । पयाग=प्रयाग । अरइल=प्रयाग के एक गाँव का नाम—अरैल । कुडेर=कुंड । बानारसी=काशी करवत=आरा, करवत का आरा लगा एक कूँआ जो प्राणान्त कर देता था । करसी=उपले की तप करने वाली आग । सीझे=तपे । घूँटत=घूटकर मरना । निरास=निराश, ममत्वहीन ।

(११५)

बैरिनि पीठि लीन्ह ओइँ पाछें । जनु फिरि चली अपछरा काछें ।।
मलयागिरि कै पीठि सँवारी । बेनि नाग चढ़ा जनु कारी ।।
लहरें देत पीठि जनु चढ़ा । चीर ओढ़ावा कंचुकि मढ़ा ।।
दहुँ का कहँ असि बेनी कीन्ही । चंदन बास भुअंगन्ह दीन्ही ।।
किस्न कै करा चढ़ा ओहि माथे । तब सो छूट अब छूट न नाथें ।।
कारी कँवल गहे मुख देखा । ससि पाछें जस राहु बिसेखा ।।
को देखे पावै वह नागू । सो देखै माथें मनि भा ।।

पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बईठ।
छात सिंघासन राजधन ता कहँ होइ जो डीठ ।।११५।।

भावार्थ—इस छन्द में कविवर जायसी तोते के मुख से पद्मावती की पीठ पर की वेणी का अद्भुत वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

तोता कहता है कि हे राजा ! बैरिन पीठ ने उसकी सुन्दर चोटी को पीछे लटका रक्खा है। पीछे से देखने पर वह प्रतीत होती है कोई सजी हुई अप्सरा चली जा रही हो। उसकी पीठ यों शोभित है मानो मलयागिरि पर्वत हो और उसकी चोटी यों कि मानो उस पर काला नाग चढ़ा हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है) लगता है मानो लहराता हुआ साँप उसकी पीठ पर चढ़ रहा है और वह जो श्वेत चुनरी ओढ़े है; ऐसी लगती है, मानो उस साँप के केंचुली मढ़ी हुई हो। कौन जाने, किसके लिये ऐसी वेणी बनाई गई है ? उसके शरीर की चन्दन जैसी सुगंध को वेणी रूपी नाग ने प्राप्त किया है। कृष्ण अपनी कला के बल पर शेष-नाग के माथे पर चढ़ गये थे; किंतु फिर वह छूट गया। पर अब पद्मावती का चोटी रूपी नाग चुटीले से बंधा है; छूट भी नहीं सकता। क्योंकि उसे मानो नाथ दिया गया है। मुख के पीछे काली सर्प सदृश चोटी है। लगता है, मानो कालियनाग ने कमल को मुख में पकड़ लिया है। या चाँद के पीछे राहु विशेष रूप से घिरा हुआ है। उस नाग को कौन देख या पा सकता है ? वही उसे देख-पा सकता है जिसके पास सौभाग्य की मणि है। आशय यह है कि कोई सौभाग्यशाली ही उसको पा सकता है।

पन्नग—सर्प राज रूपी चोटी कमल-मुख को पकड़े हुए है। उसके ऊपर खंजन रूपी नेत्र विराजमान हैं। (रूपक अलंकार है)। जो इस प्रकार के पद्मावती के सुन्दर स्वरूप को देख पाएगा उसे छत्र, सिंहासन, राज्य धनादि सभी कुछ मिलेगा।

शब्दार्थ—आइँ = उसको। पाछें = पीछे। अपछरा = अप्सरा। काँछे = सजी हुई। कंचुकि = केंचुली। के करा = कला के। ओहि = उसके। कारी = कालिय नाग। बिसेखा = विशेष। पन्नग = सर्पराज। छात = छत्र। दीठ = दृष्टि या देखना। पंकज = कमल। गहे = पकड़े हुए। खंजन = एक सुन्दर नेत्र वाला पक्षी। बईठ = बैठा हो।

(११७)

नाभी कुंडर मलै समीरू। समुँद भँवर जस भँवै गभीरू।।
बहुतै भँवर बौंडरा भए। पहुँचि न सके सरग कहँ गए।।
चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू। दहुँ को पाव को राजा भोजू।।
को ओहि लागि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखि अैस को रीझा।।
तीवइ कँवल सुगंध सरीरू। समुँद लहरि सोहै तन चीरू।।
झूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मदन दहुँ काकहँ कोपा।।
अबहिं सो आहि कँवल कै करी। न जनौं कवन भँवर कहँ धरी।।
बेधि रहा जग बासना परिमल मेद सुगंध।
तेहि अरघानि भँवर सब लुबुधे तजहिं न नीबी बंध।।११७।।

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी तोते के मुख से पद्मावती की नाभि का शृंगार वर्णन करते हुए लिखते हैं—

तोता कहता है कि हे राजा ! उसकी नाभि कुण्ड से मलयानिल की सुगंध आती है। वह समुद्र के भंवर जैसी घुमावदार एवं गहरी है। बहुत से रसिक उस भँवर के बवंडरों में आए पर उसके पार न पहुँचे, पद्मावती का आनंद न लूट सके और मिट गए। वह नाभि ऐसी है मानो चंदन-वन में हिरनी के खुर का निशान हो। आशय यह है कि उसका आकार छोटा एवं सुन्दर है। (उत्प्रेक्षा अलंकार है)। कौन जाने, कौन राजा भोज सा प्रेमी-पराक्रमी उस सुन्दरी को ब्याहेगा ? कौन ऐसा तपस्वी है जिसने उसके लिये हिमालय पर तपस्या की है ? कौन ऐसा है जो उसपर रीझा है, और वह उसके भाग्य में लिखी है, कौन जाने ?

सुंदरी पद्मावती का तन कमल गंध से सुगंधित है। उसके तन का वस्त्र समुद्र-लहर सा शोभायमान है। या वह तन पर समुद्र लहर नामक वस्त्र पहनकर सुशोभित है। उसके रत्न-जटित रेशमी झालर या झुग्गे लटकते हुए शोभायमान होते हैं। किसे पता कि उसके इस रूप-भेष में कामदेव सज-धजकर किस पर क्रोधित हुआ है ? वह पद्मावती तो अभी कमल की कली की भाँति है; न जाने विधना ने किस प्रियतम भँवरे के लिए उसे बनाकर रख छोड़ा है ?

उसके रूप-रस की सुगंध से संसार बिद्ध है। उसकी तन-सुगंध कामोत्तेजक, परिमल भेद की सुगंध की तरह से है। उसकी वासना की गंध से परिलुब्ध हुए समस्त भँवरे उसकी नीवी बंध का परित्याग नहीं करते। आशय यह है कि उसका संभोग पाने के लिए रसिक जन उसके पीछे-पीछे लगे रहते हैं।

विशेष—यहाँ रूपक अलंकार की छटा विशिष्ट है। साथ ही वर्णन में अश्लीलता आ गई है। किंतु ऐसी अश्लीलता कहीं-कहीं सूर के शृंगार-वर्णन में भी देखी जा सकती है। कला की दृष्टि से यह सोचना अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

शब्दार्थ—बौंडरा = बवंडर। पाट = रेशम। अरधानि = सुगंध। नीवी बंध = नाड़ा, या धोती साड़ी आदि की गाँठ।

(११८)

बरनौं नितँव लंक कै सोभा। औ गज गवन देखि सब लोभा।।
जुरे जंघ सोभा अति पाए। केरा खाँभ फेरि जनु लाए।।
कँवल चरन अति रात बिसेखें। रहहिं पाट पर पुहुमि न देखे।।
देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। पगु पर जहाँ सीस तहँ देहीं।।
माँथें भाग को दहुँ अस पावा। कँवल चरन लै सीस चढ़ावा।।
चूरा चाँद सुरुज उत्रिआरा। पायल बीच करहिं झनकारा।।
अनवट बिछिआ नखत तराईं। पहुँचि सकै को पावन्हि ताईं।।
बरनि सिंगार न जानेउँ नखसिख जैस अभोग।
तस जग किछौं न पावौं उपमा देउँ ओहि जोग।। ११८ ।।

भावार्थ—कविवर जायसी नख-शिख शृँगार वर्णन की रीति के अनुसार यहाँ पद्मावती के स्थूल रूप का वर्णन करते हैं :—

जो उसकी पतली कमर की शोभा है ; मैं उसके उन नितम्बों का वर्णन करता हूँ। उसकी हाथी जैसी मदमस्त चाल को देखकर सब मोहित हो जाते हैं। उसकी मांसल एक दूसरे से जुड़ी-भिची जंघाएँ परस्पर स्पर्श करती अति मोहक लगती हैं। वे ऐसी लगती हैं मानो कदली के खम्भे उलटकर रख दिये हों। (उत्प्रेक्षा अलंकार है।) विशेषतः चरण-रूपी कमल अति अरुण वर्ण के हैं। (रूपक अलंकार है।) वे चरण कमल सदा पीढ़े पर ही विराजमान रहते हैं, उन्होंने कभी पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया। देवता उसके चरण हाथों हाथ पृथ्वी पर रखने से पूर्व ही थाम लेते हैं। जहाँ उसके पैर पडते हैं देवगण वहाँ अपना सिर धर देते हैं। ऐसा किसका भाग्य है जो पद्मावती के ऐसे इन दोनों दिव्य चरणों को अपने सिर पर रक्खेगा ! (यहाँ जायसी ने सम्भोग की क्रिया को, जिसमें पुरुष स्त्री के पाँवों को ऊपर करता है, दिव्यता का भाव प्रदान किया है जो बड़ा चमत्कार उत्पन्न करता है।) उसके दोनों पावों के कड़े चमकते हुए चाँद-सूरज से प्रतीत होते हैं। बीच में सुमधुर पायलें झंकारती हैं। उसके अँगूठे का छल्ला एवं विछियाँ नक्षत्र एवं तारे हैं। ऐसे पाँवों के पास भला कौन सहज ही में पहुँच सकता है ?

कविवर जायसी कहते हैं कि पद्मावती के नख-शिख का ऐसा दिव्य अभुक्त शृंगार है, उसका वर्णन करना मैं नहीं जानता। संसार में कुछ भी तो ऐसा नहीं दृश्यमान होता जिसकी उपमा मैं उसके साथ दूँ।

विशेष—तुलसी ने बालकांड में सीता जी का रूप-सौन्दर्य वर्णन करना चाहा है पर यही कहकर संतोष कर लिया है कि संसार में कोई उस जैसी सुन्दरी है ही नहीं फिर उपमा क्या दी जाय :—

सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई ॥
जों पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया ॥

किन्तु जायसी ने बड़ी आस्था एवं निपुणता से पद्मावती मानवी को देवगणों की पूज्या बना दिया—शृङ्गार के पूरी कला के प्रकाश में—साक्षात !

शब्दार्थ—लंक=कमर। गज गवन=हाथी की चाल। लोभा=मोहित हुए। जंघ=जंघाएँ। जुड़े=भिचे हुए। केरा खाँभ=कदली खंभ। रात=लाल। बिसेखा=विशेषतः। पुहुमि=पृथ्वी। हाथ हाथ=हाथोंहाथ। सीस=सिर। पाट=रेशमी आसन। चूरा=पैर के कड़े। अभोग=अभुक्त। किछौं=कुछ भी। जोग=बराबर।

११--प्रेम-खण्ड

(११६)

सुनतहि राजा गा मुरुछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई॥
पेम घाव दुःख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुँद अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥
बिरह भँवर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीव हिलोरहिं लेई॥
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहि उठै निसँसै बौराई॥
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहि चेत खिन होइ अचेता॥
कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिउँ जिवन त दसइँ अवस्था॥
जनु लेनिहारन्ह लीन्ह जिउ हरहिं तरासहिं ताहि।
एतना बोल न अब मुख करहि तराहि तराहि॥११६॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी सूफी इश्क के अनुकूल प्रेम-विरह की कसक-वेदना का प्रतिष्ठापन करते हुए रत्नसेन की 'हाल' अथवा उन्माद की दशा का हृदयस्पर्शी वर्णन करते हैं।

जब राजा ने पद्मावती के नखशिख शृङ्गार को सुना तो वह बेहोश हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो सूर्य की दिव्य किरण लहरा गई हों, बिखर गई हों। प्रेम के घाव का उत्पीड़न कोई नहीं जानता। जिसके घाव लगता है वही जानता है। **"जातन लागै वहि तन जानै"**। वह प्रेम के अथाह समुद्र में निमज्जित हो गया और संचारी भावों की लहरों के थपेड़ों से बेसुध हो गया। प्रेम के सागर में उसका विरह भँवर के सदृश्य उसे घुमा रहा था जिसके कारण पल-पल में उसका प्राण हिचकोले लेता था—श्वास-वायु तीव्रता से चल रही थी। क्षण-क्षण में वह श्वासहीन हो जाता और अचेतावस्था में डूबा जाता था, और फिर क्षण में उठकर पागलों की भाँति दीर्घश्वास छोड़ता था। कभी उसका मुख पीला पड़ता और कभी पलभर में सफेद हो जाता था। वह चेता-अचेता अवस्था में डोल रहा था। प्रेम का व्यापार मृत्यु के व्यापार से भी कठिन होता है। क्योंकि न तो उसमें प्राण रह पाता है, न निकल पाता है। कविवर नीरज ने इस दशा का वर्णन यों किया है—

"तुम्हारे बिना आरती का दिया यह
न जल पा रहा है न बुझ पा रहा है।"

ऐसा लगता है कि यम के दूत उसके प्राण ले रहे थे और तदर्थ कलपा रहे थे। मुख

से कोई वचन नहीं निकल रहा था, केवल त्राहि-त्राहि करता था।

विशेष—प्रस्तुत पद में प्रेम-विरह के संचारी भावों का आकलन अत्यन्त सूक्ष्म है—जायसी प्रेम-विरह के ही सजीव परमाणु थे !

शब्दार्थ—विसँभारा=न सँभलने वाला। वेवस्था=व्यवस्था। दसइँ अवस्था=मृत्यु। लेनिहारन्ह=यम के दूत। तराहिं=त्राहि। हर्राहिं=हरना। तरासहिं=भय दिखाना। एतना=इतना।

(१२०)

जहँ लगि कुटुम्ब लोग औ नेगी। राजा राय आये सब बेगी॥
जाँवत गुनी गारूरी आए। ओझा वैद सयान बोलाए॥
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी। निअर नाहि ओषद तेहि बारी॥
है राजहिं लष्षन कै करा। सकति वान मोहा है परा॥
नहिं सो राम हनिवँत बड़ि दूरी। को खै आव सजीवन मूरी॥
बिनौ करहिं जेते गढ़पती। का जिउ कीन्ह कवनि मति मती॥
कहहु सो पीर काह बिनु खाँगा। समुँद सुमेरु आव तुम्ह माँगा॥
धावन तहाँ पठावहु देहिं लाख दस रोक।
है सो बोलि जेहिं बारी आनहिं सबै बरोक॥१२०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं कि जितने कुटुम्बी और नौकर चाकर, राजा और सामन्त थे, वे सब शीघ्र आये। जितने भी गुणी और विषवैद्य थे वे भी आये। सयाने और ओझा वैद्य—ये सारे बुलाये गये। राजा की चेष्टा का उन्होंने विचार-विमर्श और परीक्षण किया, नब्ज देखी और उन्होंने कहा—पासवाली राजवाटिका में राजा के रोग की दवा नहीं है। उसका रोग सूक्ष्म था—मीरा ने कहा है—

"मीरा की प्रभु पीर मिटैगी,
जब वैद्य सँवरिया होय।"

वैद्यों ने कहा—राजा की अवस्था लक्ष्मण की मूर्च्छा जैसी है। यह प्रेम अथवा मोह के शक्तिबाण से घायल हो गया है। यहाँ लक्ष्मण की भाँति इसके रोग का उपचार करने के लिये राम नहीं है, और हनुमान भी दूर हैं। फिर, इसके लिये संजीवनी बूटी कौन लायेगा ? जितने भी गढ़पति थे सब प्रार्थना करने लगे—हे राजा, किस वस्तु की चाह है ? मन में क्या चिंता है ? किस वस्तु के पाने की पीड़ा का अभाव अनुभव करते हो ? यहाँ क्या नहीं है ? यदि तुम माँगो तो समुद्र और सुमेरु भी तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिये आयेंगे।

उस स्थान पर दूत भेजो जहाँ उपचार की औषधि है और तदर्थ दस लाख की रोकड़ भी दी जायेगी। जिस वाटिका में वह औषधि-बेल है, लाओ। लाने पर सबको दक्षिणा दी जायेगी।

शब्दार्थ—नेगी=इनाम इकराम पाने वाले नौकर-चाकर। जाँवत=जितने।

गारूरी = सर्प का विष उतारने वाले तांत्रिक अथवा विष-वैद्य। ओझा = भूत-प्रेतों के पूजक। चरचहि = चर्चा करना। चेष्टा = हालत! नारी = नाड़ी। निअर = पास। औषद = दवा। बारी = वाटिका, यहाँ श्लेष पद्मावती के लिये भी अर्थ है। बिनौ = प्रार्थना। खाँगा = कमी। बरोकि = वर को दी जाने वाली दक्षिणा।

(१२१)

जौं भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनहुँ सोइ अस जागा।।
आवन जगत बालक जस रोवा। उठा रोइ हा ग्यान सो खोवा।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ। इहाँ मरनपुर आएहुँ कहाँ।।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा। सकति जगाइ जीउ हरि लीन्हा।।
सोवत अहा जहाँ सुख साखा। कस न तहाँ सोवत विधि राखा।।
अब जिउ तहाँ इहाँ तन सूना। कब लगि रहै परान बिहूना।।
जौं जिउ घटिहि काल के हाथाँ। घटन नीक पै जीव निसाथाँ।।
अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह।।१२१।।

भावार्थ—प्रेम की अनुभूति एक मधुमय स्वप्न है! कविवर जायसी रत्नसेन की अचेतावस्था मे जागृत होने वाली ऐसी ही स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

जैसे ही रत्नसेन को होश हुआ कि फिर उसमें वैराग्य जाग गया। लगा, मानो कोई विक्षिप्त सोकर उठा हो। जैसे संसार में जन्म लेते ही बच्चा रोता है, वह रो उठा और कहने लगा—हाय, वह मेरे मधुमय स्वप्न का सत्य या ज्ञान कहाँ लोप हो गया! कुछ क्षण पूर्व तो मैं वहाँ था जहाँ प्रेम की शाश्वत नगरी है। मैं यहाँ मृत्युलोक में कहाँ और कैसे आ गया हूँ? किसने मेरे साथ यह मृत्युमय उपकार किया है? मेरे प्रेम की शक्ति को मिथ्या जगाकर मेरा प्राण ले लिया है। मैं वहाँ सो रहा था, जहाँ सुख की शाख पर प्रेम का घोंसला बना था। कठोर दैव ने मुझे वहाँ क्यों न सोने दिया? अब दशा ऐसी है कि प्राण वहाँ भटक रहे हैं, शरीर यहाँ सूना पड़ा हुआ है। प्राणहीन यह शरीर कबतक यहाँ रह सकता है? यह शरीर जब काल के हाथों मिटाया जाता है तो वह ठीक होता है। पर पद्मावती रूपी प्राण के बिना यह अकेला है और यही बुरा है।

यह साढ़े तीन हाथ का शरीर एक सरोवर है जिसमें हृदय रूपी कमल खिला है। यह कमल स्थूल आँखों से तो निकट और सहज प्रतीत होता है किंतु हाथ से ग्रहण करने में अगाध जल में अवगाहन करने को मिलता है। तात्पर्य है कि प्रेम स्थूल नहीं वरन् वह बड़ा सूक्ष्म है।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने प्रेम को एक सत्य स्वप्न व्यंजित किया है। किसी अंग्रेजी कवि ने कहा है—

"Love is but an everlasting dream."

यहाँ योग की अन्तःस्थिति का बोध भी है। हृदय कमल तन-सरवर तदर्थ संकेत हैं।

शब्दार्थ—भा=हुआ। बाउर=पागल। निसाथाँ=अकेला। हौं=मैं। अहुठ=साढ़े तीन हाथ। अहा=था। सकति=शक्ति। बिहूना=बिहीन।

(१२२)

सबन्हि कहा मन समझहु राजा। काल सतें कै जूझि न छाजा॥
तासौं जूझि जात जौं जीता। जात न किरसुन तजि गोपीता॥
औ नहिं नेहु काहु सौं कीजै। नाऊँ मीठ खाएँ जिउ दीजै॥
पहिलेहि सुक्ख नेहु जब जोरा। पुनि होई कठिन निबाहत ओरा॥
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू। पहुँचि न जाइ परा तस फेरू॥
गँगन दिष्टि सौं जाइ पहूँचा। पेम अदिष्ट गँगन सौं ऊँचा॥
धुव तें ऊँच पेम धुव उवा। सिर दे पाउँ देइ सो छुवा॥
तुम्ह राजा औ सुखिया करहु राज सुख भोग।
एहि रे पंथ सो पहुँचै सहै जो दुक्ख वियोग॥१२२॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी दिव्य-प्रेम की कठिनाई का भाव व्यंजित करते हुए लिखते हैं—

सबने कहा—हे राजा, मन को समझाओ, समझो! प्रेम के लिये मृत्यु से जूझना शोभनीय नहीं, बुद्धिमानी नहीं। जिसे जीता जा सकता है उससे युद्ध करना ठीक है। कृष्ण गोपियों से प्रेम करने में निर्बल थे, अतः उन्हें छोड़ गये। (ऐसी परिकल्पना कृष्ण के विषय में संगत नहीं कही जायेगी) हे राजा, और किसी से प्रेम भी नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रेम का नाम तो मधुर है किंतु उसका स्वाद जीवन ले लेता है। पहले जब प्रेम जुड़ता है, सुख होता है, फिर अन्त तक उसका निभा देना बड़ा कठिन हो जाता है। यह शरीर साढ़े तीन हाथ का घुमावदार सुमेरु पर्वत है—फेर इतना कि जो इसमें पड़ गया वह लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। तात्पर्य यह है कि ऐहिक जीवन का चक्र पार नहीं किया जा सकता ताकि प्रेम का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। प्रेम-दृष्टि रखकर आकाश से ऊँचे सुमेरु पर चढ़ा जा सकता है किंतु स्वयं प्रेम अदृश्य है, आकाश-सा अनन्त है! आकाश के ध्रुवतारे से भी प्रेम का ध्रुवतारा ऊँचा उगता है। (शेक्सपीयर ने भी कहा है)—

"O, No! it is an ever fixed mark
That looks on tempests and is never shaken.
It is the star to every wandering bark,
Whose worth's unknown, although his hight be taken,"

जो पहले सिर देकर इस प्रेम-मार्ग पर पैर उठाता है वही इस उच्चतम ध्रुव-नक्षत्र को छू पाता है। कविवर दिनकर लिखते हैं—

"सिर देकर सौदा करते हैं जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा।
फीका रंग रहा तो तब फिर क्या गैरिक परिधान करे॥"

सबने कहा कि हे राजन्, तुम तो राजा हो, सुखी हो, राजसी सुखोपभोग करो।

इस प्रेम-मार्ग पर तो चलकर वही चरमलक्ष्य तक पहुँचता है जो वियोग का दुःख सहता है।

विशेष—प्रस्तुत अंश में हठयोग की अन्तःसाधना का आग्रह व्यंजित है तथापि प्रेम-भाव की व्यंजना सरस और व्यापक है। सूफीभाव का समर्थन है।

शब्दार्थ—जूझ=युद्ध। छाजा=शोभित। सतें=सत्य से। किरसुन=कृष्ण। नेहु=प्रेम। नाउँ=नाम। निवाहत=निभाना, निर्वाह करना। गगन दिष्टि=ज्ञान की योग दृष्टि। अदिष्ट=अदृश्य। उवा=उगा।

(१२३)

सुअँ कहा मन समझहु राजा। करब परीत कठिन है ताजा॥
तुम्ह अबहीं जेईं घर पोईं। कँवल न बैठि बैठ हहु कोईं॥
जानहि भँवर जो तेहि पँथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिएँ न छूटे॥
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहिं राज के साजू॥
ओहिं पँथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा संन्यासी॥
भोग जोरि पाइत वह भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥
तुम्ह राजा चाहहु सुख पावा। जोगहि भोगहि कत बनि आवा॥
साधन्ह सिद्धि न पाइअ जौ लहि साध न तप्प।
सोइ जानहिं बापुरे सिर करहिं कलप्प॥१२३॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी तोते के मुख से प्रेम करने की कठिनाई का भाव व्यक्त करते हुए लिखते हैं :—

तोते ने कहा कि हे राजा! मन में पूरी तरह सोच-समझ लो; प्रेम करना बड़ा कठिन काम है। तुमने तो अभी घर की पकी-पकाई खाई है। आशय यह है कि तुमने ऐश आराम का जीवन व्यतीत किया है—प्रेम के कष्ट नहीं सहे। हे राजा, तुम कभी कमल पर नहीं सदा कुमुदनियों पर विहार करते रहे हो। कमल पर बैठने का कष्टमय स्वाद तो केवल भँवरा ही जानता है जो प्रेम के मार्ग पर लुटा है। जीवन देकर भी वह बिचारा उसके बंधन से मुक्त नहीं हो पाता। सिंहल का राज्य अर्थात् पद्मिनी का पाना बड़ा ही कठिन काम है। तुम अपना राज-पाट देकर भी तो उसे नहीं पा सकते। उसकी प्राप्ति के मार्ग पर तो वही अग्रसर हो सकता है जो जोगी, यती, सन्यासी, उदासी आदि का वेष धारण करेगा। यदि कोई सुखों का संग्रह करके उस आनंद-भोग की प्राप्ति कर पाता—पद्मावती को पा सकता—तो कोई भी सुखों को त्यागकर योग साधना न करता। (तुलसी ने भी परम ईश्वर प्राप्ति की व्यंजना यों की है—

"जन्म-जन्म मुनि यत्न कराहीं। अन्त राम कहँ आवत नाहीं॥"

तोते ने कहा कि तुम तो राजा हो; सुख ही पाना चाहते हो। किंतु हे राजा, योग साधना एवं भोगों का उपभोग—ये कभी साथ-साथ नहीं हो सकता। ये दोनों तो एक-दूसरे के सदा विरोधी हैं।

हे राजा, कामनाओं से कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जबतक कि तदर्थ साधना

और तपस्या न की जाय। वही इसकी महत्ता जान सकते हैं, जो प्रेम करने के लिये अपना सिर भेंट कर देते हैं।

शब्दार्थ—जेई = खाई। घर पोई = घर की बनी रोटी। कोई = कुमुदिनी। साधन्ह = साधों से। ताप = तपस्या। कलप्प = काट देना, यहाँ भेंट दे देने से भी अर्थ है।

(१२४)

का भा जोग कहानी कथें। निकसै न घिउ बाजु दधि मथें।।
जौं लहि आपु हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई।।
पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा।।
पंथ सूरिन्ह कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ै मंसूरू।।
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरें घटहि माँह दस पंथा।।
काम क्रोध तिस्ना मद माया। पाँचौ चौर न छाड़हि काया।।
नव सेंधै ओहि घर मँझिआरा। घर मूसहि निसि कै उजियारा।।
अबहुँ जागु अयाने होव आव निसु भोर।
पुनि किछु हाथ न लागिहि मूसि जाहिं जब चोर।। १२४।।

भावार्थ—उपरोक्त प्रसंग में ही यहाँ तोता राजा से गुरु-सदृश प्रेम की कठिनाई और तदर्थ साधना की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

हे राजा! योग की कहानी पढ़ने-कहने से क्या मिलता है? विना दही के बिलोए घी नहीं निकल सकता। जब तक स्वयं नहीं खोया जाता तब तक इष्ट को प्राप्त नहीं किया जा सकता; खोजा नहीं जा सकता। हे राजा! ब्रह्मा ने प्रेम के पहाड़ को बड़ा कठिन रचा है। जो अपना शीश चढ़ा सकता है वही उस पर चढ़ सकता है। प्रेम के पर्वत पर चढ़ने वाले मार्ग पर शूलियों की तीक्ष्ण धारें हैं। उस पर या तो दण्डनीय चोर या फिर सूफी साधक मंसूर ही चढ़-चल सकता है। तुम तो राजा हो; अतः गूदड़ी धारण किये फकीर कैसे बनोगे? तुम्हारे हृदय में तो दस दरवाजे या इन्द्रियाँ हैं। आशय यह है कि तुम इनके दास हो; फिर प्रेम का अमर फल कैसे प्राप्त करोगे? क्योंकि इन्द्रियों का धर्म रखने वाला नाशवान है। काम, क्रोध, मद, मोह और माया—ये पाँचो चोर तुम्हारे शरीर से लिपटे हुए हैं—मुक्ति फिर कहाँ है?—जो प्रेम का परम धन प्राप्त हो? इस शरीर रूपी घर में नौ नकब या सेंधे लगी हुई हैं। रात दिन इनमें होकर मशालें जलाए उजाले में चोर तुम्हारे घर को लूट रहे हैं।

हे नादान, अब भी चेतना धारण करो, जागो! रात बीतकर प्रात हो रही है। फिर कुछ भी बाकी न बचेगा यदि चोर सब कुछ लूट ले जायँगे!

विशेष—दार्शनिक ढंग से ईश्वरीय प्रेम की व्यंजना इस पद में जायसी ने प्रकट की है। रूपक स्वाभाविक बन पड़ा है।

शब्दार्थ—कथें = कहने से। बाजु = बिना। हेराई = खोना। हेरत = खोजना। सूरन्हि = शूलियाँ। अँकूरू = धार। कंथा = गुदड़ी। अयाने = नादान। मूसहि = लूटना।

पहिरसि=पहनोगे। नव सेंध=नव इन्द्रियाँ।

(१२५)

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार पेम चित लागा॥
नैनन्ह ढरहिं मोति औ मूंगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूंगा॥
हिएँ की जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधिअर भा बूझा॥
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥
जौ पै नाहीं अस्थिर दसा। जग उजार का कीजै बसा॥
गुरु बिरह चिनगी पै मेला। जौ सुलगाइ लेइ सो चेला॥
अब कै फनिग भृंगि कै करा। भँवर होउँ जेहि कारन जरा॥
फूल फूल फिरि पूछौं जौं पहुँचौ ओहि केत।
तन नेवछावर कै मिलौ ज्यों मधुकर जिउ देत॥ १२५॥

भावार्थ—इस अंश में कविवर जायसी ने रत्नसेन की प्रेमपूर्ण मनःस्थिति का चित्रण किया है। गुरु रूपी तोते ने यह चित्तवृत्ति जाग्रत की है। समस्त वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकार मे चमत्कृत है।

तोते की प्रेममयी बात को सुनकर राजा के मन में चेतन भाव जाग्रत हुआ। चित्त में प्रेम यों जाग्रत हुआ कि पलक मारने की सुधि भी उसे न रह गई। आँखों में प्रेमाश्रु यों बहे जैसे मोती मूँगे हों। आशय है कि रक्तमयअश्रु गिरने लगे। उसे प्रेमरस के आस्वादन की ऐसी अनुभूति अनुभव हुई कि जैसे गूँगे को गुड़ की मिठास की मूक अनुभूति होती है। सिंहल रूपी हृदय-दीप की ज्योति प्रकट हो गई। और बाह्य संसार रूपी द्वीप का अज्ञान रूपी अंधकार लुप्त हो गया। माया से आवृत्त दृष्टि परिवर्त्तित हो गई और इस संसार की मिथ्या माया की ओर वह फिर न उठी। जब इस संसार की स्थिति चलायमान या अनित्य है तब इस उजाड़ मिथ्या संसार में रहकर क्या होगा?—ऐसी भावना रत्नसेन के हृदय में जाग्रत हो गई। गुरू का महत्व यही है कि वह शिष्य के भीतर प्रेम का आत्म प्रकाश प्रकाशित करे—विरह की चिनगारी पैदा करे! जो इस प्रेम-चिनगारी को सुलगा लेता है वही सच्चा शिष्य है। रत्नसेन ने सोचा कि अब मैं अपनी स्थिति फुनगे और भृंगी की-सी बनाऊँगा—वही कला अपनाऊँगा जो इन दोनों के पारस्परिक प्रेम में स्थित है। आशय यह है कि जिस प्रकार पतिंगा भृंगी के मन्त्र पर भृंगी ही बन जाता है; उसी प्रकार मैं भी प्रेम के मन्त्र को पाकर प्रेममय हो जाऊँगा। अब मैं पद्मावती की विरहाग्नि में जलने वाला भँवग बनूँगा क्योंकि उसीके विरह में तो मैं जल रहा हूँ।

उसका पता फूल फूल से पूछता फिरूँगा; जिससे मैं उस केतकी रूपी पद्मिनी से मिल सकूँ। भौंरा जैसे केतकी के काँटों में बिंधकर जीवन दे देता है; उसी प्रकार मैं अपने इस शरीर को पद्मावती से मिलन हेतु प्राणान्त कर दूँगा।

विशेष—यहाँ प्रेम में बलिदान होने की भावना का व्यापक भाव व्यंजित है। कहा भी है—**"मिटादे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे।"**

शब्दार्थ—पेम=प्रेम। नैनन्ह=आँखों से। गुर=गुड़। दिस्टि=दृष्टि। उजार=उजाड़। भृंगी=पतंगे का शत्रु, एक जीव। करा=कला। केत=केतकी।

नोट—नीचे एक पद दिया जाता है किन्तु यह पद सर्वथा प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में १२० से १२२ पद तक पूर्णतः बात सिद्ध हो गई है। अतः इसका अर्थ यहाँ आवश्यक न समझते हुए नहीं दिया जा रहा है। फिर इसका अर्थ सरल भी है।

बन्धु भीत बहुतै समुझावा। मान न राजा जोउ भुलावा॥
उपजी पेम पीर जेहि आई। पर बोधित होइ अधिक सो आई॥
अमृत बात कहत बिष जाना। पेम क वचन माठ कै माना॥
चो ओहि विषै मारि कै खाई। पूछहुँ तेहि सन पेम मिठाई॥
पूछहु बात मरथरिहि जाई। अमृत राज तजा विष खाई॥
औ महेस बड़ सिद्ध कहावा। उनहूँ विषै कंठ पै लावा॥
होत आव रवि किरन विकासा। हनुवंत होइ को देइ सुआसा॥
तुम सब सिद्धि मनावहु होइ गनेस सिधि लेव।
चेला को न चलावै तुलै गुरु जेहि भेव॥

१२--जोगी खण्ड

(१२६)

तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी॥
तन बिसँभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम परी सिर जटा॥
चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा॥
मेखल सिंगी चक्र धँधारी। जो गौरा रुद्राख अधारी॥
कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्धि होइ कहँ गोरख कहा॥
मुंद्रा स्त्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान काँध बघछाला॥
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता॥
चला भुगुति माँगै कहँ साजि कया तप जोग।
सिद्धि होउँ पदुमावति पाएँ हिरदै जेहि क वियोग॥१२६॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी रत्नसेन के योगी भेष धारण करने का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। तोते की दीक्षा धारण करके राजा वियोगी-वैरागी बन जाता है—

राज्य त्यागकर राजा योगी बन गया और हाथ में छोटी-सी किंगड़ी या सरंगी लेकर वियोगी हो गया। शरीर की सुधि भूलकर वह विक्षिप्त-सा बस पद्मावती का नाम रटने लगा। मन में प्रेम के बन्धन में उलझा हुआ-सा;—उसके सिर में जटाएँ पड़ने लगीं। उसका जो मुख चन्द्र था; जो शरीर चन्दन लिप्त था; उसको उसने भस्म धारण कर मिट्टी-सा मूल्यहीन कर दिया। कमर में उसने योगियों की मेखला (मूँज आदि की रस्सी) बाँधी। हाथ में सिंगी, चक्र, धंधारी या गोरख धंधा लिया। शरीर पर ध्यान लगाने वाला वस्त्र या योगपट्ट गले में रुद्राक्ष की माला एवं हाथों में सहारा टेकने वाली टिकटी या अधारी ये सब धारण किये। गुदड़ी या कथरी पहनकर हाथ में योगियों का चमत्कार दिखलाने वाला डंडा लिया। सिद्ध होने के लिये उसने "जय गोरखनाथ" नाम का उच्चारण किया। कानों में मुन्दरी या कुंडल, कंठ में जयमाल, हाथों में कमण्डल और कंधे पर मृगछाला धारण की। पैरों में खड़ाऊँ पहनी और सिर पर छत्र धारण किया। गौरिक परिधान पहनकर खप्पर लिया।

इस प्रकार तपयोग के लिये यह भेष बनाकर वह भिक्षा माँगने चल पड़ा और मन में संकल्प किया—"मैं तभी पूर्ण सिद्ध बनूँगा जब अपने इप्ट—पद्मावती—को प्राप्त कर लूँगा; जिसका मेरे हृदय में वियोग व्याप्त है।"

विशेष—प्रस्तुत अंश में स्पष्टत: जायसी के ऊपर गोरखपंथियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। योगी भेप के वर्णन में चित्रात्मक कौशल दृष्टव्य है।

शब्दार्थ—किंगरी = छोटी सारंगी। सिंगी = योगियों का एक सींग का बना बाजा। धंधारी = गोरखधंधा जो तार का बना होता है। जोगौटा = योगियों के ध्यान करते समय धारण करने वाला एक वस्त्र "योगपट्ट"। अधारी—टिकबी। मुन्द्रा = कुण्डल। उदपान = कमंडल। पाँवरि = खड़ाऊँ। राता = गैरिक, गेरुआ।

(१२७)

गनक कहहि करु गवन न आजू। दिन लै चलहि फरै सिधि काजू॥
पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू॥
पंडित भुलान न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूंछ न कालू॥
सती कि बौरी पूँछै पाँड़े। औ घर पैठि समेटै भाँड़ें॥
मरि जो चलै गाँग गति लेई। तेहि दिन घरी कहाँ को देई॥
मैं घरबार कहाँ पर पावा। घर काया पुनि अंत परावा॥
हौं रे पँखेरू पंखी जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम्ह आपन घर जाहु॥१२७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग के अनुसार जब राजा रत्नसेन पद्मावती के लिये योगी का भेष धारण करके प्रस्थान करने लगा तब ज्योतिषियों ने उसे चेताया—

हे राजन्, आज प्रस्थान न करो। जो अच्छे दिन-लग्न का विचार करके चलता है

वह अपने कार्य में सफलता पाता है—इस समय अच्छा लग्न नहीं है; अतः न जाओ। तब राजा ने कहा कि प्रेम पथ पर चलने वाला पथिक कभी शुभ-अशुभ घड़ी का विचार नहीं करता। वह तभी इसका विचार कर पाता है जब बुद्धि युक्त या सजग सचेत होता है। तात्पर्य यह है कि प्रेमी को आत्मज्ञान की उपलब्धि हो चुकी होती है तभी वह ऐसा करने को तत्पर होता है—योगी बनता है। जिसके शरीर में प्रेम रम चुका होता है तो उसके माँस नहीं रहता; काया में न रक्त कण और न नेत्रों में अश्रु कण रहते हैं। (रोज्जटी ने कहा है—"And Love's mere self is a Continual feast × × × Life and decay and death, and all is love") पंडित भ्रम में रहता है, वह चलना नहीं जानता। काल किसी का जीवन लेते समय दिन लग्न नहीं शोधता। आशय यह है कि पंडित मूर्ख होते हैं; वे ज्ञान उपार्जन में प्रेम की अप्रत्याशितता का ध्यान नहीं रखते कि कब कैसे क्यों उस मार्ग पर चला जाता है ?—वे तो अहंवादी हो जाते हैं ! पर प्रेमी तो चिर पथिक है—पल-पल का पथिक, मृत्यु का पथिक ? प्रेम में पगलाई सती क्या चिता पर चढ़ने का मुहूर्त्त पंडित से पूछती है ? अथवा घर में बैठकर बर्तन भाँड़े समेटने का बहाना करती है ? जो गंगा पर मरने की कामना या गति पाने की इच्छा लेकर चलता है उसे कौन शुभ दिन घड़ी शोधता है या बताता है। मेरा ही कहाँ घरबार है, घर रूपी शरीर की जो माया है, वह तो अन्त में दूसरे की अमानत है—परमात्मा की देन है। (कबीर ने भी कहा है—**"रहना नहिं देश बिराना है। यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े गल जाना है।"**

मैं एक परथारी पखेरू हूँ। जिस बन में मेरा निर्वाह होगा—रहूँगा ! उसी बन की तलाश में उड़ चला हूँ। हे पंडितो ! तुम सब अपने-अपने घर जाओ।

शब्दार्थ—गनक=ज्योतिषी। सरेखा=बुद्धिमान। बौरी=पगलाई। कया=शरीर। बेरा=समय। परावा=पराया। पखेरू=पक्षी।

(१२८)

चहुँ दिसि आन सोटिअन्ह फेरी। भैं कटकाई राजा केरी॥
जाँवत अहै सकल ओरगाना। साँवर लेहु दूरि है जाना॥
सिंघल दीप जाइ सब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा॥
सब निबहिहि तहँ आपनि साँठी। साँठी बिना रहब मुख माँटी॥
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलै सब लोगू॥
गरब जो चढ़ै तुरै की पीठी। अब सो तजहु सरग सौं डीठी॥
मंत्रा लेहु होहु सँग लागू। गुदरि जाइ सब होइहि आगू॥
का निचिंत रे मनुसे आपनि चिंता आछु।
लेहि सजग होइ अगुमन फिरि पछिताहि न पाछु॥१२८॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी रत्नसेन के योगी बनकर प्रस्थान करने की घोषणा निर्णित करते हैं और साथ ही मनुष्य को चेतावनी देते हैं कि वह प्रभु के मार्ग पर अग्रसर हो, जीवन क्षुद्र है—

सर्वत्र डोंडीवालों ने घोषणा कर दी कि राजा के कटक दल का कूँच होने वाला है। समस्त बड़े सामन्त आदि यात्रा की भोजन सामग्री अपने-अपने साथ ले लें। यात्रा लम्बी है, लक्ष्य दूर है और यह सब दूर सिंहलद्वीप की यात्रा करने के इच्छुक हैं; जहाँ पर मूल्य देकर कोई वस्तु खरीद न सकोगे। वहाँ सबको अपनी-अपनी पूँजी से ही निर्वाह करना होगा। यदि गाँठ में पूँजी न होगी तो मुख को धूल फाँकनी पड़ेगी। राजा योग साध लेने के लिए चला है। जल्दी तैयार हो और सब लोग चलो। जो घमंड के घोड़े की पीठ पर अब तक चढ़े रहे हैं अब उसे छोड़ दें और आकाश की यात्रा की ओर दृष्टि लगायें। मन्त्र लें और योग-पथ के साथी बनें। गुदारे में जाकर सभी लोग अग्रसर होवें।

रे मनुष्य, निश्चित क्यों हो ? अपने मन की चिंता त्यागो और सावधान होकर राजा के साथ अनुगमन करो ताकि फिर ऐसा न करने से पश्चात्ताप न करना पड़े।

शब्दार्थ—आन = घोषणा। सोठिअन्ह = डौंडीवाले। फेरी = घुमाई। भै = हुई। कटकाई = दल बल के साथ चलने की तैयारी। जाँवत = जितना। केरी = की। ओरगाना = सामन्त। अहै = हैं। साँवर = खाद्य-सामग्री। बेसाहा = बिना मूल्य दिए खरीदना। साँठि = पूँजी। गुदरि = सेना के समक्ष होना। तुरग = घोड़ा।

(१२६)

बिनवै रतनसेनि कै माया। माँथे छत्र पाट निति पाया ।।
बेरसहु नव लख लच्छि पिआरी। राज छाड़ि जनु होहु भिखारी ।।
नित चन्दन लागै जेहि देहा। सो तन देखु भरब अब खेहा ।।
सब दिन रहेउ करत तुम्ह भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू ।।
कैसे धूप सहब बिनु छाहाँ। कैसे नींद परिहि भुइँ माहाँ ।।
कैसे ओढ़व काँथरि कंथा। कैसे पाउँ चलव तुम्ह पंथा ।।
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे खाएब कुरकुटा रूखा ।।
राजपाट दर परिगह सब तुम सों उजिआर।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अँधिआर ।।१२८।।

भावार्थ—प्रस्तुत पद में जायसी ने मोह-वात्सल्य का बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है। सूरदास के वात्सल्य के सुन्दर पदों की टक्कर में इस पद को रखा जा सकता है—

रत्नसेन की माता विनती करने लगी कि हे पुत्र, तुम्हारे सिर पर नित्य राजसी छत्र और पैर के नीचे पीढ़ा रहता था। तुम योगी न बनो। नौ लाख सम्पत्ति से युक्त लक्ष्मी सदृश प्रियाओं के साथ विलास करो। राज्य त्यागकर भिखारी न बनो। जिस शरीर पर नित्य चन्दन का लेप होता था अब उस शरीर पर भस्म लगी हुई दिखाई पड़ेगी—यह कितना कारुणिक दृश्य होगा ! तुम सब दिन भोग करते रहे, अतः अब योग साधना कैसे करोगे ? बिना छायामय विश्राम के धूप दुःख कैसे सहोगे ? कैसे पृथ्वी पर सोओगे ? कम्बल और कथरी कैसे ओढ़ोगे, नंगे पाँव कैसे चलोगे, हर समय भूख कैसे सहोगे ? रूखा भात कैसे खाओगे ?

तुम्हारे ही प्रताप से राजपाट और सैन्यदल में जगर-मगर एवं खुशी रहती थी। यहाँ अंधकार करके न जाओ, यहाँ रहकर उज्ज्वल विभासित राजपाट का रसभोग करो, आनन्द लूटो !

शब्दार्थ—विनवै = विनती। माया = माँ। बेरसहु = विलास करो। जनि = मत। खेहा = भस्म। भुँइमाहाँ = पृथ्वी पर। काँवरि = कम्बली। खिनहिखिन = पल-पल में। कुरकुटा = रूखा अन्न, भात।

(१३०)

मोहि यह लोभ सुनाउ न माया। काकर सुख काकरि यह काया॥
जौं निश्रान तन होइहि छारा। माँटी पोखि मरें को मारा॥
का भूलहु एहि चंदन चोवाँ। बैरी जहाँ आँग के रोवाँ॥
हाथ पाइँ सरवन औ आँखी। थे सबही भरिहैं पुनि साखी॥
सोत सोत बोलहिं तन दोखू। कहू कैसे होइहि गति मोखू॥
जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द कस साधत जोगू॥
ओनहूँ सिस्टि जौं देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा॥
देखु अंत अस होइहि गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघल दीप जाब मैं माता मोर अदेस॥१३०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन उत्तर देता है—हे माता, मुझसे यह लोभ की बात मत कहो। किसका सुख और किसका यह शरीर ? यदि अन्त में शरीर एक मुट्ठी धूल ही होना है तो फिर उसके पोषण का भार लेकर कौन मरे ! इस शरीर के लिए चन्दन-चोवा लगाकर क्यों भरमाया जाय ? इस शरीर का रोम-रोम शत्रु है। हाथ-पाँव, कान-आँख—ये इस शरीर को ही दोष देने वाले साक्षी बनेंगे। बताओ, फिर कैसे सद्गति प्राप्त होगी ? यदि राजपाट के भोग अच्छे होते तो महान राजा गोपीचन्द इनका परित्याग करके किसलिये योगव्रत धारण करते ? इसलिए उन्होंने विहंगम दृष्टि से इस मिथ्यात्व को देखा-समझा और राजपाट त्यागकर कजरी वन में साधना की।

देखो, बिना योग के ऐसा दर्दनाक अन्त होगा, ऐसा उपदेश मुझे गुरु ने दिया है। हे माता, मैं सिंहलदीप निश्चय ही जाऊँगा और मेरा प्रणाम लो।

शब्दार्थ—काकर = किसका। निश्रान = अन्त। छारा = धूल। पोखि = पोषण करके। चोवाँ = इत्र, एक सुगन्धित पदार्थ। आँग = अंग। रोवाँ = रोम। सरबन = कान। साखी = साक्षी। दोखू = दोष। मोखू = मोक्ष। भल = अच्छा। कस = क्यों। ओनहुँ = उन्होंने। सिस्टि = सृष्टि। परेवा = पक्षी। कजरी = बन, सिद्धों के निवास का स्थान। अदेस = प्रणाम।

(१३१)

रोवै नागमती रनिवासू। केइँ तुम्ह कंत दीन्ह बन वासू॥
अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी॥

कै हम लावहु अपने साथाँ। कै अब मारि चलहु सै हाथाँ।।
तुम्ह अस बिछुरे पीउ पिरीता। जहवाँ राम तहाँ सँग सीता।।
जौं लहि जिउ सँग छाँड़ न काया। करिहौं सेव पखरिहौं पाया।।
भलेहिं पदुमिनी रूप अनूपा। हमतें कोइ न आगरि रूपा।।
भवै भलेहिं पुरुषन्ह कै डीठी। जिन्ह जाना तिन्ह दीन्हि न पीठी।।
देहिं असीस सबै मिलि तुम्ह माथें निति छात
राज करहु गढ़ चितउर राखहु पिय अहिबात।।१३१।।

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने नारी हृदयस्थित विरह के भावानुभाव का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया है। रत्नसेन के वियोग होने में नागमती की स्थिति प्रकट है—

नागमती अन्तःपुर के सहित रुदन करने लगी। कहने लगी कि हे स्वामी, तुम्हें किसने वनवास दिया है ? तुम्हारे अभाव में मैं किसके साथ भोग करूँगी ? हम भी तुम्हारे साथ जोगिनी बनेंगी। हे प्रिय ! या तो हमें अपने साथ ले चलो या अपने हाथ से हमें मारकर जाओ। हे प्रिय, तुम्हीं ऐसे निष्ठुर हो जो प्रेम करके बिछुड़ कर जा रहे हो। नहीं तो जहाँ राम रहे सीता भी उन्हीं के साथ रहीं। जब तक शरीर में प्राण हैं तुम्हारे चरण पखारूँगी, दासी रहूँगी। चाहे पद्मिनी रूप-सौंदर्य में अनुपमेय हो पर मैं तुम्हारी स्वकीया हूँ। अतः उससे अधिक रूपवती हूँ। भले ही पुरुष जाति की दृष्टि चंचल हो किन्तु फिर भी कर्तव्य कहता है कि जिससे परिणय परिचय हो गया है उसकी ओर से मुख न मोड़ा जाय।

हम सब अन्तःपुर की तुम्हारी प्रियायें आशीर्वाद देती हैं कि तुम सदा छत्रधारी बने रहो। चित्तौड़गढ़ में राज्य करो और हमारे सुहाग-सौभाग्य की रक्षा करो !

विशेष—प्रस्तुत अंश में भारतीय स्वकीया सम्बन्धी कर्तव्यादर्श का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। पुरुष की कामुक दृष्टि पर व्यंग भी किया गया है। दोनों की दृष्टि इस एक पंक्ति में व्यंजित है—

"भवै भलेहिं पुरुषन्ह कै डीठी। जिन्ह जाना तिन्ह दीन्हि न पीठी।।"

शब्दार्थ—रनिवास = अन्तःपुर। होइब = हूँगी। कै = या। पखरिहौं = धोऊँगी। भवै = भ्रमित। डीठी = दृष्टि। छात = छत्र। अहिवात = सुहाग।

(१३२)

तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै धर नारी।।
राघौ जौं सीता सँग लाई। रावन हरी कवन सिधि पाई।।
यहु संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानहु नहिं रेखा।।
राजा भरथरि सुनि रे अयानी। जेहि के घर सोरह सै रानी।।
कुचन्ह लिहें तरवा सहराई। भा जोगी कोइ साथ न लाई।।
जोगिहि काह भोग सों काजू। चहै न मेहरी चहै न राजू।।
जूड़ कुरकुटा पै भखु चाहा। जोगिहि तात भात बहु काहा।।

कहा न मानै राजा तजी सवाई भीर।
चला छाड़ि सब रोवत फिरि कै देइ न धीर ॥१३२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन उत्तर देता है—

अरे ! तुम स्त्री हो। तुम्हारी छोटी बुद्धि है। वह मूर्ख है जो घर की स्त्री की सलाह पर चलता है। देखो राम ने सीता को साथ लिया, फलतः वह रावण से हरी गई। अपनी इस अल्पबुद्धि से राम ने क्या महत्व पाया ? यह संसार का मिलन एक स्वप्न का लेखा है। बिछुड़ जाने पर कौन उसे देखता है। सब एक दूसरे से अपरिचित हो जाते हैं ! हे भोली, सुन ! वह राजा भरथरी कि जिसके यहाँ सोलह सौ रानियाँ थीं और जो अपने कुचों से उसके तलवे को सहलाती थीं, वह भी योगी बन गया और उसने किसी को अपने साथ न लिया। योगियों को भोग-विलास से क्या प्रयोजन ? उसके लिए राज्य और स्त्री की क्या—कुछ नहीं ! बस वह खाने के लिए सूखा भात चाहता है; गरम भात की उसे क्या आवश्यकता ?

ऐसा कहते हुए राजा ने किसी की बात न मानी और भीड़ को छोड़कर चल पड़ा और फिर ममता के वशीभूत उसने लौटकर उन्हें धैर्य भी न बँधाया था।

शब्दार्थ—तिरिआ = स्त्री। मतै = सलाह। मेहरी = पत्नी। भखु = खाना। तात = गरम। सवाई = सभी। भीर = भीड़। धीर = धैर्य। कुचन्ह = स्तनों से। अयानी भोली। जूड़ = सूखा।

(१३३)

रोवै मता न बहुरै बारा। रतन चला जग भा अँधिआरा ॥
बार मोर रजियाउर रता। सो लै चला सुवा परबता ॥
रोवहिं रानी तजहिं पराना। फोरहिं बलद करहिं खरिहाना ॥
चूरहिं गिव अभरन औ हारू। अब काकहँ हम करब सिंगारू ॥
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला काकर यहु जीऊ ॥
मरै चहहिं पै मरै न पावहिं। उठै आग तब लोग बुझावहिं ॥
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा। पुनि पाछें बीता होइ रोरा ॥
टूट मनै नव मोती फूट मनै दस काँच।
लीन्ह समेटि ओबरिन होइगा दुःखकर नाँच ॥१२।८॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में पुत्र-वियोग के प्रति मातृत्व की कारुणिक स्थिति का चित्रांकन करते हुये कविवर जायसी कहते हैं—

माता रोने लगी कि हाय, पुत्र वापिस नहीं लौटा। रत्नसेन चला गया तो मेरे सुख के संसार में अंधेरा हो गया। मेरा पुत्र तो राजपाट में रत था, उसे जंगली तोता पर्वतों की ओर ले गया है। रानियाँ रो-रोकर प्राण देने लगीं, हाथों की चूड़ियाँ तोड़-तोड़कर खलिहान भरने लगी—ढेर लगाने लगीं। गर्दन के आभूषण और मोतियों के हार चूर-चूर कर कहती थीं हाय, अब हम किसके लिये शृङ्गार करें—जब हम जिसको प्रसन्नता-

पूर्वक प्रिय कहती थीं वही चला गया—अब हमारा यह जीवन किसके लिये ? वे मृत्यु चाहती थीं पर मर नहीं पा रही थीं। जब-जब उनमें आग भड़कती थी, लोग उसे शांत करते थे। आशय यह है कि लोग उन्हें सान्त्वना दे रहे थे पर वे मृणमयी हो रही थी। इस प्रकार घड़ी भर बड़ा रुदन हुआ। फिर पीछे वह विलाप बीत गया। कविवर जायसी दुख की पराकाष्ठा व्यंजित करते हुये लिखते हैं—

रत्नसेन के वियोग में नवरस की कल्पनाओं के नौ मन मोतियों का चूर्ण हो गया। दसों इन्द्रियों का सुख सुहाग उन भोली नारियों के लिये दस मन चूड़ियों की भाँति मौल गया, फिर भी कहीं कुछ नहीं ! सब कुछ समेट-झाड़कर कोठरियों में रख दिया गया। दुःख का ताँडव नृत्य समाप्त हो गया।

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में अत्यन्त वीतराग व्यंजित है, जीवन में एक अवसर ऐसा भी आता है जब दुःख भी साथ छोड़ जाता है। बच्चन की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'साथी, साथ न देगा दुःख भी !
काल छीनने दुख आता है…… ।"

—(निशा निमन्त्रण)

शब्दार्थ—मता = माता। बारा = बालक। बहुरे = लौटना। रजियाउर = राज-पाट। रता = लीन। परान = प्राण। वलय = काँच की चूड़ी। गिव = ग्रीव। अंदोरा = शोर। ओवरिन = कोठरे। अभरन = आभूषण।

(१३४)

निकसा राजा सिंगी पूरी। छाड़ि नगर मेला दुइ दूरी ॥
राय राने सब भए बियोगी। सोरह सहस कुँवर भए जोगी ॥
माया मोह हरी सें हाथाँ। देखेन्हि बुझि निआन न साथाँ ॥
छाड़ेन्हि लोग कुटुम्ब घर सोऊ। भे निनार दुखै सुख तजि दोऊ ॥
सँवरे राजा सोइ अकेला। जेहि रे पंथ खेलै होइ चेला ॥
नगर नगर और गावँहि गाऊँ। चला छाड़ि सब ठावँहि ठाऊँ ॥
काकर घर काकर मढ़ माया। ताकर सब जाकर जिउ काया ॥
चला कटक जोगिन्ह कर कै गेरुआ सब भेषु।
कोस बीस चारिहुँ दिसि जानहुँ फूला टेसु ॥१३४॥

भावार्थ—रत्नसेन जोगी का भेष धारण कर पद्मावती की प्राप्ति हेतु प्रस्थान करता है। उस समय का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं :—

सिंगी बाजा बजाते हुए राजा ने प्रस्थान किया और अपने नगर की आकर्षक चहल-पहल को छोड़कर दूर हो गया। अन्य राजा सामन्त भी उसके साथ वियोगी बन निकले, एवं सोलह हजार राजकुमार भी योगी बनकर साथ चले। मिथ्या माया-मोह का बन्धन टूट गया या हाथ से जाता रहा और उन्होंने सोचा-विचारा कि अन्तकाल में कोई किसी का साथ नहीं देता। जैसे—

"किसको इतना वक्त यहाँ जो,
गए हुए की ओर निहारे,
और किसी का उजड़ा उपवन,
निज आँसू से सींच संवारे,
और चिता के ऊपर किसने,
अब तक अपने को सौंपा है,
तुमने भी देखा होगा जिस मरघट ने उसको लूटा है !
तुमने भी देखा होगा जो अभी अभी तारा टूटा है !"

लोगों ने अपने आप अपना सारा कुटुम्ब-कबीला छोड़ दिया है। सुख-दुःख से अलग, ये सबसे न्यारे हो गए हैं। उदास राजा रत्नसेन अकेला उसी पद्मावती का स्मरण कर रहा था जिसके प्रेम-पथ का वह शिष्य बनकर चला जा रहा था। ग्राम-ग्राम एवं नगर-नगर—सभी जगहों को छोड़ कर वह चल पड़ा। विचार किया, यहाँ किसका घर किसका मठ और किसका ऐश्वर्य आदि अपना है ? यह सब तो उसी ईश्वर ने प्रदान किये हैं जिसका यह जग जीवन है, जिसके पास हम सबको अन्ततः पहुँच ही जाना है।

यों योगियों का दल गैरिक परिधान पहनकर प्रेम मार्ग पर चल पड़ा। लगा, मानो, बीस कोस तक चारों दिशाओं में टेसू बन फूल उठा हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार है।)

विशेष—जग जीवन की क्षणभंगुरता की व्यंजना अत्यन्त संश्लिष्ट बनी है। साथ ही '**ताकर सब जाकर जिउ काया**" में अद्वैतवादी रहस्यवादी भाव प्रधान हो सका है।

शब्दार्थ—निकसा = प्रस्थान किया। पूरी = बजाता। मेला = चहल-पहल। निआन = अन्ततः। निनार = अलग। सँवरे = स्मरण करे। जेहि = जिसका। काकर = किसका। ताकर = उसका। कटक = दल। कै = कर। जानहुं = मानो।

(१३५)

आगें सगुन सगुनिआँ ताका। दहिउ मच्छ रूपे कर टाका॥
भरें कलस तरुनी चलि आई। दहिउ लेहु ग्वालिन गोहराई॥
मालिनि आउ मौर लै गाँथे। खंजन बैठ नाग कै माँथे॥
दहिनें मिरिग आइ गौ धाई। प्रीतीहार बोला खर बाईं॥
बिखं सँवरिआ दाहिन बोला। बाएँ दिसि गादुर नहिं डोला॥
बाएँ अकासी धोबिन आई। लोखा दरसन आइ देखाई॥
बाएँ कुरारी दाहिन कूचा। पहुँचै भुगुति जैस मन रूचा॥
जाकहँ होहिं सगुन अस औ गवनै जेहि आस।
अस्टौ महासिद्धि तेहि जस कवि कहा बिआस॥१३५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग के अनुसार जब राजा ने प्रस्थान किया तो—

सगुन देखने वालों ने समक्ष सगुन विचारा। चाँदी के बर्तनों या कंडालों में सगुन के रूप में दही और मछली रखी हुई लाई गईं। तरुणियाँ सगुन के लिये कलसे भर-भरकर

आगे आई। "दही लो···दही" ऐसा कहती हुई ग्वालिन पुकार उठी। मालिन मौर या गजरा गुँथा हुआ लेकर आगे आई। खंजन पक्षी नाग के मत्थे पर बैठा हुआ दिखलाई पड़ा। दाहिनी ओर से हिरन कुलाचें भरता हुआ आया। बाएँ से तीतर और गधा बोल उठे। दाहिनी ओर से काला बैल रँभाया और दाईं ओर नीलकण्ठ बैठा ही रहा, उड़ा नहीं। बाईं ओर आकाशी धोवन, या चितकबरी चील आ गई और लोमड़ी ने आकर दर्शन दिया। बाईं ओर टिटहरी और दाहिनी ओर क्रौंच पक्षी दीखे। इन शुभ सगुनों से यह लगा कि राजा जिस अभीष्ट भोग की रुचि रखता है वह उसका आस्वादन करेगा।

कविवर जायसी कहते हैं कि जिसके प्रस्थान करते समय ऐसे शुभ सगुन हों तो वह जिस आशा से प्रस्थान करता है वह क्यों न पूरी होगी ? उसे तो आठों महासिद्धियाँ मिलेंगी—व्यास कवि ने ऐसा कहा है।

विशेष—वस्तु परिगणन शैली का इस पद में बड़ा सुन्दर चमत्कार है। ऐसे स्थलों से यह स्पष्ट लगता है कि जायसी हिन्दू रीति-रिवाज, दर्शन-व्यवहार, धर्म-कर्म आदि की मान्यताओं से अच्छे परिचित ही नहीं, आकृष्ट भी थे।

शब्दार्थ—सगुनिया = सगुन निकालने वाले। टाका = तामलोट, टंकी या कंडाल। मौर = मुकुट या यहाँ गजरे का अर्थ संगत है। बिर्ख = बैल। गोहराई = पुकार। अकासी धोविन = चितकबरी चील, क्षेमकरी चील। कूचा = क्रौंच। कुरारी = टिटहरी। गादर = यहाँ नीलकंठ से आशय ठीक लगता है। भुगुति = भोग।

(१३६)

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंघनाद जोगिन्ह कर बाजा॥
कहेन्हि आजु कछु थोर पयाना। काल्हि पयान दूरि है जाना॥
ओहि मेलान जब पहुँचिहि कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
एहि आगे परबत की पाटी। विषम पहार अगम सुठि घाटी॥
बिच बिच खोह नदी औ नारा। ठावँहि ठाँव उठहिं बट पारा॥
हनिवँत केर सुनब पुनि हाँका। दहुँ को पार होइ को थाका॥
अस मन जानि सँभारहु आगू। अगुआ केरि होहु पछलागू॥
करहिं पयान भोर उठि नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं ते का रहन ओनाहिं॥१३६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राजा रत्नसेन के प्रयाण का वर्णन करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं :—

प्रस्थान का समय हुआ; फिर राजा चल पड़ा। उस समय, शुभ अवसर जानकर योगियों का श्रृंगीनाद बाजा बज उठा। उन्होंने कहा, आज का प्रस्थान थोड़ा होगा और कल के प्रस्थान में दूर की यात्रा होगी। कल के उस प्रस्थान में जब कोई दूर लक्ष तक अथवा पद्मावती रूपी ईश्वर प्राप्ति के निश्चित पड़ाव या स्थान तक पहुँचायेगा तब हम कहेंगे कि वह सत्य श्रेष्ठ पुरुष है; जो उस तक पहुँचा है। यहाँ से आगे पहाड़ी पट्टी है।

वहाँ कठिन पर्वत एवं अत्यन्त गहरी घाटियाँ हैं। मध्य में खोह, नदी और नाले हैं। जगह-जगह पर चोर, उचक्के, लुटेरे लगे रहते हैं। वहाँ पर हनुमान (यहाँ राक्षस से तात्पर्य है।) की गर्जना सुनाई देती है। देखें, कौन उस राह को पार कर सकेगा और कौन थककर बीच ही में रुक जायगा ? इस प्रकार मन में सजग होकर भविष्य का क़दम उठाओ और अपने अग्रगामी या नायक गुरु का पीछा किये रहो। आशय है कि साधना के मार्ग की कठिनाई से विचलित न होने के लिए गुरु का साथ ही एकमात्र सहारा बनेगा।

वे नित्य प्रातःकाल उठकर कूँच करते थे और दस कोस की यात्रा तय कर पाते थे। कविवर जायसी कहते हैं कि जो राही चलने का संकल्प लेकर चलते हैं वे कब कहाँ किस जगह थककर सुस्ताने के लिये बैठते या टिकते हैं ?

विशेष—प्रस्तुत पद में हनुमान की गर्जना वाली कल्पना जायसी ने असंगत की है। इसका कारण था कि उनकी हिन्दू संस्कृति के प्रति पूरी ज्ञान-गम्भीरता न होना। यहाँ 'हनुमान' कहने से जायसी का अर्थ राक्षस से भी हो सकता है जो असंगत है। बन्दर भी हो सकता है।

शब्दार्थ—पयान=प्रस्थान। मेलान=पड़ाव, मिलन स्थान। पाटी=पर्वत की पाटी। बटपारा=चोर, उचक्के, बटमार। हनिवँत=हनुमान, बन्दर। हाँका=गर्जना। ते=वे। का=क्या।

(१३७)

करहु दिस्टि थिर होहु बटाऊ। आगू देखि धरहु भुइँ पाऊ॥
जौ रे उबट होइ परे भुलाने। गए मारे पँथ चलै न जाने॥
पावन्ह पहिरि लेहु सब पँवरी। काँट न चुभै न गड़ै अँकवरी॥
परै आइ अब बनखँड माहाँ। डंडक आरन बीझै बनाहाँ॥
सघन ढाँखबन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख मिलहि इहाँ कर भूला॥
झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा॥
दहिने बिदर चँदेरी बाएँ। दहुँ कहँ होब बाट दुहुँ ठाएँ॥
एक बाट गौ सिंघल दोसर लंक समीप।
हहिं आगे पँथ दोऊ दहुँ गवनब केहि दीप॥१३७॥

पूर्वपद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

भावार्थ—हे राही ! अपनी दृष्टि को मार्ग पर स्थिर करो—मार्ग चलने का पूर्ण अनुमान करो। आगे का पग भलीभाँति जमाकर पृथ्वी-पथ पर रक्खो। जो पथ-भ्रमित होकर चलने में ग़फलत करेंगे वे भूल भटक कर बेमौत मारे जायँगे। सब अपने पैरों में खड़ाऊँ पहिन लो, ताकि पैरों में काँटा-किंकरी न चुभे। अब बन खण्ड में आ पहुँचे हो, यहाँ विन्ध्याचल दण्डकारण्य ही फैला है। ढाक का घना बन चारों ओर फूला फैला हुआ है। यहाँ का भूला हुआ राही बड़ा दुःख व संकट झेलता है। वह मार्ग त्याग देना जहाँ काँटे वाले झाड़-झंखाड़ खड़े हो। कहीं मकोय में अटक कर अपनी कथरी या गुदड़ी को

न फाड़ लेना। दाहिने कर पर बीदर और बाँए कर पर चँदेरी है—कौन जाने इन दोनों के मध्य हमें किस स्थान पर मार्ग मिलेगा ?

यहाँ से एक मार्ग सिंघल की ओर जाता है और दूसरा लंका के समीप को। आगे ये दुराहा है—देखना है कि इन दोनों में से हमें किस मार्ग पर जाना होता है—असमंजस है !

शब्दार्थ—दिस्टि = दृष्टि। थिर = स्थिर। बटाऊ = राही। आगूं = आगे। भुइँ = पृथ्वी। पाऊ = पाँव। उवट = चूक। पावन्ह = पाँव में। पँवरी = खड़ाऊँ। अँकवरी = कंकड़ी। डंडक आरन = दण्डकारण्य। बनाहाँ = बन। सघन = घना। इहाँ = यहाँ। झाँखर = काँटेवाले झाड़झंखाड़। हिलगि = उलझकर। कंथा = कथरी। दोसर = दूसरा। दहुँ = दोनों। गवनब = गमन, जाना।

(१३८)

ततखन बोला सुआ सरेखा। अगुआ सोइ पंथ जेइँ देखा॥
सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू। लै सो परासहि बूड़ै साखू॥
जस अंधा अंधे कर संगी। पंथ न पाव होइ सहलंगी॥
सुनु मति काज चहसि जौं साजा। बीजानगर विजैगिरि राजा॥
पूँछु न जहाँ कुंड और गोला। तजु बाएँ अँधियार खटोला॥
दक्खिन दहिने रहै तिलंगा। उत्तर माँझे गढ़ा खटंगा॥
माँझ रतनपुर सौंह दुआरा। झारखंड दै बाऊँ पहारा॥
आगे पाउँ औडैसा बाएँ देहु सो बाट।
दहिनावर्त लाइ कै उतरु समुंद्र के घाट॥१३८॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंग में कविवर जायसी हीरामन गुरु-रूप तोते का पुनः प्रसंग प्रस्तुत करते हैं। पूर्व पद के 'असमंजस' को सुलझाने की गरज़ मे तोता कहता है—

उसी क्षण तुरन्त चतुर तोते ने कहा—अग्रणी या पथ-प्रदर्शक वही होता है जिसने मार्ग देखा है। वह क्या उड़ेगा जो शरीर से पंखहीन है ? वह तो उस जैसा है जो अपने भार से पत्तों सहित शाखा को भी ले डूबता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी अगुआ किस प्रकार लक्ष तक पहुँच सकता है ? वह तो उपरोक्त पक्षी की भाँति अपने शिष्यों को भी अज्ञानांधकार के तल में ले डूबता है। वह तो ऐसा है—जैसा अन्धे का साथी अंधा पथ-प्रदर्शक हो। (यहाँ दृष्टांत जोरदार है। लोकोक्ति है **"गुरू कीजै जानके। पानी पीजै छान के।"**) जो अन्ध-गुरु का सहयात्री होता है वह उसी की भाँति मार्ग नहीं पा पाता। हे राजन् ! यदि अपना काम सिद्ध करना चाहते हो तो मेरी सीख मानो। विजय नगर और विजयगिरि के राजा जहाँ पर हैं, और कुण्ड तथा गोला भी—इन सबकी बात न पूछना ! अँधियार और खटोले को बाएँ ही छोड़ चलना। दक्षिण में दाहिने तिलंगाना निकल जायगा। उत्तर के बीच में गढ़ा खटंगा है। इसी बीच जाते हुए रतनपुर और उसके समक्ष महानदी की घाटी वाला द्वार होगा। बाईं ओर झारखण्ड के पर्वत रह जायँगे।

तुरन्त आगे पाँव रखते ही उड़ीसा का मार्ग है। किंतु, उस मार्ग को बायें छोड़कर दाहिनी ओर घूमकर समुद्र के घाट चले जाना तो सिंहलद्वीप के पार उतर जाओगे।

विशेष—इस पद में जायसी ने भौगोलिक ज्ञान का परिचय दिया है किन्तु यह अधिक स्पष्ट नहीं कहा जायगा। यहाँ तोते को 'गुरु' का पद दिया गया है। उपसंहार के प्रक्षिप्त पद में कहा भी है—**"गुरु सुवा जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।"**

शब्दार्थ—ततखन = उसी समय। सरेखा = चतुर। अगुआ = मार्ग प्रदर्शक। सोइ = वही। जेहि = जिसके। पाँखू = पंख। परासहि = पत्ते। संगी = साथी। सहलंगी = सहयात्री। मति = सीख। चहसि = चाहता है। साजा = सिद्ध। बीजानगर, विजैगिरि, कुण्ड, गोला, खटंगा, रतनपुर = ये सब सिंहलद्वीप की ओर से गुजरनेवाले स्थानों के नाम हैं।

(१३६)

होत पयान जाइ दिन केरा। मिरगारन महँ भएउ बसेरा॥
कुस साँथरि भै सौर सुपेती। करवट आइ बनी भुइँ सेती॥
कया मलै तेहि भसम मलीजा। चलि दस कोस ओस निति भीजा॥
ठाँवहि ठाँव सोवहिं सब चेला। राजा जागै आपु अकेला॥
जेहि के हिएँ पेम रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा॥
बन अँधियार रैनि अंधियारी। भादौं बिरह भएउ अति भारी॥
किंगरी हाथ गहे बैरागी। पाँच तंतु धुनि उठै लागी॥
नैन लागु तेहि मारग पदुमावती जेहि दीप।
जैस सेवाती सेवहिं बन चातक जल सीप॥१३६॥

भावार्थ—तोते के कथनानुसार कविवर जायसी प्रस्थान का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

प्रस्थान करते-करते दिन गया तो मृगारण्य में बसेरा लिया गया। सबों का बिस्तरा कुशा की साँथरी हुई और सबने धरती से ही लगकर करवट ली। चन्दन लगाए जाने वाले शरीर पर अब सबके भस्म मली हुई है। नित्य दस कोस की यात्रा करने पर उनका शरीर ओस या पसीने से भीग जाता है। जगह-जगह पर सब शिष्य विश्राम लेते हैं किंतु राजा रत्नसेन अकेला ही जागता रहता है। (यहाँ गीता के इस भाव की व्यंजना है—**"या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी"**) कविवर जायसी कहते हैं कि जिसके हृदय में प्रेम का रंग जम गया है, उसे क्या भूख, क्या नींद और कैसा विश्राम? जंगल और रात का सघन अन्धकार था; या अँधेरा जंगल था और रात अंधेरी थी। भादों की रात और तिसपर जंगल का यह अन्धकार राजा के लिए विरह के कारण यह सब कुछ असह हो गया। छोटी सारंगी को हाथ में लिए वह सच्चा वैरागी हो गया; उसके पाँचों तत्वों या तारों से प्रेम की ध्वनि या झंकार उठकर उसे लीन करने लगी। आशय यह है कि

वह पंचभूत के नाद और प्रेयसी पद्मावती की याद में लीन हो गया।

जिस ओर पद्मावती का सिंहलद्वीप था, राजा के नेत्र बस एकटक उसी की ओर लगे थे। उसकी सुरति-साधना इस प्रकार पद्मावती की प्राप्ति के हेतु स्थिर हो गई जैसे स्वाति नक्षत्र की बूँद को पाने के लिए बन में चातक और जल में सीप की प्रतीक्षा स्थिर बनी रहती है।

विशेष—पद की अन्तिम पंक्तियों में प्रेम की साधना का भाव अत्यन्त अलंकारिक है। तुलसी ने भी अपने चातक प्रेम में भक्त की साधना का ऐसा ही वर्णन किया है।

शब्दार्थ—मिरगारन = मृगारण्य। मँह = में। सेती = से। सौरसुपेती = बिस्तरा। मलीजा = मलना। सेवाती = स्वाति।

●

१३--राजा-गजपति-संवाद खण्ड

(१४०)

मासेक लाग चलत तेहि बाटाँ। उतरे जाइ समुँद के घाटाँ॥
रतनसेनि भा जोगी जती। सुनि भेंट आएउ गजपती॥
जोगी आपु कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहिअ खेला॥
पहिलेहिं आए माया कीजै। हम पहुनई कहँ आएसु दीजै॥
सुनहु गजपति उतरु हमारा। हम तुम एकै भाव निरारा॥
सो लिन्ह कहँ जिन्ह महँ बहु भाऊ। जो निरभाव न लाव नसाऊ॥
यहँ बहुत जो बोहित पावौं। तुम्हतें सिंघलदीप सिधावौं॥
जहाँ मोहि निजु जाना होहुँ कटक लै पार।
जौं रे जिऔं लै बहुरौं मरौ तो ओहि के बार॥१४०॥

भावार्थ—कविवर जायसी रत्नसेन के प्रस्थान का वर्णन करते हैं। पद्मावती को प्राप्त करने के लिए रत्नसेन प्रेम वियोग में आगे ही आगे निरन्तर बढ़ रहा है—

उस पथ पर चलते हुए एक माह के करीब लगा। तत्पश्चात् सब लोग समुद्र के किनारे पर पहुँचे। ऐसा सुनकर कि रत्नसेन योगी यती हो गया है, राजा गजपति भेंट करने के लिए आया और बोला—तुम योगी बनकर और दल के सारे शिष्यों को साथ लेकर किस द्वीप पर पहुँचना चाहते हो? पहली बार ही तुम मेरे राज्य में आये हो; अतः अपने आतिथ्य-सत्कार का मुझे अवसर दीजिये, आज्ञा दीजिये ताकि मैं तुम्हारा आतिथ्य सत्कार कर सकूँ! यह सुनकर रत्नसेन ने उत्तर दिया कि हे राजा गजपति! हमारी बात सुनो—मैं और तुम

एक से राजा हैं केवल हमारा और तुम्हारा भाव ही भिन्न है। आतिथ्य तो उनके लिए होता है जिनके मन में सांसारिक ममत्व होता है। जिसका मन भाव से शून्य है उससे आतिथ्य की बात कहकर उसके संकल्प में विघ्न मत डालो, आशय यह है कि मैं संसारी बातों से दूर होकर वैरागी हो गया हूँ। अतः मुझे किसी प्रकार की सुख-सुविधा नहीं चाहिए। मेरे लिए यही बहुत है, यदि तुम मेरे सिंहलद्वीप पहुँचने के लिए जहाजों की व्यवस्था कर दो।

जहाँ मुझे स्वयं जाना है तो अपने दल को साथ लेकर जाऊँगा व पार उतरूँगा। यदि जीवित रहा तो पद्मावती को लेकर लौटूँगा, यदि मर गया तो उसी के द्वार पर ही !

शब्दार्थ—गजपति = कलिंग के राजा की उपाधि। मासेक = एक माह। कटक = दल। पहुनई = आतिथ्य। आयेसु = आज्ञा। निरारा = भिन्न। वोहित = जहाज। माया = कृपा। नसाहु—बिगाड़। बहुरौं = फिरूँगा। ओहि = उसके, पद्मावती के। बार = दरवाजा।

(१४१)

गजपति कहा सीस बरु माँगा। एतने बोल न होइहि खाँगा ॥
ये सब देहुँ आनि नै गढ़े। फूल सोहि जो महेसहि चढ़े ॥
पै गोसाईं सों एक बिनती। मारग कठिन जाब कोई भाँती ॥
सात समुंद असूझ अपारा। मारहि मगर मच्छ धरियारा ॥
उठै लहरि नहिं जाइ सँभारी। भागहिं कोइ निबहै बैपारी ॥
तुम्ह सुखिया अपने घर राजा। एत जो दुक्ख सहहु केहि काजा ॥
सिंघल दीप जाइ सो कोई। हाथ लिये जिउ आपन होई ॥
खार खीर दधि उदधि सुरा जल पुनि किलकिला अकूत।
को चढ़ि बाँधे समुंद ये सातौं है काकर अस बूत ॥१४१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राजा रत्नसेन से गजपति कहता है—

हे राजा, यदि तुम सिर माँगते वह भी दे देता, फिर इतनी-सी बात की पूर्ति में तो कमी कभी नहीं हो सकती। सारे नवनिर्मित जहाज़ लाकर दूँगा। फूल की सफलता इसी में है कि वह शिव मस्तक पर चढ़ जाये। यह हमारा सौभाग्य है कि आप शुभकाम के लिये हमसे जहाज़ माँग रहे हैं। किंतु, आपसे एक विनती करूँगा—मार्ग कठिन है, आप किस प्रकार जायेंगे ? आगे सात समुद्र हैं जो अत्यन्त गहरे और अदृश्य हैं। उनके घड़ियाल और मगरमच्छ जीव मनुष्यों को खा जाते हैं। घोर लहरें इतनी उठती हैं जिनका सहना कठिन है। सौभाग्य से ही कोई व्यापारी उनसे पार होता है। हे राजा, तुमने सदैव महलों में सुखी जीवन व्यतीत किया है। अब किसलिये इतने दुःख सहने को तत्पर हो। सिंहलद्वीप में वह विरला ही पहुँच पाता है जिसने अपने प्राण हथेली पर रख लिये हों।

क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, मदिरा, और फिर जलपूर्ण किलकिला तथा मानसरोदक समुद्रों का अत्यधिक जल है। इन सातों समुद्रों को किसकी सामर्थ्य है जो जहाज़ पर

चढ़कर कर पार कर जाये। कौन इन पर पुल बाँधेगा !

शब्दार्थ—खाँगा = कमी। आनि = लाकर। महेसाईं = शिव के लिये। गोसाईं = स्वामी। जाव = जाना। असूझ = अदृश्य। घरियारा = घड़ियाल। निबहै = निर्वाह करना, यहाँ पार करने से तात्पर्य है। बेपारी = व्यापारी। जिउ = प्राण। बूत = शक्ति। अकूत = अत्यधिक।

(१४२)

गजपति यह मन सकती सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ॥
जौं पहिलें सिर दै पग धरई। मुए केर मीचुहि का करई॥
सुख सँकलपि दुःख साँवर लीन्हेउँ। तौ पयान सिंघल कहँ कीन्हेऊँ॥
भँवर जान पै कँवल पिरीती। जेहि कहँ बिथा पेम कै बीती॥
औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा॥
सात समुंद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती का गरुव पहारू॥
जेइँ पै जिय बाँधा सतु बेरा। बरु जिय जाइ फिरै नहि फेरा॥
रंगनाथ हौं जाकर हाथ ओहि के नाँथ।
गहें नाँथ सो खाँचै फेरे फिरै न माँथ॥१४२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन राजा गजपति से कहता है—

"हे गजपति ! हमारा मन हमारी शक्ति की सीमा है।" तात्पर्य यह है कि मन में ही इच्छा-शक्ति रहती है। कहा भी है—

"मन के हारे हार है मन के जीते जीत।"

शरीर तो केवल निमित्त मात्र है। किन्तु, खेद ! जिस मन में प्रेम होता है उसमें जान कहाँ होती है। हे राजा, जो पहले सिर देकर इस प्रेम मार्ग पर परिभ्रमण करता है वह तो पहले ही मर चुका है उसका मृत्यु भी भला क्या कर सकती है ? (इस भाव को जायसी ने बारम्बार व्यंजित किया है। यह सूफी भाव की एक दिशा है।) मैंने सुख का त्याग करके दुःख का सम्बल साथ लिया है और तब सिंहल द्वीप के लिये चल पड़ा हूँ। आशय यह है कि मैंने मिथ्या संसार छोड़ा है तभी सूक्ष्म प्राण लेकर दिव्य-प्रेम-पथ की तरफ अग्रसर हुआ हूँ। भौंरा ही उस कमल की प्रीत को जानता है जिसमें कैदी होकर उसकी मिलन यामिनी बीतती है—व्यथा से परिपूर्ण ! और जिसने प्रेम का सागर देखा है उसके लिये यह वाह्य (Objective) समुद्र या संसार बूंद के समान तुच्छ है। सातों समुद्रों को सत्य ने अपने पर आधारित कर रखा है। जैसे धरती के स्वाभिमान के भार को पर्वतों ने संभाल रक्खा है। जिसने अपने मन का बेड़ा सत्य के सेतु से बाँधा है चाहे उसका प्राण चला जाये वह फिरता नहीं है, प्रेम-पंथ नहीं छोड़ता। जिसके प्रेम रंग में मैं रंगा हूँ मेरे जीवन की नकेल उसी के हाथ में है। वही उसे पकड़े हुए है अर्थात् पद्मावती मुझे अपनी ओर खींच रही है। अतएव मेरा माथा मोड़ने से भी नहीं मुड़ता। सूर की गोपिकाएँ भी इसी तरह कहती हैं—

"तिरछे हैं जु अड़े……अब कैसेहु नहिं निकसत ऊधो !"

शब्दार्थ—पयान = प्रस्थान। सीउ = सीमा। मीचुहि = मृत्यु। संकलपि = दान देकर। साँवर = पाथेय या सम्बल। गरुव = स्वाभिमान, गौरव। रंगनाथ = प्रेमयोगी। नाँथ = नकेल, जोगी।

(१४३)

पेम समुँद अैस अवगाहा। जहाँ न वारपार नहिं थाहा॥
जौं वह समुंद काह एहि परें। जौं अवगाह हंस होइ तिरें॥
हौं पदुमावति कर भिखमंगा। दिस्टि न आव समुंद औ गंगा॥
जेहि कारन गियँ काँथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जाऊँ तेहि पंथा॥
अब एहि समुँद परौं होइ मरा। पेम मोर पानी कै करा॥
नर होइ बहा कतहुँ लै जाऊ। ओहि के पंथ कोइ लै खाऊ॥
असमनि जानि समुँद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निस्तरऊँ॥
सरग सीस धर धरती हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे लै लै उठहिं सो बुंद॥१४३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में गजपति से रत्नसेन कहता है—

प्रेम का समुद्र इतना विशाल है कि जिसकी आरपार और थाह पाना कठिन है। यदि सच्चा प्रेम है तो ये समुद्र क्या हैं ? यदि ये समुद्र गहरे गम्भीर हैं तो हंस बनकर इनको पार किया जा सकता है। मैं तो पद्मावती के दिव्य प्रेम रूप का भिखारी हूँ। अतः मुझे समुद्र अथवा गंगा की महत्ता दृष्टिगत नहीं होती।[1] जिसके प्रेम में मैंने गले में कथरी और झोली डाली है, वह दिव्यता मुझे जहाँ मिलेगी वहीं जाऊँगा। अब मैं प्रेम के समुद्र में डूबकर मरूँगा। प्रेम की कला से खेलना मेरी जलक्रीड़ा है। जैसे जल में मरे हुए व्यक्ति को पानी का वेग कहीं भी बहाकर ले जाय, इसी प्रकार मैं भी पद्मावती के प्रेम रूपी पथ पर प्रयाण करूँगा चाहे उस पथ पर मुझे कोई मारकर खा जाये। ऐसा विचार करके मैं समुद्र में डूबता हूँ यदि कोई जलचर मुझे खा लेगा तो शीघ्र मुक्ति पा जाऊँगा।

प्रेम के कारण मेरा मस्तक स्वर्ग में, धड़ धरती पर और हृदय प्रेम-समुद्र में डूबा है। मेरे नेत्र जलपक्षी कौडिल्ले की तरह इस प्रेम के सागर की बूँद-बूँद को चुन लेने के लिये मचल रहे हैं, डूबते उड़ते हैं। आशय है मेरे नेत्रों से अनवरत अश्रु बह रहे हैं।

ऊपर जायसी ने—**दिस्टि न भाव समुँद औ गंगा**—उक्ति में प्रेम का यही केन्द्रित

---

१. कहा जाता है कि मजनूँ लैला की तलाश में विक्षिप्त-सा हुआ मस्जिद के सामने से नमाँज को दरगुजर करके निकल गया। मुल्ला ने उसे पकड़कर क़ाफिर घोषित किया। सचेत होकर मजनूँ ने कहा—मौलाना, गुनहगार हूँ कि अपनी लैला के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं सूझता ! पर मुझे ताज्जुब है कि नमाज पढ़ते हुये मैं तुम्हें नजर आगया और तुम्हें तुम्हारा खुदा नजर नहीं आया !

भाव व्यक्त किया गया है।

विशेष—इस पद में जायसी ने सूफी प्रेम का "सालिक"वादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है कि मुहब्बत ही जिसके लिये सर्वस्व है—

Who best bear his mild yoke they love him best.

शब्दार्थ—अैस=ऐसा। अवगाहा=अगाध। हंस=यहाँ शुद्ध चेतन मन से अर्थ है। तिरे=पार हुये। निस्तरौं=उद्धार होना। कोड़िया=एक जलपक्षी, जो ऊपर से झपटकर मछली पकड़ता है।

(१४४)

कठिन बियोग जोग दुख डाहू। जरम जरत होइ ओर निबाहू॥
डर लज्या तहँ दुवौ गँवानी। देखै कछु न आगि औ पानी॥
आगि देखि ओहि आगिअ भावा। पानी देखि कै सौंहे धावा॥
जस बाउर न बुझाये बूझा। जौनिंहि भाँति जाइ का सूझा॥
मगर मच्छ डर हिएँ न लेखा। आपहिं जान पार भा देखा॥
औ न खाहिं ओहि सिघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया सँग न आथी। जेहि जिय सोंपा सोई साथी॥
जो कुछ दरब अहा सँग दान दीन संसार।
का जानी केहि के सत दैय उतारै पार॥१४४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन प्रेम-विरह की महत्ता का भाव प्रकट करते हुए कहता है—

योग वियोग के दुःख का दर्द-दाह कठिन होता है। जीवन भर जलते रह-कर ही उसे निभाना पड़ता है। भीति और लज्जा—प्रेम में दोनों गँवानी पड़ती हैं। प्रेम के दीवाने को आग और पानी का भय दिखलाई नहीं पड़ता। उसे प्रेम की आग को देखना ही अच्छा लगता है। वह प्रेम के जल को देखकर उसके सम्मुख दौड़ता है। जिस प्रकार पागल को कुछ भी कहा सुना जाय किन्तु वह कुछ नहीं समझता यही स्थिति प्रेमी की होती है। किसी भी तरह उसे कुछ नहीं दिखाई देता। उसके मन को मगरमच्छ का भय नहीं होता। वह बस अपना बेड़ा पार हुआ देखना चाहता है। प्रेमी को शेर और शार्दूल भी नहीं खाते, क्योंकि वह काठ से भी अधिक नीरस और निर्बल होता है। उसके लिये काया-माया का संग नहीं रहता। जिसको दिल दे देता है वही उसका हमदिल है।

जो कुछ सांसारिक द्रव्य उसके पास था वह उसने संसार को बाँट दिया। कौन जाने, दैव किसके सत्य बल से उसे पार उतारेगा!

शब्दार्थ—डाहू=दाह। जान=यान, जलपोत। जरम=जीवन भर। दुवौ=दोनों। गवाँनी=खोई। भावा=अच्छा। धावा=दौड़ा। बुझाये=समझाये। सुदूर=शार्दूल, चीता। झूरा=सूखा, नीरस।

(१४५)

धनि जीवन औ ताकर जिया। ऊँच जगत महँ जाकर दिया॥
दिया सो सब जप तप उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं॥
एक दिया तेइँ दसगुन लाहा। दिया देखि धरमी मुख चाहा॥
दिया सो काज दुहूँ जग आवा। इहाँ जो दिया उहाँ सो पावा॥
दिया करै आगें उजिआरा। जहाँ न दिया तहाँ अँधिआरा॥
दिया मँदिल निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥
हातिम करन दिया जौं सिखा। दिया अहा घरमन्हि महँ लिखा॥
निरमल पंथ कीन्ह तिन्ह जिन्ह रे दिया कछु हाथ।
किछु न कोइ लै जाइहि दिया जाइ पै साथ॥१४५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में ही रत्नसेन प्रस्तुत पद में दान की महत्ता प्रकट करता है।

प्रेम भी एक दान है—महादान ! उसका जीवन और प्राण धन्य है जिसका दान संसार में महत्तम है—ऊँचा है। दान, जप-तप से भी महान है। संसार में दान के समान कुछ नहीं। दान एक से दसगुना होता है। हम एक देके दस पाते हैं। दान देने वाले धर्मात्मा का सब मुँह देखना चाहते हैं। दान का कर्म दोनों लोक में उपयोगी है। जो इस लोक में दान देता है वह परलोक में उसे पाता है (मुसलमान होकर भी जायसी ने परलोक की थ्यौरी को माना है इससे बड़ी आस्था और क्या होगी) दानरूपी दिया भविष्य को प्रकाशित करता है। जहाँ दान रूपी दिया नहीं है वहाँ अँधेरा ही अँधेरा है। दान का दीपक रात को घर में प्रकाश करता है। जिस घर में दान का दीपक नहीं जलता उस घर की पूँजी चोर चुरा ले जाते हैं। आशय यह है कि दान न करने वाली आत्मा प्रेत है। हातिम और कर्ण ने दान देना सीखा; अतः उनका नाम धर्मात्माओं की अमिट सूची में लिखा गया।

कविवर जायसी कहते हैं कि उन्होंने अपने मार्ग को निर्मल बनाया है, जिन्होंने हाथ से दान दिया है। संसार में कोई कुछ साथ में नहीं ले जायेगा। किन्तु जो कुछ उसने दान दिया है वही परलोक में उसका साथ देगा।

विशेष—दिया शब्द की व्याख्या में इतना संश्लिष्ट और विशिष्ठ वर्णन पद हिन्दी साहित्य में ही नहीं, सम्भवतया अन्यत्र भी न मिले। इसमें जायसी की काव्य-प्रतिभा का महान परिचय व्यक्त होता है, और भारतीय संस्कृति के दान विश्वास के प्रति बड़ी आस्था भी !

शब्दार्थ—धनि = धन्य। दिया = दान, दीपक। उपराहिं = ऊपर, श्रेष्ठ। लाहा = प्राप्त किया। धरमी = धर्मात्मा। इहाँ-उहाँ = इहलोक, परलोक। हातिम = एक मुसलमान विशिष्ट दानी—कर्ण जैसा !

१४--बोहित खण्ड

(१४६)

सत न डोल देखा गजपती। राजा दत्त सत्त दुहुँ सती ॥
आपन नाहि कया पै कंथा। जीउ दीन्ह अगुमन तेहि पंथा ॥
निस्चै चला भरम डर खोई। साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई ॥
निस्चै चला छाड़ि के राजू। बोहित दीन्ह दीन्ह नै साजू ॥
चढ़े बेगि औ बोहित पेले। धनि ओइ पुरुष पेम पँथ खेले ॥
तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु सदा सुख बासू ॥
पेम पंथ जौं पहुँचे पाराँ। बहुरि न आइ मिले एहि छाराँ ॥

एहि जीवन कै आस का जस सपना तिल आधु।
मुहमद जिअतहि जें मरहिं तेइ पुरुष कहु साधु ॥१४६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के यात्रा सम्बन्धी दृढ़ विश्वास को सुनकर राजा गजपति ने सोचा कि रत्नसेन अपनी धारणा में अटल है। राजा के पास सत्य और दान, ये दोनों शक्तियाँ थीं। उसने अपने शरीर पर जो कथरी पहनी हुई थी वह भी उसकी नहीं थी। प्रेम-दान के मार्ग का अनुगमन करते हुए उसने अपना जीवन सर्वस्व दे दिया था। भ्रम और भय को खोकर वह निश्चिन्त होकर चला था। जायसी कहते हैं कि जहाँ साहस है वहीं सफलता है—सिद्धि है! ऐसा विचारकर, कि रत्नसेन निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये राज्य छोड़कर चला है, गजपति ने जहाज़ और अन्य बहुत से नये साज-सामान उसे प्रदान किये। रत्नसेन और उसके संगी योगी शीघ्रता से जहाज़ों पर चढ़े और जहाज़ बह चले। कविवर जायसी कहते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने प्रेम-पथ पर प्रस्थान किया है, उन्होंने श्रेष्ठ स्वर्ग प्राप्त किया है—वह स्वर्ग, जहाँ पर कि मृत्यु नहीं,—चिरन्तन सुख निवास करता है! प्रेम-पथ के लक्ष्य तक जो पहुँच जाता है वह इस धूलिमय संसार में फिर नहीं आता है—अमर हो जाता है, मिट्टी में नहीं मिलता।

कविवर जायसी कहते हैं कि इस जीवन से क्या आशाएँ की जायँ? इसका अस्तित्व तो ऐसा है जैसे आधे क्षण का स्वप्न हो। अपने को सम्बोधित करते हुए जायसी स्वयं कहते हैं कि हे मुहम्मद, प्रेमी बन, प्रेमी! प्रेम में जो जीते जी मर जाते हैं सच्चे साधु उन्हीं को कहा जाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने उपनिषद् के 'क्षणिकवाद' का भाव व्यंजित किया है, किन्तु कहीं पर उनके कवि को दार्शनिक हतप्रभ नहीं कर सका। पद की अन्तिम

पंक्तियों से यह बात पुष्ट है।

शब्दार्थ—डोल = चलायमान। दतसत = दान और सत्य। सती = शक्ति। अनुगमन = आगे बढ़कर। निस्चै = निश्चय। आपन = अपना। भरम = भ्रम। बोहित = जहाज़। नै = नये। बेगि = शीघ्र। पेले = चलाये। कबिलासू = स्वर्ग, सुखशाला। बहुरि फिर। तिल आध = आधा पल। जिअतहिं = जीते जी।

(१४७)

गजरथ रेंगि चलै गज ठाटी। बोहित चले समुँद गा पाटी॥
धावँहि बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं॥
समुँद अपार सरग जनु लागा। सरग न घालि गनै बैरागा॥
ततखन चाल्हा एक दिखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा॥
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी॥
राजा सेंति कुँवर सब कहहीं। अस अस मच्छ समूँद महँ रहहीं॥
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना॥
गुरु हमार तुम्ह राजा हम चेला औ नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै चेला राखै माँथ॥१४७॥

भावार्थ—कविवर जायसी राजा रत्नसेन के बेड़े का प्रस्थान वर्णन करते हैं—

जिस प्रकार हाथी जुता हुआ रथ धीरे-धीरे रेंगता हुआ-सा चलता है, वैसे ही रत्नसेन के जहाज़ धीरे-धीरे चलने लगे। उन जहाज़ों में समुद्र पट गया। जहाज मन की गति से भी तीव्र दौड़ने लगे। (अत्युक्ति) एक पल में वे हजार कोस तय करने लगे। उमड़ता हुआ समुद्र मानो आकाश छूना चाहता था। वैरागी राजा सोचने लगा कि कहीं आकाश न टूट पड़े। उसी क्षण एक छोटी मछली 'चाल्हा' दिखलाई पड़ी जो आकार में बड़ी दीख रही थी। लग रहा था मानो धौलागिरि पर्वत आ रहा हो। एक हिलोर उठी मानो चाल्हा मछली रुष्ट होगई है। लगा, वह मछली रूपी लहर आकाश छूकर पुनः पृथ्वी पर आ गिरी। (भ्रांति है) यह देखकर समस्त राजकुमारों ने राजा से पूछा—क्या समुद्र में ऐसे-ऐसे मत्स्य जीव रहते हैं ? राजा ने उत्तर दिया—हाँ, हाँ ऐसे ही रास्ते पर तो हम जाना चाहते हैं, सब लोग दृढ़ सजग हो जाओ। लौटने की परिकल्पना मत करो।

इस पर सब राजकुँवरों ने कहा—हे राजा, तुम हमारे गुरु हो। हम तुम्हारे शिष्य जोगी नाथ हैं। जहाँ गुरु पैर रखता है वहीं चेले का मस्तिष्क झुकता है। हम तुम्हारे इस आदेश का पालन करेंगे।

शब्दार्थ—गजठाटी = हाथियों में जुटा रथ। बोहित = जहाज। पाटी = पट जाना। धावहिं = दौड़ना। सहस = हज़ार। चाल्ह = एक प्रकार की मछली। घालि = डालकर। बाजी = पहुँचा। सेंति = से। माँथ = माथा। सँजूत = सावधान। बहुरि = फिर।

(१४८)

केवट हँसे सो सुनत गवेंजा। समुँद न जान कुँआ कर मेंजा॥

यह तो चाल्ह न लागै कोहू। काह कहौ जौ देखहु रोहू ।।
अबहीं तौ तुम देखे नाहीं। जेहि मुख ऐसे सहस समाहीं।।
राजपंखि तिन्ह पर मँडराहीं। सहस कोस जिन्ह की परिछाहीं ।।
ते ओहि मच्छ ठोर गहि लेहीं। सावक मुख चारा लै देहीं।।
गरजै गँगन पंख जौं बोलहिं। डोलै समुँद डहन जौं खोलहिं ।।
तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा। चढ़ै सो जो अस अगुमन बूझा।।
दस महँ एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम ।
बोहित पार होइ जौं तौ कूसल औ खेम ।।१४८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पूर्व पद की चर्चा को सुनकर केवट हँसे और सोचने लगे कि भला कुएँ का मेढ़क समुद्र की बात क्या जाने ! उन्होंने बतलाया कि चाल्ह मछली है जिस पर तुम भय-विस्मय कर रहे हो। यह तो किसी को नहीं सताती। यदि रोहू मच्छ देखोगे तो क्या कहोगे ? अभी तो तुमने वह मत्स्य जीव नहीं देखा जिसके मुख में ऐसे हज़ार रोहू समा जायें। उनके ऊपर इतने बड़े-बड़े पक्षीराज मँडराते हैं कि जिनकी छाँह, हज़ारों कोस तक घिर जाती है। वे राजपक्षी इस बड़े रोहू मच्छ को सहज पकड़ लेते हैं और अपने शिशु-शावकों को खिलाते हैं। वे पक्षी जब बोलते हैं तो आकाश गरज उठता है। वे जब अपने डैने फैलाते हैं तो समुद्र उद्वेलित हो जाता है। (अत्युक्ति वर्णन है) जहाँ न चाँद हैं न सूरज हैं, उस स्थान तक वही पहुँच सकता है जो इस समुद्र के गंभीर रहस्य को भविष्य में समझता चले। तात्पर्य यह है कि यह प्रेम का समुद्र भयानक है। निडरता से इसको पार करना ही इसके रहस्य को समझना है और इष्ट को प्राप्त कर लेना है।

दस चलते हैं तब कोई एक सत्यकर्म, सत्यधर्म, सत्यनियम के बल पर वहाँ पहुँचता है। सही सलामत जब जहाज़ पार पर पहुँच जाय तभी कुशल क्षेम समझनी चाहिए।

शब्दार्थ—केवट = खेवनहार। गवेज = चर्चा। मेजाँ = मेढ़क। राजपंखि = गरुड़ या वैनतेय।

(१४९)

राजें कहा कीन्ह सो पेमा। जेहि रे कहाँ कर कूसल खेमा ।।
तुम्ह खेवहु खेवै जो पारहु। जैसें आपु तरहु मोहि तारहु ।।
मोहि कूसल कर सोच न ओता। कूसल होत जौं जनम न होता।।
धरती सरग जाँत पर दोऊ। जो तेहि बिच जिय राख न कोऊ।।
हाँ अब कुसल एक पै माँगों। पेम पंथ सत बाँधि न खागौं ।।
जौं सत हिएँ तो नेनन्ह दिया। समुँद न डरे पैठि मरजिया ।।
तहँ लगि हेरौं समुँद ढँढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी।।

सप्त पतार खोजि जस काढ़े बेद गरंथ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदुमावति जेहि पंथ ॥ १४६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में केवट के कुशल क्षेम की बात को सुनकर राजा रत्नसेन ने कहा—

जिसने प्रेम किया है उसकी कुशल क्षेम कैसी ? जिस तरह से पार उतरें, उस तरह जहाज़ को बस खेवो ! ऐसा करने से तुम भी लक्ष्य तक पहुँचोगे और मैं भी। मुझे अपनी कुशल की उतनी चिन्ता नहीं है। मुझे कुशल क्षेम नहीं चाहिए। यदि कुशल क्षेम ही होती तो इस संसार में जन्म न होता। (जायसी ने यहाँ आवागमन की दुःखमय स्थिति के प्रति संकेत दिया है।) धरती और आकाश दोनों चक्की के पाटों की तरह यंत्रवत घूम रहे हैं। जो इन दोनों के बीच में है, वह मृत्युलोक में है, उसका प्राणान्त अवश्य होगा। उसे मृत्यु से कौन बचा सकता है ? हाँ एक कुशल भी माँगना चाहता हूँ कि प्रेम मार्ग का सत्य ग्रहण कर लूँ, उससे रिक्त न रहूँ। यदि हृदय में सत्य प्रेम है तो नेत्रों में मार्गदर्शक दीपक जलता है। उस दीपक के बल पर मनुष्य एक चतुर ग़ोताखोर की तरह प्रेम-सागर में डुबकी लगाता है। उस ग़ोताखोर की भाँति मैं भी पद्मावती रूपी रत्न को खोज पाने के लिये समुद्र में डूबूँगा और तब तक जब तक कि मेरी उससे जोड़ी न मिल जायेगी अपना निश्चय नहीं तोड़ सकता।

मत्स्य अवतार में विष्णु ने जैसे सात पाताल खोदकर वेद ग्रंथ निकाले थे उसी प्रकार मैं भी सातों आकाश पर चढ़ूँगा और उस पथ पर चलूँगा जिस पर चलकर पद्मावती की प्राप्ति कर सकूँगा।

शब्दार्थ—कूसल खेमा = कुशल क्षेम। ओता = उतना। जाँत = यम, चक्की। खाँगो = कमी। मरजिया = गोताखोर। ढँढोरी = खोज।

१५--सात समुद्र खण्ड

(१५०)

सायर तिरै हिएँ सत पूरा। जौ जियँ सत कायर पुनि सूरा॥
तेंहि सत बोहित पूरि चलाए। जेंहि सत पवन पंख जनु लाए॥
सत साथी सत कर सहवाँरू। सत्त खेइ लै लावै पारू॥
सतै ताक सब आगू पाछू। जहँ जहँ मगर मच्छ औ काछू॥
उठै लहरि नहिं जाइ संभारा। चढ़ै सरग औ परै पतारा॥
डोलहिं बोहित लहरें खाहीं। खिन तर खिनहिं होंहि उपराहीं॥

राजैं सो सतु हिरदैं बाँधा। जेहि सत टेकि करे गिरि काँधा।।
खार समुँद सो नाँघा भए समुँद जहँ खीर।
मिले समुँद वे सातौं बेहर बेहर नीर।। १५०।।

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी सत्य की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

जिसका अंतःकरण सत्य से भरपूर है वह सागर को भी पार कर जाता है। जब मन में सत्य है तो फिर भीरु भी बहादुर बन जाता है। उसी सत्य को भरकर राजा ने जहाज़ों को चलाया। जिसके पास सत्य है मानो उसके हवा के पंख लगे हुये होते हैं। तात्पर्य है कि वह बहुत कठिनाई को भी पार कर जाता है। सत्य ही साथी है और वही सहायक पाथेय भी ! जो सत्य से अपने जीवन का जहाज़ खेता है वह भव-सागर पार कर जाता है। सत्य के आगे पीछे सर्वत्र साथी हैं। जहाँ-जहाँ मगरमच्छ और कछुवे हैं सत्य उन भयानक दृश्यों को देख लेता है। समुद्र में भीषण और असहनीय लहरें उठती हैं; आकाश चूमती हैं और पाताल में धँसती हैं। लहरों के थपेड़े खाकर जहाज़ डगमगाते हैं। पल-पल में वह डाँवा-डोल होते हैं—नीचे-ऊपर होते हैं। राजा ने दृढ़ता से जयी सत्य को हृदय से जकड़ रखा है; उस सत्य को जिसके आधार पर पर्वत के बोझ को भी कंधे पर उठाया जा सकता है।

खारा समुद्र पार कर लिया गया। सभी क्षीर-सागर में आ पहुँचे। कविवर जायसी कहते हैं कि ये सातों समुद्र एक हैं। केवल उनके जल में अन्तर है। आशय यह है कि सब कुछ सत्य से व्याप्त है।

विशेष—सत्य की महिमा का कविवर जायसी ने यहाँ विशिष्ट महत्व प्रतिपादित किया है। 'सत्यमेव जयते' उक्ति की मानो उनकी यह व्याख्या है।

शब्दार्थ—सायर=सागर। पूरि=पूर्ण। कायर=भीरु। सहिवारू=पाथेय, सम्बल। काछु=कछुवे। टेकि=आधार। काँधा=कँधे। खीर=क्षीर। नाँघा=पार किया।

(१५१)

खीर समुँद का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू।।
उलथहिं मोंती मानिक हीरा। दरब देखि मन धरै न धीरा।।
मनुवाँ चहै दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू।।
जोगी मनहिं ओहिं रिस मारहिं। दरब हाथ कै समुँद पबारहिं।।
दरब लेइ सो अस्थिर राजा। जो जोगी तेहि के केहि काजा।।
पंथहि पंथ दरब रिपु होई। ठग बटवार चोर सँग सोई।।
पंथिक सो जो दरब सों रूसै। दरब समेटि बहुत अस मूसै।।
खीर समुँद सों नाँघा आये समुँद दधि माँह।
जो हहिं नेह के बाउर ना तिन्ह धूप न छाँह।।१५१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में ही कविवर जायसी कहते हैं कि क्षीर समुद्र के

जल का मैं क्या वर्णन करूँ ? वह श्वेत वर्ण है और पीने में दूध जैसा। मोती, माणिक, हीरा उसके ऊपर तैरते हैं। उसकी द्रव्यराशि को देखकर मन लोलुप हो जाता है। मनुष्य का मन द्रव्य और भोग चाहता है, अतः अपने सत्यमार्ग को भूल जाता है और योग साधना को नष्ट कर जाता है। पर जो जोगी है, वह मन के क्रोध-विकार को जीत लेता है। वह अपने हाथ के मिथ्या द्रव्यों को भी सागर में फेंक देता है। जो चलायमान लोलुप राजा है वही द्रव्य लेता है, किन्तु वह द्रव्य, जो योगी है, उसके किस काम का ? योगी पथिक होता है। द्रव्य के मार्ग पर दुश्मन मिलते हैं। जिसके पास द्रव्य है, ठग, लुटेरे और चोर उसका पीछा करते हैं। सच्चा पथिक वही है, द्रव्य से जिसका वीतराग है। द्रव्य को केन्द्रित करने में, ऐसे बहुत से, लुटेरों द्वारा लूट लिये गये हैं।

कविवर जायसी कहते हैं कि वह क्षीर-समुद्र को पार कर सारे दधि-समुद्र में आये। ठीक है, जो प्रेम में पागल हैं उनके लिये न धूप धूप है और न छाँह छाँह !

शब्दार्थ—सेत = सफेद। नीरु = पानी। उल्थहिं = तैरते हैं। दरब = द्रव्य। मनुवा = मानव या मन। पबारहि = फेंकते हैं। अस्थिर = चलायमान। रूसै = विरक्त। मूसै = चुराना।

(१५२)

दधि समुँद्र देखत मन डहा। पेम क लुबुध दगध पै सहा॥
पेम सों दाधा धनि वह जीऊ। दही माहिं मथि काढ़ै घीऊ॥
दधि एक बूँद जाम सब खीरु। काँजी बुंद बिनसि होइ नीरु॥
स्वाँस दहेड़ि मन मँथनी गाढ़ी। हिएँ चोट बिनु फूट न साढ़ी॥
जंहि जियँ पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी॥
पेम कि आगि जरै जौं कोई। ताकर दुःख न अँबिरथा होई॥
जो जानै सत आपुहि जारै। नित हिएँ सत करै न पारै॥
दधि समुद्र पुनि पार भे पेमहि कहाँ संभार।
भावै पानी सिर परौ भावै परौं अँगार॥१५२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

दधि-समुद्र को देखते ही मन दहक उठा। किन्तु प्रेम का लुभाया हुआ जलन भी सह लेता है। कविवर जायसी कहते हैं कि वह प्राण धन्य है जो प्रेम से जला है। प्रेमी ही कठिनाई सहकर अथवा दही को मथकर उसमें से घी निकाल सकता हैं, तत्वरूप ईश्वर को पा सकता है। दही की बूंद भर से ही सब दूध जम जाता है। और इसके विपरीत खटाई की एक बूंद से दूध फट जाता है। तात्पर्य यह है कि जब दही रूपी अन्तर-सागर मथा जायेगा तभी सार ग्रहण हो सकता है। श्वाँस रई की डोर है, मन दृढ़ मथानी है और प्राण दही से भरी हुई मटकी। मन रूपी मथानी से प्राण रूपी मटकी में भरे हुए प्रेम-दधि की मलाई पर जब तक चोट नहीं की जाती वह नहीं फूटती और तब तक स्नेह का घी (तत्वरूप) उपलब्ध नहीं होता। (रूपक अलंकार) जिसके हृदय में प्रेम है, उसके लिए अग्नि

भी चंदन की भाँति शीतल हो जाती है। जो हृदय प्रेम से विहीन हैं, वही आग अथवा कठिनाई से डरकर भागते हैं। प्रेम की आग में जो दहता है उसकी व्यथा व्यर्थ नहीं जाती। जिसने सत्य को जाना है उसने अपने को जला डाला है। सत्यहीन हृदय निर्बल है, वह सत्य को कभी नहीं जान सकता, उसपर नहीं चल सकता।

कविवर जायसी कहते हैं कि फिर वे सब लोग दधि के समुद्र से पार हुए। प्रेम में द्विधा या रुकावट को स्थान कहाँ है! प्रेम के राही के सिर पर चाहे पानी गिरे, अंगारे बरसें पर वह रुक नहीं सकता।

शब्दार्थ—डहा = जला। लुबुध = लुभाया। पेमक = प्रेम का। दगध = दाह। सों = से। दाधा = जला हुआ। धनि = धन्य। जिउ = प्राण। माहि = में से। काढ़ि = निकाले। काँजी = खटाई। विनसि = फट जाना। दहेड़ि = मटकी। मँथनी = मथानी। विहून = रहित। साढ़ी = मलाई। अँबिरथा = व्यर्थ। जारै = जलावै। निसत = सत्य रहित। भावै = चाहे।

(१५३)

आए उदधि समुंद अपाराँ। धरती सरग जरै तेहि झाराँ॥
आगि जो अपनी ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
विरह जो उपना वह हुत गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत तस बाढ़ा॥
जोंहि सो बिरह तेंहि आग न डीठी। सौंह जरै फिरि देइ न पीठी॥
जग महँ कठिन खरग कै धारा। तेंहि ते अधिक बिरह कै झारा॥
अगम पंथ जौं अैस न होई। साध किएँ पावत सब कोई॥
तेहि समुंद महँ राजा परा! चहै जरै पै रोवँ न जरा॥
तलफै तेल कराह जिमि इमि तलफै तेहि नीर।
वह जो मलैगिरि पेम का बुंद समुंद समीर॥ १५३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

फिर वे सब गहरे उदधि-समुद्र में आ पहुँचे। उसकी लपटों से धरती और आकाश जल रहे थे। उस समुद्र से जो आग उठी उसकी एक बूंद या चिंगारी से सारी लंका जल गई। जो कठोर प्रेम था उसकी विरह ज्वाला भी इसीसे उत्पन्न हुई। वह प्रेम-विरह-ज्वाला के रूप में, इस जगत में, इतना बढ़ा कि क्षण भर के लिये भी संसार से बुझाया नहीं गया। जिसके मन में इसके विरह की आग जली है उसे वह आग दृष्टिगत नहीं होती। जो जलता है, जलता है—पर उस ज्वाला की ओर से पीठ नहीं करता। वैसे संसार में खड्ग की धार कठिन कही जाती है पर विरह की लपट तो उससे भी अधिक कठिन है। यदि प्रेम का मार्ग इतना विकट न होता तो सभी उसे इच्छा मात्र करके ही पा लेते। उसी समुद्र में राजा पड़ा हुआ था—उसमें जल जाना चाहता था, पर उसका रोवाँ भी न जलता था।

जैसे कड़ाह में उछलता हुआ तेल कड़कड़ करता है, इसी प्रकार उदधि-समुद्र का

पानी उबल रहा था। किन्तु जो प्रेम का मलयगिरि अर्थात् राजा रत्नसेन है उसके लिये तो वह विकट सागर एक बूंद सा तुच्छ है।

शब्दार्थ—उदधि=सागर। झारॉं=लपटें। उपनि=पैदा हुई। ओहि=उस। डीठी=दृष्टि। खरग=तलवार, खड्ग। गाढ़ा=भयानक। तलफै=गरम होकर, उबलना। जिमि=जैसे। इमि=ऐसे। मलयगिरि=पर्वत, यहाँ रत्नसेन से तात्पर्य है।

(१५४)

सुरा समुँद पुनि राजा आवा। महुआ मद छाता देखरावा॥
जो तेहि पिअै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै पँथ पैगु न देई॥
पेम सुरा जेहि के जिय माहाँ। कत बैठे महुआ की छाहाँ॥
गुरु के पास दाख रस रसा। बैरि बबूर मारि मन कसा॥
विरहैं दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह जस काठी॥
नैन नीर सों पोती किया। तस मद चुआ बरै जनु दिया॥
बिरह सरागन्हि भूँजै माँसू। गिरि गिरि परहिं रकत के आँसू॥
मुहमद मद जो परेम का किएँ दीप तेहि राख।
सीस न देइ पतँग होइ तब लगि जाइ न चाख॥ १५४॥

भावार्थ—पूर्वोक्त पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

फिर राजा सुरा समुद्र में आया, जिसमें महुवे के पुष्पों का मधुपूर्ण छत्ता तैरता हुआ दृष्टिगत होता था। जो उसका जल पीता है, बेहोशी के चक्कर लेने लगता है। उसका सिर फिर जाता है, पागल हो जाता है। और वह पग भर पथ पर नहीं चल सकता। कवि जायसी कहते हैं कि जिसके मन में प्रेम की सुरा बसी है वह भला महुवे का मधु क्यों ग्रहण करेगा—क्यों आश्रय लेगा? राजा ने अपने गुरु से अंगूर का रस पिया था, और उसीके कहने से मार्ग के कँटीले, बेरी और बबूल की उलझनों से बचकर अपने मन को वश में किया। तात्पर्य यह है कि रत्नसेन को सुग्गे ने पूर्व ही दिव्य-प्रेम का अमृत पिलाकर सांसारिक बेरी, कीकर रूपी माया की उलझनों से मुक्त कर दिया था। यहाँ जायसी ने शंकर का मायावादी दृष्टिकोण काव्यात्मक सरसता से व्यक्त किया है। "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**!" रत्नसेन ने विरह की दग्धता को आग, और शरीर को भट्टी बना दिया था और उसमें अपनी हड्डियों को जलाने का ईंधन बना दिया था।

नेत्रों से झरने वाले आँसू को उसने पोती या पुचारा बना दिया था। उससे चूता हुआ मद मानो दीपक सा जलता था। राजा विरह की शलाकों पर अपने शरीर का मांस कबाब की भाँति भूनता था। उसकी आँखों से रक्त की बूँदें आँसू बन-बनकर टपक रही थीं।

अपने आपको सम्बोधित करते हुए जायसी कहते हैं कि हे मोहम्मद! जो प्रेम का मद है उसके स्वाद के लिये, अपने प्रेम-दीपक को तब तक जला जब तक कि तू सर्वस्व जल-जलकर पतंगे की तरह खाक न हो जाए। जब तक पतंगा शिखा के ऊपर अपना सर्वस्व होम नहीं करेगा तब तक उसके प्रेम-मधु का पान नहीं कर सकता।

विशेष—सूफी इश्क वर्णन के अनुसार जायसी ने इस पद में प्रेम-भाव में वीभत्सता का आकलन किया है जो अधिक श्रेष्ठ नहीं कहा जायेगा। तथापि उनकी अनुभूति में चोट गहरी है। अतः वह हृदय सापेक्ष है। कुछ इस प्रकार प्रेम में बलिदान की महत्ता को गाँधी जी भी स्वीकार करते हैं—

"It is not possible to see God 's face unless you cursify the flesh" और जायसी की ये उक्ति—"**विरह सरागनि भूंजे माँसू**" इसी बात की साक्षी है।

शब्दार्थ—महुआ=एक फूल। भाँवरि=नशे की खुमारी। पैगु=पाँव। कत=कैसे। सरागन्हि=मुसलमानों की कबाब भूनने वाली शलाख। मुहम्मद=स्वयं जायसी। चाख=स्वाद। पोती=पुचार।

(१५५)

पुनि किलकिला समुँद महँ आए। किलकिल उठा देखि डरु खाए॥
गा धीरज वह देखि हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत की नाईं। होइ फिरै जोजन लख ताईं॥
धरती लेत सरग लहि बाढ़ा। सकल समुँद जानहु भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। महनारंभ समुँद जस होई॥
फिरत समुँद जोजन लख ताका। जैसें फिरै कुम्हार क चाका॥
भा परलौ निअराएन्हि जबहीं। मरै सो ताकर परलौ तबहीं॥
जैं अवसान सबहिं कै देखि समुँद कै बाढ़ि।
निअर होत जनु लीलै रहा नैन जस काढ़ि॥१५५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

फिर वे सब किलकिला समुद्र में पहुँचे। उसकी किलकिल की भयानक ध्वनि-गर्जन को उठते देखकर वे सब भय में आ गए। उसकी उमड़ती हुई भयानक लहरों को देखकर सबका धैर्य छूटने लगा। लगता था, मानो आकाश चारों ओर से टूटकर गिरना चाहता है। पर्वत-सी ऊँची वे लहरें, उठती थीं, आगे बढ़कर लाख योजन से वह घूमती हुई फिर पीछे पलटती थीं। धरती से आकाश तक वह उमगती थी; यों लगता था मानो सारा सागर एक बारगी खड़ा होगया है। पानी का मन्थन इस भाँति होता था जैसे समुद्र मन्थन का बड़ा आयोजन हो रहा हो। समुद्र लाख योजन तक परिव्याप्त था। और ऐसा दीखता था ज्यों कुम्हार का चाक घूमता हुआ दीखता है। जब सब उसके निकट आए तो मानो प्रलय ही हो गई—ऐसा उन्हें लगा। जो जहाँ मरता है, कविवर जायसी कहते हैं कि उसकी तो वही, और बस वहीं पर मौत या प्रलय है? आशय यह है कि सभी को इस सागर में अपनी मृत्यु लग रही थी।

समुद्र का ऐसा भयानक एवं विस्तृत दृश्य देखकर सबका साहस एवं होशहवास जाता रहा। ऐसा लगता था, मानो निकट पहुँचते ही समुद्र उन्हें निगल जायगा; और

क्रोध में मानो इसी भाव से सागर उनकी ओर अपने क्रूर नेत्र निकाल रहा था।

विशेष—प्रकृति का यह भयानक चित्रण अत्यन्त संश्लिष्ट है। कामायनी के आरंभिक सर्ग में प्रलय की स्थिति का प्रसाद ने भी ऐसा ही कुछ चित्रण किया—देखिए,

"सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिंधु के, विचलित-सी
व्यस्त महाकच्छप-सी धरणी,
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।"

—(चिंता सर्ग)

शब्दार्थ—पुनि=फिर। गॅह=में। किलकिला=जायसी के अनुसार एक कल्पित सागर का नाम। किलकिल=भयानक सागर की ध्वनि। हिलोरा=लहरें। महनारंभ=समुद्र मंथन का आयोजन। परलौ=प्रलय। निअराएन्हि=पास आए। अवसान=साहस या होशहवास। लीलै=निगल जाना।

(१५६)

हीरामन राजा सौं बोला। एही समुँद आइ सत डोला॥
एहि ठाउँ कहँ गुरु सँग कीजै। गुरु सँग होइ पार तो लीजै॥
सिंघल दीप जो नाहिं निबाहू। एही ठावँ साँकर सब काहू॥
यह किलकिला समुंद गँभीरू। जेहि गुन होइ सो पावै तीरू॥
एही समुँद पँथ मँझधारा। खाँडै कै असि धार निनारा॥
तीन सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा॥
खाँडै चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातरि पतराई॥
मरन जिअन एही पंथ एही आस निरास।
परा सो गया पतारहि तिरा सो गा कबिलास॥१५६॥

भावार्थ—किलकिला समुद्र की भयानक स्थिति को देखकर जब राजा रत्नसेन एवं उसके सहयात्री प्रताड़ित होने लगे उस समय गुरू रूप हीरामन तोते ने सत्य ज्ञान का उपदेश यों दिया—

हीरामन तोते ने राजा से कहा कि इसी सागर पर पहुँचकर सतपथ के यात्रियों का अथवा साधकों का सत्य कम्पायमान हो जाता है। इसी दुर्गम स्थान एवं स्थिति के लिये तो गुरु किया जाना अनिवार्य होता है। गुरु साथ होता है तभी तो पार पाई जा सकती है। सिंहलद्वीप, आशय यह कि परमेश्वर के लोक तक जो नहीं पहुँचा जाता उसका कारण यही है कि इस स्थान पर सबको संकट में पड़ना पड़ता है। यह किलकिला सागर बड़ा गहरा है। जो गुणवान, योगी होता है वही इसका छोर पाता है—लक्ष्य तक पहुँचता है। इस सागर के मँझधार ही में से मार्ग जाता है जो तलवार की धार-सा पतला-पैना है। इसका पाट बीस सहस्र कोस चौड़ा है; किन्तु संकीर्ण इतना कि चेंटा भी नहीं रेंग सकता। उसका पैनापन तलवार की अपेक्षा अधिक पैना और पतलापन बाल की अपेक्षा अधिक पतला है।

इसी मार्ग पर जीवन मरण है ! यही संसार की आशा निराशा का उद्गम—अनुभव स्थल प्रतीत होता है। जो इसमें गिरा वह पाताल पहुँचता है; और जिसने इसे पार किया तो बस, वह स्वर्ग पहुँच गया !

शब्दार्थ—ठाउँ=स्थान। निबाह=यहाँ अर्थ पहुँच है। साँकर=संकट। निनारा=तेज, पैना या पतला आशय है कि तलवार की धार के समान तेज, अलग प्रतीत होने वाला। पाटा=फाँट। चाँटा=चैंटा। चाहि=अपेक्षा। पैनाई=पैनापन। बार=बाल। गा=गया।

नोट :—एक पद जो अप्रमाणिक माना जाता है वह यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस पद का भावार्थ सरल है; अतः देना अनावश्यक है। यह पद पूर्व पदों के प्रसंगानुकूल भी ठीक नहीं बैठता।

राजै दीन्ह कटक कहँ बीरा। पुरुष होहु करहु मन धीरा ।।
ठाकुर जेहिक सूर भा कोई। कटक सूर पुनि आपुहि होई ।।
जौ लग सत न जिउ सत बाँधा। तौ लहि देइ कहार न काँधा ।।
पेम समुद्र मँह बाँधा बेरा। यह सब समुद बूंद जेहि केरा ।।
ना हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोंहि नरक सेंति किछु काजू ।।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा। जेहि मोहि आनि पेम पथ लावा ।।
काठहि काह गाढ़ का टीला। बूढ़ न समुँद गमर नहीं लीला ।।
कार समुद धँसि लीन्हेसि भा पाछे सब कोइ।
कोई काहू न संभारै आपनि आपनि होइ ।।

(१५७)

कोइ बोहित जस पवन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु बर जाहीं ।।
कोई भल जस धाव तुखारा। कोई जैस बैल गरिआरा ।।
कोई हरुव जनहुँ रथ हाँका। कोई गरुव भार तें थाका ।।
कोई रेंगहि जानहु चाँटी। कोई टूटि होंहि सिर माँटी ।।
कोई खाहिं पवन कर झोला। कोई करहिं पात जेउँ दोला ।।
कोई परहिं भँवर जल माँहा। फिरत रहहिं कोइ देहिं न बाहाँ ।।
राजा कर अगुमन भा खेवा। खेवक आगें सुवा परेवा ।।
कोइ दिन मिला सबेरे कोइ आवा पछिराति।
जाकर साज जैस हुत सो उतरा तेहि भाँति ।।१५७।।

भावार्थ—पूर्व समुद्र-यात्रा-वर्णन के प्रसंग में ही, प्रस्तुत पद में कविवर जायसी लिखते हैं:—

कोई जहाज़ ऐसी तीव्र गति से जलता था जैसे हवा की गति होती है। कोई बिजली की चमक की भाँति चलता था। तो कोई तुखारी घोड़े की भाँति तीव्रगामी था। कोई गादर बैल जैसा चलता था, तो कोई ऐसे धीरे-धीरे चलता था जैसे हल्का रथ हाँका

जा रहा हो। कोई ऐसी ऐसी ठहरी सी गति से चलता था कि जैसे भारी बोझ से थककर ठहरा सा हो। कोई चींटी की भाँति रेंगता था। कोई टूटकर, उसका मस्तूल मिट्टी में गढ़ जाता था। कोई हवा के झकोरे खाकर झूलता था। कोई पत्ते की भाँति हिल रहा था। कोई जैसे जल-भँवर में पड़कर घूम रहा था, उसे कोई अवलम्ब भी न देता था। राजा का जहाज़ सबसे आगे था और उसका खेवनहार हीरामन तोता उसके भी आगे बैठा था।

उन सबमें किनारे पर कोई दिन के सवेरे मिला, कोई रात के पिछले पहर में। जिसकी जैसी स्थिति थी वह उसी भाँति किनारे पर जा लगा था।

विशेष—यहाँ विभिन्न साधकों की साधनावस्था का समासोक्ति से वर्णन लक्ष है।

शब्दार्थ—बोहित=जहाज़। बीजु=बिजली। बर=बल। तुखारा=तुखारी घोड़ा। गरियारा=गादर। हरुअ=हलका। गरुव=भारी। थाका=थक गया। झोला=झोटा। पात=पत्ता। अगुमन=आगे। खेवा=जहाज।

(१५८)

सतएँ समुँद मानसर आए। सत जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सोहावा। हियँ हुलास पुरइनि होइ छावा॥
जा अँधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनुसार किरन रवि फूटी॥
अस्तु अस्तु साथी सब बोले। अंध जो अहे नैन बिधि खोले॥
कँवल बिगस तहँ बिहँसी देही। भँवर दसन होइ होइ रस लेहीं॥
हँसहि हंस औ करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुकताहल हीरा॥
जौं अस साधि आव तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥
भँवर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवल रस आइ।
गुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ॥१५८॥

भावार्थ—समुद्र यात्रा का वर्णन करते हुए कविवर जायसी कहते हैं---

अन्त में वे सातवें समुद्र, मानसर में आ पहुँचे। सत्य-साहस के फलस्वरूप उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। मानसर का मनोरम स्वरूप देखकर उन्हें जो सुख-आनन्द हुआ वही हृदय का हर्ष मानसर में कमल-पत्र की भाँति प्रस्फुटित हो गया। अन्धकार मिट गया और रात की तमिस्रा मिट गई। प्रातःकाल हुआ। सूर्य की किरणें बिखर गई। उजाला हो गया। सभी साथियों ने "वह है······वह है" या "अस्तु अस्तु" की ध्वनि उच्चरित की—और कहा, हमारे अंध-नयनों को प्रभु ने खोल दिया है? वहाँ का वह प्रस्फुटित कमल देखकर उनका शरीर भी निर्मल और पुलकायमान हो गया। उनके नेत्र भौरे से बनकर उस कमल की शोभा का मानो रस पीने लगे। सब हँसते और क्रीड़ा करते थे। हंस हीरे मोती एवं रत्नों को चुन-चुग रहे थे। कविवर जायसी कहते हैं कि जो राजा की तरह तप-भोग करके आता है वही यहाँ मानसर के आनन्द-भोग की आशा का पूर्ण रस-भोग कर पाता है।

देखो, भौंरे ने मन में मानसर का संकल्प किया तभी तो उसने वहाँ आकर कमल-रस का पान किया है। इसके विपरीत, घुन अपने हृदय में ऐसा साहस नहीं कर सका, अतः शुष्क काठ को खाकर व्यर्थ ही जीता-मरता है।

विशेष—रूपक और समासोक्ति के द्वारा कवि ने यहाँ आध्यात्मिक भाव की अभिव्यंजना की है कि "**अस्तु अस्तु सब साथी बोले—'अंध जो अहै नैन विधि खोले।"** स्पष्ट ही यहाँ ईश्वर का आध्यात्मवादी भाव व्यंजित है। 'मानसर' की कल्पना भी अपने आध्यात्मिक अर्थ में पूर्ण है; और हंस भी जीवात्मा का प्रतीक है। कहा भी है—"**उड़ जायगा हंस अकेला, तू बन बाबा का चेला!**" यहाँ योग पंथ का दर्शन-तत्व काव्य-रूप में ढल सका है। ऐसी अभिव्यक्तियें जायसी में अत्यधिक पाई जाती हैं। लगता है, वे सूफी एवं योग सिद्धान्तों से ही पूरी तरह प्रभावित थे।

शब्दार्थ—पुरइन=कमलपत्र। मसि=कालिमा। भिनुसार=प्रातःकाल। अस्तु =है, यहाँ ईश्वर के होने की स्वीकारोक्ति है। दार्शनिक सिद्धान्तों में ईश्वर के प्रति आस्ति एवं नास्ति का मंथन बहुत जटिल है। करीरा=कीड़ा। मुक्ताहल=मोती। मनसा=संकल्प। हियाव=साहस। झूर=शुष्क।

१६--सिंघल द्वीप खण्ड

(१५६)

पूँछा राजें कहु गुरु सुवा। न जनौ आजु कहाँ दिन उवा।।
पवन बास सीतल लै आवा। कया डहत जनु चंदन लावा।।
कबहुँ न अैस जुड़ान सरीरू। परा अगिनि महँ मलै समीरू।।
निकसत आव किरिन रबि रेखा। तिमिर गये जग निरमर देखा।।
उठे मेघ अस जानहु आगे। चमकै बीजु गगन पर लागें।।
तेहि ऊपर जल ससि परगासू। औ सो कचपचिन्ह भएउ गरासू।।
और नखत चहुँ दिसि उजिआरे। ठाँवहि ठाँव दीप अस बारे।।
और दछिन दिसि निअरें कंचन मेरु देखाव।
जस बसंत रितु आवै तैस बास जग पाव।।१५६।।

भावार्थ—राजा रत्नसेन ने तोते से पूछा—

हे गुरुवर सुग्गे! न जाने हम आज किस जगह आ पहुँचे हैं? अतः न जाने कहाँ आज सूर्योदय हुआ है, हमें सुख अनुभव हो रहा है। शीतल, मंद, सुगंध पवन चल रही है, ऐसा मालूम पड़ता है मानो दाह भरे शरीर पर किसी ने शीतल चन्दन लगा दिया है। यह

शरीर कभी इस तरह स्वस्थ-शीतल न हुआ था। आज तो लगता है कि ज्वाला में सुशीतल मलयानिल समाहित हो गया है। सूर्य की किरण-रेखाएँ निकल रही हैं, संसार का अँधेरा दूर हो गया है। जग निर्मल हो गया है। आगे बादल सा उठता हुआ सुहावना दृश्य प्रतीत होता है। आकाश में चमकती हुई चंचल चंचला चमकती प्रतीत होती है। उसके ऊपर चन्द्रमा का जैसे प्रकाश खिला है और वह चाँद कृतिका नक्षत्रों से घिरा हुआ जान पड़ता है—सुन्दर ! और भी चारों ओर झिलमिलाते हुए नक्षत्र स्थान-स्थान पर ऐसे प्रतीत होते हैं कि जैसे दीपक जलाए गए हों।

और यह भी कि दक्षिण दिशा में पास ही सोने का पर्वत दिखाई पड़ता है। हीरामन ! संसार में लगता है बसन्त ऋतु का सौरभ फूट पड़ा है। मुझे बताओ यह क्या रहस्य है, यह कैसा लोक है ?

विशेष—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने रहस्यवाद की जिज्ञासु साधक की जो पहली स्थिति है, उसका वर्णन किया है। जिज्ञासा और आनन्द इन दोनों का सम्मिश्रण इस पद में अत्यन्त भावुकता से हुआ है।

प्रसिद्ध रहस्यवादी कवियत्री महादेवी वर्मा ने मौन मधुर, कुछ ऐसी ही भावना का प्रकाशन किया है। देखिए—

"पारद-सी गल हुई शिलायें दुर्गम नभ चन्दन-आँगन-सा,
अंगराग घनसार बनी रज, आतम सौरभ-आलेपन सा,
शूलों का विष मृदुकलियों के,
नव मधुपर्क समान बन गया !"

—(दीप शिखा)

शब्दार्थ—उवा=उदित होना। कया=शरीर। उहत=जलना। निरमर=निर्मल। कचपचिन्ह=कृतिका नक्षत्र। गरासू=घेर लिया। बारे=जलाये। नियरे=निकट। कंचन=स्वर्ण। वास=सौरभ।

(१६०)

तूं राजा जस बिक्रम आदी। तूं हरिचंद बैन सत बादी॥
गोपिचंद तूं जीता जोगाँ। औ भरथरी न पूज बियोगाँ॥
गोरख सिद्धि दीन्हि तोहि हाथू। तारे गुरू मछिंदर नाथू॥
जीता प्रेम तूं पुहुमि अकासू। दिस्टि परा सिंघल कबिलासू॥
वै जो मेघ गढ़ लाग अकासाँ। बिजुरी कनै कोट चहुँ पासाँ॥
तेहि पर ससि जो कचपचिन्ह भरा। राजमँदिर सोनै नग जरा॥
और जो नखत कहसि चहुँ पासाँ। सब रानिन्ह के आहिं अवासाँ॥
गँगन सरोवर ससि कँवल कुमुद तराईं पास।
तूं रवि उवा जो भँवर होइ पवन मिला ल बास॥१६०॥

भावार्थ—राजा रत्नसेन की मुग्धावस्था को जानकर तोते ने उनका रहस्य प्रकट

किया। कामायनी के रहस्य सर्ग में जिस प्रकार श्रद्धा मनु को इस चराचर जगत के विराट रहस्य का संकेत देती है यहाँ तोते ने भी कुछ उसी भाँति दिया है—

तोता बोला कि हे राजा! तुम सर्वथा विक्रमादित्य के समान महान हो और राजा हरिश्चंद्र से अपने वचनों में सत्यवादी। तुमने अपने कठिन योग से गोपीचन्द के योग को भी जीत लिया है। भर्तृहरि भी तुम्हारे योग की बराबरी में नहीं रहा। गोरखनाथ ने अपने हाथ से तुम्हें सिद्धि प्रदान की है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने सबका उद्धार किया था। पर तुमने तो अपने प्रेम से पृथ्वी और आकाश दोनों को जीत लिया है। उसी के फलस्वरूप तुम्हें यह सिंघलद्वीप का स्वर्ग या महल दृष्टिगोचर हुआ है। वह जो तुम घना बादल देख रहे हो, वह आकाश को छूने वाला वस्तुतः सिंघल द्वीप है और वह कि जिसे बिजली चमकती समझ रहे हो, सिंघलद्वीप का स्वर्ण परकोटा है। उसके ऊपर जो कृतिकाओं से भरा-धिरा चन्द्रमा प्रतीत होता है वह सिंघल द्वीप का रत्नमंडित स्वर्णिल राजमहल है और जिनको तुम चारों ओर चमकते हुए नक्षत्र जिन्हें कहते हो वे तो सब रानियों के रंगमहल हैं।

यहाँ का मानसरोवर आकाश है। उसका कमल चन्द्रमा है। उसके पास में झिल-मिलाते हुए जिन्हें तुम सितारे बतलाते हो वह सब रानियों के महल हैं। तू जो इस स्थान पर सूर्य की भाँति उदित हुआ है, अतः पवन रूपी भौरा उस पद्मावती रूपी प्रस्फुटित कमल का सौरभ लेकर तेरे निकट आया है।

शब्दार्थ—आदी = बिलकुल। बैन = बचन। कनै = सोना। अवासा = महल। कचपचिन्ह = कृतिका नक्षत्र।

(१६१)

सो गढ़ देखु गँगनु तें ऊंचा। नैन देखकर नाँहि पहूँचा॥
बिजुरीं चक्र फिरैं चहुँ फेरी। औ जमकात फिरैं जम केरी॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चंद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरैं सबाईं॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस टूटि भुइँ बहा॥
अगिनि उठी जरि बुझी निआना। धुआँ उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छुवा। बहुरा रोइ आइ भुइँ चुवा॥
रावण चहा सौंहँ होइ हेरा उतरि गए दस माँथ।
सँकर धरा ललाट भुइँ औरु को जोगी नाथ॥ १६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में तोता रत्नसेन से कहता है—

वह देखो जो गढ़ आकाश से ऊँचा है उसे केवल नेत्र देखते हैं, उस तक हाथ नहीं पहुँचते। उसके चारों ओर विद्युत-चक्र घूमता है और यमराज की कटार भी घूमती है। जो मन को दृढ़ करके वहाँ दौड़कर पहुँच जाता है उसके चक्र लगता है और वह दो टुकड़े हो जाता है। चाँद, सूरज, नक्षत्र और तारे तब उसी के डर-आतंक से आकाश में डोलते रहते हैं कि कहीं उस चक्र में फँसकर कट न जायँ। वायु ने वहाँ पहुँचने की इच्छा की किन्तु

उस चक्र ने उसे ऐसा मारा कि वह खंड-खंड होकर पृथ्वी पर डोलने लगी। आग वहाँ तक पहुँचने के लिये भड़की किन्तु अन्ततः वह बुझ गई। उसके बीच में से धुँआ उठा पर वहाँ तक न पहुँच सका और विलीन हो गया। जल बादल बनकर उमड़ा किन्तु वह चक्र को न छू सका और रो-रोकर पृथ्वी पर टपकने लगा। तात्पर्य यह है कि पानी बादल बनकर उस सत्य सत्ता की ओर पहुँचने के लिये उद्यत हुआ किन्तु अन्ततः उसे बरस कर भूमि पर ही आना पड़ा।

रावण ने उस दुर्ग पर अपनी क्रूर आँख गड़ाई तो अपने पराक्रमी दसों सिर कटा बैठा। उसकी महत्ता के आगे शिवजी ने भी धरती पर अपना माँथा टेका, भला शंकर से अधिक योगीश्वरनाथ और कौन है जो उसको प्राप्त करेगा ?

विशेष—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने सिंहलगढ़ की दुर्गमाता का आधार लेकर षट्चक्र-सिद्धि-साधना का अनेकानेक प्रतीकों से उल्लेख किया है। हठयोग की अन्तःसाधना का इसमें प्रतिपादन किया गया है। शिवजी हठयोग के आदि स्वरूप हैं परन्तु कमाल यह है कि जायसी ने हठयोग का प्रभाव परिलक्षित करते हुए भी योग से अधिक प्रेम को प्रतिष्ठा दे दी है। **'शंकर धरा ललाट भुइँ'** उक्ति में अत्यंत चतुराई से योगी शिव को पर्वती के लिये प्रेमी शिव बना दिया है जो जायसी का उत्कृष्ट कौशल कहा जायेगा।

शब्दार्थः—चक्र = योग का सिद्धि चक्र—षट्चक्र। जमकात = यम की कटार। मनसादा = मनः निग्रह। अन्तरिख = अन्तरिक्ष, गगन मंडल। बाजा = पहुँचा। भुइँ = पृथ्वी। मियाना = निदान। चुवा = टपका।

(१६२)

तहाँ देखु पदुमावति रामा। भँवर न जाइ न पंखी नामा॥
अब सिधि एक देउँ तोहि जोगू। पहले दास होइ तब भोगू॥
कंचन मेरु देखावसि जहाँ। महादेव का मंडप तहाँ॥
ओहिक खंड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू॥
माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचमी होइहि आगे।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू॥
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा॥
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजै आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस॥ १६२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में तोता राजा रत्नसेन को पद्मावती के मिलन का अवसर बतलाते हुए कहता है—

हे राजा ! देख, वहाँ सुन्दरी पद्मावती रहती है। वहाँ उस दुर्ग में कोई नहीं जा सकता—न कोई रसिक या भँवरा न कोई क्रूर पक्षी ! उसे पाने के लिये तुम्हें अब मैं एक योग-युक्ति बतलाता हूँ जिससे पहले तुम्हें उसके दर्शन होंगे और फिर तुम उसका

भोग कर सकोगे। वह जो वहाँ कंचनगिरि दिखाई देता है उस पर शंकर जी का मंडप है। उस मंडप के उच्च-शिखर मेरु पर्वत के समान प्रतीत होते हैं। माघ मास का शुक्ल पक्ष लगने पर कुछ दिवसोपरान्त आगे बसंत पंचमी आयेगी। उस अवसर पर शिवजी के मंडप के द्वार खुलेंगे और सारा संसार वहाँ पहुँचकर उसकी पूजा करेगा। फिर पद्मावती भी उसका पूजन करने के लिये आयेगी और तभी तुम्हारी दर्शन-मिलन की इच्छा बस समझ लो कि पूरी हो जायेगी।

तो तुम उस मंडप में जाओ और मैं पद्मावती के पास पहुँचता हूँ। विश्वास रखो, जब वह बसन्त की पूजा करने आयेगी तो तुम्हारे दिल की लगी पूरी हो जायेगी।

विशेष—प्रस्तुत अंश से प्रकट होता है कि जायसी के समय में शैव मत का प्रभाव व्यापक रहा होगा।

शब्दार्थ—भँवर=भौंरा, यहाँ रसिक से तात्पर्य है। रामा=सुन्दरि। जोग=युक्ति। पंखी=पक्षी। सिरी=बसंत। उघारिहिं=खुलेंगे। बारु=द्वार। मेरावा=मिलन।

(१६३)

राजैं कहा दरस जौ पावौं। परबत काह गँगन कह धावौं॥
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं पाय का कहना॥
मोहि भाव ऊँचे सो ठाऊँ। ऊँचे लेउँ प्रीतम के नाँऊ॥
पुरुषहि चाहिअ ऊँच हिआऊ। दिन दिन ऊँचें राखै पाऊ॥
सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊँचे सौं कीजै बेवहारू॥
ऊँचे चढ़े ऊँच खंड सूझा। ऊँचें पास ऊँचि बुधि बूझा॥
ऊँचें संग संग निति कीजै। ऊँचे काज जीव बलि दीजै॥
दिन-दिन ऊँच होइ सो जेहि ऊँचें पर चाउ।
ऊँचें चढ़त परिअ जौं ऊँच न छाड़िअ काउ॥१६३॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में राजा तोते से पूछता है—

हे तोते! अगर मैं पद्मावती के दर्शन पाऊँ तो सचमुच पर्वत तो क्या मैं आकाश तक को दौड़कर छू सकता हूँ। जिस पर्वत पर भी उसके दर्शन मिलेंगे सिर के बल वहाँ तक चढ़कर जाऊँगा, पैरों चलने की क्या बात! मुझको भी तुम्हारा साँकेतिक वह ऊँचा मंडप-स्थान आकर्षक लग रहा है। उसके ऊपर पहुँचने के लिए मैं प्रिय पद्मावती का नाम ले रहा हूँ। पुरुष को—साधक को, सदा ऊर्ध्वगामी होना चाहिए। उसका हृदय साहसी होना चाहिए। अनुदिन उसे ऊपर ही ऊपर पाँव रखना चाहिए। उसे सदा महान और महान का दरवाजा पाने की साधना करनी चाहिए। ऊँचा चढ़ने से ऊँचा खण्ड दृष्टिगत होता है। महान के पास बैठने से बुद्धि महान होती है। ऊँचे आदमी का साथ नित्य करना चाहिये। महान कार्य करने के लिए प्राणदान देना चाहिए।

जो दिन-दिन मन, वचन और कर्म से महान बनता है वह नित्य ऊँचे पर

चढ़ता जाता है। ऊँचे के लिए ऊँचा व्यवहार अपेक्षित है। पर चढ़ते हुए यदि कोई गिर पड़े तो भी कोई बात नहीं। उस ऊँचे को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने जीवन में महान कर्म और महान लक्ष्य की साधना पर ज़ोर दिया है। उनकी यह व्यंजना गहरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है। यह उनके महाप्राण कवि होने का एक प्रमाण है—समन्वयवादी, समदर्शी !

शब्दार्थ—दरस = दर्शन। धावौं = पहुँचना, दौड़ना।

(१६४)

हीरामनि दै बचा कहानी। चला जहाँ पदुमावति रानी।।
राजा चला सँवरि सो लता। परबत कहँ जो चला परबता।।
का परबत चढ़ि देखै राजा। ऊँच मँडप सोनै सब साजा।।
अंब्रित घर सब लाग अपूरी। औ तहँ लागि सजीवनि मूरी।।
चौमुख मंडप चहूँ केवारा। बैठे देवता चहूँ दुआरा।।
भीतर मँडप चारि खँभ लागे। जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे।।
संख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु हौम जाप तहँ होई।।
महादेव कर मंडप जगत जातरा आउ।
जो हिछा मन जेहि कँ सो तैसे फल पाउ।।१६४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी कहते हैं—

इस प्रकार हीरामन तोता राजा रत्नसेन को उपदेश की कहानी सुनाकर और वायदा करके जहाँ पद्मावती थी वहाँ चला गया। तोते के जाते ही राजा भी उस पद्मावती रूपी लता की सुधि में लीन होकर जो पर्वत था उसकी ओर चला। उस पर्वत पर पहुँचकर राजा क्या देखता है कि शिव का ऊँचा मँडप सोने से सजाया गया है। वहाँ पूर्णतः सर्वत्र अमृत-तुल्य फल लगे थे और संजीवनी बूटियाँ लगी हुई थीं। मंडप के चारों ओर चारों दरवाज़ों पर किवाड़ लगे हुये थे और उनपर देवगण बैठे हुये थे। मंडप के भीतरी भाग में चार खम्भे लगे हुये थे। जिन्होंने उन चारों का स्पर्श कर लिया उसके पाप दूर हो गये। तात्पर्य यह है कि सूफी सिद्धान्त के अनुसार जिस साधक ने तरीकत, शरीयत, मारिफत और हक़ीकत की अवस्थाओं में होकर निर्वाह कर लिया उसने वस्ल का सुख प्राप्त किया। उस मंडप में शंख, घंटे और काँसे के थाल बज रहे थे अथवा उनकी ध्वनि घन गर्जन-सी प्रतीत होती थी। वहाँ बहुत भाँति के हवन, जप, तप, यज्ञ आदि हो रहे थे।

महादेव के उस मँडप में सारा जगत यात्रा के लिये जाता और एकत्र होता था। जिसकी जो इच्छा मन में होती थी वैसा ही वहाँ फल पाता था। तुलसी ने भी कहा है—

'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन्ह देखी तैसी।'

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने महल का प्रतीक लेकर इस बात का आध्यात्मिक संकेत दिया है कि वह महल कुछ नहीं केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का सुष्ट समन्वय है; जो प्राणी के लिये अपेक्षित है।

शब्दार्थ—बचा=वायदा। कहानी=कथा, यहाँ आशय व्यवस्था से है। संवरि=सुधि। लता=बेल या पद्मावती। परवत=गढ़। घन=काँसे का बाजा। जातरा=यात्रा। हिंच्छा=इच्छा।

१७--मंडप गवन खण्ड

(१६५)

राजा बाउर बिरह बियोगी। चेला सहस बीस सँग जोगी॥
पदुमावति के दरसन आसा। दँडवत कीन्ह मँडप चहुँ पासा॥
पुरब बार होइ कै सिर नावा। नावत सीस देव पहँ आवा॥
नमो नमो नारायन देवा। का मोंहि जोग सकौं कर सेवा॥
तूं दयाल सबके उपराहीं। सेवा केरि आस तोहि नाहीं॥
ना मोहि गुन न जीभ रस बाता। तूं दयाल गुन निरगुन दाता॥
पुरवौ मोरि दास कै आसा। हौं मारग जोवौं हरि स्वाँसा॥
तेहि बिधि बिनै न जानौं जेहि बिधि अस्तुति तोरि।
कर सुदिस्टि औ किरपा हिंछा पूजै मोरि॥१६५॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में जायसी ने विरही प्रेमी अथवा साधक की आस्थावृत्ति का संकेत देते हुए लिखा है—

विरह वियोग में राजा पागल हो गया। बीस हजार शिष्य योगी-भेष में उसके साथ थे। पद्मावती के दिव्य दर्शन की आशा से उसने मंडप पर पहुँचकर चारों ओर उसकी परिक्रमा की, दंडवत किया। पूरब के द्वार पर आकर सिर झुकाया और उसी स्थिति में ही देवमूर्ति (शिवमूर्ति) के पास पहुँचकर प्रार्थना करने लगा। कि हे देव, हे नारायण, तुम्हें बारम्बार प्रणाम हो। मेरी योग्य सामर्थ्य के अनुकूल तुम्हारी क्या सेवा है जो मैं कर सकता हूँ? तुम दीनदयालु हो, विश्वविशिष्ठ हो! तुम्हें किसी की सेवा की कामना नहीं। (महाकवि मिल्टन ने भी 'ऑन हिज ब्लॉइन्डनेस' कविता में ठीक ऐसे ही महाप्राण उद्गार व्यक्त किये हैं—

"God doth not need either man's work or his own gifts.
Who best bear his mild yoke they serve him best."

रत्नसेन कहता है कि हे देव, मुझमें कोई गुण नहीं है और न मेरी वाणी में ही कोई रस का चमत्कार है, किन्तु तू तो दयालु है; गुण और निर्गुण सबका प्रदाता तू ही है।

अतः मुझ सेवक की पद्मावती पाने वाली आशा सुफल करो। मैं श्वाँस-श्वाँस में उसके पाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ—बाट जोह रहा हूँ।

जिस प्रकार तुम्हारी स्तुति की जाती है, मुझे उसका ढंग नहीं आता। प्रार्थना करता हूँ कि मेरे ऊपर अपनी वह कृपा-दृष्टि की कोर डालो जो मेरी अभिलाषा पूर्ण कर दे—मुझे पद्मावती से मिलादे !

शब्दार्थ—बाउर=पागल। पुरब=पूर्व, पूरब। बार=दरवाज़ा। ऊपराहिं= ऊपर या विशिष्ठ। पुरवौ=पूर्ण करो। बिनै=प्रार्थना। हौं=मैं। जोवौं=प्रतीक्षा करता हूँ, देखता हूँ। सुदिस्टि=कृपापूर्ण दृष्टि। मोरि=मेरी।

(१६६)

कै अस्तुति जौं बहुत मनावा। सबद अकुर मँडप महँ आवा॥
मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूंठी॥
पेमहि माहँ बिरह औ रसा। मैंन के घर मधु अंब्रित बसा॥
निसत धाइ जौं मरै तो काहा। सत जौं करै बैसेइ होइ लाहा॥
एक बार जौं मनु कै सेवा। सेवहि फल परसन होइ देवा॥
सुनि कै सबद मँडप झनकारा। बैठा आइ पुरब के बारा॥
पिंड चढ़ाइ छार जेत आँटी। माँटी होउ अंत जौं माटी॥
माँटी मोल न किछु लहै औ माँटी सब मोल।
दिस्टि जो माँटी सौं करै माँटी होइ अमोल॥१६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

रत्नसेन ने जब इस प्रकार की स्तुति की और देवता को बहुत मनाया तब मंडप में से अपने आप एक दिव्य-शब्द सुनाई दिया—

अरे, प्रेम से ही मनुष्य जीवन में स्वर्ग प्राप्ति के योग्य बनता है ! अन्यथा इसका अस्तित्व ही क्या है ? एक मुट्ठी राख ही तो न ! प्रेम में विरह और मिलन, दुःख और सुख, ये दोनों ही इस प्रकार निहित हैं जैसे मोम के छत्ते में से मधु और ज़हरीली बर्र—दोनों रहते हैं। (उदाहरण—सुन्दर है) सत्य रहित कोई भी, चाहे कितनी भी दौड़-धूप करे—मर भी जाये, फिर भी कुछ नहीं है। परन्तु जो सत्य का आचरण करता है उसे बैठे-बैठाये लाभ होता है। एक बार भी जो मन लगाकर भगवान का स्मरण करता है तो उसके स्मरण रूपी सेवा के फल से देवता प्रसन्न हो जाते हैं। मँडप का झंकृत-शब्द सुनकर राजा पूर्वी द्वार पर आ बैठा। तत्पश्चात् उसने शरीर पर भरपूर भस्म धारण की और मन में विचारा—अन्ततः जब यह शरीर मिट्टी है, तो आज ही क्यों न मैं इसको मिट्टी बनादूं !

कविवर जायसी कहते हैं कि यह कैसी विचित्र बात है कि एक तरफ तो मिट्टी मोलहीन है और दूसरी तरफ संसार की समस्त मूल्यवान वस्तु है,—माटी निर्मित है ! जो अपने शरीर को मिट्टी समझ लेता है वस्तुतः उसकी मिट्टी अमूल्य हो जाती है।

विशेष—जीवन के तत्व-दर्शन की ओर इतना विशिष्ट संकेत देने वाला काव्य-पद अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इतने कम और सरल शब्दों में जायसी ने मिट्टी का मूल्य और उसकी तुच्छता का रूपक खींच दिया है।

शब्दार्थ—अकृत=दिव्य स्वर-शब्द। छार=मिट्टी। मैन—मोम या मदन। निसत=सत्य रहित। बैसेइ=बैठे बैठाये। परसन=प्रसन्न। सबद=शब्द। पिंड=शरीर। जेतिग्राँटी=जितनी समा सकी। अमोल=मूल्यवान।

(१६७)

बैठ सिंघ छाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा॥
दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥
किंगरी गहै बजावै झूरै। भोर साँझ सिंगी निति पूरै॥
कंथा जरै आगि जनु लाई। बिरह धँधार जरत न बुझाई॥
नैन रात निसि मारग जागें। चकित चकोर जानु ससि लागें॥
कुंडल गहें सीस भुइँ लावा। पाँवरि होउँ जहाँ ओहि पावा॥
जटा छोरि कै बार बोहारौं। जेहि पँथ होइ सीस तहँ वारौं॥
चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत डंड न रहै थिर मार।
होइ के भसम पवन सँग धावौं जहाँ सो प्रान अधार॥ १६७॥

शब्दार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी अत्यन्त निपुणता से पद्मावती के हित राजा रत्नसेन की महती साधना का वर्णन करते हैं—

रत्नसेन सिंह के चर्मासन पर बैठकर तप करने लगा और 'पदमावती' के नाम का जाप भी। जिसके दर्शनों के लिये उसने वैराग्य लिया था, उसकी ऊर्ध्व दृष्टि उसीके ध्यान में समाधिस्थ थी। हाथ में किंगड़ी लेकर उसे बजाता था और सुबह शाम सिंगी का उद्घोष करता था। विरह के कारण उसकी कथरी दावाग्नि की भाँति जलती थी। कविवर जायसी कहते हैं कि विरह की प्रचंड अग्नि जलने के बाद फिर बुझाये नहीं बुझती। (ग़ालिब ने भी कहा है—यह वह आग है—"जो बुझाये न बुझे।") रात्रि भर पद्मावती का पथ निहारते-निहारते नेत्र लाल हो गये थे। ऐसा लगता था मानो कौतूहल लीन चकोर चाँद की ओर निर्निमेष देख रहा है। (उत्प्रेक्षा अलंकार) उसने हाथों से कुंडल पकड़कर पृथ्वी की ओर सिर झुकाया और सुरति लगाई कि जहाँ मेरे प्रियतम का चरण स्पर्श करता हो उसके तले मेरा यह जीवन पाँवड़ा बनकर बिछ जाय। उर्दू की एक शेर है—साधक कहता है—

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे।
कि दाना ख़ाक में मिलकर गुले गुलज़ार होता है।"

रत्नसेन ने सोचा मैं अपनी जटायें खोलकर उनसे उसके द्वार पर बुहारी दूँ। जिस मार्ग पर वह हो वहाँ मैं अपने सिर की बलि दे दूँ।

रत्नसेन का मन इस प्रकार पद्मावती को खोजने के लिये चारों दिशाओं में भटक

रहा था और तनिक सी देर के लिये भी स्थिर न हो पाता था। सोचता था, काश मैं धूल होकर वहाँ उड़ जाऊँ जहाँ मेरी प्राणाधार पद्मावती है।

विशेष—प्रस्तुत पद में विरह का वर्णन यद्यपि भरमा सा गया है तथापि रीति-कालीन विरह-वर्णन की भाँति उसमें ऊहात्मकता न होकर सीधी प्राणों से निकली हुई ज्वलित अनुभूति प्रकट हुई है।

शब्दार्थ—छाला=चर्मासन। किंगरी=योगियों की छोटी सारंगी। धँधार =प्रचंड आग। रात=लाल। बुहारौं=झाड़ू दूं। बार=दरवाजा। पाँवरि= पाँवड़ा। थिर=ठहरा हुआ।

१८--पद्मावती वियोग खण्ड

(१६८)

पदुमावति तेहि जोग सँजोगाँ। परी पेम बस गहें बियोगाँ॥
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवाँछ जानु कोइ लावा॥
दहै चाँद औ चंदन चीरू। दगध करे तन विरह गँभीरू॥
कलप समान रैनि हठि बाढ़ी। तिल तिल भरि जुग जुग बर गाढ़ी॥
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तब रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागे। ऐसी बिथा रैनि सब जागै॥
कहाँ सो भँवर कँवल रस लेवा। आइ परहु होइ घिरिनि परेवा॥
सो धनि बिरह पतंग होइ जरा चाह तेहि दीप।
कंत न आवहु भृंगि होइ को चंदन तन लीप॥ १६८॥

भावार्थ—**"दोनों ओर प्रेम पलता है।**
सखि पतंग जलता है तो दीपक भी जलता है।"

कविवर गुप्त की इस उक्ति के अनुसार कविवर जायसी प्रस्तुत पद में पद्मावती के अन्तःकरण में भी जो विरह का संचार हुआ उसे प्रकट करते हुए लिखते हैं—

राजा के उस योग प्रभाव ने पद्मावती को भी प्रेम के वियोग में जकड़ लिया, वह भी प्रेम के वशीभूत होकर विरह का अनुभव करने लगी। रात होने पर उसे नींद न आती। उसे ऐसा प्रतीत होता था मानों किसी ने बिछौनों पर केवाँच बिछा दिया हो। चन्दन-चीर और चाँद दोनों ज्वलित प्रतीत होते थे। शरीर की भड़कती हुई विरह-व्यथा उसे जला रही थी। रात कल्पों के समान हठीली बन गई। उस रात पल-पल, युग-युग सा पीड़ादेय हो गया। रात बीत जाय, इस उद्देश्य से कभी वह वीणा लेकर

बैठती थी। पर उसके स्वर से मोहित होकर चाँद का वाहन मृग रुक जाता था फलतः रात लम्बी हो जाती। फिर वह विरहिणी उस मृग को भगाने के लिये सिंह का चित्र खींचने लगती है और इसी ऊहा में ही सारी रात बीत जाती और वह जागती रहती। इसी ऊहा को सूरदास ने अपने दृष्टिकूट के पद में यों व्यक्त किया है—

"दूर करहु बीना कर धरिबौ।

मोहे मृग नाहीं रथ हाक्यों, नाहिन होत चन्द्र कौ टरिबौ।"

पद्मावती कभी मन मारकर कहती है—अरे कमल के रस लेने वाले भौंरे ! तू कहाँ है ? तू मेरे यहाँ आकर इस इस प्रकार टूट जिस प्रकार कलाबाज़ कबूतर टूट पड़ता है। (उपमा है)

इस प्रकार वह विरहिणी परवाना बनकर उस विरह के दीपक में जलना चाहती थी। कहती थी कि हे प्रिय, यदि तुम अपने रूप में लीन करने के लिये भृङ्गी बनकर न आओगे तो मेरे दहते हुए शरीर पर चन्दन का लेप करके कौन शान्ति प्रदान करेगा ?

शब्दार्थ—केवाँच=एक फल जिससे खुजली पैदा हो जाती है। चीरू=साड़ी। मकु=शायद। धिरनि परेवा=कलाबाज़ कबूतर।

(१६६)

परी बिरह बन जानहुँ घेरी। अगम असूझ जहाँ लगि हेरी॥
चतुर दिसा चितवै जनु भूली। सो बन कवन जो मालति फूली॥
कँवल भँवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै॥
अंग अनल अस कँवल शरीरा। हिय भा पियर पेम की पीरा॥
चहै दरस रबि कीन्ह बिगासू। भँवर दिस्टि महँ कै सो अकासू॥
पूँछैं धाइ बारि कहु बाता। तूँ जस कँवल करी रँग राता॥
केसरि बरन दिया भा तोरा। मानहुँ मनहिं भएउ कछु फोरा॥
पवनु न पावै संचरै भँवर न तहाँ बईठ।
भूलि कुरंगिनि कसि भई मनहुँ सिंघ तुइ डीठ॥ १६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी पद्मावती के विप्रलम्भ शृंगार का उत्कृष्ट वर्णन करते हैं। रूपक और उत्प्रेक्षा के प्रकाश में जायसी ने अत्यधिक स्वाभाविक ढंग से विरह की वस्तुस्थिति का चित्रांकन किया है—पद क्या है एक शब्दचित्र प्रस्तुत किया है—

रत्नसेन के विरह में जलते हुए वन में पद्मावती गिर गई थी। मानो उस वन ने उसे घेर लिया हो। उसे सर्वत्र, जहाँ तक दृष्टि फेंकती वह विरह-वन अज्ञात, अदृश्य और अछोर प्रतीत होता था। भूली-भरमाई सी मानो वह चारों दिशाओं को देखती थी। अपने आपसे प्रश्न करती थी कि वह वन कहाँ है जहाँ मालती फूलती है ?–यहाँ तो सर्वत्र जलन ही जलन है। कँवल अपने भौरे को उसी उपवन में पायेगा। कौन ऐसा है जो मुझे रत्नसेन से मिलाकर मेरे शरीर में व्याप्त विरहाग्नि को बुझाये ? शरीर में अग्नि और तिस पर

पद्मावती का शरीर कँवल जैसा कोमल ! प्रेम की पीड़ा से उसका हृदय पीला पड़ गया था। आशय है कि विरह की ज्वाला ने उसके हृदय को शुष्क बना दिया। पद्मावती रूपी कमल रत्नसेन रूपी सूर्य के दर्शनों से खिलने की इच्छा रखता था। अतः उसकी भ्रमर जैसी प्रलुब्ध दृष्टि आकाश में टकटकी लगाए हुए थी। धाय पूछती थी कि हे बाला, क्या बात है, तू ऐसी क्यों हो गई है ? तू तो कमल की कली जैसी रक्त वर्ण थी। (उपमा) तुझे क्या हो गया है ? तेरा हृदय केसरी रंग का हुआ दृष्टिगत होता है। लगता है कि तेरे मन में कोई फोड़ा हो गया है, किसीका दर्द बैठ गया है। अथवा तेरी जवानी का फुटाव आरम्भ हो गया है।

हे पद्मा ! जहाँ पवन नहीं जा सकता, भँवरा नहीं बैठ सकता, ऐसे स्थान पर भी रहकर तू भूली हुई हिरनी सी कैसे हो गई है ? लगता है कि तेरी दृष्टि किसी सिंह को देख चुकी है, तू किसी पर अनुरक्त हो चुकी है। (उपमा-उत्प्रेक्षा)

शब्दार्थ—हेरी=देखी। पियर=पीला। बारा=बाला। दीठ=दृष्टि। कुरंगिनि=हिरनी।

(१७०)

धाइ सिंघ बरु खातेउ मारी। कै तसि रहति अही जसि बारी॥
जोबन सुनेउँ कि नवल बसंतू। तेहि बन परेउ हस्ति मैमंतू॥
अब जोबन बारी को राखा। कुंजर बिरह बिधाँसै साखा॥
मैं जाना जोबन रस भोगू। जोबन कठिन संताप बियोगू॥
जोबन गरुअ अपेल पहारू। सहि न जाइ जोबन कर भारू॥
जोबन अस मैमंत न कोई। नवें हस्ति जौं आँकुस होई॥
जोबन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ समाइ न अंगा॥
परी अथाह धार हौं जोबन उदधि गँभीर।
तेहि चितवौं चारिउँ दिसि को गहि लावै तीर॥ १७०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में पद्मावती धाय से विरह की विकट मनःस्थिति व्यक्त करती है—

अरी धाय, कितना अच्छा होता यदि वह सिंह जिसके विषय में तेरा कहना है झपटकर मुझे मार देता। अथवा मैं अब भी उसी तरह अयानी ही बनी रहती जैसी कि बचपन में थी। सुना था कि यौवन बसन्त के समान गुलज़ार होता है किन्तु मैं हतभागिनि ? कि मेरे लिये वह वैसा न निकला। मेरे यौवन के उपवन पर काम रूप मस्त हाथी का हमला हो गया है। ऐसा कौन है जो अब मेरी तरुणाई की वाटिका को सुरक्षित रखे ? इसकी हरी-भरी शाखों को विरह रूपी हाथी तोड़-झकझोर रहा है। (रूपक अलंकार है) मैं समझती थी कि यौवन में रसभोग उपलब्ध होते हैं पर अब कडुवा अनुभव यह बतलाता है कि यौवन में विरह का कठिन कष्ट सहना पड़ता है। यौवन, पहाड़ की भाँति विचलित न होने वाला—एक भार है ! इस यौवन का भार सहा नहीं जाता। यौवन के

समान कोई दूसरा मदमस्त नहीं है। अंकुश से हाथी को भी नवाया जा सकता है किन्तु यौवन को नहीं। यौवन मद से इतना भरा हुआ है जैसे भादों की गंगा। (उक्ति चमत्कार) यौवन की तरंगों से अंग-अंग फूट-फूट पड़ता है—वह यौवन अंगों में नहीं समाता।

अरी धाय, मैं यौवन के अथाह गहरे-गम्भीर सागर में पड़ी हुई हूँ। चारों ओर देख रही हूँ कि कौन मुझे बाँह पकड़कर आश्रय में ले ? आशय यह है कि मैं किसी की हो जाना चाहती हूँ।

शब्दार्थ—बरु=अच्छा। बारी=बालपन। अहि=थी। हस्ति मैमंतू=मतवाला हाथी, यहाँ कामदेव से तात्पर्य है। गरु=भारि। अपैल=जो टाला न जा सके। मैमंत=मतवाला। उदधि=सागर। चितवौ=देख रही हूँ।

(१-१)

पदुमावति तूं सुबधि सयानी। तोंहि सरि समुंद न पूजै रानी॥
नदी समाहि समुंद महँ आई। समुंद डोलि कहु कहाँ समाई॥
अबही कँवल करी हिय तोरा। आइहि भँवर जो तो कहँ जोरा॥
जोबन तुरँ हाथ गहि लीजै। जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै॥
जोबन जो रे मतंग गज अहै। गहु गिआन जिमि आँकुस गहै॥
अबहि बारि तूं पेम न खेला। का जानसि कस होइ दुहेला॥
गँगन दिस्टि करु जाइ तराहीं। सुरुज देखि कर आवै नाहीं॥
जब लगि पीउ मिलै तोंहि साधु पेम कै पीर।
जैसे सीप सेवाति कहँ तपै समुंद मँझ नीर॥१७१॥

भावार्थ—पूर्व प्रसंग के अनुसार धाय ने पद्मावती से कहा—

हे पद्मा ! तू सुबुद्धिनी और ज्ञानवंत है। तेरे संयम की बराबरी तो समुद्र भी नहीं करता। विचलित न हो। देख, चंचल नदियाँ तो समुद्र में बहकर उसमें समा जाती हैं और यदि समुद्र भी चलायमान होकर मर्यादाहीन हो जाय तो उसे समाने के लिये कहाँ स्थान होगा ? (दृष्टान्त उत्कृष्ट है) आशय यह है कि चंचलता तुच्छ है, सहनशीलता महान है। तुलसी ने भी इस भाव की अभिव्यक्ति यों की है—

"क्षुद्र नदीं भरि चलीं तराईं। जैसेहु थोरे धन खल बौराईं॥

× × ×

बुंद अघात सहैं गिरि ऐसे। खल के बचन संत सहैं जैसे॥"

धाय कहती है कि हे पद्मा ! तेरा हृदय अभी कमल की कली की भाँति कोमल—अबोध है। निश्चय रख, तेरे वर योग्य भँवरा अवश्य आयगा। (रूपक है) सीख मान, अपने यौवन के तुरंग को हाथ की लगाम से थामे रह। उसको इधर-उधर जाने की स्वतंत्रता न दे। जो यौवन मदमत्त हाथी की भाँति है, ज्ञान धारण करके उसे इस प्रकार रखना चाहिए कि जैसे अंकुश हाथी को वश में लाता है। अभी तू बाला है, भोली है ! तूने अभी प्रेम का खेल नहीं खेला है। तू क्या जाने कि कितना कठिन खेल है यह! दृष्टि को चाहे

जितना आकाश तक पहुँचाओ, पर वह नीचे ही लौटती है। सूर्य को चाहे कितना ही देखो किन्तु वह हाथ में नहीं आ सकता।

अत: जब तक तेरा वांच्छित प्रीतम तुझे न मिले प्रेम की पीड़ा सहने और साधने की व्यथा सह। तू उसी प्रकार व्यथा सह कि जैसे सीप स्वाति नक्षत्र की बूंद पाने के लिये अपार सागर में तृषित-तपित रहता है।

विशेष—न्यूटन का सिद्धान्त 'Law of Gravitation' जायसी ने—'**गगन दिष्टि करु जाइ तराहीं। सुरुज देखि कर आवै नाहीं।**'—उक्ति में आज से चार सौ वर्ष पूर्व व्यक्त कर दिया था। विस्मय है!

शब्दार्थ—सरि=बराबर। जोरा=जोड़, पति। तुरय=घोड़ा। दुहेला= कठिन खेल।

(१७२)

दहै धाइ जोबन औ जीऊ। होइ न विरह अगिन मंह घीऊ॥
करवत सहौं होत दोइ आधा। सही न जाइ बिरह कै दाधा॥
बिरहा सुमर समुंद असँभारा। भँवर मेलि जिउ लहरन्हि मारा॥
बिरह नाग होइ सिर चढ़ि डसा। औ होइ अगिनि चँदन महँ बसा॥
जोबन पंखी बिरह बिआधू। केहरि भयो कुरंगिनि खाधू॥
कनक बान जोबन कत कीन्हा। औ तन कठिन बिरह दुःख दीन्हा॥
जोबन जलहिं बिरह मसि छुआ। फूलहिं भँवर फरहिं भा सुवा॥
जोबन चांद उवा जस विरह भएउ सँग राहु।
घट तहि घटत खीन भा कहै न पारौं काहु॥१७१॥

भावार्थ—पूर्वोक्त पद के प्रसंग में पद्मावती धाय से विरह की असह-असीम पीड़ा का भाव व्यक्त करती है। वर्णन में रूपक एवं अपन्हुति अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग विशिष्ट हुआ है—

हे धाय, विरह की ज्वाला से यौवन और प्राण जलते हैं। विरह की आग में घी नहीं होता, आँसू होते हैं; फिर भी तो वह धधकती है, बुझती नहीं। इस विरह वियोग में मैं काशी करवट सहकर दो टुकड़े ही होना अच्छा समझती हूँ, पर विरह की तपन मुझसे नहीं सही जाती। भरे हुये विरह के समुद्र का भार नहीं सहा जाता। वह प्राणों को अपने भँवर में डालकर लहरों से प्रताड़ित करता है। विरह नाग बनकर मेरे सिर पर चढ़ा मुझे डस रहा है। और शरीर के चंदन में विरह मानो ज्वाला बनकर समा गया है। यौवन पंक्षी रूप है और विरह व्याध रूप है। (रूपक अलंकार) विरह सिंह के समान मुझ हिरनी को खाने वाला है। ईश्वर ने यौवन को सोने की आब अथवा चमक क्यों प्रदान की और शरीर को विरह का कठिन कष्ट क्यों दिया? यौवन के जल को विरह की काई स्पर्श करती है अथवा आच्छादित कर लेती है और वह विकृत हो जाता है। जिस प्रकार फूल को भँवरा और फल को तोता कुतर देता है इसी प्रकार यह विरह यौवन को क्षत-विक्षत कर देता है।

ज्योंही यौवन का चन्द्रमा उदित हुआ कि वैसे ही विरह रूपी राहु उसे ग्रसने के लिये उसका पीछा करने लगता है। इसी प्रकार पद्मावती कहती है कि मेरा यौवन क्षीणतर हो रहा है पर मैं इसका रहस्य किसी से कह नहीं पाती।

शब्दार्थ—दहै=जलना। करवट=काशी करवट, आरे से कटना। धधा=तपन। असभारा=ऐसा भारी। मेलि=मिलाकर या डालकर। लहरन्हि=लहरों से। महँ=में। केहरि=सिंह। कुरंगिनि=हिरणी। बान=आब, चमक। मसि=काई या कालिमा। भा=है। उवा=उगा। खीन=क्षीण। पारौं=शक्ति।

(१७३)

नैन जो चक्र फिरे चहुँ ओराँ। चरचैं धाइ समाइ न कोराँ॥
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त मन डोल न भारी॥
जेहि जिय महँ सत होइ पहारू। परैं पहार न बाँके बारू॥
सती जो जरैं पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ तौ सीतल आगी॥
जोबन चाँद जो चौदसि करा। बिरह कि चिनगी चाँद पुनि जरा॥
पवन बंध होइ जोगी जती। काम बंध होइ कामिनी सती॥
आउ बसंत फूल फुलवारी। देव बार सब जैहहिं बारी॥
पुनि तुम्ह जाहु बसंत लै पूजि मनावहु देव।
जिउ पाइअ जग जनमे पिउ पाइअ कै सेव॥१७३॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में जायसी यहाँ लिखते हैं—

पद्मावती के नेत्र चक्र की भाँति चारों ओर घूमते थे। धाय उसे बहलाने की चर्चा करती, पर वह उसकी ओर ध्यान न देती, कोरों को न झुकाती। धाय ने कहा कि हे पद्मा, तुझमें प्रेम उत्पन्न हो गया है। तो भी सत्य से मन पर संयम रख, उसे चंचल न होने दे, दुःखी न होने दे। जिस मन में सत्य का पहरेदार होता है तो पहाड़ टूटने पर भी उसका बाल बाँका नहीं होता। प्रीतम के प्रेम में जो स्त्री सती होने के लिए जलती है तो निश्चय रख कि यदि हृदय में सत्य है तो उसके लिये आग भी शीतल हो जाती है। चौदह कलाओं से युक्त जो यौवन रूपी चाँद है वह विरह की चिनगारी भर से फिर जलने-घटने लगता है। जो संयम, यम-नियम से प्राणों के पवन को बाँध लेता है—प्राणायाम करता है, वह भोगी है—यती है। काम को वश में करने वाली स्त्री ही सती है। देख, बसन्त आ पहुँचा है, फुलवारियों के फूल हँस उठे हैं। देव दरवाजे पर सब बालायें पूजनार्थ जायेंगी।

धाय कहती है कि हे पद्मा, बसन्त-पूजन के लिए तुम भी जाओ और पूजा से अपने देवता को प्रसन्न करो। संसार में जन्म लेने से जीवन प्राप्त होता है किन्तु प्रियतम तो सेवा करने से ही मिलता है।

विशेष—कविवर जायसी ने भारतीय पत्नित्व के प्रेम-सेवा-भाव को प्रस्तुत पद में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। यह उनकी उदार एवं लोकग्राही दृष्टि का प्रमाण है।

शब्दार्थ—चरचै = बरजने वाली चर्चा। उपना = उत्पन्न, पहारू = पहरेदार। बाँकै बारू = मुहावरा—वाल बाँका होना। चौदसी करा = चौदह कलायें। चिनगी = चिनगारी। जरा = जला। पवन बंध = वायु निरोध, प्राणायाम क्रिया। कामिन = कामनी। बारि = बाला। मनावहु = प्रसन्न करो। सेव = सेवा।

(१७४)

जब लगि अवधि चाह सो आई। दिन जुग बार बिरहिनि कहँ जाई ॥
नींद भूख अह निसि गै दोऊ। हिएँ माँझ जस कलपै कोऊ ॥
रोवँहि रोवँ लागे जनु चाँटे। सोतहि सोत बेधे बिख काँटे ॥
दगध कराह जरै सब जीऊ। बेगि न आउ मलैगिरि पीऊ ॥
कवन दैव कहँ जाय परासौं। जेहि सुमेरु हिय लाइ गरा सौं ॥
गुपुत जो फल साँसहि परगटे। अब होइ सुमर चहहि पुनि घटे ॥
भए सँजोग जौ रे अस मरना। भोगी भएँ भोग का करना ॥
जोबन चंचल ढीठ है करै निकार्जहि काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै करि जोबन महँ लाज ॥१७४॥

भावार्थ—कविवर जायसी पद्मावती के विरह का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

पद्मावती के लिए जब तक बसन्त पंचमी की अवधि आए तब तक उस विरहिणी को एक-एक दिन युग के समान कटने लगा। उसके लिए दिन की भूख और रात की नींद दोनों ही चली गई थीं। उसे ऐसा लगता था मानो कोई भीतर से हृदय को छेदे डालता हो। शरीर के रोम-रोम में मानो चींटे लग गए थे। आशय यह है कि जैसे शव के रखे रहने से उसके चींटे लग जाते हैं इसी प्रकार शव-तुल्य पद्मावती की दशा बड़ी करुणा-जनक हो गइ थी। रोमरन्ध्रों में विष के काँटे बुड़ गए थे। जलती आहों-उच्छ्वासों से उसके सारे प्राण जलते थे। जलती हुई अवस्था में वह पुकारती थी कि हे शीतल मलयरूप प्राणप्रिय! शीघ्र क्यों नहीं आते? तुम्हारे अतिरिक्त मैं किस देवता का जाकर अर्चन-स्पर्शन करूँ? जिसके आशीर्वाद से सुमेरु जैसे वक्षस्थल से गले के हार की भाँति मैं प्रियतम से आलिंगन-अभिसार करूँ? गुप्त फल अर्थात् मेरे स्तन तीव्र श्वास-प्रश्वासों के चलने से उभरकर प्रकट हो गए हैं, अब वे प्रियतम का स्पर्श-आलिंगन न पाकर मानो उभरकर पुनः घट या बैठ जाना चाहते हैं। (यौवन के पूरे जोर पर यदि नारी के कुचों का स्पर्शन-मर्दन न हो तो कुछ समय में वे बैठने लगते हैं। यह काम शास्त्र सम्मत बात है।) यदि इसी प्रकार जवानी में या विवाह योग्य होकर जल-जलकर मरना है तो भोगी होकर भोग करने का क्या अर्थ सिद्ध होता है? आशय यह है कि फिर कौन भोग की कामना करेगा?

कविवर जायसी कहते हैं कि यौवन तो निर्लज्ज और उद्दंड होता है; अनर्थ के काम करने को तत्पर बना रहता है। यौवन में जो संयम और लज्जा रखती है वह कुल की मर्यादा रखने वाली स्त्री धन्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद में शृङ्गार का उद्दीपन विभाव है साथ ही कुछ अश्लीलता भी किन्तु अन्तिम पंक्तियों में पुनः जायसी ने लोकादर्श की बात पर ज़ोर देकर उद्दीपन के भाव का शमन कर दिया है।

शब्दार्थ—जुग=युग। गै=गई। चाँटे=चीटे। कराह=दुःख की अभिव्यक्ति। परासौ=स्पर्श करूँ। गरासौं=गले के गलहार सी। गुपुत=गुप्त। सँजोग=विवाह के योग्य। सुभर=उभरकर। निकाजहिं=व्यर्थ।

●

१९ : पद्मावती सुआ-भेंट खण्ड

(१७५)

तेहि बियोग हीरामनि आवा। पदुमावति जानहुँ जिउ पावा॥
कंठ लागि सो हीसुर रोई। अधिक मोह जो मिलै बिछोई॥
आगि बुझी दुख हियँ जो गँभीरू। नैनन्ह आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदुमिनि रानी। हँस पूँछहिं सब सखी सयानी॥
मिले रहस चाहिअ भा दूना। कत रोइअ जो मिले बिछूना॥
तेहि क उतर पदुमावति कहा। बिछुरन दुक्ख हिएँ भरि रहा॥
मिला जो आई हिएँ सुख भरा। वह दुख नैन नीर होइ ढरा॥
बिछुरंता जब भेंटिए सो जानै जेहि नेहु।
सुक्ख सुहेला उग्गवइ दुक्ख झरै जेउँ मेहु॥१७५॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

पद्मावती की वियोगावस्था में हीरामन तोता आ पहुँचा। तब मानो पद्मावती के प्राणों में प्राण आए, उसे सन्तोष हुआ। तोते को गले से लगाकर वह ऊँचे स्वरों में रो पड़ी। कविवर जायसी कहते हैं कि बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ जब मिलता है तब अधिक मोह के कारण ऐसा रुदन ही फूट पड़ता है। पद्मावती के हृदय में जो गम्भीर दुःख की ज्वाला थी वह इससे बुझ गई, आँखों से बरबस रुदन-नीर चू पड़ा—आँसू फूट पड़े। जब रानी पद्मावती रो रही थी तब हँसकर सब चतुर सखियों ने उससे पूछा कि हे पद्मा! तुम तोते से मिल रही हो, और इस मिलनावस्था में तो दूना सुख होना चाहिये? जब बिछुड़े हुए से फिर मिल रही हो तो रोना कैसा और क्यों? इस बात का उत्तर पद्मावती ने देते हुए कहा—मैं इसलिए रो पड़ी कि वियोग का दुःख हृदय में भरा हुआ था और जब ये सुआ आकर मिला तो हृदय सुख से भर उठा और पिछला दुःख आँसू बन-बनकर ढल

उठा। (यहाँ जायसी की वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि का पता चलता है। एक चीज यदि खाली होगी तभी फिर भरी जा सकती है) साथ ही ममत्व किस अवस्था में कैसे फूट पड़ता है इसकी अभिव्यंजना भी बड़ी मार्मिक हुई है।

कविवर जायसी कहते हैं कि जब बिछुड़ा हुआ पुनः मिलता है तब उसके सुख को वही समझता है जिसका हृदय स्नेह से परिचित या पूर्ण है। जब सुख का अगस्त्य नक्षत्र उदय होता है तब दुःख बादलों की तरह बरसकर रीत जाता है।

शब्दार्थ—हौ सुर=ऊँचे स्वर से, हुमक कर। गँभीरू=गम्भीर। सयानी=चतुर। भा=होना। बिछुरंता=जो बिछुड़ा हुआ है। सुहेला=अगस्त्य नक्षत्र। उग-वइ=उदित होता है। मेहु=बादल।

(१७६)

पुनि रानी हँसि कुसल पूँछा। कत गवनेहु पिंजर कै छूँछा॥
रानी तुम्ह जुग जुग सुख पाटू। छाज न पंखहि पिंजर ठाटू॥
जौ भा पंख कहाँ थिर रहना। चाहै उड़ा पंखि जौ डहना॥
पिंजर महँ जो परेवा घेरा। आइ मँजारि कीन्ह तहँ फेरा॥
देवसेक आइ हाथ पै मेला। तेहि डर बनोबास कहँ खेला॥
तहाँ बिआध जाइ• नर साँधा। छूट न पाव मीचु कर बाँधा॥
ओइँ धरि बेचा बाँभन हाथाँ। जंबू दीप गएउँ तेहि साथाँ॥
तहाँ चित्रगढ़ चितउर चित्रसेमि कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ आपु लीन्ह सिव साज॥१७६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में पद्मावती तोते से पूछती है—

फिर रानी ने तोते से कुशल पूछी और कहा कि तुम मेरे पिंजरे को खाली छोड़कर कहाँ चले गए थे? इस पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए तोते ने उत्तर दिया कि हे रानी, तुम्हें युग-युग तक राजपाट का सुख मिलता रहे। किन्तु जो पक्षी है; उसे पिंजरे के बन्धन या ठाठ से ममत्व कब होता है? (यहाँ परोक्ष अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा इस शरीर रूपी पिंजरे के ममत्व में कहाँ बन्दी बन सकती है?) जब पक्षी के डैने निकल आते हैं तब वह बन्दी रहना कहाँ, उड़ना चाहता है। पिंजरे में जो मुझ पक्षी को बन्दी बनाया हुआ था, अतः मुझे खा जाने के लिए काल रूपिणी बिल्ली ने चक्कर लगाया था। इस भय से कि किसी दिन वह मुझे हाथ के पंजों का शिकार बना लेगी, मैं बन में बसने के लिए उड़ गया था। किन्तु होनी प्रबल है, —वहाँ भी बहेलिये ने मेरे फँसाने के लिए नरलस की लग्गी लगाई। मैं उससे मुक्त न हो सका, मृत्यु के क्रूर हाथों से न छुट सका—फँस गया! उस बहेलिये ने मुझे पकड़ कर एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया और उसके साथ मैं जम्बूद्वीप ले जाया गया।

वह चित्तौड़ का विचित्र चित्रगढ़ है, और वहाँ राजा चित्रसेन का राज्य है। उसने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर स्वयं शिवसाज लिया; अर्थात् योग-वैराग्य धारण कर लिया।

शब्दार्थ—पुनि=फिर। कूसल=कुशल। कत=कहाँ। कै=करके। छँछा=खाली। जुग जुग=युग युग। पाटू=राजपाट। छाज=उचित लगना। ठाटू=यहाँ निवास से तात्पर्य है। भा=हुए। थिर=स्थिर। डहना=डैने। परेवा=पक्षी। मँजारि=बिल्ली। फेरा=चक्कर। देवसेक=एक दिन। हाथ पै मेला=हाथ के पंजे से पकड़कर मार देगी। तेहि=उसके। बनोवास=निर्जन का वास। खेला=चला गया। नर साधा=लग्गी लगाई। मीचु=मृत्यु। ओइँ=उसने। बाँभन=ब्राह्मण। टीका=राज्याभिषेक।

(१७७)

बैठ जो राजा पिता के ठाऊँ। राजा रतनसेनि ओहि नाऊँ ।।
का बरनौ धनि देस पियारा। जहँ अस नग उपना उजियारा ।।
धनि माता धनि पिता बखाना। जेहि कें बंस अंस अस आना ।।
लखन बतीसौ कुल निरमरा। बरनि न जाइ रूप औ करा ।।
ओइँ हौं लीन्ह अहा अस भागू। चाहैं सोनहि मिला सोहागू ।।
सो नग देखि इंछ भैं मोरी। है यह रतन पदारथ जोरी ।।
है अस जोग इहै पै भानू। तहाँ तुम्हार मै कीन्ह बखानू ।।
कहाँ रतन रतनाकर कंचन कहाँ सुमेरु।
देय जौं जोरी दुहुँ लिखी मिलै सो कवनेहु फेरु ।।१७७।।

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में ही तोता पद्मावती से कह रहा है—

पिता के राज्य-स्थान पर जो राजा गद्दी पर बैठा है उसका नाम राजा रत्नसेन है। दीपक के समान धन्य उस उज्ज्वल देश का मैं क्या बखान करूँ?—जहाँ पर रत्नसेन जैसा उज्ज्वल रत्न पैदा हुआ है। (रूपक अलंकार है।) वे माता-पिता धन्य कहे जाते हैं जिनके वंश में अंशरूप ऐसा पुत्र-रत्न पैदा हुआ है। (यहाँ 'अ' की तीन बार आवृत्ति से अनुप्रास अलंकार की छटा है।) अपने बत्तीस शुभ लक्षणों से उसने कुल को निर्मल बना दिया है। उसका रूप और उसकी कला-कान्ति का वर्णन नहीं किया जा सकता। मेरा सौभाग्य था कि उस राजा ने मुझे ब्राह्मण से खरीद लिया। यह उचित ही है कि सोने से सुहागे का मेल हो। साँकेतिक-आशय यह है कि उसके पास पहुँचना ठीक ही हुआ जो पद्मावती का और रत्नसेन का इस बहाने सोने-सुहागे जैसा परिणय हो सकेगा। उस रत्नरूप रत्नसेन को देखकर मेरी इच्छा हुई कि यह रत्न तो पद्मावती रूपी हीरे के योग्य ही है। यही सूर्यरूप रत्नसेन उस चन्द्रमा रूप पद्मावती के योग्य है। आशय यह है कि रत्नसेन पद्मावती के लिए सर्वथा उपयुक्त वर है। ऐसा सोचकर, हे पद्मा! मैंने तुम्हारे रूप गुण का उससे बखान किया।

तोता कहता है, संयोग की बात कि कहाँ समुद्र का रत्न और कहाँ सुमेरुपर्वत का स्वर्ण? पर इन दोनों की जोड़ी जब ईश्वर ने ही रची है तो अवश्य ही किसी-न-किसी हेर-फेर से मिलेंगे ही।

शब्दार्थ—ओहि=उसका। नाऊँ=नाम। धनि=धन्य। दियारा=दीया।

उपना = उत्पन्न हुआ। अंस = पुत्र। लखन बतीसों = महापुरुष के शरीर के बत्तीस लक्षण। निरमरा = निर्मल। करा = कला। हौं = मुझे। लीन्ह = लिया या खरीदा।

(१७८)

सुनि कै बिरह चिनगि ओहि परी। रतन पाव जौं कंचन करी।।
कठिन पेम बिरहा दुख भारी। राज छाँड़ि भा जोगि भिखारी।।
मालति लागि भँवर जस होई। होइ बाउर निसरा बुधि खोई।।
कहेसि पतंग होइ धँसि लेऊँ। सिंघल दीप जाइ जिउ देऊँ।।
पुनि ओहि कोउ न छाड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला।।
औरु गनै को संग सहाई। महादेव मढ़ मेला जाई।।
सूरज परस दरस की ताईं। चितवै चाँद चकोर की नाईं।।
तुम्ह बारीं रस जोग जेहि कँवलहि जस अरघानि।
तस सूरज परगासि कै भँवर मिलाएउँ आनि।। १७८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में ही तोता पद्मावती से कह रहा है—

तुम्हारे रूप वर्णन को सुनकर रत्नसेन के उर में इस प्रकार विरह की चिंगारी पड़ गई जैसे नग सोने की कली में गढ़ने को हो गया हो। आशय यह है कि नग सदृश रत्नसेन, स्वर्णकली जैसी पद्मावती को पाने के लिये विह्वल-उत्सुक हो गया। उसे कठिन प्रेम के विरह का भारी दुःख अनुभव हुआ। फलस्वरूप, वह राज-पाट त्याग कर योगी-भिखारी के भेष में हो गया है। जैसे मालती के लिये भौंरा पागल की स्थिति में हो जाता है; इसी प्रकार रत्नसेन सुधि-बुधि खोकर पागल-सा बना राज्य छोड़कर निकल गया है। उसने कहा है, पतंगा बनकर सिंहल दीप में पद्मावती को प्राप्त करने के लिये पहचूँगा और वहीं अपने प्राण जला दूँगा। (यहाँ 'दीप' शब्द में श्लेष है।) किन्तु फिर उसे किसी ने अकेला न छोड़ा। उसके साथ सोलह सहस्र राजकुँवर उसके शिष्य बनकर चले हैं। और भी जो उसके साथ में सहायक हैं, उनकी गणना कौन करे? वह महादेव जी के मठ में जा पहुँचा है। वह रत्नसेन सूर्य के समान है; और हे पद्मावती, तुम पारस के समान हो, वह तुम्हारा स्पर्श चाहता है और वह तुम्हें ऐसे तक रहा है जैसे चकोर चाँद को ताकता है।

तोते ने कहा कि हे पद्मा! तुम अविवाहित बाला हो! तुममें यौवन का रस इसी प्रकार समाहित है जैसे कमल में सौरभ समाहित होता है। इस प्रकार मैंने सूर्योदय करके अर्थात् प्रेम का प्रकाश फैलाकर तुम्हे रत्नसेन रूपी भँवरे से मिलाने की योजना बनाई है।

शब्दार्थ—चिनगि = चिंगारी। कंचन करी = सोने की कली। बाउर = पागल। गनै = गणना करे। सहाई = सहायक। परस = स्पर्श, यहाँ पारस का अर्थ भी है। चितवै = ताकता है। बारी = बाला। अरघानि = सौरभ, सुगन्ध।

(१७९)

हीरामन जौं कही रस बाता। सुनि कै रतन पदारथ राता।।
जस सूरज देखत होइ ओपा। तस भा बिरह काम दल कोपा।।

पै सुनि जोगी केर बखानू। पदुमावति मन भा अभिमानू ।।
कंचन जौं कसिअै कै ताता। तब जानिअ दहुँ पीत की राता ।।
कंचन करी न काँचहि लोभा। जौं नग होइ पाव तब सोभा ।।
नग कर मरम सो जरिया जाना। जरै जो अस नग हीर पखाना ।।
को अस हाथ सिंघ मुख घाला। को यह बात पिता सौं चाला ।।
सरग इन्द्र डरि काँपै बासुकि डरैं पतार।
कहाँ अैस बर प्रिथिमी मोंहि जग संसार ।। १७९ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के विषय में जब तोते ने पद्मावती से इस प्रकार की प्रेम-रसपूर्ण बात कीं तो उसका हृदय प्रफुल्लित हो गया। जैसे सूर्योदय देखकर विशेष प्रकाश की अनुभूति होती है, इसी प्रकार पद्मावती के हृदय में रत्नसेन का आगमन जानकर काम एवं विरह का ज्वलित भाव तीव्रता से प्रकाशित हो गया। किन्तु फिर रत्नसेन जोगी हो गया है, ऐसी बात जानकर पद्मावती को गर्व का अनुभव हुआ। आशय यह है कि उसे प्रेम की सच्ची साधना का शुभ अहसास हुआ। उसने विचारा कि जब सोना तपाकर जाँचा जाता है तभी ज्ञात होता है कि वह पीला है या लाल—खरा है या खोटा ? सोने की कली को काँच का मिथ्या प्रेम नहीं होता। जब वह रत्न से मिलती है, तभी शोभायमान होती है। आशय यह है कि प्रेम का दिखावा नहीं, सत्य ही महत्वपूर्ण होता है। सच्चा नग जड़ने वाला है। जो जड़िया ही सच्चे रतन का रहस्य जानता है, वही ऐसा हीरे का पक्का श्रेष्ठ नग उसमें जड़ता है। पद्मावती सोचती है, पर कौन ऐसा साहसी होगा जो मेरे पिता से रत्नसेन और मेरे विवाह की चर्चा चलाएगा ?—सम्बन्ध पक्का करेगा ? कौन सिंह के मुख में हाथ डालेगा—ऐसा कठिन काम करेगा !

पद्मावती विचारती है—मेरे पिता के भय से तो स्वर्ग का इन्द्र और पाताल का वासुकि या शेषनाग भी डरकर काँपता है। पर मेरे योग्य पृथ्वी पर ऐसा वर और कहाँ होगा जैसा रत्नसेन है।

शब्दार्थ—ओपा=प्रकाश। मरम=रहस्य। जरिया=जड़ने वाला। घाला=डालना। चाला=चलाना। सरग=स्वर्ग। बासुकि=शेषनाग। बर=वर, दूल्हा। प्रिथिमी=पृथ्वी।

(१८०)

तूं रानी ससि कंचन करा। वह नग रतन सूर निरमरा ।।
बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छूवैं जाइ जरि सोई ।।
आगि बुझाइ ढोइ जल काढ़ें। यह न बुझाइ आगि असि बाढ़ें ।।
बिरह कि आगि सूर नहिं टिका। रातिहुँ दिवल जरा औ धिका ।।
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा। थिर न रहै तेहि आगि अपारा ।।
धनि सो जीव दगध इमि सहा। तैस जरे नहिं दोसर कहा ।।

सुलुगि सुलुगि भीतर होइ स्यामा। परगट होइ न कहा दुख नामा ।।
काह कहौं मैं ओोहि कहँ जेइ दुख कीन्ह अमेट।
तेहि दिन आगि करों यह बाहर होइ जेही दिन भेंट ।। १८० ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में पद्मावती से तोता कहता है—

हे रानी, तू चन्द्रमा की निर्मल कला है और वह रत्नसेन निर्मल सूर्य है और तू स्वर्ण कली है तो वह उसमें जड़ा जानेवाला रत्न है। विरह की बज्राग्नि के मध्य कौन आया है ? जो अग्नि का स्पर्श करेगा, वह जलेगा। जल को निकालकर ले जाने और उलीचने से साधारण आग तो बुझ जाती है किन्तु विरह की आग बुझती नहीं; बुझाने से बढ़ती है। विरह ज्वाला के आगे सूर्य भी नहीं ठहरा। रात-दिन जलता है, धधकता है। तभी तो वह कभी आकाश में चढ़ता है और कभी पाताल में धँसता है—उदय-अस्त होता है। इसी अपार विरहाग्नि के कारण ही चैन से थिर नहीं रह पाता। वह जीवन धन्य है, जो इस आग में जलता है और उसकी जलन सहता है। वह स्वयं जलता है पर किसी से कुछ बतलाता नहीं कि वह जल भी रहा है। धीरे-धीरे जल-सुलगकर वह भीतर-भीतर खाक हो जाता है, किन्तु उसकी आग बाहर नहीं फूटती और न वह उसकी दाह मे 'दुख' का नाम पुकारता है।

हे पद्मा ! मैं उस बिचारे रत्नसेन के लिये क्या कहूँ, जिसने अपने लिये स्वयं ही इतना अमिट दुख पैदा किया है। जिस दिन तुम्हारी उससे साक्षात प्रीति होगी उसी दिन मैं उसके विरह की ज्वाला को दिल से दूर कर पाने में समर्थ होऊँगा। वह दुःख, जो मैंने ही उसके उर में पैदा किया—तुम्हारा रूप वर्णन करके !

शब्दार्थ—निरमरा=निर्मल। बजागि=बज्राग्नि। ढोइ=ले जाकर। काढ़ै =निकाले। सूर=सूरज। धिका=धधकता। दगध=जलन। इमि=यों। अमेट= अमिट। भेंट=साक्षात मिलन।

ये एक पद और दिया जा रहा है। इस पद को प्रायः अप्रमाणिक समझकर छोड़ा गया है किन्तु मुझे लगता है कि यह पद न केवल प्रसंगानुकूल कथा में महत्व रखता है वरन् इसमें नारी हृदय की प्रेमी के प्रति एक सहज आस्था एवं भावना की व्यंजना अत्यंत उत्कृष्ट हुई है। अतः इसे प्रक्षिप्त मानना मेरे मन ने स्वीकार नहीं किया। भावार्थ सहित यह इस प्रकार है—

सुनि के धनि जारी अस कया। मन भा मयन हिये भै मया ।।
देखौं जाइ जरै कस भानू। कंचन जरे अधिक होइ बानू ।।
अब को मरै वह प्रेम बियोगी। हत्या मोंहि जेहि कारन जोगी।।
सुनि के रतन पदारथ राता। हीरामन सों कह यह बाता ।।
जौ वह जोग सँभारै छाला। पाइहि भुगुति देहुँ जयमाला ।।
आव बसन्त कुसल जौं पावौं। पूजा मिस मंडप कहँ जावौं ।।
ए के बैन फूल हौं गाँथे। देखौं नैन चढ़ावौं माथे ।।

कँवल भँवर तुम्ह बरना मैं माना पुनि सोइ।
चाँद सूर कहँ चाहिए जौ रे सूर वह होइ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन के प्रेम विरह की बात तोते से सुनकर पद्मावती का शरीर विरहाग्नि से जलने लगा। मन कायातुर एवं हृदय में तरलता उत्पन्न हुई। उसकी इच्छा उठी कि देखूँ तो वह आग में कैसे जलता है। कंचन ज्यों-ज्यों आग में तपता है उतनी ही उसमें आब आती है। प्रेम के वियोग में वह वियोगी यदि मरता है तो मुझे हत्या पड़ेगी। क्योंकि मेरे ही लिये तो वह योगी बना है। रत्नसेन के विषय में सुनकर पद्मावती ने हीरामन तोते से कहा—यदि वह योग एवं माला धारण किये है तो वह मेरा भोग करेगा और मैं उसे वरमाला पहनाऊँगी। सकुशल बसन्त आयेगा तो मैं पूजा के बहाने मण्डप में जाऊँगी। गुरु के वचनों को मैंने फूल सा गूँथा है; उसे जाकर आँखों से देखूँगी और ये फूल उसके गले पर चढ़ाऊँगी।

हे तोते, तुमने मुझे कमल और रत्नसेन को भँवरा बताया है। मैंने उसे ऐसा ही माना है। आशय यह है कि मैंने उसे अपना पति मान लिया है। मुझे सूर्य चाँद लेने की क्यों इच्छा होगी जबकि रत्नसेन जैसा सूर्य मेरा पति बनेगा।

शब्दार्थ सरल हैं।

(१८१)

हीरामन जौं कही रस बाता। पाएउ पान भएउ मुख राता।।
चला सुआ रानी तब कहा। भा जो परावा सो कैसें रहा।।
जो निति चलै सँवारै पाँखा। आजु जो रहा काल्हि को राखा।।
न जनौ आजु कहाँ दिन उवा। आएहु मिलैं चलेहु मिलि सुवा।।
मिलि कै बिछुरन मरन की आना। कत आएहु जौं चलेहु निदाना।।
अनु रानी हौं रहतेउ राँधा। कैसे रहौं बचा कर बाँधा।।
ताकरि दिस्टि अँस तुम्ह सेवा। जैस कूँज मन सहज परेवा।।
बसै मीन जल धरती अंबा बिरिख अकास।
जौं रे पिरीति दुहुन महँ अंत होहिं एक पास।।१८१।।

पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

भावार्थ—जब हीरामन ने रत्नसेन की प्रेम-रसपूर्ण बातें कहीं और रानी ने उन्हें सुना, तो पान खाया जिससे उसका मुँह लाल हो गया। जब तोता चला तो रानी ने कहा—जो पराया पक्षी है; वह किस प्रकार ठहर सकता है ?जो पंख नित्य उड़ जाने के लिए ही सँवारता है वह अगर आज रहा भी तो कल कौन उसे रोक-रख सकता है ? रानी ने कहा, जाने आज कैसा शुभ दिन आया है कि हे तोते, तुम आकर मुझसे मिल चले हो। मिल-कर बिछुड़ना, मृत्यु के निकट आने के समान कष्टदायक है। हे तोते, तुम क्यों आए; जो अंत में तुम्हें चले ही जाना था। तोते ने कहा, धैर्य रक्खो, हे रानी, मैं तुम्हारे पास ही रहता किन्तु कैसे रहूँ ? राजा से लौटने का वचन देकर आया हूँ—वचनबद्ध हूँ। हे पद्मा-

वती ! तुम्हारी सेवा की ओर राजा की दृष्टि लगी हुई है जैसे पक्षी का मन स्वभावतः ही कुंज में रमा रहता है।

कविवर जायसी कहते हैं कि मछली धरती के जल में रहती है, वृक्ष पर आम ऊँचे आकाश की ओर फलता है; किन्तु जब दोनों में सत्य प्रेम है तभी तो अन्त में एक दूसरे से मिल जाते हैं।

विशेष—कवि प्रसिद्धि एवं खान-पान की दृष्टि से आम और मछली का संयोग माना गया है। यह उपमा संगत है क्योंकि मछली का मांस और आम की खटाई का संयोग माना जाता है।

शब्दार्थ—पावा पान = पान का बीड़ा खाया। पाखा = पक्षी। काल्हि = कल। राँधा = समीप।

(१८२)

आवा सुआ बैठ जहँ जोगी। मारग नैन बियोग बियोगी॥
आइ पेम रस कहा सँदेसू। गोरख मिला मिला उपदेसू॥
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। लीन्ह अदेस आदि कहँ दीन्हा॥
सबद एकहोइ कहा अकेला। गुरु जस भृंगि फिनगि जस चेला॥
भृंगि ओहि पंखहि पै लेई। एकहिं बार छुएँ जिउ देई॥
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव अवतार देइ नै काया॥
होइ असर अस मरि कै जिया। भँवर कँवल मिलि कै मधु पिया॥
आवै रितू बसंत जब तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोग जो इमि करहि सिद्धि समापति तासु॥१८२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

तोता पद्मावती के पास से उड़कर जहाँ योगी रत्नसेन बैठा था वहाँ आया। वियोगी राजा के नेत्र पद्मावती के मार्ग पर ही लगे-लगे विरह के दुःख में वियोगी बने हुए थे। तोते ने उससे आकर प्रेम-रस का सन्देश दिया और कहा कि गोरख मिले और उनसे गोरखपंथी उपदेश भी उसे मिला। तुम पर गुरु ने बड़ी कृपा की है—तुम्हारा प्रणाम स्वीकार कर लिया है और वह आदिनाथ या शंकर जी को दे दिया है। उन्होंने अकेले में एक शब्द या मन्त्र कहा है—"गुरु भृङ्गी के समान और शिष्य पतिंगे के समान होता है।" भृङ्गी वही जो पतिंगे को पंखों पर लेकर एक बार के स्पर्श से ही उसे नव जीवन प्रदान कर दे। आशय यह है कि सच्चा गुरु वही होता है जो शिष्य को परमात्म जीवन की नवीनता प्रदान कर सके। शिष्य के प्रति गुरु की ऐसी महाकृपा होती है कि वह उसे नया जीवन और नया तन प्रदान करता है। इस प्रकार गुरु कृपा से शिष्य अमर हो जाता है—मरकर मानो नया जीवन प्राप्त करता है—भौंरे की तरह वह शिष्य भी परमात्मा रूपी कमल का मधु पीता है। आशय है कि पद्मावती का मिलन-मधु प्राप्त करने का बल यही रहस्य है।

वसन्त ऋतु आने पर ही भौंरा एवं सुगंध का मधुर मिलन होता है। जो योगी

इस प्रकार के मधुर मिलन को पाने के लिए योग करता है; अन्ततः उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

विशेष—यहाँ नाथ-सिद्ध पंथ की मान्यता का तो प्रकाशन है किन्तु उसे प्रेम-रस से अभिसिंचित किया गया हैं, यही जायसी की काव्य विशिष्टता हैं कि तंत्र की नीरसता को प्रेम-यंत्र की सरसता में निमज्जित कर दिया है।

शब्दार्थ—आदि = आदि पुरुष शंकरजी। सबद = योगियों का मन्त्र जिसे कबीर ने 'सबद' कहा है। रितू = ऋतु। मधुकर = भौंरा। बास = सुगंध। तासु = उससे। समापति = समाती है, मिलती है। इमि = ऐसे।

●

२०--बसंत खण्ड

(१८३)

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचमी पूजो आई॥
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ॥
पदुमावति सब सखी हँकारीं। जावँत सिंहल दीप की बारीं॥
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचिमि होइ जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा॥
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ॥
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते॥
अवधि आइ सो पूजी जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव मढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह॥१८३॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में, कविवर जायसी रानी पद्मावती के बसंत पूजा सम्बन्धी उपक्रम की ओर संकेत देते हुए लिखते हैं—

कठिनाई के साथ, हाय राम हाय राम करते, शिशिर ऋतु व्यतीत हुई और बसंत-पंचमी आ पहुँची। नई ऋतु का उल्लास सर्वत्र छा गया। ऐसे मधुमय समय में धूप-छाया की आँख-मिचौनी क्षण-क्षण में अच्छी नहीं लगती। पद्मावती ने सिंहल द्वीप की नवेली सखियों को बुलाया और बोली—आज नवबसंत आ पहुँचा है। बसंत पंचमी है और सारा संसार वसंत की खुशी में शृङ्गार किये हुये सजधज रहा है। पलाशों ने सिर पर नव सिंदूर धारण किया है। अनेक सुगंधयुक्त पुष्प खिलकर प्रफुल्लित हो रहे हैं, जिनके पास लुभायमान भौंरे चारों ओर घिरे हुये हैं। दुःख के पीले पत्ते वृक्षों से अथवा जीवन से झर चुके हैं। उनसे सुख के नव-पल्लव प्रस्फुटित हो रहे हैं।

इस सुहावने समय में जिस बात की जिसने इच्छा की वह पूरी होने की घड़ी आ चुकी है। हे सखियो, देवमंदिर में चलो, मैं देवता की पूजा करना चाहती हूँ।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने प्रकृति का आलम्बन रूप चित्रण अत्यंत संश्लिष्ट किया है।

शब्दार्थ—देय देय = राम-राम करके, कठिनाई से। सिसिर = शिशर—जाड़े की ऋतु। सिरि पंचमी = वसंत पंचमी। हुलास = उल्लास। खिनु = पल। हँकारी = बुलाई। बारी = बालायें। निपाते = पत्रहीन। पालो = पल्लव। उपने = उगे। गोहने = सखियाँ।

(१८४)

फिरी आन रितु बाजन बाजे। औ सिंगार सब बारिन्ह साजे॥
कँवल करी पदुमावति रानी। होइ मालति जानहुं बिगसानी॥
तारा मँडर पहिर भल चोला। पहिरै ससि जस नखत अमोला॥
सखी कमोद सहस दस संगा। सबै सुगंध चढ़ाए अंगा॥
सब राजा रायन्ह कै बारीं। बरन बरन पहिरैं सब सारीं॥
सबै सुरूप पदुमिनी जाती। पान फूल सेंदुर सब राती॥
करहिं कुरेरें सुरँग रँगीलीं। औ चोवा चंदन सब गीलीं॥
चहुं दिसि रही वासना फुलबारी असि फूलि।
वह वसंत सौं भूली गा बसन्त ओहि भूलि॥१८४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

बसंत ऋतु मनाने की राजाज्ञा चारों ओर घूम गई। ऋतु के बाजे बजने लगे और सभी कुमारियों ने शृङ्गार सजाये। कमल-कली के समान रानी पद्मावती इस प्रकार से प्रमुदित हुई मानो मालती खिल रही हो। (रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार) पद्मावती ने तारा बूंटी की छपाई वाले वस्त्र, लँहगे आदि पहिने। ऐसा प्रतीत होता था मानो शशि ने अनमोल सितारों को अपने ऊपर ओढ़ लिया हो। पद्मावती के साथ कुमुदिनियों-सी दस हजार सखियाँ थीं, जो सभी अपने अंगों में सुगन्धित द्रव्य लगाये हुये थीं। सब राजाओं और सामन्तों की कन्यायें विविध रंगी साड़ियाँ पहने हुई थीं। ये रूप-लावण्य में सभी पद्मिनी जाति की स्त्रियाँ थीं। सभी पूजा के पान, फूल और सिंदूर की लाली से रची भरी हुई थीं। ये विविध रंगों से रंगीली बालाएँ क्रीड़ा-किल्लोल करती थीं। सभी चोवा, चंदन, अंगराग आदि के लेप से भीगी हुई थीं।

चारों ओर उनकी सुगन्ध-वासना ऐसे फैली थी जैसे फूली हुई फुलवारी हो। वह बालाएँ बसंत के उल्लास में खोई हुई थी और बसंत उसके उल्लास में खोया हुआ अनुरक्त था।

शब्दार्थ—आन = राजाज्ञा। तारामंडर = चाँद बूटी की छपाई वाला वस्त्र। रायन्ह = सामन्तों की। कुरेरे = क्रीड़ाएँ।

(१८५)

भै अहान पदुमावति चली। छतीस कुरी भै गोहने भली॥
भै कोरी संग पहिरि पटोरा। बाँभनि ढाउँ सहस अँग मोरा॥
अगरवारिनि गज गवन करेई। बैसिनि पाव हंस गति देई॥
चंदेलिनि ठवकन्ह पगु ढारा। चली चौहानी होई झनकारा॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि पेम मधु माँती॥
बानिनि भल सेंदुर दै माँगा। कैथिन चली समाइ न आँगा॥
पटुइनि पहिरि सुरँग तन चोला। औ बरइनि मुख सुरस तँबोला॥
चलीं पवनि सब गोहने फूल डालि लै हाथ।
बिस्वनाथ की पूजा पदुमावति के साथ॥१८५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब पद्मावती ने प्रस्थान किया तो सर्वत्र आह्वान का शोर हो गया। छत्तीसों कुल की सुन्दर कुमारियाँ उसके साथ हुई। रेशमी लहँगा पहनकर उसके साथ कोरिन चली। और ब्राह्मणी स्थान-स्थान पर अपने हँस-हँसकर अंग मरोड़ती चलती थी। अग्रवासिन हाथी की मस्त चाल से चलती थी। वैसिनें हंसगति की चाल से चल रही थीं। चंदेली नारियाँ ठमक-ठमक कर पाँव रखती थीं। और चौहान कुल की बालाएँ चलती थीं तो उनके पैरों से झंकार उठती थी। सुहाग से सज्जित सुनारिनें चल रही थीं। और कलवारिनें प्रेम का मधु पीकर मस्त चाल से चल रही थीं। बनैनी स्त्रियाँ माँग में सुन्दर सिन्दूर भरकर चल रही थीं। कायस्थिनें चलती हुई अंग-अंग में फूली नहीं समाती थीं। पटुवनी शरीर पर सुन्दर रँगीन वस्त्र पहिनें थीं। तमोलिनों के मुख मीठे पान के रस से भरे हुये थे।

हाथों में फूलों की डालियाँ लेकर नेग पाने वाली सखियाँ चली। इस प्रकार विश्वनाथ की पूजा के लिये पद्मावती के साथ सभी प्रकार की स्त्रियाँ-सखियाँ चली आ रही थीं।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी का लक्ष्य काव्य की सरसता प्रतिष्ठित करने का नहीं वरन् विभिन्न जातियों का वर्णन करने का है। जायसी की तत्कालीन सामाजिक दृष्टि विस्तृत थी, यहाँ यह विशेष रूप से स्पष्ट है।

शब्दार्थ—अहान=आह्वान। कुरी=कुल। गोहने=सखी। पटोरा=लहँगा। तमोला=पान। विश्वनाथ=शंकर।

(१८६)

कँवल सहाय चलीं फुलवारीं। फर फूलन्ह कै इंछा बारीं॥
आपु आपु महँ करहिं जोहारू। यह बसंत सब कर तेवहारू॥
चही मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लेइ सब कोई॥
फागु खेलि पुनि दाहब होली। से तब खेह उड़ाउब झोली॥
आजु साज पुनि देवस न दूजा। खेलि वसंत लेहु दै पूजा॥

भा आएसु पदुमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा॥
तस हम कहँ होइहि रखवारी। पुनि हम कहाँ कहाँ यह बारी॥
पुनि रे चलब घर आपुन पूजि बिसेसर देउ।
जेहिका होइ हो खेलना आजु खेलि हँसि लेउ॥१८३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में जायसी कहते हैं—

कमल जैसी पद्मावती की सहायतार्थ फुलवारी रूपी सखियाँ चलीं। इन सखियों को फल फूलों की उत्कट इच्छा थी। वे एक दूसरे को आपस में अभिवादन करतीं और कहतीं–यह वसंत का त्यौहार सबके लिये है। आज के दिन मनोरा-झूमक के फाग-राग गाने चाहिए। सब लोग पूजन के लिये फल और फूल ले लें और हम लोग परस्पर फाग मनावेंगी और तब होली जलाएँगी—धूल समेटेंगी—झोली भर-भर कर उड़ाएँगी। आज ही तो उत्सव मनाने का दिन है। फिर दूसरा दिन यह उत्सव मनाने के लिये न मिलेगा। बसंत खेलें, और देवता को पूजा अर्पित करें। पद्मावती का आदेश हुआ कि अब हम दुवारा इस प्रकार यहाँ का फेरा न करेंगी। हम पर इस प्रकार की कड़ी निगरानी होगी कि फिर हम कहाँ होंगी, कहाँ यह फुलवारी ?

विश्वेश्वर देव की पूजा करके फिर हम सबको अपने-अपने घर लौटना होगा। हे सखियो, जिसको जो खेल खेलना हो आज ही हँस-हँसकर खेल लो।

शब्दार्थ—मनोरा झूमक=एक राग। जोहारु=अभिवादन। तेवहारु=त्यौहार। दाहब=जलाना। खेह=धूल।

(१८७)

काहूँ गही आँब कै डारा। काहूँ बिरह जाँवु अति झारा॥
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर बड़हर कोइ न्यौंजी॥
कोइ दारिउँ कोइ दाख सो खीरी। कोइ सदाफर तुरँग जँभीरी॥
कोइ जैफर औ लौंग सुपारी। कोइ कमरख कोइ गुवा छुहारी॥
कोइ बिजौर कोइ नरियर जोरी। कोइ अँबिलि कोइ महुव खजूरी॥
कोइ हरपारेउरी कसौंदा। कोइ अँवरा कोइ बेर करौंदा॥
काहुँ गही केरा की घौरी। काहूँ हाथ परी निंबकौरी॥
काहूँ पाई निअरैं कहँ कहँ गए दूरि।
काहूँ खेल भएन विख कन्हूँ अँवित मूरि॥ १८७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में, कविवर जायसी वाटिका में सखियों की पारस्परिक क्रीड़ा का वर्णन करते हैं।

वाटिका में किसी बाला ने आम्र वृक्ष की डाली पकड़ ली, और किसीने मानो विरह में जलाई हुई काली जामुन की डाली झुका ली। इसी प्रकार किसी ने नारंगी और किसी ने चिरौंजी की झाड़ को क्रीड़ा के लिये चुना।

किसी ने कटहर, किसी ने बड़हल, किसी ने लीची के वृक्षों से क्रीड़ा की। किसाने

अनार, अंगूर और किसी ने खिरनी के वृक्ष से मनोविनोद किया। किसी ने शरीफे, किसी ने तुरंज और किसी ने नीबुओं के वृक्षों मे प्रणय किया। किसी ने अलग-अलग जायफल, लौंग, सुपारी, कमरख, गुवा और छुहारों के साथ रमण किया। किसी ने बिजौरा नींबू के साथ और किसी ने नारियल की जोड़ी से मन बहलाया।

अपनी रुचि के अनुसार किसी ने इमली, किसी ने महुआ और किसी ने खजूर का वृक्ष आलिंगन हेतु चुना। किसी ने हर्रा, किसी ने कसौंदे के साथ आनंद लिया। किसी ने आँवला, किसी ने वेर और किसी ने करौंदा ही चुना। किसी ने केले की धौंर पाई, किसी के हाथ नीम की निबौरी ही लगी।

इस प्रकार अपने-अपने मन के अनुसार किसी को रमण करने के लिये पास ही साधन उपलब्ध हुआ और किसी को तदर्थ दूर जाना पड़ा। किसी को यह खेल विरह के अनुताप के कारण विषमय प्रतीत हो रहा था और किसी को अमृत-सा सुखमय !

विशेष—श्री वासुदेवशरण जी ने अपने पद्मावत ग्रंथ में इसी पद का एक सखी-परक अर्थ और दिया है। श्लेष पद्धति मे भी मेरे बहुत सोचने पर सखीपरक अर्थ पूर्णतः समझ में नही आया। सम्भव हो तो कृपया उसे भी देखें।

शब्दार्थ—सरल है। अर्थ के अनुसार देखें।

(१८८)

पुनि बीनहिं सब फूल सहेलीं। जो जेहि आस पास रह बेलीं॥
कोइ केवरा कोइ चंप नेवारी। कोइ केतुकी मालति फुलवारी॥
कोइ सदबरग कुंद औ करनाँ। कोइ चँबेलि नागेसरि बरनाँ॥
कोइ सो गुलाल सुदरसन कूजा। कोइ सोनजरद पाव भलि पूजा॥
कोइ बोलसिरि पुहुप बकौरी। कोइ रूपमाँजरि कोइ गुनगौरी॥
कोइ सिंगारहार तिन्ह पाहाँ। कोइ सेवती कदम की छाहाँ॥
कोइ चंदन फूलन्ह जनु फूली। कोइ अजान बीरौ तर भूली॥
कोई फूल पल कोइ पाती हाथ जेहिक जहँ आँट।
कोइ सिउँ हार चीर अरुझानी जहाँ छुवै तहँ काँट॥ १८८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

तदुपरान्त सब सहेलियाँ फूल चुनने लगीं। जिसे जो फूल चुनने की आशा थी वह उसी की लता के पास गई। किसी ने केवड़ा, किसी ने चम्पा, किसी ने निवारी, किसी ने केतकी तथा किसी ने मालती की फुलवारी को चुना। किसी ने सदबरग, किसी ने कुन्द और किसी ने करना के पुष्प चुने। किसी ने चमेली, किसी ने नागकेसर तथा बरना के फूल चुने। किसी ने सुदर्शन, किसी ने गुलाल और किसी ने कूजा के फूल चुने। किसी ने सौनजरद के फूल चुनकर तल्लीन होकर पूजा की। किसी ने मौलश्री पाई। किसीने बकोरी के फूल, किसी ने रूप मंजरी और किसी ने श्वेतमल्लिका (सुनगौरी) के फूल तोड़े। किसी ने वहाँ हरसिंगार पाये, किसी ने सेवती और कदम्ब की छाया ग्रहण की। कोई चंदन के फूलों से

प्रसन्न हुई, और कोई किसी अपरिचित बिरवे के तले आकर सुध-बुध खो बैठी।

इस प्रकार किसी ने फूल पाये, और किसी के हाथों पत्तियाँ लगीं। जिसको जैसा कुछ मिला, वह उसने प्राप्त किया। किसी का कहीं चीर और हार उलझा था तो कोई जहाँ छूती थी वहीं कांटे मिलते थे।

शब्दार्थ—सरल है। भावार्थ के अनुसार देखें।

(१८६)

फर फूलन्ह सब डारि ओनाईं। झुण्ड बाँधि कै पंचमि गाई॥
बाजे ढोल डंड औ भेरी। मंदिर तूर झाँझ चहुँ फेरी॥
संख सींग डफ संगम बाजे। बंसकारि महुवर सुर साजे॥
औरु कहा जेत बाजत भले। भाँति भाँति सब बाजत चले॥
रथन्ह चढ़ीं सब रूप सोहाई। लै बसंत सब मँडप सिधाई॥
नवल बसंत नवल वै बारीं। सेंदुर बुक्का होइ धमारी॥
खिनहिं चलहिं खिन चाँचरि होई। नाँच कोउ भूला सब कोई॥
सेंदुर खेह उठा तस गँगन भएउ सब रात।
राति सकल महि धरती रात बिरिख बन पात॥१८६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

फल फूलों से युक्त सब डालियाँ झुकाई गई। और टोलियाँ बनाकर सब सखियों ने बसन्त पंचमी के गीत गाये। ढोल, डण्डे और भेरी बाजे बजने लगे। मर्दल, तूरी और झाँझ, चारों ओर घूमकर बजाये गये। शंख, सींगी, डफली साथ-साथ बजने लगे। बाँसुरी, और महुअर के स्वर उमड़ने लगे। और भी जितने अच्छे बाजे थे, तरह-तरह से सब चलते-चलते बजाये जाने लगे। रूप और शोभा से युक्त बालायें रथ पर चढ़ चढ़कर चलीं और बसन्त लेकर शिव-मंडप की ओर चल पड़ीं। नया बसन्त था। नयी उम्र की वे बालायें थीं। उमंग में भरकर सिंदूर की मुट्ठियाँ छिड़की जाने लगीं—उछल-कूद होने लगी। वे क्षण-क्षण में रुक-रुककर चंचल क्रीड़ा-नृत्य और कौतुक करती थीं। इस सब रास-रंग में वे अपने को भूल चुकी थी।

सिंदूर की धूल ऐसी उड़ रही थी कि सारा आकाश लाल हो गया। सारी भूमि लाल हो गई। सारे वन में पेड़ों के पत्ते लाल हो गये। (अत्युक्ति वर्णन)

शब्दार्थ—ओनाई = झुकी। धमारी = होली का हुड़दंग। चाचरि = रास-रंग।

(१६०)

एहि विधि खेलत सिंघल रानी। महादेव मढ़ जाइ तुलानी॥
सकल देवता देखैं लागे। दिस्टि पाप सब तिन्हके भागे॥
ये कबिलास सुनी आछरीं। कहँ हुत आईं परमेसरीं॥
कोई कहं पदुमिनीं आई। कोइ कहै ससि नखत तराईं॥
कोई कहै फूल फुलवारीं। भूलै सबै देखि सब बारी॥

एक सुरूप औ सेंदुर सारे। जानहुँ दिया सकल महि बारे ॥
मुछि परे जाँवत जे जोहे। जानहुँ मिरिग देवारी मोहे ॥
कोइ परा भँवर होइ बास लीन्ह जनु चाँप।
कोइ पतंग भा दीपक होइ अधजर तन काँप ॥१९०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

इस प्रकार कौतुक-क्रीड़ा करते हुए सिंहलद्वीप की रानी पद्मिनी महादेव के मढ़ में जा पहुँची। विस्मय से सब देवताओं ने उसे देखा। उसके दर्शन मात्र से देवताओं की कुदृष्टि का पाप लोप हो गया। उन्होंने विचारा—जो स्वर्ग लोक की अथवा इन्द्र की अप्सरायें सुनी जाती हैं, ये वे हैं। अथवा कहीं से परमेश्वरियाँ या मातृकाएँ आ गई हैं। (सन्देह अलंकार) किसी ने कहा—ये पद्मिनी स्त्रियाँ हैं। कोई बोला, ये चाँद की तारिकायें हैं। किसी ने कहा—ओह ! ये पुष्पमयी फुलवारियाँ हैं।

इस प्रकार इन सब बालाओं को देखकर ये सब लोग भ्रम में आ गये थे। एक तो वे सुन्दर थीं, और फिर सिंदूर मंडित थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो पृथ्वी पर सर्वत्र दीपक जला दिये गए हैं। जिसने उन्हें जहाँ तक देखा, मूर्छित हो गया। ऐसे जैसे बन में दीवाली की ज्वाला देखकर हिरण मोहित हो जाता है।

कोई इस प्रकार से बेसुध हो गया जैसे भौंरा चम्पा की सुगंध से हो जाता है। कोई दीप के पतंग के समान हो गया, जो उस पर जलकर उस अधजले शरीर से कम्पायमान हो जाता है।

शब्दार्थ—तुलानी=पहुँची। आछरीं=अप्सरायें। नखत=नक्षत्र। तराई=तारिकायें। सारे=मंडित, सजाना। चाँप=चम्पा। परमेसुरीं=मातृकाएँ।

(१९१)

पदुमावति गै देव दुआरू। भीतर मँडप कीन्ह पैसारू ॥
देवहि संसौ भा जिय केरा। भागौं केहि दिसि मँडप घेरा ॥
एक जोहार कीन्हि औ दूजा। तिसरें आइ चढ़ाएन्हि पूजा ॥
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा। चंदन अगर देव नहवावा ॥
भरि सेंदुर आगें होइ खरी। परसि देव औ पाएन्ह परी ॥
औरु सहेलीं सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं ॥
हौं निरगुनि जेइँ कीन्हि न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम्ह देवा ॥
बर संजोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इंछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि ॥१९१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में जायसी लिखते हैं—

पद्मावती देवद्वार पर पहुँची, मँडप के भीतर प्रवेश किया। तब मंदिर के देवता को भी जी में सन्देह हुआ कि चारों ओर से मेरा मँडप बालाओं ने घेर लिया है—किस ओर से निकलकर भागूँ ? पद्मावती ने एक बार प्रणाम किया और फिर दूसरी बार भी—और

तीसरी बार प्रणाम करके पूजा की भेंट चढ़ाई। फल-फूलों से सारा मँडप भरवाया गया। पद्मावती ने चन्दन और अगर से देव को स्नान कराया। देवता के सिंदूर का टीका भरकर विनत भाव से आगे खड़ी हुई। देवता को स्पर्श करके फिर वह उसके पाँवों पर गिर पड़ी। प्रार्थना में उसने कहा कि हे देव, मेरी अन्य सखियाँ विवाहित हो चुकी हैं। पर मुझ अभागिन के लिये क्या कहीं पर कोई वर नहीं है ? मैं तुम्हारी पूजा के गुण से विहीन हूँ। इसी कारण तो तुम्हारी सेवा-पूजा नहीं कर सकी। पर देव, तुम तो गुण और निर्गुण के प्रदाता हो, इनसे ऊँचे हो। तुम्हें किसी की सेवा की क्या आवश्यकता।

हे देव, मेरे योग्य किसी वर मे मुझे शीघ्र मिलाओ। मैं तुम्हारे लिये कलश चढ़ाने की मनौती करके जा रही हूँ। जिस दिन मैं सुहागिनी हूँगी, मनोवाँछित वर पाऊँगी—उस दिन तुरन्त आकर तुम्हें कलश चढ़ाऊँगी।

शब्दार्थ सरल हैं।

(१९२)

इंछि इंछि बिनई जसि जानी। पुनि कर जोरि ठाठि भै रानी ।।
उतर को देइ देव मरि गएऊ। सबद अकूट मँडप महँ भएऊ।।
काटि पबारा जैस परेवा। मर भा ईस औरू को देवा।।
भए बिनु जिउ नावत औ ओझा। बिखि भइ पूरि काल भा गोझा।।
जो देखैं जनु बिसहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा।।
भल हम आइ मनावा देवा। गा जनु सोइ को मानै सेवा।।
को इंछा पुरवै दुःख धोवा। जेहि मनि आए सो तनि तनि सोवा।।
जेहि धरि सखी उठावहिं सीस बिकल तेहि डोल।
धर कोइ जीव न जानै मुख रे बकत कुबोल।।१९२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में।

इच्छानुसार जिस प्रकार रानी विनती करना जानती थी, उसने की। फिर वह देवता को हाथ जोड़कर उठ गई; और देवता के उत्तर आशीर्वाद की कामना करने लगी। पर वहाँ उत्तर का आशीर्वाद कौन देता ? देवता तो मर चुका था ! देवमृत्यु का दिव्य शब्द गगन मंडप से उत्पन्न हुआ। जैसे पक्षी काटकर फेंक दिया जाता है, इसी प्रकार से ईश या शंकर जी की मृत्यु होगई थी। तब और देवताओं की तो बात ही क्या है ? ओझा और नावते—सभी पुजारी, जीव विहीन हो गये। प्रसाद की पूरियाँ विष की हो गईं, और गूँझियाँ मृत्यु रूपिणी हो गईं।

कहने का तात्पर्य यह है कि भोग सहित मंदिर के पुजारी अचेत हो गये। ऐसा लगता था, जो दीख पड़ता था, मानो वह साँप ने डसा हो। इस प्रकार का चमत्कारिक दृश्य देखकर पद्मावती हँस उठी। उसने सोचा, हम अच्छे देवता को मनाने आये कि देवता ही सो गया। फिर कौन हमारी सेवा स्वीकार करेगा ? हमारी इच्छा को कौन पूर्ण करे और कौन दुःखों को दूर करे ? जिसकी पूजा और मान्यता लेकर हम आईं थीं, वह तो

गहरी नींद सो गया है।

मंदिर में जिस किसी को भी सखियाँ पकड़कर उठाती थी, व्याकुल होकर उसी का सिर हिलने लगता था। किसी के धड़ में जीवन प्रतीत नहीं होता था। बस, मुख से वह असंगत बातें कहता था।

शब्दार्थ--अकूट=दिव्य। पबारा=फेंकना। नावत=तांत्रिक। गोभा=गूँभियाँ। बिख=विष।

(१६३)

ततखन आइ सखी बिहँसानी। कौतुक एक न देखहु रानी।।
पुरब बार कोई जोगी छाए। न जनौं कौन देश सौं आए।।
जनु उन्ह जोग तंत अब खेला। सिद्ध होइ निसरे सब चेला।।
उन्ह महँ एक जो गुरू कहावा। जनु गुर दै काहूँ बौरावा।।
कुँवर बतीसौं लक्खन राता। दसएँ लखन कहै एक बाता।।
जानहुँ आहि गोपिचँद जोगी। कै सो भरथरि आहि बियोगी।।
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिंघल दहुँ सो केहि कारन।।
यह मूरति यह मुंद्रा हम न देखा औधूत।
जानहुँ होहिं न जोगी केतु राजा कै पूत।।१६३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

उसी क्षण एक हँसती हुई सखी आई और बोली कि हे रानी! क्या तुम यह चमत्कार नहीं देख रही हो? मंदिर के पूर्व द्वार पर कुछ जोगी अड़े हुए हैं। न मालूम किस देश से वे आये हैं? ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नया योग-मंत्र पाया है और सिद्ध बनने के लिये सब शिष्य बनकर निकले हैं। उनमें से एक को गुरु बतलाया जाता है। पर प्रतीत होता है कि उस गुरु को किसी ने गुर अथवा मंत्र मारकर पागल बना दिया है। आशय यह है कि रत्नसेन उन सखियों को गुरू से अधिक पागल प्रेमी-सा प्रतीत हुआ। यही वह बतलाना चाहती है। वह गुरु, बत्तीसों लक्षणों से युक्त सुन्दर राजकुमार प्रतीत होता है। वह धर्म के दस लक्षणों में से एक "सत्य सत्य" कहने वाला गोपीचन्द है या वह वियोगी राजा भर्तृहरि है। राजा भर्तृहरि तो पिंगला रानी के लिये कजली बन में गये थे। और यह जो सिंहल में आया है, किस कारण से आया है—पता नहीं।

ऐसी मूर्ति और ऐसी मूद्रा का हमने इससे पहले कोई और अवधूत साधु नहीं देखा—ऐसा प्रतीत होता है कि वह योगी नहीं, किसी राजा का राजकुँवर है।

शब्दार्थ—गुर=मंत्र या गुड़। बौरावा=पागल हुआ। एकवाहा=सत्य।

(१६४)

सुनि सो बात रानी सिउँ चढ़ी। कहाँ सो जोगी देखौं मढ़ी।।
लै संग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ जनु अछरिन्ह घेरा।।
नैन चकोर पेम मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सौं ढरे।।

जोगी दिस्टि दिस्टि सो लीन्हा। नैन रूप नैनन्ह जिउ दीन्हा॥
जो मधु चहत परा तेहि पालें। सुधि न रही ओहि एक पियालें॥
परा भाँति गोरख का चेला। जिहु तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥
किंगरी गहे जो हुत बैरागी। मरतिहुँ बार उहै धुनि लागी॥
जेहि धंधा जाकर मन लागै सपनेहु सूझु सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं करहिं पेम मन बंध॥ १६४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजकुँवर साधु की बात सुनते ही रानी पद्मावती रथ पर चढ़ी और सखी से बोली कि मढ़ी में जाकर मैं भी तो देखूँ वह योगी कहाँ का है! सखियों को साथ लेकर वह मढ़ में पहुँची तो लगा मानो उस अकेले रत्नसेन योगी को अप्सराओं ने घेर लिया हो। योगी के नैन-कटोरे प्रेम के मद से पूर्ण थे। (रूपक अलंकार) ज्यों ही योगी की दृष्टि पद्मावती पर पड़ी कि उसके नैन-कटोरे छलक उठे। योगी की दृष्टि ने उसकी दृष्टि के ढाले हुए मद को मानो पी लिया। आँखों ने आँखों को प्राण दे दिये। कविवर जायसी कहते हैं, वह जो पद्मावती का मधु चखना चाहता था, अब स्वयं उसके चंगुल में पड़ा था। मद का एक प्याला पीकर ही उसे सुध-बुध न रही। गोरख के योगमार्ग का शिष्य होकर भी वह रूप के मद से मात खाकर मतवाला हो गया। उसका प्राण, शरीर त्यागकर मानो स्वर्ग जा चुका था। जीवन में किंगरी को धारण कर जो वैरागी बना था, मरती बार भी उसे पद्मावती के प्यार की धुन लगी हुई थी।

कविवर जायसी कहते हैं जिस कार्य में जिसका ध्यान लग जाता है, सपने में भी उसे वही काम होता हुआ दीखता है। इसी कारण तो तपस्वी ऊपर से तपस्या करते हैं, किन्तु उनका चित्त प्रेम के बन्धन से बँधा रहता है।

विशेष—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने योग साधना के समकक्ष प्रेम की महत्ता का स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। यह उनकी सूझ की एक अनंत दिशा है।

शब्दार्थ—अछरिन्ह=अप्सराओं ने। कचोर=कटोरा। ढरे=छलके। पालें =वश में। किंगरी=चिकारा। धंधा=काम, कार्य। सूझु=दिखाई देना।

(१६५)

पदमावति जस सुना बखानू। सहसहुँ कराँ देखा तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा। अधिकौ सूत सिअर तन लागा॥
तब चंदन आखर हियँ लिखे। भीख लेइ हुइँ जोगि न सिखे॥
बार आइ तब गा तैं सोई। कैसे भुगुति परापति होई॥
अब जौ सूर अहै ससि राता। आईहि चढ़ि सो गँगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखी सौं कही। इहै ठाँउ हौं बारति अही॥
परगट होइ तौ होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंग॥

जासौं हौं चख हेरौं सोइ ठांउ जिउ देइ।
एहि दुःख कबहुँ न निसरौं को हत्या असि लेइ ॥ १९५ ॥

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने रत्नसेन का सुग्गे के मुख से जैसा रूप-गुण-वर्णन सुना था वैसा ही सहस्रों किरणों वाले सूर्य के समान उसे तेजस्वी पाया भी। (उपमा है) रानी ने उसके शरीर पर चंदन का लेप किया, यह सोचकर कि शायद क्षण भर के लिये वह जाग जाय। परन्तु यह चन्दन का लेप तो और भी उसके विरह विदग्ध मूर्च्छित शरीर को शीतल सुखकर प्रतीत हुआ। अतः वह अधिक गाढ़ निद्रा में लीन हो गया। विवशतः तब यह देखकर पद्मावती ने चन्दन के अक्षरों से उसकी छाती पर लिखा—हे योगी, तूने अभी रूप की भीख पाने का योग साधन नहीं सीखा; जब मैं तेरे द्वार पर आई तो तू सो गया। तब तुझे भोग-भिक्षा की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है? अब यदि सूर्य रूप तू, मुझ चन्द्रमुखी पर आसक्त होगा तो सातवें आकाश पर चढ़कर मुझसे मिलने आयेगा। ऐसा सन्देश लिखकर पद्मावती ने सखी से कहा कि मैं इस स्थान पर आने में इसीलिये हिचक-झिझक रही थी। यदि यह बात प्रकट हो जायेगी तो रंग में भंग हो जायेगा। रत्नसेन ज्यों ही जागकर उठेगा, वह इस प्रकार मेरे वियोग में जल उठेगा कि जैसे दीपक पर पतंग जलता है।

मैं भी कैसी हूँ; जिसकी ओर आँख उठाकर देखती हूँ, उसी जगह देखने वाला प्राण दे देता है। इसी दुःख के कारण मैं कभी बाहर नहीं निकलती कि यह हत्या अपने सिर पर कैसे लूँ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

(१९६)

कीन्ह पयान सबन्ह रथ हाँका। परबत छाँड़ि सिंघल गढ़ ताका ॥
भए बलि सबै देवता बली। हत्यारिनि हत्या लै चली ॥
को अस हितू भुए गह बाहीं। जौं पै जिउ अपने तन नाहीं ॥
जौं लगि जिउ आपन सब कोई। बिनु जिय सबै निरापन होई ॥
भाइ बंधु औ लोग पियारा। बिनु जिय घरी न राखै पारा ॥
बिनु जिय पिंड छार कर कूरा। छार मिलाव सोइ हितु पूरा ॥
तेहि जिय बिनु अब मर भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा ॥
परी कया भुइँ रोवै कहाँ रे जिय बलि भीवँ।
को उठाइ बैसारै बाजु पियारे जीवँ ॥ १९६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने सब सखियों के साथ रथ हाँक कर प्रस्थान किया। पर्वत को छोड़कर सब रथ हाँकती हुई सिंघल गढ़ की ओर चलीं। सब बलवान देवता उसके दिव्य सौन्दर्य के कारण बलिदान हो गये थे। वह हत्यारिन पद्मावती हत्या का पाप लेकर चली गई।

कौन संसार में ऐसा हितैषी है जो मरे हुए की बाँह पकड़ता है—सगा होता है ! यदि अपने ही शरीर में प्राण नहीं हैं तो कौन किसका सगा होता है ? जब तक अपने प्राण हैं; तभी तक सब अपने हैं। प्राण न रहने पर सब पराये हो जाते हैं। भाई, बन्धु और प्यारे लगने वाले मित्र—ये सब प्राण निकल जाने पर घड़ी भर भी शव को पास नहीं रख सकते। बिना प्राणों के यह शरीर मिट्टी का ढेर है—व्यर्थ है। जो इसे मिट्टी में मिलाकर अन्त्येष्टि क्रिया कर देता है वही सच्चा हितैषी है। प्राण के विना अब राजा मरा हुआ था तो अब अचेत अवस्था में कौन बैठता, और गर्व से गरजता ?

राजा की काया पृथ्वी पर पड़ी रो रही थी कि उसका वह प्राण कहाँ चला गया जिसका भयंकर बलिदान दिया गया था ! प्राण प्यारे के बिना अब उसके शरीर को उठाकर कौन वैठाये ?

शब्दार्थ—परवत=पहाड़, महादेव का निवास स्थान। मुए=मरा हुआ। गहवाहीं=बाँह पकड़कर। जिउ=प्राण। पिंड=शरीर। छार=मिट्टी। हितू=हितैषी। भुइँ=पृथ्वी। वैसारै=वैठाये। वाज=विना।

(१६७)

पदुमावति सो मँदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी॥
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान औ सखी हँकारी॥
देव पूजि जब आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ आली॥
जनु ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। औ रबि उदौ पछिवँ दिसि लीन्हा॥
पुनि चलि सुरुज चाँद पहँ आवा। चाँद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा॥
दिन औ राति जानु भए एका। राम आइ रावन गढ़ छेंका॥
तस किछु कहा न जाइ निखेधा। अरजुन बान राहु गा बेधा॥
जनहुँ लंक सब लूसी हनूं विधाँसी बारि।
जागि उठिउँ अस देखत सखि सोकहहु बिचारि॥१६७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

अब पद्मावती अपने अन्तःपुर में लौट आई और हँसती हुई सिंहासन पर जा बैठी। दिन के बिहार-विलास की कथा सखियों से सुनती हुई रात को वह सो गई। सवेरा हुआ तो उसने सखी को बुलाकर कहा—

कल जब मैं देव पूजा से लौटकर आई, तो हे सखी ! मैंने रात में एक स्वप्न देखा। ऐसा देखा, मानो चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित हुआ है और सूर्य पश्चिम में निकला है। फिर सूर्य वहाँ से चलकर चाँद के पास आया और चन्द्र सूर्य दोनों का मधुर मिलन हुआ। ऐसा प्रतीत हुआ कि तब दिन और रात मिलकर एक हो गये हों। अथवा राम ने आकर रावण का किला घेर लिया हो। किंतु कुछ ऐसा हुआ कि जिसको खेद रहित नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत हुआ कि अर्जुन के बाण ने द्रोपदी हित राधा बेध किया है।

ऐसा प्रतीत हुआ कि सारी लंका अथवा कटि लूट ली गई और हनुमान जी ने सारी

वाटिका को या बाला के कुमारित्व को उजाड़ दिया है। यह भयानक स्वप्न देखकर मैं उठ पड़ी। हे सखी ! मुझे इस स्वप्न का रहस्य समझ कर बताओ।

शब्दार्थ—मँदिर = मंदिर, अन्तःपुर। पईठि = पहुँची। बईठी = बैठी। सूती = सोई। बिहान = सवेरा। हँकारी = बुलाई। काली = कल। जनु = मानो। छेका = घेरा। निखेदा = बुरा। लूसी = लूटी। बिधाँसी = उजाड़ी या विध्वंस की।

(१९८)

सखी सो बोली सपन बिचारू। कालि्ह जौं गइहु देव के बारू।।
पूजि मनाइहु बहुत बिनाती। परसन आइ भएउ तुम्ह राती।।
सूरुज पुरुख चाँद तुम्ह रानी। अस बर देव मिलावा आनी।।
पछिवँ खंड कर राजा कोई। सो आवै बर तुम्ह कहँ होई।।
पुनि कछु जूझि लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि संग्रामा।।
चाँद सुरुज सिउँ होइ बिहाहू। बारि बिधाँसब बेधब राहू।।
जस ऊखा कहँ अनुरूध मिला। मेंटि न जाइ लिखा पुरबिला।।
सुख सोहाग है तुम्ह कहँ पान फूल रस भोग।
आजि कालि्ह भा चाहिअ अस सपने क सँजोग।।१९८।।

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

पद्मावती के स्वप्न पर विचार करके चतुर सखी ने उत्तर दिया :—कल जो तुम देवद्वार पर गई थी और अत्यन्त विनती मनुहार की थी अतः देवता ने प्रसन्न होकर तुम्हें वह स्वप्न दिखाया है। वह सूर्य जो तुमने सपने में देखा है, तुम्हारा पति है। चाँद सी तुम, उसकी रानी हो। इस प्रकार देवता ने तुम्हें तुम्हारे वर से मिलाया है। पश्चिम देश का कोई राजा आयेगा और वह तुम्हारा वर बनेगा। फिर तुम जैसी स्त्री के लिये उसका तुम्हारे पिता से कुछ युद्ध होगा। तुम्हारे पिता रूपी रावण से उसका ऐसे ही संग्राम होगा जैसे राम का हुआ था। अन्ततः चाँद और सूरज का अर्थात् तुम्हारा और उसका विवाह सम्पन्न होगा। वाटिका या बाला का विध्वंस होना तुम्हारे कौमारित्व का सम्भोग से बींधा जाना बस इसे ही अर्जुन के द्वारा रोहू मछली का बींधा जाना या राधावेध समझो। जैसे ऊषा को स्वप्न में अनिरुद्ध पति मिला था, उसी प्रकार तुमने भी अपना पति पा लिया है। हे रानी, पूर्व जन्म का लिखा हुआ संयोग कभी मिटाया नहीं जा सकता।

तुम्हारे भाग्य में जो सुख, सौभाग्य, पान, फूल, और रसादि का भोग लिखा है, वह आजकल में ही उपलब्ध हुआ चाहता है। इस स्वप्न का रहस्य अथवा फल यही है।

शब्दार्थ—कालि्ह = कल। गइहु = गई थी। बारू द्वार। बिनती = विनती। परसन = प्रसन्न। पुरुख = पति। जूझ = युद्ध। रामा = स्त्री। बिआहू = विवाह। बारि = वाटिका या बाला। बिधाँसब = विध्वंस। ऊखा = ऊषा। अनुरुध = अनिरुद्ध। पुरबिला = पूर्वजन्म।

२१--राजा रत्नसेन सती खण्ड

(१६६)

कै बसंत पदुमावति गई। राजहिं तब बसंत सुधि भई॥
जौं जागा न बसन्त न बारी। ना सो खेल न खेलनिहारी॥
ना ओहि की वैं रूप सहांई। मैं हेराइ पुनि दिस्टि न आंई॥
फूल झरें सूखी फुलवारीं। दिस्टि परी उकठीं सब झारीं॥
केइँ यह बसत बसंत उजारा। गा सो चाँद अँथवा लै तारा॥
अब तेहि बिन जग का अँधकूपा। वह सुख छाँह जरौं हौं धूपा॥
बिरह दवा अस को रे बुझावा। को प्रीतम सें करै मेरावा॥
हिआ देखि सो चंदन घेवरा मिलि कै लिखा बिछोव।
हाथ मींजि सुर धुनै सो रोवै जो निचिंत अस सोव॥१६६॥

भावार्थ—पद्मावती के मठ से चले जाने के पश्चात् रत्नसेन की विरह-दशा का वर्णन करते हुये कविवर जायसी लिखते हैं—

वसंतोत्सव मनाकर और पूजन करके जब पद्मावती चली गई तब राजा रत्नसेन को वसंत की सुधि-चेतना आई। पर सचेत होने पर न वहाँ वसंत था, न वहाँ वाटिका थी, न वैसा खेल था, न उसकी क्रीड़ा करने वाली वे रूपवन्ती सहेलियाँ ही थीं। वे सब ऐसी अदृश्य हो गई कि फिर दृष्टि में न आई। फूल झर चुके थे और फुलवारियाँ सूख गई थीं। उसे सर्वत्र केवल सूखी हुई झाड़ियाँ ही दृष्टिगोचर हुई। यह देखकर रत्नसेन ने सोचा कि किसने इस गुलजार वसंत को उजाड़ दिया है? पद्मावती रूपी चन्द्र अपनी सखियों रूपी तारिकाओं को साथ लेकर अस्त हो गया। अब तो उसके बिना मुझ रत्नसेन के लिये सारा संसार अन्धकूप बन गया है। मैं अभागा तो विरह की धूप में जल रहा हूँ और वह सुख की शीतल छाया में जा बैठी है। विरह की इस दावाग्नि को, ऐसा कौन हमदर्द है, जो बुझाये? ऐसा कौन साथी है जो बिछुड़े हुये प्रीतम से फिर मिलाप करा दे?

फिर रत्नसेन ने अपना हृदय देखा तो उस पर चंदन लगा देखा, जिसमें मिलकर बिछुड़ जाने की बात लिखी थी। यह देखकर रत्नसेन हाथ मल-मलकर दुःख से सिर धुनने लगा और वह जो अभी निश्चिन्त होकर सो रहा था, विलाप करने लगा।

शब्दार्थ—बारी=वाटिका। हेराइ=खोगई। उकठी=सूखी। अँधकूपा=अँध-कूप। दवा=दावाग्नि। मेरावा=मिलाप। घेवरा=लगा हुआ। मींजि=मलकर।

(२००)

जस बिछोव जल मीन दुहेला। जल हुति काढ़ि अगिनि महँ मेला॥

चंदन आँक दाग होइ परे। बुझहिं न ते आखर परजरे ॥
जनहुँ सरागिनि होइ होइ लागे । सब बन दागि सिंघ बन दागे ॥
जरे मिरिग बनखँड तेहि ज्वाला । औ ते जरे बैठ तहँ छाला ॥
कत ते अंक लिखा जेंहि सोवा । मकु आँकत नहिं करत बिछोवा ॥
जस दुखंत कहँ साकुंतला । माधौनलहि कामकंदला ॥
भए अंक नल जैस दमावति । नैना मूंद छपी पदुमावति ॥
आइ वसंता छपि रहा होइ फूलन्ह के भेस ।
केहि बिधि पावौं भँवर होइ कौनु सो गुरु उपदेस ॥२००॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जैसे मछली जल से विलग होकर पीड़ा पाती है; इसी तरह मिलन के जल से खींचा हुआ राजा अनुभव कर रहा था कि उसे विरह की आग में झोंक दिया गया था। जो चन्दन के अक्षर पद्मावती ने उसकी छाती पर लिखे थे वे विरह की अग्नि में जलकर मानो दाग़ बन गये थे। वे प्रज्वलित अक्षर या दाग़ बुझे नहीं, अभी जल रहे थे। मानो वे अक्षर जलती हुई सलाख से लिखे गये थे। उन शलाखों ने सारा जंगल जला दिया और बन के सारे सिंह दाग दिये गये थे। उस ज्वाला मे वन के मृग जलकर काले हो गये और वह मृगशालाएँ भी काली पड़ गई जिस पर योगी वैठे थे और वे योगी भी उस आग मे जल गये। रत्नसेन सोचता है कि पद्मावती ने वे अक्षर मेरे उर पर क्यों लिखे जिनकी शीतलता के कारण मैं खूब सो गया ? संभवत. यदि यह अक्षर वह न लिखती तो यह बिछोह न होता। जैसा विरह दुःख शकुन्तला का दुष्यन्त के लिये और कामकंदला का माधवानल के लिये था वैसा ही विरह दुःख पद्मावती के हित मेरे लिये हो रहा है। यह अक्षर ऐसे ही विरहयुक्त हैं जैसे नल और दमयन्ती के लिये थे। मेरी आँखों को मूँदकर मुझे सोता छोड़ न जाने पद्मावती कहाँ छिप गई ?

मेरा आया हुआ प्रिय वसन्त (पद्मावती) यहीं कहीं फूलों के वेष में छिपा हुआ है। पर मैं किस तरह भौरा बनकर उसे देख पाऊँ ? उसके पाने के लिये कौन गुरु मुझे अपने उपदेश प्रदान करेगा ?

विशेष—प्रस्तुत पद में विरह पीर की जहाँ गम्भीर अभिव्यंजना है वहाँ अंतिम पंक्तियों में एक प्रेमी की पगलाई हुई अवस्था का सुन्दर चित्रण है। प्रेमी को फूल-फूल में छिपी अपनी प्रेयसि की झलक मिलती है।

शब्दार्थ—बिछोव=वियोग। परजरे=प्रज्वलित हुये। आँक=अक्षर। सरागिनि=सलाख। मकु=शायद। साकुंतला=शकुंतला। दुखंत=दुष्यंत। माधौनलहिं, कामकंदला=माधवानल और कामकंदला।

(२०१)

रोवै रतन माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़ होइ तहाँ कूरा ॥
कहाँ बसंत सो कोकिल बैना। कहाँ कुसुम अलि बेधे नैना ॥

कहँ सो मूरति परी जो डीठी । कढ़ि लीन्ह जिउ हिएँ पईठी ॥
कहाँ सो दरस परस जेहि लाहा । जौं बसन्त करीलहि काहा ॥
पात बिछोव रूख जौं फूला । सो महुवा रोवै अस भूला ॥
टपकै महुव आँसु तस परई । होई महुवा बसंत जेउँ झरई ॥
मोर बसंत सो पदुमिनि बारी । जेहि बिनु भएउ बसंत उजारी ॥
पावा नवल बसंत बन बहु आरति बहु चोप ।
अैस न जाना अंत होइ पात झरहिं होइ कोंप ॥२०१॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

राजा के रुदन के रक्ताश्रु इस प्रकार बिखर रहे थे मानो माला के माणिक्य टूट-टूटकर बिखर रहे हों। जहाँ वह खड़ा होता था, उनका ढेर लग जाता था। रत्नसेन सोचता था कि हाय, बसन्त और उसकी कोकिल की मधुर कूक कहाँ विलुप्त हो गई! वह केतकी का फूल कहाँ गया जिसने मेरे नैन-रूप भौंरों को वींधा था ? (रूपक) वह मूर्ति कहाँ छिप गई जो एक बार दृष्टिगत हुई थी—वह दृष्टि, जो मेरे प्राणों में प्रविष्ट होकर उन्हें निकालकर ले गई है ! उसका दरस-परस कहाँ विलुप्त हो गया, जो मेरा एकमात्र सुख-लाभ था? भले ही वसंत हो; पर अभागे करील को उससे क्या लाभ होता है ? तात्पर्य यह है कि भले ही पद्मावती आई हो पर मुझ रत्नसेन के लिए सिवाय दुर्भाग्य के उसमे और क्या मिला ? जिस प्रकार पत्तों के बिछोह में महुआ का वृक्ष खिला फूला हुआ भी रुदन करता है; इसी प्रकार रत्नसेन भी भूला-भूला सा रुदन करता था। जिस प्रकार बसन्त ऋतु में महुआ झरता है; इसी प्रकार राजा के आँसू झरते थे। जिस प्रकार महुआ के लिए बसन्त ही में पतझर होता है उसी प्रकार रत्नसेन के जीवन-तरु पर भी पतझर आ गया था, यद्यपि उसके यौवन का अभी वसन्तोत्सव था। राजा सोचता है कि मेरा बसन्त तो कुमारी पद्मिनी थी; जिससे बिछुड़कर मेरा वसन्त उजड़ गया है, उजाड़ हो गया है।

अत्यन्त व्यथा और चाह के पश्चात् मैंने वह वसन्त पाया था—पद्मावती आई थी। मैं यह न जानता था कि प्रेम का ऐसा दयनीय अन्त होगा, जो कोंपल रूप में ही पत्ते झड़ जायेंगे। तात्पर्य यह है कि प्रेम की अर्द्ध-प्रस्फुटित कामना ही कुचल जायेंगी।

शब्दार्थ—माल = माला। बैना = कूक। डीठि = दृष्टि। चोप = चाह। आरति = व्यथा। कोंप = कोंपल।

(२०२)

अरे मलिछ बिसवासी देवा । कंत में आइ कीन्हि तोरि सेवा ॥
आपनि नाउ चढ़ै जो देई । सो तौ पार उतारै खेई ॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा । सुवा क सेंवर तू भा मोरा ॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा । सो अैसें बूड़ै मँझधारा ॥
पाहन सेवा काह पसीजा । जरम न पलुहै जौं निति भीजा ॥
बाउर सोइ जो पाहन पूजा । सकति को भार लेइ सिर दूजा ॥

काहे न पूजिय सोइ निरासा। मुएँ जिअत मन जाकरि आसा॥
सिघ तरेंड़ा जिन्ह गहा पार भए तेहि साथ।
ते परि बूड़े बार ही भेंड पोंछि जिन्ह हाथ ॥२०२॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में रत्नसेन खीझकर मंडप के देव से कहता है—

हे विश्वासघाती देवता म्लेच्छ! मैंने आकर तेरी सेवा क्यों की ? अपनी नाव चढ़ने के लिए जो देता है उसे वह नाविक खेकर अवश्य ही पार उतारता है। सुफल की कामना करके मैं तेरे चरणों में आया था पर तू मेरे लिए इस प्रकार से व्यर्थ निकला जैसे तोते के लिए सेमर का फूल। ठीक ही तो है जो पत्थर पर चढ़कर पार होने की इच्छा रखता है वह मेरी तरह ही मँझधार में डूबता है। पत्थर को पूजने से वह क्या पसीजेगा ? जीवन भर नित्य सिंचन करने से भी पत्थर नहीं पसीजता। वह पागल है जो पत्थर की पूजा करता है। किसकी ऐसी शक्ति है कि दूसरे भार को अपने सिर पर ले ? उस आशा रहित ईश्वर को क्यों न पूजे जिसकी जीवन और मरण में, मन में एकमात्र आशा बनी रहती है ? तात्पर्य यह है कि ईश्वर ही एकमात्र निराश की पूजा का अवलम्ब है।

जिन्होंने तैरता हुआ शक्तिशाली सिंहों का बेड़ा पकड़ा है, वे उसके साथ पार हो गये हैं। परन्तु वे, जिनके हाथ भेड़ की दुम पकड़ते हैं; धार के किनारे पर ही डूब जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने इस्लाम धर्म के अनुकूल मूर्ति पूजा का खण्डन और एकेश्वरवाद के महत्व का प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थ—मलिछ=मलेच्छ। बिसवासी=विश्वासघाती। पलुहैं=पल्लवित होना। टेकहु=सहारा लिया। भा=हुआ। पाहन=पत्थर। निराश=आशा रहित। तरेंड=बेडा।

(२०३)

देव कहा सुनु बौरे राजा। देवहिं अगुमन मारा गाजा॥
जौं पहले अपुने सिर परई। सो का काहु कै धरहरि करई॥
पदुमावति राजा कै बारी। आइ सखिन्ह सौं मँडप उघारी॥
जैसे चाँद गोहने सब तारा। परेउँ भुलाइ देखि उँजियारा॥
चमकै दसन बीजु की नाईं। नैन चक्र जमकाल भवाईं॥
हौं तेहि दीप पतँग होई परा। जिउ जम गहा सरग लै धरा॥
बहुरि न जानौं दहुँ का भई। दहुँ कबिलास कि कहुँ उपसई॥
अब हौं मरौं निसाँसी हिएँ न आवै साँस।
रोगिआ की को चालै बैदहि जहाँ उपास ॥२०२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की पगलाई बातों को सुनकर देवता बोला कि हे पागल राजा! सुन, तेरे देवता पर पद्मावती के आने से उसके सौंदर्य की गाज गिर पड़ी थी। मैं तो तुझसे पहले

ही मूर्छित हो गया था। पहले ही यदि किसी के सिर पर वज्रपात हो जाय तो भला वह दूसरे की क्या रक्षा करेगा? वह राजा की कन्या पद्मावती सखियों के साथ मण्डप में आई और उसका उघड़ा हुआ चन्द्रवदन दीख पड़ा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चाँद समस्त तारों के साथ उतर आया हैं। उसके मुख का समुज्ज्वल प्रतिविम्ब देखकर मैं स्वयं आत्म-विस्मृत हो गया था। उसके दाँत ऐसे चमकते थे जैसे बिजली! उसके चंचल नेत्र-चक्र यमराज के खाँडे की तरह घूम रहे थे। मैं उस दीपक में पतंगे की भाँति झुलसने के लिए गिर पड़ा। यमराज ने मेरे प्राणों को लेकर स्वर्ग में रख दिया। और उसके पश्चात् मुझे पता न रहा कि कब क्या घटना घटी, वह कहाँ गई, स्वर्ग में चली गई—या विलोप हो गई?

अब मैं श्वास विहीन, मरणासन्न हालत में हूँ। हृदय में साँसों का संचार नहीं। देवता कहता है कि अरे जहाँ वैद्य को ही उपवास करना पड़ रहा है वहाँ रोगी के लिए निदान की बात कौन चलाये? (दृष्टान्त अलंकार है)

शब्दार्थ—बौरे=पगलाए हुए। अगुमन=आगमन। गाजा=वज्र। धरहरि=बचाव। उघारि=मुँह खोले हुए। गौहने=संग में। दसन=दाँत। बीजु=बिजली। नाईं=तरह। जमकात=यम की कटारी। भँवाई=घूमते थे। जम=यम। बहुरि=फिर। उपसहिं=हटना, गायब होना। निसाँसी=श्वाँस विहीन। उपास=उपवास। को चालै=कौन कहे। बैदहिं=वैद्य को।

(२०४)

अनु हौं दोख देहुँ का काहू। संगी कया मया नहिं ताहू॥
हतेउ पियारा मीत बिछोई। साथ न लागि आपु गै सोई॥
का मैं कीन्ह जो काया पोखी। दूखन मोहि आपु निरदोखी॥
फागु बसन्त खेलि गै गोरी। मोहि तन लाइ आग दै होरी॥
अब अस काह छार सिर मेलौं। छारै होउँ फागु तस खेलौं॥
कत तप कीन्ह छाड़ि कै राजू। आहर गएउ न भा सिध काजू॥
पाएउँ नाहिं होइ जोगी जती। अब सर चढ़ौं जरौं जसि सती॥
आइ जो प्रीतम फिरि गएउ मिला न आइ वसंत।
अब तन होरी घालि कै जारि करौं भसमंत॥२०४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन ने कहा कि हे देव! मेरे पक्ष में हो जा। भला मैं दोष किसे दूँ जब कि मेरी काया ही मुझपर दयालु नहीं है? इस काया ने मुझे मार दिया है—मेरे प्रेमी से मेरा विछोह कराया है। मेरा प्रेमी आया और चला भी गया; पर यह काया सोई रही—उसके साथ न गई। मैंने यह कैसी भूल की जो इस कृतघ्न काया का पालन पोषण किया? मेरे इस शरीर ने मुझे ही दोषी बना दिया। अतः हे देव, सब दोष मेरा ही है; आप तो निर्दोष हैं। बसन्त मनाकर और फाग खेलकर पद्मावती सुन्दरी चली गई। मानो उसने मेरे शरीर की होली में आग लगाई। (दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता हैं कि मेरा शरीर उस

पर मोहित हुआ और उसने प्राणों में आग लगा दी) अब क्या शेष रह गया है, जो योगी बनकर इस प्रकार सिर में राख रमाता रहूँ ? जी चाहता है कि स्वयं राख बनूँ, कुछ इस प्रकार का फाग खेलूँ कि मैं स्वयं जलकर भस्म बन जाऊँ। मैंने क्यों राजपाट छोड़ा और तप किया ? मैंने आहार भी गंवाया और विहार भी ? मेरा कोई काम सिद्ध नहीं हुआ। योगी यती होकर भी मैं पद्मावती को न पा सका। अतः अब सती की भाँति चिता पर चढ़कर पूर्णतः जल मरूँगा।

मेरा जो प्रिय आया था वह आकर लौट गया। बसन्त में मिल करके भी मुझको न मिला; यह मेरा दुर्भाग्य है। अब मैं अपने शरीर को होली में डालकर जला दूँगा, भस्म कर दूँगा।

शब्दार्थ—अनु=अनुकूल। हौं=मैं। दोख=दोष। कया=काया। मया=दया। पोखि=पोषण किया। दूखन=अपराध। निर्दोषी=निर्दोष। गोरी=सुन्दरी। मोहि=मोहित कर। छारै=राख। आहर=भोजन। भस्मंत भस्मांत।

(२०५)

ककनूँ पंखि जैस सर साजा। सर चढ़ि तबहिं जरा चह राजा॥
सकल देवता आइ तुलाने। दहुँ कस होइ देव अस्थाने॥
बिरह आगि वज्रागि असूझा। जरै सूर न बुझाएँ बूझा॥
तेहि के जरत उठै बज्रागी। तीनौ लोक जरहिं तेहि आगी॥
अबहुँ की घरी चिनगि तेहि छूटहि। जरि पहार पाहन सब फूटहि॥
देवता सबै भसम भए जाहीं। छार समेटे पाउब नाहीं॥
धरती सरग होइ सब ताता। है कोइ एहि राख विधाता॥
मुहमद चिनगी अनँग की सुनि महि गँगन डेराइ।
धनि बरिही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ॥२०५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जिस प्रकार विरही ककनू पक्षी अपने मरने से पूर्व अपने घौसले की ही चिता सजाता है, इस प्रकार राजा ने जलने की इच्छा लिए अपनी चिता सजाई। उसी अवसर पर सारे देवगण आ पहुँचे कि देखें देव-स्थान पर यह कैसी विचित्र घटना घटने जा रही है ! उन्होंने देखा कि वहाँ न देख सकनेवाली विरह की प्रचण्ड आग जल रही है। उसमें सूर्य रूपी रत्नसेन जल रहा है। वह विरहाग्नि बुझाये नहीं बुझती। देवताओं ने सोचा कि रत्नसेन के जलते ही जो वज्राग्नि भड़केगी, उससे तीनों लोक जल जायेंगे। अभी इसी घड़ी उससे चिनगारियाँ छूटेंगी और उससे पहाड़ जलकर खण्ड खण्ड जायेंगे। पत्थर चकनाचूर हो जायेंगे। उस आग से सब देवता भस्म हो जायेंगे। उनकी राख समेटने पर भी कोई न समेट पायेगा। पृथ्वी और आकाश पूर्णतः सन्तप्त और समाप्त हो जायेंगे। ऐसा कोई है, जो इस प्रलय-तांडव को विधाता बनकर रोक ले और उसकी रक्षा करे ?

कविवर जायसी कहते हैं कि हे मुहम्मद ! काम की चिनगारी का नाम मात्र

सुनने से ही धरती अम्बर व्याकुल हो जाते हैं। विरही, उसका विरह और उसका हृदय धन्य है, जिसमें यह सारी विरहाग्नि समाई रहती है।

विशेष—कविवर जायसी ने प्रस्तुत पद में विरह की अत्यन्त गूढ़ व्यंजना की है विरह ही महान है—"विरह प्रेम की जागृति गति है और सुपुप्त मिलन है।"

शब्दार्थ—कुकनूँ=एक पक्षी जो आयु व्यतीत होने पर एक ऐसा गीत गाता है जिसमें उसका घोंसला जल जाता और वह जल मरता है। बजागी=चिनगारी। अनंग=कामदेव।

(२०६)

हनिवँत बीर लंक जेइँ जारी। परबत ओहि रहा रखवारी॥
बैठ तहाँ भा लंका ताका। छठएँ मास छेइ उठि हाँका॥
तेहि की आगि उहौ पुनि जरा। लंका छाँड़ि पलंका परा।
जाइ तहाँ यह कहा सँदेसू। पारबती औ जहाँ महेसू॥
जोगी आहि बियोगी कोई। तुम्हरे मँडप आगि तेहिं बोई॥
जरे लँगूर सो राते उहाँ। निकसि जो भागे भए करमुँहाँ॥
तेहि बज्राग्नि जरै हौं लागा। बज्जर अंग जरत उठि भागा॥
रावण लंका मैं डही ओइँ हम डाहन आइ।
कनै पहार होत है रावट को राखै गहि पाइ॥ २०६॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने रत्नसेन की विरहाग्नि को प्रकट किया है। वर्णन में अत्यन्त उलझी हुई पौराणिक कथा-कल्पना को गूँथा गया है, जो बिल्कुल असंगत, अनुपयुक्त और अपटु कही जायगी। जायसी का इस सम्बन्ध में अपरिपक्व ज्ञान आभासित होता है। मेरा विचार है कि जहाँ अन्य बहुत से अंश विद्वानों ने अप्रमाणित घोषित किये हैं, वहाँ यह अंश भी प्रसंग और वर्णन की दृष्टि से अत्यन्त अप्रमाणिक समझा जाना चाहिए। मुझे अन्य अप्रमाणिक अंशों में कहीं अभी तक इतनी ऊहापोह दृष्टिगत नहीं हुई जितनी यहाँ—

वीर हनुमान, जिसने लँका फूँकी थी—उसी पर्वत की रखवाली करता था। वहीं बैठकर वह लंका की रक्षा की ताक लगाए रहता था। हर छठे मास वह उठकर हुंकार देता था। रत्नसेन की चिताग्नि से ऐसा बलवान हनुमान भी जलने लगा। अतः वह लंका को छोड़कर हिंदेशिया के किसी पलंका द्वीप में जा गिरा, आशय यह कि कर्त्तव्य धर्म से च्युत होकर भाग खड़ा हुआ। वहाँ जाकर उसने शिव-पार्वती से यह संदेश कहा कि कोई वियोगी, योगी का भेष धरकर आया है। उसने तुम्हारे मंडप में अग्नि-बीज बो दिया है। उस आग में जलकर लंगूरों का मुख लाल हो गया, बंदर बन गये हैं। जो निकल-कर भाग गये वे काले मुख के हो गये। हनुमान कहते हैं कि हे शंकर पार्वती! मैं भी उस आग से जलने लगा। वज्र जैसे अंगों का होकर भी मैं जल उठा, अतः उठकर भागा।

हनुमान कहते हैं कि रावण की लंका तो मैंने जलाई थी, और यह योगी हमें जलाने

आया है। सुमेरु पर्वत काला या लाजवर्दी हुआ जा रहा है। उस योगी के पाँव पकड़कर कौन उसे ऐसा अनर्थ करने से रोकेगा ?

शब्दार्थ—ताका=निगरानी। हाँका=हुँकार। कनै पहार=सुमेरु पर्वत। रावट=काला या लाजवर्दी।

२२--पार्वती-महेश-खण्ड

(२०७)

ततखन पहुँचा आइ महेसू। बाहन बैल कुस्टि कर भेसू॥
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे। रुंडमाल औ हत्या काँधे॥
सेस नाग औ कंठै माला। तन बिभूति हस्ती कर छाला॥
पहुँची रुद्र कँवल के गटा। ससि माथें औ सुरसरि जटा॥
चँवर घट औ डँवरू हाथा। गौरा पारबती धनि साथा॥
औ हनिवंत बीर सँग आवा। धरे वेष जनु बँदर छावा॥
औतहि कहेन्हि न लावहु आगी। ताकरि सपथ जरहु जेहि आगी॥
कै तप करै न पारेहु कै रे नसाएहु जोग।
जियत जीय जस काढ़हु कहहु सो मोंहि बियोग॥ २०७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

उसी क्षण शंकर जी आ पहुँचे। अपने बैल पर सवार वे कुष्टी या कोढ़ी का भेष बनाये बैठे थे। उनके शरीर पर गुदड़ी थी और वे हड्डियों की माल शरीर से बाँधे हुए थे। समक्ष रुंडों की माला पहने हुए थे। उनके कन्धे पर मौत चढ़ी हुई थी, और गले में शेषनाग की माला पहने हुए थे। शरीर पर भभूत रमी थी और हाथों में हाथी की खाल लगी हुई थी। रुद्राक्ष और कमल गट्टों की पहुँची या सुमिरनी बाँधे हुए थे। माँथे पर चन्द्रमा और जटाओं में गंगा थी। हाथों में चँवर, घंटा और डमरू था। पार्वती साथ हैं। वीर हनुमान भी उनके संग आया, जिसने बंदर के बच्चे का भेष धारण किया हुआ था। आते ही उन्होंने रत्नसेन से कहा कि तुम इस प्रकार आग न लगाओ! तुम्हें उसी की शपथ दी जाती है जिसकी विरह की आग में तुम जल रहे हो।

या तो तुम पूर्ण तप करने में असमर्थ रहे या तुम्हारा योग खंडित हो गया है। जीते जी प्राण क्यों दे रहे हो ? अपने वियोग के बारे में बतलाओ तो कुछ उपचार किया जाएगा।

विशेष—शिव का पौराणिक रूप सजीव चित्रवत खड़ा किया गया है। यह जायसी की काव्य-कला का महान कौशल कहा जायगा।

शब्दार्थ—ततखन = उसी क्षण। कुष्टि = कोढ़ी। हड़ावरि = हड्डियों की माला। हत्या = मृत्यु। मुंडमाल = सिरों की माला। नसायो = नष्ट किया।

(२०८)

कहेसि को मोहि बातन्ह बेलवाँवा। हत्या केर न तोहिं डर आवा॥
जरै देहु दु.ख जरौं अपारा। निस्तरि परौं जरौं एक बारा॥
जस भर्तहरि लागि पिंगला। मो कहँ पदुमावति सिंघला॥
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नाउँ लीन्हा तप जोगू॥
यह मढ़ सेएउँ आइ निरासा। गै सो पूजि मन पूजि न आसा॥
तेइँ यह जिउ दाधे पर दाधा। आधा निकसि रहा घट आधा॥
जो अधजरत सो बेलँब न लावा। करत बेलंब बहुत दु ख पावा॥
एतना बोल कहत मुख उठी बिरह की आगि।
जौं महेस नहि आइ बुझावत सकल जगत हुति लागि॥ २०८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने पूछा—कौन है !—जो मुझे बातों में लगाकर विलम्ब करा रहा है ? क्या तुझे हत्या का भय नहीं रहा ? मेरा शरीर तो अपार दुःख से जल रहा है। अच्छा हो कि एक बार ही जलकर मैं मुक्ति पा जाऊँ। जिस प्रकार राजा भरथरी के लिये पिंगला का विरह था, इसी प्रकार सिंहल द्वीप की पद्मावती के लिये मेरा विरह धधक रहा है। इसीलिए मैंने राजसी भोगों का परित्याग कर दिया है। उसका नाम सुनते ही मैंने तप-योग धारण किया। इस मठ में आकर मैंने निर्लिप्त देवता की सेवा की। पद्मावती पूजा करके चली भी गई परन्तु मेरे मन की कामना पूरी न हो सकी। इस कारण मेरा प्राण जल-जल-कर जल रहा है। आधा प्राण बाहर निकल चुका है और आधा घट के भीतर है। जो कोई आधा जल चुका है, वह सम्पूर्ण जल जाने में देर नहीं करता। क्योंकि जब विलम्ब होता है तो उसे दारुण दुःख होता है।

इतना कहकर रत्नसेन के मुख से विरह की लपट उठी। उस समय यदि उसे शंकर जी आकर न बुझाते तो सारे संसार में वह आग लग जाती।

शब्दार्थ—बातन्ह = बातों में। बेलवाँवा = विलम्ब कराना। हत्या = मृत्यु। निस्तरि = निस्तार। अधजरत = आधा जलता। बेलम्ब = देर।

(२०६)

पारबती मन उपना चाऊ। देखौं कुँवर केर सत भाऊ॥
दऊँ यह बीच कि पेमहि पूजा। तन मन एक कि मारग दूजा॥
भै सुरूप जानहुँ अपछरा। बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा॥
सुनहु कुँवर मोसों एक बाता। जस रँग मोर न औरहि राता॥
औ बिधि रूप दीन्ह है तोकाँ। उठा सो सबद जाइ सिव लोका॥
तब हौं तो कहँ इंद्र पठाई। गै पदुमिनि तैं आछरि पाई॥

अब तजु जरन मरन तप जोगू। मो सों मातु जनम भरि भोगू॥
हौं आछरि काबिलास की जेहि सरि पूजि न कोई।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि सरसि कौन लाभ तोहि होइ॥२०९॥

भावार्थ—कविवर जायसी रत्नसेन की प्रेम-परीक्षा के लिये पार्वती का प्रसंग चलाते हैं—

पार्वती के मन में जिज्ञासा हुई कि जरा विरही रत्नसेन का प्रेम विषयक सत्यभाव तो जानूँ। देखूँ, इसका प्रेम परिपूर्ण है अथवा अपरिपक्व। इसके तन मन एक हैं या दोनों के मार्ग भिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि रत्नसेन का प्रेम सांसारिक है अथवा दिव्य है—इश्क मिजाजी या इश्क हकीकी ? इतना विचार कर पार्वती ने स्वरूप बदला और अप्सरा सी बन गई और हँसकर राजकुँवर रत्नसेन का अंचल पकड़ लिया और कहा कि कुँवर मेरी एक बात सुन—जैसा सुन्दर रंग रूप मेरा है, ऐसा किसी और का नहीं ? और फिर विधाता ने तुम्हें भी तो अपार रूप दिया है। तुम्हारे इस रूप की प्रशंसा का शब्द-स्वर इन्द्र के स्वर्ग-लोक तक पहुँचा है। तभी तो इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। भले ही तुमसे पद्मिनी बिछुड़ गई किन्तु मैं अप्सरा तो तुम्हें मिल गई हूँ। अतः अब तुम जन्म-मरण, तप-योग इस सबकी चिन्ता छोड़ो और मेरे साथ जन्मभर भोग-विलास करो।

मैं स्वर्ग की वह अप्सरा हूँ जिसकी कहीं कोई समानता नहीं है। मैं सर्वश्रेष्ठ मुन्दरी हूँ। मुझे छोड़कर जो तुम उसकी याद करोगे तो तुम्हें कुछ लाभ न होगा।

शब्दार्थ सरल है।

(२१०)

भलेहिं रंग तोहि आछरि राता। मोहि दोसरे सौं भाव न बाता॥
मोहि ओहि सँवरि मुएँ अस लाहा। नैन सौ देखसि पूँछसि काहा॥
अबहीं तेहि जिउ देंइ न पावा। तोहि असि आछरि ठाढ़ मनावा॥
जौं जिउ देहुँ ओहि कि आँसा। न जनौं काह होइ कबिलाँसा॥
हौं कबिलास काह लै करऊँ। सोइ कविलास लागि ओहि मरऊँ॥
ओहि के बार जीवनहिं वारौं। सिर उतारि नेवछावरि डारौं॥
ताकरि चाह कहै जो आई। दुऔ जगत तेहि देउँ बड़ाई॥
ओहि न मोरि कछु आसा हौं ओहि आस करेउँ।
तेहि निरास प्रीतम कहँ जिउ न देउँ का देउँ॥२१०॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में रत्नसेन के प्रेम-विषयक दृढ़ विचार प्रकट होते हैं—

रत्नसेन ने कहा कि हे अप्सरा, ठीक है, तू रँग-रूपवती है। परन्तु मुझे पद्मिनी को छोड़कर किसी अन्य सुन्दरी से बात करना भी अच्छा नहीं लगता। पद्मावती का स्मरण करते हुये तो मुझे मृत्यु भी अच्छी लगती है, यह तू आँखों से देख ही रही है, फिर पूछना क्या ? अभी तो मैं उसको अपना पूर्णतः प्राण समर्पित भी नहीं कर पाया कि तू अप्सरा जैसी मुझे रिझाना-मनाना चाहती है। आशय यह है कि पद्मावती के प्रेम का सद्मा ही

पूरी तरह नहीं मिला है; फिर तुझ अप्सरा से प्यार कैसे करूँ ? पद्मावती की आशा में जब मैं प्राण दे दूँगा तो पता नहीं स्वर्ग में कैसी हलचल मच जायेगी ? पद्मावती के अभाव में मैं स्वर्ग भी लेकर क्या करूँगा ? मेरे लिये तो बस यही स्वर्ग है कि उसके लिये मर मिटूँ। मेरा प्रण है कि उसके द्वार पर जीवन दे दूँगा और उसके प्रेम में अपना सिर भेंट कर दूँगा। उसका जो सन्देशा मुझे आकर देगा उसे मैं दोनों लोकों से बड़ा समझूँगा।

पद्मावती को मुझसे कुछ आशा नहीं है, पर मैं उससे बहुत कुछ आशा करता हूँ। उस आशा रहित प्रीतम के लिये यदि प्राण समर्पित न करूँ, तो और क्या करूँ ?

शब्दार्थ सरल हैं।

(२११)

गौरैं हँसि महेस सों कहा। निस्चैं यह बिरहानल दहा॥
निस्चैं यह ओहि कारन तपा। परिमल पेम न आछै छपा॥
निस्चैं पेम पीर यह जागा। कसत कसोटी कंचन लागा॥
बदन पियर जल डभकहिं नैनाँ। परगट हुऔ पेम के बैनाँ॥
यह ओहि लागि जरम एहि सीझा। चहैं न औरहिं ओहीं रीझा॥
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरि सरन राम रन जिता॥
एहू कहँ तसि मया करेहू। पुरवहु आस कि हत्या लेहू॥
हत्या दुइ जो चढ़ाएहु काँधे अबहुँ न गे अपराध॥
तीसरि लेहु एहु कै माँथे जौं रे लेइ कै साध॥२११॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की बातें सुनकर पार्वती ने शंकर जी से कहा—अवश्य ही यह व्यक्ति विरह की ज्वाला में जल रहा है। निश्चय ही यह पद्मिनी के कारण तपमग्न है। कभी सुगन्ध और प्रेम छिपे नहीं रहते। (लोक प्रचलित मुहावरा सुन्दर प्रयोग में आया है) पार्वती कहती हैं कि निश्चय ही यह प्रेम की पीर से जागृत है। मुझे यह सोलह आने कसौटी पर कसा कुन्दन प्रतीत होता है। इसका मुख पीला है और नेत्रों से आँसू डबडबा रहे हैं। इन दोनों से इसके प्रेम की बात साफ प्रकट होती है। यह एक मात्र इस जन्म में पद्मावती के लिये जल रहा है। यह एकमात्र उसी पर रीझा है; और किसी को प्रेम नहीं कर सकता। हे महादेव, तुम देवों के पिता हो। तुम्हारी शरण पड़कर राम ने रावण का युद्ध जीता था। दया करके इसका भी उद्धार करो। या तो इसकी आशा पूरी करो या फिर जान बूझकर इसकी मृत्यु का पाप सिर पर लो।

पिछली दो हत्याओं का अपराध अभी तक तुम्हारे कन्धों पर से नहीं गया है, और यदि तीसरी हत्या सिर पर लेने का विचार है तो इसकी हत्या सिर पर चढ़ा लो।

विशेष—शंकर जी पर पिछली दो हत्यायें—गणेश मर्दन और कामदहन की कही जा सकती हैं। 'परिमल प्रेम न आछे छपा।" उक्ति में सर्वप्रचलित मुहावरा है—"इश्क मुश्क छुपाये नहीं छुपते।"

भावार्थ—निस्चै=निश्चय। परिमल=सुगन्ध। बदन=मुख। डभकहिं=डबडबाते। सींझा=जलना।

(२१२)

सुनि कै महादेव कै भषा। सिद्ध पुरुष राजैं मन लखा॥
सिद्ध अंग नहिं बैठै माखी। सिद्ध पलक नहिं लागै आँखी॥
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ न भूख औ माया॥
जौं जग सिद्धि गोसाईं कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा॥
बैल चढ़ा कुस्टी कै भेसू। गिरजापति सत आहि महेसू॥
चीन्है सोइ रहै तेहि खोजा। जस बिक्रम औ राजा भोजा॥
कै जियँ तंत मंत सो हेरा। गएउ हेराइ जबहिं भा मेरा॥
बिनु गुरु पंथ न पाइअ भूलै सोइ जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट॥२१२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

महादेव का बोल सुनते ही रत्नसेन ने समझ लिया कि यह कोई सिद्ध पुरुष है। सिद्ध के शरीर पर गन्दी मक्खी नहीं बैठती। सिद्ध की आँखों की पलक नहीं लगती। सिद्ध के शरीर के साथ उसकी छाया नहीं चलती। सिद्ध को भूख नहीं लगती, माया नहीं सताती। ईश्वर ने जिसे संसार में सिद्ध बनाया है; बहुत संभव है—वह प्रकट रहकर के भी गुप्त रहे—उसके सच्चे भेष को कौन पहचान सकता है? यह जो कोढ़ी का भेष बनाये नादिया पर चढ़ा बैठा है, सत्यतः पार्वती-पति महेश हैं। इन्हें वही पहचान सकता है जिसको इनकी खोज है, जैसे विक्रम और राजा भोज इनकी खोज में रहे। इन्होंने तंत्र-मंत्र की साधना में उन्हें खोजा, किन्तु मिलते ही वह फिर खो गए। आशय यह है कि केवल मात्र योग-सिद्धि और तंत्र-मंत्रसे ही महेश की प्राप्ति नही हो सकती।

विना गुरु के सद्‌मार्ग पाना कठिन है। जो इस तथ्य को नहीं जानता वह भ्रमित हो जाता है। योगी सिद्ध तभी बनता है जब गुरु गोरखनाथ से उसका साक्षात्कार हो गया हो, मन में संयम धारण कर लिया हो।

शब्दार्थ—गिरिजापति=महादेव, शंकर। हेराई=खोजाना।

(२१३)

ततखन रतनसेनि गहबरा। छाड़ि ढुफार पाउ लै परा॥
माता पिता जनमि कत पाला। जौं पै फाँद पेम गियँ घाला॥
धरती सरग मिले हुत दोऊ। कत निरार कै दीन्ह बिछोऊ॥
पदिक पदारथ कर हुँति खोवा। टूटहिं रतन रतन तस रोवा॥
गँगन मेघ जस बरिसहिं भले। पुहुमि अपूरि सलिल होइ चले॥
साएर उपटि सिखर गा पाटी। जरै पानि पाहन हिय फाटी॥

पवन पानि होइ होइ सब गिरई। पेम के फांद कोउ जनि परई ॥
तस रोवै जस जरै जिउ गरै रकत औ माँसु ।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं सोत सोत भरि आँसु ॥२१३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

तुरन्त रत्नसेन परेशान हो उठा और व्याकुल होकर धाड़ मारकर शिवजी के चरणों पर गिर पड़ा। विलाप करता हुआ बोला, मुझे माता-पिता ने जन्म देकर किसलिये पाला था ? यदि उन्हें मेरे गले में प्रेम की यह फाँसी ही डालनी थी। पूर्व धरती और आकाश मिले हुये थे पर कौन ऐसा निर्मोही है, जिसने इन्हें विलग किया है और वियोग का दुःख दिया है ? हाय, मैंने पद्मावती रूपी हीरे को अपने हाथों स्वयं खो दिया है। और जैसे माणिक्य टूट-टूटकर गिरें, इसी प्रकार रत्नसेन रो रहा था—उसके रक्तिम आँसू की लड़ियाँ टूट-टूटकर गिर रही थीं। वह ऐसे रो रहा था जैसे बादलों से घनघोर वर्षा हो रही हो, और सम्पूर्ण धरती उससे जलमय हो गई हो। सागर मर्यादा छोड़कर उलट गया हो। पानी के उबाल से चट्टानों का हृदय फट गया हो। सर्वस्व हवा और पानी होकर गिर गया हो। कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम के फन्दे में कोई भी न पड़े तो अच्छा है।

रत्नसेन ऐसे रो रहा था कि जैसे उसके प्राण जल रहे हों; रक्त और माँस जल रहा हो। उसका रोम-रोम रो रहा हो—रंध्र-रंध्र में आँसू भर गए थे।

विशेष—"गगन मेधा जस बरसहिं भले ·····" आदि उक्तियों में प्रलयंकारी बादलों का सम्भावित चित्र-कौशल अत्यंण प्रभावशाली बन पड़ा है। जायसी की यह मौलिकता तुलसी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है।

शब्दार्थ—गहवरा = परेशान हुआ। डफार = धाड़कर रोना। गियँ = गर्दन। घाला = डाली। निरार = अलग। उपटि = पलटकर।

(२१४)

रोवत बूड़ि उठा संसारू। महादेव तब भएउ मयारू ॥
कहेसि न रोव बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा दारिद खोवा ॥
जो दुःख सहै होइ सुख ओकाँ। दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकाँ॥
अब तूँ सिद्ध भया सिधि पाई। दरपन कया छूटि गै काई ॥
कहौं बात अब होइ उपदेसी। लागु पंथ भूले परदेसी ॥
जौ लहि चोर सेंध नहिं देई। राजा केर न मूँसै पेई ॥
चढ़ै तो जाइ बार वह खूँदी। परै तो सेंधि सीस सौं मूँदी ॥
कहौं तोहि सिंहल गढ़ है खँड सात चढ़ाउ।
फिरा न कोई जिअत जिउ सरग पंथ दै पाउ ॥ २१४ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के रोने से सारा संसार आँसुओं में डूब गया। यह देखकर महादेव को दया आई। उन्होंने कहा—तू बहुत रो चुका है; अब न रो। अब तू दारिद्र्य खोकर

धनवान बनने जा रहा है—समर्थ होने जा रहा है। जो दुःख सहता है; उसीको सुख मिलता है। बिना दुःख पाये, सुख हेतु कोई शिव-लोक नहीं जा सकता। तूने सिद्धि पा ली है, और अब तू सिद्ध हो गया है। तेरी काया दर्पण सी स्वच्छ हो गई है। उस पर से दुःख की काई छुट गई है। अब तेरा उपदेशक होकर मैं तुझे उपदेश देता हूँ कि हे भूले हुए मुसाफिर ! अब तू पद्मावती के मिलन-मार्ग पर पहुँचने के लिये चल। जब तक चोर सेंध नहीं लगाता तब तक वह राजा के धन-कोष को नहीं चुरा सकता। यदि वह राजमहल पर चढ़ जाता है तो दरवाजा फाँद जाता है; और यदि वह गिर गया तो उसके सिर से ही उसकी बनाई हुई सेंधी ढक जाती है। आशय यह है कि पद्मावती को पाने के साधन अत्यन्त कठिन और भयानक हैं।

मैं तुझे बताता हूँ कि सिंहल गढ़ पर चढ़ने में सात खंड पड़ते हैं। उस स्वर्ग के रास्ते पर पाँव बढ़ाकर कोई जीते जी नहीं लौटा है।

शब्दार्थ—ईसर=धनवान। मयारू=दयावान। दारिद=दारिद्र। दरपन=दर्पण। कया=शरीर। सेंध=चोरी का मार्ग। खूँदी=कूद-फाँद कर। सरगपंथ=सत्खंडे का मार्ग।

(२१५)

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तें ओहि की छाया॥
पाइअ नाहिं जूझि हठि कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर सुरंग कुंड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ॥
चोर पैठि जस संधि सँवारी। जुआ पैंत जेउँ लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुँद धँसि मारै हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेहि ओहि सरग दुवारी औ चढु सिंघलदीप॥ २१५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में शंकर जी कहते हैं—

हे रत्नसेन ! सिंहल गढ़ उसी प्रकार विकट है जैसे तेरा शरीर। तू यह बात परख कर देख ले कि यह तेरी ही छाया के समान है या तू उसकी ही छाया जैसा है। तात्पर्य यह है कि तेरी योग सिद्धि के समान ही उस गढ़ की प्राप्ति भी कठिन है। दृढ़तापूर्वक, युद्ध से उसे पाया नहीं जा सकता। जिसने उसे पाया है उसने पहले अपने आपको ही पहचाना है। उस गढ़ में नौ ड्योढ़ियाँ हैं, और पाँच कोतवाल घूम-घूमकर उनका पहरा देते हैं। दसवें द्वार पर एक गुप्त द्वार है जिसको 'नाकी' कहते हैं। उस टेढ़े मार्ग की चढ़ाई अति विकट है। कोई रहस्य ज्ञाता ही उस घाटी तक पहुँचता है। जो उसका भेद पा लेता है, वह चींटी-सा सूक्ष्म बनकर उस पर चढ़ पाता है। गढ़ के नीचे अथाह कुंड में एक सुरंग है। उसी में होकर गढ़ के ऊपर पहुँचने का रास्ता है। यह मैं तुझे बताये देता हूँ।

जैसे चोर सेंध लगाकर चलता है और जुवारी दाँव लगाकर खेलता है, इसी प्रकार निर्द्वन्द होकर इस गढ़ में घुसने वाला ही चढ़ता है।

जिस प्रकार गोताखोर समुद्र में घुसकर गोता मारता है और तब उसके हाथ में मोती भरी सीप आती है। ऐसे ही जो उस स्वर्गद्वार को ढूँढ़ता है वह सिंहलद्वीप में चढ़ पाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने हठयोग की क्रियाओं का एक जटिल रूपक खींचा है। सिंहलगढ़ शरीर का प्रतीक है। ब्रह्मरन्ध्र दसवाँ द्वार है। यहाँ फिर यह सब कुछ बतलाना व्यर्थ है क्योंकि हमने इसी सुविधा को ध्यान में रखते हुए हठयोग सम्बन्धी इस ग्रंथ में एक चित्र दिया है एवं तत्सम्बन्धी बातों का पूर्णतः विवेचन भी पूर्व ही कर दिया है, उसे देखें-पढ़ें।

शब्दार्थ—सिंहलगढ़ = यहाँ शरीर से तात्पर्य है। हठि कीने = हठयोग द्वारा। आपुहि चीन्हे = आत्मज्ञान द्वारा। नौ पौरी = नव इन्द्रियाँ। पाँच कोटवारा = शरीर के संस्थान के पंचकोष। दसवँद्वार = ब्रह्मरन्ध्र। चाँटी = चींटी। सुरंग = सुषुम्ना नाड़ी। कुंड = मूलाधार चक्र। पैत = दाँव। मरजिया = गोताखोर।

(२१६)

दसवँ दुवार तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जा सो जाइ साँस मन बंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौं पै मरहु आपुहि करु नासा॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता॥
हौं हौं कहत मन्त सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब सोई॥
जियतहिं जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला॥
आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहे कहाँ क दोसर कोइ॥ २१६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दसवाँ द्वार अर्थात् ब्रह्मरंध्र ताड़ के वृक्ष के समान सबसे ऊँचे पर है। जो उलट-कर विरक्त होकर उसपर दृष्टि लगाता है वह उसे देख पाता है। यहाँ आशय यह है कि प्राणायाम क्रिया से ब्रह्मरंध्र का दृष्टिलाभ होता है। वही उसके पास तक पहुँचता है जिसके प्राण मन से बँध जाते हैं। ऐसे ही तो कृष्ण प्रणपूर्वक यमुना में घुस सके थे। हे राजा, तू भी मन को वश में करके और प्राणवायु रोक करके, ऐसा कर। अहंभाव का नाश करने के लिए जैसा नियम है, वैसा कर। प्रकट में लोक व्यवहार की भले ही बातें कर, किन्तु मन उसी प्रेमी से लगा जिस पर वह अनुरक्त है। सब "मैं मैं" करते हुए अहंभाव से पागल हैं। परन्तु जब "तू" का द्वेतभाव मिट जायगा तो तुझमें सर्वस्व समा जायेगा। आशय यह है कि जब सोऽहं की ज्ञान प्राप्ति हो जाती है उस समय सब कुछ एक लय हो जाता है।

"सिया राम मँह सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि युग पाणी ।"

—(तुलसी)

इसके लिए द्वैत की दीवार तोड़नी होती है। शिवजी कहते हैं कि अरे रत्नसेन ! जो जीतेजी एकबार मर जाता है, अपने अहं को नष्ट कर जाता है, फिर उसके लिए फिर मौत कहाँ ? वह अमर पद का अधिकारी हो जाता है । ऐसी अवस्था में वह स्वयं का स्वयं गुरू और स्वयं का स्वयं चेला हो जाता है। वह आप सबमें मिल जाता है; और मिल करके भी अकेला रहता है।

ऐसा पुरुष ब्रह्मस्वरूप वह आप ही मृत्यु है, आप ही जीवन है, आप ही तन है आप ही मन है। वह जो कुछ चाहता है, अपने आप ही करता है। उसके लिए दूसरा कोई नहीं है। वह स्वयंभू है।

विशेष—याज्ञवल्क्य ने बृहद आरण्यक के ४-५-१५-४-३-२७ में इस परम विधि की महत्ता पर प्रकाश डाला है। जायसी यद्यपि पंडित न थे परन्तु उनकी कवि चेतना अत्यन्त सजग थी देखिए—

"यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति...जिघ्रति...शृणोति ..विजानाति ।···यन्त्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत...जिघ्रेत्...शृणुयात् ..विजानीयात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । एतावदरे खलु अमृतत्वमिति ।"

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

२३--राजा गढ़-छेका-खण्ड

(२१७)

सिद्धि गोटिका राजैं पावा । औ भै सिद्धि गनेस मनावा ॥
जब संकट सिधि दीन्ह गोटेका । परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका ॥
सबै पदुमिनी देखहिं चढ़ी । सिंघल घेरि गई उठि मढ़ीं ॥
जस खरभरा चोर मति कीन्ही । तेहि बिधि सोंधि चाह गढ़ दीन्ही॥
गुपुत जो रहै चोर सो साँचा । परगट होइ जीव नहिं बाँचा ॥
पाँवरि पँवर गढ़ लाग केवारा। औ राजा सों भई पुकारा ॥
जोगी आइ छंकि गढ़ मेले । न जनैं कौन दस सौं खेले ॥
भई रजाएसु देखहु को भिखारि अस ढीठ ।
जाउ बरजि तिन आवहु जन दुउ जाइ बसीठ ॥२१७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में जब शंकर जी ने रत्नसेन को कृपा करके सिद्धि गुटिका प्रदान की और उसके पश्चात् जो स्थिति बनी उसका वर्णन करते हुए कविवर जायसी लिखते है—

राजा ने शंकर जी से सिद्धि गुटिका प्राप्त कर ली तत्पश्चात् उद्देश्य सिद्धि के लिए गणेश जी की प्रार्थना-पूजा की। जब शंकर जी ने सिद्धि गुटिका प्रदान की तो सर्वत्र एक हलचल मची कि योगियों ने सिंहलगढ़ घेर लिया है। सभी पद्मिनी स्त्रियाँ ऊँचे धौराहर पर चढ़कर यह देख रही थीं। सिंहलगढ़ में सब इकट्ठी हुई और मिलकर महादेव के गढ़ की ओर गई। जैसे चोर सेंध लगाने के अवसर पर चलत-फिरत करता है, इसी प्रकार सिंहलगढ़ में सेंध लगाने की योजना चल रही थी। कविवर जायसी कहते हैं कि सच्चा चोर वही है जो छिपा रहता है। प्रकट होने पर उसकी जान नहीं बचती। सारे गढ़ की पौरियों के द्वार लग गये और सबों ने राजा से इस बात की पुकार की कि जोगियों ने गढ़ को घेर लिया है। पता नहीं वे किस देश से कहाँ के लिए घूमते फिरते हुए आये हैं!

राजाज्ञा हुई कि देखो जाओ, कौन भिखारी ऐसे उद्दण्ड हैं ? दो दूत तुरन्त जाकर ऐसी धृष्टता करने मे उन्हें डाँट-डपट आएँ।

शब्दार्थ—सिद्धि गोटिका—तन्त्र मन्त्र की पुड़िया। हूल=हलचल। पँवरि-फाटक, द्वार। रजाएसु—राजाज्ञा।

(२१८)

उतरि बसिठ दुइ आइ जोहारे। कै तुम्ह जोगी कै बनिजारे॥
भई रजाएसु आगें खेलहु। यह गढ़ छाड़ि अनत होइ मेलहु॥
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे। आएहु और हाथ जिउ लीन्हे॥
इहाँ इन्द्र अस राजा तपा। जबहिं रिसाइ सूर डरि छपा॥
हहु बनिजार तो बनिज बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु॥
जोगी हहु तौ जुगुहि सों माँगहु। भुगुति लेहु लै मारग लागहु॥
इहाँ देवता अस गए हारी। तुम पतिंग को आहि भिखारी॥
तुम जोगी बैरागी कहत न मानहु कोहु।
माँगि लेहु कछु भिख्या खेलि अनत कहुँ होहु॥२१८॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

दोनों दूतों ने नीचे उतरकर योगियों को अभिवादन किया और बोले—तुम योगी हो अथवा बनजारे हो ? हमारे राजा की आज्ञा हुई है कि तुम यहाँ से आगे को रमो और यह गढ़ छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाओ। ऐसा अनर्थ तुमने किसके फुसलाने मे किया है ?—क्या तुम मरने के लिए जान हथेली पर लेकर आये हो ? यहाँ का राजा इन्द्र के समान तपस्वी है। जब वह क्रोधित होता है तो उसके भय से सूर्य भी अस्त हो जाता है। यदि तुम बनजारे हो तो व्यापार का माल खरीदो और बेचो। यदि योगी हो तो ढंग से भीख लेकर अपने मार्ग पर लगो। यहाँ तो देवता जैसे भी हार

मान गये हैं; भला पतंगे जैसे तुम भिखारी किस गिनती में हो ?

तुम तो योगी और वैरागी हो। हम जो कह रहे हैं उस पर क्रोध न करना। यहाँ कुछ भीख माँग लो और फिर अन्यत्र घूमो।

शब्दार्थ—जोहारे=प्रणाम किया। भुगुति=भीख। जुगुहि=ढंग। हहु=हो।

(२१९)

अनु हौं भीख जो आएउँ लेई। कस न लेउँ जौं राजा देई ॥
पदुमावति राजा कै बारी। हौं जोगी तेहि लागि भिखारी ॥
खप्पर लिए बार भा माँगौं। भुगुति देइ लै मारग लागौं ॥
सोई भुगुति परापति पूजा। कहाँ जाउँ अस बार न दूजा ॥
अब घर इहाँ जीउ ओहि ठाऊँ। भसम होऊँ पै तजौं न नाऊँ ॥
जस बिनु प्रान पिंड है छूँछा। धरम लागि कहिअहुँ जौं पूँछा ॥
तुम्ह बसीठ राजा की ओरा। साखि होहु एहि भीखि निहोरा ॥
जोगी बार आव सो जेहि भिख्या कै आस।
जौं निरास दिढ़ आसन कह गवनै केहु पास ॥२१९॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने उत्तर दिया—यदि, राजा मेरे अनुकूल हों तो जो भीख लेने मैं आया हूँ उसे कैसे नहीं लूँगा ! जबकि राजा मुझे देंगे ही। मैं राजकन्या पद्मावती की भीख पाने के लिये ही योगी-भिखारी हुआ और भीख का खप्पर लिये मैं द्वार पर माँग रहा हूँ। जब राजा से पद्मावती की भिक्षा मिलेगी तो मैं अपना मार्ग लूँगा। पद्मावती की भीख की प्राप्ति ही मेरी पूजा है। ऐसा दरवाजा और कौन होगा जहाँ मुझे यहाँ से छोड़कर दूसरी जगह पद्मावती मिलेगी ? मेरा शरीर यहाँ है और प्राण पद्मावती के पास हैं। भले ही मैं जलकर राख हो जाऊँ, किन्तु पद्मावती का नाम लेना न छोड़ूँगा। बिना प्राण के जैसे शरीर व्यर्थ है उसी प्रकार पद्मावती के बिना मेरा जीवन व्यर्थ है। जो कुछ तुमने पूछा है, मैंने धर्म से सच कहा है। तुम राजा की ओर से भेजे गये दूत हो तो मेरी इस भीख-प्रार्थना के भी तुम साक्षी हो। आशय यह है कि तुम भी राजा से मेरी यही विनती करना।

जिस योगी को भिक्षा पाने की आस होती है वही दरवाजे पर आता है। जो आशा रहित है वह अपने आसन पर दृढ़ रहता है। वह किसी के पास माँगने के लिये नहीं जाता, क्यों जाए ? आशय यह है कि मैं रत्नसेन योगी होकर के भी पद्मावती का भिखारी बनकर राजद्वार पर आया हूँ।

शब्दार्थ—अनु=अनुकूल। बारी=कन्या। बार=द्वार। पिंड=शरीर। छूंछा=व्यर्थ। धरम लागि=धर्म से। बसीठ=दूत। साखि=साक्षी। गवनै=जाए।

(२२०)

सुनि बसिठन्ह मन उपनी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहि पीसा ॥

जोगी अैस कहै नहिं कोई। सो कहु बात जोग तोहि होई।।
वह बड़ राज इंद्र कर पाटा। धरती परें सरग को चाँटा।।
जौं यह बात होइ तहँ चली। छूटहिं हस्ति अबहिं सिघली।।
औ छूटहिं तहँ बज्र के गोटा। बिसरै भुगुति होहु तुम्ह रोटा।।
जहँ लगी दिस्टि न जाइ पसारी। तहाँ पसारसि हाथ भिखारी।।
आगू देखि पाँव धरु नाथा। तहाँ न हेरु टूट जहँ माँथा।।
वह रानी जेहि जोग है तेहि क राज औ पाट।
सुंदरि जाइ राज घर जोगिहि बंदर काट।।२२०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

योगी रत्नसेन की ऐसी अभद्र बातें सुनकर दूतों के मन में क्रोध पैदा हुआ। उन्होंने कहा कि यदि हम तुम्हारी बातों में आयेंगे तो ऐसे ही राजदंड के अधिकारी होंगे जैसेकि जौ के साथ घुन भी पिस जाता है। जैसी बातें तुम योगी होकर करते हो ऐसी कोई भी नहीं करता। हमारा राजा महान है। वह इन्द्र के सिंहासन पर बैठता है। भला तुम योगी होकर पद्मावती को प्राप्त कर सकते हो ? ऐसा कौन होगा जो धरती पर पड़े और आकाश को चूमे। जैसे ही राजा से यह चर्चा चलेगी तैसे ही कुचल देनेवाले सिंहली हाथी छोड़ दिये जायेंगे। गढ़ पर से वज्र के गोले छुटेंगे। हे योगी, तब तुम सारे योग-भोग भूल जाओगे। चकनाचूर होकर रोट बन जाओगे। अरे भिखारी ! जहाँ तक दृष्टि भी नहीं फैलती, तुम भिखारी होकर उसके लिये हाथ पसारना चाहते हो ? अरे नाथ, आगे देखकर क़दम रक्खो। उस ओर न देखो जहाँ देखने मात्र से सिर फूट जाय।

पद्मावती रानी जिसके योग्य है, उसके पास राजपाट होना चाहिए। वह सुन्दरी तो किसी राजघराने में जायेगी। तुझ जैसे योगी के भाग्य में तो बंदरकाट अर्थात् यत्रतत्र भूलना-भटकना ही लिखा होता है।

शब्दार्थ—बसिठन्ह=दूतों के। रीसा=क्रोध। सरग=आकाश। पसारी=फैलाई। बिसरे=भूल जायगी। आगू=आगे। हेरू=देखो। बंदर काट=बन्दर का काटना—एक मुहावरा, जिसका आशय है—"व्यर्थ में किसी इच्छा में भूलना भटकना।"

(२२१)

जौं जोगिहि सुठि बंदर काटा। एकै जोग न दोसरि बाटा।।
और साधना आवै साधें। जोग साधना आपुहि दाधें।।
सरि पहुँचाइ जोग कर साथा। दिस्टि चाहि होइ अगुमन हाथा।।
तुम्हरे जौं हैं सिंघली हाथी। मोरें हस्ति गुरू बड़ साथी।।
हस्ति नास्ति जेहि करत न बारा। परबत करै पाँव कै छारा।।
गढ़ कै गरब खेह मिलि गए। मंदिर उठहिं ढहहिं भै नए।।
अंत जो चलना कोऊ न चीन्हा। जो आवै सो आपुन्ह कीन्हा।।

जोगिहि कोह न चाहिअ तब न मोहि रिसि लागि।
जोग तंत जेउँ पानी काह करै तेहि आगि ॥२२१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने दूतों से कहा कि हे दूतो, यदि योगी को बंदर खूब काट भी ले तब भी उसके लिये एकमात्र योग साधना ही उचित है—कोई दूसरा मार्ग नहीं। तुम सब कुछ व्यर्थ कहते हो। अन्य साधना तो वाह्य साधनों से प्राप्त होती हैं, किन्तु योग साधना अपने आपको दग्ध कर देने से सिद्ध होती है। भले ही तुम्हारा राजा इन्द्रासन पर बैठता हो किन्तु तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि योग साधना उसके बराबर है; कम नहीं। दृष्टि-प्रसार की इच्छा से भी अधिक योगी की कामना का हाथ आगे होता है, वह अगम्य को भी देखता है। तुम्हारे राजा के यहाँ यदि कुचल देने वाले सिंहली हाथी हैं तो ध्यान रहे, मेरे साथ भी महान, गुरु रुपी हाथी है। तुम्हारे राजा के पास यदि नष्ट कर देने वाले गोले हैं—तो समझ लो कि मेरे साथ भी वह गुरु हैं जो "है" को "ना" में बदल देते हैं। आशय यह है कि गुरु की कृपा ईश्वर की "आस्ति-नास्ति" वाली दुविधा को भी नष्ट कर देती हैं। रत्नसेन कहता है कि ऊँचे-ऊँचे पर्वत गुरु के पाँवों की धूल हैं। तुम जो राजपाट का गर्व करते हो तो समझ लो कि गर्व से कितने ही गढ़ मिट्टी में मिल जाते हैं। गर्व से नित्य ऊँचे-ऊँचे राज-प्रासाद ढह जाते हैं—और फिर नये बनाने पड़ते हैं। अन्तकाल में चलते मरते समय कोई उन्हें नहीं देखता। वे चिह्न शेष हो जाते हैं। तत्पश्चात् जो राज्याधिकारी होता है वह उन्हें अपना बना लेता है।

जैसा तुमने कहा कि योगी को क्रोध नहीं करना चाहिए—यद्यपि तुमने उदण्ड बातें कही हैं, किन्तु हे दूतो, मैं तुम पर फिर भी क्रोध नहीं करता, क्योंकि मैं योगी हूँ। योग-तत्व तो जल की तरह से है; उसमें क्रोध की आग भड़क कर क्या कर सकती है?

शब्दार्थ—सुठि=खूब। अगुन=आगे। मंदिर=प्रासाद।

(२२२)

बसिठन्ह जाइ कही असि बाता। राजा सुनत कोह भा राता॥
ठाँवहि ठाँव कुँवर सब माँखे। केइँ अब लहि जोगी जिउ राखे॥
अबहुँ बेगि कै करहु सँजोऊ। तस मारहु हत्या किन होऊ॥
मंत्रिन्ह कहा रहहु मन बूझे। पति न होइ जोगी सों जूझे॥
ओइँ मारै तौ काह भिखारी। लाज होइ जौ मानिअ हारी॥
ना भल मुएँ न मारे मोखू। दुइँ बात लागै तुम्ह दोखू॥
रहै देहु जौं गढ़ तर मेले। जोगी कत आछहिं बिन खेले॥
रहै देहु जौं गढ़ तर जनि चालहु यह बात।
निर्तिहि जो पाहन भख करै अस केहि के मुख दाँत॥२२२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की सुनी हुई बातें दूतों ने सिंघल-राज से कहीं। सुनते ही राजा को क्रोध

लाल होगया। क्रोध में भरकर जगह-जगह के सिंहल राजकुमारों से उसने कहा—इन दुष्ट योगियों को अब तक क्यों जीवित रख रक्खा है ? अभी शीघ्रता से तैयारी करो और उन्हें मार डालो, चाहे योगियों के मारने की हत्या ही क्यों न लगे। तब मंत्रियों ने राजा को समझाया और कहा कि हे राजन् ! शीघ्रता न करो, मन में कुछ सोचो-समझो। जोगियों से युद्ध करने में कोई महानता नहीं है। जोगी को अगर मार भी दिया गया तो क्या है ?—वह तो भिखारी ही है ! और यदि पराजय मिली तो बड़ी लज्जाजनक बात होगी। न तो उसके हाथ से मरने में मोक्ष है और न उसको मार देने में ही भलाई है। दोनों ही प्रकार से तुम्हें पाप लगेगा। यदि वे तुम्हारे गढ़ के नीचे इकट्ठे हैं तो क्या बुरा है। भला योगी बिना बिचरे एक स्थान पर कब रहते हैं ?

यदि वह गढ़ के नीचे हैं तो बने रहने दो, वे अपने आप चले जायेंगे, तुम यह बात ही न छेड़ो। ऐसे दाँत किसके मुख में हैं जो रोज पत्थर चबा सकें ? आशय यह है कि योगियों को भिक्षा माँगने के लिये गढ़ के नीचे से जाना ही पड़ेगा। वे अपने आप चले जायेंगे।

शब्दार्थ—बसिठन्ह = दूतों ने। मुएँ = मरे। मोखू = मोक्ष। पाहन = पत्थर।

(२२३)

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए। राजैं कहा बहुत दिन लाए॥
न जनौं सरग बात दहुँ काहा। काहु न आइ कही फिरि चाहा॥
पाँख न कया पवन नहिं पाया। केहि बिधि मिलौं होउँ केहि छाया॥
सँवरि रकत नैनन्ह भरि चुवा। रोइ हँकारा माँझी सुवा॥
परे सो आँसू रकत के टूटी। अबहुँ सो राती बीर-बहूटी॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुवा जो लीन्ह चोंच भै राती॥
बाँधा कंठ परा जरि काँठा। बिरह क जरा जाइ कह नाँठा॥
मसि नैना लिखनी बरुनि रोइ रोइ लिखा अकथ्य।
आखर दहै न कहुँ गहै सो दीन्ह सुवा के हत्थ॥२२३॥

भावार्थ—कविवर जायसी प्रस्तुत पद में रत्नसेन की विरहावस्था का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

राजा सोचता है कि गये हुये दूत न जाने फिर क्यों लौटकर न आये ? रत्नसेन ने अपने आप कहा कि उन्होंने बहुत दिन लगा दिये हैं, पता नहीं स्वर्ग सदृश्य सिंहल के राज-मंदिर में क्या घटना घट रही होगी ? किसी ने लौटकर फिर कोई समाचार नहीं दिया। शरीर में पंख नहीं हैं और पैरों में वायु की गति भी नहीं है। यों मैं पद्मावती से किस प्रकार जाकर मिलूँ ? किसका अनुचर बनकर छायारूप में गढ़ के भीतर प्रविष्ट हो जाऊँ। पद्मा-वती का स्मरण करते ही उसकी आँखों से भर-भरकर रक्त के आँसू टपकने लगे। रोकर उसने अपने प्रेम-पोत के मल्लाह, हीरामन तोते को पुकारा। रक्त के आँसू टूटकर पृथ्वी पर गिर पड़े। कविवर जायसी कहते हैं कि वे आँसू वीर बहूटियों के रूप में अब भी दृष्टव्य हैं।

उन आँसुओं मे उसने पद्मावती को प्रेम-पाती लिखकर ज्यों ही सुवे को दी तो उसकी चोंच रक्तिम होगई। उस पत्र को सुवे ने ज्योंही गले में बाँधा कि उसके गले में उसके जलन की कंठी पड़ गई। विरह का जला हुआ दाग़ कहाँ मिटता है ?

आँखों की स्याही और बरोनियों की कलम बनाकर राजा ने विलाप करते हुये वह सब कुछ लिखा जो लिखने से परे है, अकथनीय है। जिन जलते हुये अक्षरों को कोई नहीं छू सकता उनसे लिखी हुई पाती रत्नसेन ने तोते को पकड़ा दी।

शब्दार्थ—अकथ्य=अकथनीय। मसि=स्याही। हथ्थ=हाथ।

(२२४)

औ मुख बचन सो कहेसु परेवा। पहिले मोरि बहुत कै सेवा॥
पुनि सँवराइ कहेसु अस दूजी। जौं बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी॥
सो अबहीं तपसी बलि लागा। कब लगि कया सून मढ़ जागा॥
भलेहिं अैस हौं तुम्ह बलि दीन्हा। जहँ तुहुँ तहँ भावै बलि कीन्हा॥
जौं तुम्ह मया कीन्ह पगु धारा। दिस्टि देखाइ बान बिख मारा॥
जो अस जाकर आसामुखी। दुख महँ अैस न मारै दुखी॥
नैन भिखारी न माँगै सीखा। अगुमन दौरि लेहिं पै भीखा॥
नैनहि नैन जो बेधिगै नहिं निकसहि वै बान।
हिएँ जो आखर तुम्ह लिखे ते सुठि घटहिं परान॥२२४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने तोते से कहा कि हे पक्षी, और फिर पद्मावती से यह मौखिक सन्देश कहना। मेरी ओर से बहुत-सी सेवा भक्ति का सन्देश देना; फिर दूसरी बार यह कि मेरा स्मरण दिलाना और यह भी याद दिलाना कि तूने जो सेवा-बलि मंदिर में देवता को अर्पित की थी, उससे सम्बन्ध रखने वाला वह बलिदानी तपस्वी अभी तक वहीं पड़ा है। उसे यह भी चेतावनी देना कि कब तक उसकी प्राण विहीन काया गढ़ में जीवित रहेगी—वह तेरे वियोग में मर जायेगा। तूने अच्छा ही किया जो मेरी इस प्रकार की बलि दी। क्योंकि जहाँ तू है वहाँ बलिदान शोभा देता है। जब तूने दया करके गढ़ में चरण धरे तब अपनी दृष्टि दिखाकर मेरे विप का वाण मार दिया। अरे ! जो जिसकी आशा में लीन उसके मुख को निहारता है उस दुखी को ऐसे आत्म-दुःख देकर यों नहीं मारा करते। मेरे भिखारी नेत्र किसी की शिक्षा नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि तेरे आगे दौड़कर तेरी भिक्षा पायें।

नेत्रों से नेत्रों के बिंधे हुये वाण कभी नहीं निकला करते। तूने जो मेरे हृदयस्थल पर अपने प्रेमाक्षर लिखे, वे भली प्रकार मेरे घट में घुसकर सूक्ष्मप्राण बन चले हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२२५)

ते विष बान लिखौं कहँ ताईं। रकत जो चुवा भीजि दुनियाईं॥
जानु सो गारे रकत पसेऊ। सुखी न जान दुखी कर भेऊ॥

जेहि न पीर तेहि काकरि चिंता। प्रीतम निठुर होइ अस निंता॥
कासौं कहौं बिरह कै भाखा। जासौं कहौं होइ जरि राखा॥
बिरह अगिनि तन जरि बन जरे। नैन नीर साएर सब भरे॥
पाती लिखी सँवरि तुम्ह नामाँ। रकत लिखे आखर भे स्यामाँ॥
अच्छर जरे न काहूँ छुवा। तब दुख देखि चला लै सुवा॥
अब सुठि मरौं छूँछि पाती पेम पियारे हाथ।
भेंट होत सुख रोइ सुनावत जीउ जात जौं साथ॥ २२५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन कहता है कि हे तोते ! पद्मावती से कहना कि जो विष के बाण उसने मेरे मारे हैं उनके विषय में कहाँ तक वर्णन लिखूँ। उनके ज़ख्मों से जो ख़ून बहा है उससे दुनियाँ तर-बतर हो गई। जिसने रक्त को पसीना बनाकर गलाया और बहाया है वही जानता है कि पीड़ा किसे कहते हैं ? एक सुखी व्यक्ति एक दुखी व्यक्ति का दर्द-रहस्य नहीं जान सकता। जिसे स्वयं पीड़ा नहीं है उसे दूसरे की भला क्या चिन्ता ? प्रियतम तो सदैव ऐसा ही निठुर होता है। मैं अपने विरह की पीड़ा के बोल किससे कहूँ ? मैं जानता हूँ कि जिससे कहूँगा वह भी जलकर राख हो जायेगा। विरहाग्नि से तन जले, बन जले। विरही के आँसुओं से सम्पूर्ण सागर भरे हैं। हे तोते, पद्मावती से जाकर कहना कि तेरा नाम ले-लेकर यह पत्र लिखा है। और ये काले अक्षर !—तेरी विरहाग्नि से जलकर ही काले हो गये हैं। इन जले हुए अक्षरों को देखकर जब किसी ने मेरा पत्र न छुआ तब मेरे दुख से दुखित होकर पत्रवाहक तोता तेरे लिये मेरा पत्र लेकर चला।

अब मैं जितना चाहे मरूँ पर उससे क्या लाभ होगा ? हाय, मुझे लगता है कि मेरे प्रीतम के हाथों में सारी पाती रीती ही गई है। कितना अच्छा होता जो मेरा प्राण भी संग जाता और भेंट होने पर रो-रोकर तुझे अपना दुखड़ा सुनाता।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२२६)

कंचन तार बाँधि गियँ पाती। लै गा सुआ जहाँ धनि राती॥
जैसे कँवल सुरुज कै आसा। नीर कंठ लहि मरै पियासा॥
बिसरा भोग सेज सुखबासू। जहाँ भँवर सब तहाँ हुलासू॥
तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ। सुनतहि घरी रहे नहिं जीऊ॥
तब लगि सुख हियँ पेम न जामा। जहाँ पेम भा सुख बिसरामा॥
अगर चँदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू॥
कथा कहानी सुनि सुठि जरा। जानहुँ घीउ बैसंदर परा॥
बिरह न आपु सँभारै मैल चीर सिर रूख।
पिउ पिउ करत रात दिन पपिहा भइ मुख सूख॥ २२६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सोने के तार से बँधी हुई गले की पाती को लेकर तोता जहाँ अनुरक्त बाला पद्मावती थी उसके पास गया। सूर्य की आशा में, जिस प्रकार कमल पानी में रहकर के भी कंठ में प्यास को धारण किये रहता है, ऐसे ही पद्मावती ने मिलन-कक्ष के सुखमय सेज के भोगों का परित्याग कर दिया था। जहाँ उसका रत्नसेन रूपी भौंरा था वही उसके सारे आमोद-प्रमोद चले गये थे। तबतक ही कोई धैर्य रख सकता है जबतक कि उसने प्रियतम का नाम न सुना हो। किन्तु नाम सुनते ही, पल भर को भी प्राण नहीं ठहर पाता -- विकल हो जाता है। तब तक ही सुख रहता है जब तक कि उर में प्रेम का अंकुर नहीं जमता। जिस हृदय में प्रेम है, वहाँ सुख-आराम कहाँ है? दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जब तक प्रेम का सुख-विश्राम है तब तक हृदय में सच्चा प्रेम नहीं जम सकता। प्रेम तो विरह के दुख से ही जमता है। शीतल अगर और चंदन भी विरह में पद्मावती को जलाते थे। शरीर का वस्त्र भी उसके लिये अग्नि सदृश हो गया था। उपदेश और प्रेम की कथा-कहानी सुनकर उसका प्राण और भी जलता था; मानो आग में घी पड़ गया हो।

पद्मावती विरह के वशीभूत अपना अपनत्व सँभालने में भी असमर्थ थी। उसके वस्त्र मैले थे और सिर के केश रूखे। रात दिन 'प्रियतम...प्रियतम' रटते उसका मुख सूख चला था और वह पपीहा बन गई थी।

शब्दार्थ—सुखवासू=मिलन-कक्ष। हुलासू=आमोद-प्रमोद। बिसरामा—विश्राम। सुठि=खूब। दहै=जलाए। बैसंदर=अग्नि।

(२२७)

ततखन गा हीरामनि आई। मरत पियास छाँह जनु पाई॥
भल तुम्ह सुवा कीन्ह है फेरा। गाढ़ न जाइ पिरीतम केरा॥
बातन्ह जानहु बिखम पहारू। हिरदै मिला न होइ निनारू॥
मरम पानि कर जान पियासा। जो जल महँ ताकहँ का आसा॥
का रानी पूँछहु यह बाता। जनि कोइ होइ पेम कर राता॥
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी। अहा जो महादेव मढ़ जोगी॥
तुम्ह बसंत लै तहाँ सिधाईं। देव पूजि पुनि ओ पहँ आईं॥
दिस्टि बान तस मारेहु धाइ रहा तेहि ठाउँ।
दोसरी बार न बोला लै पदुमावति नाउँ॥ २२७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती की विरह विदग्ध स्थिति में, उसी समय वहाँ हीरामन तोता आ पहुँचा। तोते के आने से पद्मावती को उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्यासे मरते हुए को बादल की शीतल छाया मिल गई हो। उसने तोते से कहा कि हे तोते! तुम्हारा भला हो जो फिर यहाँ का फेरा किया है। मेरी प्रिय-विरह की पीड़ा नहीं मिटती। यद्यपि, यों उसके मेरे बीच में कठिन पर्वत है; फिर भी उससे मिला हुआ हृदय विलग नहीं होता। पानी के महत्व को प्यासा ही जानता है। जो जल में है उसे पानी की इच्छा कैसी! यह सुनकर तोते ने

कहा कि हे रानी, इस विषय में क्या कहती हो ? कोई प्रेम में अनुरक्त न हो। तुम्हारे दर्शनों के लिये जो योगी महादेव के मठ में आया है, वह वियोगी हो गया है तबसे जबसे कि तुम वहाँ बसंत पूजन लेकर गई और देवता को पूजकर वापिस लौट आई।

उसके दृष्टि का बाण तुमने ऐसा मारा है कि वह उसकी चोट से आहत होकर वहीं गिर गया है। 'पद्मावती' नाम लेकर वह फिर दूसरी बार कुछ न बोल सका।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२२८)

रोवँहि रोवँ बान वै फूटे। सोतहिं सोत रुहिर मकु छूटे।।
नैनन्ह चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा।।
सूरज बूड़ि उठा परभाता। औ मँजीठ टेसू बन राता।।
पुहुमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ तहँ अहा सो रात पखेरू।।
भएउ बसंत राती बनफती। औ राते सब जोगी जती।।
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया।।
ईंगुर भा पहार तस भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा।।
तहाँ चकोर कोकिला तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रकत भरि आए तुम्ह फिरि कीन्हि न डीठि।। २२८ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के रोम-रोम में पद्मावती के प्रेम-बाण बिंध गये। प्रत्येक रोमरन्ध्र से रक्त इस प्रकार बह रहा था जैसे पसीना बहता है। आँखों से रुधिर की धारा बह चली थी और उससे कथरी भीगकर लाल हो गई थी। प्रभात का सूर्य भी उस रक्त में डूबकर लाल निकला। वन के टेसू और मँजीठ भी रक्तिम हो चले। उस रक्त से जितनी पृथ्वी भीगी वह भी गेरू बन गई। वहाँ जो भी पक्षी था, लाल हो गया। उसी रक्त से सारी बसंत की नव पल्लवित वनस्पति लाल हो गई। सारे योगी-यति रक्त से भींगकर गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए मानो लाल हो गये। उसी रक्त से सती की सारी काया में आग लग गई और वह लाल हो गई। उसी की छाया से आकाश के बादल लाल हो गये। उसी रक्त से पहाड़ इस प्रकार भींगा कि ईंगुर पैदा हो गया। पर तुम्हारा एक रोम भी नहीं भीगा !

रत्नसेन ने तोते से कहा कि हे तोते, पद्मावती से कहना कि इस प्रकार के वियोग को देखकर चकोर और कोयल के हृदय में भी दया पैदा हो गई और उनके नेत्र रक्त से भर-भर आए। पर तुम कितनी निष्ठुर कि तुमने उसकी ओर फिर एक बार भी मुड़कर न देखा।

विशेष—प्रस्तुत पद में प्रेम की विरह-वेदना का वर्णन बड़ा व्यापक हुआ है। प्रकृति के विराट् रूप-व्यापार में विरह-वेदना का प्रभाव बड़ा मार्मिक एवं हृदयग्राही बन पड़ा है। प्रकृति का मानवीय प्रभाव के कारण से इतना संवेदनशील चित्रण करना एक

अकेले जायसी के कलाकार का ही काव्य-धर्म कहा जायगा, दूसरा कोई नज़र नहीं आता।

शब्दार्थ—रुहिर=रुधिर। पहुमि=पृथ्वी। मया=दया। डीठि=दृष्टि।

(२२६)

अैस बसंत तुम्हहि पै खेलहु। रकत पराएँ सेंदुर मेलहु॥
तुम्ह तौ खेलि मँदिर कहँ आई। औहिक मरम जस जान गोसाईं॥
कहेसि मरै को बारहि बारा। एकहि बार होउँ जरि छारा॥
सर रचि रहा आगि जौं लाई। महादेव गौरैं सुधि पाई॥
आइ बुझाइ दीन्ह पँथ तहाँ। मरन खेल कर आगम जहाँ॥
उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग जौं परै पतारा॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै साँस कि मरै निसाँसा॥
पाती लिखि सो पठाई लिखा सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै काह रजाएसु होइ॥२२९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में रत्नसेन तोते से कहता है—

हे तोते, पद्मावती से कहना कि तुम्हीं ऐसा निष्ठुर बसन्त खेलने वाली हो कि दूसरे के रक्त को सिंदूर-सा मलती हो। तुम तो बसन्त खेलकर महलों में चली आईं पर तुम्हारे प्रेमी के मन पर जो बीती है, उसे भगवान ही जानता है। रत्नसेन ने कहा कि बार बार कौन मरे और उसका कष्ट सहे? एक ही बार जलकर राख क्यों न हो जाया जाय! चिता सजाकर जब रत्नसेन आग लगाने लगा तब महादेव और पार्वती को उसकी दयनीय दशा की स्मृति मिली। उन्होंने आकर वह आग बुझाई और रत्नसेन को समझाया। जहाँ पहले मृत्यु का भीषण खेल चल रहा था वहाँ पहुँचकर शंकर-पार्वती ने उसकी सुधि की, रक्षा की। पद्मवाती के पास पहुँचकर तोते ने कहा कि प्रेम-द्वार का रास्ता उल्टा होता है। जो पहले पाताल में गिरता है तभी वह प्रेम के स्वर्ग पर चढ़ता है। इसीलिए अब रत्नसेन तुम्हें पाने की आशा लेकर पाताल में धँसना चाहता है। चाहे वहाँ उसे साँस मिले अथवा विना श्वाँस होकर मर ही क्यों न जाय।

यों अपना सब दुःख रोकर उसने अपनी लिखी प्रेम-पाती तुम्हें भेजी है। कौन जाने कि इस बीच उसके प्राण रहें या जायें? हे रानी, अब तुम्हारी क्या आज्ञा है, सो कहो?

शब्दार्थ—मरम=रहस्य। गोसाईं=ईश्वर। सर=चिता।

(२३०)

कहि कै सुअै छोड़ि दई पाती। जानहु दिब्ब छुअत तसि ताती॥
गीवँ जो बाँधे कंचन धागे। राते स्याम कंठ जरि लागे॥
अगिनि स्वाँस सँग निकसै ताती। तरिवरि जरहि तहाँ का पाती॥
जरि जरि हाड़ भए सब चूना। जहाँ माँसु का रकत बिहूना॥
रोइ रोइ सुअै कही सब बाता। रकत के आँसुन्ह भा मुख राता॥

देखु कंठ जरि लाग सो गेरा। सो कस लरै बिरह अस घेरा ॥
ओइँ तोहि लागि कया असि जारी। तपत मीन जल देई न पारी ॥
तोहि कारन वह जोगी भसम कीन्ह तन डाहि।
तूं अस निठुर निछोही बात न पूंछी ताहि ॥२३०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की विरह-विषम स्थिति को कहकर तोते ने वह प्रेम-पत्रिका पद्मावती के आगे डाल दी। वह पाती विरह ताप से इतनी युक्त थी मानो अग्नि-परीक्षा के समय हाथों पर रखा जाने वाला आग का गोला हो। तोते की गर्दन पर जो रेशमी धागे बँधे हुए थे वही मानो जल-जलकर लाल और काले रंग वाले उसकी कंठी के चिन्ह हो गये थे। उसके श्वासों के साथ अग्नि की लपट निकल रही थीं। वह लपट, जिससे वृक्ष भी जल रहे थे; पाती तो पाती ही थी ! उस ज्वाला से सब हड्डियाँ जल-जलकर चूना हो गई थीं। ऐसी दशा में रक्तविहीन मांस का तो कहना ही क्या? रो-रोकर तोते ने सब बातें कहीं। रक्त के आँसुओं से उसका मुँह भी लाल हो गया था। तोते ने कहा कि हे पद्मावती ! देखो, इसी पाती से मेरा कंठ जलने लगा है तो सोचो, जो विरह से घिरा हुआ है, वह किस प्रकार जल रहा होगा। अतः यह पाती मैंने तुम्हारे सामने डाल दी है। रत्नसेन ने तुम्हारे लिए अपनी काया इस प्रकार से जलाई है जैसे मछली जल के वियोग में जलती है। बोलो, क्या तुम उसके लिए जलदान नहीं कर सकती, स्नेह नहीं देगी ?

हे रानी, तुम्हारे ही कारण वह योगी हुआ है, और उसने अपने शरीर को भस्म बना छोड़ा है। तुम ऐसी निष्ठुर हो कि निर्मोही होकर उसकी बात तक नहीं पूछतीं।

शब्दार्थ—विहूना = बिन। दिब्ब = परीक्षा के समय हाथ पर रखी जानेवाली अग्नि।

(२३१)

कहेसि सुआ मोसों सुनु बाता। चहौं तो आजु मिलौं जस राता ॥
पै सो मरमु न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा ॥
हौं जानति हौं अबहुँ काँचा। न जनहुँ प्रीति रँग थिर राँचा ॥
न जनहु भएउ मलैगिरि बासाँ। न जानहु रवि होइ चढ़ा अकासा ॥
न जनहु होइ भँवर कर रंगू। न जनहुँ दीपक होई पतंगू ॥
न जनहु करा भृंगी कै होई। न जनहु अबहिं जिऐ मरि सोई ॥
न जनहु पेम औटि एक भएऊ। न जनहु हिय महँ कै डर गएऊ ॥
तेहि का कहिअ रहन खिन जो है प्रीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेई धँसि का पानी का आगि ॥२३१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने तोते से प्रेम-परीक्षा की ओर साधना व्यंजित की। कहा कि हे तोते, मेरी बात सुन—रत्नसेन जैसा मुझ पर अनुरक्त है उसके अनुसार मैं चाहूँ तो उससे आज

ही मिल सकती हूँ। किन्तु वह मेरे रहस्य को नहीं जानता। प्रेम के रहस्य को वही जानता है जोकि जीवन दान देकर प्रेम की ग्रंथि जोड़ता है। मैं जानती हूँ कि उसका प्रेम अब भी कच्चा है। मैं नहीं समझती कि उसके प्रेम का रंग पूर्णतः स्थिर और अमिट है। न जाने वह प्रेम के मलयगिरि से सुगंधित हुआ है या नहीं ? मैं नहीं जानती कि वह सूर्य के समान जलकर प्रेम के आकाश पर चढ़ा है या नहीं ? नहीं जानती कि वह प्रेम के विरह में जलकर भौरे के रंग का हुआ है या नहीं ? नहीं जानती कि वह प्रेम के दीप का परवाना है या नहीं ? नहीं जानती कि उसमें विक्षिप्त दिखाई देने वाली भृङ्गी की कला है या नहीं ? नहीं जानती कि वह अभी तक जीता है अथवा मर गया है ! नहीं जानती कि उसका प्रेम उबलकर मुझ प्रीतम के साथ मिल गया है, एक रूप हुआ है या नहीं ? नहीं जानती कि उसका भय हृदय से दूर हुआ है या नहीं ?

उसके लिए क्या कहा जाय जिसके जीवन का क्षण-क्षण प्रीतम के लिए ही विनिर्मित हो, वह महान है ! जहाँ भी वह अपने प्रीतम को सुने कि वहीं उसे प्राप्त करने के लिए अवगाहन करे। उसके लिए आग और पानी कैसे ? आशय यह है कि प्रेमी अपने प्रेम को प्राप्त करने के लिए सहर्ष मृत्यु का वरण करता है।

विशेष—प्रस्तुत अंश में जायसी ने सबल संवेदनाओं का स्वतः सबल प्रवाह प्रवर्तित किया है। वर्डसवर्थ ने काव्य की यही परिभाषा की है—"Spontaneous overflow of the most Powerful feelings." और जायसी ने इस वर्णन में शब्द-शब्द पर इसकी सिद्धि की है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२३२)

पुनि धनि कनक पानि मसि माँगी। उत्तर लिखत भीजि तन आँगी॥
तेहि कंचन कहँ चहिअ सोहागा। जो निरमल नग होई सो लागा॥
हौं जो गई मढ़ मंडप भोरी। तहवाँ तूं न गाँठि गहि जोरी॥
भा बिसँभार देखि कै नैना। सखिन्ह लाज का बोलौं बैना॥
खेल मिसुई मैं चंदन घाला। मकु जागसि तौ देउँ जैमाला॥
तबहुँ न जागा गा तैं सोई। जागें भेंट न सोएँ होई॥
अब जौं सूर होई चढ़ै अकासा। जौं जिउ देई तो आवै पासा॥
तब लगि भुगुति न लै सका रावन सिय एक साथ।
अब कौन भरोसें किछु कहौं जीउ पराएँ हाथ॥२३२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

फिर उस पद्मावती बाला ने सोने के पानी की स्याही मँगवाई। सात्विक शृङ्गारिक भावों के उद्रेक से रत्नसेन के पत्र का उत्तर लिखते हुए उसके शरीर की अंगिया पसीने से भीग गई। पद्मावती ने लिखा कि जिस शुद्ध कंचन (पद्मावती) को तुम चाहते हो उसके लिए सोहागा या सौभाग्य अपेक्षित है। आशय यह है कि पद्मावती संकेत में यह बता

देना चाहती है कि उसे भी रत्नसेन की चाह है। पद्मावती लिखती है—किन्तु जो निर्मल नग होगा वही उस कंचन में जड़ा जा सकता है। मैं जब नादान, शिव-मंडप में गई थी तभी तूने मुझे पकड़कर मेरे साथ गाँठ क्यों न जोड़ दी। मेरे नेत्रों को देखकर तू डाँवाडोल हो गया और मैं सखियों की लाज के कारण क्या कह सकती थी ? फिर भी क्रीड़ा के बहाने मैंने तेरे ऊपर चन्दन छिड़का कि शायद तू जाग उठे और मैं तुझे जयमाला पहना दूँ। पर तू फिर भी न जागा—सो गया। जागने से ही तो प्रिय-मिलन होता है; सोने से नहीं। व्यंजना से आशय यह भी है कि साधक का ईश्वर से साक्षात्कार तभी होता है जब वह जागृत होता है सुषुप्ति में नहीं। पद्मावती ने लिखा कि अब जब तू सूर्य बनकर अम्बर-पथ से आवेगा और अपना प्राण देगा, तब मेरे निकट पहुँच सकेगा।

रावण के साथ जब सीता रही तब वह उसका भोग न ले सका; और अब ऐसी स्थिति में मैं किस भरोसे पर कहूँ कि मैं तेरी हो सकूँगी। क्योंकि मेरा जीवन तो अब पराये अर्थात् पिता के हाथ में है।

शब्दार्थ—बिसँभार = डाँवाडोल। घाला = डाला।

(२३३)

अब जौं सूर गगन चढ़ि धावहु। राहु होहु तो ससि कहँ पावहु॥
बहुतन्ह अँस जीउ पर खेला। तूँ जोगी केहि माहँ अकेला॥
विक्रम धँसा पेम के बाराँ। सपनावति कहँ गएउ पताराँ॥
सुदैबच्छ मुगुधावति लागी। कंकन पूरि होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरिगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू॥
पेमावति कहँ सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा॥
हौं रानी पदुमावति सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें प्रथम जो आपुहि नास॥ २३३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने पत्र में लिखा, अब अगर तू सूर्य बनकर आकाश पर चढ़कर आ सकता हो तो जल्दी आ। यदि राहु होगा तो शशि अर्थात् पद्मावती को कैसे पा सकता है ? प्रेम-मिलन के लिये इसी तरह बहुत से प्रेमी जान पर खेले हैं; क्या तू ही योगी ऐसा करने में अकेला थोड़े ही कहा जायेगा ! तुझसे पूर्व विक्रम प्रेम के द्वार से प्रविष्ट हुआ और स्वप्नावती के लिये पाताल तक गया था। सुदैवच्छ प्रेयसि मुग्धावती के लिये कंगन पहनकर बैरागी हो गया था। मृगावती के लिये राजकुँवर योगी बनकर कंचनपुर पहुँचा मधुमालती के लिये कुँवर मनोहर ने योग किया और वियोग लिया। प्रेमावती के लिये सुरसर नामक राजकुमार ने साधना की। अनिरुद्ध ने प्रेयसि ऊषा के लिये सेना सजाकर संग्राम किया।

मैं रानी पद्मावती हूँ। धवल ग्रह के सतखंडे पर निवास करती हूँ। मैं उसी के हत्थे

लगूँगी जो पहले अपने आपको मिटा देगा।

विशेष—इस पद में जायसी ने प्रेमाख्यानक सम्बन्धी पूर्व घटनाओं का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में अन्य सूफी कवियों—कुतुमन, मंझन आदि विरचित मृगावती, मधुमालती आदि रचनाएँ मिलती हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२३४)

हौं पुनि अहौं अैसि तोहि राती। आधी भेंट प्रीतम कै पाँती॥
तोंहि जौं प्रीति निबाहै आँटा। भँवर न देखु केतु महँ काँटा॥
होहु पतंग अधर गहु दिया। लेहु समुँद धँसि होइ मरजिया॥
राति रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती॥
चात्रिक होहु पुकारु पिआसा। पिउ न पानि रहु स्वाति की आसा॥
सारस कै बिछुरी जिमि जोरी। रैनि होहु जस चक्क चकोरी॥
होहु चकोर दिस्टि ससि पाहाँ। औ रबि होहु कँवल दधि माहाँ॥
हहूँ अैसि हौं तो सौं लकसि तौ प्रीति निबाहु।
राहु बेधि होइ अरजुन जीति द्रौपदी ब्याहु॥ २३४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने पत्र में आगे लिखा कि हे प्रिय, मैं भी तुझ पर इतनी अनुरक्त हूँ कि तेरी पाती ऐसी प्रतीत हुई मानों तुझसे आधी भेंट हो गई हो। जब तेरे मन में प्रीत है तो उसका निर्वाह भी कर, विघ्नों की चिन्ता न कर। भौंरा केतकी के फूल से प्यार करता है तो उसके काँटों से नहीं डरता। पतंगा बनो और अपने अधरों से दीपक की लौ को चूमो! गोताखोर बनकर प्रेम के सागर में गोता लगाओ और मनोवांछित रत्न पाओ। जैसे दीपक की बत्ती दीपक के प्रेम-रंग में डूबकर रतनार हो जाती है इसी प्रकार से तू प्रेमी है, वैसा बन, जल! सीप बनकर स्वाती की ओर टकटकी बाँध। चातक बन और प्यास की रट लगा। स्वाति जल की कामना में रह और कोइ दूसरा जल न पी। विधुर सारस की भाँति बिछुड़े हुए रहकर प्राण दे। इस प्रकार से तड़प सह जैसे रात में चकवा चकवी का जोड़ा बिछुड़कर तड़प सहता है। प्रेमी है तो चकोर बनकर चाँद की ओर निर्निमेष देख। सरोवर के कमल को देखने वाला सूर्य बन।

मैं भी ऐसी हूँ तो प्रीत निभा सकती हूँ। यदि तू समर्थ है तो ऐसी प्रीत निभा। अर्जुन सा बनकर राहु बेध और मुझ द्रौपदी से विवाह-स्वयंवर रचा!

शब्दार्थ—आँटा=पूरी तरह। चात्रिक=चातक।

(२३५)

राजा इहाँ तैस तपि झूरा। भा जरि बिरह छार कर कूरा॥
मौन गँवाए गएउ बिमोही। भा निरजिउ जिउ दीन्हेसि ओही॥
गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि गौ तारी॥

बुंदहि समुंद जैस होई मेरा। गा हेराइ तस मिलै न हेरा॥
रंगहि पानि मिला जस होई। आपुहि खोइ रहा होइ सोई॥
सुवा आइ देखा भा नासू। नैन रकत भरि आए आँसू॥
सदा जो प्रीतम गाढ़ करेई। वह न भूल भूला जिउ देई॥
मूरि संजीवनि आनि कै औ मुख मेला नीर।
गरुर पंख जस झारै अंब्रित बरसा कीर॥२३५॥

भावार्थ—रत्नसेन की विरह-दशा का वर्णन करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं—

इधर राजा रत्नसेन तप से इस प्रकार सूख रहा था कि जलकर राख का ढेर हो चला था। रत्नसेन की मूक समाधि को खंडित करके विमोहिनी पद्मावती चली गई थी। अतः वह निर्जीव हुआ, और उसके लिए प्राण दे दिए। उसकी पिंगला सुषुम्ना नाड़ी की गति थम जाने से वह शून्य या निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया—उस समाधि की ताली लग गई थी। जिस प्रकार बूँद समुद्र में मिलकर अद्वैत हो जाती है; इसी प्रकार रत्नसेन शून्य समाधि में खो गया था, और वह खोजने पर भी न मिलता था। जिस प्रकार किसी रंग में मिलकर पानी तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार वह अपने आपको पद्मावती के प्रेम-रंग में खोकर तद्रूप हो गया था। इन पंक्तियों में जायसी ने आत्मा परमात्मा का अद्वैतवादी सिद्धान्त काव्य के माध्यम से सुन्दर व्यंजित किया है—"एको ब्रह्मः द्वितीयो नास्ति।" तोते ने उसे आकर वैसी अचेत दशा में देखा और सोचा—सर्वनाश हो गया! उसकी आँखों में रक्त के आँसू छलक आये। उसने सोचा, जो प्रीतम सदा के लिए कठिन संकट देता है, उस प्रीतम को प्रेमी से भुलाया नहीं जा सकता, भले ही वह अपने प्राणों को भूल में उसके लिए दे डाले।

तोता यह देखकर संजीवनी बूटी लाया और उसका रस रत्नसेन के मुख में डाला। फिर जैसे गरुड़ अपने पंखों से अमृत बरसाता है इसी प्रकार सुए ने अपने पंखों को फड़-फड़ाकर रत्नसेन को पद्मावती के प्रेम का सन्देश रूपी अमृत बरसाया, प्रदान किया।

शब्दार्थ—झूरा=सूख जाना। कूरा=ढेर। तारी=टकटकी। गा हेराइ=खो गया। नासू=नाश। गाढ़=संकट।

(२३६)

मुवा जियहि अस बास जो पावा। बहुरी साँस पेट जिउ आवा।
देखेसि जाग सुऐं सिर नावा। पाती दै मुख बचन सुनावा॥
गुरु कर बचन स्रवन दुहु मेला। कीन्ह सुदिस्टि बेगि चलु चेला॥
तोहि अलि कीन्ह आपु भइ केवा। हौं पठवा कै बीच परेवा॥
पवन स्वाँस तोसौं मन लाए। जोवै मारग दिस्टि बिछाए॥
जस तुम कया कीन्ह अगिडाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू॥
तब उड़ंत छाला लिखि दीन्हा। बेगि आउ चाहौं सिध कीन्हा॥

आवहु स्यामि सुलक्खने जीव बस तुम्ह नाउँ।
नैनन्ह भीतर पंथ है हिरदै भीतर ठाउँ ।।२३६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि यदि प्रेम-सन्देश की प्रेमी को ऐसी सुगंधि मिले जैसी कि रत्नसेन को दी गई तो उससे मरा हुआ भी फिर जीवित हो जाता है। सन्देश सुनकर रत्नसेन की मृतप्राय साँसें लौट आई और जी में जी आया। राजा को जगा हुआ देखकर तोते ने सादर सिर झुकाया। पत्र देकर उसने राजा को मुख से सन्देश कहा कि हे शिष्य, अपने गुरु के (पद्मावती के) वचनों को अपने कानों में डालकर शीघ्र चल; क्योंकि पद्मावती ने तुझ पर सुदृष्टि डाली है। तुझे भौंरा बनाकर वह स्वयं कमल या केतकी बनी है। मुझ पक्षी को सन्देशवाहक बनाकर भेजा है—मध्यस्थ बनाया है। वह अपने पवन जनित श्वासों से तुझपर मन लगाए हैं। वह तेरे मिलन-मार्ग पर दृष्टि बिछाये हुए तेरी मधुर प्रतीक्षा कर रही है। जैसे तुमने अपनी काया को विरहाग्नि और तपस्या से दाहा है वह सब पद्मावती रूपी गुरु-शक्ति को प्रतीत हो गया है। उसने लिख दिया है कि तुम उड़ंतशाला पर बैठकर शीघ्र आओ—मैं तुम्हें सिद्ध बनाना चाहती हूँ।

हे सुलक्षणों से युक्त स्वामी ! शीघ्र आओ, मेरा प्राण तुम्हारे नाम में बसा हुआ है। मेरे नेत्रों के भीतर तुम्हारे आने का मार्ग है, और हृदय के भीतर तुम्हारे रहने का स्थान !

शब्दार्थ—स्रवन = श्रवण, कान। केवा = कमल, केतकी। अगिडाहू = विरहाग्नि का दाह।

(२३७)

सुनि पदुमावति कै असि मया। भा बसंत उपनी नै कया ।।
सुवा क बोल पवन होइ लागा। उहा सोइ हनिवंत अस जागा ।।
चाँद मिलन कहँ दीन्हेउ आसा। सहसौं करा सूर परगासा ।।
पाती लीन्ह लै सीस चढ़ावा। दिस्टि चकोर चाँद जनु पावा ।।
आस पिआसा जो जेहि केरा। जौं झिझकार वाहि सौं हेरा ।।
अब यह कवन पवन मैं पिया। भा तन पंख पंखि मरि जिया ।।
उठा फूलि हिरदै न समाना। कंथा टूक टूक बेहराना ।।
जहाँ पिरीतम वै बसहिं यह जिउ बलि तेहि बाट।
जौं सो बोलावहि पाउ सौं हम तहँ चलहि ललाट ।।२३७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

तोते के मुख से पद्मावती की कृपा का ऐसा सन्देश सुनकर रत्नसेन का मन बसंत की भाँति प्रफुल्लित हुआ और काया में नवीनता का संचार ! तोते का बोल बसंत-पवन सा सुखद और शीतल प्रतीत हुआ। वह इस प्रकार से उठा जैसे हनुमान जी सोते से उठे हों। चाँद से मिलने की (पद्मावती से मिलने की) जो आशा हुई तो रत्नसेन सहस्रों कलाओं

से प्रकाशित सूर्य की भाँति दीप्तिमान हो उठा। उसने पाती अपने हाथ में ली और सिर पर लगाई। उसके दृष्टि रूपी चकोर ने मानो चन्द्रमा पा लिया था। (रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार) जिसको जिसकी आशा और प्यास होती है उसे यदि झटकारा भी जाय तब भी वह उसी को देखता है। राजा ने सोचा कि मैंने यह कौन से वायु का आचमन किया है जिससे शरीर में नये पंख उग आये हैं और मन का मरा हुआ पक्षी फिर जीवित हो गया है? वह प्रफुल्लित हुआ, और उसका सुख हृदय में न समाता था। सुख से शरीर पुलकित हुआ और उसके कारण तन की कथरी तार-तार होकर बिखर गई।

उसने सोचा कि जहाँ मेरी प्रियतमा पद्मावती रहती है, मेरे प्राण उसके पथ की बलि हैं। यदि वह मुझे पैरों से आने के लिये कहे तो मैं सिर के बल वहाँ चलकर जाऊँगा।

शब्दार्थ—मया = दया। उपनि = पैदा हुई। नै = नई। परगासा = प्रकाश।

(२३८)

जो पँथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुँद ओही धँसि लेई॥
जहँ वह कुंड विषम अवगाहा। जाइ परा जनु पाई थाहा॥
बाउर अंध प्रीति कर लागू। सोहँ धँसै कछु सूझ न आगू॥
लीन्हेसि धँसि सुवाँस मन मारे। गुरू मछिन्दरनाथ सँभारे॥
चेला परे न छाड़हि पाछू। चला मंछु गुरू जस काछू॥
जनु धँसि लीन्ह समुँद मरजिया। उघरे नैन बरे जगु दिया॥
खोजि लीन्ह सो सरग दुवारी। बज्र जो मूँदे जाइ उघारी॥
बाँक चढ़ाउ सुरंग गढ़ चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर चढ़े सेंधि दै चोर॥२३८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

शिव की सेवा के फलस्वरूप जो मार्ग मिला था उसे ही जैसे समुद्र में घुसकर तय करने के लिये रत्नसेन चला। वह जो अगाध विषम कुंड था, उसमें गिर गया तो मानो उसने थाह पा ली। प्रेम में लगा हुआ मनुष्य पागल और अंध हो जाता है। वह सीधा धँसता ही जाता है। उसे आगे का कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता। राजा श्वास रोककर और मन को वशीभूत करके सामने घुस गया और अपने साध्य को प्राप्त किया। गुरु मछिन्दरनाथ साथ होकर ही उसे सँभाले थे। शिष्य के गिर पड़ने पर भी सच्चा गुरू उसका साथ नहीं छोड़ता—पीछा किये ही रहता है। चेला मछली की भाँति होता है और गुरू कछुए की भाँति। राजा इस प्रकार घुस गया जैसे समुद्र में गोताखोर घुस जाता है। उसके नेत्र खुले तो मानो दीपक से प्रकाशित होते हुए दिखलाई दिये। (उत्प्रेक्षा है।) राजा ने स्वर्ग का दरवाजा खोज लिया और वहाँ के जो द्वार वज्र से बंद हो रहे थे, उन्हें खोला।

गढ़ में सुरंग की चढ़ाई बड़ी विकट थी, अतः चढ़ते हुए सवेरा हो गया। गढ़ के ऊपर पुकार हुई कि चोर सैंध लगाकर ऊपर चढ़ रहे हैं।

शब्दार्थ—बाउर=पागल। सँभारे=संभाले। मंछु=मछली। मरजिया=गोताखोर। दुवारी=द्वार। उघारी=खोले।

●

२४--गन्धर्वसेन-मन्त्री खण्ड

(२३९)

राजैं सुना जोगि गढ़ चढ़े। पूंछे पास पंडित जो पढ़े॥
जोगी जो गढ़ सेंघि दै आवहिं। कहहु सो सबद सिद्धि जेहि पावहिं॥
कहहिं बेद पढ़ि पंडित बेदी। जोगी भँवर जस मालति भेदी॥
जैसें चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ये दुवौ जीव पर खेलहिं॥
पंथ न चलहिं बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे॥
चोरहि होइ सूरी पर मोखू। देइ जो सूरी तेहि नहिं दोखू॥
चोर पुकारि भेद गढ़ मंसा। खोलै राज भँडार मँजूसा॥
जस भँडार ये मूसहिं चढ़हि रैनि दै सेंधि।
तस चाही पुनि एन्ह कहँ मारहु सूरी बेधि॥ २३९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा ने सुना कि योगी गढ़ पर चढ़े हैं। जो निकट पंडित थे उनसे राजा ने पूछा—यदि योगी सेंध लगाकर गढ़ पर चढ़ आवें तो वह शास्त्र सम्मत नियम बताओ जिससे वे इस अपराध की सजा का निर्णय पा सकें। पंडितों ने वेद के वचन पढ़कर कहा कि हे राजन्! योगी उस भँवरे के समान होते हैं जो मालती-पुष्प को गन्ध हेतु भेद डालता है। जिस प्रकार चोर सेंध लगाते हैं वैसे ही योगी और भौंरे ये दोनों अपने प्राणों पर खेल जाते हैं। ये उस मार्ग पर नहीं चलते जो मार्ग वेद सम्मत है। स्वर्ग जाने के लिये ये सूली चढ़ना सीखते हैं। चोर को सूली पर ही मोक्ष मिलती है, और जो राजा अपने निर्णय से इन्हें सूली देता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। चोर पुकार कर और गढ़ तोड़कर चोरी करते हैं और राजभंडार की वे तिजूरी खोल लेते हैं।

जैसे ये चोर जोगी राजभंडार को चुराने के लिये रात में सेंध लगाकर चढ़े हैं, इसकी यही सज़ा अपेक्षित है कि इन्हें सूली पर चढ़ाकर मार दिया जाय।

विशेष—इस पद में तत्कालीन योगियों की उदंडता एवं उनके दुराचरण का भी संकेत मिलता है।

शब्दार्थ—सबद=धर्म शास्त्र सम्मत न्याय। सिद्धि=सज़ा का निर्णय। सूरी=ली। मूंसा=चुराया। मंजूषा=तिजूरी या पोटली।

(२४०)

राँध जो मंत्री बोले सोई । अँस जो चोर सिद्ध पै कोई ।।
सिद्ध सिसंक रैनि पै भँवहीं । ताकहि जहाँ तहाँ उपसवहीं ।।
सिद्ध डरहिं नहिं अपने जीवाँ । खरग देखि कै नावहि गीवाँ ।।
सिद्ध जाहिं पै जिय बध जहाँ । औरहि मरन पंख अस कहाँ ।।
चढ़हिं जो कोपि गगन उपराहीं । थोरे साज मरहिं ते नाहीं ।।
जंबुक कहँ जौ चढ़िअै राजा । सिंघ साज कै चढ़िअ तौ छाजा ।।
सिद्ध अमर जस काया जस पारा । छरहिं मरहिं बर जाइ न मारा ।।
छरहिं काज किरसुन कर छाजा राजा छरहिं रिसाइ ।
सिद्ध गिद्ध जस दिस्टि गँगन महँ बिनु छर किछु न बसाइ ।। २४० ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

समीप ही जो राजमंत्री थे, वे बोले—जो इस प्रकार का चोर है वह अवश्य कोई सिद्ध होगा। सिद्ध तो रात्रि में भी अभय विचरते हैं। जहाँ वे ताक लगा लेते हैं वहाँ निश्चय ही पहुँचते हैं। सिद्ध अपने जीवन का भी भय नहीं करते और खड्ग देखकर अपना सिर उसके नीचे कर देते हैं। जहाँ प्राणों का बध सम्भावित हो वहाँ भी सिद्ध पहुँचते हैं। औरों के पास ऐसे मृत्यु पंख भला कहाँ होते हैं ? जो इस प्रकार आकाश के ऊपर क्रोधित होकर चढ़ते हैं, ऐसे सिद्ध छोटी-मोटी योजना से नहीं मर सकते। हे राजा, सियार के शिकार के लिये चढ़ाई की जाय तो सिंह की तैयारी से चढ़ना ही उचित एवं शोभनीय होता है। सिद्ध की अमर काया पारे के सदृश अकाट्य होती है। वे छल से ही मारे जा सकते हैं, बल से नहीं।

राजमंत्री कहते हैं कि हे राजन् ! छलपूर्वक ही कृष्ण ने राजा युधिष्ठिर से कार्य सिद्ध कराया, यद्यपि युधिष्ठिर छल के नाम से क्रोध करते थे। सिद्ध तो गिद्ध की तरह अपनी क्रूर दृष्टि सदा आकाश पर ही गड़ाए रहते हैं। अतः उनसे विना छल किये कुछ वश नहीं चल सकता।

विशेष—जायसी ने यहाँ तत्कालीन सिद्धों के प्रति दबा हुआ रोष प्रकट किया है। ये लोग अत्यधिक वामाचारी होते थे। कबीरने भी इनका प्रायः इस प्रकार भण्डाफोड़ किया था।

शब्दार्थ—रांघ=समीप। भँवही=घूमते हैं। उपसवहीं=पहुँचते हैं। छाजा शोभा देता है। पारा=पारा, मरदरी। राजा=यहाँ युधिष्ठिर का अर्थ है।

(२४१)

आवहु करहु गुदर मिस साजू । चढ़हु बजाइ जहाँ लगि राजू ।।
होहु सँजोइल कुँवर जो भोगी । सब दर छेंकि धरहु अब जोगी ।।
चोबिस लाख छत्रपति साजे । छप्पन कोटि दर बाजन बाजे ।।
बाइस सहस सिंघली चाले । गिरि पहार पब्बे सब हाले ।।
जगत बराबर दै सब चाँपा । डरा इंद्र बासुकि हिय काँपा ।।

**पदुम कोटि रथ साजे आवहिं। गिरि होइ खेह गँगन कहँ धावहिं ॥
जनु भुइँचाल जगत महँ परा। कुरुम पीठि टूटहि हियँ डरा ॥
छत्रन्ह सरग छाइगा सूरज गएउ अलोपि।
दिनहिं राति अस देखिअ चढ़ा इन्द्र अस कोपि ॥ २४१ ॥**

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राजमंत्रियों ने राजा से कहा—

आओ, कवायद प्रदर्शन के बहाने सेना सज्जित करो। जहाँ तक राज्य है, वहाँ तक बाजा बजाकर चढ़ाई करो। वे आश्रित राजकुमार भी सैन्य सज्जित हों जो भोगविलास में निमग्न हैं। सब द्वारों पर सेना घेरकर योगियों को तुरन्त पकड़ लो। राजमंत्रियों के परामर्शानुसार चौबीस लक्ष छत्रपति राजा सज्जित हुए। छप्पन करोड़ सैन्य दल के बाजे बजने लगे। बाईस हजार सिंहली हाथी चले। इन हाथियों के बोझ के मारे गिरि-पर्वत हिलने लगे। इनके दबाव के कारण जगत समतल हो गया। इन्द्र भयभीत हो गया, और शेषनाग का हृदय काँप उठा। कोटि पद्म-रथ रण सज्जित हुए। इनके दबाव से पर्वत चकनाचूर होकर धूल बन गए, और वे मानो आकाश में उड़कर जाने लगे। (अतिशयोक्ति अलंकार है।) सारे विश्व में मानो भूचाल आ गया। पृथ्वी का बोझ रखने वाले कछुआ हृदय में भयभीत हो गया कि कहीं पीठ न टूट जाय।

क्षत्रियों के छत्रों से आकाश ढँक गया। सूर्य ओझल या अस्त हो गया। दिन में ही रात जैसी दिखलाई पड़ने लगी। राजा पर युद्ध का कोप इस भाँति चढ़ गया जैसे इन्द्र का कोप हो।

शब्दार्थ—गुदर=सेना का प्रदर्शन, कवायद। मिस=बहाना।

(२४२)

**देखि कटक औ मैमँत हाथी। बोले रतनसेनि के साथी ॥
होत आव दर बहुत असूझा। अस जानत है होइहि जूझा ॥
राजा तूँ जोगी होइ खेला। एही दिवस कहँ हम भए चेला ॥
जहाँ गाढ़ ठाकुर कहँ होई। संग न छाड़ै सेवक सोई ॥
जो हम मरन देवस मन ताका। आजु आइ पूजी वह साका ॥
बरु जिउ जाइ जाइ जनि बोला। राजा सत्त सुमेरु न डोला ॥
गुरू केर जौं आएसु पावहिं। हमहुँ सोहँ होइ चक्र चलावहिं ॥
आजु करहिं रन भारथ सत्त बचा ले राखि।
सत्त करै सब कौतुक सत्त भरै पुनि साखि ॥२४२॥**

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा के सैन्य दल और मदमत्त हाथियों को देखकर रत्नसेन के साथियो ने कहा—विशाल सेना इधर बढ़ती चली आ रही है। लगता है कि संग्राम होगा। हे राजा, तू अपनी सेना को पीछे छोड़कर यहाँ योगी बनकर आया है। किंतु आज के कठिन दिन के लिये ही हम तेरे साथ चेले बनकर आए थे, कि तेरे कुछ काम आ सकें। जहाँ स्वामी पर

संकट पड़ा हो, वहाँ जो साथ दे, वही सच्चा सेवक या भक्त कहाता है। हमने तेरी सेवा में जो मरने का शुभ दिन प्राप्त करने की बात का संकल्प लिया था उस दिन का पुण्य मुहूर्त्त आज आ पहुँचा है। चाहे प्राण चले जायँ किन्तु वचन नहीं जाना चाहिये। तुलसी ने मानस में भी इसी प्रकार कहा—

"रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायँ पर वचन न जाई।"

लगता है तुलसी ने जायसी की उक्तियों का प्रायः अपने ढंग से उपयोग किया है। हे राजा, सत्य सुमेरु पर्वत की भाँति अटल है। यदि आप गुरु की आज्ञा पायें तो हम भी युद्ध के सामने होकर चक्र चलाएँगे।

खाज हम महाभारत जैसा युद्ध करके सत्य की रक्षा करेंगे। सत्य ही के बल पर हम यह कौतुक करेंगे, और सत्य की ही विजय इस बात की साक्षी होगी।

शब्दार्थ—कटक = सैन्य दल। भैमँत = मदमत्त। दर = दल। गाढ़ = संकट। साका = मुहूर्त्त।

(२४३)

गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम बार होइ करिअ न कोहू॥
जा कहँ सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जौं कीजै॥
जेहि जियँ पेम पानि भा सोई। जेहि रँग मिलै तेहि रंग होई॥
जौं पै जाइ पेम सिउँ जूझा। कत तपि मरहिं सिद्ध जिन्ह बूझा॥
यह सत बहुत जो जूझि न करिअै। खरग देखि पानी होइ ढरिअै॥
पानिहि काह खरग कै धारा। लौटि पानी सोई जो मारा॥
पानी सेंति आगि का करई। जाइ बुझाइ पानि जौं परई॥
सीस दीन्ह मैं अगुमन पेम पाय सिर मेलि।
अब सो प्रीति निबाहें चलौं सिद्ध होइ खेलि॥२४३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

गुरु या रत्नसेन कहता है कि हे चेलो, सिद्धि बनो! प्रेम के द्वार में क्रोध नहीं करना चाहिए। जिसने जिसे प्रेम में सिर झुकाकर दे दिया तो उसके सामने फिर जो उसे ऊँचा उठाओगे तो उसमें आनन्द न रहेगा। जिसके हृदय में प्रेम है, वह पानी-सा तरल हो जाता है। वह, जो जिसके प्रेम-रंग में मिल जाता है बस उसी के रंग का हो जाता है। यदि प्रेम युद्ध करके किया जा सकता है तो ज्ञानदर्शी सिद्ध उसके लिये तप करके क्यों मरते हैं? हम प्रेमी सिद्धों के लिये तो यही सत्य महान है कि युद्ध न करें। तलवार देखकर पानी से होकर बह जाँय। पानी के लिये तलवार की धार कैसी? जो पानी में तलवार मारता हैं उसकी प्रतिक्रिया में वह स्वयं पानी बन जाता है। पानी के लिये आग क्या कर सकती है? यदि वह पानी में पड़ती है तो बुझ जाती है। आशय यह है कि प्रेम के जल में क्रोध की ज्वाला भड़काना व्यर्थ है—"**अंगार नहीं जलते हैं पानी के ऊपर, उसके ऊपर श्रद्धा के दिये बिचरते हैं।**"—("आग और आकर्षण" कृति से)

रत्नसेन कहता है कि हे योगियो ! मैंने पहले ही प्रेम के चरणों पर अपना सिर धर दिया है। अब मैं सिद्ध होकर उस प्रेम के निर्वाह पर चलूँगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२४४)

राजैं छेकि धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुख सहै बियोगी।।
ना जियँ धरक धरत है कोई। ना जियँ मरन जियन कस होई।।
नाग फाँस उन्ह मेली गीवाँ। हरख न बिसमौ एकौ जीवाँ।।
जेइँ जिउ दीन्ह सो लेउ निरासा। बिसरै नहिं जौ लहि तन स्वाँसा।।
कर किंगरी तिन्ह तंत बजावा। नेहु गीत बैरागी गावा।।
भलेहिं आनि गियँ मेली फाँसी। हिएँ न सोच रोस रिसि नासी।।
मैं गियँ फाँद ओहि दिन मेला। जेहि दिन पेम पंथ होइ खेला।।
परगट गुपुत सकल महि मंडल पूरि रहा सब ठाँउ।
जहँ देखौं ओहि देखौं दोसर नहिं कहँ जाँउ।।२४४।।

भावार्थ—कविवर जायसी कहते हैं—

राजा गंधर्वसेन ने तमाम जोगियों को घेरा और पकड़ लिया। वियोगी तो सदैव दुःख के ऊपर नए दुःख सहता है। उसे इस बात की मन में कोई चिन्ता नहीं होती कि कोई उसे घेर रहा है। उसके हृदय में जीवन मरण की दुश्चिन्ता नहीं होती। सैनिकों ने गले में नाग फाँस डाल दी। किन्तु इससे किसी के जी में भी हर्ष अथवा विस्मय नहीं हुआ। रत्नसेन ने कहा—जिस निर्लिप्त ने जीवन दिया है, भले ही वह उसे वापिस ले ले। परन्तु जब तक शरीर में श्वाँस है तब तक उसे भुलाया नहीं जा सकता। योगियों के हाथ की किंगरी के तंतु-स्वर बज रहे थे। वैरागी प्यार का गीत गा रहा था। रत्नसेन ने सैनिकों से कहा कि हे सैनिको ! भले ही तुमने लाकर मेरे गले में फाँसी डाल दी है किन्तु इससे मेरे हृदय में कोई सोच–क्रोध नहीं है। उसका तो अब नाश हो गया है। मैंने तो उसी दिन गले में फाँसी चढ़ा दी थी जिस दिन प्रेम-मार्ग पर चला था।

प्रगट-अप्रगट रूप में सारी पृथ्वी के स्थानों पर मेरा वही एक प्रीतम मौजूद है। मैं जहाँ देखता हूँ, उसे ही देखता हूँ,। कहीं कोई दूसरा प्रीतम नहीं; मैं फिर कहाँ जाऊँ ?

विशेष—इस पद में कविवर जायसी ने ईश्वर को प्रेम स्वरूप बतलाते हुये अंतिम पंक्तियों में उसकी सर्वव्यापकता की अत्यन्त सरस रहस्यवादी व्यंजना की है। इसके लिये उपनिषद् के इस श्लोक को देखिये—

"ईशावास्यमिदं ॅ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्ध नम्।"

और इसमें जायसी ने काव्य की सरसता प्रदान की है, यह बड़ी बात है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२४५)

जब लगि गुरु मैं अहा न लीन्हा । कोटि अँतरपट बिच हुत दीन्हा ।।
जौं चीन्हा तौ ओरु न कोई । तन मन जिउ जोबन सब सोई ।।
हौं हौं कहत धोख अँतराहीं । जौं भा सिद्ध कहाँ परिछाहीं ।।
मारै गुरू कि गुरू जियावा । ओरु को मार मरै सब आवा ।।
सूरी मेलु हस्ति कर पूरू । हौ नहि जानौं जानै गूरू ।।
गुरू हस्ति पर चढ़ा सो पेखा । जगत जो नास्ति नास्ति सब देखा ।।
अंध मीन जस जल महँ धावा । जल जीवन जल दिस्टि न आवा ।।
गुरु मोरे मोरें हित दीन्हें तुरँगहि ठाठ ।
भीतर करै डोलावै बाहर नाचै काठ ।।२४५।।

भावार्थ—यहाँ कविवर जायसी रत्नसेन के द्वारा तांत्रिकों और सहजियानियों के प्रत्यक्षदर्शी गुरू की महत्ता प्रतिपादन करते हैं। रत्नसेन ने कहा—

जब तक मैंने गुरु को नहीं पहचाना था तब तक अन्तर्मन में अज्ञान के करोंड़ों परदे पड़े हुये थे। पर जब मैंने उसे पहचान लिया तो कहीं कुछ न रहा, सब समान हो गया। तन, मन, जीवन और यौवन सब कुछ वही एक गुरु है। "मैं-मैं" कहते हुये लोग अन्तस्थल में भ्रम रखते हैं और गुरु से अन्तर बनाये रहते हैं, पर जब कोई सिद्ध हो गया तो फिर भ्रम भेद की छाया कहाँ ? गुरु ही प्राण लेता है और प्राण देता है। दूसरा कौन शक्तिशाली ऐसा है जो मार सके ? और सब तो मरने ही के लिये संसार में आते हैं।

चाहे सूली दो, चाहे हाथी की सूँड में लपेट दो; मैं कुछ नहीं जानता, सब कुछ गुरु जानता है। गुरु हाथी पर सवार होकर जगत का सारा दृश्य देखता है। जगत में जो कुछ नहीं है—"नास्ति है," उस नास्ति को भी गुरु देखता है। मनुष्य की गति तो उस अंधी मछली के समान है जो पानी में दौड़ती तो है, उसी में रहती भी है किन्तु फिर भी उसे उसका अस्तित्व रूप, जल दिखलाई नहीं पड़ता।

मेरे गुरु ने मेरे ही कल्याण के लिये मुझे इस शरीर रूपी घोड़े के ठाठ से सज्जित किया है। अन्तर से जैसी उसकी प्रेरणा होती है, वह मुझे चलाता है। और ये शरीर तो बाहरी जगत में कठघोड़ा व्यर्थ ही नाचता रहता है।

शब्दार्थ—अहा = था। चीन्हा = पहचाना। नास्ति = नहीं।

(२४६)

सो पदुमावति गुरु हौं चेला । जोग तंत जेहि कारन खेला ।।
तजि ओहि बार न जानौं दूजा । जेहि दिन मिले जातरा पूजा ।।
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटू । ओहि कहँ देहुँ हिए महँ पाटू ।।
को मोहि लै सो छुवावै पाया । को अवतार देइ नइ काया ।।
जीउ चाहि सो अधिक पियारी । माँगै जीउ देउँ बलिहारी ।।
माँगै सीस देउँ सिउँ गीवा । अधिक नवौं जौ मारै जीवा ।।

अपने जिय कर लोभ न मोही। पेम बार होइ माँगौ ओही॥
दरसन ओहि क दिया जस हौं रे भिखारि पतँग।
जौ करवत सिर सारै मरत न मोरौं अंग॥२४६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन कहता है कि पद्मावती मेरी गुरु है और मैं उसका शिष्य ! उसी के लिये मैंने योग-मार्ग लिया है। उसके द्वार को छोड़कर मैं किसी दूसरे द्वार को नहीं जानता। जिस दिन वह मिल जायेगी, मेरी यात्रा पूर्ण सुफल हो जायेगी। उसके लिये मैं अपना प्राण निकालकर मस्तक पृथ्वी पर झुका दूँगा। उसके लिये मैं उसे बैठने को अपने हृदय के सिंहासन पर स्थान दूँगा। मुझे कौन उसके पास तक ले जाकर उसके चरण स्पर्श करा देगा ? उसके लिये मुझे कौन नव जन्म और नव काया प्रदान करेगा ? वह तो मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है। यदि वह प्राण भी माँगे तो मैं उस पर न्यौछावर करके कृतार्थ होऊँगा। यदि वह शीश भी माँगे तो मैं गर्दन सहित दूँगा। यदि वह मेरे प्राणों का वध करेगी तो तदर्थ मैं और झुक जाऊँगा। मुझे अपने जीवन का लोभ नहीं। मैं तो प्रेम के दरवाजे पर आकर भिक्षा में उसी को माँगना चाहता हूँ।

उसका दर्शन दीपक तुल्य है। मैं भिखारी, उस पर जलने वाले पतंगे के समान हूँ। यदि वह मेरे सिर पर आरा भी चलायेगी तो मरते हुये मैं दुःख से अंग न मोड़ूँगा, आह न भरूँगा !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२४७)

पदुमावति कँवला ससि जोती। हँसै फूल रोवै तब मोती॥
बरजा पितैं हँसी औ रोजू। लाई दूति होईं निति खोजू॥
जबहिं सुरुज कहँ लागेउ राहु। तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू॥
बिरह अगस्ती बिसमौ भएऊ। सरवर हरख सूखि सब गएऊ॥
परगट ढारि सकै नहिं आँसू। घटि-घटि माँसु गुपुत होइ नासू॥
जस दिन माँझ रैनि होइ आई। बिगसत कँवल गएउ कुँभिलाई॥
राता बरन गएउ होइ सेता। भँवति भँवर रहि गई अचेता॥
चितहि जो चित्र कीन्ह धनि रोवँ रोवँ रंग समेटि॥
सहस साल दुख आहि भरि मुरुछि परी गा मेटि॥२४७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

पद्मावती कमल है; चन्द्रमा की ज्योति-कला है। जब हँसती है तो फूल झरते हैं, रोती है तो मोती से आँसू बिखरते हैं ! उसके पिता गंधर्वसेन ने उसके हँसने-रोने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दूती की तैनाती में उसकी नित्य चौकसी होने लगी। इधर, जैसे ही सूर्य रूप रत्नसेन को राहु रूप गंधर्वसेन ने क़ैद किया, तभी कमलरूप पद्मावती के मन को यह अनर्थ ज्ञात होगया। विरह रूप अगस्त्य का विषम दुःख छा गया। हर्ष का सरोवर सूख

गया। (रूपक अलंकार) खुलकर वह आँसू भी नहीं गिरा सकती थी। पर गुप्त रूप में धीरे-धीरे उसका मांस छीज रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे दिन ही में रात हो गई हो और खिलता हुआ कमल कुम्हला गया हो। तरुणाई से रक्तिम मुख विरह वेदना के दुःख से रक्तहीन, श्वेत हो गया। विरह के भँवर में चकराती हुई वह अचेत हो गई।

सुन्दरी पद्मा ने प्रिय रत्नसेन का जो चारुचित्र अपने चित्त में बनाया था, उसे अपने रोम-रोम से रंग निचोड़ कर रंजित किया था। उन्हीं हज़ारों रोम-रन्ध्रों के मार्ग से उसके अंतर में दुःख भर गया था। अतः वह मूर्च्छित हुई और वह निर्मित प्रिय-चित्र मिट गया।

शब्दार्थ—अगारू=ज्ञान। रोजू=रोना। हरक=हर्ष। खोजू=निगरानी। विसमौ=दुःख। भँवति=चकराती हुई। मुरुछि=मूर्छित।

(२४८)

पदुमावति सँग सखी सयानी। गुनि कै नखत पीर ससि जानी॥
जानहिं मरम कँवल कर कोई। देखि बिथा बिरहिनि की रोई॥
बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहिअ काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह काल मारे पर मारा॥
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाउ पर घाउ बजागी॥
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सँचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला॥
तन रावन होइ सिर चढ़ा बिरह भएउ हनिवंत।
जारे ऊपर जारै तजै न कै भसमंत॥२४८॥

भावार्थ—पद्मावती के विरह वर्णन के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

पद्मावती के साथ में उसकी चतुर सखियाँ थीं। नक्षत्रों सदृश्य उन सखियों ने चन्द्र-रूप पद्मिनी का प्रेम-पीड़न समझ लिया। कमल का मर्म कुमुदनियाँ जान जाती हैं। वे उस बाला की विरह व्यथा देखकर रो पड़ीं। विरह कठोर और काल का अंश होता है। विरह सहने से तो काल अच्छा है। काल तो एक बार में ही प्राण निकाल कर ले जाता है किन्तु विरह रूपी काल तो मर जाने पर भी मारता है। विरह जले हुये पर और आग डालता है—जलाता है। विरह की बज्राग्नि ज़ख्म पर ज़ख्म करती है। विरह तीर पर तीर चलाता है। विरह रोग पर रोग पैदा करता है। विरह चुभ-चुभ कर कष्ट पर कष्ट देता है। विरह काल से भी भयंकर कठिन काल है।

पद्मावती का काम बोझिल शरीर रावण बनकर उसके सिर पर चढ़ा उसे भार रूप कष्टदायक बना हुआ था। विरह हनुमान के सदृश होगया था। वह जले को जलाता था, मुक्त न करता था—भस्म किये डालता था।

शब्दार्थ—सयानी=चतुर। साल=चुभना। वर=अच्छा। बजागी=वज्राग्नि।

भसमंत = भस्म।

(२४६)

कोइ कमोद परसहिं कर पाया। कोइ मलयागिरि छिरकहिं काया।।
कोइ मुख सीतल नीर चुवावा। कोइ अँचल सौं पौनु डोलावा।।
कोइ मुख अंब्रित आनि निचोवा। जबु बिख दीन्ह अधिक धनि सोवा।।
जोवहिं स्वाँस खिनहिं खिन सखी। कब जिउ फिरै पवन औ पँखी।।
बिरह काल होइ हिए पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा।।
खिन एक मूँठि बांध खिन खोला। गही जीभ मुख जाइ न बोला।।
खिनहिं बेझ कै बानन्हि मारा। कँपि कँपि नारि मरै बिकरारा।।
कैसेहुँ बिरह न छाड़ै भा ससि गहन गरास।
नखत चहूँ दिसि रोवहिं अँधियर धरति अकास।।२४६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कोई कुमुदिनी-सी सखी पद्मावती के हाथ पैर सहलाने लगी और कोई शरीर पर मलयगिरि चंदन छिड़कने लगी। कोई मुँह में शीतल जल देने लगी तो कोई अपने आँचल से उसे पंखा झलने लगी। किसी ने लाकर मुख में अमृत निचोड़ा। किन्तु पद्मावती बाला के लिये वह जहर-सा लगा जिससे वह और अधिक मूर्च्छित होगई। पल-पल में सखियाँ उसकी साँसों का परीक्षण कर रही थीं कि न जाने कब वायु के साथ उसका प्राण पक्षी लौट आए! विरह काल-सा बनकर उसके हृदय में घुसा था और मानो हाथ में प्राण निकालकर बैठा हो। पद्मावती क्षण में मुट्ठी बाँधती थी, खोल देती थी। वह बोल नहीं पा रही थी। मुख में जीभ जकड़ गई थी। पल में विरह रूपी काल उसे तीरों से बींध कर मार रहा था, प्राण ले रहा था। विकल होकर वह वियोगिनी नारी काँपती-काँपती मर रही थी।

किसी भी तरह विरह उसे छोड़ता नहीं था। लगता था कि चाँद को ग्रहण ने ग्रास बना लिया था। चारों ओर नक्षत्र रूप सखियाँ रो रही थीं। धरती-आकाश पर दुःख का अंधकार व्याप्त था।

शब्दार्थ—सरल है।

(२५०)

घरी चारि इमि गहन गरासी। पुनि विधि जोति हिएँ परगासी।।
निसँसि ऊभि भरि लीन्हेसि स्वाँसा। भई अधार जियन कै आसा।।
बिनवहिं सखी छूट ससि राहू। तुम्हरी जोति जोति सब काहू।।
तू ससि बदन जगत उजियारी। केइ हरि लीन्हि कीन्हि अँधियारी।।
तूं गजगामिनि गरब गहोली। अब कस आस छाँड़ि सत ढीली।।
तूं हरि लंक हराए केहरि। अब कस हारें करसि हहे हरि।।
तूं कोकिल बैनी जग मोहा। केइँ ब्याधा होइ गही निछोहा।।

कँवल करी तूं पदुमिनि गै निसि भएउ बिहान।
अबहुं न संपुठ खोलहिं जौं रे उठा जग भान।।२५०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

यों चार घड़ी तक पद्मावती दुःख के ग्रहण से ग्रसित रही। फिर ईश्वर ने उसके अन्तर में आशा की ज्योति जलाई। एक दीर्घ निश्वास छोड़कर मानो मरते-मरते फिर उसने जीवन की एक नई साँस ली। पुनः जीने की आशा का आधार बना। चन्द्ररूप पद्मावती के दुःखरूप राहु से मुक्त हो जाने पर सखियों ने प्रार्थना की कि हे दिव्य पद्मा, तेरी दिव्य ज्योति सब में ज्योतित है। तू चन्द्रमुखी है; संसार की उजियाली है। किसने उजियाली को हरकर सर्वत्र अन्धकार कर दिया था? हे गजगामिनी! तू तो अत्यन्त स्वाभिमानिनी थी, फिर क्यों आशा खोकर सत्य में ढीली पड़ गई? तूने सिंह तक से उसकी कटि छीनकर मानो उसे पराजित किया था, फिर क्यों उससे पराजित होकर हाय-हाय कर रही है? तू कोकिल बैना है; तूने सारे संसार को मोहित कर लिया था। भला किसने व्याध बनकर तुझे निर्ममता से पकड़ लिया है?

हे पद्मा, तू कमल की कली जैसी है। रात बीत गई है; नवल प्रभात हो गया है। अब भी तू अपने नेत्र-संपुटों को नहीं खोलती जबकि संसार में सूर्योदय हो गया है। आशय यह है कि रत्नसेन की प्राप्ति होने को है, सजग हो जा!

शब्दार्थ—सरल है।

(२५१)

भान नाउँ सुनि कँवल बिगासा। फिरि कै भँवर लीन्ह मधुबासा।।
सरद चंद मुख जानु उघेली। खंजन नैन उठे कै केली।।
बिरह न बोल आव मुख ताई। मरि मरि बोल जीव बरियाईं।।
दवै बिरह दारुन हिय काँपा। खोलि न जाइ बिरह दुख झाँपा।।
उदधि समुंद जस तरँग देखावा। चखु कोटिन्ह मुख एक न आवा।।
यह सुठि लहरि लहरि पर धावा। भँवर परा जिउ थाह न पावा।।
सखी आनि विष देहु तौ मरऊँ। जिउ नहिं पेट ताहि डर डरऊँ।।
खिनहि उठै खिन बूड़ै अस हिय कँवल सँकेत।
हीरामनिहि बोलावहु सखी गहन जिउ लेत।।२५१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सूर्य समान रत्नसेन का नाम सुनकर कमल रूप पद्मावती का मुख विकसित हो गया और भौंरे (नेत्र) मानो फिर से मधुमय सुगन्ध प्राप्त करने लगे। उसका शरद्चन्द्र-सा मुख मानो पुनः चमक आया जिसे देखकर नेत्ररूपी खंजन क्रीड़ा करने लगे। विरह वशात् उसके मुख से बोल नहीं निकलते थे। केवल उसका जीव विवश होकर "हाय मरा···हाय मरा" पुकार उठता था। विरह की प्रचंड दावाग्नि के भय से उसका हृदय कम्पायमान था। जो विरह की आग दुःख के धुँएँ से ढँकी थी वह खोली न जाती थी। विरह के सागर

में जैसे लहरें दिखाई देती हैं, इसी प्रकार पद्मावती के नेत्रों की पुतलियों में वेदना की लहरें दिखाई दे रही थी किन्तु वह मुख से ध्वनित नहीं हो पा रही थी। वह मौन मूर्च्छित थी, अश्रुधारा भी नहीं फूट रही थी। यही अच्छा था कि उसकी आँखों में विरहाश्रुओं की लहरें मचल रहीं थी। यदि उनके कारण नेत्रों में भँवर पड़ जाता तो उसके प्राणों को थाह भी न मिलती, वे डूब जाते—मर जाते। पद्मावती ने कहा कि हे सखि ! मुझे विष लाकर दे दो, ताकि मैं मर जाऊँ। क्योंकि मेरे पेट में प्राण नहीं हैं, जिसके लिए मैं डर करूँ। आशय यह है कि मेरे प्राण रत्नसेन के पास सुरक्षित हैं और शरीर के मिटने का मुझे कोई ग़म नहीं है।

पद्मावती की मनःस्थिति ऐसी व्याकुल थी कि वह वेदना की लहरों में क्षण में डूबती थी, क्षण में उतराती थी। उसके हृदय रूपी कमल से यह बात संकेत दे रही थी। आशय यह है कि उसका वक्ष दुःख के आलोड़न से दब-उभर रहा था। उसने कहा कि हे सखि, मुझे ग्रहण पकड़कर मेरा प्राण लिये ले रहा है; अतः शीघ्र हीरामन तोते को बुलाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

(२५२)

पुरइनि धाइ सुनत खिन धाई। हीरामनिहि बेगि लै आई।।
जनहुँ बैद औषद लै आवा। रोगिअै रोग मरत जिउ पावा।।
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह बैन कोकिल जिमि बोले।।
कँवलहि बिरह बिथा जसि बाढ़ी। केसरि बरन पियर हिय गाढ़ी।।
कत कँवलहि भा पेम अँकूरु। जौं पै गहन लीन्ह दिन सूरू।।
पुरइनि छाँह कँवल कै करी। सकल बिथा सो अस तुम्ह हरी।।
पुरुष गँभीर न बोलहिं काऊ। जौं बोलहिं तौं और निबाहू।।
एतना बोल कहत मुख पुनि होइ गई अचेत।
पुनि जौं चेत सँभारै बकत उहै मुख लेत।।२५२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हीरामन को बुलाने की बात सुनते ही पुरइन नामक धाय तुरंत दौड़ी और हीरामन को तत्क्षण ले आई। तोते का लाना पद्मावती के लिए ऐसा सिद्ध हुआ मानो कोई वैद्य दवा ले आया हो और उसमे मृतप्रायः रोगी को पुनः जीवन दान मिल गया हो। तोते के आशीर्वाद सुनकर नारी पद्मावती ने नेत्र खोले और कोयल सदृश्य विरह के बोल बोले। कमल में ज्यों ही विरह व्यथा बढ़ी कि उसके हृदय का केसरिया रंग पीड़ा के कारण प्रगाढ़ पीला हो गया। यदि यौवन के दिवस में ही सूर्यरूप रत्नसेन को ग्रहण लगना था तो फिर उसके उर में प्रेम का अंकुर ही क्यों उपजाया ? कमल की बेल की छाया में जिस प्रकार कमल की कली को सुख मिलता है पद्मावती ने कहा कि इसी प्रकार हे पुरइन! तुमने आकर मेरी सारी विरह-व्यथा को दूर कर दिया हैं। गम्भीर लोग कभी कुछ नहीं कहते, पर जब कहते हैं तो अपने शब्दों को अंत तक निभाते हैं। इस स्थल पर पद्मावती कहना चाहती है

कि हे धाय, तुमने मेरे सम्वेदन को समझकर अपनी उत्तम प्रौढ़ता-गम्भीरता का परिचय दिया है।

मुख से इतना वचन कहते ही पद्मा फिर अचेत हो गई। पर फिर चेत आने पर मुख से वही अस्फुट बाते कहने लगी जो पहले बक रही थी।

शब्दार्थ—बरन = रंग। पियर = पीला। अँकूरु = अँकुर।

(२५३)

और दगध का कहौं अपारा। सुनै सो जरै कठिन असि झारा॥
होइ हनिवंत बैठ है कोई। लंका डाह लाग तन होई॥
लंका बुझी आगि जौं लागी। यह न बुझै तसि उपजि बजागी॥
जनहुँ अगिन के उठहि पहारा। वै सब लागहिं अंग अँगारा॥
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत के आँसु माँसु सब रोवा॥
खिनु एक मारि माँसु अस भूंजा। खिनहिं जिआइ सिंघ अस गूंजा॥
एहि रे दगध हुँत उतिम मरीजै। दगध न सहिअ जीउ बरु दीजै॥
जँह लगि चंदन मलैगिरि औ साएर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहि बुझै न आगि सरीर॥२५३॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में, कविवर जायसी रानी पद्मावती की रत्नसेन के विरह में दग्ध-दशा का वर्णन करते हैं :—

और उस अपार विरह ताप के विषय में क्या बतलाऊँ? ऐसी भयंकर लपटें कि जो सुनता है वह उनमें जलने लगता है। उसके तन में कोई हनुमान बनकर प्रवेश पा गया जिससे शरीर में लंका दहन सा होने लगा। लंका में जो आग लगी थी वह तो बुझ गई पर उसकी विरह की भड़की हुई वह बज्राग्नि बुझती नहीं थी। वह आग क्या थी मानो अग्नि के पर्वत उड़कर खड़े हो रहे थे और वे सब शरीर के अंगों पर अंगारों से लग रहे थे। मानो अंग का माँस काट-काट कर सलाखों में कवाब की तरह भूनने के लिये पिरो दिया था। अत: सारा माँस खून के आँसुओं से रुदन कर रहा था। वह विरहाग्नि मानो क्षण भर में मार कर माँस भून रही थी और फिर दूसरे ही क्षण, तत्काल ज़िन्दा करके ऐसी गर्जना करती थी जैसे सिंह गरजता है। हाय, ऐसे ताप को सहने से तो कहीं अच्छा है कि मर जाया जाय। विरह का ताप सहना अच्छा नहीं; भले ही प्राण दे दिये जायँ।

मलयगिर पर जितना भी चंदन है और सारे समुद्रों में जल है—यदि वे सब मिलकर भी विरह के ताप को बुझाएँ तो भी उसके शरीर की विरहाग्नि न बुझेगी।

शब्दार्थ—सराग = सलाख। खिनु = क्षण। साएर = सागर।

(२५४)

हीरामन जौं देखी नारी। प्रीति बेलि उपनी हीयँ भारी॥
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम प्रीति की बेली॥
प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई। अरुझें मुएँ न छूटै सोई॥

प्रीति बेलि अैसें तनु डाढ़ा। पलुहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा।।
प्रीति बेलि सँग बिरह अपारा। सरग-पतार जरै तेहि झारा।।
प्रीति बेलि केइँ अम्मर बोई। दिन-दिन बाढ़ै खीन न होई।।
प्रीति अकेलि बेलि चढ़ छावा। दोसरि बेलि न पसरै पावा।।
प्रीति बेलि अरुझाइ जौं तब सो छाँह सुख साख।
मिलै जो प्रीतम आइ कै दाख बेलि रस चाख।।२५४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हीरामन ने जब पद्मावती बाला को ऐसी विरह-विदग्ध दशा में देखा तो समझ लिया कि उसके हृदय में प्रीति-बेलि उत्पन्न होगई है। तोते ने पद्मावती से कहा कि तुम भला दुखी क्यों न हो, क्योंकि तुम तो प्रेम की लता से बुरी तरह उलझ गई हो ! इस प्रकार प्रीति की लता से कोई न उलझे। उलझ जाने पर प्राण गँवाकर भी उससे कोई नहीं छूटता। प्रीति की लता इसी तरह तन को जलाती है। इस बेल में जब से पल्लव फुटते बढ़ते हैं तब सुख होता है, पर तभी से साथ में दुख भी बढ़ने लगता है। आशय यह है कि जवानी के फूटते ही काम-पीड़न बढ़ने लगता है। प्रीति की लता के साथ ही अपार विरह भी पैदा होता है, जिसकी लपटों से आकाश और पाताल जलने-झुलसने लगते हैं। किसने प्रीति की यह अमरलता बोई है जो दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है; सूखती नहीं ? प्रीति की लता अकेली ही फैलती चढ़ती है; फिर कोई दूसरी लता वहाँ फूलने-फैलने नहीं पाती। आशय यह है कि प्रीति एक से ही होती है—किसी दूसरे का वहाँ स्थान नहीं होता।

प्रीति की लता से जो उलझता है तब उसे उसकी सुख शाखा की शीतल छाँह का अनुभव होता है। पर जब कोई प्रीतम आकर उससे मधुर मिलन करता है तभी उस अंगूर की वेल के रस-पान का स्वाद भोगने का सुख होता है। आशय यह है कि प्रीत का सुख तभी है जबकि प्रेमी का मधुर मिलन, चुम्बन और आलिंगन मिले।

शब्दार्थ—नारी=बाला। दुहेली=दुखी। पलुहत=पल्लवित होना।

(२५५)

पदुमावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुँत होइ प्रीतम कै छाया।।
कहत लाज औ रहै न जीऊ। एक दिसि आगि दोसर दिसि सीऊ।।
सूर उदैगिरि चढ़त भुलाना। गहनै गहा चाँद कुँभिलाना।।
ओहटें होइ मरिउँ नहि झूरी। यह सुठि मरौं जो निअरें दूरी।।
घट मँह निकट बिकट भा मेरू। मिलेहुँ न मिलै परा तस फेरू।।
दसइँ अवस्था असि मोहि भारी। दसएँ लखन होहु उपकारी।।
दमनहि नल जस हंस मेरावा। तुम्ह हीरामन नाउँ कहावा।।
मूरि सजीवनि दूरि इमि सालै सकती बान।
प्रान मुकुत अब होत हैं बेगि देखावहु भान।।२५५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने उठकर तोते के चरण स्पर्श किए और कहा कि तुम्हारे द्वारा ही मुझे अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब मिलेगा। ऐसी बात कहते लज्जा आती है, और न कहते हुए जी भी नहीं मानता। मैं ऐसी दयनीय दशा में हूँ कि एक ओर आग और दूसरी ओर शीत का दुसह कष्ट है। सूर्यरूप रत्नसेन उदयगिरि रूपी गढ़ पर चढ़ने का मार्ग भूल गया। अतः ग्रहण रूप मेरे पिता राजा गंधर्वसेन के द्वारा पकड़ा गया। उस ग्रहण से मैं चाँद रूप पद्मावती कुम्हला गई। उससे दूर होकर मैं उसकी स्मृति में तभी न मरी। और अब मेरा मरण कितना दुःखदाई है कि पास होकर भी उससे दूर हूँ। हृदय-घट के यद्यपि वह निकट है पर फिर भी उससे मिलन कठिन हो रहा है। कुछ ऐसा कठोर चक्र चला है कि मिलकर भी वह मुझको मिल नहीं पा रहा है। मेरी यह कष्टदायक दशा मृत्यु की जैसी कठिन या दसवीं अवस्था हो गई है। अब धर्म का दसवाँ लक्षण एक सत्य ही मेरे लिए सहायक या उपकारी हो सकता है। पक्षी हंस ने जैसे दमयन्ती को नल से मिलाया था, इसी प्रकार, हे तोते ! यदि तुम मुझे रत्नसेन से मिला दो तुम्हारा नाम हीरामन नाम सत्य ही जानूँ।

संजीवनी बूटी अर्थात् मिलन-घड़ी दूर है; और मुझे विरह का शक्ति-बाण चुभ रहा है। अब प्राण निकला चाहते हैं; मुझे मेरे सूर्य रत्नसेन का दर्शन शीघ्र कराओ !

शब्दार्थ—टेकै=स्पर्श किए। सीऊ=शीत। सूर=सूर्य रूप रत्नसेन। गहने=ग्रहण से। ओहटे=दूर। झूरी=स्मरण करना। दसई अवस्था=मृत्यु दशा। दसन लखन=धर्म का लक्षण, सत्य।

(२५६)

हीरामन भुइँ धरा लिलाटू। तुम्ह रानी जुग जुग सुख पाटू॥
जेहि के हाथ जरी औ मूरी। सो जोगी नाहीं अब दूरी॥
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी॥
पौरि पंथ कोटवार बईठा। प्रेम क लुबुध सुरँग पईठा॥
चढ़त रैनि गढ़ होइगा भोरू। आवत बार धरा कै चोरू॥
अब लै देइ गए ओहि सूरी। तेहि सो अगाह बिथा तुम्ह पूरी॥
अब तुम्ह जीव कया वह जोगी। कया क रोग जीव पै रोगी॥
रूप तुम्हार जीव कै आपन पिंड कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खँड होइ काल न पावै फेरि॥२५६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हीरामन तोते ने अपना मस्तक भूमि पर टेका और बोला कि हे रानी ! युग युग तक तुम्हें सुख और राज्यपाट मिलता रहे। जिस योगी के हाथ में जड़ी-बूँटी अथवा मिलन-संजीवन है वह योगी अब तुमसे दूर नहीं है—रत्नसेन तुम्हें मिलेगा। तुम्हारा पिता स्वयं तो राज्य का भोक्ता है, ब्राह्मणों की पूजा करता है, किंतु योगियों की हत्या करता है। राजद्वार के मार्ग पर रक्षक कोतवाल बैठे हैं। अतः तुम्हारे प्रेम का लोभी रत्नसेन सुरंग से होकर गढ़ में प्रवेश पा रहा था। उसे रात में सुरंग से होकर चढ़ते-चढ़ते सवेरा हो गया

था और द्वार तक आते आते ही वह चोर कहकर पकड़ लिया गया। अब उसे सूली पर चढ़ाने के लिए ले गए हैं। इसीलिए उसकी अगाध व्यथा-वेदना तुम्हें अंतर में महसूस हुई है। अब तुम प्राण हो और वह योगी रत्नसेन तुम्हारा शरीर है। शरीर के रोग से ही तो प्राण बीमार है।

हे रानी, तुम्हारे रूप को अपने प्राणों में भरकर वह अपना नया या दूसरा शरीर धारण करेगा। उसका अपनापन तुम्हारे शरीर-खंड अर्थात् हृदय में खोया हुआ है, अतः उसे काल नहीं खोज पाता।

शब्दार्थ—पाट्ट = राजपाट । अगाह बिथा = अगाध व्यथा वेदना । पिंड = शरीर । आपन = अपना । हेराइ = खोकर । हेरि = देखना, खोजना ।

(२५७)

हीरामन जौं बात यह कही। सुरुज के गहन चाँद गै गही ॥
सुरुज के दुख जौं ससि होइ दुखी। सो कत दुख मानै करमुखी ॥
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा। ओहि मोहि साथ धरति गँगनेहा॥
रहै तौं करौं जरम भरि सेवा। चलै तो यह जिउ साथ परेवा ॥
कौन सो करनी कहु गुरु सोई। पर काया परबेस जो होई ॥
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला। चेला गुरू गुरू भा चेला ॥
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल हेरि फिरि जाई ॥
चेला सिद्धि सो पावै गुरू सो करै अछेद।
गुरू करै जौं किरिपा कहै सो चेलहि भेद ॥२५७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब हीरामन तोते ने पद्मा से यह बात कही, तो रत्नसेन रूपी सूर्य के ग्रहण का दुःख अनुभव कर पद्मा रूपी चाँद को भी ग्रहण ने ग्रस लिया। सूर्य के दुःख से जब चाँद दुःखी होता है तो कितना दुःख अनुभव करता है कि स्वयं वह कज्जल-मुख हो जाता है ! पद्मा का मुख भी कालिमायुक्त हो गया। उसने कहा कि अब यदि वह योगी मेरे प्रेम-विरह में मर गया तो मेरा और उसका साथ धरती और आकाश पर भी अमर रहेगा। यदि जीवित रहा तो मैं जन्मभर उसकी सेवा करूँगी। यदि वह मर गया तो मेरा प्राण-पखेरू भी उसके साथ चलेगा। हे गुरु तोते ! मैं ऐसा कौनसा कर्तव्य करूँ कि जिससे मुझमें परकाया का प्रवेश हो सके। वह उलटकर कौनसे रास्ते से चला, जिसके कारण शिष्य तो गुरु और गुरु शिष्य हो गया ? वह योगी रत्नसेन मेरे शरीर के किस अंश में ऐसा चुभ गया है कि काल लेने आता है, और ढूँढ़कर रिक्त लौट जाता है ?

वही शिष्य सिद्धि पाता है, जो गुरु से एकत्व प्राप्त कर लेता है। जब गुरू कृपा करता है तो सारे रहस्य शिष्य को बतला देता है। आशय यह कि पहले रत्नसेन पद्मावती के लिए विकल था किन्तु उसकी सूली पर चढ़ने की साधना से पद्मावती उसके लिए विकल हो गई। यह विचित्र रहस्य है !

शब्दार्थ—करमुखी = चाँद की कालिमा से तात्पर्य। गॅगनेहा = आकाश में। खंड = अंश। अछेद = एकत्व।

(२५८)

अनु रानी तुम्ह गुरु वहु चेला। मोहि पूँछहु वै सिद्ध नवेला।।
तुम्ह चेला कह परसन भईं। दरसन देइ मँडप चलि गईं।।
रूप गुरू कर चेलैं डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा।।
जीव काढ़ि लै तुम्ह उपसईं। वह भा कया जीव तुम भईं।।
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान जान पै जीऊ।।
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओह बिथा सो तुम्ह कहँ आई।।
तुम्ह ओहि घट वह तुम्ह घट माहाँ। काल कहाँ पावै ओहि छाहाँ।।
अस वह जोगी अमर भा परकाया परवेस।
आव काल तुम्हहिं तहँ देखै बहुरै कै आदेस।।२५८।।

भावार्थ—पूर्व पद से प्रसंग में—

तोते ने पद्मावती से कहा कि हे रानी, तुम अनुकूल हो। तुम ही उसकी गुरु हो और वह तुम्हारा शिष्य है। तुमने ही उसे नया सिद्ध बनाया है, फिर मुझसे क्या पूछती हो ? उसको दर्शन देने के लिए तुम मंडप तक गई थीं। तुमने ही उसे प्रसन्न होकर अपना सब-कुछ प्रदान किया। तुम्हारे जैसे गुरु का दिव्य-रूप रत्नसेन जैसे शिष्य ने देखा। बस, चित्र बनकर तुम्हारा वह रूप उसके चित्त में समा गया। तुम उसका जीव लेकर चली आई। वह तो केवल शरीर मात्र रह गया है और तुम प्राण हो ! उसकी काया को जो धूप-शीत का कष्ट सताता है, उसे उसकी काया नहीं जानती, केवल तुम्हारा प्राण जानता है। अतः तुम्हारा अन्तरस्थित सुख तो उसके पास चला गया और उसकी विरह-व्यथा तुम्हारे पास आ गई। वह तुम्हारे घट में है और तुम उसके घट में हो। अतः एक-दूसरे की सुख-पीड़ा का आदान-प्रदान स्वभावतः चल रहा है। तोते ने कहा, इसलिए उसकी छाया को काल कैसे छू सकता है—कैसे मार सकता है ?

इस प्रकार, परकाया के प्रवेश से वह योगी अमर हो गया है। काल आता है पर उसके स्थान पर तुम्हें देखकर, प्रणाम करके, लौट जाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने "मेस्मरेज़्म" की आत्म परिवर्तन की थ्योरी को वड़े कौशल से व्यक्त किया है। कहना होगा कि जायसी का कलाकार सूक्ष्मदर्शी था।

शब्दार्थ—परसन = प्रसन्न। उपसहि = चली गई। परवेस = प्रवेश। अदेस = प्रणाम।

(२५९)

सुनी जोगी कै अम्मर करनी। नेवरि बिरह बिथा कै मरनी।।
कँवल करी होइ बिगसा जीऊ। जनु रबि देखि छूटिगा सीऊ।।
जो अस सिद्ध को मारै पारा। नेंबू रस नहिं जेइ होइ छारा।।

कहहु जाई अब मोर संदेसू। तजहु जोग अब भएउ नरेसू॥
जनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी॥
तुम्ह पर सबद घटई घट केरा। मोहि घट जीउ घटा नहिं बेरा॥
तुम्ह कहँ पार हिएँ महँ साजा। अब तुम्ह मोर दुहुँ जग राजा॥
जौं रे जिअहिं मिलि केलि करहिं मरहिं लै एकहि दोउ।
तुम्ह पै जियँ जिनि होऊँ कछु मोहि जियँ होउ सो होउ॥२५६॥

भावार्थ—पूर्व पद के अनुसार—

तोते के मुख से योगी रत्नसेन की अमर करनी को सुनकर पद्मावती मृत्यु-दायनी विरह-व्यथा से मुक्ति पा गई। उसका प्राण कमल की कली के समान खिल गया; मानो रत्नसेन रूपी सूर्य को देखकर उसको शीत से मुक्ति मिल गई हो। उसने कहा—हाँ तोते, वह इस प्रकार का सिद्ध-साधक है तो उसे कौन मार सकता है? मेरा पिता गंधर्वसेन,—वह नीबू का रस तो नहीं है जिससे पारस भस्म हो जाता है। (रासायनिक क्रिया के अनुसार नींबू के रस का प्रयोग करने से पारा भस्म हो जाता है। पूर्व पंक्ति में "पारा" "मारे" क्रिया के साथ है। अतः यदि उसका अर्थ पारा न लगाया जाय तो हमारी पूर्व पंक्ति के अर्थ के अनुसार प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ यों भी ठहराता है–"रत्नसेन कोई नींबू का रस तो नहीं है जो तनिक से ताप से झुलसकर क्षार हो जायगा।") हे तोते! अब जाकर रत्नसेन से मेरा संदेश देना और कहना कि अब तुम योग छोड़ दो, क्योंकि अब तुम राजा हो गए हो। यह मत समझो कि पद्मावती तुमसे दूर हो गई है। मेरे पिता ने जो सूली तुम्हें दी वह मेरे ही नेत्रों में गड़ी है। तात्पर्य यह है कि पद्मा को रत्नसेन के सूली देने की पीड़ा है, पश्चाताप, लाज है। तुम्हारा अन्तर्नाद अर्थात्, आनन्द का भाव घटेगा तो फल-स्वरूप मेरा प्राण भी घटने में मरने में देर न करेगा। अपने हृदय में मैंने तुम्हारे बैठने का सिंहासन सजाया है। अब तुम मेरे दोनों लोकों के स्वामी हो गए हो।

जब तक हम जीते रहेंगे परस्पर दाम्पत्य-क्रिया करेंगे; मरेंगे तो दोनों एक लय हो जायेंगे। ईश्वर से प्रार्थना है कि तुम्हारे प्राणों को कुछ न हो। मुझपर जो बीते सो बीते, उसकी कोई चिंता नहीं।

शब्दार्थ—नेवरी=मुक्ति। छारा=भस्म। माँझ=मैं। पाट=सिंहासन।

२५--रत्नसेन सूली खण्ड

(२६०)

बाँधि तपा आने जहँ सूरी। जुरे आई सब सिंघलपूरी ।।
पहले गुरू देइ कहँ आना। देखि रूप सब कोउ पछिताना ।।
लोग कहहिं यह होइ न जोगी। राजकुँवर कोइ अहै बियोगी ।।
काहूँ लागि भएउ है तपा। हिएँ सों माल करै मुख जपा ।।
जोगी केर करहु पै खोजू। मकु यह होइ न राजा भोजू ।।
जस मारइ कहँ बाजा तूरू। सूरी देखि हँसा मंसूरू ।।
चमके दसन भएउ उँजियारा। जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ।।
सब पूँछहिं कहु जोगी जाति जनम औ नावँ।
जहाँ ठाँव रोवै कर हँसा सो कोने भावँ ।।२६०।।

भावार्थ—सूली देने के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

वे तपस्वी बाँधकर वहाँ लाये गये जहाँ पर सूली थी। यह करुण दृश्य देखने के लिए सिंहलपुर के सभी निवासी वहाँ इकट्ठे हो गये। प्रथम रत्नसेन गुरु को ही सूली देने के लिए लाया गया। उसके दिव्य स्वरूप को देखकर सब पश्चात्ताप करने लगे। लोगों ने कहा, वह कोई योगी नहीं है; कोई वियोगी राजकुँवर है। यह किसी के वियोग में तप कर रहा है, तपस्वी हो गया है। अपने प्रेमी की माला उसके हृदय में है, जिसका नाम वह मुख से जप रहा है। इस योगी की अवश्य पहचान करनी चाहिए। हो सकता है यह भोग करने वाला राजा हो। राजा को मारने के लिए ज्यों ही तुरही बजी त्योंही रत्नसेन सूली को देखकर हँस पड़ा; जैसे मंसूर सूली पाते समय हँस पड़ा था। हँसने से जब उसके दाँत दमके तो सर्वत्र उजाला हो गया; उसके कारण जो जहाँ था वहीं ऐसे मरा सा हो गया मानो बिजली गिर गई हो।

सब पूछने लगे कि हे योगी, अपनी जाति बताओ, जन्म और नाम कहो? जिस स्थान पर सब रोते है, तुम उस सूली के स्थान पर किस भावना से हँसे हो?

विशेष—सूफी फकीर "मंसूर', को "अनलहक" अर्थात् "सोऽहं" कहने के अपराध में कट्टर एकेश्वरवादी निज़ाम ने फाँसी दे दी थी। जायसी ने यहाँ इसका संकेत दिया है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२६१)

का पूँछहुँ अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी ।।
जोगिहिं जाति कौन हो राजा। गारि न कोह मार नहिं लाजा ।।

निलज भिखारि लाज जेहिं खोई। तेहि के खोज परहु जनि कोई ॥
जाकर जीव मरै पर बसा । सूरी देखि सो कस नहिं हँसा ॥
आजु नेह सौं होइ निबेरा । आजु पुहुमि तजि गँगन बसेरा ॥
आजु कया पिंजर बँध टूटा । आजु परान परेवा छूटा ॥
आजु नेह सों होइ निरारा । आजु पेम सँग चला पियारा ॥
आजु अवधि सिर पहुँची कै सो चलेउँ मुख रात ।
बेगि होउ मोहिं मारहु का पूँछहु अब बात ॥२६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसँग में—

योगी ने उत्तर दिया कि अब हमारी जाति के विषय में क्या पूछते हो ? हम योगी, तपी और भिखारी हैं। हे राजा, योगी की जाति क्या होती है ? उसे गाली खाकर क्रोध नहीं आता, और मार खाने से लज्जा नहीं होती। जिस निर्लज्ज भिखमंगे ने अपनी लाज गँवा दी हो उसकी खोज-खबर में कोई न पड़े। जिसका प्राण परवश होकर मरने पर उतारू हो वह सूली को देखकर भला क्यों न हँसेगा ? आशय यह है कि परतन्त्रता से तो सूली की मौत अच्छी है ! आज मैं जीवन के स्नेह से मोह-मुक्त हो गया हूँ। आज मैं मृत्यु लोक की पृथ्वी को छोड़कर गगन अथवा स्वर्गलोक में जाकर बसेरा लूँगा। आज इस शरीर रूपी पिंजरे का बन्धन या क़ैदखाना छूट जायगा। आज मेरा प्राण-पंछी मुक्त हो जायगा। आज इस सांसारिक मोह से अलग होकर प्रेमी अपने प्रेय के साथ चल देगा।

आज मेरे जीवन की आखिरी अवधि आ गई है। अतः मैं यहाँ के मृत्यु लोक से हर्षमय—मुख लाल करके, प्रयाण कर रहा हूँ। शीघ्रता से मुझे मारो—सूली दो ! अब मेरी बात क्या पूछते हो ?

शब्दार्थ— सरल हैं।

(२६२)

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा। हम तोहि करहि केत कर भँवरा ॥
कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा। मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा ॥
औ सँवरौं पदुमावति रामा। यह जीउ निवछावरि जेहि नामा ॥
रकत के बूंद कया जत अहहीं। पदुमावति पदुमावति कहहीं ॥
रहहुँ त बुंद बुंद महँ ठाऊँ। परहुँ तौ सोई लै लै नाऊं ॥
रोवँ रोवँ तन तासौं ओधा। सोतहि सोत बेधि जिउ सोधा ॥
हाड़ हाड़ महँ सबद सो होई। नस नस माँह उठै धुनि सोई ॥
खाइ बिरह गा ताकर गूद माँस की खान।
हौं होइ साँचा घरि रहा वह होइ रूप समान ॥२६२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा—लोगों ने कहा—तुम जिसका सुमरन करना चाहते हो, कर लो ! अभी हम तुम्हें सूली पर टाँगकर केतकी का बिंधा भँवरा बना देंगे, सूली पर चढ़ा देंगे। रत्नसेन

ने कहा, अरे मैं हर समय श्वांस श्वांस में उसी का सुमिरन करता हूँ, जिसका मरने-जीने दोनों दशाओं का साथी हो चुका हूँ। और उस प्रिय पद्मावती नाम का स्मरण करता हूँ जिस पर मेरा यह प्राण बलि हो चुका है। मेरे शरीर में जितनी रक्त की बूंदें हैं वे "पद्मा-वती···पद्मावती" ही पुकारती हैं। जीवित हूँ तो मेरे रक्त की एक-एक बूंद में पद्मावती का स्थान है, और यदि सूली पाकर मरा तो भी उसी का नाम ले-लेकर मरूँगा। मेरे शरीर का रोम-रोम उसी से बँधा है। प्रत्येक रोम-रंध्रको बींधकर मेरा प्राण पद्मावती ने शुद्ध किया है। मेरी हड्डी-हड्डी में "पद्मा···पद्मा" का शब्द प्रतिध्वनित हो रहा है। मेरी नस-नस में उसी की ध्वनि ध्वनित हो रही है।

उसका विरह मेरा शरीर गोदकर सारे माँस की खान या ढेरी को खा गया है। मैं तो शरीर क्या, ढाँचा मात्र लिए हूँ; जिसमें वह रूप बनकर रमी हुई है।

शब्दार्थ—सँवरू=सुमरन कर। केत=केतकी। मुए=मरते हुए। कया=शरीर। अहही=हैं। ओघा=बँधा। सोतहि=रोमरंध्र को। सोधा=शुद्ध किया। सबद=शब्द। माँह=में।

(२६३)

राजा रहा दिस्टि किए औंधी। सहि न सका तब भाट दसौंधी ॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी। पुरुष न आछहिं बैठि पेटारी ॥
कान्ह कोप कै मारा कंसू। गूँग कि फूंक न बाजइ बंसू ॥
गंध्रपसेनि जहाँ रिस बाढ़ा। जाइ भाँट आगे भा ठाढ़ा ॥
ठाढ़ देखि सब राजा राउ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ ॥
गंध्रपसेनि तूं राजा महा। हौं महेस मूरति सुनु कहा ॥
जोगी पानि आगि तुइँ राजा। आगहि पानि जूझ नहिं छाजा ॥
अगिनि बुझाइ पानि सों तू राजा मन बूझु।
तोरें बार खपर है लीन्हें भिख्या देहु न जूझु ॥२६३॥

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी रत्नसेन के सूली देने के अवसर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

राजा रत्नसेन नज़र नीची किए हुए था। तब दसौंधी नामक भाट यह सब अनर्थ सहन न कर सका। हाथ में कटार लेकर उसने स्वतः कहा—एक पुरुष को यह शोभा नहीं देता कि वह पिटारी में बन्द हुआ बैठा रहे! आशय यह है कि नर को पाप सहन नहीं करना चाहिये। अतः रत्नसेन का मृत्युदण्ड देखते हुए भी मुझे चुप न रहना चाहिये। कृष्ण ने कंस के अत्याचारों को देखकर सक्रोध उसे मार दिया था। क्या गूंगे की फूंक से बाँसुरी नहीं बजती? आशय यह है कि आवाज़ में बड़ा बल होता है। यह निश्चय करके जहाँ गंधर्वसेन राजा क्रोधित हुआ बैठा था, वह भाट वहाँ उसके सामने जाकर खड़ा हो गया। सारे राजा-सामन्तों ने अनियमित रूप में उसे वहाँ खड़ा हुआ देखा। बाएँ हाथ से उसने राजा को आशीर्वाद दिया। कहा, हे गन्धर्वसेन! तू महान राजा है। पर मैं शंकर-मूर्त

होकर तुझसे जो कहता हूँ, उसे सुन। यह योगी रूप रत्नसेन जलरूप है और हे राजा, तू अग्नि रूप है। आग का पानी से भिड़न्त शोभा नहीं देता।

हे राजा, मन में समझ-बूझ ले कि आग ही पानी से बुझ जाती है। तेरे द्वार पर यह योगी भीख का खप्पर लिए खड़ा है, इसे भीख दे, युद्ध न कर। आशय यह है कि अपनी कन्या पद्मावती का विवाह इसके साथ कर दे।

शब्दार्थ—औंधी=नीची। गूँग=गूँगा। रिस=गुस्सा। बरम्हाऊ=आशीर्वाद। छाजा=शोभन होना।

(२६४)

जोगिन आहि सो भोजू। जानै भेद करै सो खोजू॥
भारथ होइ जूझ जौं ओधा। होहिं सहाई आइ सब जोधा॥
महादेव रन घंट बजावा। सुनिकै सबद ब्रह्मा चलि आवा॥
चढ़ै अत्र लै किस्न मुरारी। इन्द्रलोक सब लाग गोहारी॥
फनपति फन पतार सौं काढ़ा। अष्टौ कुरी नाग भा ठाढ़ा॥
नंतिस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा॥
छप्पन कोटि बैसंदर बरा। सवा लाख परबत फरहरा॥
नवौ नाथ चलि आवहि औ चौरासी सिद्ध।
आजु महा रन भारथ चले गँगन गरुड़ औ गिद्ध॥२६४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

भाट ने कहा—वह रत्नसेन जोगी नहीं; भोग भोगने वाला राजा है। जो यह रहस्य जानता है वही योगी और राजा के रूप को पहचान सकता है। यदि तुमने युद्ध किया, तो हे राजा, समझ लो कि महाभारत छिड़ जायगा। सब प्रबल योद्धा (देवता गण) उसके सहायक होकर आ जायेंगे। लो, शंकर ने अपना रण का घण्टा बजा दिया है और उसके शब्द को सुनकर ब्रह्मा जी चले आ रहे हैं। उधर वे कृष्ण मुरारि अस्त्र लेकर चढ़े आ रहे हैं। इधर इन्द्रलोक में गुहार हो रही है कि रत्नसेन की सहायता करो! लो, शेषनाग ने पताल से अपना फन बाहर निकाल लिया है। अष्टकुलों के नाग उसकी सहायतार्थ फन उठाकर खड़े हो गये हैं। युद्ध के लिए तैंतीसों कोटि देवता रण-सज्जित हो गए हैं। छयानवे करोड़ का मेघ-दल गर्जना कर रहा है। छप्पन करोड़ अग्नियाँ धधक उठी हैं। सवा लाख पर्वत फड़क उठे हैं।

नौ नाथ और चौरासी सिद्ध रणहेतु चले आ रहे हैं। यहाँ आज महाभारत के जैसा विकट रण मचेगा। अतः अम्बर में गिद्ध और गरुड़ पक्षी उड़े चले आ रहे हैं।

विशेष—युद्ध का वीर और भयानक चित्रण प्रधान है।

शब्दार्थ—भारथ=महाभारत। ओधा=युद्ध। अत्र=अस्त्र। फनपति=शेष नाग। अस्टौं=आठों। बैसन्दर=अग्नि। फरहरा=फड़कते हैं।

(२६५)

भै अग्याँ को भाँट अभाऊ। बाएँ हाथ देइ बरम्हाऊ ।।
को जोगी अस नगरी मोरी। जो दै सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी ।।
इंद्र डरै निति नावै माथा। किरसुन डरै सेस जेइँ नाथा ।।
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू ।।
धरति डरै औ मंदर मेरू। इन्द्र सूर औ गगन कुबेरू ।।
मेघ डरहिं बिजुरी जहँ डीठी। कुरुम डरै धरनी जेहि पीठी ।।
चहौं तो सब माँगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा ।।
बोला भाँट नरेस सुनु गरब न छाजा जीवँ।
कुम्भकरन की खोपरी बूड़त बाँचा भीवँ ।।२६५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा गंधर्वसेनकी आज्ञा हुई कि यह अशिष्ट-अभद्र भाट कौन है, जो मुझे वामहस्त से अशुभ आशीर्वाद दे रहा है? कौन योगी मेरी नगरी में ऐसा है जो गढ़ पर सेंध लगाकर चोरी करने के लिए चढ़ा या चढ़ना चाहता है? मेरे भय से भयभीत हुआ इन्द्र भी नित्य मुझे मत्था टेकता है। शेषनाग को नाथने वाला वह बहादुर कृष्ण भी मुझसे भय मानता है। जिस ब्रह्मा के चार मुख हैं वह भी मुझसे भय खाता है। पाताल के बलि और शेषनाग भी मुझसे भय खाते हैं। धरती, मन्दराचल, सुमेरु पर्वत, आकाश के चन्द्र, सूर्य और कुबेर, बिजली दीख पड़नेवाले बादल, पीठ पर धरती को रखने वाला कछुआ—ये सब मेरे विक्रम-पराक्रम के कारण डरते हैं। यदि मेरी इच्छा हो तो इनके बाल पकड़कर इन्हें घसीटता हुआ यहाँ अपने सामने बुला लूँ। फिर भला अन्य कीड़े-मकोड़े जैसे राजा मेरे लिए क्या हैं?

गंधर्वसेन की यह गर्वोक्ति सुनकर भाट ने कहा कि हे राजा, जीव को अभिमान करना शोभन नहीं होता! घमण्डी भीमसेन एक बार मृतक कुम्भकरन की खोपड़ी के भरे हुए जल में डूबने से बचा था। (दृष्टांत संकेत सुन्दर है।)

विशेष—अंतिम पंक्तियों में भीमसेन और कुम्भकरण के प्रसंग से यह प्रकट होता है कि जायसी ने प्रायः भारतीय पौराणिक कथाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था।

शब्दार्थ—अभाऊ = अशिष्ट। अग्याँ = आज्ञा। बासू = शेषनाग। डीठी = नजर। कुरुम = कछुआ। छाजा = शोभन। बाँचा = बचा था।

(२६६)

रावन गरब बिरोधा रामू। औ ओहि गरब भएउ संग्रामू ।।
तेहि रावन अस को बरिबंडा। जेहि दस सीस बीस भुअडंडा ।।
सूरज जेहि कै तपै रसोई। बैसंदर निति धोती धोई ।।
सूक सोंटिया ससि मसिआरा। पवन करै निति बार बुहारा ।।
मीचु लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दोसर ओहि सौं काँधा ।।
जो अस बजर टरै नहिं टारा। सोउ मुआ तपसी कर मारा ।।

नाती पूत कोटि दस अहा। रोवन हार न एकौ रहा।।
ओछि जानि कै काहूँ जनि कोइ गरब करेई।
ओछे पारइ दैय है जीत पत्र जो देइ।।२६६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में,

राजा गंधर्वसेन से भाट ने कहना जारी रखा—

अभिमान करके रावण ने राम से विरोध रखा और उसी अभिमान के कारण राम रावण का संग्राम हुआ। उस रावण के समान भला और कौन ऐसा योद्धा होगा जिस रावण के कि दस सिर थे और दस भुजदण्ड थे। जिस रावण के यहाँ सूर्य भोजन बनाता था और आग नित्य जिसकी धोती धोती थी। शुक्र जिसके यहाँ सोटावरदार अर्थात् प्रहरी था और चन्द्रमा मशालची। रोज़ वायु जिसका द्वार झाड़ता था। जिस रावण ने मृत्यु को अपनी पाटी से बाँध रखा था, उस रावण के समान और समक्ष युद्धवीर कोई न था। जो ऐसा वज्र था कि हटाने से नहीं हटता था वह भी तपस्वी के द्वारा, राम के द्वारा मारा गया। उसके दस करोड़ बेटे और नाती थे, पर उसकी मृत्यु पर रोनेवाला एक भी न रहा।

छोटा समझकर कोई किसी पर धाक न जमाए। कमज़ोर के पक्ष में विधाता है, जो सबको विजयपत्र देता है।

शब्दार्थ—बरिबण्डा=वीर। बैसन्दर=अग्नि। सूक=शुक्र। सोटिया=चोबदार, प्रहरी। बार=दरवाजा। काँधा=युद्ध ठानना। पारइ=पक्ष।

(२६७)

औ जो भाँट उहाँ हुत आगें। बिने उठा राजहिं रिसि लागें।।
भाँट आहि ईसुर कै कला। राजा सब राखहिं अरगला।।
भाँट मीचु आपुनि पै दीसा। तासौं कौन करै रस रीसा।।
भएउ रजाएसु गंध्रपसेनी। काह मीचु कै चढ़ा निसेनी।।
काह अवनि पाएँ अस मरसी। करसि बिटंड भरम नहिं करसी।।
जाति करा कत औगुन लावसि। बाएँ हाथ राज बरम्हावसि।।
भाँट नाउँ का मारौं जीवाँ। अबहूँ बोल नाइ कै गीवाँ।।
तुइँ रे भाँट यह जोगी तोहिं एहि कहाँ क संग।
कहाँ छरै अस पावा काह भएउ चित भंग।।२६७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

और वहाँ जो भाट राजा के समक्ष था वह राजा को क्रोधित जानकर विनती करने लगा कि हे राजा, भाट ईश्वर का या शंकर का अंश है! सारे राजा उसे अपने हित के लिए अर्गला के समान अपने यहाँ रखते हैं; भाट राजाओं को बुरे कामों के करने से रोकता है। भाट अपनी मृत्यु अपने आप देखा करता है, सदा मृत्यु के लिये तत्पर रहता है। उससे अपनत्व (रस) तोड़कर कौन क्रोध करेगा? भाट की यह बात सुनकर राजा गंधर्वसेन की आज्ञा हुई कि हे भाट, तू क्यों मृत्यु की सीढ़ी पर चढ़ रहा है? ऐसी मौत

मरने पर तुझे व्यर्थ ही पृथ्वी पाने का या जन्म लेने का क्या लाभ होगा ? तू व्यर्थ की झकझक करता है और राजसी आदर अथवा भय को नहीं जानता। तू अपने जाति-वंश में क्यों कलंक लगाता है ? अरे उद्दण्ड, राजा को बायें हाथ से आशीर्वाद देता है ! तेरा नाम भाट है, अतः तेरे प्राणों का क्या हनन करूँ। तेरा हित इसी में है कि अब भी गर्दन झुकाकर मुझसे सादर बातें कर, क्षमा याचना कर !

तू भाट है, और जिसका तू पक्ष ले रहा है वह योगी है। फिर तेरा और इस योगी का कैसा मेल ? तू इसके बहकावे में कहाँ आ गया है ? कहीं तेरा चित्त भंग तो नहीं हुआ, पागल तो नहीं हो गया ?

शब्दार्थ—विटंड=बकवास। भरम=आदर। अरगला=रोकथाम, जंजीर। औगुन=कलंक। लखसि=लगाता है। ब्रह्मावसि=बायें हाथ से राजा को आशीर्वाद देता है। छरै=बहकावे में।

(२६८)

जो सत पूँछहु गंध्रप राजा। सत पै कहौं परै किन गाजा॥
भाँटहि काह मीचु सों डरना। हाथ कटारी पेट हनि मरना॥
जंबू दीप औ चितउर देसू। चित्रसेनि बड़ तहाँ नरेसू॥
रतनसेनि यहु ताकर बेटा। कुल चौहान जाई नहिं मेटा॥
खाँड़ैं अचल सुमेर पहारू। टरै न जौं लागै संसारू॥
दान सुमेरु देत नहिं खाँगा। जो ओहि माँग न औरहि माँगा॥
दाहिन हाथ उठाएऊँ ताही। और को अस बरम्हावउँ जाही॥
नाउँ महापातर मोहि तेहिक भिखारी ढीठ।
जौं खरि बात कहें रिस लागै खरि पै कहै बसीठ॥२६८॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

भाट बोला कि हे राजा गंधर्वसेन ! यदि तुम सत्य पूछते हो तो फिर मैं सत्य ही कहूँगा, चाहे मुझपर वज्रपात ही क्यों न हो। भाट को भला मृत्यु से क्या डरना ? मौके पर वह अपने हाथ की कटार स्वयं पेट में मारकर मर जाता है। बात ऐसी है कि जम्बू द्वीप में चित्तौड़ नामक एक देश है। वहाँ का चित्रसेन नामक महान राजा था। यह योगी रत्नसेन उसी का बेटा है। यह चौहान कुल का है जिसे मिटाया या मारा नहीं जा सकता। खाँडे के संचालन में यह सुमेरु पर्वत की भाँति अचल है। सारा संसार भी यदि बल लगाये तो यह डिगेगा नहीं। दान देते हुए इसका सुमेरु जैसा व्यक्तित्व कम नहीं होता। यह ऐसा दानी है कि जो इससे दान माँग लेता है फिर उसे किसी और से दान नहीं माँगना पड़ता। इसे आशीर्वाद देने के लिए ही मैं अपना दाहिना हाथ ऊपर उठाये हुए हूँ। और कौन ऐसा है जिसको अपने दाहिने हाथ से आशीर्वाद दूँ ? इसीलिए मैंने तुम्हें बायें हाथ से आशीर्वाद दिया।

मेरा नाम महापात्र है; और मैं उसी का अर्थात् रत्नसेन का ढीठ याचक हूँ। चाहे

खरी बात कहने से तुम्हें क्रोध आता हो पर दूत तो खरी ही बात कहता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२६९)

सोइ विनती सिउँ करौं बसीठी। पहिलें करुइ अंत होइ मीठी॥
तूँ गंध्रप राजा जग पूजा। गुन चौदह सिख देइ को दूजा॥
हीरामनि जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा॥
तेहि बोलइ पूँछहु वह देसू। दहुँ जोगी की तहँ क नरेसू॥
हमरें कहत रहै नहिं मानू। जो वह कहै सोइ परवानू॥
जहाँ बारि तहँ आव बरोकाँ। करै बियाह धरम सुठि तोकाँ॥
जौं पहिले मन मारू त काँधिअ। परखिअ रतन गाँठ तव बाँधिअ॥
रतन छिपाएँ नाठिपै पारखि होइ सो परीख।
घालि कसौंटी दीजिये कनक कचोरी भीख॥२६९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में दूत कहता है—

अतः मैं दूत के अनुसार विनय करते हुये तुमसे निवेदन कर रहा हूँ। चाहे मेरा निवेदन पहले कड़वा लगे पर अन्त में वह मीठा सिद्ध होगा। तुम जग पूजित राजा गंधर्वसेन हो। तुममें चौदह गुण विद्यमान हैं। तुम्हें शिक्षा कौन दे ? हीरामन नामक तोता जो कभी तुम्हारा था, वह चित्तौड़ गया और उसने रत्नसेन की सेवा की। अतः उस तोते को बुलाकर चितौड़ गढ का हाल पूछो और यह पूछो कि रत्नसेन योगी है या वहाँ का राजा है ? हमारे बताने से इस सबका कोई अर्थ मान्य न होगा। अतः जो तोता कह दे उसी को प्रमाण मानना। जहाँ किसी के कन्या होती है वहाँ बरच्छा लेने वर पक्ष के लोग आते ही हैं। यदि तुम अपनी कन्या पद्मावती का विवाह रत्नसेन से कर दोगे तो तुम्हें धर्म का महापुण्य प्राप्त होगा। यदि मेरे इस कहने ही से तुम्हारा मन मान जाये तो मेरी बात मान लेना। पहले रत्न को परखना चाहिए और तब उचित लगे तो उसे गाँठ में बाँधना चाहिए।

सच्चा रत्न छिपाये नहीं छिपता। पारखी तो उसे सहज परख लेता है। अपनी परीक्षा की कसौटी फेंककर उसे अपनी सोने की कटोरी तुल्य पद्मावती को याचना में दो, उसके साथ रत्नसेन का विवाह कर दो !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२७०)

हीरामनि जौं राजें सुना। रोस बुझान हिएँ महँ गुना॥
अग्याँ भई बुलावहु सोई। पंडित हुँतें धोख न होई॥
एक कहत सहसक दस धाए। हीरामनिहि बेगि लै आए॥
खोला आगे आनि मँजूसा। मिला निकसि बहु दिन कर रूसा॥
अस्तुति करत मिला बहु भाँती। राजें सुना भई हियँ साँती॥
जानहुँ जरत अगिनि जल परा। होइ फुलवारि रहस हिय भरा॥

राजें मिलि पूँछी हँसि बाता। कस तन पीत भएउ मुख राता॥
चतुर बेद तुम्ह पंडित पढ़े सास्तर औ बेद।
कहाँ चढ़े जोगी गढ़ आनि कीन्ह गढ़ भेद ॥२७०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब राजा गंधर्वसेन ने भाट के मुख से हीरामन के विषय में सुना तो उसका गुस्सा शान्त होगया और उसने मन में सोचा कि क्या करना उचित है। फलस्वरूप उसकी आज्ञा हुई कि तोते को बुलाओ क्योंकि पंडित से कभी धोखा नहीं होता। राजा की एक आज्ञा से दस सहस्र सेवक दौड़े आये और तुरन्त हीरामन को साथ में लाये। पिंजड़ा राजा के आगे करके उसे खोला गया। पिंजरे से निकलकर बहुत दिनों से रूठा हुआ हीरामन तोता पुनः मिला। उसने राजा की बहु-भाँति स्तुति की। स्तुति सुनकर राजा के मन में शान्ति हुई। उसे ऐसा लगा मानो जलती हुई आग पर जल छिड़क दिया गया हो। हृदय में खुशी इस प्रकार खिल गई मानो फुलवाड़ी खिल गई हो। राजा भी सहर्ष उससे मिला और हँसकर बातें पूछने लगा कि हे तोते, तुम्हारा शरीर पीला और मुख लाल क्यों है ?

हे तोते, तुम चारो वेदों के पंडित हो—शास्त्रादि भी तुमने पढ़े हैं। तो बताओ यह योगी कहाँ से आकर गढ़ पर चढ़े और कैसे आते ही उसमें सेंध लगाई ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२७१)

हीरामनि रसना रस खोला। दई असीस औ अस्तुति बोला॥
इन्द्र राज राजेसुर महा। सौंहे रिसि किछु जाइ न कहा॥
पै जेहि बात होइ भल आगें। सेवक निडर कहै रिस लागें॥
सुवा सुफल अंब्रित पै खोजा। होइन बिक्रम राजा भोजा॥
हौं सेवक तुम्ह आदि गोसाईं। सेवा करौं जियौ जब ताईं॥
जेइँ जिउ दीन्ह देखावा देसू। सो पै जिय महँ बसै नरेसू॥
जो ओहि सँवरै एकै तुँही। सोई पंखि जगत रतमुँहीं॥
नैन बैन औ सरवन बुद्धी सबै तोर परसाद।
सेवा मोर इहै निति बोलौं आसिरबाद ॥२७१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हीरामन तोते ने अपनी रसमयी रसना खोली, राजा को आशीर्वाद दिया और स्तुति की। वह बोला, हे राजन्! आप राजाओं में इन्द्र और महाराजाधिराज हैं। आपके समक्ष क्रोध के भय से कुछ कहते नहीं बनता। किन्तु जो बात भविष्य में शुभ होगी, सेवक उसे निडर होकर कहता है; भले ही उससे क्रोध आये। तोता तो मधुर अमृत-फल खोजता है। किंतु हे राजा, राजा विक्रम उसका भोग नहीं करता। मैं तो सेवक हूँ, और आप सदा स्वामी हैं। अतः जब तक जीऊँगा तब तक आपकी सेवा करूँगा। जिसने जीवन देकर मुझे यह संसार दिखाया है वही राजा मेरे मन में निवास करता है। जो एक "तूही है" करकर

ईश्वर का स्मरण करता है उसी पक्षी का संसार में मुंह लाल होता है।

हे राजा, नेत्र, श्रवण, वचन और बुद्धि—ये सब आपका ही प्रदान किया हुआ प्रसाद है। मेरी तो सेवा इतनी सी है कि नित्य आशीर्वाद के वचन बोलूं।

शब्दार्थ—रतमुँही=लालमुंह। सरवन=श्रवण, कान। परसाद=प्रसाद।

(२७२)

जो अस सेवक चह पति दसा। तोहिकि जीभ अंब्रित पै बसा॥
तेहि सेवक के करमहि दोसू। सेव करत ठाकुर होइ रोसू॥
औ जेहि दोख निदोखहि लागा। सेवक डरहि जीव लै भागा॥
जौं पंखी कहवाँ थिर रहना। ताकै जहाँ जाइ जौं डहना॥
सपत दीप देखेउँ फिरि राजा। जंबू दीप जाइ पुनि बाजा॥
तहँ चितउर गढ़ देखेउँ ऊँचा। ऊँच राज सरि तोहि पहूँचा॥
रतनसेनि यहु तहाँ नरेसू। आएउँ लै जोगी कर भेसू॥
सुवा सुफल पै आनै है तेहि गुन मुख रात।
कया पीत अस तातें सँवरौ बिक्रम बात॥२७२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राजा से तोता कहता है—

ऐसा सेवक जो इस दशा में भी स्वामी को चाहता है, निश्चय ही उसकी जिह्वा में अमृत रहता है। आशय है कि मैं दूसरे का हो गया हूँ पर फिर भी तुम्हारी कृतज्ञता मानता हूँ। यह तो उस सेवक के कर्मों का दोष है कि सेवा करते हुए भी जिसका स्वामी उससे नाराज़ हो। और जिस सेवक को राजा व्यर्थ में ही दोष लगता है वह सेवक भय से प्राण लेकर भागता है। जो पक्षी कहने को है उसका स्थिर रहना क्या ? जब उसके पंख हैं तो जहाँ वह देखता है वहीं के लिए उड़ जाता है। हे राजा, मैंने सातों द्वीप घूमकर देखे हैं। और अन्ततः जम्बूद्वीप में जा पहुँचा। वहाँ चित्तौड़ का ऊँचा किला देखा। वह उच्च राज्य तुम्हारे राज्य के समान है। यह रत्नसेन वहीं का राजा है; जिसको मैं यहाँ योगी के वेश में लाया हूँ।

तोता पुण्य-फल खाता है। इसी गुण से उसका मुख लाल है। पर मेरा शरीर इस-लिए पीला है, क्योंकि मैं विक्रम की उपेक्षा वृत्ति का अहसास करता हूँ—आशय यह है कि मुझे यह खुशी है कि मैं रत्नसेन रूपी अमृत फल खोज कर लाया हूं किंतु तुम राजा विक्रम की भाँति इस फल का उपभोग न करने की बड़ी भूल कर रहे हो।

शब्दार्थ—निदोखहिं=निर्दोष को। डहना=पंख। बाजा=पहुँचा। सरि=बराबर। कया=शरीर। सवरौं=याद करूं।

(२७३)

पहिलें भएउ भाँट सत भाखी। पुनि बोला हीरामनि साखी॥
राजहि भा निस्चौ मन माना। बाँधा रतन छोरि कै आना॥
कुल पूंछा चौहान कुलीना। रतन न बाँधे होइ मलीना॥

हीरा दसन पान रँग पाके। बिहँसत सबन्ह बीज बर ताके ।।
मुंद्रा स्रवन मैन सो चाँपे। राजबैन उघरे सब झाँपे ।।
आना काटर एक तुखारू। कहा सो फेरै भा असवारू ।।
फेरेउ तुरै छतीसौं कुरी। सबहि सराहा सिंघलपुरी ।।
कुँअर बतीसौं लक्खना सहस करां जस भान।
काह कसौटी कसिए कंचन बारह बान ।। २७३ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पहले तो भाट ने ही गंधर्वसेन से सत्य बात कही थी। तत्पश्चात् हीरामन तोते ने उसकी साक्षी दी। राजा को सत्य का निश्चय हो गया और उसने मन में वह सब कुछ कहा सुना मान लिया। बन्दी रत्नसेन को मुक्त कर देने की आज्ञा हुई। कुल के पूछने पर रत्नसेन ने अपने आपको उच्च कुलीन चौहानवंशी कहा। कविवर जायसी कहते हैं कि रत्न को बाँधने से भी वह कभी मैला नहीं होता। आशय यह है कि रत्नसेन यद्यपि बन्दी बनाया गया फिर भी उसका राजसी गौरव नष्ट नहीं हुआ। रत्नसेन के हीरे से दाँत पान के रंग में रचे हुए थे। वह हँसा तो सबने देखा कि जैसे बिजली चमकी हो। कानों में वह मोम से या कुंडल चिपकाये हुए था। राजा की आज्ञा से उसके उस सारे योग के भेष को उधाड़ा गया जिससे उसका वास्तविक राजसी भेष ढँका हुआ था। फिर एक उदंड तुखारी घोड़े को लाकर परीक्षा के लिये उसे सवार बनाकर कहा गया कि उस पर घूमे, उसे फिराए। रत्नसेन ने कलात्मक ढंग से उसे फिराया। यह देखकर छतीसौं कुल से सिंहलद्वीपी राजकुमारों ने उसकी उस कला की प्रशंसा की।

कहा, इस कुँवर के शरीर में बत्तीसों लक्षण हैं। यह ऐसा है, जैसे सहस्रों किरणों वाला सूर्य हो। इसको कसौटी पर कसकर क्या परीक्षा में रखा जाय? यह तो खरा कुन्दन है!

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२७४)

देखि सुरुज बर कँवल सँजोगू। अस्तु-अस्तु बोला सब लोगू ।।
मिला सुबंस अंस उजियारा। भा वरोक औ तिलक सँवारा ।।
अनिरुध कहँ जो लिखी जँमारा। को मेटै बानासुर हारा ।।
आजु मिलै अनिरुध को ऊखा। देव अनंददैतन्ह सिर दूखा ।।
सरग सूर भुइँ सरवर केवा। बन खँड भँवर होइ रस लेवा ।।
पछिउँ क बार पुरुब की बारी। लिखी जा जोरी होइ न न्यारी ।।
मानुस साज लाख मन साजा। साजा बिधि सोई पै बाजा ।।
गए जो बाजन बाजते जिन्हहि मारन रन माहँ।
फिरि बाजन तेइ बाजे मंगलचार ओनाहँ ।।२७४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

उस सूर्य रूपी रत्नसेन के एवं कमल रूपी पद्मिनी वधू के सम्बन्ध को देखकर सब लोग "उचित है, उचित है" कहने लगे। उन्होंने कहा कि इस उच्च वंश में यह उज्ज्वल अंश अर्थात् रत्नसेन आ मिला है। बरच्छा हुई और तिलक चढ़ाया गया। अनिरुद्ध के लिये जो जयमाला लिखी हुई थी उस संस्कार को कौन मिटाता? दुष्ट वाणासुर पराजित हुआ। मानो आज अनिरुद्ध को ऊषा मिलने वाली है और रत्नसेन को पद्मिनी! देवताओं को खुशी हुई और दानवों को दुःख। सूर्य आकाश पर रहता है और कमल पृथ्वी के सरोवर में; कमल का रस पीने वाला भौंरा दूर जंगल में रहता है किंतु फिर भी ये तीनों एक हो जाते हैं—प्रेम में! इसी प्रकार पश्चिम का वर और पूरब की वधू—इन दोनों की जोड़ी मिली, जो अलग नहीं रह सकती! उन्हें दाम्पत्य में बँधना ही था। कविवर जायसी लिखते हैं कि यह मनुष्य मन में लाखों कल्पनाओं के साज सजाता है। किन्तु उनसे क्या?—जो ईश्वर चाहता है निश्चयतः वही होता है। (होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है)।

जिन जोगियों के मारने के लिये रण में बाजे बजाये गये थे उन्हीं बाजों से उनका मंगलाचार ध्वनित होने लगा। ईश्वर की लीला अपार है!

विशेष—प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने भाग्य और ईश्वर की एकमात्र सत्ता को बड़े काव्यात्मक ढंग से व्यंजित किया है।

शब्दार्थ—सँजोगू = विवाह सम्बन्ध। केवा = कमल। बाजा = पूर्ण होना। ओनाहँ = उत्सव पर।

●

२६--रत्नसेन-पद्मावती विवाह-खण्ड

(२७५)

लगन धरी औ रचा बिआहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू॥
बाजन बाजे कोटि पचासा। भा अनंद सगरौ कबिलासा॥
जेहि दिन कहँ निति देव मनावा। सोइ देवस पद्मावति पावा॥
चाँद सुरुज मनि माथें भागू। औ गावहिं सब नखत सोहागू॥
रचि रचि मानिक माड़ौ छावहिं। औ भुइँ रात बिछाउ बिछावहिं॥
चंदन खाँभ रचे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
घर घर बंदन रचे दुआरा। जाँवत नगर गीत झनकारा॥
हाट बाट सिंघल सब जहँ देखिउ तहँ रात।
धनि रानी पदुमावति जा करि औ बरात॥ २७५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

लग्न निश्चित की गई और ब्याह सम्पन्न होने को हुआ। सिंहल के सब घरों में निमंत्रण घूम गया। पचास करोड़ बाजे बजे। सारे रंगमहल में आनन्द छा गया। जिस शुभ दिन के लिये पद्मावती नित्य देवता की मनोती करती थी, आज विवाह का वही शुभ दिन आ पहुँचा। चन्द्ररूपी पद्मावती और सूर्य रूपी रत्नसेन के मस्तक पर सुभाग की मणि देदीप्यमान हो उठी। नक्षत्र रूपिणी सारी सखियाँ सौभाग्य के गीत गाने लगीं। माणिक्य लगाकर विवाह मंडप छाया-सजाया जाने लगा। भूमि पर कालीन के बिछावन बिछने लगे। मंडप तले चारों ओर चन्दन के खम्भों की कतारें सजाई गईं। दिन रात माणिक दीप झिलमिलाने लगे। घर-घर, द्वार-द्वार पर वन्दनवार बाँधे गये। जितना नगर था, विवाहोत्सव के गीतों से झंकृत हो गया।

सिंहलद्वीप के हाटमार्गों पर, जहाँ देखो, सर्वत्र सुख-सौभाग्य की लाली बिखरी थी। कविवर जायसी लिखते हैं कि वह रानी पद्मावती धन्य है, जिसकी इस भाँति बरात सजी।

शब्दार्थ—नेवत=निमन्त्रण। कबिलासा=रंगमहल। माड़ौं=विवाह मंडप। जाँवत=सारा।

(२७६)

रतनसेनि कहँ कापर आए। हीरा मोंति परारथ लाए।।
कुअँर सहस सँग आइ सभागे। बिनौं करहिं राजा सौं लागे।।
जेहि लगि तुम्ह साधा तप जोगू। लेहु राज मानहु सुख भोगू।।
मंजन करहु भभूति उतारहु। कै अस्नान चतुरसम सारहु।।
काढ़हु मुंद्रा फटिक अभाऊ। पहिरहु कुंडल कनक जराऊ।।
छोरहु जटा फुलाएल लेहू। झारहु केस मटुक सिर देहू।।
काढ़हु कंथा चिरकुट लावा। पहिरहु राता दगल सोहावा।।
पाँवरि तजहु देहु पग पैरीं आवा बांक तोखार।।
बाँधहु मौर छत्र सिर तानहु बेगि होहु असवार।। २७६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के लिये पोशाक के कपड़े आए जिसमें उत्तम जवाहरात, हीरा-मोती जड़े थे। एक सहस्र सुन्दर कुँवर भी साथ में आए और राजा रत्नसेन के आगे विनती करने लगे—जिसके लिये तुमने तप, साधन, योग धारण किये अब उसको साथ लेकर राज्य और उसका सुख-भोग भोगो! लो मार्जन और शुद्धि करो और शरीर की भस्म उतारो। स्नान करके चतुरसम नामक सुगन्धित द्रव्य लगाओ। कानों से स्फटिक की जोग-मुद्रा उतारो और सोने के राजसी रत्नजटित कुंडल पहनो। जटाएँ खोलो और उनमें तेल-फुलेल लगाओ। केशों की राख झाड़ो और सिर पर सुन्दर मुकुट धारण करो। जर्जर वस्त्र वाली पुरानी कँथा को उतारकर लाल रंग का सुन्दर अँगरखा या दगला पहन लो।

पाँवों से खड़ाउएँ उतारो और उनमें पनही पहनो। तुम्हारे सवार होने के लिये बाँका घोड़ा लाया गया है। सिर पर छत्र-मोर बाँधो और उस घोड़े पर शीघ्र सवार हो जाओ।

शब्दार्थ—लाए = लगे। बिनौं = विनय। मंजन = मार्जन, शुद्धि। चतुरसम = चंदन, अगर और कस्तूरी मिश्रित सुगन्धित द्रव्य। फुलाएल = सुगन्धित तेल। मटुक = मुकुट। चिरकुट = जर्जर पुराना वस्त्र। राता = लाल। दगल = अँगरखा। पाँवरि = खड़ाऊँ। पैरी = पनहीं।

(२७७)

साजा राजा बाजन बाजे। मदन सहाय दुहूँ दिसि गाजे॥
औ राता रथ सोने क साजा। भए बरात गोहन सब राजा॥
बाजत गाजत भा असवारू। सब सिंघल नै करहिं जोहारू॥
चहुँ ओर मसियर नखत तराईं। सूरुज चढ़ा चांद की ताईं॥
सब दिन तपा जैस हिय माहाँ। तैस रात पाई सुख छाहाँ॥
ऊपर रात छत्र तस छावा। इंद्रलोक सब सेवाँ आवा॥
आजु इंद्र आछरि सौं मिला। सब कबिलास होइ सोहिला॥
धरती सरग चहूँ दिसि पूरि रहे मसियार।
बाजत आवै राज मँदिर कहँ होइ मंगलाचार॥ २७७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजसी वरवेश में राजा सजा तो खुशी से बाजे बज उठे। तब ऐसा लगा मानो दोनों दिशाओं में कामदेव के अनुचर, मेघ गरजने लगे हों। लाल वस्त्रों से मढ़ा हुआ सोने का रथ सज्जित किया गया। बराती बनकर सब राजा बरात के साथ में चले। बाजे-गाजे के साथ राजा रत्नसेन रथ पर सवार हुआ। सारे सिंघल ने उसे विनत होकर प्रणाम किया। चारों ओर नक्षत्र और तारे मशालची बने क्योंकि रत्नसेन रूपी सूर्य ने पद्मावती रूपी चन्द्र को वरण करने के लिए प्रस्थान कर दिया था। सारे दिन रत्नसेन रूपी सूर्य अपने हृदय में पद्मावती रूपी चन्द्र के लिये जला था, इसीलिये तो उसने अब रात की सुख-छाया प्राप्त की है। सिर के ऊपर लाल छत्र बाँधा गया और सारा इन्द्रलोक उसकी सेवा में उपस्थित हुआ, मानो आज इन्द्र अप्सरा से परिरंभण कर रहा था, अतः सारे कैलास जैसे सिंघल में विवाह के मंगल गीत गाए जाने लगे।

धरती आकाश में—चारों तरफ मशालें ही मशालें चमकने लगीं। बरात बाजे गाजे के साथ राज मंदिर की ओर चली आ रही थी और वहाँ मंगलाचार हो रहा था,—विवाहोत्सव की तैयारी हो रही थी।

शब्दार्थ—मदन सहाय = कामदेव के अनुचर, मेघ। राता = लाल। गोहन = संगी। नै = विनत होकर। मसियर = मशालची। सोहिला = विबाह के गीत।

(२७८)

पदुमावति धौराहर चढ़ी । दहुँ कस रबि जाकहँ ससि गढ़ी ।।
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा । इन्ह महँ कौनु सो जोगी अहा ।।
केइँ सो जोग लै ओर निबाहा । भएउ सूर चढ़ि चाँद बियाहा ।।
कौनु सिद्ध सो अैस अकेला । जेइँ सिर लाइ पेम सौं खेला ।।
कासौं पितैं बचा असि हारी । उतर न दीन्ह बीन्ह तेहि बारी ।।
काकहँ देय अैसि जै दीन्हा । जेइँ जैमार जीति रन लीन्हा ।।
धन्नि पुरुख अस नवैं न नाएँ । औ सुपुरुष होइ देस पराएँ ।।
को बरिबंड बीर अस मोहि देखै कर चाउ ।
पुनि जाइहि जनवासे सखी रे बेगि देखाउ ।। २७८ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

धौराहर पर चढ़कर पद्मावती ने देखना चाहा कि वह सूर्य कैसा है जिसके लिये उसे चन्द्रमा बनाया गया है। बरात को देखकर उसने सखियों से पूछा—इन बरातियों में वह सुन्दर जोगी कौन सा था? किसने जोग लेकर अन्त तक उसे निबाहा है, और आकाश-मार्ग से आकर सूर्य की तरह चन्द्रमा से विवाह किया है ? ऐसा अकेला कौन सिद्ध है जो सिर देकर प्रेम पर चला है—उसका साथ दिया है ? मेरे पिता किससे इस तरह वचन हार गये कि उसकी बात का कोई उत्तर न देकर चुपचाप अपनी कन्या दे दी ? देव ने किसको ऐसी विजय दी है कि जिसने युद्ध में जयमाला जीत ली ? कौन ऐसा वीर पुरुष है जो झुकाने पर भी न झुके और विदेश में भी महान पुरुष कहलाए ?

कौन ऐसा महा पराक्रमी है जिसे मुझे देखने की कामना है ? हे सखी, उसे शीघ्र मुझे दिखाने के लिये लाओ, अन्यथा, फिर वह जनवासे में चला जायगा।

शब्दार्थ—सूर=सूर्य। पितैं=पिता। बचा=वचन। बारी=कन्या। जैमार=जयमाल। बरिबंड=महा पराक्रमी।

(२७९)

सखी देखावहिं चमकहि बाहू । तूँ जस चाँद सुरुज तोर नाहू ।।
छपा न रहै सुरुज परगासू । देखि कँवल मन भएउ हुलासू ।।
वह उजियार जगत उपराहीं । जग उजियार सो तेहि परछाहीं ।।
जस रबि दीख उठै परभाता । उठा छत्र देखिअ तस राता ।।
आव माँझ भा दूलह सोई । औरु बराति संग सब कोई ।।
सहसौं कराँ रूप बिधि गढ़ा । सोने के रथ आवै चढ़ा ।।
मनि माथें दरसन उजियारा । सौंह निरखि नहिं जाइ निहारा ।।
रूपवंत जस दरपन धनि तूं जाकर कंत ।
चाहिअ जैस मनोहर मिला सो मन भावंत ।।२७९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब सखियाँ पद्मावती को संकेत से रत्नसेन को दिखाने लगीं तो उनकी बढ़ी हुई बाहें चमक उठीं। वे कहने लगीं कि हे पद्मा, जैसी चाँद के समान चमकीली तू है वैसा ही तो तेरा पति रत्नसेन सूर्य सा प्रकाशमान है। सूर्य का प्रकाश छिपा नहीं रहता। अतः उसे देखकर ही तुझ कमल जैसी के मन में पुलकन हुई है। वह संसार में सब से अधिक प्रोज्ज्वल है। संसार का उजाला तो उसका प्रतिविम्ब मात्र है। जिस प्रकार प्रातः-काल का नवोदित सूर्य रक्तिम, प्रकाशमय होता है; उसी प्रकार रत्नसेन का ऊँचा उठा हुआ छत्र लाल दिखलाई दे रहा है। वह जो बारात के मध्य में है, वही तेरा दूल्हा है और सब साथ में बराती हैं। ईश्वर ने उसका रूप सहस्रों किरण-कलाओं से निर्मित किया है। वह स्वर्ग-रथ पर चढ़ा हुआ आ रहा है। उसके माथे पर मणि जटित है और उसका दर्शन उजाले जैसा आभासित है। इसी कारण वह आँख उठाकर देखा भी नहीं जाता।

वह इस प्रकार रूपवान है जैसे स्वच्छ दर्पण ! धन्य है तू कि जिसका ऐसा मनोहर पति है ! जैसा मनोहर पति तुझे अपेक्षित है ऐसा ही मनचाहा तुझे मिला भी है। अर्थात् तू अतिशय सौभाग्यशालिनी है।

विशेष—"वह उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार सोतेहिं परछाहीं॥"— इस उक्ति में अत्यन्त व्यापक रहस्यवादी व्यंजना है। रहस्यवाद के अन्तर्गत पर-मेश्वर का मधुर दिव्य रूप इसी प्रकार इस समस्त संसार में व्याप्त है।

(२८०)

देखा चाँद सुरुज जस साजा। अस्टौ भाउ मदन तन गाजा॥
हुलसे नैन दरस मद माँते। हुलसे अधर रंग रस राते॥
हुलसा बदन ओप रबि आई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई॥
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा बलय कर फूटे॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं साजू॥
आजु कटक जोरा हठि कामू। आजु बिरह सो होइ संग्रामू॥
आजु चाँद घर आवै सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू॥
अंग अंग सब हुलसे केउ कतहूँ न समाइ।
ठाँवहि ठाँव बिमोहा गइ मुरुछा गति आइ॥२८०॥

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जैसे पद्मावती रूपी चाँद ने रत्नसेन रूपी सूर्य को देखा कि उसके शरीर में काम के आठों भाव—रोमांच, कंप, स्वेदादि, जाग्रत हो गए। दर्शनों के मद से मस्त उसके नेत्र आनन्द-रस-भाव से पूर्ण हो गए। प्रेम-रस-रंजित होकर उसके ओठ खिल गए। सूर्य की चमक के स्पर्श से उसका मुख मंडल प्रमुदित हो गया। प्रफुल्लित हृदय चोली में न समाता था। कुच उभरे और चोली के बंद टूट गए। भुजाएँ फड़कीं तो हाथों की चूड़ियाँ मौल गईं। हर्ष से कमर उमगी कि आज उस पर प्रियतम के संभोग का राज्य होगा। क्योंकि इसीलिए सुलक्षिणी सखियाँ आज उसकी कटि को विभूषित कर रही थीं। आज कामदेव ने

अपनी सारी मेना इकट्ठी की है, जिससे कि पूर्व के विरह से संग्राम कर उसे हराया जा सके। आशय यह है कि आज विरह के स्थान पर मिलन की काम-क्रीड़ा का अवसर आ पहुँचा है। आज चाँद या पद्मावती के घर सूर्य या रत्नसेन आएगा और उसका सारा शृङ्गार चूर-चूर करेगा,—कि उससे जी भर कर काम क्रीड़ा करेगा!

उसके अंग-अंग आनन्द-विभोर हो गए। कोई कहीं न समाता था—संयम, वश जाता रहा था। उसका अंग-अंग कामभाव से पूर्ण विमुग्ध हो गया और उसे मूर्छित अवस्था हो आई।

शब्दार्थ—अस्टौ=आठों। बदन=मुख। कसनी=चोली। लंक=कटि। रावन=प्रियतम। रामलखन दर=सुलक्षिणी सखियाँ, राम-लक्ष्मण की सेना।

(२८१)

सखी सँभारि पियावहिं पानी। राजकुँवरि काहे कुँभिलानी॥
हम तो तोहि देखावा पीऊ। तूं मुरझानि कैस भा जीऊ॥
सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू। मो कहं जैस चाँद कहँ राहू॥
तुम्ह जानहु आवै पिय साजा। यह धम धम सब मो कहँ बाजा॥
जेह बराती औ असवारा। आए मोर सब चालनिहारा॥
सोइ आगम देखत हौं झँखी। आपन रहन न देखौं सखी॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गौनब तहाँ बहुरि नहिं अवना॥
अब सो मिलन कह सखी सहेलिनि परा बिछोवा टूटि।
तैसि गाँठि पिय जोरब जरम न होइहि छूटि॥२८१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती को कामातुर दशा में सँभाल सखियाँ उसे पानी पिलाने लगीं, और बोलीं कि हे राजकुमारी! तुम इस प्रकार क्यों मलीन होगई हो? हमने तो तुम्हें तुम्हारे प्रियतम के दर्शन कराये किन्तु तुम्हारे जी को क्या हुआ कि तुम मुरझा गई। पद्मावती ने कहा कि प्यारी सखियो! सुनो, सब इसको विवाह कहते हैं, पर मेरे लिये तो यह इसी प्रकार से दुखदायक है जैसे चंद्रमा के लिये राहु! तुम तो समझती हो कि मेरा प्रीतम बारात सजाकर आ रहा है, किन्तु बारात के इन "धम-धम" बाजों से मेरा मन टूट रहा है—ठेस खा रहा है। ये जितने बाराती और सवार हैं सब मुझे यहाँ से ले जाने के लिये आये हैं। हे सखियो, इन बरातियों को आया देखकर मैं संतप्त हूँ, क्योंकि अब मुझे लगता है कि मेरा यहाँ रहना सम्भव नहीं है। विवाह के बाद फिर गौना होगा और फिर वहाँ चले जाना होगा जहाँ से फिर कभी यहाँ लौटना नहीं होगा।

अकस्मात् बिछोह आ पड़ा है। अब सखी-सहेलियों से मिलना कहाँ होगा? अब प्रीतम इतनी कड़ी गाँठ बाँधेगा कि जो जन्म भर मैं मुक्त न हो सकूँगी।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने अत्यन्त गूढ़ रहस्यवादी व्यंजना की है। आत्मा परमात्मा का मिलन हो जाने पर यह संसार छूट जाता है। कबीर ने "राम मोरे पीव मैं

राम की बहोरिया" वाले पद में भी कुछ इसी प्रकार का रूपक रचा है।

शब्दार्थ सरल हैं।

(२८२)

आइ बजावत पैठि बराता। पान फूल सेंदुर सब राता॥
जहँ सोने कै चित्तरसारी। बैठि बरात जानु फुलवारी॥
माँझ सिंहासन पाट संवारा। दूलह आनि तहाँ बैसारा॥
कनक खंभ लागे चहुँ पाँती। मानिक दिया बरहिं दिन राती॥
भएउ अचल ध्रुव जोगि पँखेरू। फूलि बैठ थिर जैस सुमेरू॥
आजु दैयँ हौं कीन्ह सभागा। जत दुख कीन्ह नीक सब लागा॥
आजु सूर ससिअर घर आवा। चाँद सुरुज दुहुँ होइ मेरावा॥
आजु इंद्र होइ आएउँ सैं बरात कबिलास।
आजु मिलै मोहि आछरि पूजै मन के आस॥२८२॥

भावार्थ—बारात का चित्रण करते हुये कविवर जायसी लिखते हैं—

बजते बाजों की धूम-धाम के साथ बारात आई। पान, फूल और सिंदूर के स्वागत-रँग में सब रंजित थे। जहाँ सोने की सजी हुई चित्रसारी थी; फूली हुई फुलवाड़ी की भाँति बरात वहाँ पर ठहरी। बीच में सिंहासन पट्ट सुशोभित था। उस पर दूल्हे को लाकर बिठाया गया। चारों ओर सोने के खम्भे लगे थे। उन पर रात-दिन माणिक्य के दीप झिलमिला रहे थे। वह योगीरूप रत्नसेन जो पहले पक्षी की भाँति विचरता था, अब ध्रुव के समान अचल होगया। सुमेरु पर्वत की तरह स्थिर—वह हर्षित होकर बैठ गया। उसने सोचा कि ईश्वर ने आज मुझे सौभाग्यशाली बनाया है। पीछे जितना दुःख ईश्वर ने दिया था, आज वह शुभ लग रहा है। सूर्य आज चन्द्रमा के घर आया है। आज चाँद और सूर्य का मधुर मिलन होगा। आशय है कि पद्मा और रत्नसेन का मधुर मिलन होगा।

आज मैं इन्द्र बनकर बारात सजाये हुये कैलाश अथवा स्वर्ग पर आया हूँ। मुझे अप्सरा जैसी पद्मावती मिलेगी, और मेरी मन की आशा पूर्ण होगी।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२८३)

होइ लाग जेंवनार सुसारा। कनक पत्र पसरे पनवारा॥
सोन थार मनि मानिक जरे। राए रंक सब आगें धरे॥
रतन जराऊ खोरा खोरी। जन जन आगें सौ सौ जोरी॥
गड़ुअन्ह हीर पदारथ सागे। देखि बिमोहे पुरुख सभागे॥
जानहु नखत करहिं उजियारा। छपि गा दीपक औ मसियारा॥
भै मिलि चांद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसं निरमरा॥
जेहि मानुस कहँ जोति न होती। तेहि भै जोति देखि वह जोती॥

पाँति पाँति सब बैठे भाँति भाँति जेंवनार।
कनक पत्र तर धोती कनक पत्र पवनार ॥२८३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रसोई की स्वादिष्ट सामग्री के साथ बराती जेंवनार जीमने को तत्पर हुये। सोने के पत्तों की निर्मित पत्तलें पसारी गई। मणि-माणिक्य से जड़े हुये सोने के थाल राजा और रंक, सबके सामने रखे गये। रत्नजटित कटोरे और कटोरियाँ प्रत्येक के आगे सौ-सौ जोड़ी रखी गई। जल-पात्रो या टोंटी दार लोटों में हीरे-रत्न जड़े थे। भाग्यशाली धनी पुरुष भी उन्हें देखकर आकर्षित होते थे। उस वातावरण में ऐसा लगता था कि नक्षत्र उजाला कर रहे हो कि जिसके कारण दीप एवं मशालों की ज्योति मन्द पड़ गई थी। वहाँ कुछ ऐसा निर्मल प्रकाश प्रतीत होता था जैसे चन्द्र और सूर्य की कला मिल गई हो। उस स्थान पर, जिस मनुष्य के पास नेत्रों का प्रकाश न हो, उसे भी उस निर्मल ज्योति को देखने से दिव्य-ज्योति मिल जाती थी।

सब लोग पंक्तियों में बैटे और सामने विविध प्रकार की जोंनार-सामग्री लाई जाने लगी। बराती नीचे तक, कनक पत्र की धोती पहने थे और उनके सामने ही जीमने के लिये स्वर्ण-पत्तों की पत्तलें डालीं गई थीं—उस समय वातावरण बड़ा सुहावना था।

शब्दार्थ—पनवारा=पत्तल। खोरा=कटोरा। गढ़ुवा=टोंटीदार लोटा।

(२८४)

पहिलें भात परोसें आने। जनहु कपूर सुबास बसाने॥
झालर माँड आए घिउ पोए। अजर देखि पाप गए धोए॥
लुचुई पूरि सोहारीं परीं। एक राती औ सुठि कोंवरीं॥
पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे न कबहूँ खाए॥
खँडरा खंडि खँडोई खंडी। परी एकोतर सै कठहंडी॥
पुनि सँधान आए बहु सांधे। दूध दही के मोरँडा बाँधे॥
पुनि जाउरि पछियाउरि आई। दूध दही का कहौं मिठाई॥
जेंवन अधिक सुबासिक मुख महँ परत बिलाइ।
सहस सवाद सो पावै एक कवर जौं खाइ॥२८४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पहले भाँति-भाँति के भात लाकर परोसे गए जिनमें से कपूर की सुगन्ध आ रही थी, मानो वह उससे सुवासित किये गए हो। घी लगे हुये झालर माँडे आये। उनके देखने मात्र से ही उनकी उज्ज्वलता के कारण मानौ सारे पाप धुल जाते थे। लुचुई, पूरी और सोहारी परसी गई जो एक तो गरम फिर मुलायम भी थीं। कविवर जायसी कहते हैं कि फिर जो बावन भाँति के भोजपदार्थ आये, न तो वैसे कभी देखे गये और न कभी खाये गये। खँडरे काटकर चासनी में पकाये गये और उन्हें एक सौ एक हाँडियों में डालकर रख दिया गया (अनुप्रास 'ख' की आवृति विशेष) फिर बहुत प्रकार से डाले गये अचार

लाये गये। दूध, दही के बाँधे हुये छेने के लड्डू आये। दूध चावल की गाढ़ी खीर, शक्कर-पारे आदि की तश्तरी (पछियाउरि) परोसी गई। कविवर जायसी कहते हैं कि दूध दही और दूसरी मिठाइयों का मैं क्या बखान करूँ।

सारे खाद्यपदार्थ अत्यधिक सुवासित थे और मुँह में पड़ते ही घुल जाते थे। एक ग्रास खाते ही उसमे सौ प्रकार का स्वाद मिलता था।

शब्दार्थ—भात=बारात का मुख्य चावलों का भोजन। विलाई=घुल जाना। सुवास=सुगन्ध। कवर=ग्रास। लुचोई=मैदे की पतली पूरी। सोहारी=पूरी। खँडरा=शक्करपारे। सँधान=अचार। मोरँडा=मलाई के लड्डू। जाउरि=खीर। पछिया-उरि=जोनार में परोसी गई मिठाई की अन्तिम तश्तरी। खँडोइ=चाशनी।

(२८५)

भै जेंवनार फिरा खंडवानी। फिरा अरगजा कुंकु हँबानी॥
फिरे पान बहुरा सब कोई। लाग बियाहचार सब होई॥
माँडौ सोने क गगन सँवारा। बँदनवार लाग सब तारा॥
साजा पाट छत्र छाहाँ। रतन चौक पूरा तेहि माँहाँ॥
कंचन कलस नीर भरि धरा। इंद्र पास आनी अपछरा॥
गाँठि दुलह दुलिहिन कै जोरी। दुऔ जगत जो जाइ न छोरी॥
बेद भनहिं पंडित तेहि ठाऊँ। कन्या तुला रासि लै नाऊँ॥
चाँद सुरुज दुंइ निरमल दुवौ सँजोग अनूप।
सुरुज चाँद सौं भूला चाँद सुरुज के रूप॥२८५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जेंवनार समाप्त हुई तो शरबत घुमाया गया। फिर केशर चन्दन कपूर आदि का बना हुआ अर्गजा या सुगन्धित द्रव्य दिया गया। तत्पश्चात् सबको पान दिये गये और सब बराती लोग जनवासे में लौट आये। वहाँ विवाह का कार्यक्रम होने लगा। गगनचुम्बी सोने का मँडप सजाया गया था। वंदनवार थे, जिन पर अनेक तारे या रत्न जड़े हुये थे। छत्र की छाया में वर का आसन सुशोभित किया गया। मँडप के बीच में रत्नजटित चौक पूरा गया। स्वर्ण-कलशों में पवित्र जल भरकर रखा गया। तब उस मँडप में रत्नसेन रूपी इन्द्र के पास पद्मावती रूपी अप्सरा लाई गई। कविवर जायसी कहते हैं कि वर-वधू की दाम्पत्य गाँठ जोड़ी गई, इतनी मजबूती से कि जो दोनों लोकों में भी न खुल सकेगी। उस जगह पंडित वेद-मन्त्र पढ़ने लगे। साथ ही पंडित लोग वर-वधू की क्रमशः कन्या तुलाराशि नामों का उच्चारण करने लगे।

चाँद और सूर्य दोनों निर्मल हैं; और इनके अनुरूप रत्नसेन और पद्मावती का वर-वधू जनक सम्बन्ध भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूरज चाँद के और चाँद सूरज के रूप पर मुग्ध होगया।

आशय यह है कि पद्मावती और रत्नसेन का विवाह संस्कार महान है।

शब्दार्थ—खँडवानी = शरबत। अरगजा = सुगन्धित पदार्थ। कुंकुहवानी = केसरिया रंग का। सँजोंग = विवाह।

(२८६)

दुहूँ नाउँ होइ गोत उचारा। करहिं पदुमिनी मंगलचारा।।
चाँद कै हाथ दीन्हि जैमाला। चाँद आनि सूरुज गियँ घाला।।
सूरुज लीन्हि चाँद पहिराई। हार नखत तरइन्ह सिउँ पाई।।
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा। जोबन जरम कंत कहँ दीन्हा।।
कंत लीन्ह दीन्हा धनि हाथाँ। जोरी गाँठि दुहूँ एक साथाँ।।
चाँद सुरुज दुहुँ भाँवरि लेहीं। नखत मोति नेवछावरि देहीं।।
फिरहिं दुवौ सत फेर को टेकै। सातौ फेर गाँठि सो एकै।।
भै भाँवरि नेवछावरि राजचार सब कीन्ह।
दाइज कहौं कहाँ लगि लिखि न जाइ तत दीन्ह।।२८६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पंडितों द्वारा वर-वधू के नामों से गोत्रोच्चारण होने लगा। सिंहल की पद्मिनी स्त्रियाँ मंगलाचार करने लगीं। चन्द्ररूपी पद्मिनी के हाथ में जयमाला दी गई और उस चाँद ने रत्नसेन रूपी सूर्य के गले में उसे डाल दिया। सूर्यरूप रत्नसेन ने उसके बदले में एक हार चाँद जैसी पद्मिनी को पहनाया, वह हार जो उसे नक्षत्रों जैसी सखियों से मिला था। फिर कन्या की अंजलि में जल भरकर और उसका हाथ पकड़कर उसे जीवन और यौवन के स्वामी रत्नसेन को सौंप दिया गया। कन्या का जो हाथ पति रत्नसेन को दिया गया था उसे पति ने धर्मानुरूप स्वीकार किया। तत्पश्चात् दोनों के दाम्पत्य सम्बन्ध की गांठ परस्पर जोड़ दी गई। फिर चाँद और सूरज के समान वर-वधू की भाँवरें पड़ने लगीं और नक्षत्र जैसी सखियाँ उनपर मोती न्यौछावर करने लगीं। दोनों सात भावरें लेने लगे। उन सातों भाँवरों की महत्ता, आन और मर्यादा क्या थी?—जीवन भर का साथ—अटल, अचल!

भाँवरें हुई, ब्राह्मण और याचकों को दक्षिणा देने के बाद राजकुल की अन्य विधियाँ पूरी की गई। कविवर जायसी कहते हैं कि उस दान का कहाँ तक वर्णन करूँ? जितना अधिक दिया गया, उसे लिखा नहीं जा सकता।

शब्दार्थ—मंगलाचार = विवाहोत्सव के गीत आचार आदि। सत = सात। दाइज = दान दहेज।

(२८७)

रतनसेनि जौं दाइज पावा। गंध्रपसेनि आइ कँठ लावा।।
मानुस चित आन कछु निता। करै गोसाइँ न मन महँ चिता।।
अब तुम्ह सिंघलदीप गोसाईं। हम सेवक आहहिं सेवकाईं।।
जस तुम्हार चितउर गढ़ देसू। तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू।।

जंबूदीप दूरि का काजू। सिंघलदीप करहु नित राजू॥
रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभि नहिं मोरी॥
तुम्ह गोसाईं जेइँ छार छड़ाई। कै मानुस असि दीन्ह बड़ाई॥
जौं तुम्ह दीन्ह तौ पावा जियन जरम सुख भोग।
नाहिं तो खेह पाँय की हौं न जानौं केहि जोग॥२८७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब रत्नसेन ने सब दाइज पा लिया तो उसके ससुर गंधर्वसेन ने आकर उसे कंठ लगाया और कहा—मनुष्य सदैव मन में कुछ और सोचता रहता है। किन्तु ईश्वर वह करता है जिसको कभी भी मन ने न सोचा हो। अब तुम सिंघल के स्वामी हो, और हम सब सेवक बनकर तुम्हारी सेवा के लिये हैं। जिस प्रकार तुम्हारा देश चित्तौड़गढ़ है इसी प्रकार सिंहल भी तुम्हारा देश है, ऐसा समझो। तुम हमारे राजा हो। दूर—जम्बूद्वीप से अब तुम्हारा क्या सरोकार? सिंहल द्वीप में ही सदा निष्कंटक राज्य करो। यह सुनकर रत्नसेन ने हाथ जोड़े, विनय की कि हे राजन्! तुम्हारी अभ्यर्थना करने के लिए मेरी वाणी में शक्ति नहीं। स्वामी तो तुम हो, जिसने मेरे शरीर से राख धुलवाकर मुझे मनुष्य बनाया, महत्ता दी।

तुमने जब यह सबकुछ दिया तो उससे ही मैंने नवजीवन, नवजन्म और सब भोग पाया है। अन्यथा मैं तो पाँव का तुच्छ रजकण था, मुझे स्वयं ज्ञात न था कि मैं किसी योग्य भी था।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२८८)

धौराहर पर दीन्हेउ बासू। सत खंड जहँवाँ कबिलासू॥
सखी सहस दुइ सेवाँ आईं। जनहुँ चाँद सँग नखत तराईं॥
होइ मंडर ससि की चहुँ पासाँ। ससि सूरहिं लै चढ़ी अकासाँ॥
मिलीं जाइ ससि की चहुँ पाहाँ। सूर न चाँपै पावै छाँहाँ॥
चलहि सूर दिन अथवै जहाँ। ससि निरमल तैं पावसि तहाँ॥
गंध्रपसेनि धौरौहर कीन्हा। दीन्ह न राजहिं जोगिहिं दीन्हा॥
अब जोगी गुरु पाए सोई। उतरा जोग भसम गा धोई॥
सात खण्ड धौराहर सातहुँ रँग नग लागु।
देखत गा कबिलासहि दिस्टि पाप सब भागु॥२८८॥

भावार्थ—पूर्व पद प्रसंग में—

रहने के लिए पति-पत्नी अर्थात् पद्मावती-रत्नसेन को अन्तःपुर में अथवा धवलगृह में स्थान दिया गया, जहाँ सतखंडे पर सबसे ऊँचा कैलाश नाम का भाग था। दो सहस्र सखियाँ परिचर्या के लिए नियुक्त की गईं। वे ऐसे थीं मानों चाँद के इधर-उधर तारावली और नक्षत्रावली हों। चन्द्ररूपी पद्मावती के इर्द-गिर्द उन्होंने घेरा बनाया हुआ था। जब चन्द्र

सूर्य को लेकर आकाश में आया तो परिचारिकायें तारिकाओं के रूप में इसलिए पद्मावती के इर्द-गिर्द इकट्ठी रहीं जिससे कि सूर्य रूप चन्द्रसेन दिवस में ही उसकी कांति न मिटा सके। तात्पर्य यह है कि संभोग क्रिया के कारण पद्मावती का स्वरूप अस्त-व्यस्त न हो सके। अतः दिन में परिभ्रमण करता हुआ जब सूर्य अस्त हो जाता है तब वह निर्मल चंद्र को रात्रि में प्राप्त करता है। गन्धर्वसेन ने जो धौराहर सजाया था उसमें पद्मावती का भोग किसी राजा को न देकर रत्नसेन योगी को दिया था। किन्तु अब योगी ने सुख-शृङ्गार का वह रहस्य पा लिया जिसके कारण अब योग समाप्त हो गया, भस्म धुल गई।

सात खंड के धवलगृह में सतरंगे रत्न जगमगा रहे थे। उस कैलाश को देखते ही समस्त पापों की दृष्टि नष्ट हो गई, आध्यात्मिक संकेत है आत्मा-परमात्मा के मिलन-स्थान से !

शब्दार्थ— सरल हैं।

(२८६)

सात खंड सातौ कबिलासा। का बरनौं जस उत्तिम बासा॥
हीरा ईंटि कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा॥
बसुकर्मैं सें हाथ सँवारी। सात खँड सातौं चौपारी॥
चूना कीन्ह अवटि गज मोंती। मोतिहु चाहि अधिक सो जोती॥
अति निरमर नहिं जाइ बिसेखा। जस दरपन महँ दरसन देखा॥
भुँइ गच जानहु समुँद हिलोरा। कनक खंभ जनु रचेउ हिंडोरा॥
रतन पदारथ होइ उजियारा। भूले दीपक औ मसियारा॥
तहँ आछरी पदुमावति रतनसेनि के पास।
सातौ सरग हाथ जनु आए औ सातौ कबिलास॥२८६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि वे सातों खंड, सात स्वर्ग जैसे हैं; ऐसे उत्तम निवास-स्थान का मैं क्या वर्णन करूँ ? उस धवलगृह पर हीरे की ईंटें और कपूर का गारा और उसके ऊपर मलयानिल चन्दन का लेप या पलस्तर किया गया था। स्वयं विश्वकर्मा ने वे सत खंडे और सात चौपालों को निर्मित-अलंकृत किया था। गजमोतियों को उबालकर तदर्थ चूना तैयार किया गया था। उस चूने की चमक मोतियों से भी अधिक थी। वह इतना निर्मल था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। दर्पण की भाँति उसमें प्रतिविम्ब दीखता था। भूमि का फर्श ऐसा था मानो सागर पर लहरें उठ रही हों। सोने के खम्भे की नक्काशियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो हिंडोले पड़े हों। आशय यह है कि घुमावदार तोरण सुन्दर दीखते थे। रत्नों और हीरों का ऐसा प्रकाश हो रहा था कि लोग दीपों और मशालों को भूल गए थे।

उस स्थान पर अप्सरा जैसी पद्मावती रत्नसेन के पास थी, मानो सातों स्वर्ग और सातों कैलाश रत्नसेन के हाथों ने उपलब्ध कर लिए हों।

शब्दार्थ—गिलावा=गारा । ऊबटि=उबालकर। गच=फुंका हुआ चूना। हिंडोरा=तोरण। मसियारा=मसाल।

(२६०)

पुनि तहँ रतनसेनि पगु धारा। जहँ नव रतन सेज सोवनारा ॥
पुतरीं गढ़ि गढ़ि खंभन्ह काढ़ीं। जनु सजीव सेवाँ सब ठाढ़ीं ॥
काहू हाथ चंदन कै खोरी। कोइ सेंदुर की गहे सिधोरी ॥
कोइ केसरि कुंकुहँ लै रही। लावै अँग रहसि जनु चही ॥
कोइ गहे कुंकुमा चोवा। दरसन आस ठाढ़ि मुख जोवा ॥
कोइ बीरा कोइ लीन्हे बीरी। कोइ परिमल अति सुगँध समीरी॥
काइ हाथ कस्तुरी मेदू। भाँतिन्ह भाँति लाग तस भेदू ॥
पाँतिन्ह पाँति चहूँ दिसि पूरी सब सोंधे कर हाट।
माँझ रचा इंद्रासन पदुमावति कहँ पाट ॥२६०॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

तत्पश्चात् रत्नसेन वहाँ आया जहाँ शयनागार में नवरत्न की सेज सजाई गयी थी। उन खम्भों पर पुतलियाँ उभार-उभारकर चित्रित की गई थीं। मानो सब सजीव, स्तम्भ-प्रतिमायें सेवा में खड़ी हुई हों। किसी के हाथ में चन्दन की कटोरी थी, किसी के हाथ में सिन्दूर रखने की रंगीन काठ की डिब्बी थी। कोई केसर और कुंकुम लिए थी मानो मुदित होकर उसे अंग से मलना चाहती हो। कोई कुंकुम और चोवा (सुगंधित द्रव्य) लिए दर्शनों की आशा से खड़ी अपलक मुख निहार रही थी। कोई पानों का बीड़ा और कोई मिस्सी डाली हुई पान की गिलौरी लिये हुये थी। कोई अत्यन्त सुगंधित समीरी परिमल लिये हुए थी। कोई कस्तूरी और मेद सुगन्धित द्रव्य लिये हुए थी। भाँति-भाँति के ऐसे रहस्यों को वे प्रतिमायें प्रकट कर रही थीं।

चारों दिशाओं में उन उभरी हुई पुतलियों की कतारें इस प्रकार शोभित थीं मानो वे हाथों में सुगन्धियों का बाज़ार लिए हैं। इनके बीच में पद्मावती के बैठने के लिए इन्द्रासन-पट्ट रखा हुआ था।

शब्दार्थ—सोवनारा=शयनागारा। खोरी=कटोरी। सिंधौरी=सिंदूर रखने वाली काष्ठ-डिब्बी। बीरी=मिस्सी युक्त पान की गिलौरी। मेदू=सुगन्धित द्रव्य। समीरी=वायु, सुगन्धित।

२७--पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड

(२९१)

सात खंड ऊपर कबिलासू । तहँ सोवनारि सेज सुखबासू ।।
चारि खंभ चारिहुँ दिसि धरे । हीरा रतन पदारथ जरे ।।
मानिक दिया बरै औ मोती । होइ अँजोर रैनि तेहि जोती ।।
ऊपर रात चँदोवा छावा । औ भुइँ सुरँग बिछाउ बिछावा ।।
तेहि महँ पलँग सेज सो डासी । का कहँ अैसि रची सुखबासी ।।
दहुँ दिसि गेंडुवा औ गलसुई । काँचे पाट भरी धुनि रूई ।।
फूलन्ह भरी अैसि केहि जोगू । को तेहि पौंढ़ि मान सुख भोगू ।।
अति सुकुमारि सेज सो साजी छुवै न पावै कोइ ।
देखत नवै खिनुहि खिन पाँव धरत कस होइ ।।२९१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

धवलगढ़ के सतखंडे के ऊपर कैलाश था । वहाँ शयनागार में सुखमय शयन की सेज थी । चारों दिशाओं के चार खम्भों में श्रेष्ठ रत्नपदार्थ हीरे आदि जड़े हुये थे । दीपक के समान जैसे माणिक्य और मोती चमकते थे और उनकी ज्योति से रात जगमगाती थी, चमकती थी । ऊपर लाल चँदोवा छाया हुआ था और नीचे भूमिपर लाल बिस्तरा बिछाया गया था । उसके ऊपर पलँग था और उस पर सेज सजी थी । आश्चर्य ! कि ऐसी सुखशाला किसके हेतु सजाई गई थी ? दोनों ओर लम्बे (गेंडुवा) गोल और चपटे (गलसुई) तकिये लगे हुये थे । उनमें कच्चे रेशम की रुई धुनकर भरी गई थी । फूलों भरी ऐसी कोमल सेज किसके योग्य है ? जायसी कहते हैं कौन सौभाग्यशाली उसपर सोकर परिरम्भण का सुख प्राप्त करेगा ?

वह सेज अति सुकोमल, सुकुमार सजाई गई थी । ऐसी कि उसे कोई छू भी न पाता था । कविवर जायसी कहते हैं कि वह सेज इतनी कोमल थी जो दृष्टि के बोझ से पल-पल में झुक-झुक पड़ती थी ; तो वह कैसा होगा जो उसपर पाँव रखेगा और कैसे वह सेज उसके बोझ को सँभालेगी ?

शब्दार्थ—सुखबासू = रति कीड़ा का स्थान । सोवनारि = शय्या, सेज । अँजोर = उजाला । गेंडुवा = गोल तकिया । गलसुई = छोटा तकिया, जो चपटा हो ।

(२९२)

सूरुज तपत सेज सो पाई । गाँठि होरि ससि सखी छपाई ।।
अहै कुँवर हमरे अस चारू । आजु कुँवरि कर करब सिंगारू ।।

हरदि उतारि चढ़ाएब रंगू। तब निसि चाँद सुरुज सौं संगू।।
जनु चात्रिक मुख हुति गौ स्वाती। राजहि चकचौहट तेहि भाँति।।
जोगि छरा जनु अछरिन्ह साथा। जोग हाथ हुति भएउ बेहाथा।।
वै चतुरा गुरु लै उपसईं। मंत्र अमोल छीनि लै गईं।।
बैठेउ खोइ जरी श्रो बूटी। लाभ न आव मूर भौ टूटी।।
खाइ रहा ठग लाडू तंत मंत बुधि खोइ।
भा धौराहर बनखँड ना हँसि आव न रोइ।।२६२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

अभिसार के लिये सूर्य रूपी रत्नसेन उद्विग्न होकर ज्योंही सम्भोग सेज तक पहुँचता है कि सहसा सखियों ने ग्रन्थिबन्धन खोलकर शशि रूपी पद्मिनी को उससे छिपा दिया। वे बोलीं कि कुँवर जी ! हमारे यहाँ कुछ ऐसा रिवाज है कि आज कुमारी का शृङ्गार करने के लिये हम यह चाल खेलती हैं—हम पद्मावती का शृङ्गार करेंगी ! शरीर से कुमारित्व की हलदी उतारेंगी, और उसमें तरुणाई का रंग भरेंगी। और तब रात में चाँद और सूरज का अभिसार होगा। यह सुनकर जैसे सामने चातक के मुख में स्वाति बूँद टपकते-टपकते रह जाय; ऐसे ही रत्नसेन को पद्मावती के सहसा न मिलने का अभाव मसोस गया, उसे पीड़ा पहुँची। ऐसा लगा मानो वह योगी उन अप्सराओं के साथ में पड़कर छला गया। सम्भोग हाथ में आते-आते हाथ से निकल गया ! वे चतुर सखियाँ उसके गुरु अर्थात् पद्मावती को लेकर ओझल हो गई मानो उसका अनमोल मुग्ध-मन्त्र छीन ले गई हों। उसे लगा, मानो अपने विरह के दर्द की अथवा रोग की एकमात्र औषधि या जड़ी बूटी पद्मावति को वह खो बैठा है। (मीरा ने भी अपने सँवरिया को कुछ इसी प्रकार देखा था—'मीरा की प्रभु पीर मिटैगी जब वैद सँवरिया होइ।') रत्नसेन को लगा कि पद्मावती का मिलन लाभ तो हुआ ही नहीं; गाँठ का मूलधन भी खोया और साथ में बेचैनी मिली।

कविवर जायसी लिखते हैं कि जैसे कोई जादू का लड्डू खाकर छल जाता है, एसे ही रत्नसेन ने अपनी बुद्धि और तंत्र-मंत्र सब कुछ खो दिया। वह धवलगृह उसके लिये निर्जन बन गया, न वह रो पाता था न वह हँस पाता था।

विशेष—कविवर जायसी ने इस पद में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेम से जनित किंकर्तव्यविमूढ़ता का सुन्दर भाव व्यंजित किया है। "हँसी आव न रोय" उक्ति में यह वैचित्र्य सुन्दर है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२६३)

अस तप करत गएउ दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी।।
परी साँझ पुनि सखी सो आईं। चाँद सो रहे न उंई तराईं।।
पूछेन्हि गुरू कहाँ रे चेला। बिनु ससियर कस सूर अकेला।।

धातु कमाइ सिखे तैं जोगी। अब कस जस निरधातु बियोगी॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होइ रूप औ सोना॥
कस हरतार पार नहिं पावा। गंधक कहाँ कुरकुटा खावा॥
कहाँ छपाए चाँद हमारा। जेहि बिनु जगत रैन अँधियारा॥
नैन कोड़िया हिय समुँद गुरू सो तेहि महँ जोति॥
मन मरजिया न होइ परै हाथ न आवै मोंति॥२९३॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

इस प्रकार दहते-दहते पद्मावती की स्मृति में रत्नसेन का दिवस कठिनाई से बीता। वे चार पहर चार युग के समान कठिन बीते। संध्या हुई और फिर वे सखियाँ आईं। पर लगा कि तारे तो उगे पर चाँद साथ में न आया। सखियों ने वकृता विनोद से पूछा—रे चेले, तेरा गुरु (पद्मावती) कहाँ है? भला बिना चन्द्र के सूर्य कैसे अकेला है? हे योगी! तूने तो योग-संयम से वीर्य का संचय करना सीखा था, पर अब क्योंकर पद्मा से वियुक्त होकर निर्वीर्य हो रहा है? वह सौन्दर्य की लता पद्मावती तूने कहाँ खोई?—जिसके पाने पर तुझे रूप और सुख-सम्भोग दोनों मिलते। तेरा वीर्य शुक्र या पारद उस रज या गन्धक मिश्रित धातु को क्यों नहीं पा सका! आशय यह है कि क्योंकर तू वीर्यवान होकर भी उस रज-वंती अक्षत रूप यौवना पीतवर्णी पद्मावती का सम्भोग न पा सका? तूने वह पद्मिनी कहाँ खो दी?—जिसका भोग करने के लिये तूने नीरस भात खाया था; उससे विवाह रचाया था। सखियाँ परिहास में कहती हैं कि हे राजा, तुमने हमारी चन्द्ररूपी पद्मिनी कहाँ छुपा रखी है?—जिसके बिना संसार में रात्रि का अंधकार छा गया है?

हे राजा, तेरे नेत्र पद्मावती के लिये कौड़िल्ला पक्षी की भाँति बार-बार टूट रहे हैं। शायद इसलिये कि तेरा हृदय गहरा समुद्र है, जिसमें गुरु पद्मावती की रूप ज्योति जा छिपी है। यदि तेरा मन सच्चा गोताखोर न हुआ तो वह मोती स्वरूपा पद्मावती तुझे प्राप्त नहीं हो सकती।

विशेष—प्रस्तुत पद में इन्द्रय, मन, बुद्धि, एवं आनन्द सम्बन्धी ताँत्रिक प्रक्रियाओं की ओर जायसी ने संकेत दिया है। पद्मायती दिव्य शक्ति है, रत्नसेन साधक! इन्द्रिय मन को वश में कर शुद्ध बुद्धि से उस शक्ति का साधक के साथ समागम सम्भव है। साथ ही जायसी ने इस पद में—गन्धक आदि का उल्लेख कर रसायनिक ज्ञान एवं वीर्य, रज आदि से काम शास्त्रीय ज्ञान का परिचय भी दिया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२९४)

का बसाइ जौं गुरू अस बूझा। चकाबूह अभिमनु जो जूझा॥
बिख जो देहि अंब्रित देखराई। तेहि रे निहोरहिं को पति आई॥
मरै सो जान होइ तन सूना। पीर न जानै पीर बिहूना॥
पार न पाव जो गंधक पिया। सो हरतार कहौ किमि जिया॥

सिद्धि गोटिका जापहँ नाहीं। कौन धातु पूँछहु तेहि पाहीं ।।
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं। होइ सार तब बर कै बोलौं ।।
अभरक कै तन एँगुर कीन्हा। सो तुम्ह फेरि अगिनि मँह दीन्हा ।।
मिलि जो पिरीतम बिछुरै कया अगिनि जराइ।
कै सो मिलै तन तपति बुझै कै मोहि मुएँ बुझाइ।।२६४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने उत्तर दिया कि जब गुरु रूप पद्मावती की स्वयं ही ऐसी छिप जाने की इच्छा थी तो मेरे वश की क्या बात थी ? मेरी दशा अभिमन्यु के समान होगी जो गुरु द्रोण के चक्रव्यूह में जूझते-जूझते फँस गया था। जो पहले अमृत दिखाकर बाद में विष दे दे उस निठुर का क्या विश्वास किया जाय ? और तुम जो कहती हो कि मन को मार-कर—मरजिया होकर, मोती हाथ आता है, तो मैं समझता हूँ कि सचमुच जो शरीर को भी नीरव या शून्य कर देता है वही सच्ची मौत मरना जानता है। तात्पर्य यह कि सहज साधना में तन और मन दोनों का मारना नाथसिद्धों की मान्यता के अनुकूल आवश्यक है। रत्नसेन कहता है कि जिसने खुद पीड़ा नहीं सही वह दूसरे की पीड़ा क्या जानेगा ? जो गन्धक, अर्थात् पद्मावती का रूप रस चखेगा वह तृप्त नहीं होगा, उसका पार नहीं पायेगा। उसने जिसका प्राण-तार ('हरतार' का यही आशय सरलता से बनता है।) खींच लिया है, वह विचारा कैसे जियेगा ? जिसके पास पद्मावती रूपी वह सिद्धि-गुटिका नहीं है, उससे तुम धातु सम्बन्धी क्या बात रच या पूछ रही हो ? अब मैं उसके अभाव में गेरुवा भेष में राँगे की भाँति निकम्मा हुआ डोल रहा हूँ। जब मेरे पास सच्चा वीर्यतत्व होगा तभी मैं बलपूर्वक कुछ कह-कर सकूँगा। आशय यह है कि पद्मावती को प्राप्त करने के लिये अभी मुझे योग संयम की आवश्यकता है। अभ्रक रूपी पद्मावती को प्राप्त करने के लिये मैंने अपने शरीर को ईंगुर या रस सिंदूर जैसा बना लिया था। तात्पर्य यह है कि पद्मावती को प्राप्त करने के लिये मैंने कठिन तप साधना की थी। रत्नसेन कहता है कि हे सखियो ! जब ज़रा मिलन का सुअवसर प्राप्त हुआ तब तुमने उसे फिर अग्नि में डालकर मुझसे उस अभ्रक को अलग कर दिया।

जब एक बार प्रियतम से मिलकर अलग होना पड़ता है तो शरीर तदर्थ विरहाग्नि में जलने लगता है। अब या तो उससे मिलकर ही शरीर की तपन बुझेगी, अथवा मेरे मरने पर।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने रासायनिक दृष्टिकोण से आत्मा परमात्मा के मिलन विच्छेद का रूपक बाँधा है। अतः व्यंजना दुरूह होगई है। मूल आशय यही है कि परमात्मा से बिछुड़कर आत्मा की विरह दशा दयनीय हो जाती है। यह मान्यता सहज-यानी सम्प्रदाय की है। यहाँ रसायनिक आधार से जायसी ने यह सिद्ध किया है कि 'पारद' रूपी रत्नसेन को जिस गंधक या अभ्रक रूपिणी पद्मावती ने मिलकर अपने में मिला लिया था—रस सेंदूर या ईंगुर बना लिया था, उसे सखियों ने पुनः आग में डालकर अलग

करना चाहा है। अभ्रक गंधक से पारद बाँधा जाता है—यह रस शास्त्र की रसायनिक मान्यता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२६५)

सुनि कै बात सखी सब हँसी। जनहुँ रैनि तरईं परगसी ।।
अब सो चाँद गगन महँ छपा। लालि किहें कत पावसि तपा।।
हमहूँ न जानहिं दहुँ सो कहाँ। करब खोज औ बिनउब तहाँ।।
औ अस कहब आहि परदेसी। करु माया हत्या जनि लेसी ।।
पीर तुम्हार सुनत भा छोहू। दैय मनाव होउ अब ओहू ।।
तूँ जोगी तप करु मन जथा। जोगिहि कवनि राज कै कथा ।।
वह रानी जहवाँ सुख राजू। बारह अभरन करै सो साजू।।
जोगी दिढ़ आसन करु अस्थिर धरु मन ठाउँ।
जौं न सुने तौं अब सुनु बारह अभरन नाउँ ।।२६५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की यह रहस्यमय बातें सुनकर सारी सखियाँ हँस पड़ीं। ऐसा लगा, मानो रात के तारे जगमगा उठे हों। वह बोलीं कि हे योगी, अब वह चन्द्ररूपी पद्मिनी आकाश में छिपी है। लालसा मात्र से उसे कहाँ-कैसे पाया जा सकता है? स्वयं हम नहीं जानती कि वह कहाँ गई? हम उसे तलाश करेंगी, विनती करेंगी और कहेंगी कि वह परदेशी है, उस पर दया करो, उसकी हत्या न करो। तुम्हारी व्यथा सुनकर हमारे हृदय को दुःख हुआ है। ईश्वर से प्रार्थना करो कि उसे भी तुम्हारा विरह-अभाव अखरे। तुम योगी हो, अतः मन को तप में लगाओ। योगी को राज्य-कथा से क्या लेना देना है? पद्मावती तो रानी है, अत वहः वहाँ है, जहाँ सुख और राज्य है। वहीं पर वह बारह आभूषणों से शृङ्गार सजाती है।

हे योगी! अपना आसन दृढ़ करो और अपने मन को दृढ़ करके एक ओर केंद्रित करो। यदि तुमने अब तक बारह आभूषणों के नाम नहीं सुने, तो लो, हमसे सुनो!

शब्दार्थ—परगसी—प्रकट हुई। लालि=लालसा। विनउब=बिनती। अभरन=आभूषण।

(२६६)

प्रथमहि मंजन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू ।।
साजि माँग पुनि सेंदुर सारा। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारा।।
पुनि अंजन दुहुँ नैन करेई। पुनि कानन कुँडल पहिरेई ।।
पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तँमोला ।।
गियँ अभरन पहिरैं जहँ ताईं। ओर पहिरै कर कँगन कलाईं ।।
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। औ पायल पायन्ह भल चूरा ।।

बारह अभरन एइ बखानें। ते पहिरं बरहौ असथाने ।।
पुनि सोरह सिंगार जस चारिहु जोग कुलीन।
दीरघ चारि चारि लघु चारि सुभर चहु खीन ।।२९६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सखियाँ रत्नसेन को बतलाती हैं कि सर्व प्रथम पद्मावती शरीर का स्नान कर उसे स्वच्छ करती है। फिर वह शरीर पर चन्दन का वस्त्र या चँदनौटा पहनती है। फिर माँग सँवार कर सिंदूर भरती है। फिर माथे पर तिलक लगाकर सजाती है। फिर दोनों आँखों में अंजन लगाती है। फिर कानों में कुण्डल पहनती है। फिर नासिका में अनमोल बेसर या फूल पहनती है। फिर पान खाकर मुँह को लाल रचाती है। फिर गले के सारे आभूषण पहनती है। फिर कलाई में कंगन पहिनती है। उसका कटि भाग आभूषणों-क्षुद्र घंटिकाओं से पूर्ण सज्जित रहता है। पावों में पादमाल, पायल और चूड़ा पहनती है। इन्हीं बारह आभूषणों का वर्णन है। ये बारहों अँग-स्थानों में धारण किये जाते हैं।

यही उसके शरीर के सोलह अंगों के सोलह शृङ्गार हैं, जो चारों कुल के लिए श्रेष्ठ है। पद्मावती के चार दीर्घ अवयव-केश, अंगुली, नयन और ग्रीवा, चार लघु—दशन, कुच, ललाट और नाभि, चार भरे हुए—कपोल, नितम्ब, जाँघ और कलाई और चार पतले—नाक कटि, पेट और अधर—इस प्रकार से सुशोभित हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(२९७)

पदुमावति जो सँवरै लीन्ही। पूनिव राति दैयँ असि कीन्ही ।।
के मंजन तब किएहु अन्हानू। पहिरे चीर गएउ छपि भानू ।।
रचि पत्रावलि माँग सेंदुरा। भरि मोतिन्ह औ मानिक पूरा ।।
चंदन चित्र भए बहु भाँती। मेघ घटा जानहु बग पाँती ।।
सिरं जो रतन माँग बैसारा। जानहु गगन टूट लै तारा ।।
तिलक लिलाट धरा तस डीठा। जनहु दुइज पर नखत बईठा ।।
मनि कुंडल खुँटिला औ खूंटी। जानहु परी कचपची टूटी ।।
पहिरि जराऊ ठाढ़ि औ बरनि न आवै भाउ।
माँग क दरपन गँगन भा तौ ससि तार देखाउ ।।२९७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी पद्मावती के शृङ्गार का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि पद्मावती ज्यों ही अपना शृङ्गार करने लगी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो ईश्वर ने पूनम की रात की ज्योत्स्ना छिटका दी हो। उसने पहले मज्जन किया और तत्पश्चात् सुगंधित जल से स्नान किया। फिर मूल्यवान वस्त्र पहने जिनकी चमक-दमक से सूर्य छिप गया। केशों की पट्टियाँ या जुल्फें बाँधी और फूल पत्तियों से सँजाया-सँवारा और माँग में सिंदूर भरा। मोती पूरे, तत्पश्चात् माँथे पर माणिक्य का बौर लटकाया या पहना और माँथे पर चन्दन से

विविध चित्र या मरवट बनाये। वह ऐसे लगते थे जैसे केश रूपी मेघों की घटाओं में बगुलों की पंक्ति उड़ रही हो। सिर की माँग में जो रत्न जड़े थे, वे ऐसे सुशोभित प्रतीत होते थे मानों आकाश में तारे टूटते हों, किंवा, जगमगा रहे हों। ललाट का तिलक ऐसा शोभनीय प्रतीत होता था मानो द्वितिया के चंद्र मध्य में चित्रा नामक नक्षत्र बैठा हो। कानों में मणि कुंडल, कर्णफूल और कानकील या खूँटी ऐसी सुन्दर लगती थी मानो कृत्तिका नक्षत्र टूटकर वहाँ आ जड़ा हो।

कविवर जायसी कहते हैं कि जब वह इस प्रकार के जड़ाऊ आभूषण पहनकर खड़ी हुई तो उसका वर्णन अकथनीय था। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो आकाश उसकी माँग का दर्पण बन गया था और उसमें उसके उन आभूषणों का प्रतिविम्ब चाँद-तारों के रूप में प्रतिविम्बित हो रहा था। (उत्प्रेक्षा की छटा अतुल है।)

शब्दार्थ—पत्रावलि=केशों की पट्टियाँ या जुल्फें। खूँटी=कान की लौंग। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र।

(२६८)

बाँक नैन औ अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा॥
जब जब हेरु फेरु चखु मोरी। लुरै सरद महँ खंजन जोरी॥
भौहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साँधि बान जनु मारे॥
कनक फूल नासिक अति सोभा। ससि मुख आइ सूक जनु लोभा॥
सुरंग अधर औ लीन्ह तँबोरा। सोहै प्रान फूल कर जोरा॥
कुसुम गेंद अस सुरंग कपोला। तेहि पर अलकभुअंगिनि डोला॥
तिल कपोल अलि पदुम बईठा। वेधा सोइ जो वह तिल डीठा॥
देखि सिंगार अनूप विधि विरह चला तब भागि।
कालकूट एइ ओनए सब मोरे जिय लागि॥२६८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

और फिर उनमें अंजन की रेखा ऐसी लगती थी मानो शरदऋतु में खंजन दिखाई पड़ता हो। जब जब वह अपने चंचल नेत्रों को मोड़ती घुमाती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानो खंजन की जोड़ी परस्पर क्रीड़ा कर रही हो। पद्मावती की भौहें धनुषाकार थी किन्तु उनसे काम का धनुष भी पराजित होता था। (दूसरा यह भी हो सकता है कि एक भौंह दूसरी भौंह रूपी धनुष से अपनी सौन्दर्य कटाक्ष की प्रतिद्वंदता कर रही थी) उन धनुषों पर मानो वह अपने नेत्रों के बाण धरकर चला रही थीं। नाक में स्वर्णफूल की अत्यधिक शोभा थी और ऐसा प्रतीत होता था मानो मुख रूपी चन्द्र पर शुक्र नक्षत्र या सुग्गा मोहित हो गया हो। (उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार) रंगीन रक्तिम ओठों में ताम्बूल और पान की शोभा बन्धूक के युगलपुष्पों के समान थी। उसके कपोल फूलों की बनी गेंदे के समान सुन्दर थे। (उपमा अलंकार) उन कपोलों पर काकुल रूपी भुजंगिनें लटक रही थीं। कपोल पर पड़ा हुआ तिल कमल पर बैठे भौंरे के सदृश्य लगता था।

कविवर जायसी लिखते हैं कि जिसने वह तिल देख लिया वह ज़ख्मी हो गया।

पद्मावती के ऐसे अतुल, अनोखे श्रृङ्गार को देखकर विरह यह कहते हुये भाग चला—"यह मेरे प्राणों के लेने के लिए ही कालकूट विष उडेल रही है।" (उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा की छटा अतुल है।)

शब्दार्थ—सूक=शुक्र तारा, पर यहाँ आशय है कि जैसे चन्द्र के पास शुक्र तारा शोभित होता है इसी प्रकार पद्मावती के चन्द्रमुख पर उसका आभूषित नासिक रूपी सुग्गा शोभित है।

(२९९)

का बरनौं अभरन उर हारा। ससि पहिरें नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चन्दन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥
तिन्ह झाँपी रोमावलि कारी। नागिन रूप डसै हत्यारी॥
कुच कंचुकी सिरीफल उभै। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभै॥
बाँहन्ह बाँहू टाड सलोनी। डोलत बाँह भाउ गति लोनी॥
नीवी कँवल करी जनु बाँधी। बिसा लंक जानहु दुइ आधी॥
छुद्रघंटि कटि कंचन लागा। चलै तो उठै छतीसौ रागा॥
चूरा पायल अनवट बिछिया पायन्ह परे बियोग।
हिए लाइ टुक हम कहँ समुदहु तुम्ह जानहु अउ भोगु॥२९९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि उसके आभूषणों का मैं क्या वर्णन करूँ? उसके कण्ठ में हार ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा ने नक्षत्रों की माला पहन ली हो। सुन्दर ओढ़नी और चन्दनी रंग का चँदनौटा या चोला धारण किये हुये थी। उसके हीरे के हार में मूल्यवान नग जड़े थे। उन झलकते हुये नगों ने उसकी श्याम रोमाँवली को आच्छादित कर लिया था। पद्मावती ऐसी लगती थी जैसे कोई मणिधर नागिन हो जो डसकर मार देती है। कंचुकी के भीतर से श्रीफल की भाँति उभरे हुये उसके स्तन यों लगते थे मानो प्रीतम के हृदय में चुभ जाना चाहते हों। वह बाहुओं में भुजबन्ध और सुन्दर टड्डे पहने थी। उसकी झूलती हुई भुजायें और वह स्वयं अति सुँदर लगती थी। साड़ी की कमर पर उठी हुई गाँठ या नीवी ऐसी प्रतीत होती थी मानो नाल सहित कमल की कली बँधी हो। (उत्प्रेक्षा अलंकार) उस गाँठ या नीवी से, बर्र के समान उसकी कटि के नीचे ऊपर दो भाग हो गये थे। (सुन्दर नारी की आकृति कटि से नीचे नितम्बों की मांसलता एवं कटि से ऊपर कुचों की आकर्षक उत्तुंगता लिए रहती हैं।) कटि प्रदेश में बारीक सुनहले धागे से करधनी बँधी थी जिसके कारण जब पद्मावती चलती थी तो मानो छत्तीसों रागों की ध्वनि झंकृत होती थी।

चूड़ा, पायल, बिछिया और अनवट उसके पाँवों में पड़े हुए विरह से मानों कह रहे थे—काश, कुछ देर के लिए तुम हमें हमारे पति से हृदय-भेंट करा दो तो सुखोपभोग

का सच्चा अनुभव, आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

शब्दार्थ—अनवट=पैर का छल्ला। समदहु=मिलन।

(३००)

अस बारह सोरह धनि साजै। छाज न औरहि ओहि पै छाजै॥
बिनवहि सखीं गहरु नहि कीजै। जेइँ जिय दीन्ह ताहि जिउ दीजै॥
सँवरि सेज धनि मन भौ संका। ठाढ़ि तिवानि टेकि कै लंका॥
अनचिन्ह पिउ काँपै मन माहाँ। का मैं करब गहब जब बाहाँ॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब कछु मैं नहि चेता। नेहु न जानिउँ स्याम कि सेता॥
अब जौं कंत पूँछिहि सेइ बाता। कस मुँह होइहि पीत कि राता॥
हौ सो बारि औ दुलहिनि पिउ सो तरुन औ तेज।
नहि जानौ कस होइहि चढ़त कंत की सेज॥३००॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

इस प्रकार उस पद्मावती सुंदरी ने बारह अलंकार और सोलह श्रृङ्गार धारण किये। वह सब कुछ उसी को शोभित होते थे और किसी को नहीं होते। श्रृङ्गारोपरान्त सखियों ने उससे विनती की कि हे पद्मा, अब देर न करो। जिसने तुम्हारे लिये अपना प्राण न्यौछावर किया है उसे तुम भी तो अपना प्राण दो। यह सुनकर और फिर सेज का स्मरण करके वह बाला शंकित हुई और कटि भाग पर हाथ रखकर सोचने लगी—हाय, अपरिचित प्रियतम से वह कैसे सहवास करेगी! और उसका मन काँप उठा। उसने सोचा कि वह प्रीतम जब बाहें पकड़ेगा, उस समय मैं क्या कह सकूँगी? हाय, बारी उमरिया बीत गई, और मैंने प्रीत की रीति न जानी। और जब जवानी छाई तो काम के वशीभूत उन्मत्त गर्व में मैंने कुछ नहीं सीखा-समझा! मैं नहीं समझ सकी कि प्रेम का रंग श्याम है अथवा श्वेत? और जब उसके विषय में प्रीतम मुझसे पूछेगा, तो मैं क्या कहूँगी?—मेरे मुख का रंग पीला होगा कि लाल, कौन बताये?

मैं नव बाला हूँ, और वह मेरा प्रीतम तरुण तेजस्वी! न मालूम प्रीतम की सेज पर उसके साथ सोने पर कैसा कुछ अनुभव होगा!

शब्दार्थ—विनवहिं=विनती। गहरु=देर। तिवानी=सोचना, चिंता करना। अनचिन्ह=अनजान। गहब=थामना। मैमंत=काम में मस्त।

(३०१)

सुनि धनि उर हिरदै तब ताई। जौं लगि रहसि मिला नहि साईं॥
कवन सो करी जो भँवर न राई। डारि न टूटै फर गरुआई॥
माता पिता बियाही सोई। जरम निबाह पियहि सो होई॥
भरि जमबार चहै जहँ रहा। जाइ न मेटा ताकर कहा॥
ताकहँ बिलंबु न कीजै बारी। जो पिउ आएसु सोइ पियारी॥

चलहु बेगि आएसु भा जैसें। कंत बोलावै रहिए कैसें॥
मान न करु कोरा करु लाडू। मान करत रिस मानै चाडू॥
साजन लेइ पठाइया आएसु जेहि क अमेंट।
तन मन जोवन साजि सब देइ चालिऊ लै भेंट॥३०१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मा के भाव को जानकर सखियों ने कहा कि हे बाला ! सुनो, तब तक ही मन में भय रहता है जब तक तुम्हारा एकान्त में पति से मिलन नहीं हुआ है। बता, वह कौनसी ऐसी कली है जिससे भँवरे ने प्यार नहीं किया है ? अरी पगली, फल के भार से कहीं डाल टूटती है ?—प्रिय संभोग से कहीं दुःख होता है ? माँ-बाप तो केवल विवाह करते हैं पर जीवन भर का साथ तो पति से ही निभता है। जीवनान्त तक जहाँ भी रहे, पति का वचन पत्नी नहीं टाल सकती। अतः हे बाला, अब उससे मिलने में विलम्ब न करो। जो पति की आज्ञाकारिणी है, वही उसे प्यारी होती है। जैसी आज्ञा हुई है, उस पर शीघ्र चलो। पति बुला रहा है, फिर ठहरना कैसा ? अधिक मान न करो, थोड़ा प्यार भा करो। देख, अधिक मान करने से साजन रुष्ट होते हैं।

जिसकी आज्ञा अमिट होती है, हे पद्मा, उस प्रियतम ने तुम्हें बुला लाने को भेजा है। तन मन और यौवन से सज्जित होकर उसे स्वयं को भेंट में देने के लिए चलो।

शब्दार्थ—ताई = तक। रहसि = एकान्त। साई = कन्त। करी = कली। राई = रमते। गरुआई = भार। जमवार = जीवनान्त तक, यम के द्वार तक। लाडू = प्यार। चाडू = चाहने वाला, प्रियतम।

(३०२)

पदुमिनि गवँन हँस गौ दूरी। हस्ती लाजि मेल सिर धूरी॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि छवि बीजु लजाना॥
खंजन छपा देखि कै नैना। कोकिल छपा सुनत मधु बैना॥
गीवँ देखि कैं छपा मँजूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू॥
भौंह धनुक जो छपा अकाराँ। बेनी बासुकि छपा पताराँ॥
खरग छपा नासिका बिसेखी। अंब्रित छपा अधर रस पेखी॥
भुजन छपानि कँवल पौनारी। जंघ छपा केदली होइ बारी॥
आछरि रूप छपानीं जबहिं चली धनि साजि।
जावँत गरब गहीलि हुति सबै छपीं मन लाजि॥३०२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

प्रिय-मिलन के लिए पद्मावती की चाल देखकर हंस लजाकर उड़ गया, और हाथी ने अपने माँथे पर धूल उछाली। उसके मुख को देखकर लज्जा से चाँद छिप गया—मन्द पड़ गया। उसकी दन्तावलि की चमक को देखकर बिजली शरमा गई। खंजन पक्षी उसकी आँखों को देखकर जा छिपा। उसके मीठे बोलों को सुनकर कोयल मूक हो गई—

छिप गई। उसकी गरदन की सुन्दरता को देखकर मोर छिप गया, पतली कमर को देखकर शेर छिप गया। उसकी भौंहों को देखकर तिरछे आकार वाला धनुष छिप गया—तुच्छ हो गया। उसकी वेणी को देखकर शेषनाग पाताल में छिप गया। उसकी नासिका को देखकर तलवार म्यान में छिप गई। उसके अधरों का रस देखकर अमृत समुद्र में जा छिपा। उसकी भुजाओं को देखकर पद्मनाल जल में छिप गई। उसकी भरी-भरी जंघों को देखकर कदली वाटिका में जा छिपी।

वह सुन्दरी बाला जब ऐसा शृंगार करके चली तो अप्साएँ अपने रूप सहित लज्जित होकर छिप गईं। जितनी भी रूप गर्वीली सुन्दरियाँ थीं, सब पद्मावती से सौन्दर्य से लजाकर छिप गईं।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी की परिकल्पनायें द्रष्टव्य हैं। स्थूल सौंदर्य को किन-किन उपमानों द्वारा कवि ने उत्कृष्ट ठहराया है। इस पद को पढ़कर भर्तृहरि कृत यह छन्द याद हो आता है—

स्तनौ मांस ग्रंथि, कनक कलशा व्युत्युपमितौ
मुखं श्लेमागारं, सदपि च शशांकेन तुलिनम्,
स्रवन्मूत्रक्लिनं, करिवर करस्पर्द्ध जघन,
महो निन्द्यंरूपं, कविजन विशेषैर्गुरु कृतम्।।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३०३)

मिलीं तराई सखी सयानीं। लिए सो चाँद सुरुज पहँ आनी।।
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सुरुज गएउ मुरुछाई।।
सोरह कराँ दिस्टि ससि कीन्ही। सहसौ करा सुँरुज कै लीन्ही।।
भा रबि अस्त तराइन हँसें। सुरुज न रहा चाँद परगसें।।
जोगी आहि न भोगी होई। खाइ कुरकुटा गा परि सोई।।
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। होहि जो कित जोगी भिखमंगा।।
अबहुँ जगावहि चेला जागू। आवा गुरु पाय उठि लागू।।
बोलहिं सबद सहेलीं कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ।।३०३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

तारिकाओं सी, सारी चतुर सखियाँ चारों ओर घिरकर पद्मावती रूपी चाँद को लिए रत्नसेन रूपी सूर्य के पास आ पहुँचीं। वह चाँद (पद्मावती) पारदर्शी, या पारस पवित्र रूप दिखला रहा था; जिसको देखते ही सूर्य (रत्नसेन) को बेहोशी छागई। सोलहों कलाओं से युक्त चन्द्र-पद्मावती ने उसकी ओर देखा और सहस्रों सूर्य (रत्नसेन) की कलाओं को उसने अपने में समाहित कर लिया। सूर्य अस्त हुआ—आत्म विभोर! तारिकाएँ रूपी सखियाँ यह कौतुक देखकर हँसने लगीं—सोचा, इस तरह चाँद चमका कि

सूर्य का तेज ही न रह गया—अस्त हो गया ! सखियों ने कहा कि यह जोगी है, भोगी नहीं ! इसी से तो नीरस भात खाकर सो गया है। हे पद्मा, तू तो गंगा के समान निर्मल है, यह भिखमँगा जोगी तेरे भोग के योग्य कहाँ है ? यह कहकर सखियाँ रत्नसेन को जगाने लगीं, बोलीं—हे चेले, जाग !—तेरा गुरू आया है, उठकर उसके चरणस्पर्श कर !

सखियों ने रत्नसेन के कान से लगकर और उसका माँथा पकड़कर धीरे से कहा कि ओ गोरखनाथ के चेले, उठ !—देख, तेरे गुरू गोरख आए खड़े हैं।

शब्दार्थ—तराई = तारिकाएँ। आनी = आ पहुँची। कराँ = कलाएँ। भा = हुआ। परगसे = प्रकाशित होने पर। आहि = है। कुरकुटा = नीरस भात। ठाड़ भा = खड़ा है।

(३०४)

गोरख सबद सुद्ध भा राजा। रामा सुनि रावन होइ गाजा ॥
गही बाँह धनि सेजवाँ आनी। आँचर ओट रही छपि रानी ॥
सकुचै डरै मुरै मन नारी। गहु न बाँह रे जोगि भिखारी ॥
ओहट होइ जोगि तोरि चेरी। आवै बास कुरकुटा केरी ॥
देखि भभूति छूति मोहि लागा। काँपै चाँद राहु सौं भागा ॥
जोगी तोरि तपसी कै काया। लागी चहै अंग मोहि छाया ॥
बारि भिखारी न माँगसि भीखा। माँगै आइ सरग चढ़ि सीखा ॥
जोगि भिखारी कोई मँदिर न पैसे पार।
माँगि लेहि किछु भिख्या जाइ ठाढ़ होहि बार ॥३०४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

'गोरख'—शब्द सुनते ही राजा को चेत हो आया। 'रामा'—पद्मावती सुनकर वह रावण सा होकर गरज उठा—रमणीय रसिक सा बनकर ! सुन्दरी पद्मावती की बाँह पकड़कर उसे सेज पर खींच लाया। रानी ने अपने को अंचल की ओट में छिपाया—लाजवन्ती होकर मनमें वह सुन्दरी बाला सकुचा रही थी, डर रही थी, झिझक रही थी। उसने सलाज कहा कि ओ भिखारी जोगी, निठुराइ से यों मेरी बाँह न पकड़ ! हे जोगी, तेरी चेली या पत्नी तुझसे अलग होती है क्योंकि तेरे तन से नीरस भात की दुर्गन्ध आती है। तेरी भस्मी को देखकर मुझमें अस्पृश्यता जागृत हो रही है। इस प्रकार कहता काँपता हुआ मानों चाँद राहु के आगे से भाग रहा था। पद्मावती ने कहा कि हे जोगी, तेरा शरीर तपस्वी का है। उसकी ज्वलित छाया मेरे अंगों पर पड़ना चाहती है, मुझे जलाना चाहती है। तू तो जोगी है; द्वार-द्वार जाकर माँग ! यहाँ आकाश पर चढ़कर तूने माँगना सीखा है—तुच्छ कहीं का !

रानी ने कहा, कोई भी जोगी भिखारी राज मन्दिर में प्रविष्ट होने का अधिकारी नहीं हो सकता। वह द्वार पर खड़ा होकर कुछ भिक्षा माँगता है।

शब्दार्थ—सुद्ध = चेत। रामा = स्त्री, सुन्दरी पद्मावती। गही = पकड़ी। बार

=दरवाजा। पैसे=प्रविष्ट होने का।

(३०५)

अनु तुम्ह कारन पेम पियारी। राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी॥
नेह तुम्हार जो हिए समाना। चितउर माँह न सुमिरेउँ आना॥
जस मालति कह भँवर बियोगी। चढ़ा बियोग चलेउँ होइ जोगी॥
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी। दीप पतंग होइ अँगएउँ आगी॥
भँवर खोजि जस पावै केवा। तुम्ह काँटे मैं जिव पर छेवा॥
एक बार मरि मिलै जौं आई। दोसरि बार मरै कत जाई॥
कत तेहि मीचु जो मरि कै जिया। भा अम्मर मिलि कै मधु पिया॥
भँवर जो पावैं कँवल कहँ बहु आरति बहु आस।
भँवर होइ नेवछावरि कँवल देइ हँसि बास॥३०५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे प्राण प्रिये, नाराज़ न हो! तुम्हारे ही प्रेम के कारण तो मैं राज्यपाट छोड़कर भिखारी बना हूँ। तुम्हारा प्यार मेरे हृदय में बसा तो मैंने चित्तौड़ में भी किसी दूसरी स्त्री का स्मरण नहीं किया। जिस प्रकार मालती के लिए भौंरा वियोगी बनता है, उसी प्रकार मुझ पर तुम्हारा वियोग चढ़ा और मैं जोगी बनकर वहाँ से चल पड़ा।

हे सुंदरी, मैं तुम्हारे ही लिए भिखारी बना हूँ। दीपक का परवाना बनकर मैंने प्रेम की आग तुम्हारे ही लिए अंगीकार की है। जैसे भौंरा खोज करके कमल को पाता है, इसी प्रकार तुम्हें पाने के लिए मैंने हृदय पर काँटे छाए हैं। एक बार मर कर जो प्रियतम से आ मिलता है, वह दूसरी बार कहाँ, किस पर क्यों मरने जाय? उसे मौत कहाँ? जो मरकर पुनः जिया है, वह तो अमर हो जाता है, और अपने प्रेमी से मिलकर मधुपान करता है।

भँवर यदि अत्यन्त दुःख और आशा के साथ कमल को प्राप्त करता है तो वह उस पर न्यौछावर हो जाता है। और वह कमल भी उसे खिलकर-खुलकर रस-गंध प्रदान करता है।

शब्दार्थ—अनु=पक्ष में। अँगएउँ=अंगीकार। केवा=कमल। छेवा=छाए।

(३०६)

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होंहि नहिं राजा॥
हौं रानी तू जोगि भिखारी। जोगिहि भोगिहि कौन चिन्हारी॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तूं भिखारि केहि माहँ अकेला॥
पवन बाँधि उपसवहिं अकासाँ। मनसहिं जहां जाहिं तेहि पासाँ॥
तैं तेहि भाँति सिस्टि यह छरी। एहि भेस रावन सिय हरी॥
भँवरहि मींचु नियर जब आवा। चम्पा बास लेइ कहँ धावा॥

दीपक जोति देखि उजियारी। आइ पतंग होइ परा भिखारी।।
रैनि जो देखिअ चंद मुख मकु तन होइ अनूप।
तहूँ जोगी तस भूला भै राजा के रूप।।३०६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती बोली कि हे योगी, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना शोभा नहीं देता। जोगी कभी कहीं पर भी राजा नहीं हो सकता। तू झूठ कहता है कि मैं राजा था। मैं रानी हूँ और तू भिखारी जोगी है। जोगी और भोगी में भला कैसी जान-पहचान ? सभी जोगी ऐसा कपट खेलते हैं। तू क्या उन भिखारियों में कोई अकेला है ? आशय यह है कि तू भी कपटी है। पद्मावती कहती है कि जोगी तो श्वाँस रोककर प्राणायाम द्वारा आकाश में चले जाते हैं, और जिसके पास जाने की कामना करते हैं उसी के पास पहुँच जाते हैं। इसी कौतुक से तूने भी इस दुनिया को छला है। तेरे जैसे ही इस कपटी वेश में तो रावण ने सीता को छलकर हरा था। पर जब भौंरे का अंत समय निकट आता है तो वह चम्पा की गंध लेने भागता है। आशय यह है कि हे कपटी योगी, तेरा भी अंत निकट है जो मेरे पास प्रणय-केलि करने आया है। दीपक की उज्ज्वल लौ पर लालायित होकर पतिंगा उससे आलिंगन हेतु भिखारी बनकर गिरता है, पर जल-मिट जाता है।

रात्रि को चन्द्र का मुख देखकर कोई यह समझ लेता है कि सम्भवतः मेरा भी वैसा ही शरीर का सुन्दर रूप अनूप है; अतः वह उसका समागम करना चाहता है। इसी प्रकार तू जोगी भी मेरे रूप पर भरमाया, अतः राजा के सुन्दर रूप का कपट धरकर मुझसे विहार करने आया है। पर तू राजा नहीं हो सकता, तेरी कामना और तेरा कपट मैं पूर्णतः समझ गई हूँ।

शब्दार्थ—छाजा=शोभा देना। चिन्हारी=पहचान। छन्द=धोखा। उपसवहिं=चले जाना। मनसहि=कामना करना। छरी=छली। मकु=सम्भवतः,शायद।

(३०७)

अनु धनि तूँ ससिअर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तूँ छाहाँ।
चाँदहि कहाँ जोति ओ करा। सुरज कि जोति चाँद निरमरा।।
भँवर बास चंपा नहिं लेई। मालति जहाँ तहाँ जिउ देई।।
तुम्ह निति भएउ पतंग कै करा। सिंघल दीप आइ उड़ि परा।।
सेएउँ महादेव कर बारू। तजा अन्न भा पवन अधारू।।
तुम्ह सों प्रीति गाँठि हौं जोरी। कटै न काटे छुटै न छोरी।।
सीय भीख रावन कहँ दीन्ही। तूं असि निठुर अँतरपट कीन्ही।।
रंग तुम्हारे रातेउँ चढ़ेउँ गँगन होइ सूर।
जहँ ससि सीतल कहँ तपनि मन इंछा धनि पूर।।३०७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे प्रिये, प्रसन्न हो। सचमुच तुम रात्रि में चन्द्र के समान सुन्दर

हो और मैं दिवस का मार्तण्ड हूँ, जिसकी तुम छाया हो। चन्द्र में अपनी ज्योति और कला भला कहाँ है ? सूर्य की ज्योति से ही चाँद निर्मल प्रतीत होता है। सचमुच, भँवरा चम्पा की सुगन्ध नहीं लेता, वह तो जहाँ मालती होती है वहीं अपना प्राण न्योछावर करता है। तुम्हारे ही लिये तो मैंने पतंगे की कला की है, और जलने के हेतु तुम्हारे स्थान सिंघलद्वीप में उड़कर आ गिरा हूँ। यहाँ महादेव के मढ़ द्वार की सेवा की, अन्न छोड़ा और सिर्फ वायु खाकर रहा। मैंने तुमसे प्रीति की ग्रंथि जोड़ी है जो न अब काटे से कटेगी और न खोले से खुलेगी। देख, सीता ने तो रावण को भी भीख दी थी, किन्तु तू ऐसी निठुर क्यों कि बीच ही में परदा डाल दिया ? तात्पर्य यह है कि जो द्वार पर माँगने आया है, तूने किस तरह उसे दुत्कारा है ?

हे पद्मा, मैं तुम्हारे प्रेम-रँग में रँग चुका हूँ। सूर्य बनकर आकाश मार्ग से चढ़कर तुम्हारे यहाँ तक आया हूँ। भला जहाँ शीतल चन्द्र है वहाँ ताप कहाँ ? अतः हे रानी, मेरी मनोकामना पूरी करो—प्रणय दान दो ?

शब्दार्थ—ससिअर=चन्द्र। दिनअर=सूर्य। करा=कला। निरमरा=निर्मल। बास=गन्ध। जिउ=प्राण। निति=लिये। अंतरपट=बीच का परदा।

(३०८)

जोगि भिखारि करसि बहु बाता। कहेसि रंग देखौं नहिं राता॥
कापर रँगे रंग नहिं होई। हिएँ औटि उपनै रँग सोई॥
चाँद के रंग सुरुज जौं राता। देखिअ जगत साँझ परभाता॥
दगध बिरह निति होइ अँगारू। ओहि की आँच धिकै संसारू॥
जौं मजीठ औटैं औ पचा। सो रँग जरम न डोलै रँचा॥
जरै बिरह जेउँ दीपक बाती। भीतर जरै उपर होइ राती॥
जर परास कोइला के भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू॥
पान सुपारी खैर दुहुँ मेरैं करैं चक चून।
तब लगि रंग न राचै जब लगि होइ न चून॥३०८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती बोली कि हे भिखारी जोगी, तू बातें बनाने में बड़ा चतुर है। तू प्रेम-रँग की बात तो कहता है किन्तु मैं तुझे उस रंग में रंजित नहीं देखती। कपड़े रंग लेने से प्रेम का रंग नहीं चढ़ता। प्रेम का रंग वही है जो हृदय में औटे—पैदा हो। जब चन्द्र के प्रेम-रँग में सूर्य रंजित हुआ तभी उसे यह संसार, सायं-प्रातः में रक्त-रंजित दिखता है। विरह से दग्ध होने के लिये वह अँगारा बनता है और उसी की उस अग्नि से यह संसार नित्य धधकता है, प्रकाश पाता है। जब मजीठ औंट कर पच जाता है, तब उसका पक्का रंग ज़रा भी जीवन भर नहीं छूटता। विरह में इस भाँति जला जाता है जैसे कि दीपशिखा—जो भीतर-भीतर जलती है पर ऊपर रक्तिम दमकती है। जब पलाश जलकर कोयला-सा हो जाता है तब वह फूलता है और टेसुओं मे रक्तमय होता है।

भले ही पान के साथ सुपारी और कत्था को मिलाकर चूरन करदो, तथापि उसमें रंग तब तक ज़रा भी नहीं आता जब तक चूने को न मिलाया जाय। आशय यह है कि प्रेम में तपन और साधना आवश्यक है।

शब्दार्थ—कापर=वस्त्र। उपनै=पैदा होवे। राता=रक्तिम। परभाता=प्रातः। दगध=जलन। धिकै=तपती है। परास=टेसू वाला पेड़। चकचून=चूर-चूर। चून=चूना या आटा।

(३०९)

धनिआ का सुरंग का चूना। जेहि तन नेह दगध तेहि दूना।।
हौं तुम्ह नेहुँ पियर भा पानू। पेंड़ी हुत सुनि रासि बखानू।।
सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।।
करभँज किंगरी लै बैरागी। नेवती भएउँ बिरह की आगी।।
फेरि फेरि तन कीन्ह भुँजौना। औटि रकत रँग हिरदै औना।।
सूखि सुपारी भा मन मारा। सिर सरौत जनु करवत सारा।।
हाड़ चून भै बिरह जो डहा। सो पै जान दगध इमि सहा।।
कै जानै सो बापुरा जेहि दुख अैस सरीर।
रकत पियासे जे हहि का जानहिं पर पीर।।३०९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे प्रिये, प्रेमी के लिये क्या रक्तिमता और क्या चूना? यह नही, वरन् जिसके शरीर में प्रेम रम चुका है वह तो दुगना दहता है। देखो, मैं तुम्हारे प्रेम में पड़ कर पान-सा पीला पड़ गया हूँ। मैं तो पेड़ी का पुराना पान था किन्तु तोते ने तुम्हारा सुन-रास जैसे नव उत्तम पान के रूप में बखान किया—तुम्हें अति सुन्दरी कहकर मुझे उकसाया। तुम्हारे सिंहल या संसार के उस बड़ौना (पान) को सुनकर मैंने योग धारण कर लिया और अपने शरीर को गड़ौना—जर्जर गड़े हुए पान जैसा बना डाला। किंगरी लेकर वैरागी बना और करभँज पान बना। फिर विरह से दग्ध होकर नेवती पान बना। अपने शरीर को बारम्बार विरहाग्नि में फिरा-फिराकर भुंजौने पान सा बना दिया। रक्त उबलकर हृदय में जम गया—कत्था बन गया। मन को चारों ओर से मारकर उसे सुपारी सा नीरस बना डाला। मैंने सिर पर मानो सरोते की तरह आरा भी धारण किया। विरह में जो जला तो हाड़ जलकर चूना बन गए। इस विरह-दाह को वही जान सकता है जिसने इसे सहा है—तुम क्या जानो!

हे पद्मा, या वह विचारा इस विरह-व्यथा को समझ सकता है जिसके शरीर में ऐसा दुख बसा है। जो रक्त पिपासु हैं, वे दूसरे की पीड़ा को क्या समझें-समझाएँगे?

शब्दार्थ—पियर=पीला। पेंडी, सुनारसि, बड़ौना, करभँज=पानों की जातियाँ।

(३१०)

जोगिन्ह बहुतै छंद ओराहिं। बुंद सेवातिहि जैस पराहीं॥
परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुँह मोंती होहीं॥
परै पहुमी पर होइ कचूरू। परै केदली महँ होइ कपूरू॥
परै मेरु पर अंब्रित होई। परै नाग मुख बिख होइ सोई॥
जोगी भँवर न थिर ये दोऊ। केहि आपन भए कहै सो कोऊ॥
एक ठाँउ वै थिर न रहाहीं। भखु लै खेलि अनत कहँ जाहीं॥
होइ गिरिही पुनि होंहि उदासी। अंत काल दुनहूँ बिसवासी॥
तासौं नेह जो दिढ़ करै थिर आइहि सहदेस।
जोगी भँवरु भिखारी इन्द ते दूर अदेस॥३१०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती बोली कि जोगियों से बहुत से छल-कपट निकलते हैं। इसी प्रकार, जैसे कि स्वाती नक्षत्र से बूँदें टपकती हैं। वे बूँदें जो समुद्र में गिरकर खारा जल, सीप में मोती, पृथ्वी पर कचूर, केले के भीतर कपूर, मेरु पर अमृत और नागमुख में गिरकर विष हो जाती है। जोगी और भौंरे की गति एक सी होती है, ये दोनों कभी कहीं स्थिर नहीं रहते। कोई कहे कि ये किसी के अपने हुए हैं? क्योंकि ये कभी एक स्थान पर स्थिर ही नहीं रहते। अपनी भिक्षा लेकर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं। कभी गृहस्थी होकर फिर उदासी-संन्यासी बन जाते हैं। अन्त में भौंरा और जोगी—ये दोनों ही विश्वासघात करते हैं।

प्रेम उससे करे जो दृढ़ रक्खे और स्थिरता से प्रिय के स्वदेश में रहे। जोगी, भँवरा भिखारी—इन्हें तो दूर से ही प्रणाम करना अच्छा।

शब्दार्थ—छंद=छल कपट। ओराही=निसृत होते हैं। सेवतिहि=स्वाती की बूँदें। पराही=पड़ती है। खार=खारा। पुहुमी=पृथ्वी। बिख=विष। थिर=स्थिर। आपने=अपने। भखु=भिक्षा। गिरही=गृहस्थ। बिसवासी=विश्वासघाती। दुनहूँ=दोनों। दिढ़=दृढ़। सहदेस=एक ही देश, स्वदेश में। अदेस=प्रणाम।

(३११)

थल-थल नग न होइ जेहि जोती। जल-जल सीप न उपनें मोंती॥
बन बन बिरिख चँदन नहिं होई। तन तन बिरह न उपजै सोई॥
जेहि उपना सो औटि मर गएऊ। जरम निनार न कबहूँ भएऊ॥
जल अंबुज रबि रहै अकासा। प्रीति तो जानहुँ एकहि पासा॥
जोगी भँवर जो थिर न रहाहीं। जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं॥
मैं तुइ पाए आपन जीऊ। छाँड़ि सेवातिहि जाइ न पीऊ॥
भँवर मालती मिलै जौं आई। सो तजि आन फूल कत जाई॥
चंपा प्रीति जो बेलि है दिन दिन आगरि बास।
गरि गुरि आपु हेराइ जौं मुएहु न छांड़ै पास॥३११॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मा, ज्योतिर्मान नग हर स्थान पर तो नहीं होता। मोती प्रत्येक जल की सीपी में पैदा नहीं होता। प्रत्येक वन में चंदन वृक्ष नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्येक काया में समान विरह उत्पन्न नहीं होता। जिस काया में विरह पैदा होता है, विरही उसके उबाल में उबलकर मर जाता है। फिर जीवन भर उससे छुटकारा पाकर नहीं रह सकता। कमल जल में और सूर्य आकाश में रहता है, किन्तु दोनों में प्रेम है; अतः उन्हें सदा निकट ही समझो। जोगी और भौंरे—जो एक स्थान पर नहीं ठहरते, वह इसलिये कि जिसे खोजते फिरते हैं उस प्रियतम को पा नहीं पाते। पद्मा, मैंने अपना प्राण तुझमें पा लिया है। प्रेमी चातक अपनी स्वाति का जल छोड़कर कहीं अन्य स्थान पर नहीं जाया करता। प्रिय मिलन्द, जब अपनी मालती प्रिया से मिल जाता है तो फिर उसे छोड़कर किसी अन्य कलि-कुसुम के पास भला क्यों जाय ?

चंपा सदृश जो प्रीति की लता है, उसकी वास दिन-प्रति-दिन बढ़ती है। चाहे भौंरा अपना अपनापन ही उसमें गल-घुलकर खोदे पर फिर भी अंत समय तक उसके सामीप्य से जुदा नहीं होता।

विशेष—प्रस्तुत पद में आत्मा की परमात्मा के प्रति चिर-प्रीति और एकता का भाव अत्यन्त काव्य रीति से व्यक्त है। इसी भाव से मिलती-जुलती, महान दार्शनिक रामकृष्ण परमहंस की यह अभिव्यक्ति देखिए—

"तुम्हें देखें तो फिर गैरों को किन आँखों से हम देखें।
ये आँखें फूट जायें गरचे इन आँखों से हम देखें।"

शब्दार्थ—सरल है।

(३१२)

अैसें राजकुँवर नहि मानौं। खेलु सारि पाँसा तौ जानौं॥
कच्चे बारह बार फिरासी। पक्के तौ फिरि थिर न रहासी॥
रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरह रहै सो राखा॥
सतएँ ढरै सो खेलनिहारा। ढारू इग्यारह जासि न मारा॥
तूं लीन्हे मन आछसि दुवा। औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा॥
हौं नव नेह रचौं तोहि पाहाँ। दसौं दाँउ तोरे हिय माहाँ॥
पुनि चौपर खेलौं कै हिया। जो तिरहेल रहै सो तिया॥
जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि अंत तंत तेहि निंत।
तेहि मिलि बिछुरन को सहै बरू बिनु मिलें निचित॥३१२॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

पद्मावती बोली कि हे राजकुँवर ! मैं इस प्रकार की इन चिकनी-चुपड़ी बातों से नहीं मानूँगी। मेरे साथ में गोट, पासाँ, अर्थात् चोपड़ का खेल खेले तो जानूँ ? देख, कच्चे बारह का दाँव पड़ने मे तू बारह शै या घर चल सकेगा। यदि पक्के बारह पड़े तो तू फिर

न रुकेगा। तू आठ दाँवों पर नहीं टिकता; उन्हें अठारह बतलाता है। सोलह और सत्रह के दाँव पड़ें तो वे खिलाड़ी को बचा लेते हैं। सात पाँच पड़ने पर खिलाड़ी हार जाता है। ग्यारह का दाँव अगर तू पा ले तो तेरी गोट-चाल नहीं पिट सकती। तू खेल में मन लगाकर भी केवल दुआ मांगता है, और उसके आधार पर ही तू दो गोटें चलाना चाहता है। पर मैं तो तेरे लिए नौ का शुभ दाँव डालना चाहती हूँ। किन्तु तेरे मन में दसवें दाँव की लालसा है। फिर भी हृदय से साहस कर, मैं तेरे साथ चौपड़ खेलना चाहती हूँ। जो तीन बाजी खेलेगा वह तीन-तीन का दाँव जीतेगा। आशय यह है कि जो बराबर खेल होने पर भी तीन बाजी खेलता रहे वह कभी-न-कभी विजेता तो होगा ही। आशय यह है कि तू मेरे साथ प्रणय संभोग की चौपड़ खेलता रह।

जो खेल में अथवा प्रेम में जोड़ी मिलाकर बिछुड़ता है वह विछोह पीड़ाजनक होता है। ऐसा होने से फिर जी में उसी खेल की कामना बनी रहती है। जोड़ी मिलाकर खेल खेलने से और फिर बिछुड़ने से तो यह अच्छा है कि जोड़ी मिलाई ही न जाय, ताकि प्रत्येक जिन्दगी की गोट अकेली ही रहे, चले—निश्चिंत, एकान्त !

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने चौपड़ के खेल के माध्यम से एक आध्यात्मिक रूपक भी रचा है। दो खिलाड़ी प्रेमी है, चौपड़ उनका जीवन, गोटें, पाँसे और मोहरे आदि प्रेम के उपकरण हैं। साधक प्रेमी अथवा खिलाड़ी को आध्यात्म-प्रेम के चौपड़ खेल का पूर्ण ज्ञान होना अपेक्षित है। अष्ट-चक्र, नव-चक्र, इन्द्रियाँ, माया आदि प्रयोग यहाँ इसी तथ्य की पुष्टि में है। सबसे विशेष बात यह है कि इस पद में जायसी ने प्रेम, काम एवं आध्यात्म तत्वों का बड़े कौशल से निरूपण किया है। चौपड़ के खेल में प्रणय संभोग क्रीड़ा की बाजी लगना भी व्यंजित है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरल है।

(३१३)

बोलौं बचन नारि सुन साँचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा॥
यह मन तोहि अस लावा नारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पेंत जिउ लावौं॥
मारि सारि सहि हौं अस रांचा। तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा॥
पाकि गहै पै आस करीता। हौं जीतेहु हारा तुम्ह जीता॥
मिलि कै जुग नहिं होउँ निनारा। कहाँ बीच दुतिया देनिहारा॥
अब जिउ जरम जरम तेहि पासा। किएउँ जोग आएउँ कबिलासा॥
जाकर जिउ बसै जेहि सेतें तेहि पुनि ताकरि टेक।
कनक सोहाग न बिछुरै अवटि मिलै जौ एक॥३१३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मावती, मेरे सत्य वचन सुनो ! पुरुष का मुँह से वचन कह देना ही उसकी पूरी त्रिवाचा, शपथ अथवा प्रतिज्ञा समझो। हे प्रिये ! यह मन तुझ पर

इतना अनुरक्त है कि चाहता हूँ बस रात दिन तेरे ही पास बैठा रहूँ, पाँसा फेंकूँ, चौपड़ खेलता रहूँ। मैं यह मानता हूँ कि पौ-बारह का शुभ दाँव मिले। मेरी इच्छा यह है कि शुरू से अन्त तक जी भर कर प्राणपण से चौपड़ के घरों में खेलता हुआ अन्त करूँ। मैं गोटों की मार सहकर ऐसा रंक हो गया हूँ कि बीच के बड़े कोठे तक जाने की कोई शै मेरे नहीं रही है। कुछ गोटों के पक्की हो जाने पर भी मैं यही आशा करता हूँ कि मैं जीत करके भी हार जाऊँ और तुम हारकर भी जीतो! हम दोनों गोटों का मिला हुआ जोड़ा कभी विलग न हो। अब हम दोनों के बीच में द्वैत कौन ला सकता है! अब तो जन्म-जन्म तक मन लसाकर तेरे साथ पाँसा खेलना चाहता हूँ। मैंने कैलाश या अन्तिम लक्ष्य पर आकर तेरे साथ अपना संयोग या जुग बना लिया है।

जिसका मन जिस वस्तु पर होता है उसके साथ उसकी अमरग्रंथि जुड़ जाती है, उसे उसीका सहारा होता है। यदि कंचन और सुहागा औंटकर एक हो जायँ तो फिर अलग नहीं हो सकते। आशय यह है कि पद्मावती और रत्नसेन का प्रणय सम्बन्ध अमर है।

विशेष—पूर्व 'विशेष' की भाँति इसका भी आशय समझें।

शब्दार्थ—सपत=शपथ या त्रिवाचा। निसि=रात। पौ परि बारह= शुभ दाँव। जुग=जोड़ा। निनारा=अलग। दुतिया देनिहारा=दुवातिया, दाँव का खिलाड़ी। अवटि=औंटकर।

(३१४)

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता। निस्चै तूँ मोरे रँग राता॥
निस्चै भँवर कँवल रस रसा। जे जेहि मन सो तेहि मन बसा॥
जब हीरामन भएउ संदेसी। तेहि निति मंडप गइउँ परदेसी॥
तोर रूप देखेउँ सुठि लोना। जनु जोगी तूँ मेलेसि टोना॥
सिद्धि गोटिका दिस्टि कमाई। पारँ मेलि रूप बेसाई॥
भुगुति देइ कहँ मैं तुहि डीठा। कवल नयन होइ भँवर बईठा॥
नैन पुहुप तूँ अलि भा सोभी। रहा बेधि उड़ि सकेसि न लोभी॥
जाकरि आस होइ असि जा कहँ तेहि पुनि ताकरि आसि।
भँवर जो डाढ़ा कँवल कहँ कस न पाव रस बास॥३१४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के प्रेम की बात सुनकर पद्मावती बाला हँस पड़ी। उसने कहा—हाँ, वस्तुतः तुम मेरे प्रेम-रंग में रँग चुके हो। सचमुच भौंरे ने कमल-रस का पान किया है। जिस पर जिसका मन है, वह उसके मन में निवास करता है। जब हीरामन तोता तुम्हारा प्रेम-संदेश लेकर आया तो तुम्हारे मिलन-उद्देश्य के लिए हे परदेशी! मैं नित्य मंडप गई थी—मन से, कर्म से, वचन से! तुम्हारे महान स्वरूप को जबसे मैंने देखा तबसे हे योगी! मुझे ऐसा लगा कि तुमने मेरे ऊपर कोई प्रबल टोना कर दिया हो। तुमने अपनी सिद्ध-गुटिका से मेरी दृष्टि को स्ववश कर लिया। फिर सिद्ध पारद के द्वारा तुमने अपने रूप की

छटा मेरे अंत:करण में प्रविष्ट कर दी। या पारद में अपना रूप मिलाकर, मेरी आँखों के द्वारा उसे मेरे अन्तःकरण में बिठला दिया। मुक्ति प्रदान करने के लिए मैंने तुम्हें देखा था किंतु भँवरा बनकर मेरे कमल-नयनों पर बैठ गये। तुम मेरे नेत्र रूपी पुष्प के ऊपर भौंरा बनकर सुशोभित हुए। तुम उसकी पँखरियों के साथ बिध गए—फिर न उड़ सके।

जिसको जैसी आशा होती है वैसी ही आशा दूसरे को भी उससे होती है। जो भँवरा जिस कमल के प्रेम की ज्वाला में जलकर काला हुआ उस कमल का रस-सौरभ फिर भला वह क्यों न पान करे? आशय यह है कि हे रत्नसेन! तुम मेरा मधु-रस पान अवश्य कर सकते हो! स्वीकृति है!

शब्दार्थ—रसा = पान करना। सिद्धि गुटिका = पारद की गुटिका।

(३१५)

कवनि मोहिनि दहुँ हुति तोहीं। जो तोहि बिथा सो उपनी मोहीं॥
बिनु जल मीन तपी तस जीऊ। चात्रिक भइउ कहत पिउ पीऊ॥
जारिउँ बिरह जस दीपक बाती। पँथ जोवत भइउँ सीप सेवाती॥
डारि डारि जेउँ कोइल भई। भइउँ चकोरि नींद निसि गई॥
मोरें पेम पेम तोहि भएऊ। राता हेम अगिनि जो तएऊ॥
हीरा दिपै जौं सुरज उदोती। नाहि त किस पाहुन कहँ जोती॥
रबि परगासें कँवल बिगासा। नाहि त कित मधुकर कित बासा॥
तासों कवन अंतरपट जो अस प्रीतम पीउ।
नेवछावरि गइ आपु हौं तन मन जोबन जीउ॥३१५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने कहा कि हे प्रिय! मुझ पर न जाने तुमने कौन सा मोहन मंत्र डाला है कि जैसी व्यथा तुम्हें थी वैसे ही मुझमें व्याप्त हो गई है। जिस प्रकार जल से बिछुड़कर मछली तड़पती है उसी तरह मेरा प्राण तड़पता है। मैं चातक बनी 'प्रिय-प्रिय' की रट लगाने लगी। मैं विरह में यों जली ज्यों दीपक की बत्ती जलती है। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में पंथ निहारते-निहारते इस प्रकार व्यथित हो गई जैसे स्वाती के लिए सीप होती है। मैं डाल-डाल पर उड़ने भटकने वाली व्यथित बुलबुल के समान हो गई। मैंने चकोरी-सी बनी तुम्हारे लिये रात्रि की नींद भी खो दी। मेरे इस प्रेम ने तुम्हारे मन में भी प्रेमांकुर बो दिया, जो स्वर्ण, अग्नि में तपाया गया, वह स्वयं भी लाल, शुद्ध—कुन्दन बन गया। अर्थात्, हे रत्नसेन! तुम मुझ जैसा हुए और मैं तुम जैसी। ज्यों सूरज की चमक से हीरा चमकता है वैसे ही मेरी भी दशा हो गई। अन्यथा कहाँ पत्थर और कहाँ हीरे की चमक? सूर्य के प्रकाशित होने पर ही कमल खिलता है, नहीं तो उसके लिए कहाँ भौंरे आते, कैसी उसमें सुगंध होती? आशय यह है कि रत्नसेन के संयोग से ही पद्मावती में रूप गुण-सौरभ और प्रकाश के तत्व फूटे।

पद्मावती कहती है कि उस ऐसे प्रियतम से क्या अन्तरपट या भेद जो इतना महान

है, जैसे कि तुम हो ? तन, मन, प्राण और यौवन—अपना सर्वस्व देकर हे प्रिय, मैं तुम पर न्यौछावर हो गई हूँ—अर्चित हो गई हूँ ।

शब्दार्थ—उपनी=पैदा हुई । चात्रिक=चातक । सेवाती=स्वाती । जोवत=ताकते हुए । हेम=स्वर्ण । तएउ=तपने पर । दिपै=चमके । उदोती=प्रकाश । पाहन=पत्थर । परगारें=प्रकाशित होने पर । बिगासा=खिलना ।

(३१६)

कहि सत भाउ भएउ कँठलागू । जनु कंचन मों मिला सोहागू ॥
चौरासी आसन बर जोगी । खट रस बिदक चतुर सो भोगी ॥
कुसुम माल असि मालति पाई । जनु चंपा गहि डार ओनाई ॥
करी बेधि जनु भँवर भुलाना । हना राहु अर्जुन के बाना ॥
कंचन करी चढ़ी नग जोती । बरमा सौं बेधा जनु मोती ॥
नारँग जानुँ कीर नख देई । उधर आँबु रस जानहु लेई ॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा । कुदहि कुरुलहि जनु सर हंसा ॥
रही बसाइ बासना चोवा चंदन मेद ।
जो असि पदुमिनि रावै सो जानै यह भेद ॥ ३१६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पूर्व प्रणय का वास्तविक भाव प्रकट करने के उपरान्त पद्मावती एवं रत्नसेन दोनों में परस्पर कंठ से आलिंगन हुआ—हृदय से हृदय मिले, मानो सोने में सुहागा मिला हो । कविवर जायसी कहते हैं कि रत्नसेन को योग के चौरासी आसनों (रतिभोग करने के भी चौरासी आसन हैं ।) का बल था और वह भोग के छः रस के आस्वादन लेने में भी चतुर था । उसने पद्मावती को इस प्रकार आलिंगन में लिया मानो मालती की पुष्पमाला पहनी हो; अथवा चम्पा की डाल थामकर अपने पर झुका ली हो । जिस प्रकार कली को बींधते हुए भौंरा मस्त हो जाता है, उसी प्रकार पद्मावती के साथ संभोग में लीन होते हुए रत्नसेन हो गया । अथवा, जैसे अर्जुन बाणों से राहु बेध करने में संलग्न हुआ उसी प्रकार वह संभोग क्रिया में संलग्न हो गया । पद्मावती रूपी कंचन-कली पर नग रूपी रत्नसेन जड़ जुड़ गया—संभोग के आनन्द का प्रकाश छा गया । उन दोनों का वह आलिंगन ऐसा था मानो बरमे से मोती बींध दिया हो । आशय यह है कि रत्नसेन ने पद्मावती से भरपूर संभोगालिंगन किया । तोते की भाँति रत्नसेन, नारंगी जैसे पद्मावती के स्तनों को नखों से दबा रहा था—घायल कर रहा था और आम्र रस की भाँति उसके मधुर अधरों का पान कर रहा था, चूस रहा था । उस काम क्रीड़ा में उनका सारा पूर्व विरह-दुख नष्ट हो गया । वे परस्पर संभोग करते समय झोंके ले रहे थे—सिसकारी भर रहे थे, मानो सरोवर में हंस विहार कर रहे हों ।

कविवर जायसी लिखते हैं कि उनकी रमण-वासना में चोवा, चंदन और मेद की सुगन्ध रम रही थी । जो ऐसी सुन्दरी पद्मिनी स्त्री से रमण करता है, वही इस रति

आनन्द का रहस्य जानता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने काम क्रीड़ा का एक सजीव चित्र आँक दिया है। एक साथ शृंगार के भावों, अनुभावों एवं संचारी भावों का इतना संगत चित्रण प्रायः कम देखने में आता है। यह समस्त चित्रण काम-शास्त्र के अन्तर्गत यथातथ्य है।

शब्दार्थ—करी = कली। कौतुक केलि = काम क्रीड़ा। कुन्दहि = विलास-क्रीड़ाएँ। करुलहि = प्रणय की मीठी सीत्कार का स्वर। रावै = रमण करना।

(३१७)

चतुर नारि चित अधिक चिहूटै। जहाँ पेम बाँधै किमि छूटै॥
किरिरा काम केलि मनुहारी। किरिरा जेंहि नहिं सो न सुनारी॥
किरिरा होइ कंत कर तोखू। किरिरा किहें पाव धनि मोखू॥
जेहि किरिरा सो सोहाग सोहागी। चंदन जैस स्यामि कँठ लागी॥
गोदि गेंद कै जानहुँ लई। गेंदहुँ चाहि धनि कोंवर भई।
दारिवँ दाख बेल रस चाखा। पिउ के खेल धनि जीवन राखा॥
बैन सोहावनि कोकिल बोली। भएउ बसंत करी मुख खोली॥
पिउ पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चत्रिक भाँति।
परी सो बूंद सीप जनु मोंती हिए परी सुख सांति॥ ३१७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी नायिका भेद वर्णन करते हैं—

जो नारी रति-क्रीड़ा में चतुर होती है वह प्रेमी के हृदय में अधिक समा जाती है। वह जहाँ जिस हृदय में प्रेम जोड़ती है वह हृदय कठिनाई से मुक्त हो पाता है। वह स्त्री मधुमती होती है जो अपने पुरुष के साथ काम केलि-क्रीड़ा करने की अभिलाषिन होती है। उसीसे वह परितृप्त होती है। जिस स्त्री में काम केलि-क्रीड़ा नहीं होती वह सुन्दरी उत्तम नहीं। काम केलि-क्रीड़ा से पति का परितोष होता है। ऐसी क्रीड़ा करके ही स्त्री मुक्ति या परितृप्ति पाती है। जिस नारी में रति-क्रीड़ा का पूर्ण संचार होता है वही सच्ची सौभाग्यवती होती है। अपने पति के कंठ से लिपटी, वह चन्दन सी सुखकर शीतल होती है। गेंद के समान उसका पति उस कोमलांगी को प्यार से गोद में लेता है। ऐसी रमणी कुसम की गेंद से भी अधिक कोमल होती है। उसके साथ रमण करके पति मानो दाड़िम से दंत, अंगूर से अधर, और बेल से स्तन का रस चाखता है। वह रमणी भी अपने प्रियतम के साथ कामक्रीड़ा करती हुई सारी उमरिया व्यतीत करती है। वह सुन्दरी कोकिल-सी कूकने वाली है। मानो बसंत रूपी प्रिय के संभोग से कली जैसी स्त्री पद्मा ने अपना सौन्दर्य संपुट खोल दिया हो।

"प्रिय प्रिय" कहते हुए उस बाला की जिह्वा सूख चली। वह चातक की भाँति उसका नाम रटती थी। अब स्वाति रूप प्रियतम (रत्नसेन) के प्रेम बिन्दु उसको इस प्रकार सहज मिले जैसे सीप के अन्तःकरण में वह गिरकर मोती बन गए हों।—इससे उसके हृदय को सुख सन्तोष प्राप्त हुआ।

विशेष—काम क्रीड़ा का अत्यन्त उद्दीपन-वर्णन है। यहीं "कला कला के लिए" (Arts for arts sake) उक्ति सिद्ध होती है।

शब्दार्थ—चिहूटै=आलिंगन करना, चिपटना। किरिरा=रतिक्रीड़ा। मनुहारी =काम-क्रीड़ा की चाह दृष्टि। दारिवँ=दाड़िमी। दाख=अंगूर। करी=कली।

(३१८)

कहौं जूझि जस रावन रामा। सेज बिधंसि बिरह संग्रामा॥
लीन्ह लंक कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा॥
औौर जोबन मैमंत बिधंसा। बिचला बिरह जीव लै नंसा॥
लूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मंग भंग भे केसा॥
कंचुकि चूर चूर भै ताने। टूटे हार मोंति छहराने॥
बारी टाड सलोनी टूटीं। ताँहू कँगन कलाईं फूटीं॥
चंदन अंग छूट तस भेंटी। बेसरि टूटि तिलक गा मेंटी॥
पुहुप सिंगार सँवारि जौ जोबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हिय लाइ कै मरगज कीन्हें कंत॥३१८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि अब उस ऐसे रति युद्ध का वर्णन भी करता हूँ जैसा कि राम और रावण में हुआ था। पूर्व विरह के कारण रुका हुआ जो मिलन का उन्माद था, अतः अब पारस्परिक विरह-मिलन के युद्ध में शैय्या खण्डित होगई। आशय यह है कि रत्नसेन और पद्मावती, दोनों ही ने जी भरकर रति क्रिया भोगी, जिसके कारण सेज का टूट जाना स्वाभाविक ही था। रत्नसेन ने पद्मावती की कमर (या लंक) को अपने भुजपाशों में जकड़ लिया और तव इस रमणी का शरीर रूपी वह स्वर्णगढ़ टूट गया। उसका जितना भी किया हुआ शृङ्गार था इस क्रिया में अस्तव्यस्त हो गया—उसे रत्नसेन ने लूट लिया। मदमत्त यौवन बिखर-बिखर गया। आज पिछला जितना मध्यस्थ विरह था, वह प्राण बचाकर भागा। पद्मा के अंग-अंग का सौन्दर्य-शृङ्गार लुट गया। माँग लुप्त होगई, केश-राशि बिखर गई। कसी हुई चोली के बंध टूक-टूक होगए। हार टूट गए, उनके मोती बिखर गए। बालियाँ और सुंदर टड्डे टूट गए। बाजूबंध टूटा; और कलाई के कंगन भी टूट गए। इस समागमों से अंग का चंदन लेप छुट गया। नाक की बेसर टूटी, और मत्थे का तिलक पुँछ गया।

कविवर जायसी लिखते हैं कि उस बाला ने नवयौवन के बसंत में जो साज-शृंगार किया था उसे उसके पति ने रतिमर्दन से, अरगजे की भाँति अपने हृदय पर लगाकर मींड़ दिया। आशय यह है कि रत्नसेन ने पद्मावती के सारे शृङ्गारों को रति-मर्दन द्वारा अपने हृदय में व्याप्त करके सुख पाया।

शब्दार्थ—लंक=लंका या कटि प्रदेश। मैमंत=मदमत्त। विधंसा=खण्डित। मरगजा=रतिक्रिया से मसला हुआ।

(३१९)

बिनती करै पदुमावति बाला । सो धनि सुराही पीउ पियाला ।।
पिउ आएसु माँथे पर लेऊँ । जौं मागै नै नै सिर देऊँ ।।
पँ पिय बचन एकु सुनु मोरा । चाखि पियहु मधु थोरइ थोरा ।।
पेम सुरा सोई पै पिया । लखै न कोइ कि काहूँ दिया ।।
चुवा दाख मधु सो एक बारा । दोसरि बार होहु बिसँभारा ।।
एक बार जो पी कै रहा । सुख जेंवन सुख भोजन कहा ।।
पान फूल रस रंग करीजै । अधर अधर सों चाखन कीजै ।।
जो तुम्ह चाहहु सो करहु नहिं जानहु भल मंद ।
जो भावै सो होई मोहि तुम्हहि पै चहौं अनन्द ।।३१९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती बाला विनती करने लगी—स्त्री एक मदिरा की सुराही है और प्रियतम उसके मधु से भरा जाने वाला प्याला है। मैं अपने प्रियपति की आज्ञा शिरोधार्य करती हूँ। जब जो कुछ वह माँगेगा, सिर झुकाकर उसे दूँगी। किंतु हे प्रियतम, मेरा एक वचन सुनो—प्रेम के मधु का थोड़ा-थोड़ा, बूँद-बूँद करके ही चखते हुए स्वाद लो। प्रेम की मदिरा को वही सच्चे रूप में पीता है कि जिस ढंग से कोई देखकर यह न जान सके कि वह प्रेम-मधु उसे किसने दिया है। अंगूर से जो मधु टपकता है, वह सिर्फ एक बार ही पीने के लिए होता है। यदि उस मधु को दूसरी बार पिओगे तो बेहोश हो जाना होगा। जो एक बार ही पीकर सन्तुष्ट हो जाता है उसी का भोजन और भोज्य सुखमय कहा जाता है। अब लो, पान-फूल से रास-रंग करो और अपने अधरों से मेरे अधरों का रस चूसो—चुम्बन लो।

लो, तुम जो चाहे करो—भला-बुरा कुछ न सोचो, न जानो ! मुझे जैसा भी हो, पर मैं अपने आत्मसमर्पण को देकर तुम्हें आनन्द प्रदान करना चाहूँगी।

विशेष—नारी का सबसे बड़ा दान पुरुष को आत्मसमर्पण देने का है। कामायनी में श्रद्धा ने मनु को ऐसा ही आत्मसमर्पण किया—

"मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ,
इतना ही सरल झलकता है !"

शब्दार्थ—आएसु=आज्ञा। बिसँभरा=बेहोश। होहु—हो जाओगे।

(३२०)

सुनु धनि पेम सुरा के पिएँ। मरन जियन डर रहै न हिएँ ।।
जेंह मद तहाँ कहाँ संभारा । कै सो खुमरिहा कै मँतवारा ।।
सो पै जान पियै जो कोई । पी न अघाइ जाइ परि सोई ।।
जा कहँ होइ बार एक लाहा । रहै न ओहि बिनु ओही चाहा ।।
अरथ दरब सब देइ बहाई । कह सब जाउ न जाउ पियाई ।।

रतिहुँ देवस रहै रस भीजा। लाभ न देख न देखै छीजा ॥
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमरिहा सीतल नीरू ॥
एक बार भर देहु पियाला बार बार को माँग।
मुहमद किमि न पुकारै अैस दाँउ जेहि खाँग ॥३२०॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा कि हे प्रिये ! प्रेम की मदिरा का पान कर लेने पर प्रेमी के मन में जीवन मरण का भय नहीं रहता। जहाँ मद है, वहाँ चेतना कैसी ? पीने वाला या तो मूर्छित रहता है या खुमारी में रहता है। यह रहस्य वही जानता है जो पीता है। वह पीने से नहीं अघाता, भले ही सो जाय, फिर फिर मूर्छित हो जाय। जिसे एक बार मधुपान का चस्का लग जाता है वह उसके बिना रह नहीं सकता—उसी की आकांक्षा में डूबा रहता है। उस मदिरा के लिये वह अपना अर्थ, स्वाभिमान और सर्वस्व खो देता है और कहता है कि भले ही सर्वस्व चला जाय किन्तु पीना न छूटे ! रात दिन वह मधुरस में डूबा रहता है। वह हानि लाभ की ओर नहीं देखता। प्रातःकाल उसका शरीर पीने के लिये स्वस्थ्य हो जाता है। फिर पीकर उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो नशे के उतरते ही, खुमारी में उसे पुनः मदिरा का शीतल जल प्राप्त होगया हो।

हे प्रिये, एक बार ही प्याला लबालब भर दो, ताकि बार-बार तुमसे माँगनी न पड़े। कविवर जायसी कहते हैं कि जिसके पीने का क्रम सहसा टूट गया है वह इस प्रकार मदिरा माँगने की पुकार भला क्यों-कैसे न करे ?

विशेष—यहाँ पीने पिलाने के माध्यम से एक प्रेमी भक्त का हृदय ईश्वर से उसके प्रेम के चिर मधु पान की याचना कर रहा है—"मुझे मधु दो, अपना प्यार दो, संतोष दो।" उमर खैयाम ने भी इसी प्रकार की मधु पाई रट लगाई थी—मस्जिद में, काबे में, कर्बले में !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३२१)

भएउ बिहान उठा रवि साईं। ससि पहँ आई नखत तराईं ॥
सब निति सेज मिले ससि सूरू। हार चोर बलया भे चूरू ॥
सो धनि पान चून भै चोली। रंग रँगीलि निरँग भौ भोली ॥
जागत रैनि भएउ भिनुसारा। हिय न सँभार सोवति बेकरारा ॥
अलक भुअंगिनि हिरदै परी। नारँग ज्यों नागिन बिख भरी ॥
लुरै मुरै हिय हार लपेटी। सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी ॥
जनु पयाग अरइल बिच मिली। बेनी भइ सो रोमावली ॥
नाभी लाभी पुन्य की कासी कुंड कहाउ।
देवता मरहिं कलपि सिर आपुहि दोख न लावहिं काउ ॥३२१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

इधर सवेरा हुआ और सूर्य के समान पद्मावती का पति रत्नसेन सोकर उठा। उधर पद्मावती के पास नक्षत्र और तारिकाएँ जैसी सखियाँ आ धमकीं। रात भर सेज पर सूर्य रूपी रत्नसेन एवं चन्द्र रूपी पद्मावती का समागम हुआ। हार, वस्त्र और चूड़ियाँ आदि शृङ्गार के साधन टूट फूटकर चूर-चूर होगए। जो कुमारी पान की भाँति थी, उसकी चोली अब चूने की भाँति होगई थी। जो रंग-रंगीली मुग्धा थी वह अब भोली-भाली और विवर्ण होगई थी। रात भर जागते रहने से अब जो सवेरा हुआ तो उसका हृदय बेहाल था और वह परेशानी से मानो सुषुप्तावस्था में थी। अलक रूपी एक नागिन उसके वक्षस्थल पर पड़ी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो विष भरी हुई सर्पिणी नारंग फल से लिपटी हो। हृदय के हार से लिपटी बल खाती उसके हृदय पर वह अलक ऐसी ज्ञात होती मानो यमुना का गंगा से मेल हो रहा हो। (क्योंकि 'अलक' काली यमुना सी और हार उज्ज्वल गंगाजल सा।) इससे भी अधिक, मानो यह लगता था कि प्रयाग में अरइल के बीच दोनों का संगम हुआ हो; और नीचे से रोमावली रूपी वेणी सरस्वती जैसी आकर मिली हो। आशय यह है कि अलक, हार और नीचे से आती रोमावली का संगम, यह दृश्य पद्मावती के शृङ्गार की अधिक वृद्धि कर रहा था।

कविवर जायसी कहते हैं कि पद्मावती की नाभि पुण्य के द्वारा प्राप्त होने वाली है, क्योंकि वह काशी कुण्ड जैसी पवित्र कहलाती है। स्वयं देवता भी उस पर अपना शिर बलि चढ़ाकर प्राण देते हैं। किसी को उनकी हत्या का पाप नहीं चढ़ता।

विशेष—'नूर' पर जान देने वाली मान्यता सूफियों के इश्क में पूर्णतः मानी गई है। अंतिम पंक्ति में वही भाव व्यंजना है।

शब्दार्थ—बिहान=सवेरा। वलया=चूड़ी। निरँग=रँगहीन, विवर्ण। भिनुसारा=सवेरा। भुअंगिनि=सर्पिणी। बिख=विष। लुरे-मुरै=लिपटती-बलखाती। कलपि=बलि देकर या काटकर।

(३२२)

बिहँसि जगावहिं सखी सयानी। सूर उठा उठु पदुमिनि रानी॥
सुनत सूर जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधुबासा॥
जनहुँ भाँति बिसयानी बसी। अति बिसँभार फूलि जनु अरसी॥
नैन कँवल जानहुँ धनि फूले। चितवनि मिरिग सोवत जनु भूले॥
भै ससि खीनि गहन असि गही। बिथुरे नखत सेज भरि रही॥
तन न सँभार केस औ चोली। चित अचेत मन बाउर भोली॥
कँवल माँझ जनु केसरि डीठी। जोबन हुत सो गँवाइ बईठी॥
बेलि जो राखी इन्द्र कहँ पवनहुँ बास न दीन्ह।
लागेउ आइ भँवर तहँ करी बेधि रस लीन्ह॥३२२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हँसते हुए चतुर सखियाँ पद्मावती को जगाने लगीं। बोलीं—सूर्य रूपी रत्नसेन

तो उठ गया है, हे पद्मारानी! तुम भी जाग जाओ। सूर्य का नाम सुनते ही मानो कमल खिल गया हो—पद्मावती जाग गई। नेत्र रूपी भौंरे उस कमल रूपिणी का मधु-सौरभ लेने लगे। उसकी दशा ऐसी थी मानो मद से बेहोशी या सुस्ती होने के बाद बासी सी हो चली हो। वह अधिक बेसुध सी थी। अलसाई हुई पद्मावती अलसी के पुष्प की तरह बहुत बेडौल हो रही थी। (यह दशा स्त्री की संभोग के पश्चात होती है।) लगता था कि उसके नेत्रों में कमल फूल रहे थे। उसकी चितवन सोए हुए मृग की भाँति इस समय भी भूली-भूली सी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वह चन्द्ररूपिणी ग्रहण द्वारा ग्रसी गई हो। नक्षत्र जैसे आभूषणों के गिरने से सेज भर गई थी। शरीर, केश और चोली को वह कुछ भी सँभाल नहीं पा रही थी। वह मन से अचेत, पगली और भोली-भाली सी होगई थी। वह कमल के बीच की पीली रज केसर सी दिखलाई पड़ती थी। अपने पास का यौवन वह रात्रि रतिकेलि में गँवा बैठी थी।

जो बेल इन्द्र या इन्द्र जैसे राजा के लिये सुरक्षित थी और वायु भी जिसकी गन्ध को छूने में असमर्थ था, उस पर रत्नसेन रूपी भँवरा लग गया और उस कली को बींध-कर उसका सारा रस पान कर गया।

शब्दार्थ—मधुकर=भौंरा। बसियानी=बासी। माँझ=में। बईठी=बैठी। गहन=ग्रहण। बिथुरे=बिखरे। अरसी=अलसी।

(३२३)

हँसि हँसि पूँछहिं सखी सरेखी। जानहुँ कुमुद चंद मुख देखी॥
रानी तुम्ह ऐसी सुकुमारा। फूल बास तनु जीव तुम्हारा॥
सहि न सकहु हिरदै पर हारू। कैसे सहिहु कंत कर भारू॥
मुखा कँवल बिगसत दिन राती। सो कुँभलानि सहिहु केहि भाँती॥
अधर जो कोंवल सहत न पानू। कैसे सहा लागि मुख भानू॥
लंक जो पैग देत मुरि जाई। कैसें रही जो रावन राई॥
चंदन चोंप पवन अस पीऊ। भइउ चतुर सम कस भा जीऊ॥
सब अरगज भा मरगज लोचन पीत सरोज।
सत्य कहहु पदुमावति सखीं परीं सब खोज॥३२३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सखी सहेलियाँ पद्मावती से हँस-हँसकर रात के समागम की बातें पूछने लगीं—मानो खिली कुमुदिनी चन्द्रमा का मुख मण्डल निहार रही हो। वे बोलीं—हे रानी, तुम तो इतनी कोमलांगी हो कि तुम्हारा प्राण तन में फूलों के सहारे चलता था। तुम तो हृदय पर हार का बोझ भी नहीं सहार पाती थीं। फिर भला बताओ तो, प्रियतम का भार कैसे सहार पाई? तुम्हारा मुख-कमल तो रात-दिन खिला रहता था, आज वह किस भाँति कुम्हलाया है? तुम्हारे जो कोमल ओंठ पान भी नहीं सहार पाते थे भला उन्होंने रत्नसेन के सूर्य-मुख का चुम्बन कैसे सह लिया? तुम्हारी पतली कमर जो पाँव

रखने से मुड़-मुड़ जाती थी भला वह पति के साथ परिरंभण करते समय कैसे ठहरी रही या भोगी गई ? चंदन के और आम के सौरभ-रस का पान करने के लिये जैसे पवन होता है, वैसा ही तो प्रियतम होता है। हे पद्मा ! तू तो चतुरसम द्रव्य के समान सुगंधिमयी थी, फिर प्रियतम के साथ आलिंगन करते समय कैसा जी रहा ?—दुख तो नहीं हुआ ?

शरीर का अगरजा मिट गया। रक्तिम नेत्र पीले कमल जैसे होगए। हे रानी, सच्ची बात बताओ, क्या हुआ ? इस भेद को जानने के लिये सब उत्सुक होने लगीं।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने नारी के सम्भोग सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विषय का स्पष्टीकरण किया है। सुहाग रात के पश्चात नव-वधू से प्रायः सखी-सहेलियाँ इस प्रकार की चर्चा करती हैं। कहा जायगा कि जायसी को लोकपक्ष का व्यवहारिक एवं मनोवैज्ञानिक, काफी अध्ययन था। काम-कला के तो मानो वह अध्येता ही थे "सत्य कहहु" उक्ति से यह स्पष्ट है।

शब्दार्थ—सहिहु=सहा। रावन राई=प्रिय से भोगी जाती हुई। चतुरसम=चन्दन, केसर, कस्तूरी और अगर से बनायी गई सुगंधि।

(३२४)

कहौं सखी आपन सति भाऊ। हौं जो कहति कस रावन राऊ॥
जहाँ पुहुप अलि देखत सँगू। जिउ डेराइ काँपत सब अंगू॥
आजु मरम मैं पावा सोई। जस पियार पिउ और न कोई॥
तब लगि डर हा मिला न पीऊ। भान कि दिस्टि छूटि गा सीऊ॥
जत खन भान कीन्ह परगासू। कँवल करी मन कीन्ह बिगासू॥
हिएँ छोह उपना औ सीऊ। पिउ न रिसाइ लेउ बर जीऊ॥
हुत जो अपार बिरह दुख दोखा। जनहुँ अगस्ति उदधि जल सोखा॥
हौं हूँ रंग बहु जानति लहरैं जेति समुंद।
पै पिय की चतुराई सकिउँ न एकौ बुंद॥३२४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने कहा कि हे सखियो, मैं अपना सत्य अनुभव कहती हूँ। मैं जो सन्देह से कहती थी कि न जाने पति किस भाँति सम्भोग करेगा और इसी भावना में मैं जब भौंरे को फूल के साथ समागम में देखती थी तो मेरा प्राण भयभीत हो उठता था और सारा शरीर कँप-कँप जाता था; उस सबका भेद मैंने अब अनुभव से जाना है। प्रिय जैसा प्यारा लगता है वैसा और कोई नहीं। जब तक प्रिय से समागम का अवसर न मिला था तब तक ही डर लगता था। किन्तु अब सूर्य (प्रिय) की मधुर दृष्टि से कमल का शीत जाता रहा है। जिस क्षण सूर्य ने अपना प्रकाश किया कि कमल की कली मन-ही-मन स्वतः खिल गई। विकसित उर में पूर्व तो प्यार उत्पन्न हुआ और फिर रोमाँच शीत पैदा हुआ। भावना बनी कि चाहे प्रिय आलिंगन में प्राण ही क्यों न ले ले, किन्तु रूठे न। जो अपार विरह-दुःख व्याप्त था, वह लुप्त हो गया, मानो अगस्त ने सागर का जल सोख लिया हो।

पद्मावती कहती है कि मैं भी काम-केलि-क्रीड़ा में बहुत निपुण थी; जैसे समुद्र में अनेक लहरें लहराती हैं। किन्तु प्रियतम की चतुराई के आगे मैं कुछ न कर सकी—मेरी चाल की एक बूंद भी उस प्रिय की चतुराई के आगे कोई रंग न ला सकी। तात्पर्य यह कि मैं उसके परिरंभण में लीन हो गई।

शब्दार्थ—पुहुप=पुष्प। मरम=भेद। पियार=प्यारा। सीऊ=शीत या कम्पन। जतखन=जिस क्षण। परगासू=प्रकाश। बिगासू=खिली। छोह=प्यार। उपना=उत्पन्न हुआ। रिसाइ=रूठे। रंग=कामकेलि-क्रीड़ा।

(३२५)

कै सिगार तापहँ कहँ जाऊँ। ओहि कहँ देखौं ठाँवहिं ठाऊँ॥
जौं जिउ महँ तो उहै पियारा। तन महँ सोइ न होइ निनारा॥
नैनन्ह माँह तौ उहै समाना। देखउँ जहाँ न देखउँ आना॥
आपुन रस आपुन पै लेई। अधर सहँ लागें रस देई॥
हिया थार कुच कंचन लाड़ू। अगुमन भेंट दीन्ह होइ चाड़ू॥
हुलसी लंक लंक सों लसी। रावन रहसि कसौटी कसी॥
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुति गई हेराई॥
जस किछु दीजै धरै कहँ आपन लीजै सँभारि।
तस सिगार सब लीन्हेसि मोहि कीन्हेसि ठठियारि॥३२५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पद्मावती बोली कि हे सखियो, शृङ्गार करके उस प्रियतम के पास किस स्थान पर जाऊँ? अब तो उसीको मैं स्थान-स्थान पर सर्वत्र देख रही हूँ। जो जी में है, बस वही प्राण प्यारा है। शरीर में भी वही है कि जो अलग ही नहीं होता। आँखों में देखो तो वही बसा है। जहाँ देखती हूँ सिवाय उसके और किसी दूसरे को नहीं देखती। मेरे अंतर में समाए अपने रस को वह आप ही पी रहा है, और बाहर मेरे अधरों से लगकर मुझे चुम्बन-रस पिलाता है। आशय यह है कि अन्तरप्राणों में वही प्रियतम है, जो आनन्द का रूप है और बाहर जो आनन्द प्रतीत होता, उस भौतिक आनन्द का भी वही स्त्रोत है। हृदय रूपी थाल में स्तन रूपी सुनहले लड्डू रखकर मैंने चाव से उसके आगे किये और उस प्रियतम से मधुर वचनों के साथ मिलन किया। पुलकित होकर मेरी कटि उसकी कटि से लगकर शोभित हुई। मानो रावण रूपी या रमण करने वाले प्रियतम ने उसको कसौटी पर कसा—संभोग किया। मेरी सारी जवानी उसमें समाहित हो गई। मैं तो जवानी और उसके मध्य में ही आनन्द के मारे अपने को भूल गई।

जैसे कोई कुछ धरोहर धरने के लिए दी जाय और फिर उसे सँभालकर ले लिया जाय उसी प्रकार मेरे प्रियतम ने कुछ शृङ्गार मुझे दे दिया था, जिसे सँभालकर वापस ले लिया। मैं तो केवल थाती को रखने वाली ही रही—अपने में शून्य, रिक्त।

शब्दार्थ—उहै=वही। पियारा=प्रियतम। निरारा=अलग। आना=दूसरा।

सहैं = लगाकर। लंक = कटि। अगुमन = आगे कर। चाड़ू = मृदु वचनों से। रावन = रमण करने वाला प्रिय। हेराइ = खो जाना। ठठियारी = थाती रखने वाली।

(३२६)

अनु री छबीली तोहि छबि लागी। नेत्र गुलाल कंत सँग जागी॥
चंप सुदरसन भा तेहि सोई। सोन जरद जसि केसरि होई॥
पैठ भँवर कुच नारँग बारी। लागे नख उछरे रँग ढारी॥
अधर अधर सों भीज तँबोरी। अलकाउरि मुरि मुरि गौ मोरी॥
रायमुनी तूँ औ रतमुँहि। अलि मुख लागि भई फुलचुही॥
जैस सिंगार हार सों मिली। मालति अैस सदा रहि खिली॥
पुनि सिंगार करि अरसि नेवारी। कदम सेवती पियहि पियारी॥
कुंद करी जहँवा लगि बिगसै रितु बसंत औ फागु।
फूलहु फरहु सदा सखि औ सुख सुफल सोहाग॥३२६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सखियाँ बोलीं कि अरी छबीली, खुश रह, क्या कहने हैं तेरे! सच अब तुझमें छवि आई है। तू रात भर प्रियतम के साथ जागी है, यह तेरे लाल नेत्र कह रहे हैं। तेरा पहला चम्पई रंग ही देखने योग्य था किन्तु अब प्रियतम के मिलने से तू सोने की भाँति केसरिया रंग की हो गई है। वह भौंरा रूप रत्नसेन तेरे नारंगी जैसे कुच की वाटिका में घुसा। मसलने के कारण तेरे कुचों में उसके नख लगे और वे उछल आए हैं,—चिन्हित हैं। अतः तेरा रंग ढल गया है। उसके तेरे अधर से अधर मिले और ताम्बूल के रंग में रंजित हो गए। तेरी सँवारी हुई कुहिल घुंघराली केशराशि अस्त-व्यस्त हो गई। तू राजकुमारी या रायमुनी पक्षी जैसी ठहरी, और रागरंजित मुखी अक्षत यौवनवाली थी, किन्तु प्रेमी भौंरे के मुख से लग जाने के कारण तू अब फुलचुही चिड़िया जैसी लगने लगी है—आशय है कि तेरा स्वरूप रस-चुसी भुक्तयौवना सदृश हो गया है। अब तू अपने श्रृङ्गार हर्ता पति से मिल चुकी है। अब तू मालती पुष्प की भाँति सदा विकसित बनी रह। सोच में न पड़। फिर तू श्रृङ्गार सजा और रति-जन्य आलस्य को दूर कर। पति के चरणों की सेवा करती हुई उसकी प्राणप्रिया बन।

जहाँ तक, जब तक कुन्द की कली खिल रही है वहाँ तक, तब तक बसन्त और फाग की ऋतु है—यौवन का बसन्त तब तक है जब तक केलि-वासना का आलस है। सखियाँ कहती हैं कि हे सखि पद्मा! सदैव खिलो, फलो और तुम्हारा सुख-सुहाग सुफल-सफल हो—तुम सदा सौभाग्यवती बनी रहो।

विशेष—विभिन्न फूलों के वर्ण से अर्थ यहाँ नारी के सम्भोग-क्रिया व्याप्त रंगों से समझें।

शब्दार्थ—कन्त = प्रियतम। चम्प = चम्पा। सुदर्शन = मिलने से। छबीली = चंचल सुन्दरी। रायमुनी = राजा की कन्या, एक सुन्दर चिड़िया। अरसि निवारी =

रति जनित आलस्य को दूर करके।

(३२७)

कहि यह बात सखीं सब धाईं। चंपावति कहँ जाइ सुनाईं।।
आजु निरँग पदुमावति बारी। जीउ न जानहुँ पवन अधारी।।
तरकि तरकि गौ चंदन चोला। धरकि धरकि डर उठै न बोला।।
अही जो करी करा रस पूरी। चूर चूर होइ गई सो चूरी।।
देखहु जाइ जैसि कुँभिलानी। सुनि सोहाग रानी बिहँसानी।।
लै सँग सबै पदुमिनी नारी। आइ जहाँ पदुमवति बारी।।
आइ रूप सबहीं सो देखा। सोन बरन होइ रही सो रेखा।।
कुसुम फूल जस मरदिअ निरंग दीखु सब अंग।
चंपावति भै बारनै चूबि केस औ मंग ।।३२७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती की पूर्वोक्त संभोगादि की बातें सुनकर और पद्मावती को उक्त अशीष देकर सखियाँ भागी गईं और उन्होंने संभोग का सारा वृत्तान्त चम्पावती से जाकर कह दिया। कहा कि आज सुन्दरी पद्मावती विवर्ण हो गई है। मानो उसमें प्राण नहीं हैं, केवल साँसें आ-जा रही हों। उसका चँदनोटा तार-तार हो गया है। डर से उसका हृदय धक-धक कर रहा है और उसके मुख से बोल नहीं निकलता। जो कली मधु रस-सौन्दर्य की कला से पूर्ण थी, वह काम-क्रीड़ा से मर्दित चूर-चूर हो गई है। तुम भी चलकर देखो तो कि वह कैसी कुम्हला गई है। पद्मावती की सखियों से पुत्री का यह सुहाग-संभोग का समाचार सुनकर चम्पावती रानी हँस गई। (चम्पावती को तो चूँकि यह सब पूर्व अनुभव था अतः वह हँस गई।) तत्पश्चात अपने साथ में सारी पद्मिनी नारियों को लेकर वह वहाँ आई जहाँ पुत्री पद्मावती थी। सारी स्त्रियों ने उसका सद्यः-क्षत, सुहागिन का रूप देखा। अब वह स्वर्ण-वर्ण-रेखा सी हो रही थी।

जैसे कुसुम्भे का फूल मसल दिया जाय, इसी प्रकार से पद्मावती के सारे अंग रंग-हीन लगते थे। रानी चम्पावती यह देखकर उस पर बलिहार हो गई और खुशी से भर-कर उसकी काकुल और माँग का चुम्बन किया।

विशेष—भुक्त यौवना का कविवर जायसी ने यहाँ सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। यह कवि की सूक्ष्मदर्शिता और बारीक कला की विशेषता है।

शब्दार्थ—धाई=भागीं। पवन अधारी=साँस आ-जा रही है। तरकि तरकि=फटना, तार तार होना। चन्दन चोला=चंदनौटा। करी करा रस पूरी=मधुरस, सौन्दर्य की कला से पूर्ण। कुसुम=कुसुम्भ। मरदिअ=मसली। निरंग=विवर्ण। बारनै=न्योछावर। चूँबि=चुम्बन। मंग=माँग। केस=काकुल, बाल।

(३२८)

सब रनिवास बैठ चहुँ पासा। ससि मंडर जनु बैठ अकासा।।

बोला सबहि बारि कुँभिलानी। करहु सँभार देहु खँडवानी॥
कोंवलि करी कँवल रँग भीनी। अति सुकुमारि लंक कै खीनी॥
चाँद जैस धनि बैठि तरासी। सहस करा होइ सुरज गरासी॥
तेहि की झार गहन अस गही। भै निरंग मुख जोति न रही॥
दरब उबारहु अरध करेहू। औ लै वारि सन्यासिहि देहू॥
भरि कै थार नखत गज मोंती। वारने कीन्ह चाँद कै जोती॥
कीन्ह अरगजा मरदन औ सखि दीन्ह अन्हान।
पुनि भै चाँद जो चाँदसि रूप गएउ छपि भान॥३२८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सारा रनिवास पद्मावती के चारों ओर बैठ गया। ऐसा प्रतीत होता था मानो चन्द्र आकाश में मण्डल बनाकर बैठा हो। सब बोली,—यह बाला या वाटिका कुम्हला गई है। इसकी सेवा-सुश्रूषा करो और उपचार हेतु खाँड का पानी दो। वह कोमल कमल की कली प्रथम-रंग से रंजित थी। वह अति कोमलाँगी और पतली कमर वाली लग रही थी। चन्द्र जैसी वह बाला संत्रस्त बैठी थी। सूर्य ने अपनी सहस्र रश्मियों से मानो उसे ग्रस लिया था। उसकी लपटों से जैसे वह ग्रहण से गही गई थी। वह विवर्ण हो गई थी और मुख पर कान्ति नहीं रह गई थी। सबने परामर्श दिया—इसके उपचार के लिये द्रव्य का दान करो, और पूजन कराओ और चढ़ावा भिखारियों-सन्यासियों को दान में दो। गज-मोतियों से थाल भरकर सखियों ने उस चंद्र-ज्योति पर फिराया।

सखियों ने पद्मावती के शरीर पर अरगजा का मर्दन किया और उसे स्नान कराया। जो चन्द्र सूर्य के कारण छिप गया था वह फिर पूर्णमासी का चन्द्र-सा चमकने लगा—पद्मावती स्वस्थ हुई।

शब्दार्थ—बारि = बाला, बाटिका। दरब = द्रव्य। तरासी = संत्रस्त। गरासी = ग्रसी। अरघ = पूजन। वारने = चढ़ावा किया। अन्हान = स्नान। चौदसिरूप = पूर्ण चन्द्र का रूप। भान = सूर्य।

(३२९)

पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे॥
फुँदिया और कसनिआ राती। छाएल पंडुआए गुजराती॥
चँदनौटा खीरोदक फारी। बाँस पोर झिलमिल की सारी॥
चिकवा चीर मेघौना लोने। मोंति लाग औ छापे सोने॥
सुरंग चीर भल सिंघल दीपी। कीन्ह छाप जो धन्नि वै छीपी॥
पेमचा डोरिआ औ बीदरी। स्याम सेत पियरी औ हरी॥
सातहुं रंग जो चित्र चितेरी। भरि कै डीठि जाहि नहिं हेरी॥
पुनि अभरन बहु काढ़ा अनबन भाँति जराउ।
फेरि फेरि निति पहिरहि जैस जैस मन भाउ॥३२९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वस्त्र बुनने वालों ने लाकर विभिन्न प्रकार के वस्त्र खोल और प्रस्तुत किये। वे साड़ी, कंचुकी और विवाह के रेशमी लहँगे थे। फुँदनेदार नीवीबंध और लाल अँगियाँ थीं। गुजराती और बंगाली छपे हुए छाएल अर्थात सूती छपे हुए वस्त्र थे। चँद-नौटा और खीरोदक नामक वस्त्र के बने विशेष लँहगे (फरिया) थे। बाँस पोर और झिलमिल (मलमल) की महीन साड़ियाँ थीं। सुन्दर चिकवा, चीर और मेघौना नामक वस्त्र थे, जिनमें मोती जड़े थे। और वे सोने से छापे गए थे। सिंहलद्वीप के सुन्दर लाल रंगीन वस्त्र थे। वे छीपी या छापनेवाले धन्य हैं जिन्होंने उन वस्त्रों की छपाई की है। पेमचा, डोरिया और बीदर की बनी साड़ियाँ,—काले, श्वेत, पीले और हरे रंग की थीं। वे सप्त रंगों से चित्रित की हुई थीं। आँख भरकर उन्हें देखा भी नहीं जाता था।

तत्पश्चात् बहुत से जेवरात निकाले गए, जो विविध भाँति के रत्नों से जड़वाए गए थे। जैसा मन में आता था, पद्मावती नित्य उन्हें बदल-बदलकर धारण करती थी।

विशेष—नाम परिगणन शैली पर इस पद को रचा गया है। भावपक्ष की उत्कृष्टता इस प्रकार के पदों में प्रायः नहीं मिलती। इस ओर जायसी की रुचि तत्कालीन युग की स्थिति के प्रभाव स्वरूप ही कही जायगी। इन पदों में जायसी की गहरी बाह्य-दृष्टि का परिचय अवश्य मिलता है।

शब्दार्थ—सरल हैं। भावार्थ के अनुकूल शब्दार्थ मिलेंगे।

●

२५--रत्नसेन साथी खण्ड

(३३०)

रतनसेन गौ अपनी सभा। बैठे पाट जहां अठखँभा॥
आइ मिले चितउर के साथी। सबहीं बिहँसि आए दिए हाथी॥
राजा कर भल मानहिं भाई। जेई हम कहँ यह भुम्मि देखाई॥
जौ हम कहँ आनत न नरेसू। तब हम कहाँ कहाँ यह देसू॥
धनि राजा तोर राज बिसेखा। जेहि की रजाउरि सब किछु देखा॥
भोग बेलास सबै किछु पावा। कहाँ जीभ तसि अस्तुति आवा॥
तहँ तुम्ह आइ अँतरपट साजा। दरसन कहँ न तपावहु राजा॥
नेन सिराने भूख गइ देख तोर मुख आजु।
नौ ओतार भए सब काहूँ औ नौ भा सब साजु॥३३०॥

भावार्थ—चित्तौड़ के भूले भटके साथियों से मिलने के प्रसंग में—

रत्नसेन अपनी सभा में गया। अठखम्भे के नीचे जहाँ सिंहासन था वहाँ आकर सब बैठे। वे चित्तौड़ के साथी राजा से मिले। सबने सहर्ष हँसते हुए उसे प्रणाम किया—कहा, भाइयो ! हम राजा की कल्याण कामना करते हैं, जिसने हमें इस सिंहलद्वीप की भूमि के दर्शनों का सौभाग्य प्रदान किया है। यदि राजा हमें साथ लेकर यहाँ न आता तब हम कहाँ होते, और यह देश कहाँ होता ?—हम इसे न देख पाते। हे राजा, तुझे धन्य है; तेरे राज्य की विशेषता भी धन्य है कि जिसकी राजधानी में यह सब देखने का सुअवसर मिला और सब प्रकार के भोग-विलास भी यहाँ पर आकर उपलब्ध किये। हमारी जीभ में वह वर्णन शक्ति कहाँ जो तेरी उचित स्तुति कर सकें। किन्तु वहाँ से आकर तुमने हमारे बीच में विछोह का परदा डाल दिया है। तुम हमसे अनजान दूर हो गए हो। हे राजा, अपने अमित दर्शनों के लिये हमसे तप न कराओ।

आज तुम्हारे मुख का दर्शन कर खुशी के मारे हमारे नेत्र परितृप्त हुए हैं। मन में, दर्शनों की भूख रूपी ज्वाला शान्त हो गई। हम सबने मानो नया जन्म पाया है, और जीवन का सब कुछ साज भी जैसे नया-नया हुआ सा लगता है।

शब्दार्थ—पाट=आसन। चितउर के साथी=चित्तौड़ से साथ आने वाले वे योगी। विहँसि=हँसते हुए। भुम्मि=भूमि। रजाउरि=राजधानी।

(३३१)

हँसि कै राज रजाएसु दीन्हा। मैं दरसन कारन अस कीन्हा॥
अपने जोग लागि हौं खेला। भा गुरु आपु कीन्ह तुम चेला॥
यहिक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्ह कै जोग बिसेखेहु॥
जौं तुम्ह तप साधा मोहि लागी। अब जिन हिएँ होहु बैरागी॥
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के सँग मानै भोगू॥
सोरह सरस पदुमिनि माँगीं। सबही दीन्ह न काहू खाँगीं॥
सब क धौरहर सोने साजा। सब अपने अपने घर राजा॥
हस्ति घोर औ कापर सबहि दीन्ह नौ साजु।
भै गिरहस्त लखपती घर घर मानहिं राजू॥३३१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हँसकर राजा ने साथियों से कहा—हाँ, पद्मावती के रूप-दर्शनार्थ ही मैंने ऐसा सब कुछ किया था। मैं अपने योग-हित यहाँ आया और गुरु होकर तुम्हें अपना चेला बनाया। इस सम्बन्ध के लिये मेरा पौरुष देखो। मैंने योग के तत्व को साधकर अपने गुरु को पहचान लिया, यह विचार करो। जब तुमने मेरे कहने से मेरे साथ होकर योग लिया तो अब मेरी सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर और राजसी भोग अपना लेने पर तुम भी भोग में प्रवृत्त होवो, बैरागी मत बने रहो। जो जिसके साथ होकर तप और योग करता है वह उसके साथ भोग करने में भी शामिल होता है। फिर राजा ने सोलह सहस्र पद्मिनी नारियाँ मँगाईं और एक-एक अपने साथियों को दे दीं—किसी को कोई कमी

न रही; उन सबके लिये स्वर्ण धवलग्रह सजा दिए गए। सब अपने-अपने घर के राजा बन गए।

सभी को हाथी, घोड़े और राजसी वस्त्रादि के नये-नये भोग के साधन दिये गये। घर-घर में सब गृहस्थ और लखपती बनकर राज का आनन्द भोगने लगे।

शब्दार्थ—खेला=आया। भा=हुआ । याहिक=इस सम्बन्ध का। चीन्ह=पहचान। बिसेखेहु=विचारो। जेहि लागि=जिसके लिये। भोगू=भोग। सरस=सहस्र। खाँगी=कभी। धौरहर=धवलगृह। कापर=वस्त्र। नो=नव। गिरहस्त=गृहस्थ।

●

२९--षट-ऋतु वर्णन खण्ड

(३३२)

पदुमावति सब सखीं बोलाईं। चीर पटोर हार पहिराईं ॥
सीस सबन्हि के सेंदुर पूरा। सीस पुरि सब अंग सेंदूरा ॥
चंदन अगर चतुरसम भरीं। नएँ जार जानहु अवतरीं ॥
जानहु कँवल संग फूलीं कुंई। कै सो चाँद सँग तरंई उंई ॥
धनि पदुमावति धनि तोर नाहूँ। जेहि पहिरत पहिरा सब काहूँ ॥
बारह अभरन सोरह सिंगारा। तोहि सोहइ यह ससि संसारा ॥
ससि सो कलंकी राहुहि पूजा। तोहि निकलंक न होइ सरि दूजा ॥
काहूँ बीन गहा कर काहूँ नाद म्रिदंग।
सब दिन अनंद गँवावा रहस कोउ एक संग ॥३३२॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी काव्यरीति परम्परा के अनुसार षट-ऋतुवर्णन का प्रसंग प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

पद्मावती ने सारी सखियों को बुलाया और उन्हें चीर पटोर तथा हार पहनाकर श्रृंगार सज्जित किया। सबकी माँग में शुभ सिंदूर भरा और पूरे अंगों में भी सिंदूर लगाया। चंदन, अगर और चतुरसम नामक सुगंधित द्रव्यों से पूर्णतः सुगंधित वे सखियाँ मानो नव-भेष-भूषा से अवतरित हुईं। प्रतीत हुआ मानो कमल के साथ काबेली भी विकसित होगईं। अथवा, चन्द्र के साथ तारिकाएँ भी उदित होगईं। हे पद्मा, तू धन्य है और धन्य है तेरा पति भी, कि जिसके वस्त्रालंकृत होने पर सबने वैसे ही साज श्रृंगार पहन लिये। बारह अलंकार और सोलह श्रृङ्गार—हे पद्मा; तुझे ही इस संसार में सजते है। तू इस संसार की चन्द्रमूर्त्ति है—दिव्य शोभा! गगन का चंद्र तो कलंकी है कि पूर्णता में उसे राहु ग्रस

लेता है पर तुझे नहीं। तुझसा निष्कलंक तुलना में कोई अन्य नहीं। (यहाँ व्यतिरेकाभास है।)

किसी ने खुशी में आकर हाथ में बीन ली और किसी सखी ने मृदंग का नाद जगाया। सारा दिन सबने एक साथ आनंद कौतुक में व्यतीत किया।

शब्दार्थ—चीर=वस्त्र। पूरा=भरा। सीस=शिर,यहाँ पर माँग। चतुरसम=चार द्रव्यों से बना सुगन्धित पदार्थ, पीछे उल्लेख हो चुका है। अबतरी=अवतरित हुई। कुंई=काबेली। तरंई=तारिकाएँ। उई,=उदित हुई। निकलंक=निष्कलंक। सरि=बराबर। गँवावा=व्यतीत किया। कोड=कौतुक।

(३३३)

भै निसि धनि जसि ससि परगसी। राजैं देखि पुहुम फिरि बसी॥
भै कातिकी सरद ससि उवा। बहुरि गँगन रबि चाहै छुवा॥
पुनि धनि धनुक भौंह कर फेरी। काम कटाख टँकोर सो हेरी॥
जानहुँ नहिं कि पैज पिय खाँचौं। पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं॥
कालिह न होइ रहे सह रामा। आजु करौं रावन संग्रामा॥
सेन सिंगार महूँ है सजा। गज गति चाल अँचर गति धुजा॥
नैन समुंद्र खरग नासिका। सरवरि जूझि को मो सौं टिका॥
हौं रानी पदुमावती मैं जीता सुख भोग।
तूँ सरबरि करु तासौं जस जोगी जेंहि जोग॥३३३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रात हुई तो सुन्दरी पद्मावती ऐसी लगी जैसे चाँद चमकने लगा हो। यह देखकर राजा को लगा कि पृथ्वी अथवा सृष्टि पुनः बस रही है—सुन्दर, आकर्षक और नई-नई! आशय यह है कि पद्मावती के रूप शृङ्गार से राजा को पहला संभोग भूलाकर, फिर से सब कुछ नया-नया, आकर्षक वातावरण लगने लगा। रत्नसेन को लगा फिर कार्तिकी पूर्णिमा आई है,—शरत् चन्द्र उगा है। वह फिर आकाश के उस सूर्य को छूना चाहती है। आशय यह है कि फिर पद्मा की अभिसार की इच्छा है। फिर वह सुन्दरी धनुषाकार भौंहों से काम-कटाक्ष के तीर चलाने के लिये उसे घुमाव से देख रही है, काम की इच्छुक है। वह कह रही है,—हे प्रियतम! मैं नहीं जानती कि तुमने काम क्रीड़ा के लिये कहाँ तक प्रतिज्ञा की रेखा खींची हुई है। किन्तु मुझे अपने पिता की शपथ है जो आज तुम्हारे साथ में रति-युद्ध से बचकर जाऊँ। (यहां रति-भुक्ता प्रोढ़ा नारी का रति-लालसा-सम्बन्धी मनोविज्ञान दर्शनीय है।) कल की तरह नहीं, जो तुम एक स्त्री के साथ यों ही अधकचरी संभोग क्रिया करते रहे,—निस्वाद! आज एक पक्के रमण करने वाले की भाँति मुझसे रमण करना होगा, संभोग-संग्राम करना ही होगा। मैंने भी अपने पूरे शृंगार का सैनिक दल सज्जित कर रक्खा है। हाथी की चाल, मेरी चाल में, आँचल में कुचों के ध्वजों की फहरान, मेरे नेत्रों में समुद्र की हिलोरें और खड्ग का रूप नासिका

में—यह सब कुछ शस्त्रादि मेरे पास हैं। अतः युद्ध में मेरे समान और सामने कौन ठहर सकता है ? क्या तुम विचारे !

मेरा नाम रानी पद्मावती है। मैंने सारे सुखोपभोगों को जीतकर स्ववश कर लिये हैं। तेरे समान जोग में जो जोगी हो, उससे जाकर तू सामना कर—भला मेरी तेरी क्या बराबरी ?

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने काम शास्त्र के दुष्ट मनोविज्ञान को उतार दिया है। पर कमाल है, काव्यानुरूप और संश्लिष्ट रूप में !

शब्दार्थ—भै=हुई। पुहुमि=धरती। उवा=उगा। वहुरि=फिर। पैज=प्रतिज्ञा। खाँचौ=खींचना। सपथ=शपथ। रावन=रमण करने वाला। धुजा=झंडा। सरवरि=बराबरी में।

(३३४)

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बीर सिंगार जितै मैं दोऊ।।
उहाँ त समुँह रिपुन दर माहाँ। इहाँ न काम कटक तुव पाहाँ।।
उहाँ त कोपि बैरिदर मंडौं। इहाँ त अधर अमिअ रस खंडौं।।
उहाँ त खरग नरिंदन्ह मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार सँघारौं।।
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरी। इहाँ त कामिनि करसि हहेहरी।।
उहाँ त लूसौं कटक खँधारू। इहाँ त जितौं तुम्हार सिंगारू।।
उहाँ त कुंभस्थल गज नावौं। इहाँ त कुच कलसन्ह कर लावौं।।
परा बीचु धरहरिया पेम राज कै टेक।
मानहिं भोग छहूँ रितू मिलि दूनौं होइ एक।।३३४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में।

रत्नसेन ने कहा कि हे पद्मा ! सब यह जानते हैं कि मैं ऐसा योगी हूँ जिसने वीर और शृंगार, दोनों रस जीत लिये हैं। वहाँ, चित्तौड़ में तो सदैव शत्रु सेना के समक्ष युद्ध-स्थिति रहता था और तेरे यहाँ जो काम-सैन्य-दल है उसके सामने डटा हूँ। वहाँ क्रोधित होकर शत्रु सैन्य-दल का संहार करता था और यहाँ तेरे अधरों का रसपान करने के लिए उन्हें खंडित करूँगा। वहाँ खड्ग से राजाओं का संहार करता था और यहाँ तुम्हारी विरहाग्नि का संहार करूँगा। वहाँ तो सिंह बनकर हाथियों पर टूटता-धकेलता था और यहाँ हे कामिनी, तुम मुझसे अपनी रति रक्षा के लिए "हाय हाय" पुकारोगी। वहाँ तो कटक और स्कन्धावार का संहार करता था और यहाँ तुम्हारे शृंगार को मर्दित करूँगा। वहाँ तो सेना के हाथियों का गण्डस्थल अपने प्रहारों से झुकाता था और यहाँ तुम्हारे कुच-कलशों का हाथों से मर्दन करूँगा।

कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम की आन को रखने के लिए राजा वीर और शृंगार रस का समन्वय का मध्यस्थ बन गया था। आशय यह है कि राजा वीरता और काम-क्रीड़ा, इन दोनों के विषय में निपुण था। इस प्रकार पद्मावती और रत्नसेन

दोनों एक होकर छः ऋतुओं के आनन्द-सुख को उपलब्ध किया चाहते थे।

शब्दार्थ—जिते=जीत लिए। उहाँ=वहाँ, चित्तौड़ में। इहाँ=सिंहल द्वीप में, पद्मावती के पास में। रिपुन=शत्रुओं। माहाँ=में। अमिऊ=अमृत। नरिन्दन्ह=राजाओं के। सँधारौ=संहार करूँगा। गज=हाथी। पेलों=टूटता था, धकेलता था। वैरिदल=शत्रुदल। मंडौ=मर्दन करता था। केहरि=सिंह। हहेहरि=रक्षार्थ "हाय-हाय" करना। लूसौं=संहार करता था। सँधारू=स्कंधावार। कुंभस्थल=गण्डस्थल, हाथियों का सिर। नावौं=झुकाता था। कुच=स्तन।

(३३५)

प्रथम बसंत नवल रितु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई॥
चंदन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा॥
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरिका कबिलासू॥
सौर सुपेती फूलन्ह ठासी। धनि औ कन्त मिले सुखबासी॥
पिउ सँजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी॥
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी॥
धनि ससि सियर तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होंहि सब चूरू॥
जेहि घर कंता रितु भली आउ बसंता नित्तु।
सुख बहरावहि देवहरैं दुक्ख जानहि कित्तु॥३३५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सर्व प्रथम, नई बसन्त ऋतु का आगमन हुआ। वह सुहावनी, चैत बैसाख की ऋतु आनन्ददायक प्रतीत हुई। उस पद्मावती सुन्दरी ने शरीर पर चन्दन के वस्त्र धारण किये, वह धन्य हो गई। हँसते-हँसते सिंदूर से अपनी माँग भरी। फूलों के हार पहने और परिमल की गंध लगाई। अपने धवलगृह के सतखण्डे पर मलयगिरि के चन्दन का छिड़काव किया। डासी या सेज पर फूलों का कोमल बिछावन बिछाया और यों बधू-वर अर्थात् पद्मा और रत्नसेन शयनगृह में परस्पर मिले—अभिसार करने लगे। यौवन की वाटिका में इधर तो प्रिय-प्रियतम का संयोग हुआ, उधर भौंरे फूलों के साथ स्वच्छंद रस-क्रीड़ा करने लगे। सम्भोगानन्द का फाग होने लगा और पति-पत्नी में परस्पर चाँचर का मधुर नृत्य चलने लगा। इस आनन्दोत्सव में मानो विरह की होली जला दी गई थी। सुन्दरी पद्मावती चाँद सी शीतल थी और रत्नसेन सूर्य सा तप रहा था। चन्द्र का नक्षत्र रूपी समस्त शृङ्गार इस विलास-क्रीड़ा में चूर-चूर हो गया। ✓

कविवर जायसी कहते हैं कि जिस घर में नारी का पति है वहाँ तो सदा ही सुहावनी वसन्त ऋतु बनी रही है। उनके बसन्त-विहार मन्दिर में सदा सुख की पूजा होती है। दुःख को कोई जानता भी नहीं है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुरूप जानना और सरल है।

(३३६)

रितु ग्रीखम कै तपनि न तहाँ । जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ ॥
पहिरें सुरंग चीर धनि झीना । परिमल मेद रहै तन भीना ॥
पदुमावति तन सियर सुबासा । नैहर राज कंत कर पासा ॥
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना । चंदन चरचि लाव नित बेना ॥
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा । अगर पोति सुख नेत ओहारा ॥
सेत बिछावन सौर सुपेती । भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती ॥
भा आनंद सिंघल सब कहूँ । भागिवंत सुखिया रितु छहूँ ॥
दारिवँ दाख लेंहि रस बेरसहि आंब सहार ।
हरियर तन सुवटा कर जो अस चाखनहार ॥३३६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जेठ असाढ़ की ग्रीष्म ऋतु में भी वहाँ तपन नहीं होती जहाँ, जिस स्त्री का पति उसके पास—उसके घर में होता है। उस समय रमणियाँ लाल रंग का झीना वस्त्र पहनती हैं। उनका शरीर परिमल और मेद की सुगन्ध से सुवासित रहता है कि प्रियतम रीझा रहे। और पद्मावती का तन भी सुगन्धि से शीतल एवं सुवासित था। पिता के राज में ही उसे प्रियतम का सामीप्य-समागम मिला था—वह पूर्ण सौभाग्यवती थी कि रत्नसेन उसके पिता के घर का जमाई था। पद्मा का मुख पान और भीमसेनी कपूर से रंजित था। वह नित्य शरीर में चन्दन चुपड़कर खस का इत्र लगाती थी। वहाँ शयनागार में प्रियतम से मिलने वाली शीतल कोठरी थी। उसमें अगर पोतकर सुन्दर नेत का बारीक पर्दा पड़ा हुआ था। श्वेत मुलायम बिछावन बिछाया गया था, ताकि उस पर रात दिन सुख के साथ विहार किया जाये। सिंहल में सर्वत्र आनन्द छाया हुआ था। छहों ऋतुओं में वहाँ के भाग्यवान रसिक जन सुख भोग उपलब्ध करते थे।

वे अनार, अंगूर का रस और बीजू तथा कलमी आमों का उपभोग कर विलास में रत रहते थे। जो इस प्रकार के फलों का स्वाद लेने वाला होता है वह तोते के तन जैसी हरियाली से युक्त बना रहता है—बिहारी और विलासी !

शब्दार्थ—ग्रीखम=ग्रीष्म। कंत=प्रियतम। सियर=शीतल। नैहर=पीहर, पिता का घर। बेना=एक सुगन्धित द्रव्य—खस। भिवँसेना=भीमसेनी। चरचि=चुपड़कर। ओबरि=पति पत्नी का शयनकक्ष। नेत=एक प्रकार का वस्त्र। ओहार=पर्दा। सौर सुपेती=मुलायम बिस्तर। सेंती=से। भागिवन्त=भाग्यवान। दाख=अंगूर। दारिवँ=अनार। बेरसहि=विलास करते थे। आँब=बीजू आम। सहार=कलमी आम।

(३३७)

रितु पावस बिरसैं पिउ पावा । सावन भादौं अधिक सोहावा ॥
कोकिल बैन पाँति बग छूटी । धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी ॥

चमकै बिज्जु बरसि जग सोना। दादर मोर सबद सुठि लोना ॥
रँग राती पिय सँग निसि जागै। गरजै चमकि चौंकि कंठ लागै ॥
सीतल बूँद ऊँच चौबारा। हरियर सब देखिअ संसारा ॥
मलै समीर बास सुखबासी। बेइल फूल सेज सुख डासी ॥
हरियर भुम्मि कुसुंभी चोला। औ पिय संगम रचा हिंडोला ॥
पौन झरक्के हिय हरख लागै सियरि बतास।
धनि जानै यह पौनु है पौनु सो अपनी आस ॥३३७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं—

यदि वर्षा ऋतु में रमणी अपने कंत के साथ संभोग करती हो तो उसे सावन और भादों के महीने अत्यन्त सुहावने प्रतीत होते हैं और कोकिल वचन सुनने में आते हैं, बगुलों की पंक्तियाँ मेघों में उड़ती दीख पड़ती हैं। रमणीयाँ उन्माद में इस प्रकार बाहर निकलकर मत्त ऋतु के दृश्य देखती हैं जैसे वीर बहूटियाँ हों। चंचला चमकती है और जग के ऊपर लगता है कि सोना सा बरसता हो। मेंढ़क एवं मोरों का सुन्दर और लुभावना शब्द सुन पड़ता है। वासना के रँग में डूबी रातभर रमणी प्रियतम के साथ अभिसार में जागती है। बादल की गरज और चंचला की चमक से चौंककर झट उसके गले से चिपट जाती हैं। उच्च चौबारे पर रिमझिम, शीतल बूंदें बरसती हैं और सारा संसार हरा-भरा दृष्टिगत होता है। शयनकक्ष में मलय समीर की सुगन्ध आती है। वहाँ विकसित बेले के फूलों की सेज सजाई गई है। हरी भूमि······रमणी पद्मा का कुसुम्भी चोला······और प्रियतम रत्नसेन के साथ झूलने के लिये सजा हुआ झूलना !—अभिसार के यह सारे उपक्रम आयोजन मौजूद थे।

वर्षा की वायु के झरझर चलने से हृदय में हर्ष था। पुरवैया वायु शीतल लग रही थी। रमणी पद्मा समझती थी कि उसके सुख-पुलक का कारण पवन का स्पर्श है, परन्तु पवन तो स्वयं उसके मधुर स्पर्श-रस की आशा में अधीर था !

शब्दार्थ—बैन = बोल। बग = बगुला। निसरी = निकली। सुठि = सुन्दर। लोना = लुभावना। निसि = रात। सुखबासी = शयनकक्ष। पौन = वायु। सियर = ठंडा। बातास = पुरवैया वायु।

(३३८)

आइ सरद रितु अधिक पियारी। नौ कुवार कातिक उजियारी ॥
पदुमावति भै पूनिवँ कला। चौदह चाँद उए सिघला ॥
सोरह करा सिंगार बनावा। नखतन्ह भरे सुरुज ससि पावा ॥
भा निरमर सब धरनि अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल डासू ॥
सेत बिछावन औ उजियारी। हँसि हँसि मिलहि पुरुख औ नारी ॥
सोने फूल पिरिथिमी फूली। पिउ धनि सों धनि पिउ सों भूली ॥
चखु अंजन दै खँजन देखावा। होइ सारस जोरी पिउ पावा ॥

एहि रितु कंता पास जेहि सुख तिन्ह के हिय माँह।
धनि हँसि लागे पिय गले धनि गल पिय कै बाँह ।।३३८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

अत्यन्त प्यारी शरद् ऋतु आई। कुँआर कार्तिक की उजियाली नवल प्रतीत होती थी। पद्मावती अपनी मुख छवि की सुन्दरता में पूनम की कला सी लगने लगी। सिंघल में उदित हुए चौदह चाँद अथवा चौदह वर्ष तक उसके अंग-प्रत्यंगों का विकास हुआ और अब पन्द्रहवीं कला-पूर्णिमा का पूर्ण प्रतीक उसका मुख चन्द्र था। आशय यह है कि चौदहवीं के चाँद के समान उसकी जवानी के अंगावयव भरे और पन्द्रहवें वर्ष, पूर्णमासी के चाँद के समान उसकी मुख छवि आभासित हुई। सोलहों कला उसके शृंगार से पूर्ण हुई। इस प्रकार पद्मावती में चन्द्रमा की ज्योत्सनामयी कलाएँ क्रमशः आयु के साथ उत्पन्न हुई और अब नक्षत्रों के मध्य विराजमान पूर्णिमा के चाँद—पद्मा को, सूर्य रूपी रत्नसेन ने प्राप्त किया। अवनि अम्बर सब कुछ निर्मल होगया। सेज सजाकर पुष्पों की चद्दर बिछाई गई। श्वेत बिस्तर और वह मदिर चाँदनी ·····बस वे और युगल पुरुष और नारी··· पद्मावती और रत्नसेन—खुलकर खिलकर अभिसार करने लगे। प्रतीत हुआ, सारी धरिणी स्वर्ण फूलों से फूली थी। प्रिया प्रियतम से और प्रियतम प्रिया से परस्पर गाढ़े आलिंगन में खोए हुए थे। अंजन अँजे नेत्र, खंजन से प्रतीत होते थे। प्रियतम को पाकर पद्मा को लगा मैं और वह प्रियतम परस्पर सारस की जोड़ी से हो गए हैं; इसीलिये तो उसने प्रियतम को प्राप्त किया था।

कविवर जायसी कहते हैं कि इस प्यारी शरद् ऋतु में जिन रमणियों के पास उनका प्रियतम है, सुख उन्हीं के हृदय में है। हँसते हुए, पद्मा के भुजपाश रत्नसेन प्रियतम के गले में थे, और प्रियतम रत्नसेन के भुजपाश प्रिया पद्मा के गले में। यों वे पूरी तरह संभोग के मदिर सागर में डूबे हुए थे।

शब्दार्थ—नौ=नवल। पूनिवँ कला=पूर्णिमा की कला। चौंदह चाँद उए=चौदह चाँद उगे। नखतन्ह=नक्षत्रों के। निरमर=निर्मल। धरनि=पृथ्वी। डासू=चद्दर। सेत=श्वेत। पिरिथिभी=पृथ्वी। चखु=नेत्र।

(३३९)

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिलि लागा।।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।।
जानहुँ चन्दन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।।
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।।
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।।

हंसा केलि करहिं जेउं सरवर कुंदहिं कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै ठाढ़ भा जस चकई क बिछोह ॥३३९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

शिशिर ऋतु आई किन्तु अगहन पूस में जिस रमिणी के घर उसका पति हो वहाँ इस ऋत में भी शीत नहीं होता। यह शीत पति-पत्नी के बीच सुहागे या सौभाग्य के समान काँतिदायक होता है। इस शिशिर के कारण दोनों के अंग-अंग परस्पर गाढ़ होकर जुड़ जाते हैं। मन से मन और तन से तन जुड़कर एकाकार होगया। हृदय से हृदय यों मिले कि हार पहनने का मध्य स्थान न रहा—सूक्ष्मालिंगन था। शीतता शरीर में ऐसे लगती थी मानो चन्दन लगाया गया हों, किन्तु पारस्परिक आलिंगन में वह चंदन की शीतता न रहती थी। आशय है कि संभोग की अनुभूति और उसका स्पर्श आत्यंतिक था। राजा और रानी परस्पर भोग-विलास करने लगे। उनके लिये तो उस समय मानो सारी सृष्टि अभिसारयुक्त थी। एक दूसरे के यौवन से दोनों जूझने लगे। जो कुछ शीत बीच में था भी, वह जान बचाकर भागा—सम्भोग क्रिया की तपन आगई। वह यों मिलते थे मानो दो प्राण मिलकर एक हो गये हों। फिर भी वह मधुर संभोग करने से परितृप्त न होते थे।

जैसे हंसों की जोड़ी मानसरोवर में जल-विहार करती हैं वैसे ही राजा और रानी अभिसार में उछलते और मस्ती की सीत्कार का शब्द करते थे। दूर नायक शीत अपनी नायिका से बिछुड़कर चिल्ला रहा था; इस प्रकार मानो किसी चकवी से बिछड़कर कोई चकवा चिल्ला रहा हो। आशय यह है कि पद्मा और रत्नसेन का समागम काफी सरगर्मी के साथ चल रहा था।

शब्दार्थ—सीऊ=शीत। सोहागा=सुहागा या सौभाग्य। हिय=हृदय। सिस्टि=सृष्टि। घट=घड़ा या प्राण। कुंदहि=कूदते। कुलरहि=शब्द करना।

(३४०)

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ फागुन सुख सीउ सियाला ॥
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती ॥
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहूँ दुख कर खोजू ॥
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा ॥
जाइ इन्द्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा ॥
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा ॥
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा ॥
भएउ इंद्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता कबहुँ काहु कै होइ ॥३४०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

प्रियतम के संग हेमन्त ऋतु में पाले का प्रभाव प्रतीत नहीं होता और शीतकाल

का शीत भी माह फागुन मास में सुखमय होता है। पुरुष-नारी दिन-रात बिस्तरों में साथ जुड़े रहते हैं। वे विविध प्रकार के दगल या मोटे वस्त्र पहने रहते हैं। सिंघल द्वीप के घर-घर में सुख-विलास होता था। खोजने पर भी वहाँ कहीं दुख का नामशेष नहीं था। जहाँ स्त्री-पुरुष का समागम होता है वहाँ शीत नहीं लगता। शीत वहाँ से इस प्रकार रफूचक्कर हो जाता है, जैसे कौवा तीर को देखकर होता है। राजा रानी का यह समागम देखकर शीत भागकर इन्द्र के यहाँ गया और चिल्लाकर कहा—'मुझे पद्मावती ने देश निकाला दे दिया है। इस ऋतु में मैं सदा उसके पास ही सोता था किन्तु अब मुझे दर्शनों से भी लाचार करके मार भगाया है। अब तो वह चन्द्रमुखी हँस-हँसकर सूर्य या रत्नसेन से समागम करती है। जो शीत था, उसने उसे बीच से मार दिया है।'

इन्द्र ने यह सुनकर आज्ञा सुनाई कि यह तो एक नियम है कि प्रभुता कभी किसी की और कभी किसी की होती है। आशय यह है कि सबके लिये बिछोह है और फिर मिलन भी।

शब्दार्थ—सियाला=शीतकाल। दगल=गरम वस्त्र। सीउ=जाड़ा या शीत। अहा=था। हुति=से। आएसु=आज्ञा। प्रस्थावा=नियम। प्रभुता=दौलत, लक्ष्मी, सुख की वस्तु।

●

३०--नागमती वियोग खण्ड

(३४१)

नागमती चितउर पँथ हेरा। पिउ जो गए फिरि कीन्ह न फेरा॥
नागरि नारि काहुँ बस परा। तेइँ बिमोहि मोसौं चितु हरा॥
सुवा काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहिं लेत लेत बरु जीऊ॥
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा॥
करन बान लीन्हेउ कै छन्दू। भारथ भएउ झिलमिल आनंदू॥
मानत भोग गोपीचंद भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी॥
लै कान्हहि भा अकरुर अलोपी। कठिन बिछोह जिअैं किमि गोपी॥
सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पाँजरि धनि भई बिरह कै लागी अग्गि॥३४१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी रत्नसेन की पूर्व पत्नी नागमती का विरह-वर्णन करते हुए लिखते हैं—

चित्तौड़ में विरहिणी नागमती रत्नसेन के लौट आने की राह देखती थी। सोचती

थी कि प्रियतम जाकर फिर न लौटे ? लगता है, वे किसी चतुर स्त्री के प्रेम चंगुल में फँस गए हैं। उसने उन्हें लुभाकर और मेरी ओर से विमुख करके उनका चित्त अपने वश में कर लिया है। वह तोता हीरामन मेरे लिये काल-सा बनकर प्रियतम को ले गया था। हाय, मेरा प्राण ले जाता पर प्रियतम को न ले जाता। वह तोता मेरे प्रियतम को ऐसे ही छद्म रूप में आकर छल ले गया जैसे नारायण ने वामन का रूप रखकर राजा बलि को छला था, पृथ्वी में लोप कर दिया था। जैसे इन्द्र छल करके कर्ण का कवच दान में ले गया और उधर उसे पाकर बैरी अर्जुन को हर्ष हुआ। इसी प्रकार वह दुष्ट तोता भी रत्नसेन को फँसा-फुसलाकर मेरे पास से ले गया और वहाँ कोई रमणी उससे आनन्द लूट रही होगी। गोपीचन्द भोगों में प्रवृत्त थे, और जोगी जलन्धरनाथ उन्हें लेकर चले गए थे। इसी प्रकार अक्रूर जी अदृश्य हो कृष्ण को लेकर मथुरा चले गए थे। तब फिर उस कठिन विछोह से गोपिका कैसे जीवित रहती ? उस क्रूर तोते ने मेरे लिये भी ऐसा मरने का सामान किया है। मैं भला अपने पति रत्नसेन के अभाव में कैसे जी सकूँगी ?

नागमती कहती है, हाय, वह हमारी सारस की जोड़ी में से एक को ही क्यों ले गया। मुझ खगी को उसे ले जाने से पहले क्यों न मार गया ? इस प्रकार कविवर जायसी कहते हैं कि विरह की ज्वाला में जल-जलकर वह विरहिणी सूखा पंजर हो गई।

शब्दार्थ—तेइं = उसने। बिमोहि = लुभाकर। उपसवा = ले चले। अकरूर = कृष्ण को मथुरा ले जाने वाले, अक्रूर जी। आलोपी = अदृश्य। खग्गि = खगी। झुरि = जलकर। पाँजरि = पंजर। अग्गि = आग।

पागल (३४२)

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ॥
अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि तन चोली॥
सखि हिय हेरि हार मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी॥
खिन एक आव पेट मँह स्वाँसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा॥
पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला॥
प्रान पयन होत केइ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा॥
आह जो मारी बिरह की आगि उठी तेहि हाँक।
हंस जो रहा सरीर महँ पाँख जरे तन थाक॥३४२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि प्रिय के वियोग में नागमती का जी ऐसा पागल-सा, व्याकुल हो गया कि वह सदा पपीहे की भाँति "पीउ" पीउ" नाम रटने लगी। ऊपर से काम उसे और जलाता था। वह तोता 'पिय' के नाम से मानो उसके प्राण ही हर ले गया। उसे ऐसा विरह बाण लगा कि वह छटपटा भी न सकती थी। शरीर की चोली रक्त पसीजने के कारण तर हो गई। सखियों ने मन में विचारा कि काम-प्रताड़ित यह नारी

अब अत्यधिक दुर्बल हो गई है और कम्पायमान होकर अब प्राण ही छोड़ देना चाहती है। सब यह देखकर निराश होती कि क्षण में श्वास पेट में आता था और दूसरे क्षण में निकल जाता था,—मृत्यु के समय की श्वासें आती-जाती प्रतीत होती थीं। सखियाँ पंखा झलकर उसकी हवा करतीं और तप्त चोले को शीतलता से सींचती। उपचार स्वरूप पहर भर में वह बाला सचेत हुई और कहने लगी—हाय, मेरा प्राण निकलकर जा रहा है; इसे कौन सँभाले ? कौन चातक की भाषा अर्थात् "पीउ" से मेरा मिलन कराए ?

ऐसा कहते हुए नागमती ने जो विरह की आह ली तो उसकी हाँफ से ज्वाला पैदा हुई। शरीर में बैठे जीव रूपी हंस के डैने जल उठे—और वह जलते हुए भी शरीर से बाहर न उड़ पाया,—वह विरहिणी मर न सकी।

विशेष—पद की अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने हंस के पर जलने और फिर जलते हुए न उड़ सकने की बात विरही की विवश, दयनीय और दग्ध होती हुई स्थिति को स्पष्ट करने के लिये लिखी है। उक्ति चमत्कार अपने में अत्यन्त अपूर्व है और करुण रस से सिंचित भी।

शब्दार्थ—बाउर = पागल। भीजि = भीगना। खिन = क्षण। पौनु डोलावहिं = पंखा झलकर हवा करती थीं। पहरक = पहर भर। पयान = प्रयाण, प्रस्थान करना। राखा = सँभाले। चात्रिक के भाषा = 'पीउ' या प्रियतम। हाँक—ज़ोर की आवाज।

(३४३)

पाट महादेइ हिएँ न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू॥
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती॥
धरति जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा॥
पनि बसन्त रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली॥
जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी॥
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा॥
मिलहिं जो बिछुरै साजना गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं अद्रा ते पलुहंत॥३४३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सखियाँ नागमती को सान्त्वना देते हुए कह रही हैं—हे पटरानी ! हृदय छोटा न करो और मन में विरह की अनुभूति को न लाओ। प्राणों में धैर्य रक्खो और चैतन्य होकर चित्त ठीक करो। विश्वास रक्खो, भौंरा कमल के साथ होकर भी पराया न होगा—रत्नसेन तुम्हारा ही रहेगा। निश्चय ही भंवर मालती के पूर्व प्रेम की याद कर लौटेगा। प्रियतम रूपी स्वाति बिन्दु के प्रति जैसी अगाध प्रीति तुम्हें थी, उसके बल पर अपनी प्यास-वासना को संयमित किए रहो और मन को अपने पतिव्रत धर्म की आन पर स्थित किये रहो। देखो पटरानी, जैसे पृथ्वी, दूर अम्बर के बादल से स्नेह किये रहती है तो फिर कर

पावस ऋतु में मेघ तदर्थ बरसकर उसे स्नेह से परितृप्त कर ही देते हैं। फिर जीवन में नई वसन्त ऋतु आएगी। उस समय वही रस, वही भौंरा और वही लता होगी। आशय है कि पुनः रत्नसेन और नागमती का मधुर मिलन होगा। सखियाँ आगे कहती हैं कि हे रमणी, तुम अपना चित्त व्याकुल न करो। समझो तो कि पतझर के जले वृक्ष भी पुनः मधु ऋतु के प्यार से हरे-भरे हो जाते हैं। यदि दस दिन को सरोवर का जल सूख भी गया तो क्या हो गया ? अरे, दस दिन बाद फिर वही ताल और हंसों का विहार होगा। इसी भाँति, हे नागमती, तू भी रत्नसेन से कुछ ही दिन में विहार करेगी। कुछ भी तो नहीं बिगड़ा जिसके लिये तू इतना सोच कर रही है।

हे रानी, जो सजन बिखुड़ते हैं, फिर उत्सुकता से मिला करते हैं। आलिंगनबद्ध होते हैं। मृगशिरा की तपन सहने वाले आर्द्रा में फिर नवपल्लवित होते हैं, सूखे तरु हरे हो जाते हैं—यही प्रकृति का नियम है।

शब्दार्थ—परावा=पराया। सेवाती=स्वाती। टेकु=आन। दहि=दग्ध। नंसा=नाश। पलुहंत=नवपल्लवित होना। गहगहि=उत्सुकता से। पाट महादेइ=पटरानी, यहाँ क्लिष्ट पाठ है। थीती=मर्यादा। मिरगिसिरा=मृगशिरा नक्षत्र, तापपूर्ण होता है।

(३४४)

चढ़ा असाढ़ गँगन घन गाजा। साजा विरह दुँद दल बाजा॥
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए॥
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा॥
अद्रा लाग बीज भुँई लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई॥
ओनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहि बेझ घट रहै न जीऊ॥
पुख नक्षत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा॥
जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौं तिन्ह गर्ब।
कन्त पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्ब॥३४४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

असाढ़ का मास आया तो आकाश में मेघ गरजने लगा। नागमती को लगा कि विरह ने सेना सहित उसके साथ युद्ध करने की सूचना दी है। धुंसहरे, श्याम और श्वेत बादल सैन्यदल से उमड़े। उनमें तैरते हुए बगुलों की कतारें फहराती हुई ध्वजा-सी दृष्टि-गोचर होने लगीं। चारों ओर खड्ग-सी बिजलियाँ चमकने लगीं। घनघोर बादलों से तीर की तरह बूँदें बरसने लगीं। आर्द्रा लगते ही चंचला भूमि पर टूटने लगी। नागमती दुखी होती है—हाय, ऐसे समय में मुझे प्रियतम के बिना कौन सम्मान-सन्तोष देगा ? चारों ओर घटा छा गई है। हे प्रियतम, मुझे काम ने पूरी तरह घेर लिया है, आकर बचाओ। दादुर, मोर, कोयल और पपीहा प्राणों को विदीर्ण किये डाल रहे हैं। प्राण रहना अस-

म्भव है। पुष्य नक्षत्र सिर के ऊपर खड़ा है। मैं स्वामी से दूर हूँ; फिर कौन मेरा मंदिर छवाएगा ?—मुझे कौन अपने पार्श्व में आश्रय देगा ?

नागमती सोचती है कि वे रमणियाँ सुखी हैं, गर्व-गौरवशालिनी हैं, जिनके पिया उनके पास हैं—घर पर हैं। मैं अभागिन, कि मेरा साजन मुझसे दूर है। अतः मैं सब सुख-भोग भुला बैठी हूँ।

विशेष—विप्रलंभ शृङ्गार के भाव-विभावों आदि का जायसी ने बड़ी निपुणता से इस पद में वर्णन किया है। ऋतु सम्बन्धी नक्षत्रों का ऐसा यथारूप प्रयोग उनके गम्भीर ज्ञान का परिचय देता है। काव्य परम्परा का जायसी को खूब ज्ञान था, किन्तु उन्होंने उसे पूरी तरह हृदय के भावों में ढालकर व्यक्त किया है—ऊहात्मक ढंग से नहीं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३४५)

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी॥
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा। भै बाउरि कहँ कंत सरेखा॥
रकत क आँसु परे भुँइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुँइँ कुसुम्भि तन चोला॥
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावैं देइ झँकोरा॥
बट असूझ अथाह गँभीरा। जिउ बाउर भा भवैं भँभीरा॥
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी॥
परबत समुंद अगम बिच बन देहड़ घन ढंख।
किमि करि भेंटौं कन्त तोहि ना मोहि पांव न पंख॥३४५॥

भावार्थ—नागमती विरहातुर दशा में सोचती है—

श्रावण मास है, मेघों से ज़ोर से जलवर्षा हो रही है। मूसलाधार पानी बरस रहा है; पर हाय, मैं विरह में झुलस रही हूँ। पुनर्वसु नक्षत्र लग गया है, पर प्रियतम ने उसे नहीं देखा, काम-इच्छा को नहीं जाना, नहीं तो तुरन्त आते। मेरे चतुर प्रियतम कहाँ गए ?—यह सोचते-सोचते मैं पागल हो चली हूँ। रक्त के अश्रु टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। ऐसा लगता है कि जैसे वीर-बहूटियाँ रेंगती हैं। सखियों ने अपने कन्तों के साथ झूलना किया है।

हरी सुहानी भूमि के अनुरूप उन्होंने अपना तन कुसुम्भी चोले से सज्जित किया है और एक मैं अभागिन हूँ कि मेरा मन हिंडोले की भाँति नीचे-ऊपर हो रहा है। विरह उसे झुला रहा है और दुष्ट झोटों से बेचैन बनाए है। रास्ता अदृश्य, अनन्त और घोर भयानक है। पागल बना-सा मेरा प्राण भँभीरी की तरह चक्कर काट रहा है। जहाँ तक दृष्टि डालती हूँ तो दीखता है कि सारा जग जलमय हो रहा है। मेरे जीवन की नाव पर कोई मल्लाह नहीं है—उसके अभाव में वह ठहरी हुई है। आशय है कि मेरा जीवन

एकदम नीरस, सुनसान और बेसहारा है, मैं पति विहीन, परित्यक्ता हूँ !

मेरे और प्रियतम के मध्य में ऊँचे पर्वत, गहरे सागर, बीहड़ बन और घने ढाक के जंगल हैं। हे प्रियतम, मैं विवश हूँ, अबला हूँ—तुमसे कैसे मिलूँ ? न मेरे पाँव हैं और न पंख ही।

शब्दार्थ—मेह = बादल। भरनि = मूसलाधार वृष्टि। बाट = रास्ता। भँमीरा = एक कीट। थाकी = थकी हुई, ठहरी हुई। खेवक = मल्लाह। ढंख = ढाक।

(३४६)

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी ॥
मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा ॥
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी ॥
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहि जसि ओरी ॥
पुरवा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी ॥
धनि सूखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचति नाहाँ ॥
जल थल भरे अपूरि सब गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ दे बूड़त पिय टेक ॥ ३४६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सजल भादों का महीना आ गया है जो कठोर और दुखदाई है। अन्धकार से घिरी भयानक रात ?—कैसे बिताऊँ ? मेरा महल सूना करके प्रियतम कहीं और जा बसे हैं। सेज नागिन सी बनी दौड़-दौड़कर डसती है। पाटी पकड़े मैं एक ओर अकेली पड़ी रहती हूँ। मेरे नेत्र फटे-फटे हैं—हृदय फटने से मरी जा रही हूँ। बिजली चमक कर और बादल गरज कर मुझे संत्रस्त करते हैं। काल सा विरह मेरे प्राणों को खाए जा रहा है। झकझोरकर, ज़ोर-शोर से मघा नक्षत्र बरस रहा है। मेरे दोनों नेत्र पनाली जैसे चू रहे हैं। पूर्वा लग गया है, धरती जल से भर गई है। मैं सूख कर ऐसी हो गई हूँ जैसे पावस में आक और जवास पत्रहीन हो जाते हैं। हे स्वामी, भादों के इस जल वर्षित वातावरण में भी तुम्हारी विरहिणी काँता सूख रही है, अब भी आकर इसे क्यों नहीं अपने प्रेम-रस से सींच देते ?—यह फिर हरी हो जायगी !

उँचे स्थान भी पूरी तरह जल पूरित हो गए हैं। इस वर्षा में धरती आकाश मिलकर एक हो गए हैं। (घोर वर्षा में ऐसा दृश्य प्राय: प्रतीत होता है।) हे प्रियतम ! इस मौसम में, यौवन के अगाध जल में निमिज्जित होती हुई अपनी प्रिया को डूबने से बचाओ।

शब्दार्थ—सरल हैं। भावार्थ से स्पष्ट मालूम हो सकते हैं।

(३४७)

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहूँ आउ पिउ परभुमि लटा ॥

तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त फेरि करु माया ॥
उए अगस्त हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़ै रन राजा ॥
चित्रा मित मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा॥
स्वाति बुन्द चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोंति लै भरे ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरुरहिं खँजन देखाए ॥
भए अगवास कास बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले ॥
बिरह हस्ति तन सालैं खाई करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर ॥ ३४७ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

क्वार का महीना लगा है, संसार में जल कम होने लगा। हे प्रिय, अब भी पर-देश भ्रमण-रमण से वापिस लौट आओ। हे प्राण! सच मानना, तुम्हें देखकर मेरा विवर्ण-कृश गात पुनः हरा हो जायगा। अपना विमुख हुआ चित्त मेरे ऊपर दया करके फिर लौटा लाओ, आ जाओ! अगस्त के उदय होने पर हस्त नक्षत्र का बादल गरजने लगा। घोड़ों पर सवार, ज़ीन रखकर राजाओं ने युद्ध का आयोजन करना शुरू किया। चित्रा का मित्र, चन्द्रमा मीन राशि में आ पहुँचा है। कोयल ने अपनी पुकार से अपना प्रियतम पा लिया है—अतः वह मौन हो गई है। स्वाति की बूँदें चातक के मुख ने पा ली हैं। समुद्र की सीपियाँ गर्भवती हो गई हैं,—उनमें मोती पैदा हो गए हैं। सरोवर की केलिक्रीड़ा का स्मरण कर हंस लौट आए हैं। सारस बोलने लगे हैं, खंजन पक्षी पुनः दृष्टिगोचर होने लगे हैं। मैदानों में कास के वन फूल उठे हैं। हे प्रियतम, पर तुम परदेस में मुझे और मेरे यहाँ का सारा रासरंग ऐसा भूले कि लौटकर न आए।

मेरे शरीर को विरह रूपी हाथी वेदना दे रहा है। वह इसे अपना भक्ष्य बनाकर मिटा देगा। अतः हे प्रियतम, शीघ्र आ पहुँचो और इस विरह कुंजर के आगे सिंह सदृश गर्जना करो—मेरा जीवन बच जायगा।

शब्दार्थ—लटा=कम हो गया। उए=उगा। पलानि=जीन कसना। तुरै=घोड़े। कुरुरहिं=सारसों के बोलने का शब्द। अगवास=मैदान। हस्ति=हाथी। सालैं वेदना दे रहा है। बाजहु=पहुँचो। बेगि=शीघ्र।

(३४८)

कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हौं विरहैं जारी ॥
चौदह करा कीन्ह परगासू। जानहुँ जरैं सब धरति अकासू ॥
तन मन सेज, करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद मोहि होइ राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिन कन्त पियारा ॥
अबहूँ निठुर आव एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहिं अंग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहँ बिरह सवति दुख दूजा॥

सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कन्त बिनु तेहिं रही छार सिर मेलि।।३४८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती अनुभव करती है कि कातिक में शरद्-चन्द्र की चाँदनी बिछ गई है। यह संसार शीतल है पर मैं विरह-दग्धा हूँ। चौदह कलाओं से पूर्ण चन्द्र ने ज्योत्सना विकीर्ण की है किन्तु मुझे लगता है कि धरती-आकाश, सब कुछ जला जा रहा है। मेरे तन-मन में आग की सेज बिछी है। सबों के लिए जो सुखकर शीतल चन्द्र है, वही मुझ दुखयारी के लिये राहु बनकर मुझे ग्रसे जा रहा है। घर में प्राण प्रियतम नहीं हैं तो चारों खण्डों में अंधकार ही अंधकार सूझता है। हे निठुरे, अब भी, इस बार तो आजा! देख, दिवाली के मंगल पर्व को संसार मना रहा है। सखियाँ अंग मोड़ तोडकर झुमके गा रही हैं। बस एक मैं ही सूखी दुखियारी ऐसी बैठी हूँ जिसकी जोड़ी बिछड़ी है—जो अकेली है, जो उदास है। जिसका पति घर पर है वह कातिकी पूर्णिमा को सप्तर्षियों का पूजन करती है। पर मैं कैसे करूँ?—मुझे तो पहले विरह और फिर अपनी सौत,—इन दोनों का भारी सन्ताप है।

सब सखियाँ दिवाली में मंगल गान गाकर उत्सव मना रही हैं—खेल खेल रही हैं, किन्तु मैं क्या खेल खेलूँ; जब हे प्रियतम, तुम ही विलग विमुख हो! इसी कष्ट से मैं सिर पर धूल डाल रही हूँ—शोक निमग्ना हूँ।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३४९)

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी।।
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै विरह ज्यों दीपक बाती।।
कांपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ।।
घर घर चीर रचा सब काहूँ। मोर रूप रँग लै गा नाहूँ।।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोही। अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई।।
सियरि अगिनि बिरहिन हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै मैं छारा।।
यह दुख दगध न जानैं कंतू। जोबन जरम करैं भसमंतू।।
पिय सौं कहेहु सँदेसरा ए भँवरा ए काग।
सो धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग।। ४९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

अगहन मास में दिन घटा और रात बड़ी हुई। नागमती सोचती है, मेरा दुःख बड़ा असह है; फिर यह रात कैसे व्यतीत होगी? अब तो नागमती को दिन भी रात की तरह होकर व्यथित करता है। वह विरह में इस भाँति जल रही है जैसे दीपक की लौ जलती है। शीत के दुष्प्रभाव के कारण उसका उर काँपता है। कविवर जायसी कहते हैं कि यदि प्रियतम संग हो तभी शीत जाता है। घर-घर में सबने शीत के गरम वस्त्र निकाल

लिए हैं। पर मैं किसके लिये?—मेरा साज शृङ्गार तो प्रियतम के साथ ही विदा हो गया। रानी सोचती है—वह विद्रोही जब से गया फिर लौटकर न आया। यदि निठुर अब भी लौटकर आ जाय तो यौवन का निखार आ जाये। शीतता अग्नि बनकर विरहिणी का मानस जलाती है। हृदय जलते सुलगते हुये राख बन गया है। प्रियतम यह विरह-दुःख नहीं जानता जो कि मेरा यौवन और जीवन भस्म किये दे रहा है।

अरे भँवरे, अरे काग!—मेरे प्रियतम से मेरा सन्देश कह देना कि तुम्हारी वह रमणी विरह में जल गई है; और उसी का धुंआँ हमें लगा है जो हम काले पड़ गए हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३५०)

पूस जाड़ थरथर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा॥
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीउ। कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ॥
कंत कहाँ हौं लागौं हियरें। पंथ अपार सूझ नहि नियरें॥
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी॥
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहि सखी। कैसें जिऔं बिछोही पँखी॥
बिरह सँचान भँवै तन चाँड़ा। जीयत खाइ मुएँ नहि छाँड़ा॥
रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख॥३५०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पूस के शीत से तन थर-थर काँपता है। तब सूरज भी जड़िया कर अथवा जाड़े के प्रभाव से दक्षिण दिशा अथवा कटि प्रदेश की ओर जाकर तापता है—काम-वासना उद्दीप्त होती है। विरह वृद्धि से शीत और भी दुखदायी होगया है। उसके कारण मैं थर-थर काँपती हूँ और वह मेरा प्राण ही निकाले ले रहा है। मेरा पति कहाँ है जो मैं रक्षार्थ उसके हृदय से जुड़ूँ? पंथ अज्ञात है, निकट का भी कुछ दिखलाई नहीं पड़ता—अनवरत रुदन के कारण! बिस्तरे में भी मानो शीत की जूड़ी आती है मानो शैय्या हिमालय के बर्फ में डूबी हो। चकवी तो रात भर बिछुड़कर सबेरे चकवे से मिल जाती है, किंतु मैं दिन-रात विरहाकुल कोयल बनकर अपने प्रियतम को पुकारती रहती हूँ। रात एकाकी, कोई सखी भी साथ में नहीं है। यों मैं कैसे जीवित रहूँ?—जबकि मेरा प्रियतम-पखेरू मुझसे विलग है। विरह रूपी बाज शरीर पर चढ़ा भँवे तान रहा है—मँडरा रहा है। जीते-मरते वह मुझे बिना खाए हुए न छोड़ेगा।

कविवर जायसी लिखते हैं—इस प्रकार विरहिणी नागमती का रक्त आँसू-सा ढला माँस विरह-वियोग के कारण गल गया, हाड़ शुष्क होकर शंख से होगए। वह सुन्दरी, अबला, सारस की जोड़ी की भाँति प्रियतम का नाम लेते मर चली कि हे प्रिय! अब तो आकर उसके पंख समेट लो—अन्त्येष्टि क्रिया में अपना प्रेम-स्पर्श करदो!

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३५१)

लागेउ माँह परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रुई जो झाँपे। हहलि हहलि अधिको हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ॥
एहि मास उपजै रस मूलू। तू सो भँवर मोर जोबन फूलू॥
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू॥
टूटहिं बुँद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहिक सिंगार को पहरि पटोरा। गियँ नहिं हार रही होइ डोरा॥
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई तन तिनुबर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल॥३५१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

माघ माँस लग गया और पाला गिरने लगा है। शीत काल में विरह-काल कराल-सा ही बन गया है। शीत से बचने के लिये अंग को ज्यों-ज्यों रुई से ढकते हैं त्यों-त्यों अधिक हृदय हहर-हहरकर कम्पायमान होता है। हे स्वामी, सूर्य सदृश आकर तपो—मुझे अपने प्रण का ताप दो। तुम्हारे बिना माघ का शीत दूर नहीं हो सकता। इसी मास में प्रकृति की जड़ों में वह रस उत्पन्न होता है जिससे फूल खिलते हैं। अतः तुम ही मेरे यौवन के फूल का रस लेने वाले भँवरा हो—हे प्रिय, मुझे रस सिंचन दो—आलिंगन का! मेरे नेत्र इस प्रकार बरस रहे हैं जैसे माह की वृष्टि में जल बरसता है। उस जल से तेरे अभाव में शरीर जलता है, पहने हुए वस्त्र तीर से चुभते हैं। बूँदे टूट गिरकर ओलों जैसा प्रहार करती हैं। विरह, वायु सा बनकर उन ओलों की झौर मारता है। मैं अब किसके लिये शृंगार करूँ? क्यों पटोरा वस्त्र पहनूँ? मेरी ग्रीवा में हार नहीं रहा, क्योंकि उसके डोरे सी पतली रह गई हूँ—अति दुर्बल होगई हूँ।

हे स्वामी, तुम्हारे विरह-विछोह के कारण तुम्हारी प्रिया हल्की होगई है, और उसका शरीर तिनकों सा अस्त-व्यस्त हो गया है। उस पर भी विरह शांत नहीं; वह चाहता है कि जलाकर राख बनाकर उड़ा दे।

शब्दार्थ—जड़काला=शीतकाल। झाँपै=ढकते हैं। हहलि हहलि=हहर हहर कर। माहुट=माघ का मेह। चीरू=वस्त्र। झोला=शीत-झकोरा। गियँ=गर्दन। हरुकी=हल्की। तिनुवर=तिनकों-सा। झोल=राख।

(३५२)

फागुन पवन झंकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।
तन जस पियर पात भा मोरा। विरह न रहै पवन होइ झोरा॥
तरिवर झरै झरै बन ढांखा। भइ अनपत्त फूल फर साखा॥
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहं भा जग दून उदासू॥

फाग करहि सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्ह जसि होरी॥
जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा॥
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत थार जेउँ तोरें॥
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कँत धरैं जँह पाउ॥३५२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

फागुन में वायु के प्रखर झोंके चलते हैं। शीत चौगुना बढ़ जाता है, कैसे सहा जाय ? मेरा तन सूखे पत्ते की भाँति पीला हो गया है। विरह के कारण वह पीले पत्ते जैसा शरीर भी नहीं टिकेगा, क्योंकि पवन रूपी विरह उसे झकझोर देगा। वृक्ष झरकर पत्र-हीन हो रहे हैं, और बन-ढाक भी झर रहे हैं—जीवन तरुवर पर पतझर ही पतझर का प्रहार हो रहा है ! फल-फूलवाली शाखाएँ पत्रहीन होगई हैं। अब पुनः प्रकृति की नव-कलियाँ प्रस्फुटित हो रही हैं; सारी वनस्पति उत्फुल्ल होने लगी है। पर मुझ विरहिणी नागमती के लिये तो सारा संसार दूनी उदासी से भर गया है। क्योंकि हर वस्तु पुनः नव-यौवन रस पा रही है, पर मैं नहीं ! सभी जोड़े से नाचकर फाग-हर्ष मना रहे हैं। किन्तु मेरे प्राणों में जैसे किसी ने होली की आग लगा दी है। यदि वस्तुतः मेरे प्रियतम को इस प्रकार से मेरे जलने में सुख मिलता है तो मुझे अपने जलने मरने के प्रति कोई पश्चाताप नहीं, रोष नहीं। पर कौन बताए कि यह सब प्रियतम को सुखमय लगता भी है ! दिन-रात मेरे जी में यही रहता है कि, हे प्रियतम ! मैं तेरे थाल जैसे चौड़े वक्ष से जुड़ जाऊँ।

कामना करती हूँ कि अपने शरीर को जलाकर राख कर दूँ और कहूँ—हे पवन, इसे उड़ा ले जाओ। शायद उड़कर उस मार्ग में मेरी राख, जो मैं ही हूँ, जा पड़े, जहाँ मेरे प्रियतम कभी चरण रक्खें—मैं इस प्रकार से उनके चरण-स्पर्श कर निहाल हो जाऊँगी।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने प्रेमी की सूक्ष्म मिलन कामना का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है। और फिर एक भारतीय पत्नी के हृदय में अन्ततः इस सद्-भावना से अधिक क्या हो सकता है कि मरने पर अपने पति के चरण-स्पर्श का सौभाग्य पाऊँ। 'करुण' भाव के इससे अधिक रागात्मक उदाहरण कम उपलब्ध होंगे। ऐसी ही एक और उक्ति देखिए—

"कागा सब तन खाइये चुन चुन खइये माँसु,
दो नयना मत खाइये सो पिया मिलन की आसु।"

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३५३)

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत होइ सगरौ बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ टेसू बन राता॥
मौरे आँब फरैं अब लागे। अबहुँ सँवरि घर आउ सभागे॥

सहस भाव फूली बनफती । मधुकर फिरे सँवरि मालती ॥
मो कहँ फूल भए जस काँटे । दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे ॥
भर जोबन एहु नारँग साखा । सोवा बिरह अब जाइ न राखा ॥
घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि ।
नारि पाराए हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ॥३५३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

चैत में होली का रागरंग और सुख-उत्सव होता है। किन्तु हाय, मेरे लिये तो सारा संसार जैसे उजाड़ है। कोयल पंचम राग रूपी काम बाण मार रही है, एवं रक्त के अश्रु सारे वन में बिखेरती है। कोयल भी सम्भवतः मुझ विरहिणी की भाँति अपने प्रियतम के विरह में व्याकुल है—यह है नागमती का विचार! आगे वह सोचती है, उन रक्त के आँसुओं में डूबकर वृक्षों के नव पल्लव ताम्र रंग से रंजित दीखते हैं। मँजीठ भी उन आँसुओं से भीगा है और बन का टेसू रक्तिम हो गया है। बौरे हुए आम फलयुक्त होने लगे हैं। हे प्रियतम, अब भी मेरी सुधि लेकर घर आ जाओ। वनस्पति अनेक प्रकार की भावना का संचार करती हुई विविध दृश्यों में फूली हुई है। मालती की सुधि लेकर भौंरे लौट आए हैं। पर मुझे पुष्प, काँटों जैसे हो गए हैं। उन्हें दृष्टि से देखते ही शरीर में मानो चींटे से चिपट जाते हैं। मेरे शरीर की शाखा पर लगे स्तनरूपी नारंग पर यौवन का उन्माद भर गया है—स्तन पूरी तरह उभर रहे हैं। देखो कंत, उन्हें विरह रूपी तोता खाने की घात में है। कैसे रक्षा करूँ? (रूपक अलंकार है।)

हे प्रिय, कलाबाज़ कबूतर की तरह तुम मेरी रक्षार्थ, कामनार्थ आकर टूटो—शीघ्र आओ। तुम्हारी स्त्री दूसरे के चुंगल में है। सिवाय तुम्हारे, यह दुर्दशा से मुक्त न हो सकेगी।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३५४)

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चँदन भौ आगी ॥
सुरुज जरत हिवंचल ताका। विरह बजागि सौंहें रथ हाँका ॥
जरत बजागिनि होउ पिय छाँहा। आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी ॥
लागिउँ जरे जरे जस भारू। बहुरि जो भूँजसि तजौं न बारू ॥
सरबर हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ होइ बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ॥
कँवल जो बिगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौं पिय सींचहु आइ ॥३५४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

बैसाख मास आया, और भी तपन बढ़ने लगी। चँदनोटा के वस्त्र में आग सी जल

उठी। जलता हुआ सा सूर्य उत्तरायण अथवा हिमालय की ओर जाने की फिक्र करने लगा। विरहिणी नागमती सोच रही है—पर उधर न जाकर उसने अपना बज्राग्नि का रथ मेरी ओर ही हाँक दिया है। हे प्रियतस, देखो, मैं जलने को हूँ; बचाने के लिये मुझे अपनी छाया दो, तरल प्यार का आश्रय दो ? यह जलती हुई नारी तुम्हारे दर्शनो से ही शीतल होगी। मैं अंगारों में जल रही हूँ, उन्हें आकर बुझाओ ! हे प्रियतम, शीघ्र आओ, अंगारों की लपटों को शीतल फुलवारी का स्थल बना दो। मैं उसी प्रकार जलने लगी हूँ जैसे भाड़ जलता है। मेरा अंग-अंग जल रहा है ! तुम यदि अपने हाथ से मुझे फिर फिर भी जलाओ तो मैं तुम्हारा प्रेम-दुआरा न छोड़ूँगी। आशा है तुम्हारी निठुरता की बालू को, जो विरह भाड़ में तप रही है, मैं नहीं छोड़ूँगी। नित्य प्रति मेरा हृदय ग्रीष्म के सरोवर के जल की भाँति समाप्त होता जा रहा है। किसी दिन भी वह टुकड़े-टुकड़े होकर पूरी तरह फट जायगा। हे प्रिय, आश्रय दो ! हृदय फटा जा रहा है। अपने असाढ़ के पहले मेघजल अर्थात दवँगरी (वर्षा-झड़ी) की भाँति उसे स्नेह जल से सिंचित करो, अपनी स्नेह दृष्टि से उसे एकत्व प्रदान करो !

देखो, जो कमल मानसरोवर में खिला था, वह मिट्टी में मिलकर सूख चला है। यदि अब भी तुम प्रेम-रस से सिंचित करोगे तो मेरी सूखी जीवन-लता में नवपल्लव फूट जायँगे—वह हरी हो जायगी !

विशेष—प्रस्तुत पद में विरह वर्णन की सीमा फारसी पद्धति की है। फारसी साहित्य में इस प्रकार का विरह वर्णन जो वीभत्स के निकट पड़ता है, अधिक पाया जाता है। जायसी के ऐसे वर्णन में यह प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार का एक उदाहरण देखिए—प्रेम के लिये—

आतिशे हिज्र से जलाता है।
आग पानी में यह लगाता है।
इससे जिसने जरा तपाक किया।
सबसे पहले उसे हलाक किया।
मार डाले तमाशगीनों को।
ज़हर खिलवा दिया हसीनों को।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३५५)

जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा॥
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा॥
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी॥
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी॥
अधजर भई मासु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा॥

माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागा। अबहूँ आउ आवत सुनि भागा ॥
परबत समुँद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिअै जरै जों अस पिय लागि ॥३५५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जेठ मास में सारा संसार जलने लगा और लू चलने लगीं, बवंडर उठे और पहाड़ धधकने लगे। गर्जना करके विरह हनुमान की भाँति जागा और तन में लंका दहन सा मचाने लगा। चारों ओर से वायु आग झकझोरने लगा। विरह की ज्वाला अब लंका को जलाकर पलंका में लग गई है—नागमती के पलंग पर भी लग गई है, वह जलकर यमुना नदी की भाँति काली पड़ गई है। विरह की आग मंद ज्वाला सी, बड़ी दुःसह होती है—घोट-घोटकर प्राण लेती है। आग भड़की और ऊपर से आँधी चली। ऐसे अग्निमय वातावरण में आँखों से कुछ दिखाई नहीं पड़ता। नागमती कहती है, मैं दुख की जकड़न से मरी जा रही हूँ। मैं अधजली होगई हूँ और तन का माँस सूख गया है। विरह क्षुधातुर क्रूर कौवे की तरह मेरा मांस खाने लगा है। वह मांस तो खा चुका है अब हड्डियों को उधेड़ने में जुटा है। हे प्रियतम, अब भी अगर आ जाओ तो तुम्हारा आना ही सुनकर वह भाग जायगा।

कविवर जायसी कहते हैं—पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्र और सूर्य भी इस विरहाग्नि को नहीं सह सकते। हाँ, उस सती की सराहना करनी चाहिये जो अपने प्रियतम के लिये इस प्रकार जलती रहती है—फिर भी उससे प्यार करती है!

शब्दार्थ—बवंडर=तूफान। धिकै=धधकने। गाजि=गर्जना। लंकाडाह=लंकादहन। पलंका=लंका से भी परे का स्थान, पलंग। कालिन्दी=यमुना। मंदी=धीमी। अधजर=आधी जली हुई। दिनअर=सूर्य।

(३५६)

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी ॥
तन तिनुवर भा झूरौं खरी। मैं बिरहा आगरि सिर परी ॥
साँठि नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा ॥
बंध नाहि औ कंध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई ॥
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी ॥
बरसहिं नैन चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाँहाँ ॥
कोरे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा ॥
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ ॥ ३५६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

अब जेठ-असाढ़ी की कठिनतम गर्मी शरीर में व्याप्त होने लगी है। मेरे लिये यह तपन कष्टदायक भयानक छाजन रोग का रूप ले चुकी है। शरीर तिनकों के ढेर सा दुर्बल

हो गया है, और मैं खड़ी-खड़ी सूखती जा रही हूँ,—प्रियतम की घोर प्रतीक्ष में ! मैं विरहिणी हूँ; और तिस पर कठोर विरह की भारी अर्गला या खान मेरे सिर पर पड़ी है। मेरे पास कोई ऐसी निधि भी नहीं जिससे कि कुछ धैर्य रख सकूँ। अब मेरा होकर कौन मुझसे स्नेह की बात पूछेगा ?—मैं तो पति के प्रेम में सर्वथा लुट चुकी हूँ ! बिना प्राण-प्रियतम के मेरा शरीर मूंज सरीखा व्यर्थ हो गया है। मेरा कोई बन्धु नहीं, कोई अवलम्ब नहीं। विवशता ऐसी कि मुँह से शब्द भी नहीं निकलता, फिर किससे रोकर दुखड़ा कहूँ ? रो-रोकर दुर्बल हो गई हूँ, और सब ओर से निराश्रित हूँ। जब कोई धैर्य-स्तम्भ या सहारा ही नहीं तो छप्पर की छवाई की थूनी कैसे उठ सकती है ? आशय यह है कि जब मेरा कोई आश्रय ही नहीं रहा तो ज़िन्दगी कैसे जिऊँ ? मेरे नेत्र आँसू बहाते हैं, और वे जीवन के घर में टपकते हैं। हे प्रियतम, तुम्हारे बिना न कोई ठिकाना है और न आश्रय ? हाय, तुम्हारे बिना मेरा कैसा साज-शृंगार ? हे कन्त, तुम्हारे बिना अब वस्त्र भी मुझे शोभायमान नहीं होते।

हे प्रियतम, अब भी दया की दृष्टि करके घर लौट आओ—परकीया के साथ एकान्तवास-विलास त्याग दो। मेरा जीवन मंदिर उजाड़ हो रहा है; आकर पुनः इसे आबाद करो।

विशेष—'स्वकीया' के मनोभावों का सजीव चित्रण कर जायसी ने यहाँ गाढ़ करुण रस का संचार किया है। सरल मुहावरेदार ग्रामीण भाषा में साहित्य का इतना उत्कृष्ट पक्ष सँवारकर प्रस्तुत करना जायसी की महा-कवित्वमयी शक्ति का एक ज्वलंत प्रमाण है।

शब्दार्थ—छाजनि=त्वचा का एक भयानक गर्म रोग। गाढ़ी=भयानक, दुखकर। तिनुवर=तिनकों का ढेर। साठि=निधि, आश्रय की ठाँव। आगरि=अर्गला, खान। कंध=कंधा। बंध=बंधु। बाक=बात। ररि=रोकर। थूनी=छवाई। छान्हि =छप्पर।

(३५७)

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा ॥
तिल तिल बरसि बरसि बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई ॥
सो न आउ पिय रूप मुरारी। जासों पाव सुहाग सो नारी ॥
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु सो घरी करै पिउ फेरा ॥
दहि कोइल भै कंत सनेहा। तोला मांस रहा नहिं देहा ॥
रकत न रहा विरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा ॥
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु जोरु रे नाहा ॥
बरसि देवस धनि रोइ कै हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूंछि कै पूंछै निसरी पाँखि ॥ ३५७ ॥

भावार्थ—बारह मासे के विरह का वर्णन कर कविवर जायसी लिखते हैं—

यों नागमती ने रुदन कर-करके बारहों माह या पूरे वर्ष के दिवस विरह व्याकुलता में व्यतीत किये। एक-एक साँस से वह सहस्र दुःख झेलती थी। पल-पल, वर्ष-वर्ष के समान दुःसह कष्ट के साथ बीतता था। एक-एक पहर युग-युग के समान था,—कष्टदायक, बिताने में असमर्थ ! कृष्णमुरारी के समान उसका वह रूप नायक पति रत्नसेन न आया, जिससे वह विरहिणी बाला सुहाग का सुख पाती। साँझ होने पर वह स्मृतिलीन समुत्सुक पंथ निहारती थी कि किस शुभ घड़ी में प्रियतम आये···आये ! कहती थी,—मैं कंत के विरह-स्नेह में जलकर कोमल या काली हो गई हूँ। शरीर पर तोला भर माँस शेष नहीं रहा, रक्त भी नहीं रहा। विरह के ताप से शरीर गल-निचुड़ गया है। कण-कण, रत्ती-रत्ती होकर आँखों से वह अश्रु बनकर ढल गया है। हे निठुर प्रियतम, आपकी यह दासी आपके चरणों पड़ती है····"हा-हा" खाती है। हे स्वामी, खंडित हुआ स्नेह-उर फिर जोड़ो···फिर जोड़ो।

इस भाँति, कविवर जायसी लिखते हैं कि वर्ष भर के दिनों तक वह विरहिणी बाला रो-रोकर पश्चात्ताप करके हृदय हार गई,—निराश हो गई। घर-घर के लोगों से पति का पता पूछते-पूछते हार गई—पर किसी ने कुछ न बताया—घोर निष्ठुरता और निराशा से अभिभूत होकर वह बन के पक्षियों से पति का संदेश—समाचार सुनाने-पूछने निकली।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने कला के सबसे उत्कृष्ट मानदण्ड—आत्म पीड़न एवं व्यापक सहानुभूति का अत्यन्त मौलिक एवं मार्मिक चित्रण किया है। कालिदास ने अपनी पीड़ा, मेघदूत को दूत बनाकर कही, और तुलसी ने राम से "हे खग मृग···" कहलवाकर सीता के विरह में विकल राम की पीड़ा का प्रकाशन किया। किन्तु जायसी ने इनसे भी गहरा भाव,—मानवीय वेदना और पशु जगत के संवेदन के अटूट सम्बन्ध का प्रकट किया है। 'कला' का यह स्वरूप, यह प्रसंग,—अन्यत्र मिलना कठिन है। "पूछैं निसरी पाँख" इस कारुणिक प्रश्न का कारुणिक उत्तर आगे पंछी भी देने लगा है। यों इस प्रसंग में जायसी सम्भवतः सबसे अकेले और ऊँचे कवि हैं—यह निर्विवाद कहा जायगा।

शब्दार्थ—बस=शक्ति, बल। सिराई=व्यतीत होता था। मुरारी=कृष्ण। झुरि झुरि=स्मृति में। दहि=जलकर। चेरी=दासी। चूरा=टूटा हुआ। झाँखि=पश्चाताप में।

(३५८)

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू।।
कै खर बान कसै पिय लागा। जौ घर आवै अबहूँ कागा।।
हारिल भई पंथ में सेवा। अब तहँ पठवौं कौन परेवा।।
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जो चित रोख न दोसर नाऊँ।।
जाहि बया गहि पिय कँठ लावा। करे मिराउ सोइ गौरावा।।

कोइल भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही ॥
पियरि तिलोरि आव जलहंसा। बिरहा पैंठि हिएँ कत नंसा ॥
जो पंखी कहँ अढ़वौं कहि सो विरह कै बात।
सोइ पंखी जाइ इहि तरिवर होइ निपात ॥३५८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती ने पति का पता पूछने के लिये मोरनी बनकर बनवास लिया। पर वैरिन सौत ने फँसाने का फन्दा "चिल्हबाँस" लगा दिया कि कोई वहाँ तक न जा सके। विरह के तीखे बाण कस-कसकर प्रिय छोड़ रहा है, हे कौवे, बता क्या अब भी मेरा प्रियतम घर लौटेगा? आशय है कि प्रिय आगमन का प्रतीक कौवा अब भी प्रिय लगता है! मैं स्वयं प्रिय के विरह पंथ पर चलती-चलती हारिल बन चुकी हूँ, थक चुकी हूँ—ऐसी दशा में और किस पक्षी को उसके पास सन्देशा देकर भेजूँ? जब मैं ही असमर्थ हो गई हूँ! हे धौरी, पंडुक, मेरे प्रियतम का स्थान बतलाओ? जब तक मेरे हृदय में वह प्रियतम पक्षी बसा है, तब तक मैं किसी दूसरे का नाम उससे रोष होते हुए भी नहीं ले सकती—मैं पतिव्रता हूँ! हे बया, जाओ और मेरे गले लगने वाले प्रियतम को लाओ। जो मुझे मेरे प्रियतम से मिलाए वही गौरवा या गौरवपूर्ण पक्षी है। उसके विरह में जलते पुकारते मैं कोयल-सी काली हो गई हूँ; या मेरी पुकार आम की गुठली की पपीही (कोइली) की तरह व्यर्थ हो गई है। दही बेचनेवाली की तरह मैं सर्वत्र "दही लो" पुकार रही हूँ। आशय यह है कि मैं "दही रे", "जली रे" पुकारती फिर रही हूँ; कोई मेरी रक्षा करो। पीलक, तिलौरी मैना और जलहंस आओ, बताओ, कि विरह मेरे हृदय में बैठकर मुझे क्यों मारे डाल रहा है?

किन्तु विरह की बात कहकर जिस पक्षी को प्रिय का सन्देश देकर भेजती हूँ; वही जल जाता है। और उसका घोंसले वाला वृक्ष तक जलकर नष्ट भ्रष्ट, पत्रहीन हो जाता है। आशय यह है कि मेरा विरह कोई युक्ति कारगर नहीं होने देता।

विशेष—प्रस्तुत पद में पक्षियों के माध्यम से जायसी ने नागमती के व्यापक विरह वेदना को प्रकट किया है। किन्तु पद में भावना का आवेश होने के कारण वाणी का संयम ढीला पड़ गया है। अर्थ कुछ दुरूह हो गया है।

शब्दार्थ—पुछारि = मोरनी या पूछने वाली। चिल्हबाँसु = चिड़ियों के फँसाने का फन्दा। गौरव = गौरवपूर्ण, गौरवा पक्षी। दही = दधि या जली। नंसा = नष्ट करना या मारना। अढ़वौं = भेजती हूँ। डहि = जल जाना।

(३५९)

कुहुकि कुहुकि जस कोइलि रोई। रकत आँसु घुंघुची बन बोई ॥
पै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती ॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँतहँ होइ घुंघुचिन्ह कै रासी ॥
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ। कुंजा गुंजि करहिं पिउ पीऊ ॥

तेहि दुख डहै परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते॥
राते बिब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ॥
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता॥
ना पावस ओहि देसरें ना हेवंत बसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहिं कन्त॥३५६॥

भावार्थ—कविवर जायसी कहते हैं—

विरहिणी नागमती यों रोई जैसे "कुह-कुह" कर कोयल विलाप करती है। अपने रक्त के आँसुओं से उसने बन में लाल गुंजा या रत्ती के बीज बो दिए; सर्वत्र उसके रक्त के आँसू बिखर गए! (अतिशयोक्ति वर्णन है।) विरह उद्दीप्त होने के कारण उसका मुख काला या म्लान हो गया। नेत्र और तन उत्तेजना से रक्तिम हो गए। कौन विरह-ज्वाल-विदग्धा को शीतल करे? वह बनवासिन विरहिणी जिस-जिस स्थल पर खड़ी होती वहाँ रक्त के आँसू बिखेरती; अतः उसी स्थल पर घुंघचियों या रक्तियों का ढेर लग जाता था। लगता था मानो उसके बूंद बूंद आँसू में प्राण निकलकर गिर रहा था। कुंज कुंज से पपीहा "पी-पी" की रटन लगा रहा था—प्रत्येक आँसू से प्रियतम की प्रति-ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। उस विरहिणी के विरह-दर्द से जलकर पलाश के पेड़ पत्रहीन हो गए थे। फिर वह रक्तिम होकर चमके, प्रस्फुटित हुए,·· पलाश फूल लेकर फूले! बिंबा-फल भी उसी के रक्त से लाल हो गए। उसी की छाती की विस्फोटक विरह पीर के प्रभाव से परवल पीला पड़ गया और गेहूँ या कनक का दिल फट गया—उसके बीच में दरार पड़ गई। वह विरहिणी नारी जिसकी ओर दृष्टि डालती वही उसके विरह रक्त से रंजित हो जाता। अतः जब सब एक जैसे ही हो गए तो जहाँ उसका प्रियतम रतनसेन था उसकी चर्चा कौन कहे, कौन बताए, कौन सुने!

विरह की उस निविड़ व्यापकता में, न उस देश में पावस है, न हेमन्त है, न बसन्त है, न कोकिल है और न पपीहा है। फिर किसका शब्द-सन्देश सुनकर प्रियतम उसके पास कैसे आए?

विशेष—कला की सार्वजनिक एवं सार्वदेशिक दृष्टि से कविवर जायसी का यह पद अत्यन्त ऊँचा, उत्कृष्ट एवं अमर है। 'EVE'S First Words To Adam" कविता में महाकवि मिल्टन ने भी 'ईव' के मुख से आदम के प्रति ऐसे ही वियोगात्मक भावानुभाव व्यक्त किये हैं, तुलना कीजिए और फिर देखिए जायसी का उच्चतम काव्या-सन! ··

······But neither breth of Morn when she ascends,
With charm of earliest birds; nor rising sun.
On this delightful land; nor herb, Fruit, flower,
Glistering with dew; nor fragrance after showers;
Nor grateful evening mild, nor silent night,

With this her solemn bird; nor wolk by moon,
Or glittering starlight, without thee is sweet."

वस्तुत: दोनों महाकवियों की प्रेमिकाओं का विरह वियोग कितना उद्दीपनकारी है—सौंदर्याकर्षण से वियुक्त : विवश : वीतराग !

शब्दार्थ—सरल है।

●

३१--नागमती संदेश खण्ड

(३६०)

फिर फिर रोई न कोई डोला। आधी राति विहंगम बोला।।
तैं फिर फिर दाधे सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।।
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जौं कंत बिछोही।।
मन चित हुतें न बिसरै भोरें। नैन कजल चखु रहै न मोरें।।
कहसि जाति हौं सिंघल दीपा। तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा।।
जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सँदेस न काहू।।
निति पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु बात न कहै बिहंगम।।
चारिउ चक्र उजारि भे सकसि सँदेसा टेकु।
कहौं बिरह दुख आसन बैठि सुनहि डँड एकु।।३६०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

यों विरहिणी नागमती निर्जन वन में भटकती-भटकती रुदन करती रही, किन्तु, हाय! किसी का भी हृदय न पसीजा कि कोई उसकी मनोव्यथा समझे, पूछे, जाने! अनायास आधी रात में एक पक्षी बोल पड़ा—अरी, तुम कौन हो, कि तुमने घूम-घूमकर यहाँ के सारे पक्षियों को अपनी विरह-पुकार की लपटों से जला दिया है ? तुम्हें क्या दुख है कि रात में सो भी नहीं पातीं ? यह संवेदन के बोल सुनकर नागमती फूटकर रो उठी, और बोली—अरे, जो अपने प्रियतम से विलग है, उसको नींद कहाँ ? (कहा भी है—"जिसका दिल दिलवर में हो उसको कब आती है नींद; करवटों की सरवटों में साफ उड़ जाती है नींद।") नागमती ने कहा—मेरा वह भोला नादान प्रियतम मेरे मन और प्राणों से नहीं उतरता। रोते-रोते मेरी आँखों में काजल और दृश्य प्रकाश शेष नहीं रहा। मेरा प्रियतम कह गया था कि मैं सिंघलद्वीप जा रहा हूँ। तब से मेरे नेत्र-सीप उसी स्वाति-जल की आशा में तक रहे हैं। और तब से उस जोगी हुए का किसी ने मुझे कुशल संदेश तक नहीं दिया है। मैं उसके विषय में प्रतिदिन योगी-यतियों से पूछती रहती हूँ। किन्तु, हे पक्षी, कोई भी मेरी सी बात नहीं करता—उसका सन्देश देकर मुझे धैर्य नहीं बँधाता।

मेरे लिये चारों दिक् मण्डल उजाड़ हो गए हैं। क्या तू मेरा सन्देश अपने ऊपर ले सकेगा ?—उसे मेरे प्रिय तक पहुँचा सकेगा ? यदि तू घड़ी भर मेरा दुखड़ा सुने तो मैं अपने विरह विषाद को तुझसे कहूँ ?

विशेष—मानवीय वेदना में पक्षियों के अबोध भाव का संवेदन-अनुभव काव्य में प्रथम बार जायसी ने ही अभिव्यक्त किया है। यह पद इस बात का प्रमाण है। विश्वास होता है कि एक संवेदनशील हृदय को बिना बींधे, रुलाए यह पद नहीं रह सकता। विरहिणी पत्नी का इससे अधिक कारुणिक चित्र अंकित करना कला की सीमा से बाहर की बात होगी। हाँ, रीतिकालीन काव्य में इस प्रकार के भी निर्जीव चित्रण देखे जा सकते हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं। व्याख्या से स्पष्ट हो सकते हैं।

(३६१)

तासौं दुख कहिए हो बीरा। जेहि सुनि के लागै पर पीरा॥
को होइ भीवँ दँगवै परगाहा। को सिंघल पहुँचावै चाहा॥
जहाँ सो कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भै जुरौं बियोगी॥
ओहूँ सिंगी पूरै गुरु भेंटा। हौं भै भस्म न आइ समेटा॥
कथा जो कहै आइ पिय केरी। पाँवरि होउँ जनम भरि चेरी॥
ओहि के गुन सँवरत भै माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला॥
बिरह गुरुइ खप्पर कै हिया। पवन अधार रहा होइ जिया॥
हाड़ भए झुरि किंगरी नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै कहेसु बिथा एहि भाँति॥३६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती ने अपने प्रति संवेदन प्रकट करने वाले पक्षी से कहा—भैय्या, अपना दुख उससे प्रकट करना चाहिये जिसको सुनकर, जो पराई पीड़ा का अहसास कर सके। कौन ऐसा है जो राजा भीम सा दूसरे के दुख से पसीजने वाला बनकर मदद करेगा ?—मेरे प्रियतम रत्नसेन से मुझे मिलाएगा ! कौन सिंहलद्वीप में जाकर मेरी विरह-व्यथा का संवाद रत्नसेन को देगा ?—उस सिंहलद्वीप में, जहाँ पर मेरे पति जोगी होकर गए हुए हैं, और मैं वियोगिनि, वियोग के प्रहारों से झुलसकर किंगरी हो गई हूँ। उन्होंने तो सिंगी बजा-बजाकर···साधना द्वारा गुरू से भेंट करली किन्तु मैं यहाँ उसकी विरह ज्वाला में जल-जलकर भस्म हो गई, और वह निठुर आकर समेटता भी नहीं है। हे पक्षी, यदि तू लौट-कर मेरे प्रियतम का सन्देश मुझसे आकर कहेगा तो मैं पाँवों की खड़ाऊँ बनकर, दासी सी जन्म भर सेवा करूँगी—चिर कृतज्ञ रहूँगी। मैं अपने उस प्रियतम के गुणों का स्मरण करते-करते उसके गुण रूपी मनकों से पि ई हुई माला हो गई हूँ। फिर भी वह लौट-कर नहीं आया; ऐसी उडनछाला पर बैठकर उड़ा है। आशय यह है कि वह किसी के रूप सौन्दर्य के जादू से बुरी तरह विमोहित है। मेरा तो गुरु विरह और खप्पर मेरा हृदय

है, मैं विरह की चेली हूँ। बस, श्वास-पवन के आधार पर ही मैं जी रही हूँ—शरीर तो झुलस गया है। आशय यह है कि मैं भी उसके लिये जोगिन का वेश धारण किये हूँ।

विरह ज्वाला से झुलसकर हड्डियाँ मानो किंगरी बन गई हैं; सारी नाड़ियाँ रक्तहीन ताँत सी होगई हैं, और रोम-रोम से उसकी स्मृति की ध्वनि आती है—हे पक्षी, इस प्रकार मेरे प्रियतम को मेरी करुण दास्तान कहना—शायद वह पसीज उठे।

विशेष—प्रस्तुत पद में यद्यपि वर्णन शैली में सूफियाना 'भोग वियोग' यानी जजा व तफरीक का ही भाव आग्रह है, तथापि एक भारतीय पतिपरायण परित्यक्ता नारी के करुण भावों की अभिव्यंजना भी खरी उतरती है—मार्मिकता इन पंक्तियों में देखिए—

"पाँवरि होउँ जनम भर चेरी × × ओहि के गुन सँवरत भै माला।"

शब्दार्थ—बीरा = भैय्या। भीवँ = राजा भीम। परिगाहा = मददगार। चाहा = संदेश। उड़िया छाला = सिद्धों की उड़न छाला। गुरुइ = जोगिन। हिया = हृदय। झुरि = सूखकर। बिथा = व्यथा।

(३६२)

रतनसेनि के माइ सुरसती। गोपीचँद जसि मैनावती॥
आँधरि बूढ़ि सुतहि दुख रोवा। जोबन रतन कहाँ भुंइ टोवा॥
जोबन अहा लीन्ह सो काढ़ी। भै बिनु टेक करै को ठाढ़ी॥
बिनु जोबन भौ आस पराई। कहाँ सपूत खाँभ होइ आई॥
नैनन्ह दिस्टि त दिया बराहीं। घर अँधियार पूत जौं नाहीं॥
को रे चलाव सरवन के ठाँऊ। टेकि देहि ओहि टेकौं पाऊँ॥
तुम्ह सरवन होइ काँवरि सजी। डारि लाइ सो काहे तजी॥
सरवन सरवन कै ररि मुई सो काँवरि डारहि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावै दसरथ लावै आगि॥३६२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में ही नागमती पक्षी को रत्नसेन के लिये एक दूसरा हृदयद्रावक सन्देशा और देती है—यह सन्देशा करुण रस से परिलिप्त माँ के अश्रु भीगे वात्सल्य से पसीजा हुआ!

हे पक्षी, रत्नसेन की माँ सरस्वती इतनी दुखी है कि जितनी गोपीचन्द के योग ले लेने पर उसकी बूढ़ी माँ मैनावती हुई थी। पुत्र वियोग में रोते-रोते वह अन्धी और वृद्ध हो गई। वह अपने यौवन के रत्न स्वरूप रत्नसेन को पृथ्वी पर कहाँ खोजे? उसके यौवन को तो उसने निकाल लिया, अब वह उसके बिना निराधार हो गई है, उसे कौन धैर्य बँधाए? बिना यौवन स्वरूप अपने पुत्र के वह पर-आशा पर निर्भर होगई है। कहाँ है उसका वह सपूत जो खम्भ बनकर उसके सहारे—सन्तोष के लिये आए? जब आँखों के आगे, आँखों में दीपक तुल्य पुत्र है, तभी जीवन में प्रकाश का दीपक जलता है—सुख है। यदि पुत्र नहीं तो घर भर में अन्धकार ही अन्धकार है। कौन मुझे श्रवणकुमार जैसे अपने पुत्र रत्नसेन के स्थान पर पहुँचायेगा? जो मुझे इस कार्य में सहायता देगा मैं उसके चरण-

स्पर्श करूँगी। हे पुत्र ! पहले तो तुमने मेरी आज्ञापालन की ऐसी बँहगी या कँवरी रक्खी थी जो कंधे पर ही धरी रहती थी—मगर अब वह किसलिये त्याग दी ?

इस प्रकार वह माता रत्नसेन को 'श्रवण'''श्रवण' पुकारती रुदन करके मरी जा रही है और कँवरी को डाल रही है—उठा रही है। तुम्हारे बिना वह जल भी नहीं पीती, और विरह रूपी दशरथ की निठुराई यानी शरीर की इन्द्रियाँ आग लगाए दे रही हैं। आशय यह है कि रत्नसेन के अभाव में उसका सारा जीवन दुःखमय होगया है।

विशेष—दाम्पत्य एवं वात्सल्य प्रेम ही भारतीय प्रेम-परम्परा में उत्कृष्ट माने गए हैं। कविवर जायसी ने इस पद में वात्सल्य प्रेम के वियोग का भी अच्छा प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३६३)

लै सो सँदेस बिहंगम चला। उठी आगि बिनसा सिंघला॥
बिरह बजागि बीच को ठेघा। धूम जो उठे स्याम भए मेघा॥
भरि गा गँगन लूक तसि छूटी। होइ सब नखत गिरहिं भुइँ टूटी॥
जहँ जहँ पुहुमी जरी भा रेहू। बिरह के दगध होइ जनि केहू॥
राहु केतु जरि लंका जरी। औ उड़ि चिनगि चाँद महँ परी॥
जाइ बिहंगम समुँद डफारा। जरै माँछ पानी भा खारा॥
दाधै बन तरिवर जल सीपा। जाइ नियर भा सिंघल दीपा॥
समुँद तीर एक तरिवर जाइ बैठ तेहि रूख।
जब लगि कह न सँदेसरा ना ओहि प्यास न भूख॥३६३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

यों नागमती का विरह सँदेश लेकर वह पक्षी चला तो उससे विरहाग्नि भड़क उठी और सारा सिंहलद्वीप नष्ट होने लगा। विरह की बज्राग्नि को भड़कने से कौन रोक सकता है ? उसका घोर धुआँ उठने से बादल काले पड़ गए। उसकी भीषण लपटें ऐसी उठीं कि उससे सारा आकाश भर गया। वह लपटें उल्कापातों के रूप में धरती पर टूट-टूटकर गिरीं। उनके गिरने से जहाँ-जहाँ धरती जली वहाँ रेत होगया। कविवर जायसी कहते हैं कि इस विरह-बज्राग्नि से कोई भी दग्ध हुए बिना नहीं बचा। उससे राहू केतु जले, लंका जली ! उसकी एक चिंगारी चन्द्रमा में पड़ी, फलस्वरूप उसमें भी जलन का काला दाग या धब्बा पड़ गया। उस विरहाग्नि से झुलसकर वह पक्षी समुद्र में जाकर चिल्लाया-पुकारा, जिससे मछलियाँ जलीं और सागर का जल खारा होगया। बन के वृक्ष जले और जल की सीपें जलीं। इस प्रकार जलता हुआ वह पक्षी सिंहलद्वीप के निकट पहुँचा।

समुद्र के तट पर एक तरुवर था, वह उसी पर जा बैठा। उसे लग रहा था कि जब तक वह विरहिणी नागमती का सन्देश न कह देगा, उसे भूख प्यास न लगेगी—उसे जल्दी बहुत जल्दी उसका सन्देशा कहना होगा, नहीं तो वह मर जायगा !

विशेष—कविवर जायसी ने इस पद में इश्क के मादक भावों की व्यंजना अत्यधिक व्यापक की है—यह व्यंजना सूफीमत की जान है। एक सूफी सन्त का उद्‌गार प्रस्तुत करना इस पद के काव्य-सौष्ठव एवं लक्ष को समझने में सहायक होगा—देखिए:—

"अगर इश्क न होता इंतजाम आलमे सूरत न पकड़ता।
इश्क के बगैर जिन्दगी बवाल है। हरेक को दिल देना कमाल है।
इश्क बनाता है, इश्क जलाता है। दुनिया में जो कुछ है इश्क का जलवा है।
आग इश्क की गरमी है, हवा इश्क की बेचैनी है, पानी इश्क की रफ़तार है,
खाक़ इश्क की क़ियाम है। मौत इश्क़ की बेहोशी है, जिन्दगी इश्क की होशियारी है,
रात इश्क की नींद है, दिन इश्क का जागना है। मुसलिम इश्क का जमाल है,
काफ़िर इश्क का जलाल है, नेकी इश्क की क़ुरबत है, गुनाह इश्क़ की दूरी है,
बहिश्त इश्क़ का शौक़ है, दोजख इश्क़ का जौक है।"

प्रस्तुत पद ही क्या, जायसी का सम्पूर्ण पद्मावत ऐसे उदाहरण के सागर का सुहावना द्वीप कहा जायगा।

शब्दार्थ—सरल हैं। भावार्थ के अनुसार देखें।

(३६४)

रतनसेनि बन करत अहेरा। कीन्ह ओहि तरुवर तर फेरा।।
सीतल बिरिछ समुँद के तीरा। अति उतंग ओ छाँह गँभीरा।।
तुरै बाँधि कै बैठु अकेला। औरु जो साथ करैं सब खेला।।
देखेसि फरी जो तरुवर साखा। बैठि सुनहि पाँखिन्ह कै भाखा।।
उन्ह मँह ओहि बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा।।
पूँछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मीतं काहै तुम्ह स्यामा।।
कहेसि मीतं मासक दुए भए। जम्बू दीप तहाँ हम गए।।
नगर एक हम देखा गढ़ चितउर ओहि नाउं।
सो दुख कहौं कहाँ लगि हम दाधै तेहि ठाउं।।३६४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन उस बन में, जिसमें कि नागमती का सन्देशवाहक पक्षी वृक्ष पर बैठा था, आखेट करता हुआ ठीक उसी वृक्ष के नीचे आ पहुँचा। वह घना शीतल वृक्ष समुद्र के तट पर उगा था। वह वृक्ष बहुत ऊँचा, घना और छायादार था। रत्नसेन वहाँ घोड़ा बाँध कर अकेला एकान्त में जा बैठा और सब उसके साथी शिकार खेल रहे थे। वह बैठकर वृक्ष की फलदार शाखाओं को देखने लगा और पक्षियों की मृदुल कलरव तान सुनने लगा। उन्हीं पक्षियों में वह पक्षी भी था जिससे नागमती ने अपना दुखद-संवाद कहा था। सारे पक्षी नामक जीव उससे पूछने लगे—हे मित्र, तुम काले क्यों हो? वह बोला—मित्रो, लगभग कोई दो माह हुए होंगे कि मैं जम्बू द्वीप गया था।

वहाँ मैंने एक नगर देखा उसका नाम चित्तौड़ है। वहाँ का दुख मैं कहाँ तक कहूँ...

बस, हम उसी जगह जले और काले होगए—नागमती की विरह ज्वाला ने जलाकर काला कर दिया !

विशेष—कथा को गति देने के लिये यहाँ कविवर जायसी ने कितना मार्मिक प्रसंग-स्थल पैदा किया है—यह उनके महाकवि होने की सूझ का एक अच्छा उदाहरण है !

शब्दार्थ—अहेरा=शिकार। तर=नीचे। उतंग=ऊँचा। ओहि=वही। मीत =मित्र। दाधै=जले।

(३६५)

जोगी होइ निसरा जो राजा। सूर नगर जानहुँ धुंध बाजा ॥
नागमती है ताकरि रानी। जरि बिरहँ भै कोइलि बानी ॥
अब लगि जरि होइहि भै छारा। कहि न जाइ बिरहा कै झारा ॥
हिया फाट वह जबहि कहूकी। परे आँसु होइ होइ सब लूकी ॥
चहुँ खँड छिटकि परी वह आगी। धरती जरत गँगन कहँ लागी ॥
बिरह दवा अस को रे बुझावा। चहै लागि जरि हियरे धावा ॥
हौं पुनि तहाँ डहा दव लागा। तन भा स्याम जीव लै भागा ॥
का तुम्ह हँसहु गरब कै करहु समुंद महँ केलि।
मति ओहि बिरहै बसि परहु दहै अगिनि जल मेलि ॥३६५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में सन्देशवाहक पक्षी कह रहा है—

चित्तौड़ का राजा रत्नसेन जोगी बनकर निकल गया। इससे वह नगर सूना हो गया ; मानो वहाँ निराशा का घोर अन्धकार छा गया हो। उसकी एक रानी नागमती है, जो उसके विरह में जलकर काली कोयल सी हो गई है। म्लान-दयनीय ! अब तक तो वह जलकर राख हो गई होगी क्योंकि विरह की तीव्र लपटों की भीषणता के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता कि कितनी जल्दी क्या कर दें ? अरे, वह दहाड़ मारकर रोती थी तो हृदय फटता था। उसके आँसू टूटते हुए पुच्छलतारों की भाँति टपकते थे—दर्दनाक उल्कापात का दृश्य था वहाँ ! उसके विरह की ज्वाला चारों ओर—सारे भूभागों में उचट-उचटकर फैली एवं धरती से जलती-जलती आकाश तक में लग गई। भला ऐसी आग को कौन बुझा सकता है ? जो उसे बुझाना भी चाहता है झट वह उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाती है; उसे भी जलाती है। मैं वहाँ उसी आग से जला हूँ। अतः मेरा शरीर काला हो गया और मैं अपने प्राण लेकर भागा हूँ।

मेरी यह बात सुनकर, हे मित्रो, तुम अभिमान से क्या हँस रहे हो कि तुम इस तुच्छ सागर में जल विहार करते हो ? अरे, कहीं ऐसा न हो कि तुम भी कभी उस विरह की आग के वशीभूत हो जाओ। वह आग तो पानी के भीतर घुसकर आग लगा देती है—वह आग सर्व व्याप्त है !

विशेष—पद की अन्तिम पंक्तियों में उक्ति चमत्कार कितना अद्भुत है, और कैसा स्वाभाविक भी कि जिसे हम यदि अनुभव नहीं भी करते तो उसे कहते हैं, उसपर

ऐसी अनुभूति या 'कश्फ' का सूफी मत के अनुसार साधक या 'जाहिद' की इश्क के लिए विश्वास भी करते हैं। पर होना लाज़िम है। तभी वह अपने महबूब का 'तवक्कुल' या प्रासाद पा सकता है—उससे 'जजा' या भोग कर सकता है।

शब्दार्थ—निसरा = निकला। ताकरि = उसकी। धुंध = अँधेरा। छारा = राख। दवा = आग। धावा = दौड़ती है।

(३६६)

सुनि चितउर राजैं मन गुना। बिधि सँदेस मैं कासौं सुना।
को तरिवर अस पंखी भेसा। नागमती कर कहै संदेसा॥
को तूं मीत मन चित्त बसेरू। देव कि दानौ पौन पखेरू॥
रुद्र ब्रह्म सिव बाचा तोही। सो निजु अंत बात कहु मोही॥
कहाँ सो नागमती तुइँ देखी। कहेसु बिरह जस मरन बिसेखी॥
हौ राजा! सोई भा जोगी। जेहि कारन वह अंस बियोगी॥
जस तूं पंखि होहुँ दिन भरऊँ। चाहौं कबहुँ जाइ उड़ि परऊँ॥
पखि आँखि तेहि मारग लागी दुनहुँ रहाँहि।
कोइ न सँदेसी आवहिं तेहि क सँदेस कहाँहि॥३६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पक्षी के मुख से 'चित्तौड़' सुनकर राजा रत्नसेन ने मन में सोचा—हे ईश्वर! यह सन्देश मैंने किससे सुना है? पक्षी रूप में इस वृक्ष पर कौन बैठा है जो मुझे मेरी नागमती रानी का सन्देश कह रहा है। रत्नसेन ने कहा—हे मित्र, मेरे मन में बसेरा करने वाला तू प्रभावशाली कौन है? तू देव है, दानव या कि वायु में विचरनेवाला पक्षी ही है? तेरा वचन तो रुद्र, ब्रह्मा और महेश के जैसा सत्य प्रतीत होता है। अतः तू अपने अन्तर की बात मुझे बतला? वह नागिन तूने कहाँ देखी कि जिसके विरह-मरण का तूने ऐसा कारुणिक वर्णन किया है? मैं वही राजा हूँ जो उसे त्यागकर योगी बना हूँ; और जिसके लिए वह ऐसी विरहिणी बनी हुई है। हे पक्षी, जैसे तू है, मैं भी तेरी ही तरह दिन व्यतीत कर रहा हूँ—बिछड़ा-बिछड़ा···नागमती से अकेला-अकेला! मेरी उत्कट अभिलाषा है कि कभी उड़कर वहाँ गिर पड़ूँ और उससे अपनी निर्दयता की क्षमा मागूँ।

हे पक्षी, मेरे दोनों नेत्र उसी के मार्ग पर बिछे रहते हैं, कि उधर कैसे चलूँ और कब चलूँ? कोई सन्देशवाहक भी उधर से नहीं आते जो उसका सन्देश कहें और मेरा मन भी कुछ शान्त हो।

विशेष—सच्चे प्रेम में प्रभाव होना है कि कभी-न-कभी दो बिछड़े दिल मिल ही जाते हैं। निठुर वियोगी को करुण वियोगी का मनःताप पिघला ही देता है। कविवर जायसी ने इस शाश्वत सत्य को इस पद में रूपक के माध्यम से प्रकट किया है। कविवर तुलसी ने कहा है—

"जिहि पर जाको सत्य सनेहू।
तेहि वह मिलै न कछु सँदेहू॥"

और इसी तथ्य को एक सूफी के शब्दों में जानिए—

जज़्बाए शौक अगर सच है तो माशा अल्लाह,
कच्चे धागे से बँधी आएँगी सरकार मेरी!

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३६७)

पूँछसि काह सँदेस बियोगू। जोगी भया न जानसि जोगू॥
दहिने संख न सिंगी पूरे। बाँए पूरि बादि दिन झूरे॥
तेलि बैल जस बाएँ फिरैं। परा भौंर महँ सौंह न तिरैं॥
तुरी औ नाव दाहिन रथ हाँका। बाए फिरै कोंहार क चाका॥
तोहि अस नाहीं पंखि भुलाना। उड़ै सो आदि जगत महँ जाना॥
एक दीप का आवउँ तोरे। सब संसार पाव तर मोरे॥
दाहिनें फिरै सो अस उँजियारा। जस जग चाँद सुरुज औ तारा॥
मुहमद बांई दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि॥३६७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राजा रत्नसेन की बात सुनकर पक्षी ने कहा—

हे राजा, तू वियोग-विरह का सन्देशा क्या पूछता है? निःस्सन्देह तू योगी हो गया है, किन्तु तू सच्चा योग अभी नहीं जानता—प्रेम के परम महत्व से अनिभिज्ञ है! तू वाम-मार्गी, सिद्ध, नाथ सम्प्रदायों के प्रभाव में आकर प्रेम-साधना के सीधे मार्ग को भूल गया है। अतः शंख और सिंगी को दाहिने या उचित ढंग से नहीं बजाता। बाएँ से बजाकर व्यर्थ जीवन के दिन चिन्ता में काट रहा है। तू तेली के बैल की तरह बाएँ को घूमता है। अतः बाह्य-आडम्बरों के भँवर में पड़ा चक्कर काट रहा है—सीधे प्रेम मार्ग पर नहीं चलता! घोड़ी, नाव और रथ—इन्हें दाहिने चलाया जाता है। बाएँ तो कुम्हार का चाक घूमता है···अगति की सीमा में! हे राजा, तेरी तरह पक्षी भ्रान्ति में नहीं पड़ा करता। उसने तो जन्म से ही संसार में स्वच्छन्दता से उड़ना सीखा है। मैं तेरे इस एक ही द्वीप में, थोड़े ही आया हूँ, मेरे पाँवों तले तो सारा संसार है—स्वर्ग में उड़ता हूँ! जो दाहिने चलता है वही ऐसा समुज्ज्वुल होता है जैसे कि संसार में सूरज, चाँद और तारे समुज्ज्वल है।

स्वयं अपने लिये कविवर जायसी कहते हैं—वाम मार्ग के अनौचित्य को जानकर मैंने वाम दृष्टि एवं श्रुति त्याग दी है—बाई आँख गँवादी और बाँया कान भी। ऐसा करने से मुझे प्रेम का सीधा पथ मिला····"पिउ" अर्थात् प्रियतम मिला!

विशेष—कविवर जायसी के समय में वाममार्गी सिद्धों, नाथों और शाक्तों का जनता के बीच बड़ा विषम प्रभाव था जिससे गुह्य अनाचरण का ज़ोर हो रहा था। तुलसी को भी इन लोगों से टक्कर लेनी पड़ी थी। तुलसी जैसे महात्मा को भी इनके ऊपर

एक बार क्रोध आया था, और उन्होंने यहाँ तक कहा—

"हमहि हमैं हमार लखि हम हमार के बीच,
तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच !"

कविवर जायसी ने इन लोगों के विरुद्ध अपने प्रेममार्ग का अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिपादन किया, यद्यपि उसमें सूफीमत का आग्रह है तथापि प्रेम की सच्ची अनुभूति उसमें पूरी है, जो सर्वकालीन है और सार्वदेशिक भी !

शब्दार्थ—सरल हैं ।

(३६८)

हौं धुव अचल सो दाहिन लावा । फिरि सुमेरु चितउर गढ़ आवा ॥
देखेउँ तोरे मँदिल घमोई । माता तोरि आँधिर भै रोई ॥
जस सरवन बिनु अंधी अंधा । तस ररि मुई तोहि चित बंधा ॥
कहेसि मरौं अब काँवरि रेंई । सरवर नाहि पानि को देई ॥
गई पियास लागि तेहि साथाँ । पानि दिहें दसरथ के हाथाँ ॥
पानि म पियै आगि पै चाहा । तोहि अस पूत जरम अस लाहा ॥
भागीरथी होइ करू फेरा । जाइ सँवारु मरन कै बेरा ॥
तूं सपूत मनि ताकरि अस परदेस न लेहि ।
अब ताईं मुई होइहि मुएहुँ जइ गति देहि ॥३६८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

हे राजा, मैं अचल ध्रुव को दाहिने रखकर सुमेरु होता हुआ ऊँचे चित्तौड़ गढ़ पहुँचा । वहाँ मैंने देखा कि महल में निर्जनता की घमोड़ घास जमी है, और तेरी माँ रो-रोकर अन्धी हो चली है। जैसे श्रवणकुमार के लिये उसके माता-पिता अन्धे हो गए थे, इसी प्रकार तुझमें प्राण लगाए, तेरी स्मृति में तेरी माँ मृतप्राय हो गई है। उसने कहा—मैं अब मर जाऊँगी । वह तेरे अभाव में रिक्त, मनहूस काँवर को लटका रही है···कहती है, जब मेरा पुत्र श्रवण रत्नसेन नहीं है तो मेरा तर्पण कौन करेगा ? मेरी ममता की प्यास तो उसी के साथ चली गई । दशरथ के हाथ का दिया पानी नहीं पीती; आग माँगती है । पक्षी ने कहा—अरे राजा, तुझ जैसे पूत को जन्म देकर उसे यह लाभ हुआ कि पानी तक को तरस कर जान दे रही है तेरी माता ! जा भागीरथ बनकर वहाँ लौट जा···शीघ्र जा और उस विकल माँ की आत्मा को मरती बार तो शांति प्रदान कर—पुत्र-धर्म निभा ! जैसे भागीरथ ने अपने पूर्वजों की खातिर गंगा का अवतरण कराया था ।

हे राजा, तू अपनी माँ का पुत्रों में रत्न है। यों परदेस में न पड़ा रह । सम्भवतः वह अब तक मर भी चुकी हो; पर मरने पर तो जाकर उसकी विकल आत्मा को गति दे, शान्ति दे, मुक्ति दे !

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने भारतीय धर्म आस्था का अत्यन्त सुचारु रूप से दिग्दर्शन कराया है। "भागीरथी होइ" का प्रसंग छेड़कर यहाँ की धर्मप्राण जनता

को उन्होंने गद्‌गद् करने में कोई कसर नहीं रक्खी। वस्तुतः महाकवि के महाप्राणों में कुछ भी पराया नहीं'''सब श्रेय उसका है और उसे प्रेय बनाकर प्रस्तुत करना ही उसकी साधना है, धर्म है, कला है, कविता है !

शब्दार्थ—ध्रुव अचल=अटल ध्रुवतारा। घमोई—एक अशुभ घास। रेई=रिक्त। लाहा=लाभ। बेरा=समय। गति=मुक्ति।

(३६९)

नागमती दुख बिरह अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा॥
नगर कोट घर बाहिर सूना। नौजि होइ घर पुरुख बिहूना॥
तूं काँवरू परा बस लोना। भूला जोग छरा जनु टोना॥
ओहि तोंहि कारन मरि भै बारा। रही नाग होइ पवन अधारा॥
कह चील्हन्ह पिय पहँ लै खाहू। माँसु न कया जो रूचै काहू॥
बिरह मँजूर नाग वह नारी। तूं मँजार करु बेगि गोहारी॥
माँसु गरा पांजर होइ परी। जोगी अबहूँ पहुँचु लै गरी॥
देखि बिरह दुख ताकर मैं सो तजा बनबास।
आएँउ भागि समुंद टट तबहुँ न छांड़ै पास॥३६९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पक्षी ने कहा—हे राजा, नागमती का विरह-दुःख अपार है। उसकी विरह-लपट से धरती आकाश जल रहे हैं। (अतिशयोक्ति वर्णन है) नगर, गढ़, घर बाहर—सर्वत्र सूनापन छाया हुआ है। ईश्वर न करे कि किसी स्त्री का घर उसके पुरुष से रिक्त हो। तू कामरूप के जादू के चक्कर में आकर लोना, कुल्टा नारी के वश में हो पड़ा है—पद्मावती ने तुझे छल कर अपना बना लिया है। अतः तू सत्य योग, गृहस्थ और पति धर्म को भूल गया। केवल मिथ्या रूप-वशीकरण के छल में फँस गया। वह विरहिणी बाला तेरे लिये, तेरे वियोग में मरने को हो रही है या नागिनी सी पतली होकर केवल वायु भक्षण के आधार पर जी रही है, सब भोगों को छोड़े सिर्फ तेरी याद में, तेरे प्रेम में ! वह कहती है—हे चीलो, मुझे प्रियतम के पास ले जाकर खाओ। मेरे शरीर में माँस तो रह नहीं गया जो मैं अब किसी को रिझा-अपना सकूँ—प्रियतम की प्यारी बन सकूँ ! हे निठुर राजा, उस विरहिणी की बड़ी दुर्दशा है। विरह, बैरी मोर की तरह उस दुर्बल नागिन सी स्त्री के पीछे पड़ा है। तू बिलाव बनकर उस अबला नारी की रक्षा कर—उसे विरह-रूपी मोर के चुंगल से छुड़ा। उसका माँस गल गया है, वह ठठरी मात्र रह गई है। अतः हे योगी, अब भी उसको अपनी प्रेम की संजीवनी बूटी ले जाकर दे—वह जी जायगी !

पक्षी कहता है—मैंने उसका दारुण विरह-दुःख देखकर ही वहाँ के बन में रहना छोड़ दिया है। यहाँ दूर सागर तट पर आकर रहा हूँ। फिर भी तो उसकी विरह-ज्वाला मेरा पीछा नहीं छोड़ती—मुझे जालाए दे रही है !

विशेष—प्रस्तुत पद में विरह जनित अत्यन्त करुण भावों की अभिव्यंजना है।

प्रायः सभी कवियों ने विरह व्यंजना की है, किन्तु जायसी के विरह वर्णन में सीधे हृदय से निकले उद्‌गार हैं। अतः जहाँ उन्होंने अतिशयोक्ति की है वहाँ भाव-सौंदर्य का सघन प्रकाशन ही लक्ष्य रहा है। इस उक्ति को देखिए—

"कह चील्हन्ह पिय पहँ ले खाहु।"

किन्तु विवशता है कि···

"माँस न कया जो रूचे काहू।"

जायसी की इस प्रकार की विरह-उक्तियाँ हिन्दी साहित्य में तो बेजोड़ हैं ही, विदेशी साहित्य में भी मिलना दुर्लभ होंगी।

शब्दार्थ—झारा=ज्वाला। कोट=किला, गढ़। नौजि=ईश्वर न करे। अधारा=आधार पर। मँजूर=मोर। मँजार=बिलाव्। गोहारी=रक्षा। टट=तट।

(३७०)

अस परजरा बिरह कर कठा। मेघ स्याम भै धुआँ जो उठा।।
दाधै राहु केतु गा दाधा। सूरज जरा चाँद जरि आधा।।
औ सब नखत तराँई जरहीं। टूटहिं लूक धरनि महँ परहीं।।
जरी सो धरती ढाँवहि ढाँवा। ढंक परास जरे तेहि दावाँ।।
बिरह साँस तस निकसै झारा। धिकि धिकि परबत होंहि अँगारा।।
भँवर पतंग जरै औ नागा। कोइल भुँजइल औ सब कागा।।
बन पंछी सब जिउ लै उड़े। जल पंछी जरि गल मइँ बुड़े।।
हँ हूँ जरत तँह निकसा समुँद बुझाएउँ आइ।
समुँदौ जरा खार भा पानी धूम रहा जग छाइ।।३७०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में ही पक्षी प्रस्तुत पद में अपरिसीम, अनन्त विरह का सँदेशा देता है—

नागमती के विरह के दुख या ईंधन में वह ऐसा जला कि जलने से जो धुआँ उठा उससे बादल काले पड़ गए। राहु जला तो केतु भी जल गया। सूर्य जला और आधा चाँद जल गया, और सब नक्षत्र-तारे जल गए, और तारों के जले टुकड़े उल्कापात के रूप में धरती पर टूक-टूक होकर गिरते हैं। स्थान-स्थान पर पृथ्वी जल गई। उसी आग से ढाक-पलाश के जंगल जल गए। विरहोच्छ्वास की लपट ऐसी निकल रही है कि उससे जल-जल कर पहाड़ अंगारे बन गए। भौंरे, पतिंगे, नाग, कोयल, भुजंग और कौवे—सब उसी आग से जलकर काले होगए। उस आग से समस्त बन के पंछी अपने प्राण लेकर उड़े हैं। उसी आग के भय से जल-पक्षियों ने जलकर जल में डुबकी लगाई।

पक्षी कहता है—हे राजा, और मैं भी वहाँ से जलता हुआ ही निकला और समुद्र में आग बुझाने की गरज से आया हूँ। पर दुर्भाग्य, समुद्र-जल भी जलकर खारा हो गया। उसी आग का धुँआ सारे संसार पर मँडरा रहा है।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने प्रकृति के उपकरणों को विरह की ज्वाला से विदग्ध जिस भाँति दिखलाया है, यह कौशल-सौष्ठव सर्वथा अद्वितीय है। सम्भवतः विरह की व्यापकता में यह पद सबसे अनूठा और अकेला है। प्रकृति, विरही के विरह में पूर्णतः संवेदनशील होती हुई तो प्रायः कवियों ने दिखलाई ही है किन्तु सापेक्ष रूप में मानवीय विरह से इस व्यापकता में दग्ध होती हुई वह प्रायः किसी विरले ही कवि ने दिखलाई हो। इसीलिये तो शक्ति, शील, संयम के भक्त, समालोचक श्री शुक्ल को भी जायसी की वेदना प्रभावित कर सकी और वह दो शब्द प्रशंसा में लिख ही गए कि जायसी का विरह वर्णन अद्वितीय है !

शब्दार्थ—परजरा=जला। कठा=दुख या ईंधन। लूक=टूटे तारे। झारा=ज्वाला, लपटें। भुँजइल=भुजंगम, काला साँप।

(३७१)

राजैं कहा रे सरग सँदेसी। उतरि आउ मोहि मिलु सहदेसी।।
पाँव टेकि तोहि लावौं हियरे। प्रेम सँदेश कहो होइ नियरे।।
कहा विहंगम जो बनबासी। कित गिरही तें होइ उदासी।।
जेहि तरिवर तर तुम अस कोऊ। कोकिल काग बराबरि दोऊ।।
धरती महँ बिख चारा परा। हारिल जानि पुहुमि परिहरा।।
फिरौं बियोगी डारहिं डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा।।
जियन की घरी घटत निति जाहीं। साँसहि जिउ है देवसन्ह नाहीं।।
जौं लहि फेरि मुकुति है परौं न पिंजर माँह।
जाउँ बेगि थरि आपनि है जहाँ बिंझ बनाँह।।३७१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती की बात जानकर राजा ने पक्षी से कहा—हे स्वर्ग के संदेश वाहक ! तू वृक्ष से नीचे उतर कर आ और स्वदेशी सा बनकर मुझसे मिल। मैं तेरे पाँव छूकर तुझे अपने हृदय से लगाऊँगा। निकट होकर प्रेम का सन्देश दे। पक्षी बोला—जो बनवासी है, वह गृहस्थ को छोड़कर उदासी भला क्यों होगा ? तात्पर्य यह है कि वनवास लेने वाला भी गृहस्थी ही तो है—जैसे राम थे। किन्तु गृहस्थी होकर किसी को वैरागी बनना उचित नहीं। पक्षी ने कहा, पर तुम तो अपने को योगी वैरागी होने का दावा करते हो, तब फिर जिस वृक्ष के नीचे तुम जैसा श्रोता खड़ा हो उसके लिये तो कोयल और कौवे का बोल बराबर है। आशय यह है कि अब तक भी तुम गृहस्थ ममत्व और उसके कर्त्तव्य से मुक्त नहीं हो सकते ? धरती पर विष का चारा पड़ा है—यह जानकर हारिल ने धरती को छोड़ दिया और सदा उड़ने-उड़ने में ही—बेचैनी में ही जीवन का अंत कर देता है। पक्षी ने कहा, हे राजा ! क्या इसी प्रकार से तुमने भी गृहस्थ के कर्त्तव्य से पराजय नहीं मानी ? देखो, मैं वियोगी हूँ, अतः डाल-डाल पर भटकता हूँ, और सदा अपने पंख उड़ने और बस उड़ने के लिये सँवारता हूँ। नित्य जीवन की घड़ियाँ बीत रही हैं। जीवन सांसों

पर ठहरा है, दिनों पर नहीं। आशय यह है कि जीवन का महत्व गृहस्थ के कर्त्तव्य भोग में है, नहीं तो दिन काटना व्यर्थ है !

पक्षी कहता है, जब तक रमण करने की मुझे मुक्ति मिली है, जीव को पिंजरे में नहीं डालूँगा। अतः शीघ्र जहाँ विंध्य-वन में मेरा स्थान है, वहाँ जाता हूँ—मुझे तो अपने स्थान से ममत्व है। व्यंजना से आशय यह है कि इस रूप रंग के संसार से, नव-नव भावों से उच्छ्वसित जीवन को छोड़कर उदासी-वैरागी बनना उचित नहीं—हे राजा, जा तू भी अपनी नागमती के पास जा ?

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने मानव जीवन और उसके गृहस्थाश्रम की महत्ता पर गूढ़ प्रकाश डाला है। जो जीवन को संन्यास बना लेने में ही जीवन का परम श्रेय मानते हैं, उनके लिये जायसी की यह पंक्तियाँ बड़ा सरस उत्तर देती हैं—

"कित गिरही ते होइ उदासी।"

और फिर जीवन ही कितना है जो उसके कर्त्तव्य भोग की अवहेलना की जाय—

"जियन की घरी घटत निति जाही।"

अतः गृहस्थाश्रम का कर्तव्य भोग ही आवश्यक है; जीव की मधुर मुक्ति है। इसके लिये कविवर पंत जी की यह पंक्ति देखिए—

"ऐसा पक्षी जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन,
मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन !"

शब्दार्थ—सरग सँदेगी=स्वर्ग का संदेश लाने वाला। सहदेसी=स्वदेशी। गिरहीं=गृहस्थी। देवसन्ह=दिनों में। तर=नीचे। बिख=विष। पहुमि=पृथ्वी। परिहरा=छोड़ा। जियन=जीवन। मुकुति=मुक्ति, आज़ादी। थरि=स्थान। विंझ=विन्ध्य। वनाइ=बनिये।

(३७२)

कहि सो सँदेस बिहंगम चला। आगि लाइ सगरिउ सिंघला॥
घरी एक राजै गोहरावा। भा अलोप पुनि दिस्टि न आवा॥
पंखी नाउँ न देखौ पाँखौ। राजा रोइ फिरा कै साँखौ॥
जस हेरत यह पंखि हेराना। दिनेक हमहुँ अस करब पयाना॥
जौं लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बेर चितउर गढ़ जाऊँ॥
आवा भँवर मँदिल जहँ केवा। जिउ साथ लै गएउ परेवा॥
तन सिंघल मन चितउर बसा। जिउ बिसँभर जनु नागिन डसा॥
जेति नारि हँसि पूछैं अमिअ वचन जिमि नित।
रस उतरा सो चढ़ा बिख ना ओहि चित न मित॥३७२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वह संदेश कहकर पक्षी उड़ चला। किन्तु सारे सिंघलदीप में आग लग गई। एक घड़ी तक राजा उसे टेरता रहा किंतु पक्षी अदृश्य हो गया और फिर दृष्टिगोचर न हुआ।

राजा ने सोचा कि उसका पक्षी नाम उचित है कि उड़ जाने के बाद उसका पंख भी दिखलाई न पड़ा। राजा रोता पश्चाताप करता लौट आया। उसने सोचा, जैसे देखते-देखते यह पक्षी अदृश्य हुआ है उसी भाँति एक दिन हम भी इस संसार से चल बसेंगे—सदा के लिये ! अतः जब तक शरीर के साथ प्राण हैं, मैं जीवित हूँ,—एक बार चित्तौड़गढ़ जाऊँगा और अपनी विरहिणी नागमती से मिलूँगा। यह सोचकर रत्नसेन रूपी भौंरा उस महल में आया जहाँ वह कमल रूपी पद्मावती थी। किंतु उसका प्राण तो साथ लेकर वह पक्षी चला गया था। शरीर सिंहलद्वीप में था, पर उसका मन चित्तौड़ में बसा था। मन ऐसा विकल था मानो नागिन ने डस लिया हो।

नित्य की भाँति जितना ही वह रमणी पद्मावती उससे हँस-हँसकर, अमृत वचनों से उसका हाल पूछती थी उतना ही उसका रस उतरता और विष चढ़ता जाता था। अब उसे न किसी की सुधि थी और न कोई उसका अपना प्रिय था।

विशेष—प्रस्तुत पद में स्मृतिजन्य मनोभावों का सहज भाव प्रकाशन है। साथ ही **"जस हेरत यह पंखि हिराना। दिनेक हमहुं अस करब पयाना।"** उक्ति में दर्शन के "अनित्य" भाव का भी सहज प्रकाशन है। इस प्रकार की दार्शनिक उक्तियाँ जायसी के काव्य में प्रचुर हैं। प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि शैली ने भी काव्य में दर्शन का योग कवि की महत्ता के रूप में माना है—

"Who can feel poetry and understand poetry."

और कवि जायसी इस कथन के अपवाद नहीं, उलमा कहे जायँगे।

शब्दार्थ—सगरिउ=सारे। गोहरावा=टेरता रहा। अलोप=अदृश्य। साँखौ=संक्षोभ, पश्चाताप। हिराना=अदृश्य हो जाना। पिण्ड=शरीर। केवा=कमल। विसंभर=विकल, बेडौल। नित=नित्य। चित=सुधि। मित=अपना, मित्र।

(३७३)

बरिस एक तेहि सिंघल रहे। भोग बेरास कीन्ह जस चहे॥
भा उदास जिउ सुना सँदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू॥
कँवल उदासी देखा भँवरा। थिर न रहे मालति मन सँवरा॥
जोगी औ मन पौन परावा। कत ये रहें जौं चित्त उँचावा॥
जौं जिय काढ़ि देइ इन्ह कोई। जोगी भँवर न आपन होई॥
तजा कँवल मालति हियँ घाली। अब कत थिर आछै अलि आली॥
गंध्रपसेनि आए सुनि बारा। कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा॥
मैं तुम्हहीं जिउ लावा दै नैनन्ह महँ बास।
जौ तुम्ह होहु उदासी तौ यह काकर कबिलास॥३७३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन एक वर्ष तक उस सिंघलद्वीप में रहा था और जैसा चाहा भोग-विलास किया था। किंतु पक्षी से नागमती की विरह-दशा का सन्देश सुनकर उसका मन

उदास हो गया था। पिछला स्मरण कर उसका मन चित्तौड़ देश में पहुँच चुका था। अपने भँवरे रूपी रत्नसेन की ऐसी खिन्नावस्था देख कमल रूपी पद्मावती उदास हुई। उसने जान लिया कि अब वह भौंरा वहाँ न रुक सकेगा। क्योंकि उसके मन में मालती का स्मरण हो आया है। योगी, मन, वायु और पक्षी—चित्त के ऊँचा या उचाट होने पर ये कब ठहरते है ?—यह बन्धन से स्वतः ऊब जाते हैं, और मुक्ति चाहते हैं। यदि कोई अपना प्राण निकालकर भी इन्हें दे दे तो भी जोगी और भौंरा किसी के सगे नहीं होते। पद्मावती कहती है—हे सखी, भौरे ने कमल को त्यागकर मालती को हृदय दे दिया है। बताओ, अब उसे कैसे रोका जाय ? रत्नसेन की ऐसी विषम स्थिति को सुनकर राजा गँधर्वसेन द्वार पर आए और पूछने लगे, तुम्हारा जी क्योंकर उदास हुआ है ?

उन्होंने कहा, मैंने तुम्हें अपने नेत्रों में बसाकर अपना मन दे डाला है। यदि तुम उदास हो जाओगे तो यह कैलाश या राजपाट किस अर्थ का ?

विशेष—प्रस्तुत पद में स्मृति एवं रूपक का काव्य सौष्ठव दर्शनीय है। साथ ही **"जोगी औ मन पौन परावा। कत ये रहँ जो चित्त उचावा। जो जिय काढ़ि देइ इन्ह कोई।"**—उक्ति में व्यंग अत्यन्त प्रभावशाली है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

३२--रत्नसेन बिदाई खण्ड

(३७४)

रतनसेनि बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ कहँ मोरी ॥
सहस जीभ जौं होइ गुसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं ॥
काँचु करा तुम्ह कंचन कीन्हा। तब भा रतन जोति तुम्ह दीन्हा ॥
गाँग जो निरमल नीर कुलीना। नारु मिलें जल होइ न मलीना ॥
तस हौं अहा मलीनी करा। मिलेउँ आइ तुम्ह भा निरमरा ॥
मान समुंद मिला होइ सोती। पाप हरा निरमल भै जोती ॥
तुम्ह मनि आएउँ सिंघल पुरी। तुम्हतें चढ़ेउ राज औ कुरी ॥
सात समुंद तुम्ह राजा सरि न पाव कोई घाट।
सबै आइ सिर नावहिं जहाँ तुम्हारइ पाट ॥३७४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा गंधर्वसेन से कृतज्ञता प्रकट करते हुए हाथ जोड़कर रत्नसेन ने विनती की—हे राजा, तुम्हारी स्तुति करने योग्य मेरी जिह्वा कहाँ है ? हे स्वामी, यदि मेरी एक सहस्र जिह्वा हों, तो भी तुम्हारी स्तुति की विशालता का बखान नहीं किया जा सकता। मुझ

काँच के टुकड़े जैसे तुच्छ को तुमने अपनी स्वर्ण-कन्या पद्मावती देकर कृतज्ञ किया और इस प्रकार तुमने मुझे रत्न की आभा-प्रतिष्ठा प्रदान की। निर्मल नीर कुलीन जो गंगा है, यदि उसमें नाले का जल मिल जाय तो उसका जल मलीन नहीं होता, वरन नाला ही पवित्र हो जाता है। इसी भाँति, हे राजा, तुमने मुझे अपनाकर पवित्र किया है। मैं भी ऐसे ही नाले की भाँति मैला था पर तुमसे आकर मिला तो निर्मल हो गया। मैं सीपी सा तुम्हारे मान के समुद्र में आ मिला। मेरा पाप दूर हो गया और मुझमें निर्मल ज्योति निहित हो गई—पद्मावती को पा गया। केवल तुम्हारी मणि सदृश कन्या पद्मावती को पाने के लिये मैं सिंघल द्वीप में आया था, किन्तु तुमने मुझे अपना राज्य और कुल गौरव भी प्रदान किया। तुम कितने उदार हो !

सात समुद्रों के किसी भी तट पर तुम जैसा समान गौरवशाली राजा नहीं मिल सकता। जहाँ तुम्हारा राज सिंहासन है वहाँ सभी आकर तुम्हारी गौरव-प्रतिष्ठा से अपना सिर झुकाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में राजसी प्रशस्ति वर्णन का कौशल अत्यन्त भाव संगत है।

शब्दार्थ—बिनवा=विनय। कर जोरी=हाथ जोड़कर। जोग=योग्य। गोसाई=स्वामी। काँचु=काँच। नार=नाला। सोती=सीपी। घाट=तट। सरि=बराबर। पाट=राज सिंहासन।

(३७५)

अवसि विनति एककरौं गुसाईं। तब लगि कया जिऔंज बताई॥
आवा आजु हमार परेवा। पाती आनि दीन्ह पति देवा॥
राज काज और भुइँ उपराहीं। सुतरु भाइअस कोइ हित नाहीं॥
आपनि आपनि करहिं सो लीका। एकहिं मारि एक यह टीका॥
भएउ अमावस नखतन्ह राजू। हम कै चाँद चलावहु आजू॥
राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठएन्हि अब होइ परावा॥
उहाँ नियर ढीली सुलतानू। होईहि भोर उठिहि जौ भानू॥
तुम्ह चिरंजिवहु जौं लहि महि गँगन औ जौ लहि हमआउ।
सीस हमार तहाँ निति जहाँ तुम्हारइ पाउ॥३७५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने आगे कहा—हे स्वामी, एक विनती मैं आपसे अवश्य करूँगा। जब तक मेरा शरीर जीवित है वह आपका ही है। किन्तु आज हमारे यहाँ का एक पक्षी आया है। हे इन्द्र, उसने एक पत्री लाकर मुझे दी है। राजकाज और धरती को हड़पने के लिये भाई जैसा और कोई सगा-सम्बन्धी शत्रु नहीं है। सब अपना-अपना स्वार्थ और उसका लेखा-जोखा देखते हैं। एक को वध कर एक राज्याभिषेक चाहता है। रत्नसेन कह रहा है—हे राजा, ऐसी दशा में मेरे न रहने से राज्य में अमावस का अन्धकार छा गया है, और दूसरे नक्षत्रों जैसे अनधिकारियों का राज्य हो गया है ! अतः आज आप मुझे चन्द्रमा बनकर वहाँ

जाने की आज्ञा दें। वहाँ के जाते हुए पैत्रिक राज्य में मेरे जाने से प्रकाश आ जायगा— शासन-व्यवस्था सुधर जायगी ! जहाँ हमारा राज्य है वहाँ से लिखी पत्री आई है कि वह पराया होने जा रहा है। वहाँ निकट ही दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन है। यदि वह सूर्य समान वहाँ पर चढ़ आया या आक्रमण कर देगा तो मुझ चाँद के लिए अमावस ही अमावस में भोर देखना पड़ेगा—जीवन भर के लिये राज्य से हाथ मलना पड़ेगा !

रत्नसेन ने कहा—जब तक धरती आकाश है हे स्वामी, आप चिरंजीवी हों। मेरे जीवित रहते जहाँ तुम्हारा पाँव उठेगा वहाँ मेरा सिर होगा—मैं सदैव आपकी सेवा में अपने प्राण न्योछावर करने को तत्पर रहूँगा—चाहे कहीं भी क्यों न रहूँ।

विशेष—कविवर जायसी ने यहाँ लोकमर्यादा का ध्यान रखते हुए बड़ी चतुराई से रत्नसेन के द्वारा राज्य की अराजकता का कारण रक्खा है, ताकि वह शीघ्र चित्तौड़ लौट सके। यह कहना राजमर्यादा से अनुचित होगा कि वह नागमती के प्रेम-विरह का संदेश जानकर चित्तौड़ लौट रहा है। यह जायसी की बुद्धि का उत्तम चमत्कार कहा जायगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३७६)

राजसभा सब उठी सँवारी। अनु बिनती राखिअ पति भारी।।
भाइन्ह माँह होइ जनि फूटी। घर के भेद लंक असि टूटी।।
बीरौ लाइ न सूखै दीजै। पावै पानि दिस्टि सो कीजै।।
अनु राखा तुम्ह दीपक लेसी। पै न रहै पाहुन परदेसी।।
जाकर राज जहाँ चलि आवा। उहै देस पै ताकहँ भावा।।
हम दुहुँ नैन घालि कै राखहि। अैसि भाख यहि जीभ न भाखहिं।।
देहु देवस में कुसल सिधावहिं। दीरघ आउ होइ पुनि आवहिं।।
सबहिं विचार परा अस भा गवने कर साज।
सिद्धि गनेस मनावहु विधि पुरवै सब काज ।।३७६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन की बातों से प्रभावित होकर सारी राजसभा समर्थन में खड़ी हो गई और बोली—हे महान राजा, प्रसन्न होकर रत्नसेन की विनती स्वीकार कीजिए। भाइयों में परस्पर संघर्ष की भावना नहीं होनी चाहिये। घर के भेद से ही लंका का नाश हो गया था। हे स्वामी, बिरवा लगाकर उसे सूखने न देना चाहिए। ऐसी कृपा-दृष्टि करो कि उसका स्नेह-सिंचन होता रहे। आशय यह है कि पौधे रूपी रत्नसेन को अपना स्नेह दो, उसे जाने दो। आपने एक सापेक्ष दीपक लिया हुआ था—रत्नसेन आपका पूरा स्नेहभाजन था; किन्तु परदेसी मेहमान सदा नहीं रहा करता। आशय यह है कि जमाई सदा ससुराल में नहीं रहा करता। जिसका जहाँ राज्य है वह वहाँ चला जाता है। वस्तुतः वही देश उसको अच्छा भी लगता है। हम इसे अपने दोनों नेत्रों में बन्द करके रक्खेंगे; यह कहना जीभ को शोभा नहीं देता ! तात्पर्य यह है कि रत्नसेन को स्वतन्त्र रहना चाहिये, किसी भी भाँति बन्दी

नहीं। भले ही उससे गन्धर्वसेन के मन को चोट पहुँचे। राजसभा ने आगे कहा—हे स्वामी ! दिन नियत करें कि रत्नसेन कुशलता से प्रस्थान करें, उनकी बड़ी उम्र हो, वे पुनः लौटकर यहाँ आएँ।

ऐसा विचार सभी का हो गया ; प्रस्थान का आयोजन होने लगा । सब ने कहा—"सिद्ध गणेश की जय ''भगवान सबका काम सिद्ध करें !"

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने राजा की इच्छा के समक्ष राजसभा या जनता की इच्छा का गुरुतर समर्थन किया है। यहाँ जनतंत्र की भावना है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३७७)

बिनौ करै पदुमावति नारी। हौं पिय कँवल सो कुंद नेवारी।।
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम सेवती चाँप चँबेली।।
औ सिंगार हार जस ताका। पुहुप करी अस हिरदै लागा।।
हौं सो बसन्त करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा।।
बकुचन बिनवौं अवसि बिमोही। मुनि बिकाउ तजि जाही जूही।।
नागेसरि जौं है मन तोरें। पूजि न सकै बोलसरि मोरें।।
होइ सतबरग लीन्ह मैं सरना। आगें कन्त करहु जो करना।।
केत नारि समुझावै भँवर न काँटे बेध।
कहै मरौं पै चितउर करौं जग्गि असुमेध।।३७७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी यहाँ सौतिया डाह का एक काव्यात्मक रूपक बाँधते हैं—

रत्नसेन के चित्तौड़ जाने की बात जानकर पद्मावती विनती करती है—हे प्रिय, मैं कमल जैसी हूँ और वह नागमती कुरूपा नेवारी या कठपुतली के समान है। उसके पास मेरी जैसी मालती बेल—मोहक रति भंगिमायें कहाँ हैं ? मैं आपके चरणों की सेवा करती हूँ और चमेली का तेल मलती हूँ। तुम मेरे यहाँ, मेरे कारण, हार सिंगार जैसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हो और फूलों की कलियों सदृश मेरे हृदय से लगे हो। मैं बसन्त की बहार हूँ, जो नित्य तुम्हारी पूजा करती हूँ। मैं गुलाल, सुदर्शन और कुब्जक के पुष्पों से परिपूर्ण हूँ। मैं विनीत शब्दों से हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि मैं तुम्हारे प्रेमरूप से विमुग्ध हूँ। मेरे शब्दों को सुनकर हे प्रिय, मुझ जुही-सी सुन्दरी को त्यागकर न जाओ। जो नागेसरि यानी नागमती तुम्हारे मन में बसी है, विश्वास रक्खो, वह मुझ मोरनी के बोलों के आगे नहीं ठहर सकती—वह मुझ जैसी प्रियवादिनी नहीं हो सकती। मैंने सदवर्ग का पुष्प होकर तुम्हारी चरण-शरण ली है। अतः अब मेरी विनती सुनकर जो तुम चाहो करो—ठुकराओ चाहे प्यार करो !

इस प्रकार केतकी रूपी पद्मावती फुसला रही थी किन्तु रत्नसेन रूपी भँवरा उसके काँटों में न बिंधता था। वह तो कहता था कि मैं चित्तौड़ ही में मरूँगा और वहीं

अश्वमेध यज्ञ करूँगा।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने द्व्यर्थ-गर्भित शैली का प्रयोग किया है। किन्तु इस पद का पद्मावती के पक्ष में ही अर्थ पूरी तरह संगत होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ और स्पष्टीकरण की गुँजाइश बनी रहती है। यहाँ प्रयत्न यह किया गया है कि शब्दों से अधिक भाव-व्यंजना को स्पष्ट किया जाय। अस्तु—

विशेषतः कविवर जायसी ने इस पद में सौतिया डाह की अभिव्यक्ति करते हुए एक मानिनी नायिका के रूप-भाव का प्रकाशन किया है। इस पद में रीतिकालीन परम्परा का आग्रह अधिक है किन्तु फिर भी एक प्रगल्भ नायिका के भावों का प्रकाशन स्वाभाविक रूप में अभिव्यंजित हो सका है।

शब्दार्थ—कँवल=कमल। बिनौ=विनती। कदम सेवती=चरणों की सेवा करती हूँ। बकुचन=वचन चुन-चुनकर, विनीत वचन या गुच्छा। नागेसरि=नागमती। पूजि=बराबरी। मोरें=मोर। केत=केतकी।

(३७८)

गवनचार पदुमावति सुना। उठा धक्कि जिय औ सिर धुना।।
गहबर नैन आए भर आँसू। छाँडब यह सिंघल कबिलासू।।
छाँड़िउ नैहर चलिउँ बिछोही। एहि रे दिवस मैं होतहि रोई।।
छाँड़िउँ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली।।
जहाँ न रहन भएउ निज चालू। होतहि कस न भएउ तहँ कालू।।
नैहर आएँ का सुख देखा। जनु होइ गा सपने कर लेखा।।
राखत बारि न पिता निछोहा। कत बियाहि कै दीन्ह बिछोहा।।
हिएँ आइ दुख बाजा जिउ जानहु गा छेकि।
मन तिवानि कै रोवै हरि भँडार कर टेकि।। ३७८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के प्रस्थान का मंगलाचार जब पद्मावती ने सुना तो सुनकर उसका जी धक से हो गया—उसे चोट पहुँची और वह वियोग होने के दुःख से सिर धुनने लगी। इस उद्विग्नावस्था में उसकी आँखों में आँसू भर आए और वह सोचने लगी, अब यह सिंघल का स्वर्गीय वातावरण छोड़ना ही होगा। नैहर छोड़कर वियोगिनी होकर चल पड़ूँगी। इसी दुर्दिन को देखने के भय से, मैं पैदा होते ही रोई थी। (शिशु पैदा होते ही रोता है। कविवर जायसी ने उस आदि रुदन को इस बिछोह प्रसंग में बड़ी खूबी के साथ घटाया है।) पद्मावती सोचती है, अपनी सभी सखी-सहेलियों को अब यहीं छोड़ना होगा और उन्हें छोड़कर मुझे अकेली कहीं दूर जाना होगा। हाय दुर्भाग्य, जहाँ अपना ठहरना न हुआ, बस चलना पड़ा, वहाँ होते ही मृत्यु क्यों न हो गई ? नैहर में रहकर मैंने क्या सुख देखा ? मानो जो कुछ देखा वह स्वप्न बन गया—सब सुख क्षण में समाप्त हो गया। भले ही निठुर पिता बचपन में लालन-पालन न करता—मर जाने देता; किन्तु विवाहोपरान्त का

यह वियोग-दुख उसने क्यों दिया ?

दुख हृदय में पैठ गया है, लगता है मानो प्राण रुँध गया हो—प्राणान्त होने को हों ! यों निराश कमर पर हाथ रक्खे वह मन में सोच रही थी और रो रही थी।

विशेष—प्रस्तुत पद में बिछोह के सम्भावित मनोभावों की जायसी ने बड़ी मार्मिक एवं स्वाभाविक अभिव्यंजना की है।

शब्दार्थ—गवनाचार=विदाई का आयोजन। गहबर=उद्विग्न। कालू=मृत्यु। राखत=लालन-पालन, रक्षा। निछोहा=निर्मोही। छेंकि=रुँधना। तिवानि=सोचकर।

(३७६)

पुनि पदुमावति सखीं बोलाईं। सुनि कै गवन मिलै सब आईं॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ फिर आवन नाहीं॥
सात समुंद्र पार वह देसू। कत रे मिलन कत आव सँदेसू॥
अगम पंथ परदेस सिधारी। न जनहु कुसल कि बिथा हमारी॥
पितै निछोह किएउ हिय माहाँ। तहाँ को हमहिं राख गहि बाहाँ॥
हम तुम्ह एक मिले संग खेला। अंत बिछोह आनि केइँ मेला॥
तुम्ह असि हितू संघाति पियारी। जियत जीय नहिं करौं निनारी॥
कंत चलाई का करौं आएसु जाइ न मेंटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं लेहु सहेलिहु भेंटि॥ ३७६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

फिर पद्मावती ने सखियों को बुलाया। उसका प्रस्थान सुनकर सब सखियाँ मिलने के लिये आईं। पद्मावती ने कहा—हे सखियो, मुझसे आज मिल लो, फिर मैं वहाँ जा रही हूँ कि जहाँ जाकर फिर कभी किसी का वहाँ से आना नहीं होगा। वह दूर देश सात समुद्र पार है। फिर कैसा मिलन, कैसा सँदेशा भेजना—सब कुछ सपना हो जायगा ! मैं अज्ञात मार्ग से होकर परदेस जा रही हूँ। नहीं जानती कि वहाँ कुशल होगी या मेरी पीड़ा होगी ? यहाँ जब पिता ने ही मेरे प्रति हृदय में निष्ठुरता रक्खी तब भला उस अज्ञात परदेस में मुझे स्नेह-आश्रय कौन देगा, कौन मेरी बाँह पकड़ेगा, अपना बनेगा ? हम तुम मिलकर साथ खेलते-कूदते रहे हैं। किसने हमारे तुम्हारे बीच में अन्ततः यह बिछोह लाकर खड़ा कर दिया ? तुम जैसी प्यारी हितचिंतक और सहचरियों को मैं जीवित रहते भी विलग नहीं करना चाहती थी।

पर हाय विवश हूँ, पति की इच्छा पर मेरा क्या वश है ? उनकी आज्ञा को टाला भी तो नहीं जाता। फिर हम इस प्रकार मिलें न मिलें—अतः हे सखियो, आओ अन्तिम बार मेरे गले से मिल लो।

विशेष—अत्यन्त मनोवैज्ञानिक रूप से कविवर जायसी ने प्रस्तुत पद में विदा की वेला का चित्रण किया है। पीहर से पहली बार विदा होते समय अपने प्रियतम के साथ

अज्ञात देश के लिये प्रस्थान करते समय किसी नारी के हृदय की क्या दशा होती है—वह इन पंक्तियों में देखिए—

"सात समुंद्र पार वह देसू। कत रे मिलन कत आव सँदेसू॥

इस मिलन विच्छेद में रहस्यवादी चिंताधारा की भी व्यंजना है – आत्मा के अज्ञात लोक की ओर महाप्रयाण करने वाली महाप्राण अनुभूति ?

शब्दार्थ—तहँवाँ=वहाँ। अगम=अजाना। बिथा=व्यथा। निछोह=निर्मोह। सँघाती=सहचरी। आएसु=आज्ञा।

(३८०)

धनि रोवत सब रोवहिं सखीं। हम तुम देखि आपु कहँ झखीं॥
तुम्ह असी जहँ रहै न पांई। पुनि हम काह जो आहि पराँई॥
आदि पिता जो अहा हमारा। ओह नहिं यह दिन हिएँ बिचारा॥
छोह न कीन्ह निछोहैं ओहूँ। गा हम बेंचि लागि एक गोहुँ॥
मकु गोहूँ कर हिय बेहराना। पै सो पिता नहिं हिए छोहाना॥
औ हम देखी सखी सरेखी। एहि नैहर पाहुन के लेखी॥
तब तेइँ नेहर नाहिं पै चाहा। जेहि सुसरारि अधिक होइ लाहा॥
चलते कहँ हम औतरीं औ चलन सिखा हम आइ।
अब सो चलन चलावै को राखै गहि थाइ॥३८०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सुन्दरी पद्मावती रुदन कर रही थी और उसके साथ में उसकी सारी सखियाँ भी रो रही थीं। सखियों ने कहा—हे पद्मा, तुम्हें देखकर हमें अपने ऊपर भी रोना आता है। जब तुम जैसी राजकन्या भी पीहर में नहीं रहने पाई तो फिर हमारी क्या चलाई, जो पहले से ही पराश्रित हैं। हमारे पूर्व पिता ने तुम्हारे इस वियोग-विछोह के दिन की बात उर में नहीं सोची और बिना सोचे समझे ही तुम्हारी सखी या परिचारिका बनने के लिये हमें इस राजमहल में सौंप दिया। आज जब तुम यहाँ से सुसराल जा रही हो तो हम किसे अपना कहकर यहाँ रहें ? (यहाँ जायसी ने उस पुरानी प्रथा की ओर संकेत दिया है जिसमें सामन्त उमरा अपनी कन्याओं को राजमहल में सोंप दिया करते थे। ये कन्याएँ राज-कन्याओं के साथ सखी-सहेली बनकर उसके दुख-सुख की भागीदार होती थीं।) सखियाँ कह रही हैं—हमारा पिता भी कितना निष्ठुर था ! उसने हमारी ज़रा भी ममता न की जो अन्न के लालच में हमें यहाँ बेच गया—इतने बड़े पाप का कारण बना, जैसे आदम और हौवा गेहूँ का दाना खा लेने के पाप में ईश्वर द्वारा बहिश्त से निकाल दिये गये थे। आशय यह है कि हमारे बाप ने हमें तुम्हारे राजमहल में एक गेहूँ के दाने के लिये बेचने का महान पाप क्यों किया ?—जबकि हे रानी, हमें तुमसे बिछड़ने का इतना बड़ा दुख मिलना था। हो सकता है कि गेहूँ का हृदय हमारे इसी दुख के कारण विदीर्ण होगया किंतु पिता के हृदय में तो स्नेह न जागा। हमने तो अपनी प्रिय सहेली को नैहर में महमान

बना हुआ देख लिया है। तभी कोई नैहर को नहीं चाहेगी जिसको सुसराल में अधिक लाभ होगा। यहाँ आशय नैहर और सुसराल से दूसरा यह है कि जो आत्मा इस संसार रूपी नैहर से निवृत्त हो चुकी है वही परमात्मा के लोक यानी सुसराल की कामना करेगी।

यह सुनकर पद्मावती बोली—हम सब इस संसार रूपी नैहर में प्रियतम के देश—ससुराल को जाने के लिये ही जन्मी थीं। यहाँ आकर चले जाना ही तो हम सबने पहले रीति-रिवाज के रूप में सीखा है। अब हमें चलाने वाला प्रियतम चलने के लिये कह रहा है, तो फिर कौन हमारा पाँव पकड़ सकता है?—हमें निश्चय ही प्रियतम के देश—ससुराल को जाना होगा!

विशेष—इस अंश में कविवर जायसी ने यद्यपि पद्मावती के माध्यम से नैहर एवं सुसराल आने-जाने की बात कही है किन्तु मूल व्यंजना रहस्यवादी यह है कि आत्मा इस संसार में प्रियतम परमात्मा के बिना अधूरी होती है; किन्तु जब वह चाहता है अपनी प्रियतमा-आत्मा को अपने पास हर प्रकार से बुला लेता है। कबीर ने भी अपने आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी रहस्यवादी पदों में इस प्रकार नैहर सुसराल के प्रतीक प्रयोग किये हैं। यहाँ जायसी भी उसी प्रभाव के अन्तर्गत यह पद लिख सके हैं; यों पद में कथा का प्रासंगिक अर्थ तो है ही, पर दोनों का व्यंग्यार्थ साथ-साथ ही दिया गया है।

शब्दार्थ—झखीं=रोईं। आदि=पहला। छोह=मोह। बेहराना=फटा हो, विदीर्ण हुआ हो। पाहुन=महमान। औतरी=अवतरित हुई, जन्मी।

(३८१)

तुम्ह बारी पिय चहुँ चक राजा। गरब किरोध ओहि सब छाजा॥
सब घर फूल ओहि कै साखा। चहै सो चूरं चहै सो राखा॥
आएसु लिहें रहेहु निति हाथा। सेवा करेहु लाइ भुइँ माँथा॥
बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा। पाकरि तेहि ते खीन फर दीन्हा॥
बँवरि जो पौंढ़ि सीस भुइँ लावा। बड़ फर सुभर ओहि पै पावा॥
आँब जो फरि कै नवै तराहीं। तब अंब्रित भा सब उपराहीं॥
सोइ पियारी पियहि पिरीती। रहै जो सेवा आएसु जीती॥
पोथा काढ़ि गवन दिन देखहु कवन देवस दहुँ चाल।
दिसासूर औ चक्र जोगिनी सौंहें न चलिअै काल॥ ३८१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सखियों ने पद्मावती से कहा—तुम तो सुन्दरी हो और तुम्हारा प्रियतम चारों दिशाओं का राजा है। उसे क्रोध और अभिमान सभी कुछ शोभित होता है। उसकी शाखा में सब प्रकार के फल-फूल हैं, चाहे तो वह उनकी रक्षा करे अथवा नष्ट कर दे। वह राजा है और उसकी कृपा की शाखा पर सब रिआया फल-फूल की तरह है; वह जो चाहे सो कर सकता है! सखियों ने कहा, उसकी आज्ञा को हाथों लिये रहना और सिर पृथ्वी पर झुकाए उसकी सेवा करना—यही अच्छा है। बड़, पीपल और पाकड़ के वृक्ष ने

अभिमान से सिर ऊँचा किया, फलस्वरूप छोटा फल देते हैं—अभिमान का फल बुरा होता है ! इधर बेल फैलकर धरती पर सिर लगाती है तो बड़े उत्तम फलों से भरपूर हो जाती है—झुककर रहना श्रेयकर होता है ! आम फलकर नीचे की ओर झुकता है, इसलिए सबसे अच्छा अमृत सा मीठा होता है। जो स्त्री पति की आज्ञा का पालन करती है वही स्त्री विजयनी और पति की प्यारी होती है—औरों से श्रेष्ठ भी !

पत्रा निकाल कर देखो कि किस दिन प्रस्थान करना शुभ होगा। यदि दिशाशूल, जोगिनी चक्र और काल प्रस्थान के सम्मुख पड़े हों तो यात्रा नहीं करना चाहिये।

विशेष—प्रस्तुत पद में जायसी ने बड़े सुन्दर सालंकारिक ढंग से यह सूक्ति कही है कि मनुष्य को अभिमान नहीं करना चाहिये और नारी को पुरुष की आज्ञाकारिणी रहनी चाहिये—इसीमें उसका सम्पूर्ण श्रेय है।

अन्तिम पंक्तियों में जायसी ने ज्योतिष के अनुसार जिस समय में यात्रा वर्जित मानी गई है, उसका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि जायसी का ज्ञान केवल काव्य ही का नहीं था, सर्वतोमुखी था।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३८२)

आवित सूक बछिउँ दिसि राहू। बिहफै दखिन लंक दिसि डाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू। मंगर बुद्ध उतर दिसि कालू॥
अवसि चला चाहै जौं कोई। ओखद कहौं रोग कहँ सोई॥
मंगर चलत मेलु मुख धना। चलिअ सोम देखिअ दरपना॥
सूकहि चलत मेलु मुख राई। बिहफै दखिन चलत गुरु खाई॥
आदिति हो तँबारे मुख मंडिअ। बावभिरंग सनीचर खंडिअ॥
बुद्धहि दधि कै चलिअ भोजना। ओखद यहै और नहिं खोजना॥
अब सुनु चक्र जोगिनी ते पुनि थिर न रहाहि।
तोसौ देवस चन्द्रमा आठौ दिसा फिराहिं॥ ३८२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी इस पद में केवल यात्रा सम्बन्धी अपने ज्योतिष ज्ञान का प्रदर्शन कर रहे हैं—

इतवार और शुक्रवार को पश्चिम दिशा में राहु या दिक्शूल होता है। वृहस्पतिवार को लंका की दिशा (दक्षिण) में, अग्नि दाह रहता है। अतः इस ओर की यात्रा नहीं करनी चाहिये। पूरब की यात्रा सोमवार एवं शनिवार को आरम्भ न करे। उत्तर दिशा में मंगल और बुद्धवार को काल बैठता है। फिर भी जिसे आवश्यक रूप से यात्रा करनी ही हो तो कविवर जायसी कहते हैं कि मैं बतलाता हूँ, जो दिशाशूल के दोष को मिटानेवाली औषधि अथवा उसका उपचार है। मंगल को यात्रा पर चलो तो मुख में धनिया चबाकर चलो। सोमवार को दर्पण देख लो। शुक्र को चलो तो मुँह में राई के दाने डाल लो। वृहस्पतिवार को दक्षिण की यात्रा करनी हो तो गुड़ खा लो। इतवार को यात्रा

करनी हो तो पान से मुख रचा लो। शनिवार को चलना हो तो मुँह में बायबिड़ंग डालकर चलो—दोष खण्डित हो जायगा ! बुद्धवार को यात्रा करनी हो तो दही का भोजन करके चलो। बस, यही दिशाशूल के दूर करने के साधन हैं। और कुछ तलाश न करो, इन बातों को करके चलो।

अब जोगिनी चक्र सुनो। ये स्थिर नहीं रहतीं। जोगिनी और चन्द्र ये तीसों दिन आठों दिशाओं में फिरते रहते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में कोई काव्यात्मक गुण नहीं केवल अन्ध-विश्वास का चक्कर है। यहाँ यह केवल जायसी के ज्ञान का प्रदर्शन मात्र है। हाँ, कुछ बातें अवश्य आज भी यात्रियों के प्रस्थान करते समय होते-करते पाई जाती हैं, जैसे धनिया चबाना, दही खाना आदि—पर यह महत्वपूर्ण बातें नहीं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३८३)

बारह ओनइस चारि सताइस। जोगिनि पच्छिउँ दिसा गनाइस ।।
नव सोरह चौबिस ओ एका। पुरुब दखिन गोनँ कँ टेका ।।
तीन एगारह छबिस अठारह। जोगिनि दक्खिन दिसा बिचारह ।।
दुइ पचीस सत्रह ओ दसा। दक्खिन पछिउँ कोन बिच बसा ।।
तेइस तीस आठ पंद्रहा। जोगिनि होइ पुरब सामुँहा ।।
बीस अठाइस तेरह पाँचा। उत्तर पछिउँ कोन तेहि बाँचा ।।
चोवह बाइस ओनतिस सात। जोगिगि उत्तर दिसा कहँ जात ।।
एकइस ओ छ चौदह जोगिनि उत्तर पूरुब के कोन।
यहि गनि चक्र जोगिनी बाँचहु जौं चाहौं सिधि होन।। ३८३ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

१२, १६, ४ और २७—माह की इन तिथियों में जोगिनी पश्चिम कोण में रहती है, इस प्रकार की गणना से इधर की यात्रा वर्जित है। ६, १६, २४ और १—इन तिथियों में पूरब और दक्षिण कोण में जाने के लिये अवरोध है, क्योंकि इधर जोगिनी रहती है। ३, ११, २६ और १८—इन तिथियों में जोगिनी दक्खिन पूरब कोण में रहती है। अतः यात्रा वर्जित है। २, २५, १७ और १०—इन तिथियों में जोगिनी उत्तर में रहती है, अतः दक्षिणी पश्चिमी कोण बचा रहता है, यात्रा की जा सकती है। २३, ३०, ८ और १५—इन तिथियों में जोगिनी उत्तर पूर्व कोण में, समक्ष पड़ती है। अतः इस समय पूर्व दिशा की यात्रा वर्जित है। २०, २८, १३ और ५—इन तिथियों में जोगिनी दक्षिण दिशा में होगी। अतः उत्तर-पश्चिमी कोण की यात्रा वर्जित है। १४, २२, २६ और ७—इन तिथियों में जोगिनी उत्तर पश्चिम कोण पर होती है, अतः इस उत्तर दिशा की ओर यात्रा वर्जित है।

२१, ६ और १४—इन तिथियों में जोगिनी उत्तर पूरब के कोण में रहती है, अतः यह यात्रा वर्जित है। कविवर जायसी कहते हैं, यात्रा के समय इस जोगिनी चक्र का हिसाब

लगा लेना चाहिये, यदि यात्रा सिद्धि की कामना करना हो।

विशेष—प्रचलित ज्योतिष में यह सब कुछ नहीं है। ज्ञात होता है कि यह तंत्र-यानियों-सिद्धों का झमेला है। इस पद का कोई काव्यात्मक महत्व नहीं है, जैसा कि हम पूर्व पद के प्रसंग में भी लिख आए हैं, यह जायसी के ज्ञान-प्रदर्शन का आग्रह मात्र है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३८४)

चलहु चलहु भा पिय कर चालू। घरी न देख लेत जिय कालू॥
समदि लोग धनि चढ़ी बेवाना। जो दिन डरी सो आइ तुलाना॥
रोवहि मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जौं कंत चलाई॥
रोअै सब नैहर सिंघला। लै बजाइ कै राजा चला॥
तजा राज रावन का कोऊ। छाड़ी लंक भभीखन लेऊ॥
फिरी सखी भेंटत तजि भीरा। अन्त कन्त सो भएउ किरीरा॥
कोउ काहू कर नाहि नियाना। मया मोह बाँधा अरुझाना॥
कंचन कया सो नारि की रहा न तोला माँसु।
कन्त कसौटी घालि कै चूरा गढ़ै कि हाँसु॥३८४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

आवाज़ें उठीं—'चलो···चलो' और प्रिय की यात्रा आरम्भ हो गई। काल की लीला विचित्र है ! वह प्राण लेते समय किसी घड़ी को नहीं ठहरता, नहीं देखता। लोगों से मिलकर वह सुन्दरी पद्मावती विमान पर सवार हुई। जिस दिन के लिये वह डरती थी वही निठुर दिन आज आगया। माता-पिता और भाई रो रहे थे। किंतु जब प्रियतम चलता है तो उसकी प्रिया को साथ जाने से कोई नहीं रोक सकता। सारा सिंघल का नैहर रो रहा था और राजा रत्नसेन पद्मावती को बाजे-गाजे के साथ ले जा रहा था। हास-रुदन का अपूर्व संगम था ! किसकी बिसात; अरे ! रावण ने भी इस लंका का राज्य छोड़ा था। उस छोड़ी हुई लंका को भले ही विभीषण ले, पर इससे क्या—"आप मरे जग परलो" ! सखियों से मिलती और भीड़ को छोड़ती पद्मावती घूम पड़ी। अन्ततः पति के साथ ही क्रीड़ा करने को आ गई। कविवर जायसी कहते हैं, अंततः यहाँ कोई किसी का नहीं है। सबके लिये सिर्फ माया-मोह का उलझाऊ बन्धन ही तो है यह संसार !

नारी की स्वर्णिम काया का तोला साँस भी तो अपना नहीं। पति अपने प्रेम की कसौटी पर कसकर चाहे उसका चूर्ण बना दे अथवा उसे अपने गले की कण्ठमाला बनाए—कण्ठालिंगन करे। आशय यह है कि नारी के सुन्दर तन की शोभा का महत्व आँकनेवाला उसका पति ही है—एकमात्र पति, चाहे वह उसे अपनाए या उपेक्षा करे !

विशेष—प्रस्तुत पद में यद्यपि पद्मावती के नैहर से सुसराल जाने वाला वर्णन मुख्य है, किंतु सांसारिक विरक्तिभाव की व्यंजना भी यहाँ बड़ी मार्मिक है। हम सब ही इस संसार से इसी प्रकार सब छोड़ छाड़कर जानेवाले परदेसी हैं—हमारा कोई नहीं,

हमारे रंग, हास, रूप—इन सबका मूल्य आँकने वाला बस दूर देश का रहने वाला एकमात्र प्रियतम रूप परमेश्वर ही है। यहाँ का सबकुछ तो धूल है—किसी शायर की यह उक्ति जायसी के इस पद को अधिक स्पष्ट करती है—

'दारा रहा न जम न सिकन्दर सा बादशाह,
हज़ारों आए इस तख्ते ज़मीं पर चले गए।"

शब्दार्थ—समदि = मिलाप। नियाना = अन्ततः। कया = शरीर। कंचन = स्वर्ण। घालिकै = डालकर। हाँसु = प्रसन्नता।

(३८५)

जौं पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चले साथ गुन औगुन दोऊ॥
औ सँग चला गवन जेत साजा। उहै देइ पारै अस राजा॥
डाँड़ी सहस चली सँग चेरीं। सबै पदुमिनी सिंघल केरीं॥
भल पटवन्ह खरबार सँवारे। लाख चारि एक भरे पेटारे॥
रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती॥
परिखि सो रतन पारिखन्ह कहा। एक एक नग सिस्टिहि बर लहा॥
सहस पाँति तुरियन्ह कै चली। ओ सै पाँति हस्ति सिंघली॥
लिखै लाख जो लेखा कहै न पारहि जोरि।
अरबुद खरबुद नील सँख औ खंड पदुम करोरि॥३८५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जब पद्मावती को सब लोग कुछ दूर पहुँचाकर लौट आए तो कविवर जायसी कहते हैं कि उसके साथ में केवल गुण-अवगुण ही चले। और भी गौने का दिया गया साज-समान साथ चला। गन्धर्वसेन जैसे राजा ही को उतने देने की सामर्थ्य थी। एक सहस्र चेरियाँ साथ में पालकियों में सवार होकर चलीं। वे सभी सिंहल की पद्मिनी जाति की सुन्दर नारियाँ थीं। वस्त्र बनाने वालों ने (पटुवों) सुन्दर-सुन्दर वस्त्र बनाए, कोई चार लाख पिटारे उन वस्त्रों से भर गए—बण्डल बनाए गये। रत्न, पदार्थ, माणिक, मोती—सब जवाहरात शाही भंडार से निकालकर जुते हुए रथों में लादी गई थी और साथ में ले जाने के लिये दी। उन रत्नों को जौहरियों ने परखकर बतलाया कि एक-एक नग सम्पूर्ण सृष्टि के लाभ पाने के समान है—अत्यन्त मूल्यवान हैं। सहस्रों कतारें घोड़ों की और सैकड़ों सिंघली हाथियों की साथ में चलीं।

यदि उस सबका कोई लाख हिसाब करने भी बैठे कि वह कुछ कितना था तो पूरा हिसाब नहीं जोड़ सकता। वह हिसाब तो बेहिसाब—अरब, खरब, नील, संख करोड़ और पद्मों से भी अधिक था।

विशेष—प्रस्तुत पद में सामन्ती काल के विवाहों में लेन-देन और चमक-दमक की प्रभा का एक सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३८६)

देखि गवन राजा गरबाना। दिस्टि माँह कोइ औरु न आना।।
जौं में होब समुँद के पारा। को मोरि जोरि जगत संसारा।।
दरब त गरब लोभ बिख मूरी। दत्त न रहे सत्त होइ दूरी।।
दत्त सत्त एइ दूनौ भाई। दत्त न रहे सत्त पुनि जाई।।
जहाँ लोभ तहँ पाप संघाती। सँचि कै मरै आन कै थाती।।
सिद्धन्ह दरब आगि कै थापा। कोई जरा जरि कोइ तापा।।
काहू चाँद काहू भा राहू। काहू अंब्रित बिख भा काहू।।
तस फूला मन राजा लोभ पाप अँध कूप।
आइ समुँद्र ठाढ़ भा होइ दानी के रूप।।३८६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

गौने-दहेज का साज-सामान देखकर राजा को अभिमान हुआ। वह किसी को अपनी दृष्टि में बड़ा न समझने लगा। उसने सोचा, जब मैं समुद्र पार हो जाऊँगा तो संसार में मेरे समान कौन वैभवशाली होगा ? धन से घमंड होता है और लोभ विष की जड़ है। उसके कारण दान-भाव नहीं रहता और सत्य दूर हो जाता है। दान और सत्य, ये दोनों सहोदर हैं। जब दान नहीं रहता तो फिर सत्य भी नहीं टिकता। जहाँ लोभ होता है वहाँ उसका साथी पाप भी होता है। औरों की सम्पदा धरोहर को संचित करते हुए लोभी मर जाता है। ज्ञानियों ने धन वैभव को आग कहा है। कोई उससे जलता है और कोई उसे फूँककर तमाशा देखता है—तपता है। यों वैभव किसी के लिए तो चाँद और आनन्द-भोग बनता है; और किसी को सूरज—दुख का ताप बनता है ! किसी को अमृत बनता है और किसी को विष।

लोभ और अभिमान के पाप-अंधकूप में इस प्रकार राजा का मन फूल गया—वह बड़ा प्रसन्न हुआ ! उसकी उस दशा में समुद्र दान लेनेवाले याचक का रूप बनाकर उसके आगे आकर खड़ा हुआ।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने सत्य और दान—धर्म के इन दो शाश्वत लक्षणों की महत्ता का भाव प्रकाशन किया है और साथ ही धन और लोभ—मानव-जीवन के इन दो महाशत्रुओं की निकृष्टता की ओर व्यापक संकेत दिया है। भारतीय धर्म के अनुकूल मान जीवन के उद्धार के लिये 'सत्यं चर, धर्म्मं शरणम गच्छामि' का महामन्त्र सर्वविदित हैं। जायसी ने उसे अपने काव्य द्वारा और व्यापक बनाया, यह उनके महान जीवन दृष्टिकोण की ओर हमें आकर्षित करता है।

शब्दार्थ—गवन = गौना। जोरि = जोड़, बराबर। दरब = धन वैभव। मूरी = जड़। दत्त = दान। सत्त = सत्य। सँघाती = साथी। थाती = धरोहर। दानी = याचक।

३३--देश यात्रा खण्ड

(३८७)

बोहित भरे चला लै रानी। दान माँगि सत देखै दानी ॥
लोभ न कीजै दीजै दानू। दानहि पुन्य होइ कल्यानू ॥
दरबहि दान देइ बिधि कहा। दान मोख होइ दोख न रहा ॥
दान आहि सब दरब कचूरू। दान लाभ होइ बाँचै मूरू ॥
दान करै रछ्या मँझ नीराँ। दान खेइ लै आवै तीराँ ॥
दान करन दै दुइ जग तरा। रावण संचि अगिनि मँह जरा ॥
दान मेरु बढ़ि लागि अकाराँ। सैंति कुबेर बूड़ तेहि भाराँ ॥
चालिस अंस दरब जहँ एक अंस तहँ मोर।
नाहि तो जरै कि बूड़ै कै निसि मूसहिं चोर ॥३८७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग के अनुसार—

साज़-सामन से भरे जहाज़ के साथ रत्नसेन रानी पद्मावती को ले चला। याचक के वेष में आए समुद्र ने उससे दान मांगकर उसके सत्य-धर्म की परीक्षा ली। उसने कहा—हे राजन्, लोभ न करो, दान देने से पुण्य और कल्याण होता है! ईश्वर का आदेश है कि धन का दान करना चाहिये। दान से मुक्ति मिलती है, पाप कटता है। सब पदार्थों का सुगन्धित द्रव्य (कचूर) दान है। दान ऐसा विचित्र व्यवसाय (Business) है कि मूलधन भी नहीं लगता—बचा रहता है, और लाभ तो निश्चित है। समुद्र-जल के बीच, दान करने ही से रक्षा होती है। (भव सागर पार करने के लिए भी 'दान' करना एकमात्र उपाय है—ऐसा हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं।) समुद्र-याचक कहता है, हे राजन्! दान खेकर पार लगा देता है—मोक्ष दिलाता है। कर्ण दान देने के कारण ही इहिलोक-परलोक से तर गया। इधर लोभी रावण लोभ-संचय के कारण आग में जलकर मरा। दान सुमेरु पर्वत सा, दानी के महत्व (कचूर) प्रतिष्ठापन में बढ़ने लगता है। किन्तु उसके संचय करनेवाला कुबेर उसी में डूब जाता है। जो दान न देकर धन संचय करता है वह उसके भार से डूबकर मर जाता है।

जिसके पास चालीस हिस्सा धन है, उसमें एक हिस्सा धन दान या 'ज़कात' के रूप में मेरा है। (मुसलमानों में 'ज़कात' धन के चालीसवें भाग के आवश्यक दान को कहते हैं।) समुद्र-याचक कहता है—हे राजन्! यदि वह चालीसवाँ भाग मुझे दान में न दिया गया तो समझ ले तेरा सारा द्रव्य या तो जल जायगा या जल में डूब जायगा या उसे चोर चुरा लेंगे।

विशेष—'दान' सब धर्मों में एक रूपमें मान्य है। जायसी ने यहाँ 'दान' की भावना के आधार पर हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक ऐक्य-भावना का अच्छा सन्देश दिया है।

शब्दार्थ—बोहित = जहाज़ । मूरू = मूलधन । मँझ = में । रछ्या = रक्षा। संचि = संचित । अँकारा = आकार में ।

(३८८)

सुनि सो दान राजैं रिस मानी । केइँ बौराएसु बौरे दानी ॥
सोई पुरुष दरब जेहि सैंती । दरबहि तें सुनु बातैं एती ॥
दरब त धरम करम औ राजा । दरब त सुद्धि बुद्धि बल गाजा ॥
दरब त गरबि करै जो चाहा । दरब त धरती सरग बेसाहा ॥
दरब त हाथ आव कबिलासू । दरब त आछरि छाँड़ न पासू ॥
दरब त निरगुन होइ गुनवंता । दरब त कुबुज होइ रुपवंता ॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा । अस मनि दरब देइ को पारा ॥
कहा समुंद रे लोभी बैरी दरब न झाँपु ।
भएउ न काहू आपन मूँदि पेटारे साँपु ॥ ३८८ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

समुद्र-याचक की दान देने वाली याचना को सुनकर राजा रत्नसेन को क्रोध आ गया। वह बोला—अरे, तुझे किसने पागल बना दिया है कि दान दो ? वही पुरुष श्रेष्ठ है जिसने धन-वैभव संचित किया है। अरे, तू सुन,—धन से ही संसार के व्यवहार की सारी बातें चला करती हैं। धन ही धर्म, कर्म और राज्य का रूप है। धन से ही बुद्धि शुद्ध होती है, बल गरजता है। जिसकी इच्छा हो वह धन के बूते पर गर्व कर सकता है। धन से धरती और स्वर्ग भी मोल लिये जा सकते हैं। धन से स्वर्ग भी हाथ में आ सकता है—आदमी इन्द्र बन सकता है ! धन से अप्सराएँ भी निकट का साथ नहीं छोड़ सकतीं। धन से गुणहीन भी गुण सम्पन्न होता है। धन से कुबड़ा भी रूपवान होता है। जिसके पास धन गढ़ा हुआ भी है, उसका लिलार चमकता है—वह भाग्यशाली है ! भला तू ही बता, यह जानकर अपना धन दान में कौन दे सकता है ?—मैं तुझे कोई दान नहीं दूँगा !

यह रूखा जवाब सुनकर समुद्र ने राजा से कहा—हे लोभी, दुष्ट धन को न छिपा ! यह धन किसी का सगा नहीं। यह तो पिटारे में बन्द किया हुआ साँप है—ज़रा सी देर में डस लेने वाला काल !

विशेष—एकमात्र धन संचय करने वाले उदंड लोगों के पक्ष में कविवर जायसी ने राजा के मुख से जो कुछ धन सम्बन्धी अहंभाव प्रकट कराया है वह आज के युग के धनलोलुपों से सर्वथा मेल खाता है। यह जायसी को सचमुच एक महाकवि सिद्ध करने वाली सूक्ष्म दृष्टि कही जायगी। अन्त में 'धन' को पिटारे में रक्खा डसैला सर्प बताकर अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से धन के ख़तरे का अन्तःस्थित भाव जाग्रित किया गया है। यह जायसी का मनोवैज्ञानिक कला-भाव है, जो कवियों में सहज ही नहीं प्रकट होता—इसके

लिये काव्य की गूढ़ साधना अपेक्षित है। ऐसे स्थलों पर जायसी और तुलसी की महाप्राण प्रतिभा एक धरातल पर मिल जाती है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३८६)

आधे समुँद आए सो नाहीं। उठी बाउ आँधी उपराहीं॥
लहरैं उठी समुँद उलथाना। भूला पंथ सरग नियराना॥
अदिन आइ जौं पहुँचै काऊ। पाहन उड़ाइ बहै सो बाऊ॥
बोहित बहे लंक दिसि ताके। मारग छाँड़ि कुमारग हाँके॥
जौं लै भार निबाहि न पारा। सो का गरब करै कनहारा॥
दरब भार सँग काहु न उठा। जेइ संता तेहि सों पुनि रूठा॥
गहि पखान लै पंखि न उड़ा। मोर मोर जेइँ कीन्ह सो बुड़ा॥
दरब जो जानहिं आपन भूलहिं गरब मनांह।
जौं रे उठाइ न लै सके बोरि चले जल माहँ॥ ३८६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग के अनुसार—

राजा के बेड़े अभी आधे समुद्र को भी पार न कर पाए थे कि भीषण झंझा ऊपर से आ पहुँची। लहरें उठने लगीं और सागर उलटने लगा—तूफान खड़ा हो गया! पथ असूझ हो गया और लगा कि मानो आकाश पास में आ गया है। कविवर जायसी कहते हैं कि जब किसी पर दुर्दिन आता है तो पत्थरों को उड़ाने वाली भीषण आँधियां चलने लगती हैं। जहाज़ चित्तौड़ की ओर से उलटकर लंका की ओर बहने लगे। उनका गंतव्य मार्ग छूट गया, कुमार्ग की ओर वह पड़े। कविवर जायसी कहते हैं कि जब तक खिवैया या कर्णाधार जहाज़ के बोझ को गंतव्य तक पहुँचाने का निर्वाह न कर दे, तब तक उसका तदर्थ गरूर कैसा ?—वह व्यर्थ है! धन का व्यर्थ बोझ लेकर कोई नहीं उठा—अपने गंतव्य तक नहीं पहुँचा। अपने संचित करने वाले से ही धन-वैभव रूठ जाता है। पत्थर लेकर पक्षी नहीं उड़ सकता। जिसने "हाय मेरा···हाय मेरा" करने में जीवन बिताया वही संसार-सागर में डूब गया।

जो धन को अपना जानते हैं वे व्यर्थ ही मन में घमंड से भरमाए रहते हैं। यदि वे धन के बोझ को उठाने में असमर्थ हैं तो यह अच्छा है कि उस अवरोधक धन को जल में डुबोकर यात्रा करें।

विशेष—प्रस्तुत पद में प्रकृति के भयानक रूप का चित्रण अद्भुत हुआ है। इस दृष्टि से पद का सौष्ठव बढ़ गया है। साथ ही इस उक्ति से धन की महत्ता पर एक करारी चोट की गई है—देखिए,

"जो के उठाइ न लै सके बोरि चले जल माँह।"

दुर्दिन का अप्रत्याशित आगमन कितना भयानक होता है, इसका चित्र भी देखिए—

"अदिन आइ जौं पहूँचै काऊ। पाहन उड़ाइ बहै सो बाऊ।"

शब्दार्थ—उपराही = ऊपर। बाउ = वायु। उलथाना = उलटना। सरग = आकाश। नियराना = पास आया। अदिन = दुर्दिन। पाहन = पत्थर। कनहारा = कर्णधार, खिवैया। मानहुँ = मन में।

(३६०)

केवट एक भभीखन केरा। आवा मंछ कर करत अहेरा।।
लंका कर राकस अति कारा। आवै चला मेघ अँधियारा।।
पाँच मुंड दस बाहैं ताही। डहि भौ स्याम लंक जब डाही।।
धुँवा उठै मुख स्वाँस सँधाता। निकसै आगि कहै जब बाता।।
फेकरे मुंड चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह बाहिर आए।।
देह रीछ कै रीछ डराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई।।
राते नैन निडेरें आवा। देखि भयावनु सब डर खावा।।
धरती पाय सरग सिर जानहुँ सहसराबाहु।
चाँद सुरुज नखतन्ह मह अस दीखा जस राहु।। ३६०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

लंका के राजा विभीषण का एक नाविक मछलियों का शिकार करता हुआ वहाँ आया। लंका का वह काला राक्षस घनघोर भयानक काले बादल की तरह चला आता था। उसके पाँच सिर थे और दस भुजाएँ थीं। जब लंका जली थी तो वह जलकर ऐसा काला हो गया था। साँस लेते समय उसके मुँह से धुआँ लिकलता था और जब बात करता था तो आग निकलती थी। उसके नंगे सिर पर बिखरे बाल चँवर की तरह लगते थे। बड़े-बड़े दाँत मुँह से निकलकर बाहर आ गये थे। उसकी बालों वाली देह रीछ जैसी थी, इतनी भयानक कि रीछ भी उसे देखकर डरते थे। उसे देखते ही लगता था मानो वह खा जायगा। लाल-लाल नेत्रों से वह निडर चला ही चला आता था। वह देखने में बड़ा भयानक था, सब उसे देखकर डर खाते थे।

उसके पाँव धरती पर और सिर स्वर्ग पर था। (अतिशयोक्ति वर्णन) लगता था मानो सहस्रबाहु हो। चाँद, सूर्य और नक्षत्रों में वह ऐसा प्रतीत होता था मानो राहु हो।

विशेष—प्रस्तुत पद काव्यात्मक दृष्टि से उत्तम कहा जायगा। राक्षस के रूप-चित्रण में जायसी ने मानो अपने शब्दों का एक सजीव चित्र बना दिया है। इस चित्र की चेष्टाओं से अद्भुत और भय के रस की सहज निष्पत्ति होती है। इन दो पंक्तियों को देखिए—

"देह रीछ कै रीछ डराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई।।
राते नैन निडेरें आवा। देखु भयावनु सब डर खावा।।"

शब्दार्थ—भभीखन = विभीषण, लंका का राजा। केवट की मछली के शिकार खेलने वाली बात मनगढ़ंत है। फेकरे = नंगे सिर। निडेरें = निडरता से।

(३९१)

बोहित बहे न मार्नाहं खेवा। राकस देखि हँसा जस देवा।।
बहुते दिनन्ह बार भै दूजी। अजगर केरि आइ भख पूजी।।
इहै पदुमिनी भभीखन पावा। जानहुँ आजु अजोध्या छावा।।
जानहुँ रावन पाई सीता। लंका बसी रमाएन बीता।।
मँछ देखि जैसें बग आवा। टोइ टोइ भुइँ पाउ उठावा।।
आइ नियर भै कीन्ह जोहारू। पूंछा खेम कुसल बेवहारू।।
जो बिस्वास घातिका देवा। बड़ बिस्वास करै के सेवा।।
कहौं मीत तुम्ह भूलेहु औ जावेहु केहि घाट।
हौं तुम्हार अस सेवक लाइ देऊँ तेहि बाट।। ३९१ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

मल्लाहों की परवाह न करते हुए जहाज़ विपरीत बह चले। यह देखकर वह राक्षस देव दानव की तरह अट्टहास कर उठा। उसने कहा—बहुत दिनों के बाद आज यह दूसरा अवसर आया है कि अजगर को अपना पूरा भोजन या शिकार मिला है। इस पद्मिनी को यदि विभीषण पाएगा तो लगेगा कि मानो उसके यहाँ भी अयोध्या शोभित हो गई हो। लगेगा, मानो रावण को सीता मिल गई हो; राम रावण का युद्ध निबट गया हो और लंका पुनः बस गई हो। मछली को देखकर जैसे बगुला बड़ी चतुराई से सँभाल-सँभालकर पाँव उठाता है, उसी प्रकार वह राक्षस भी आगे चला और निकट आकर प्रणाम करके उसने राजा से कुशल-मंगल और व्यवहार पूछा। कविवर जायसी कहते हैं कि वह जो विश्वासघाती देव था, इस प्रकार सेवा आदरभाव दिखलाकर अपना पूरा विश्वास जमाना चाहता था, ताकि इस तरह उन्हें छला जा सके।

उसने कहा, मित्र ! तुम भूल भटक गए हो। बताओ, किस पार जाना चाहते हो ? मैं तुम्हारा सेवक सा हूँ। जिस मार्ग जाना चाहो, कहो ! उसी मार्ग पर पहुँचा दूँगा।

विशेष—विश्वासघाती चिकनी-चुपड़ी बातों से ठगा करता है। कविवर जायसी ने इस दानवी वृत्ति को इस पद में बड़ी चतुराई से स्पष्ट किया है। यह उनकी लोक सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण है।

शब्दार्थ—बोहित=जहाज। खेवा=मल्लाह। केरि=को। रमाएन=राम-रावण संग्राम। बग=बगुला। टोइ=सँभाल। नियर=निकट। जोहारू=प्रणाम। बेवहारू=व्यवहार। बड़=पूरा या बड़ा। घाट=पार।

(३९२)

गाढ़ परें जिउ बाउर होई। जो भलि बात कहै भल सोई।।
राजैं राकस नियर बोलावा। आगें कीन्ह पंथ जनु पावा।।
बहु पसाउ राकस कहँ बोला। बेगि टेंकु पुहुमी सब डोला।।
तूं खेवक खेवकन्ह उपराहीं। बोहित तीर लाउ गहि बाँहीं।।

तोहि तें तीर घाट जौं पावौं । नवगिरही टोहर पहिरावौं ।।
कुंडल स्रवन देउँ नग लाई । महरा कै सौंपौं महराई ।।
तस राकस तोरि पुरवौं आसा । रकसाईंधि कै रहै न बासा ।।
राजैं बीरा दीन्हेउ जानैं नाहिं बिसवास ।
बगु अपने,भख कारन भएउ मंछ कर दास ।। ३६३ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में कविवर जायसी कहते हैं—

मुसीबत पड़ने पर मनुष्य का मन पागल हो जाता है। तब जो ज़रा सहानुभूति जताए वही भला आदमी—अपना मित्र प्रतीत होने लगता है। राजा रत्नसेन ने उस राक्षस को अपने पास बुलाया और इस प्रकार से अपने आगे किया मानो गंतव्य पर पहुँचने का मार्ग पा गया हो, कि वह राक्षस पथ दर्शक हो ! अत्यन्त विनम्र होकर उसने कहा, जल्दी सहारा दो, सारी पृथ्वी डोल रही है—भूचाल आ रहा है !हे देव, तुम सब नाविकों के ऊपर नाविक,—बड़े नाविक हो। हमारी भुजा पकड़कर हमारे डूबते जहाज़ों को किनारे पर लगाओ । और तुम्हारे कारण यदि किनारे का घाट मिल गया, राजा ने कहा,—तो मैं तुम्हें नौलखा रत्नजटित हार, 'टोडर' पहनाऊँगा । कानों में पहनने के लिये नगजटित कुंडल दूँगा । तुम्हें प्रधान अधिकारी का पद देकर प्रतिष्ठा प्रदान करूँगा। हे राक्षस, इस प्रकार मैं तुम्हारी सम्पूर्ण आशा पूर्ण करूँगा, कि तुममें असुरता की गंध न रहेगी—तुम श्रेष्ठ राजा बन जाओगे !

उस दानव के अविश्वास से अपरिचित रहकर राजा ने उसे संकट से छुटा देने-वाला अपने उत्तरदायित्व का बीड़ा भेंट किया। कविवर जायसी कहते हैं कि इस समय बगुला अपने भक्षण के लिये मछली का दास बन गया था।

विशेष—जहाँ यज्ञ होता राक्षस आ ही जाते ।—इस राक्षसी शक्ति का सामना करना ही मानव जीवन की सफलता की कसौटी है । राक्षसी शक्ति छलछद्म से पूर्ण होती है। मानव उसके आगे भरमा जाता है। इस सबको जायसी ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है। अन्त में—"बगु अपने···" उक्ति में अत्यन्त प्रभावशाली दृष्टान्त इस बात का दिया गया है कि राक्षसी स्वभाव कितना पतित होता है।

शब्दार्थ—गाढ़ = कठिनाई, मुसीबत । बाउर = पागल । भल = अच्छा । नियर = पास । पसाउ = पसीजकर, विनम्र होकर । पहुमी = पृथ्वी । डोला = चलायमान है। खेवक = नाविक । उपराहीं = ऊपर । महरा = प्रधान अधिकारी ।

(३६३)

राकस कहा गोसाइँ बिनाती । भल सेवक राकस कै जाती ।।
जहिया लंक डहीं स्त्री रामा । सेव न छाँड़ि भएउ डहि स्यामा ।।
अबहूँ सेव करहिं सँग लागे । मानुस भूल होंहि तिन्ह आगे ।।
सेत बंध जहँ राघौ बाँधा । तहँ लै चढ़ौं भार मैं काँधा ।।
पै जब तुरित दान कछु पावौं । तुरित सेइ ओहि बाँध चढ़ावौं ।।

तुरित जो दान पान हँस दिया। थोरा दान बहुत पुनि किया ।।
सेव कराइ जो दीजै दानू। दान नाहिं सेवा बर जानू ।।
दिया बुझा सतु ना रहा हुत निरमल जेहि रूप।
बहु आँधी उड़ि आइ कै मारि किया अंध कूप ।।३९३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राक्षस बोला—हे स्वामी, मेरी आपसे एक विनती है । राक्षस की जाति बड़ी सेवा करने वाली होती है। जबकि श्रीराम ने लंका दहन किया था तब भी मैंने अपनी सेवा नहीं छोड़ी, और जलकर ऐसा काला हो गया हूँ। राक्षस अब भी संग लग कर सेवा करते हैं। जो मनुष्य मार्ग भूल जाते हैं उनके आगे होकर वे मार्ग दर्शन कराते चलते हैं। जहाँ श्रीराम ने सेतुबंध पुल बाँधा था मैं तुम्हें कंधे पर चढ़ाकर वहाँ लिये चल सकता हूँ। लेकिन जबकि तुरन्त कुछ दान तुमसे पालूँ तो तुरन्त ही तुम्हें खेकर उस बाँध पर चढ़ा दूँगा। जो दान तुरन्त बीड़े के साथ हाथ में दिया जाता है, वह थोड़ा दान भी बड़ा पुण्यमय होता है मानो उसे देकर बड़ा पुण्य किया हो। और हे राजा, पहले सेवा लेने के बाद जो दान दिया जाता है उसे दान नहीं सेवा के बल से मिला हुआ ऐवज़ समझो। आशय यह है कि दान देने की महत्ता पूर्व सेवा लेकर नहीं है, वरन वह तो निःस्वार्थ होना चाहिये, तभी दान है।

जब राक्षस ने दान की महत्ता कही तो जिस सत्य का स्वरूप अब तक निर्मल था वह न रहा। दान का दीपक बुझ गया। भयानक आँधी आई और उसने सबकुछ नष्ट-भ्रष्ट करके अन्धकार जैसा बना दिया। आशय यह कि राजा ने समुद्र याचक को जो दान देने से इन्कार किया उसके कारण उसका राजसी सत् जाता रहा,·· दान का दीपक घोर कठिनाइयों की आँधी से बुझ गया।

विशेष—प्रस्तुत पद में 'दान' के महत्व की व्यंजना लक्ष्य है। अंतिम पंक्तियों में प्रकृति के भयानक रूप का चित्रण—**"आँधी उड़ि आइकै मारि किया अन्धकूप"** है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३९४)

जहाँ समुंद मँजधार भँडारू। फिरै पानि पातार दुवारू ।।
फिरि फिरि पानि ओहि ठाँ भरई। बहुरि न निकसै जो तहँ परई।।
ओहि ठाँव महिरावन पुरी। हलका तर जमकातरि जुरी ।।
ओहि ठाँव महिरावन मारा। परे हाड़ जनु परे पहारा ।।
परी रीर जहँ ताकरि पीठी। सेतबंध अस आवै डीठी ।।
राकस आनि तहाँ कै छरै। बोहित भँवर चक्र महँ परै ।।
फिरै लाग बोहित अस आई। जनु कुम्हार धरि चाक फिराई।।
राजै कहा रे राकस बौरे जानि दूझि बौरासि।
सेतबंध जहँ देखिअ आगे कस न तहाँ लै जासि ।।३९४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जहाँ समुद्र का मँझधार रूपी पेट था वहाँ पानी में भँवर पड़ता था, जिसमें पाताल लोक का दरवाजा था। पानी चक्कर काटकर वहीं आ ठहरता था। जो उसमें पड़ जाता था, फिर न निकलता था—मर जाता था। वहीं रावण के पुत्र महिरावण की नगरी थी। उस हल्के में, उस नगरी की सीमा में या उन लहरों के तले, नंगी यमराज की तलवारें जुड़ी-घूमती रहती थीं। उसी जगह महिरावण मारा गया था। उसके हाड़ वहाँ इस तरह से पड़े थे जैसे पहाड़ पड़े हुए हों, यानी हड्डियों का ढेर बहुत अधिक था! जहाँ उसकी पीठ की रीढ़ की बड़ी हड्डी पड़ी हुई थी, वहाँ दृष्टि को मानो सेतुबन्ध नज़र आता था। वह राक्षस लोगों को वहाँ छलकर मारने के लिए लाता था और जहाज़ उस भँवर में पड़कर डूब जाते थे। उस भँवर में जहाज़ ऐसे चकरा जाते थे ज्यों कुम्हार डँडा धरकर चाक फिरा देता है।

राजा ने कहा—रे राक्षस! तू जान बूझकर पागल बन रहा है—हमें छल रहा है। आगे जहाँ पर सेतुबन्ध पुल दीखता है, वहाँ सीधे क्यों नहीं ले चलता?

विशेष—वीभत्स रस का चित्रण प्रधान है। साथ ही आसुरी स्वभाव-स्थान का भी यथातथ्य चित्र खींचा है। किंतु महिरावण और उसकी नगरी की कल्पना का आधार क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भावतः यह जायसी के समय की कोई दन्त-कथा हो।

शब्दार्थ—भँडारू = पेट, भंडार। दुबारू = दरवाजा। महिरावन = रावण का पुत्र। रीरि = रीढ़ की हड्डी। डीठी = नज़र। राकस = राक्षस। बौरे = पागल।

(३६५)

सुनि बाउर राकस तब हँसा। जानहु टूटि सरग भुइँ खसा॥
को बाउर तुहुँ बौरे देखा। सो बाउर भख लागि सरेखा॥
बाउर पंखि जो रह धरि माँटी। जीभ चढ़ाइ भखै निति चाँटी॥
बाउर तुहुँ जो भखै कहँ आने। तबहुँ न समुझहु पंथ भुलाने॥
महिरावन कै रीरि जो परी। कहाँ सो सेतबंध बुधि हरी॥
यह सो आहि महिरावन पुरी। जेंहवाँ सरग नियर धर दूरी॥
अब पछिताहु दरब जस जोरा। करहु सरग चढ़ि हाथ मरोरा॥
जबहि जियत महिरावन लेत जगत कर भार।
जौं रे मुवा लेइ गया न हाड़ौ अस होइ परा पहार॥३६५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के मुख से "बावला" सुनकर वह राक्षस हँसा। उसके अट्टहास से लगा मानो आकाश टूटकर धरती पर गिर रहा हो। उसने व्यंग से कहा—कौन बावला है? —यह तुझ बावले ने भी जान लिया! क्या वह बावला है जो अपने भक्ष्य को पा लेने में चतुर हो? आशय यह है कि मैं तेरा भक्षक हूँ, बावला नहीं। अरे मूर्ख राजा, तू ही मेरा भक्ष्य बना हुआ पागल है। बावली वह दीमक होती है जो मिट्टी खाकर जीवित रहती है और उसे चींटी नित्य चीभ पर चढ़ाकर, चाटकर खा जाती है। बावला तू है जो मेरे भक्षण

लिए लाया गया है, और फिर मेरी चाल नहीं समझा कि मैं सचमुच अपना मार्ग भूल रहा हूँ––छला जा रहा हूँ। राक्षस ने कहा—अरे मूर्ख, वह जो महिरावण की रीढ़ पड़ी हुई है, भला सेतुबन्ध का पुल हो सकता है ? कहीं बुद्धि तो नहीं मारी गई तेरी ? यह तो महिरावणपुरी है, जहाँ से स्वर्ग या मौत पास और घर दूर है—व्यंगार्थ यह है कि यह तेरी मौत है। तूने जैसे व्यर्थ धन जोड़ा, समय गँवाया उसके परिणाम में पश्चात्ताप कर··· मर ! स्वर्ग में पहुँचकर भी हाथ मलकर रोना।

राक्षस ने आगे कहा—जीवित रहते महिरावण को जगत का भार लेने—महीपति होने का गर्व था। किन्तु जब मरा तो अपनी हड्डी भी साथ न ले जा सका—और यह जो तुझे पहाड़ दिखलाई पड़ रहा है; इसी सत्य का ज्वलंत सबूत है कि मनुष्य यहाँ से कुछ नहीं ले जाता; केवल उसका दान दिया न लिया ही याद किया जाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद की अन्तिम उक्ति—**"अस होइ परा पहार"** को पढ़कर सहसा मन की आँखें खुल जाती हैं कि जीवन और उसका विभव कितना तुच्छ, कितना वीभत्स और कितना व्यर्थ है। 'दिया लिया' ही जीवन का महत्वपूर्ण धन है। यह व्यंग्यार्थ जिस वाक्चातुर्य से कविवर जायसी ने प्रकट किया है,वैसा अन्यत्र पाना कठिन है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३९६)

बोहित भँवें भवें जस पानी। नाचै राकस आस तुलानी॥
बूड़हि हरित घोर मानवा। चहुँ दिस आइ जुरे मँसुखवा॥
तेतखन राजपंखि एक आवा। सिखर टूट तस डहन डोलावा॥
परा दिस्टि वह राकस खोटा। ताकेसि जैस हस्ति बड़ मोंटा॥
आइ ओहि राकस पर टूटा। गहि लै उड़ा भँवर जल छूटा॥
बोहित टूक टूक सब भए। अैस न जानै दहुँ कहँ गए॥
भए राजा रानी दुइ पाटा। दूनौ बहे भए दुइ बाटा॥
काया जीउ मिलाइ कै कीन्हेसि अनँद उछाहु।
लवटि बिछोह दीन्ह तस कोउ न जानै काहु॥ ३९६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

जहाज़ पानी की भाँति पानी के अनुकूल ही जैसे घूमते थे। राक्षस खुशी से नाचा, मानो उसकी आशा पूरी होने को है, कि उन्हें भक्ष्य बना लेने को तैयार हो। हाथी, घोड़े और मानव डूबने लगे। चारों ओर से मांसभक्षी राक्षस एकत्रित हो गये। उसी समय एक राजपंखी गरुड़ आता प्रतीत हुआ, जो अपने विशाल पंख इस भाँति चला रहा था जैसे पर्वतों की चोटियाँ टूटकर गिर रही हों। (अत्युक्ति है। आशय यह है कि उसके पंख विशाल थे।) वह दुष्ट राक्षस उस गरुड़ की नज़र पड़ गया। उसने उसे यों देखा मानो कोई तगड़ा हाथी हो। वह उस राक्षस पर टूट पड़ा। उसे दबोचकर उड़ा। उससे जल-भंवर उच्छल हो गया। सारे जहाज़ टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गए। यह पता भी न चला कि

वे कहाँ गए। राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती दो फट्टों पर अलग-अलग होकर, दो मार्गों पर बहे—बिछुड़ गए !

कविवर जायसी कहते हैं कि ईश्वर, जीव और काया को मिलाकर आनन्द से उच्छ्‌वसित होता है। किन्तु फिर लौटकर ऐसा वियोग देता है कि कोई किसी को पहचान तक नहीं पाता।

विशेष—प्रस्तुत पद में एक संदेश है, सूक्ष्म व्यंजना है कि जीवन की घोरतम निराशा में अज्ञात आशा का आश्रय मिलता है ? अन्तिम पंक्तियों में भाग्यवाद का आग्रह है।

शब्दार्थ—बोहित=जहाज़। तुलानी=पूरी होना। तेतखन=उसी समय। मँसुखवा=मांसभक्षी। बूड़हिं=डूबते हैं। राजपंखि=गरुड़ पक्षी, वेनतेय। डहन=पंख, डैने। डोलावा=चलाना। पाटा=लकड़ी का फट्टा।

●

३४--लक्ष्मी समुद्र खण्ड

(३६७)

मुरुछि परी पदुमावति रानी। कहँ जिउ कहँ पिउ अैस न जानी॥
जावु चित्र मूरति गहि लाई। पाटा परी बही तसि जाई॥
जनम न पौन सहे सुकुमारा। तेहि सो परा दुख समुंद अपारा॥
लखिमिनि मान समुंद कै बेटी। ता कहँ लच्छि भई जेइँ भेंटी॥
खेलत अही सहेलिन्ह सेंती। पाटा जाइ लगा तेहि रेती॥
कहेसि सहेलिहु देखहु पाटा। मूरति एक लागि एहि घाटा॥
जौं देखेन्हि तिरिया है सांसा। फूल मुएउ पै मुई न बासा॥
रंग जो राती पेम के जानहु बीर बहूटि।
आइ बही दधि समुंद महँ पै रँग गएउ न छूटि॥ ३६७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रानी पद्मावती उसके भय से मूर्छित होकर गिर गई। उसे पता भी न रहा कि कहाँ उसके प्राण हैं और कहाँ उसका पति है ! फट्टे पर वह ऐसी अचेत दशा में बहती जा रही थी मानो चित्र पटल पर कोई मूर्त्ति लगी हो। जिस सुकुमारी ने जन्म भर हवा का एक झोंका भी न सहा था—रनिवास से पाँव बाहर न दिया था, अब उस पर दुख का अपार सागर आ पड़ा था,—वह एकान्त अकेले दुख के सागर में डूबी जा रही थी ! लक्ष्मी, जो समुद्र की बेटी मानी जाती है, वह जिसे मिल जाय उसके क्या ही कहने है। वह लक्ष्मी

है—"पात परा बेकरार"—इस उक्ति में मर्म को झकझोरने की क्षमता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४००)

कहेन्हि न जानहिं हम तोर पीऊ। हम तोहि पावा अहा न जीऊ॥
पाटा भरी आइ तूं बही। अैसि न जानहिं दहुँ का अही॥
तब सो सुधि पदुमावति भई। सूर बिछोह मुरछि मरि गई॥
बिनु सिर रकत सुराही डारी। जनहुँ बकत सिर काटि पबारी॥
खिनहिं चेत खिन होइ बेकरारा। भा चन्दन बंदन सब छारा॥
बाउर होइ परी सो पाटा। देहु बहाइ कंत जेहि घाटा॥
को मोहि आगि देइ रचि होरी। जियत जो बिछुरी सारस जोरी॥
जेहि सर मारि बिछोहि गा देहि ओहि सर आगि।
लोग कहै यह सर चढ़ी हौं सौ चढ़ौं पिय लागि॥४००॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

लक्ष्मीजी और उसकी सखियों ने पद्मावती से कहा—हम तेरे प्रियतम को नहीं जानतीं। हमने तुझे उस हालत में पाया था जब तुझमें जीव नहीं था। तू फट्टे के ऊपर बही हुई आई थी। हमें ज्ञात नहीं था कि तू कौन थी। यह सुनकर पद्मावती को पूर्व घटना की स्मृति हुई और सूर अर्थात् रत्नसेन की बात सोचकर उसे मूर्छा आ गई। वह पुनः मरणासन्न हो गई। उसके रक्त के आँसू आँखों से इस प्रकार ढलकने लगे कि जैसे बिना ढकनेवाली शरीर रूपी रक्त की भरी सुराही को ढाला गया हो या मानो उसने पागल-पन में अपना सिर काटकर फेंक दिया हो। वह क्षण में सचेत और क्षण में अचेत हो जाती थी। सारा चन्दन और आभूषण धूल हो गया—व्यर्थ हो गया। पागल सी होकर यह फट्टे पर पड़ गई; और बोली, मुझे उस घाट के लिए बहा दो जहाँ मेरे कन्त ठहरे हैं। मरते पर मुझे कौन प्रियतम के पद का पवित्र अग्निदाह देगा ? मैं तो अभागिन हूँ कि जीवन में ही सारस की जोड़ी की भाँति अपने प्रियतम से बिछड़ गई हूँ।

जिसने बाण मारकर जिसको प्रियतम का बिछोह दिया है उसकी चिता में आग भी उसी को दे देनी चाहिए। लोग चिता की आग को सिरचढ़ी या कठिन कहते हैं, किन्तु मैं अपने प्रियतम के लिये उस पर सौ बार चढ़ सकती हूँ।

शब्दार्थ—अहा=था। पाटा=फट्टा। मुरछि=मूर्छित। बकत=बकते हुए, पागल की स्थिति में। रकत सुराही=शरीर रूपी रक्त की भरी सुराही। पबारी= फेंका। बेकरारा=विकल। बदन=आभूषण। छारा=धूल। बउर=पागल।

(४०१)

कया उदधि चितवौं पिय पाहां। देखौं रतन सो हिरदै माहां॥
जानु आहि दरपन मोर हिया। तेहि महँ दरस देखावै पिया॥
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं सुठि झूरी॥

पिउ हिरदै महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥
साँस पास नित आवै जाई। सो न संदेस कहै मोहि आई॥
नैन कौड़िया भे मँड़राहीं। थिरकि मारि लै आवहिं नाहीं॥
मन भँवरा ओहि कँवल बसेरी। होइ मरजिया न आनहि हेरी॥
साथी आथि निआथि भे सकेसि न साथ निबाहि।
जौं पिउ जारें जिउ मिले फिटु रे जिउ जरि जाहि॥४०१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसँग में—

पद्मावती कहती है—जब मैं अपने शरीर रूपी समुद्र को देखती हूँ तो प्रियतम को पास पाती हूँ—मुझे वह मेरा ही शरीर प्रतीत होता है! जिस रत्न को देखती हूँ वह रत्नसेन बना मेरे हृदय में मौजूद है। मानो मेरा मानस-मुकुर हो, और उसमें मेरा प्रियतम मुझे दरस दिखा रहा है। वह मेरे नेत्रों के निकट है, पर मेरी पहुँच से वह बड़ी दूर है। अब मैं उसके सोच में मृत्यु को पाऊँगी! प्रियतम हृदय में है, पर दुःख है कि उससे भेंट नहीं होती। उससे मुझे कौन मिलावे, किससे अपना दुःख रोकर कहूँ? उसके पास मेरी साँस नित्य आती-जाती है, किन्तु वह भी लौटकर मुझे प्रियतस का सन्देश नहीं देती। मेरे दृग कोड़िल्ला पक्षी होकर उसकी खोज में मँडरा रहे हैं। किन्तु वे झपट्टे के साथ उसे शरीर सागर से बाहर लेकर नहीं आते। मेरा मन रूपी भौरा उस प्रेमरत्न रूपी कमल में बसता है, बन्दी है। किन्तु गोताखोर की तरह शरीर सागर में गोता लगाकर उसे खोज नहीं लाता। (रूपक अलंकार है।)

पद्मावती कहती है—वह साथी या सार्थवाह धनिक अपनी पूँजी खोकर निर्धन हो गया, और मेरा साथ न दे सका। आशय है कि मेरा पति मुझे जीवन के आधे मार्ग पर ही छोड़ गया। यदि जी को जलाकर प्रियतम से मिलन हो सके, तो हे राम, मेरा प्राण जलकर अभी समाप्त हो जाय।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने इश्क़ मिजाज़ी से इश्क़ हक़ीक़ी की व्यंजना की है। पहले प्रियतम स्थूल होता है—"**कया उदधि चितवौं पिय चाहौं**"—फिर वह बराबर सूक्ष्म हो जाता है—"**जानु आहि दरपन मोर हिया। तेहि महं दरस देखावै पिया।**" सूफी पंथ में इश्क का यही दस्तूर माना जाता है। व्यंजना रहस्यवादी है।

सम्पूर्ण पद में उक्ति चमत्कार का रस अपूर्व है। रूपक अलंकार की छटा भी "**कया उदधि**", "**दरपन हिया**"—आदि उक्तियों में दर्शनीय है।

शब्दार्थ—कया=शरीर। उदधि=सागर। चितवौं=देखो। पाहाँ=पार्श्व में। नियर=निकट। साथी=सार्थवाह। थिरकि=झपट्टा। आथि=धनी। निआथि =निर्धन। फिटु=नष्ट।

(४०२)

सती होइ कहँ सीस उघारी। घन महँ बिज्जु घाय जस मारी॥
सेंदुर जरै आगि जनु लाई। सिर की आगि सँभारि न जाई॥

जहाँ सखी से सहेलियों के साथ खेलती थीं, वहीं रानी पद्मावती का फट्टा किनारे पर जा लगा। उसने सहेलियों से कहा, यह फट्टा देखो, कोई एक मूर्ति इस घाट पर आकर लगी है! उन्होंने ज्योंही उसे देखा तो पाया कि एक नारी है। वह स्त्री रूपी फूल मुरझा तो गया था पर सुगन्ध नहीं मरी थी—उसमें अभी जीवन शेष था।

कविवर जायसी कहते हैं वीरबहूटी की भाँति जो प्रेम के रंग से रंजित था व भयंकर दधि-सागर में बहती आई, किन्तु उसका प्रेम का रंग न छूटा। आशय है कि उसमें अभी तक प्रेम की स्निग्धता झाँक रही थी।

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में सच्चे प्रेम की अमरता की व्यंजना है। पद्मावती के अचेतावस्था में जल पटरे पर बहते हुए सौन्दर्य का विशिष्ट चित्रांकन किया गया है—

"जानु चित्र मूरति गहि लही"

निर्जीव पदार्थ की इतनी सजीव उपमा शायद अन्यत्र सहज ही देखने को मिले।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(३९८)

लखिमिनि लखन बतीसों लखी। कहेसि न मरै सभाँरहु सखी॥
कागर पुतरी जैस सरीरा। पवन उड़ाइ परी मँझ नीरा॥
उड़हि झकोर लहरि जल भीजी। तबहु रूप रंग नाहीं छीजी॥
आपु सीस लै बैठी कोरा। पवन डोलावहि सखि चहुँ ओरा॥
पहरक समुझि परा तन जीऊ। माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ॥
पानि पियाइ सखी मुंह धोई। पदुमिनि जानु कँवल संग कोई॥
तब लखिमिनि दुख पूंछ मरोही। तिरिया समुझि बात कहु मोही॥
देखि रूप तोर आगर लागि रहा चित मोर।
केहि नगरी कै नागरि काह नाउँ धनि तोर॥३९८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती को लक्ष्मी ने बत्तीस लक्षणों से युक्त देखकर कहा, हे सखियो! इसे सँभालो नहीं तो यह कहीं मर न जाए! इसका तन कागज की पुतली के समान कोमल है। संभवत: यह अंधड़ की उड़ाई हुई पानी में गिर पड़ी है। उड़ते हुए हवा के झँकोरे खाते और पानी की लहरों के थपेड़ों से भीगती हुई भी, इसका रंग-रूप कम नहीं हुआ। यह अब भी सुन्दरी प्रतीत होती है! लक्ष्मी उसका सिर अपनी गोद में लेकर बैठ गईं और सारी सखियाँ चारों ओर से पंखा झलने लगीं। एक प्रहर में प्रतीत हुआ कि उसके शरीर में प्राण आ गए हैं। उसने पति को पुकारकर पानी माँगा। सखियों ने पानी पिलाकर उसका मुख धो दिया। पद्मावती का सुन्दर मुख धुलकर ऐसा खिल गया मानों कुमुदिनियों के संग में कोई कमल खिला हो—पद्मावती उन सबों के बीच सबसे अधिक सुन्दरी लग रही थी! तब उस मरणासन्ना से लक्ष्मी जी ने उसका दु:ख दर्द पूछा कि हे नारी! मुझे भी स्त्री समझकर

अपने मन की बात कहो ? (नारी के दुख नारी ही समझ सकती है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य सभी जानते हैं।)

लक्ष्मी जी ने कहा—हे सुन्दरी, तुम्हारा अपार रूप-सौंदर्य देखकर मेरा हृदय अनुरक्त हो गया है। बता, तू किस नगरी की नागरी या सुन्दर नारी है, तेरा क्या नाम है ?

शब्दार्थ—लखिमिनी = लक्ष्मी जी। लखन = लक्षण। कागर पुतरी = कागज की पुतली। झकोर = हवा का झोंका। कोरा = गोद। पहरक = एक पहर। पानि = पानी। मरोही = मरणासन्ना।

(३६६)

नैन पसारि चेत धनि चेती। देखै काह समुंद कै रेती॥
आपन कोउ न देखेसि तहाँ। पूंछेसि को हम को तुम कहाँ॥
अहीं जो सखीं कवल सँग कोई। सो नाहीं मोहि कहा बिछोई॥
कहाँ जगत मनि पीउ पियारा। जौं सुमेर बिधि गरुअ सँवारा॥
ताकरि गरुई प्रीति अपारा। चढ़ीं हिएँ जस चढ़ै पहारा॥
रहै न गरुई प्रीति सों झाँपी। कैसे जियौं भार दुःख चाँपी॥
कँवल करी केइँ चूरी नाहाँ। दीन्ह बहाइ उदधि जल माहाँ॥
आवा पौन बिछाउ का पात परा बेकरार।
तरिवर तजै जो चूरि कै लागै केहि की डार॥३६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

आँख खोलकर नारी पद्मावती को चेत आया। क्या देखती है कि सर्वत्र समुद्र की रेती ही रेती है। वहाँ कोई भी उसे अपना दिखाई न दिया। पूछने लगी, मैं कौन हूँ···तुम कौन हो···कहाँ हो ? मेरी वह सखियाँ जो कमल के साथ कुमुदनियों की भाँति थीं, वह यहाँ नहीं दीखती हैं; वे मुझसे कहाँ बिछड़ गईं? मेरा संसार में, मणि सा प्यारा प्रियतम कहाँ है ? ईश्वर ने जिसका गौरव सुमेरु पर्वत सा महान बनाया है। उसकी महान अपरम्पार प्रीति मेरे मानस पर इस प्रकार चढ़ी है जैसे अडिग पहाड़ चढ़ा हुआ हो—मुझे उससे असीम प्रीति है। वह महान प्रीति छिपाई नहीं जा सकती। अब जिऊँ कैसे; दुःख के भार से दबी हुई हूँ ? प्रियतम ने मुझ कमल की कली को क्यों मसल डाला, और इतनी निठुराई कि सागर के जल में बहा दिया ?

विछोह का पवन आया, पत्ता विकल हुआ और पेड़ से टूटकर, विलग होकर गिर गया। यदि पेड़ ही उसको चूर-चूरकर ठुकरा दे, तो वह किस अन्य वृक्ष की शाखा पर जाकर लगे ? जब प्रियतम ही प्रिया को ठुकरा दे तो उसे कहाँ शरणस्थल मिलेगा—हाय, ये बिछोह का अंधड़ ही ऐसा निठुर होता है !

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में वियोग का भाव बड़ी मार्मिकता और स्वभावोक्ति से व्यक्त हुआ है। प्रायः दिनरात हम यों ही मिलकर बिछुड़ते हैं। तभी तो कवि ने लिखा

राजा रत्नसेन भी बहता-बहता वहाँ जा लगा जहाँ कि कोई कौवा भी संदेश ले जाने वाला न था। वहाँ एक उत्तुंग पर्वत था, जहाँ सर्वत्र कपूर और मूँगे ही मूँगे थे। रत्नसेन ने उसपर चढ़कर देखा कि कोई साथी न था--वह अकेला था। उसे अहसास हुआ कि धन-वैभव इकट्ठा करके भी उसके पल्ले कुछ न रहा—वह खाली हाथ है। जहाँ रावण राक्षस का रात्रि शयन स्थान था वहाँ वह पथ-भ्रमित होगया और उसे खोजने पर भी कोई साथी न दीखा। राजा धाड़ मारकर रो पड़ा—चीखा, किसने मुझे चित्तौड़ राज्य से विलग कर दिया ? मेरा सारा धन-वैभव-भंडार कहाँ लुप्त होगया ? मेरा कटक-लश्कर और स्कंधावार कहाँ गया ? मेरे वे बलवान घोड़े, सिंघली हाथी—सब कहाँ हैं ?

और ··मेरी वह सुंदरी पद्मावती कहाँ है कि जिसके पास मेरे प्राण निवास करते हैं। मन में मिथ्या घमंड करके, हाय, मैंने "मेरा···मेरा" करके अपना सब कुछ गँवा दिया ?

विशेष—'स्मृति' अलंकार का प्रभावशाली आभास होता है।

शब्दार्थ—टूँगा = ऊँचा। रैनि बसेरा = रात्रि का शयनकक्ष। दरब = द्रव्य, धन। धाह = धाड़, जोर से। खँघाऊ = छावनी, स्कन्धावार।

(४०५)

चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा॥
पदुमिनि चाह जहाँ सुन पावौं। परौं आगि औ पानि धसावौं॥
टूटौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा॥
कहँ अस गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ को होइ सँदेसी॥
परेउँ आइ तेहि समुँद अथाहा। जहँक वार पार नहिं थाहा॥
सीता हरन राम संग्रामा। हनिवंत मिला मिली तब रामा॥
मोहि न कोइ केहि बिनवौ रोई। को बर बाँधि गवेंसि होई॥
भँवर जो पावा कँवल कहँ मन चिता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ चूरि गएउ सब बेलि॥४०५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

चंपा और भँवरा का जो प्रेम मिलन होता है, राजा उसकी कामना कर रहा था, किन्तु वह उसे शीघ्र उपलब्ध नहीं कर पा रहा था। उसका अन्तर्द्वन्द्व उठ रहा था—जहाँ पद्मावती का समाचार सुन लूँ वहाँ पहुँचने के लिये आग में गिर पड़ूँ और पानी में डूब जाउँ। सुमेरु पर्वत पर भी तेजी से टूट पड़ूँ, आकाश पर चढ़ूँ और पाताल में धँस जाऊँ। मैं ऐसा सिद्ध गुरु कहाँ से प्राप्त करूँ जिसके उपदेशों से उस अगम पथ का संदेश मिल सके जो पद्मावती के पास पहुँचता है ? मैं उस समुद्र में आ पड़ा हूँ जो अथाह है। जिसका कोई आरपार और तट घाट नहीं है। सीता हरण के कारण राम का रावण से संग्राम हुआ। जब राम को हनुमान जी सहायक बनकर मिले तब कहीं उन्हें सीता जी प्राप्त हो सकीं। किन्तु मेरे लिये वैसा कोई सहायक नहीं। मैं अपने कष्ट निवारण की किससे बिनती

करूं, किससे अपना दुखड़ा रोऊँ ? कौन धैर्य बल बँधवाकर मेरी रानी पद्मिनी की खोज करेगा ?

कविवर जायसी कहते हैं--जब भौंरे ने कमल का मधु मिलन पाया और उसने मन में आल्हादित होकर रस-क्रीड़ा करने का विचार किया तभी वहाँ कोई उद्दण्ड हाथी आ गया और वह सारी लता को चूर-चूर कर गया—सुख की कामना लता को तोड़ गया ?

विशेष—प्रस्तुत पद में 'नियतिवाद' का स्वर प्रधान है। साथ ही रूपक अलंकार की छटा भी, पद की रसानुभूति में पूर्णतः सहायक होती है। अंतिम पक्तियों में सुख की क्षणिकता का रस बोध मार्मिक है। प्रसाद ने भी सुख की क्षणिकता की ऐसी ही अनुभूति प्रकट की है। तुलना कीजिये—

"सुख केवल सुख का वह संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथ में नव तुषार का,
सघन मिलन होता जितना।"

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४०६)

काँसु पुकारौं का पहँ जाऊँ। गाढ़ें मीत होइ एहि ठाऊँ ।।
को यह समुँद मँथै बर बाढ़ा। को मथि रतन पदारथ काढ़ा ।।
कहाँ सो ब्रह्मा बिस्नु महेसू। कहाँ सो मेरु कहाँ सो सेसू ।।
को अस साज मेरावै आनी। बासुकि बंथ सुमेरु मथानी ।।
को दधि मथै समुँद जस मथा। करनी सार न कथनी कथा ।।
जौं लगि मथै न कोइ दै जीऊ। सूधी अँगुरि न निकसै घीऊ ।।
लै नग मोर समुँद भा बाटा। गाढ़ परै तौ पै परगटा ।।
लीलि रहा अब ढील होइ पेट पदारथ मेलि।
को उजियार करै जग झाँपा चाँद उघेलि ।।४०६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन उद्विग्नता में कह रहा है—किससे फरियाद करूं ?—किसके पास जाकर अपनी मनोव्यथा कहूँ ? कौन इस कठिनाई में यहाँ मेरा हितैषी बनेगा ? कौन ऐसा महा बलशाली है जो मेरे लिये इस सागर का मंथन करेगा। कौन इसको मथकर इसमें से वह रत्न, पद्मावती निकालेगा ? इस समय सर्वरक्षक देव – ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहाँ हैं; मेरु और शेषनाग कहाँ हैं ? कौन ऐसा साज-सामान का आयोजन करेगा कि जिससे शेषनाग की रस्सी और सुमेरु की मथानी समुपलब्ध हो ? कौन है ऐसा शूरमा, जो उसी प्रकार इस दधि के सागर को भी मथ सके जैसेकि क्षीर सागर मथा गया था ? करने में ही तत्व है केवल कथनी कहना व्यर्थ है। जब तक कोई अपना प्राण देकर मंथन नहीं करता, सफलता नहीं मिलती। सीधी अँगुली से घी नहीं निकलता। मेरे नगीने—पद्मा-

छूटि माँग सब भाँति पुरोई। बारहिं बार गरहिं जनु रोई॥
टूटहिं मोति बिछोहा भरे। सावन बूंद गरहिं जनु ढरे॥
भहर भहर करि जोबन करा। जानहुँ कनक अगिनि महँ परा॥
अगिनि माँग पै देइ न कोई। पाहन पवन पानि सुनि होई॥
कनै लंक टूटी दुख जरी। बिनु रावन केहि बार होइ खरी॥
रोवत पंखि बिमोहे जनु कोकिला अरंभ।
जाकरि कनक लता यह बिछुरी कहाँ सो प्रीतम खंभ॥४०२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने सती होने के लिये अपना सिर खोला—बाल बिखेरे। तब उसकी सिंदूर भरी माँग से ऐसा प्रतीत हुआ मानो बिजली ने चोट मारकर बादल के वक्ष में घाव किया हो। उसके सिर की आग—अर्थात् सुहाग की सिंदूर-रेखा जल रही थी; जैसेकि आग लगा दी हो। वह आग वश में नहीं हो रही थी। मोतियों से सजी सारी माँग बिखर गई। उसके मोती गल-गलकर बार-बार ढुलक रहे थे; जैसे अश्रु ढुलकते हैं। वियोगाश्रु के मोती—वे आँसू टूट-टूटकर गिर रहे थे; जैसे सावन की बूंदें गलकर ढलती हैं। उसके यौवन की कला धधक-धधक कर जल रही थी; ऐसा प्रतीत होता था मानो सोना आग में पड़ा तप रहा हो। वह आग ही आग मांगती थी पर उसे कोई आग नहीं दे पाता था। उसके दुख को जानकर और सुनकर पत्थर और हवा गल-गलकर पानी हो रहा था। उसकी स्वर्णालंकृत कटि रूपी लंका दुख की आग में जलकर नष्ट हुई जा रही थी। रमण करने वाले रावण अर्थात् प्रियतम के बिना वह किसके आश्रय से खड़ी हो सकती है—बच सकती है ?

पद्मावती के रुदन के कारण पंछी मोहित अथवा संवेदनशील होगए। मानो उनके बीच कोकिला ने अपनी 'कूक-हूक' छेड़ दी हो। जिसकी यह स्वर्ण-लता है, और जिससे यह बिछड़ गई है, वह प्रियतम रूप इसका खंभ कहाँ है—आश्रय कहाँ है ?

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने भारतीय सतीत्व का स्वरूप आँका है, जो सजीव लगता है। सौन्दर्य और दुःख की सम्मलित अनुभूति—इस उक्ति में पूर्णतः मौलिक काल्पनिक एवं मार्मिक है—**"सती होइ कहँ सीस उघारी। घन महँ बिज्जु छाप जस भारी।"** 'कनक-लता' तथा 'प्रीतम खंभ' में रूपक की छटा दर्शनीय है।

शब्दार्थ—सीस उघारी=वैधव्य में सती होते समय केश खोले जाते थे। पवन =हवा। लंक=कमर या लंका। रावन=रमण करने वाला प्रियतम या रावण। बार=आश्रय। पाहन=पत्थर।

(४०३)

लखिमिनि लागि बुझावै जीऊ। ना मरु भगिनि जिअै तोर पीऊ॥
पिउ पानी होइ पौन अधारी। जस हौं तुहूँ समुंद्र कै बारी॥
मैं तोहि लागि लेब खटबाटू। खोजब पितैं जहाँ लगि घाटू॥

हौं जेहि मिलौं तासु बड़ भागू। राज पाट औ होइ सोहागू ॥
कै बुझाउ लै मंदिल सिधारी। भई सुसार जेंवै नहिं नारी ॥
जेहि रे कन्त न होइ बिछोवा। का तेहि भूख नींद का सोवा ॥
जिउ हमार पिउ लेबे अहा। दरसन देउ लेउ जब चहा ॥
लखिमिनि जाइ समुँद पहँ बिनई ते सब बातैं चालि।
कहां समुँद अहै घट मोरे आनि मिलावौं कालि ॥४०३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

लक्ष्मी जी वैसी दशा में पद्मावती के जी को धैर्य बँधाने समझाने लगीं—हे बहन, तू न मर, तेरा पति जीवित है। तू पानी पी और पवन या श्वासों का आधार ले—जीवन की साँस ले। जैसी मैं समुद्र की कन्या हूँ, तू भी वैसी ही है। मैं तेरे दुःख निवारणार्थ अनशन-पाटी लूंगी और मेरा पिता समुद्र, जहाँ तक उनके तट-घाट हैं, तेरे पति की तलाश करेंगे। मैं जिसको मिलूँ वह बड़ा सौभाग्यशाली है। उसको राज-पाट और सौभाग्य मिलता है। इस प्रकार पद्मावती को धैर्य बँधाकर लक्ष्मी जी उसे मंदिर या महल में ले गई। वहाँ रसोई बनी थी, किंतु पद्मावती नारी भोजन नहीं करती थी। कविवर जायसी कहते हैं कि जिसे पति का विछोह हुआ है उसे भूख कैसी, नींद कहाँ ? पद्मावती बोली, मेरा जी तो प्रियतम के प्राप्त करने के लिये था। हे प्रिय, दर्शन देकर जब चाहो मेरा प्राण ले लो।

लक्ष्मी जी ने पद्मावती की वह सब प्रेम में पगलाई बातों की चर्चा अपने पिता समुद्र से जाकर विनयपूर्वक कहीं। सुनकर समुद्र ने कहा—हाँ, वह राजा रत्नसेन मेरे शरीर के भीतर है। कल उससे, उसे लाकर मिला दूँगा—उसे मुक्त कर दूँगा।

शब्दार्थ—लखिमिनि = लक्ष्मी। बुझावै = धैर्य बँधाना, समझाना। भगिनि = बहन। अधारी = आधार। पौन = हवा। बारी = कन्या। खटबाटू = अनसनपाटी। मँदिल = मंदिर या महल। सुसार = रसोई। जेंवै = खाए। घट = शरीर।

(४०४)

राजा जाई तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोई सँदेसी कागा ॥
तहाँ एक परबत हा टूंगा। जहवाँ सद कपूर औ मूंगा ॥
तेहि चढ़ि हेरा कोई न साथा। दरब सँति कछु लाग न हाथा ॥
अहा जो रावन रैनि बसेरा। गा हेराइ कोई मिलै न हेरा ॥
धाह मेलि कै राजा रोवा। केहूँ चितउर कर राज बिछोवा ॥
कहाँ मोर सब दरब भँडारू। कहाँ मोर सब कटक खंधारू ॥
कहाँ मोर तुरँग बालका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंघली ॥
कहँ रानी पदुमावति जीऊ बसत तेहि पाँह।
मोर मोर कै खोएउँ भूलेउँ गरब मनाँह ॥४०४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

विशेष—विरह की चरम स्थिति का भाव स्वाभाविक एवं मार्मिक ढंग से उद्घाटित किया गया है। सारस की जोड़ी का विछोह प्रसंग वाल्मीकि के मैथुनरत् क्रौंच जोड़ी का कारुणिक वध याद दिला देता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४०६)

कहि कै उठा समुँद मँह आवा। काढ़ि कटार गरे लै आवा॥
कहा समुँद पाप अब घटा। बांमन रूप आइ परगटा॥
तिलक दुवादस मस्तक दीन्हे। हाथ कनक बैसाखी लीन्हे॥
मुंद्रा कान जनेऊ कांधे। कनक पत्र धोती तर बाँधे॥
पायन्ह कनक जराऊ पाऊँ। दीन्ह असीस आइ तेहि ठाऊँ॥
कहु रे कुँवर मोसौं एक बाता। काहे लागि करसि अपघाता॥
परिहँसि मरसि कि कौनेहु लाजा। आपन जीउ देहु केहि काजा॥
जनि कटार कँठ लावसि समुझि देखु जिउ आपु।
सकति हँकारि जीव जो काढ़ै महा ढोख जो पापु॥४०६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

विरह-मरण सम्बन्धी बातें कहकर राजा रत्नसेन उठा और सागर-तट पर आया। आत्महत्या के लिए वह तलवार निकालकर अपने गले तक ले गया। यह देखकर समुद्र ने कहा—अब इसका पाप कम होगया, और ब्राह्मण का रूप रखकर राजा के सामने प्रकट हुआ। वह शरीर-मस्तक पर द्वादश तिलक लगाए हुए था। हाथ में स्वर्ण का बैसाखी सोटा था। कान में मुद्रा थी और कन्धे पर जनेऊ लटका था। कनक-पत्र वस्त्र की नीचे तक ब्राह्मणों जैसी धोती बाँधी हुई थी। पाँवों में स्वर्ण की जड़ी हुई खड़ाऊँ पहनी हुई थीं। उसने राजा को उस स्थान पर आकर आशीष दिया। और ब्राह्मण ने पूछा—हे राजकुँवर, मुझे एक बात बतला! तू आत्महत्या करने के लिये क्यों उद्यत हुआ? वैसे ही हँसी में, अथवा किसी लाज से मर रहा है? अपना जीवन किस कारण से दे रहा है?

हे राजकुँवर! गले पर तलवार न चला। मन में स्वयं सोच-समझ देख। जो अपने बल की शक्ति से आत्महत्या करता है उसे महान दोष और पाप लगता है। अतः ऐसा न कर?

विशेष—"आत्महत्या महा पाप है"—इस सर्वमान्य बात को कविवर जायसी ने प्रस्तुत पद में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यंजित किया है।

पद में, काव्यात्मक दृष्टि से प्राचीनकालीन ब्राह्मण की वेश-भूषा, आकृति आदि का शब्द चित्र संश्लिष्ट खींचा गया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४१०)

को तुम्ह उतर देइ हो पाँड़े। सो बोलै जाकर जिय भाँड़े॥

जंबू दीप केर हौं राजा। सो मैं कीन्ह जो करत न छाजा॥
सिंघल दीप राज घर बारी। सो मैं जाइ बियाही नारी॥
लाख बोहित तेइँ दाइज भरे। नग अमोल औ सब निरमरे॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हती न काहु के संपति ओती॥
बहल घोर हस्ती सिंघली। औ सँग कुँवर लाख दुइ बली॥
तेहि गोहन सिंघल पदुमिनी। एक सों एक चाहि रुपमनी॥
पदुमावति संसार रुपमनि कहँ लगि कहौं दुहेल।
एत सब आइ समुँद महँ खोएउँ हौं का जियौं अकेल॥४१०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने ब्राह्मण से कहा—हे ब्राह्मण, तुम्हें कौन उत्तर दे। जिसका जी जिसके शरीर में हो, वही बोल-बतला सकता है। मैं जम्बू द्वीप का राजा हूँ। मैंने ऐसा कुकृत्य किया जो एक राजा को करना शोभा नहीं देता। सिंघलद्वीप के राजा के घर में एक कन्या थी। मैंने जाकर उससे विवाह किया। उसके दहेज के सामान से लाखों जहाज़ लादे गए। बहुत से अनमोल निर्मल नग, रत्न, माणिक, मोती मिले थे। इतनी सम्पदा किसी के पास नहीं थी। बहुत से घोड़े, सिंघली हाथी और साथ में दो लाख वीर राजकुँवर भी दिये गये थे। उसी के साथ सिंघल की पद्मिनी जाति की एक से एक बढ़कर सुन्दर नारियाँ भी थीं।

संसार की सुन्दर नारियों में पद्मावती रूप की मणि है। वह सर्वत्र श्रेष्ठ सुन्दरी है। मैं अपना दुख कहाँ तक रोऊँ?—मैंने इस समुद्र में आकर अपना सब कुछ खो दिया; अब मैं दुख में अकेला जीकर कर क्या करूँ?

शब्दार्थ—भाँड़े=मिट्टी का बर्तन, शरीर। छाजा=शोभित। बारी=कन्या। बोहित=जहाज़। दाइज=दहेज़। निर्मरे=निर्मल। बहल=बहुत से। गोहन=साथ में। दुहेल=दुख। हौं=मैं। अकेल=अकेला।

(४११)

हँसा समुँद होइ उठा अंजोरा। जग जो बूड़ सब कहि कहि मोरा॥
तोर होत तोहि परत न बेरा। बूझि बिचारि तुंही केहि केरा॥
हाथ मरोरि धुनै सिर माँखी। पै तोहि हिएँ न उघरी आँखी॥
बहुतन अैस रोइ सिर मारा। हाथ न रहा झूठ संसारा॥
जौं पै जगत होति थिर माया। सैंतत सिद्ध न पावत राया॥
बड़ेन्ह जौं न संत औं गाड़ा। देखा भार चूंबि कै छाड़ा॥
पानी कै पानी महँ गई। जौं तू बचा कुसल सब भई॥
जाकर दीन्ह कया जिउ लीन्ह चाह जब भाव।
धन लछिमी सब ताकरि लेइ तौ का पछिताव॥४११॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वती को लेकर समुद्र राहगीर-सा चलता बना। अब, जब उस पर कुछ विपत्ति पड़ेगी तभी वह उसे वापिस करेगा—प्रगट करेगा।

वह उसे पेट में निगलकर अब ढील छोड़ बैठा है—सन्तुष्ट है। अब उस पद्मावती रूपी ढँके चाँद को उघार कर मेरे जीवन के संसार में कौन प्रकाश करे—कैसे सुन्दरी पद्मावती को सागर के चंगुल से प्राप्त करूँ—छुड़ाऊँ?

शब्दार्थ—गाढ़ै=कठनाई। एहिठाऊँ=यहाँ, इस जगह। बर=बल। बिस्नु=विष्णु। साज मेरावैं=आयोजन को। बासुकि=शेषनाग। बंध=रस्सी। बटा=राहगीर। झाँपा=ढँका हुआ।

(४०७)

ए गोसाइँ तू सिरजनहारू। तूँ सिरिजा यह समुँद अपारू॥
तूँ जल ऊपर धरती राखे। जगत भार लै भार भाखे॥
तूँ यह गँगन अंतरिख थाँभा। जहाँ न टेक न थून्ही खाँभा॥
चाँद सुरुज औ नखतन्ह पाँती। तोरे उर धावहि दिन राती॥
पानी पवन अगिनि औ माँटी। सबकी पीठि तोरि है साँटी॥
सो अमुरुख बाउर औ अंधा। तोहि छाँड़ि औरहि चित बंधा॥
घट घट जगत तोरि है डीठी। मोहि आपनि कछु सूझ न पीठी॥
पौन हुतें भा पानी पानि हुतें भै आगि।
आगि हुतें भै माटी गोरख धंधै लागि॥४०७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन सब ओर से निराश, ईश्वर से आर्त्त पुकार करता है—हे स्वामी, तू सृष्टि का रचने वाला है। यह अपार सागर तूने ही रचा है। तूने ही जल के ऊपर धरती को टिकाया हुआ है। संसार का बोझा उठाकर भी तू उसे बोझा नहीं बतलाता। तूने ही यह आकाश अंतरिक्ष पर स्थिर कर रक्खा है, उस अंतरिक्ष पर, जहाँ न कोई आधार है, न थूंभी है और न कोई खम्भा है। चाँद, सूरज और नक्षत्रों की पंक्तियाँ तेरे भय से दिन-रात तीव्रतापूर्वक चलायमान हैं। जल, वायु, अग्नि और मिट्टी—इन तत्वों की पीठ पर तेरा सोटा है—यह तेरी सत्ता के अधीन हैं। वह मूर्ख, पागल और अन्धा है, जो तुझ ऐसे महान को छोड़कर अन्यत्र देवी देवताओं की पूजा करता है—हृदय लगाता है। जीव-जीव में, जगत में, तेरी दृष्टि पड़ रही है—जग-जीव सब तेरे ही अंश हैं। हे प्रभु, मुझे तो अपनी तुच्छ पीठ भी नहीं दीखती। मैं तुझसे सर्वथा तुच्छ है—तेरा तुच्छ अंश मात्र!

वायु से जल हुआ जल से आग हुई, आग से मिट्टी हुई—ये ही संसार के निर्माण का गोरखधंधा है; उसी परम रूप की लीला का एक प्रतीक है यह संसार!

विशेष—इस पद में कविवर जायसी ने भारतीय ब्रह्मवाद एवं इस्लामी एकेश्वरवादी भावना का प्रकटीकरण अत्यन्त काव्य संगत रूप में किया है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है—"प्रभव: प्रलय: स्थानं निधान बीजमव्ययम।" सम्पूर्ण भूत सूक्ष्म रूप से जिसका

आधार पाते हैं उसका नाम "निधान" या ईश्वर है—कविवर जायसी ने भी इस पद में ईश्वर के "निधान" रूप की व्यंजना की है, उक्ति देखिए—

"तू यह गगन अंतरिख थांभा। जहां न टेक न थून्ही खांभा।"

किन्तु विशेषता यह कि जायसी ने इस पद में आध्यात्म दर्शन विषय की नीरसता न आने दी, वरन उसमें काव्य का चमत्कार सँजोया है।

'तोहि छाँड़ि औरहि चित बंधा।"

उक्ति में इस्लामी एकेश्वरवादी भाव-व्यंजना स्पष्ट है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४०८)

तूं जिउ तन मेखसि दै आऊ। तुँही बिछोवसि करसि मेराऊ॥
चौदह भुवन सो तोरें हाथा। जहँ लगि बिछुरे औ एक साथा॥
सब कर मरम भेद तोहि पाहाँ। रोवँ जमावसि टूटै ताहाँ॥
जानसि सबै अवस्था मोरी। जस बिछुरी सारस कै जोरी॥
एक मुए सँग मरै सो दूजी। रहा न जाइ आइ सब पूजी॥
झूरत तपत दगधि का मरऊँ। कलपौं सीस बेगि निस्तरऊँ॥
मरौं सो लै पदुमावति नाऊँ। तूँ करतार करसि कर ठाऊँ॥
दुख जो पिरतिम भेंटि कै सुख जो न सोवै कोइ।
इहै ठाउँ मन डरपै मिलि न बिछोवा होइ॥४०८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना प्रकट करते हुए कहता है—हे स्वामी, तू ही जीवन देकर प्राण और शरीर को मिलाता है। तू ही प्राण और शरीर का विछोह कराता है, और फिर तू ही उनका मिलन कराता है। ये चौदह भुवन तेरे हाथ में हैं—चाहे जहाँ तक, वे एक दूसरे से परस्पर भिन्न हैं अथवा एक साथ हैं। सबके अन्तर के रहस्य का विषय तुझे ज्ञात है। एक रोयाँ भी जहाँ टूटता है, तू उसे वहीं जमा देता है। आशय है कि तेरी व्यवस्था अद्भुत है। रत्नसेन विनती करता है—हे सर्वव्यापी प्रभु, तू मेरी सब दशा को जानता है—मैं ऐसा दयनीय हूँ कि जैसे सारस की बिछुड़ी जोड़ी! मेरी जोड़ी (पद्मावती) भी मुझसे बिछुड़ गई है। एक के मरने पर जोड़ी का दूसरा जीव भी साथ ही मर जाता है। जब उम्र ही पूरी हो चुकी हो तो फिर जीवित नहीं रहा जाता। आशय है कि प्रेमी के लिये एक प्रेमी का जीवन भिन्न नहीं होता—अतः एक के मरने पर दूसरा भी मर जाता है। सूखते, तपते और जलते हुए मैं क्या करूं? यदि स्वयं सिर काट डालूँ तो शीघ्र इस दुख से मुक्ति पा जाऊँगा। पद्मावती का नाम लेकर मरूँ?—हे ईश्वर मरने के बाद तू हमें एक जगह कर देना—मिलन करा देना?

प्रियतम से मिलकर जो दुख है; कि जिसके कारण कोई प्रेमी सुख से नहीं सोता वह यही कि कहीं मिलकर न बिछुड़ जाएँ।

जो मर चुका है वह जल में नहीं डूबता। वह बहता जाता है और किनारे पर जा लगता है। तू एक ऐसा पागल मुझसे मिला है, जैसा दशरथ का पुत्र राम था। उसको भी अपनी स्त्री सीता का वियोग पड़ा था, और वह भी इस सागर में फिर-फिर कर रोता था। फिर जब राम खोया और मरा तब अंततः वह और उसकी पत्नी सीता एक साथ होगए और मिल कर एक साथ तर गए। आशय है कि राम और सीता के जैसे प्रेम की भाँति तू भी पद्मावती के लिये एक रूप हो जा। तू भी जीवन-मृत हो जायगा; तब तुझे तेरी स्त्री मिलेगी। सागर ने कहा—हे राजा, तू भी राम की भाँति अपने को मरा समझकर आँखें बन्द कर। मेरी बेसाखी या लाठी पकड़ ले, मैं तुझे किनारे पर लगाता हूँ।

कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम में पागल और अंधा हुआ वह राजा लुब्ध होकर सागर के बतलाए मार्ग पर हो लिया। एक निमिष में सागर उसे वहाँ ले गया जिस घाट पर पद्मावती थी।

विशेष—प्रस्तुत पद में सीता और राम के विषय में जो प्रेम-प्रसंग जायसी ने प्रस्तुत किया है वह मन-गढंत है, किन्तु उसकी व्यंजना यही है कि प्रेम में बलिदान आवश्यक है; घोर साधना अपेक्षित है। तभी दो वियोगी प्रेमी मिलकर एक रूप हो सकते हैं।

शब्दार्थ—मुवा=मरा हुआ। मेहरी=स्त्री। टेकु=सहारा ले, पकड़ ले। बाउर=पागल। लुबुधा=लुब्ध हुआ। बाट=मार्ग।

(४१४)

पदुमावतिहि सोग तस बीता। जस असोग बीरौ तर सीता॥
कनक लता दुइ नारँग फरी। तेहि के भार उठि सकै न खरी॥
तेहि चढ़ि अलक भुअंगिनि डसा। सिर पर रहै हिएं परगसा॥
रही म्रिनाल टेकि दुख दाधी। आधा कँवल भई ससि आधी॥
नलिनि खंड दुइ तस करिहाऊँ। रोमावलि बिछोउ कर भाऊ॥
रहै टूट जस कंचन तागू। कहँ पिउ मिलै जो देइ सोहागू॥
पान न खंडै करै उपासू। सूख फूल तन रहा सुबासू॥
गँगन धरति जल पूरि चखु बूड़त होइ निसाँसु॥
पिउ पिउ चात्रिक ज्यों ररै मरै सेवाति पियासु॥४१४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वहाँ पद्मावती की भी रत्नसेन के वियोग में ऐसी ही करुणावस्था बीत रही थी जैसी कि अशोक वृक्ष के नीचे राम के वियोग में सीता की हुई थी। उसकी तन रूपी शरीर की लता में जो कुच रूपी दो नारंगी फली हुई थीं, उनके भार से वह उठकर खड़ी भी न हो पाती थी—वह जवानी के भार से मुग्धा थी। उसके कुचों पर भुजंगिनी रूपी अलक चढ़कर उसे डसती थीं। (रूपक अलंकार है।) वह लट नागिन सी सिर पर रहती और हृदय पर दिखलाई पड़ती थी। दुख से दग्ध वह मृणाल के सहारे जीवन व्यतीत कर

रही थी। वह शरीर के आधे भाग से कमल और आधे से चन्द्र होगई थी। आशय है कि उसका नीचे का आधा भाग कमल की मृणाल सा शीतल और ऊपर का आधा भाग दाहक चन्द्रमा सा होगया था। कमल के दो खण्डों जैसा उसका कोमल कटि-भाग होगया था; और मृणाल तन्तु जैसी रोमावली बीच से उसे मानो अलग कर रही थी। आशय यह है कि पद्मावती के कोमल नितम्बों के बीच की दुर्बल रेखा उसके विरह दुख का सूचक बनी थी, और उसके बीच से झलकती हुई मृणाल-नाल सी रोमावली इस बात की पुष्टि करती थी। वह सोने के धागे के समान बीच में से टूटी लगती थी—वियोग में छिन्न-मस्ता सी? वह प्रियतम कहाँ मिलेगा जो उसे सुहाग-सम्भोग प्रदान करे? वह पान तक न चबाकर, पूरी तरह उपवास कर रही थी। मानो यौवन का फूल सूख गया था, किन्तु तन में अब भी सुगंध बची हुई थी।

उसकी आँखों के आँसुओं ने धरती आकाश को जल से भर दिया था। वह भी उसमें डूबती हुई श्वासरहित हो चली थी। ज्यों चातक "पिउ-पिउ" रटकर स्वाती की प्यास में मरता है, ऐसे ही पद्मावती रत्नसेन की याद में मर रही थी।

विशेष—प्रस्तुत पद में कमल, शशि एवं भुजंगिनी उपमानों के माध्यम से पद्मावती का छिन्न-मस्ता विदग्धा रूपराशि का सुन्दर चित्रण किया गया है। यह सब कुछ उद्दीपन शृंगार का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

शब्दार्थ—असोग बीरौ = अशोक का वृक्ष। अलक = लट, काकुल। परगसा = प्रकट। भ्रिनाल = कमल नाल। दाधी = दग्ध। करिहाऊँ = कटि भाग। ररै = रटे सेवाति = स्वाति। पियास = प्यासा।

(४१५)

लखिमिनि चंचल नारि परेवा। जेहि सत देखु छरै कै सेवा॥
रतनसेनि आवा जेहि घाटा। अगुमन जाइ बैठ तेहि बाटा॥
औ भै पदुमावति के रूपा। कीन्हेसि छाँह जरै जनि धूपा॥
देखि सो कँवल भँवर मन धावा। साँस लीन्ह पै बास न पावा॥
निरखत आई लखमिनी डीठी। रतनसेनि तब दीन्ही पीठी॥
जौं भलि होति लखिमिनी नारी। तज महेस कत होत भिखारी।
पुनि फिरि बनि आगे भै रोई। पुरुख पीठि कस देखि बिछोई॥
हौं पदुमावति रानी रतनसेनि तूं पीउ।
आनि समुँद महँ छाँड़ी अब रे देब मैं जीउ॥४१५॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी रत्नसेन की प्रेम परीक्षा का प्रसंग छेड़ते हुए लिखते हैं—

लक्ष्मी कबूतरी की भाँति चंचल सी है। वह जिसमें प्रेम-आदर्श-सत्य देखती है उसी की सेवा करके उससे छल करती है। रत्नसेन जिस घाट पर आया, पहले ही वह उसके मार्ग पर जाकर बैठ गई, और उसने पद्मावती का रूप-वेश बना लिया। उसने वहाँ शीतल

राजा रत्नसेन की निराशाजनक बातें सुनकर समुद्र हँस पड़ा और सर्वत्र उजाला हो उठा। सागर बोला, वे प्राणी जो संसार सागर की माया में डूबे हैं, सब "मेरा-मेरा" चिल्लाते हैं। अरे मूर्ख, यदि तेरा कुछ होता तो तुझपर यह संकट का काल न आता। अथवा तेरा बेड़ा न डूबता। तू सोच-विचार कर बता कि यह सारा कुछ किसका है ? तू हाथ मल-मलकर, सब कुछ गँवाए हुए, शहद में लिपटी हुई मक्खी की तरह सिर धुनता है। फिर भी तेरे हृदय की आँखें नहीं खुलीं। तुझे इस मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं हुआ ! इस माया के जाल में पड़कर बहुतों ने इस प्रकार रो-रोकर सिर धुना, किन्तु यह प्रपंचात्मक संसार किसी के हत्थे नहीं पड़ा। यदि संसार की माया स्थिर वस्तु होती तो सिद्ध, पहुँचे हुए योगी ही उसे समेट लेते। राजों-महाराजों को वह प्राप्त न होती। इस माया को महान लोगों ने जो न समेटा और न गाड़कर रक्खा, वह इसलिये कि उन्होंने उसका व्यर्थ बोझ देख-समझ लिया, और बस उसे चूमकर ही छोड़ दिया। पानी की माया पानी में ही डूब गई—व्यर्थ की बला टल गई। और तू जो बच गया, बस यही सब प्रकार की कुशल हुई, ऐसा समझ।

जिस ईश्वर ने प्राण और शरीर दिया है, जब वह चाहता है तब उसे वापिस ले लेता है। सम्पदा और लक्ष्मी सब उसी की है। यदि वह उसे लेले तो फिर पश्चाताप किस बात का ?

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने अद्वैतवादी ढंग से माया का मिथ्यात्व प्रदर्शित किया है।

शब्दार्थ—अँजोरा=उजाला। बूड़=डूबा। बेरा=काल, बेड़ा। मरोरि=मल कर। उघरी=खुली। थिर=स्थिर। सैंतत=संचित।

(४१२)

अनु पाँड़े फुरि कही कहानी। जौं पावौं पदुमावति रानी॥
तपि कै पाव उमरि कर फूला। पुनि तेहि खोइ सोइ पन्थ भूला॥
पुरुख न आपन नारि सराहा। मुएँ गएँ सँवरा पै चाहा॥
कहँ अस नारि जगत महं होई। कहँ अस जिवन मिलन सुख सोई॥
कहं अस रहस भोग अब करना। अैसे जियन चाहि भल मरना॥
जहँ अस बरै समुंद नग दिया। तहँ किमि जीव आछै मरजिया॥
जस एइँ समुँद दीन्ह दुख मोकाँ। दँ हत्या झगरौं सिवलोकाँ॥
का मैं एहिक नसावा का एइँ सँबरा दाउ।
जाइ सरग पर होइहि एकर मोर नियाउ॥४१२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन ने ब्राह्मणवेषी सागर से कहा—हे पंडित जी, मेरे पक्ष में होइये। आपकी कही हुई पूर्व बात कि "मैं बच गया तो कुशल हुई" सच है। यदि मैं पद्मावती को पुनः प्राप्त कर लूं। बड़ी तपस्या करने के पश्चात् मैंने जीवन का एक सुगंधित दुर्लभ पुष्प

पद्मावती को पाया था; और उसे भी पुनः खो दिया। अब मैं पथभ्रष्ट हो गया हूँ। पुरुष अपनी पत्नी की प्रशंसा नहीं करता। किन्तु उसके मर जाने या बिछड़ जाने पर उसकी याद तो करता ही है। मेरी जैसी श्रेष्ठ स्त्री इस संसार में और कहाँ होगी ? अब इस प्रकार का मधुर मिलन जीवन में कहाँ प्राप्त होगा—दूसरी पद्मावती कहाँ मिल सकती है ? अब उसके साथ में कैसे आनन्द भोग करने का अवसर कहाँ मिलेगा ? ऐसे निराश जीवन से तो मौत भली है। जिस सागर में डूबी हुई पद्मावती का रत्नदीप जगमगाता है, वहाँ गोताखोर कैसे अपना जीवन डुबोये रख सकता है। आशय यह है कि मैं पद्मावती को पाने के लिए सागर में डूब जाऊँगा । जैसे इस सागर ने मेरा पद्मावती से विच्छेद करा के मुझे दुःख दिया है, मैं भी इसके सिर हत्या देकर इससे शिवलोक में न्यायार्थ हुज्जत करूँगा।

इस सागर का मैंने क्या बिगाड़ा था ? इसने मुझे दुःख देकर मुझसे कौन-सा दुष्ट दाँव लिया है ? इसका मेरा इंसाफ स्वर्ग पहुँचकर होगा।

विशेष—एक वियोगी के निराश जीवन की मनोवेदना और भावना का इस पद में अत्यन्त मार्मिक उद्घाटन हुआ है। आत्महत्या इसका एक जलता सत्य है, जो प्रायः होता देखा भी जाता है। कहा जायगा कि जायसी ने विरह वेदना को इसी प्रकार से भोगा और अनुभव किया था तभी ऐसे स्थलों पर उनके हृदय की सीधी और निश्छल आत्माभिव्यक्ति मुखरित हो गई है।

शब्दार्थ—अनु = अनुकूल भाव पक्ष में। फुरि = सच। मुएँ = मरने पर। रहस = रस, आनन्द। जियन = जीवन। मरजिया = गोताखोर। सिवलोकाँ = शिवलोक। दाउ = दाँव। एकर = इसका। नियाउ = न्याय।

(४१३)

जौं तूँ मुवा कस रोवसि खरा। न मुवा मरै न रोवै मरा।।
जौं मर भया औं छाँड़िसि माया। बहुरि न करै मरन कै दाया।।
जौं मर भया न बूड़ै नीरा। बहुत जाइ लागै पै तीरा।।
तहूँ एक बाउर मैं भेंटा। जैस राम दसरथ कर बेटा।।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा। एहि समुँद्र महँ फिरि फिरि रोवा।।
पुनि जौं राम खोइ भा मरा। तब एक अंत भएउ मिलि तरा।।
तस मरा होहि मूँद अब आँखी। लावौं तीर टेकु बैसाखी।।
बाउर अंध पेम कर लुबुधा सुनत ओहि भा बाट।
निमिखि एक महँ लेइगा पदुमावति जेहि घाट।।४१३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सागर ने रत्नसेन की निराशाजनक बातें सुनकर कहा—यदि तू मर चुका है तो खड़ा-खड़ा क्यों रो रहा है ? मरा हुआ न तो फिर मरता है और न रोता ही है। यदि तू मरा हुआ होगया है, और माया को छोड़ चुका है, तो फिर मृत्यु की करुणा पैदा न कर ?

छाँह करली कि जिससे धूप की जलन न रहे। उस कमल (पद्मावती जैसी) को देखकर रत्नसेन रूपी भौंरे का मन उसकी ओर विचलित हुआ—दौड़ा। किन्तु जब उसने साँस ली तो उसमें कमल या पद्मावती की मोहक सुगन्ध न मिली। तब रत्नसेन ने उसे सन्देह भरी दृष्टि से देखा और लक्ष्मी है, यह पहचान गया। उसने उसकी ओर से पीठ कर ली। यदि लक्ष्मी नारी अच्छी, सत्य होती, या मिथ्या का रूप न होती, तो शंकर जी भला उसे त्याग कर भिखारी क्यों बनते ? वह रत्नसेन के आगे रोई—बोली, हे निर्मोही पुरुष, तू मेरी ओर पीठ करके क्यों देखता है—मेरी उपेक्षा क्यों करता है ?

उसने फुसलाया, मैं पद्मावती रानी हूँ और तू मेरा प्रियतम रत्नसेन है। तूने मुझे समुद्र में अकेली छोड़ दिया था; अतः अब मैं अपनी जान देती हूँ।

शब्दार्थ—छरै=छलती है। कै=करके। अगुमन=पहले से। धावा=दौड़ा। बास=सुगन्ध। डीठी=दृष्टि। देब=देती हूँ। जीउ=प्राण, जान।

(४१६)

अनु हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू॥
मालति नारि भँवर अस पीऊ। कहँ तोहि बास रहै थिर पीऊ॥
तूं को नारि करसि अस रोई। फूल सोइ पै बास न होई॥
हौं ओहि बास जीव बलि देउँ। और फूल कै बास न लेऊँ॥
भँवर जो सब फूलन्ह कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा॥
जहाँ पाव मालति कर बासू। वारने जीउ देइ होइ दासू॥
कब वह बास पौन पहुँचावै। नव तन होइ पेट जिउ आवै॥
भँवर मालतिहि पै चहै काँट न आवै डीठि।
सौंहे भाल छाय हिय पै फिरि देइ न पीठि॥४१६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन बोला—मैं तो वही अनुकूल भौंरा हूँ, भोग करने वाला हूँ और मालती पद्मावती को खोज करता फिरता हूँ। स्त्री मालती और उसका पुरुष जैसे भौंरा सदृश है। पर तुझमें वह गंध कहाँ जिससे प्राण स्थिर हो सकें ? तेरा हो सके। तू कौन है, जो इस भाँति रुदन करती है ? फूल तो वही लगती है किन्तु तुझमें उस जैसी सुगन्ध नहीं। आशय है कि तेरा सौंदर्य तो पद्मावती के जैसा लगता है किंतु उसके जैसे गुण नहीं है। मैं तो उसी वास्तविक फूल जैसी, अपनी पद्मावती पर प्राण देता हूँ, और कृत्रिम पुष्प की सुगन्ध नहीं लेता—मैं तुझपर अनुरक्त नहीं हो सकता। भँवरा, जो सब फूलों पर मँडराता फिरता है; वास्तव में वह किसी की सुरभि नहीं लेता। वह तो अपनी मालती को ही खोजता फिरता है—इसी प्रकार से मैं भी हूं। वह जहाँ मालती की गन्ध पा लेता है, बस वहीं उस पर अपने प्राणों को निछावर कर देता है, और उसका दास बन जाता है। कब वायु वह पद्मावती जैसी सुगन्ध मेरे पास फिर पहुँचावेगी कि जिससे मेरा नया शरीर होगा; पेट में नया प्राण संचरित होगा ?

भौंरा मालती से प्रेम करता तो उसे काँटा दृष्टिगोचर नहीं होता—प्रेम पथ की आपत्ति से प्रेमी नहीं घबराता। भाले की नोक पर अपना हृदय रख देता है, किन्तु भयभीत होकर पीठ नहीं दिखाता कि कहीं मुहब्बत को दाग़ न लग जाय।

विशेष—प्रेम और बलिदान का सदा साथ रहा है। शीरीं-फरहाद और लैला-मजनूँ आदि प्रेमियों का यही आदर्श रहा है। प्रस्तुत पद में प्रेम में बलिदान देने की इसी प्रकार की अभिव्यंजना है। मालती और भौंरे का प्रेम रूपक बड़ा प्रभावशाली एवं भावमय बन पड़ा है, जिससे काव्य सौष्ठव पूरी तरह निखर आया है।

शब्दार्थ—फेरा = मंडराता है। वारने = निछावर। पौन = वायु। चहै = चाहता है, प्रेम करता है। डीठि = नज़र। सौंहे = समक्ष होकर। माल = माला।

(४१७)

तब हँसि बोली राजा आऊ। देखेऊँ पुरुख तोर सत भाऊ॥
निरचै भँवर मालतिहि आसा। ले गै पदुमावति के पासा॥
पीउ पानि कँवला जसि तपा। निकसा सूर समुँद महँ छपा॥
मैं पारा सो समुंद के घाटा। राजकुँवर मनि दिपै लिलाटा॥
दसन दिपहिं जस हीरा जोती। नैन कचोर भरें जनु मोती॥
भुजा लंक उर केहरि जीता। मूरति कान्ह देख गोपीता॥
जस नल तपत दामनहिं पूँछा। तस बिनु प्रान पिंड है छूंछा॥
तस तू पदिक पदारथ तैस रतन तोहि जोग।
मिला भँवर मालति कहँ करहुँ दोउ रस भोग॥४१७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन के दृढ़ प्रेम-आदर्श की परीक्षा लेकर लक्ष्मी जी ने हँसकर कहा—हे राजा आओ, डरो नहीं। हे संयमी पुरुष, मैंने तेरा सत्यादर्श का भाव देख लिया। तू सच्चा प्रेमी है। निश्चय है कि मुझ-भौंरे को मालती-पद्मावती की ही कामना है। यह कहकर लक्ष्मी राजा को पद्मावती के पास ले गई। वहाँ पहुँचकर पद्मावती से कहा—हे कँवल-पद्मा, तूने जिसके लिए तपस्या की है वह प्रियतम रूपी जल—तेरा प्रियतम रत्नसेन, ले आ गया है। जो तेरा सूर्य समुद्र में जा छिपा था। वह पुनः तेरे लिए उदय हो गया है—तेरा रत्नसेन तेरे प्रेम पाने के हित जीवित है। लक्ष्मी ने आगे कहा, मैंने वह समुद्र के घाट पर पाया था। इस राजकुँवर के भाल पर मणि दैदीप्यमान है—उसका भाग्य मणि सदृश चमत्कृत है। उसके दाँत ऐसे चमकते हैं जैसे हीरे की ज्योति हो। उसके दृग ऐसे हैं कि मानो मोती भरे कटोरे हों। उसने अपनी भुजा, कमर और वक्ष से सिंह को भी जीत लिया है। (सिंह के अवयव सुन्दर माने जाते हैं।) उसकी छवि कृष्ण के जैसी है। हे गोपी पद्मा, उसे जरा देख तो सही! जैसे तपस्वी नल, दमयन्ती को पूछते-पूछते बेकरार था; ऐसे ही तेरे लिये, तेरी खोज में वह निष्प्राण है; उसका शरीर शून्य है।

हे पद्मा, जैसी तू उत्तम हीर-रत्न-कनी है, वैसा ही तेरे योग्य तेरा पति रत्नरूप

रत्नसेन सुन्दर है । अब भौंरा मालती से मिल गया है। दोनों मिलकर आनन्द-भोग करो।

विशेष—रूप चित्रण में जायसी की उपमा, उनके उपमान अत्यन्त प्रभावशाली स्वस्थ एवं स्वाभाविक रहे हैं। मानो, वह रूप चित्रण का सजीव शब्द चित्र अंकित कर पाठकों के रसास्वादन के लिये उसके आगे रख देते हैं। पुष्टि के लिए यह पंक्ति दर्शनीय है—

"दसन दिपहिं जस हीरा मोती । नैन कचोर भरे जनु मोती ।।
भुजा लंक उर केहरि जीता । मूरति कान्ह देख गोपीता ।।"

शब्दार्थ—आऊ=आओ। दमनहि=दमयन्ती। दिपै=चमके। लंक=कमर। पिंड=शरीर। छूँछा=रिक्त, शून्य।

(४१८)

पदिक पदारथ खीन जो होती । सुनतहि रतन चढ़ी मुख जोती ।।
जानहुँ सुरुज कीन्ह पर गासू । दिन बहुरा भा कँवल बिगासू ।।
कँवल बिहँसि सुरज मुखदरसा । सुरुज कँवल दिस्टि सों परसा ।।
लोचन कंवल सिरीमुख सूरू । भए अतियंत दुनहुं रस मूरू ।।
मालति देखि भंवर गा भूली । भंवर देखि मालति मन फूली ।।
डीठा दरसन भए एक पासा । वह ओहि के वह ओहि के बासा ।।
कंचन डाहि दीन्ह जनु जीऊ । उगवा सुरुज छूटि गा सीऊ ।।
पाय परी धनि पिय के नैनन्ह सों रजि मेंटि ।
अचरज भएउ सबहि कहँ ससि कँवलहि भै भेंट ।।४१८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन के विरह वियोग में जवाहरात जैसी सुन्दरी पद्मावती विवर्ण वदना हो रही थी, शिथिल थी। किन्तु रत्नसेन का नाम सुनते ही उसके मुख मंडल पर ज्योति फूट निकली। ऐसा लगा मानो सूर्य का प्रकाश हो गया है कि दिन लौट आया हो; और कमल खिल गया हो—निराशा की रात का अंधकार मिट गया, सुख के दिवस आ गये। कमल ने विकसित होकर सूर्य का मुख निहारा और सूर्य ने अपनी दृष्टि से कमल का मधुर स्पर्श किया। आशय है कि पद्मावती ने रत्नसेन को देखकर मिलन की मधुरता पाई और रत्नसेन ने अपनी दृष्टि से उसे प्रणय का मधुर स्पर्श दिया। कमल रूपी पद्मावती के नेत्र और रत्नसेन रूपी सूर्य का सुन्दर मुख—ये दोनों एक दूसरे के दरस से अत्यन्त रस-स्रवित हो गए। मालती-पद्मा को देखकर भौंरा-रत्नसेन मद विमुग्ध हो गया, और भौंरा-रत्नसेन को देखकर मालती-पद्मा यौवन की वासना में पुष्पित हो गई—पुलकायमान हुई। दोनों के नेत्रों ने एक दूसरे के पार्श्व में ही परस्पर देखा—वे स्वयं को एक रूप में दृश्यमान हो रहे थे। दोनों एक दूसरे के प्रणय-बन्धन से वशीभूत थे (यहाँ उक्ति चमत्कार दर्शनीय है।) मानो साधना की आग में तपकर उसमें जीव डाल दिया गया है—वे दोनों इस प्रकार एक

दूसरे के प्रेम-रूप रस में लीन थे। सूर्योदय हुआ और शीत जाता रहा। मिलन का मदन-ताप आया तो विरह का शीत-कष्ट जाता रहा।

सुन्दरी पद्मावती पति के पाँवों पर पड़कर अपने आँसुओं से उसकी पदरज पखारने लगी। सभी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चन्द्र और कमल का यह सम्मिलन और संयोग कैसा ?

विशेष—प्रस्तुत पद में सूर्य एवं कमल के रूपक से कविवर जायसी ने रत्नसेन एवं पद्मावती के मधुर मिलन का चित्र बड़ा आकर्षक खींचा है, और अंतिम पंक्तियों में भारतीय पतिव्रता नारी के अश्रुओं का पति चरणों पर चढ़ना मन में पवित्र भावानुभूति पैदा करता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४१६)

ओहि दिन आइ रहे पहुनाई। पुनि भै विदा समुद सैं जाई ॥
लखिमिनि पदुमावति सैं भेंटी। जो साखा उपनी सो मेंटी ॥
समदन दीन्ह पान कर बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा ॥
और पाँच नग दीन्ह बिसेखे। स्रवन जो सुने नैन नहि देखे ॥
एक जो अंब्रित दोसर हंसू। औ सोनहा पंछी कर बंसू ॥
और दीन्ह सावक सादूरू। दीन्ह परस नग कंचन मूरू ॥
तरुन तुरंगम दुऔ चढ़ाए। जल मानुस अगुआ सँग लाए ॥
भेंटि घाट समदन कै फिरे नाइ कै माथ।
जल मानुस तब बहुरे जब आए जगननाथ ॥४१६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

उस दिन वे दोनों, पद्मावती और रत्नसेन, वहाँ की महमानदारी में रहे। फिर सागर से जाकर विदा ली। लक्ष्मी ने पद्मावती से भेंट की। स्नेह की उत्पन्न हुई शाखा उस प्रीति मिलन के द्वारा पूर्ण की गई। भेंट के उपहार स्वरूप में पान का बीड़ा, बहुत से रत्न पदार्थ, हीरा और पाँच ऐसे विशेष रत्न दिए जो कभी न कानों से सुने गए और न आँखों से देखे गए। उन रत्नों में एक अमृत, दूसरा हंस और तीसरा सुनहले पंखों वाला पक्षी, चौथा सिंह का छौना और पाँचवाँ स्वर्ण बनाने वाला पारस पत्थर था। फिर तरुण तुरंगों पर उन दोनों को चढ़ा और आगे मार्ग-दर्शक जल-मानुष देकर विदा किया।

इस प्रकार घाट पर अन्तिम मिलन—भेंट देकर और प्रणाम करके समुद्र तथा लक्ष्मी लौट आए। साथ में मार्ग-दर्शक जलमानुष जगन्नाथपुरी पर रत्नसेन और पद्मावती को पहुँचाकर तब फिर वापस लौट पड़े।

विशेष—पाँच रत्न देने वाली कल्पना का आधार सम्भवतः तत्कालीन मनमढ़न्त किस्से कहानियों का लिया गया है। जायसी ने प्रायः इस प्रकार का चित्रण कथाक्रम को गति देने के लिये किया है।

शब्दार्थ—पहुनाई = महमानदारी। उपनी = पैदा हुई। समदन = मिलन वेला की भेंट। बिसेखे = विशेष। अगुवा = मार्ग दर्शक। तुरंगम = तुरंग, घोड़े। तरुन = जवान। दुऔ = दोनों। जग्रनाथ = जगन्नाथपुरी।

(४२०)

जगरनाथ जौं देखेन्हि आई। भोजन रींधा हाट बिकाई॥
राजैं पदुमावति सौं कहा। साँठि नाँठि किछु गाँठि न रहा॥
साँठ होइ जासौं सो बोला। निसँठा पुरुख पात पर डोला॥
साँठें राँक चलै भौराई। निसँठ राउ सब कह बौराई॥
साँठें ओद गरब तन फूला। निसँठें बोद बुद्धि बल भूला॥
साँठें जाग नींद निसि जाई। निसँठें खिन आवै औंघाई॥
साँठें द्रिस्टि जोति होइ नैना। निसँठें हियँ न आव मुख बैना॥
साँठ रहै सुधीनता निसठें आगरि भूख।
बिनु गथ पुरुख पतंग ज्यौं ठाठ ठाढ पै सूख॥४२०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

जगन्नाथपुरी में आकर देखा कि वहाँ पका हुआ भोजन—भात बाजार में बिक रहा था। राजा रत्नसेन ने पद्मावती से कहा—सारी जमाँ पूँजी तो पहले ही नष्ट होगई, अब गाँठ में कुछ भी नहीं है—फिर क्या खाना-पीना ख़रीदा जाय ? जिसके पास ख़रीदने के लिये पूँजी होती है, वही बोलता है—कुछ ख़रीद पाता है। पूँजी हीन, निर्धन पुरुष मानो पत्ते पर बैठा, कठनाई की वायु से चलायमान होता है। पूँजी से कंगाल भी मुकुट-धर अर्थात् राजा बन जाता है। पूँजी रहित राजा को भी लोग पागल कहते हैं। पूँजी की तरी के घमंड से शरीर फूला हुआ, पुलकायमान रहता है—स्वस्थ मोटा बना रहता है। पूँजी के न होने से मनुष्य का बुद्धि-बल विलुप्त हो जाता है—वह भूला-भूला-सा हो रहता है! पूँजी से ही धनी मनुष्य रात को सो सकने की शक्ति नहीं रखता है—रात की नींद विलुप्त हो जाती है। आशय यह है कि धनी मनुष्य भोग-विलास में रातें बिता देता है। किन्तु पूँजीहीन को क्षण-क्षण में उँघाइ या तन्द्रा घेर लेती है। पूँजी से दृग-दृष्टि ज्योतिर्मान होती है। पूँजीहीन का हृदय भर जाता है, वह मुख से बोल नहीं सकता—लाज के मारे दीन, कातर, मृतप्राय बना रहता है।

पूँजी होने से स्वतन्त्रता रहती है। पूँजी रहित को जठराग्नि जलाती है। बिना पूँजी के आदमी समाज में आदरहीन, पतंग के लम्बे वृक्ष के समान होता है; वह वृक्ष जो बिना पंक्तियों के ठूँठ, भद्दे आकार में खड़ा दीखता है।

विशेष—इस अर्थवादी युग में पूँजीहीन व्यक्ति जैसी निम्नतम दशा में पहुँच सकता है, यहाँ कविवर जायसी ने उसका चित्रण चित्रवत खड़ा कर दिया है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं कला का यह यथार्थ चित्रण अत्यन्त मांसल बन पड़ा है। अन्त की पंक्ति में 'पतंग-वृक्ष' की उपमा एक निर्धन प्राणी के साथ बड़ी संगत बन पड़ी है। पतंग का ऊँचा वृक्ष

घनी पत्तियों वाला होता है, किन्तु पत्तियों के झड़ जाने पर वह अत्यन्त कुरूप, ठूँठ और भद्दा लगता है, इसी प्रकार पूँजी रूपी पत्तियों के झड़ जाने के पश्चात् निर्धन व्यक्ति समाज की आँखों को पतंग वृक्ष की तरह अखरता है।

शब्दार्थ—जगन्नाथ=जगन्नाथपुरी। रींधा=पका-पकाया। हाट=बाजार। साँठि=पूँजी। नाँठि=नष्ट। निसँठा=निर्धन, पूँजी रहित। मोराई=मौर बाँधकर, राजा बना हुआ। बोद=निर्बल। खिन=क्षण। औघाई=झप्पी, तन्द्रा। सुधीनता=स्वतन्त्रता। ओद=तरी, गीलापन। गथ=पूँजी। पतंग=पत्तियों वाला लम्बा वृक्ष।

(४२१)

पदुमावति बोली सुनु राजा। जीव गएँ धन कवने काजा॥
अहा दरब तब लीन्ह न गाँठी। पुनि कत मिलै लच्छि जौं नाठी॥
मुकुतें साँबर गाँठि जो करई। सँकरे परे सोइ उपकरई॥
जौं तन पंख जाइ जहँ ताका। पैग पहार होइ जौं थाका॥
लखिमिनि अहा दीन्ह मोहि बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरि लच्छि फेरि दिनु पावा॥
दरब भरोस करै जनि कोई। दरब सोइ जो गाँठी होई॥
जोरि कटक पुनि राजा घर कहँ कीन्ह पयान।
देवसहि भान अलोपा बासुकि इंद्र सँकान॥४२१॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंगानुसार—

पद्मावती बोली कि हे राजा, सुनो! यदि प्राण चले गए तो धन किस काम का? आशय है कि धन तो उपभोग के लिये है, यह जीवन ही महत्वपूर्ण है। जब धन पास था तब उसे गाँठ में नहीं बाँधा। जब लक्ष्मी समाप्त होगई फिर वह कहाँ मिल सकती है—अतः दुख करना व्यर्थ है! मुक्तावस्था में, अथवा समृद्धि-काल में जो धन को मात्र व्यय हेतु गाँठ में बाँधे रहता है, फिजूल व्यय नहीं करता, वही संकट पड़ने पर उपकारी सिद्ध हो सकता है। यदि शरीर में पंख होते हैं तब वह जिस ओर दृष्टि करे उस ओर जा सकता है, किंतु थकने पर तो एक-एक पग पहाड़ जैसा लगने लगता है। तात्पर्य यह है कि धन पास होने पर जो जी में आए, किया जा सकता है। किन्तु उसके अभाव में जीना कठिन हो जाता है। हे राजा, मुझे लक्ष्मी ने बीड़ा दिया था, जिसके साथ रत्न, जवाहरात हीरे भरे थे। शीघ्र एक रत्न निकालकर उसे भुनाया। लक्ष्मी लौट आई और फिरकर समृद्धि के दिन आए। कविवर जायसी कहते हैं कि धन का कोई भरोसा—गर्व न करे। गाँठ का धन ही केवल अपना होता है।

राजा ने फिर अपना लश्कर जोड़कर घर की ओर प्रस्थान किया। उसके विशाल लश्कर के कारण दिन में ही सूर्य लोप होगया और यह देखकर शेषनाग तथा स्वर्गाधिराज इन्द्र हृदय में शंकित हुए। (अतिशयोक्ति है।)

विशेष—प्रस्तुत पद में आधुनिक अर्थ शास्त्रीय ढंग की जैसी विवेचना ही है।

"अर्थ ही व्यक्ति और समाज का महत्वपूर्ण अंग है"—इस परिभाषा का स्पष्टीकरण करता है कविवर जायसी का यह पद ! इससे जायसी की लौकिक, पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है जो एक महाकाव्यकार में होनी पूर्णतः अनिवार्य है।

शब्दार्थ—कवने=किस। काजा=काम का। अहा=था। नाँठी=नष्ट या समाप्त हुई। मुकुतें=मुक्तावस्था में। साँबर=यात्रा व्यय के लिये। सँकरे=संकट में। ताका=देखा। पैग=पग।

●

३५--चित्तौड़ आगमन खण्ड

(४२२)

चितउर आइ नियर भा राजा। बहुरा जीति इंद्र अस गाजा।।
बाजन बाजै होइ अँदोरा। आवहि हस्ति बहल औ घोरा।।
पदुमावति चंडोल बईठी। पुनि गै उलटि सरग सौं डीठी।।
यह मन अैंठा रहै न सूधा। बिपति न सँवरै सँपतहि लुबुधा।।
सहस बरिख दुख जरै जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई।।
जोगिन्ह इहै जानि मन मारा। तउव न मुवा यह मन औ पारा।।
रहै न बाँधा बाँधा जेही। तेलिया मुवा डारु पुनि तेही।।
मुहमद यह मन अमर है कहु किमि मारा जाइ।
ग्यान सिला सौं जौं घँसे घँसतहि घँसत बिलाइ।।४२२।।

भावार्थ—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी राजा रत्नसेन के चित्तौड़ागमन के समय उसकी राजसी अहंवादी मनोवृत्ति का प्रकाशन करते हुए लिखते हैं—

राजा चित्तौड़ के निकट आया। वह विजय करके लौटा था; अतः इन्द्र के समान गर्जा। खुशी के बाजे बजने का शोर हो रहा था। बहुत से हाथी, घोड़े स्वागतार्थ आ रहे थे। पद्मावती उच्च सिंहासन "चंडोल" पर आसीन थी। कविवर जायसी कहते हैं अब पुनः राजसी गर्व से उसकी दृष्टि उलटकर आकाश की ओर गई हुई थी। यह ढीठ मन बड़प्पन के गर्व से ऐंठा रहता है। कठनाई झेलने के उपरान्त भी सीधा सरल और उदार नहीं होता ! यह कष्टों को भूल जाता है और बस धन-विभव पर ही परिलुब्ध बना रहता है। कोई सहस्र वर्ष भी दुख में क्यों न जले, पर घड़ी भर के सुख को पाकर वह उसे भूल जाता है। जोगियों ने सुख के इस अनौचित्य को समझकर ही इसके प्रति मन को संयमित किया। पर यह ढीठ मन पाश या पारे की भाँति न मर सका, उदण्ड ही बना रहा ! जिसने

इसे वश में किया यह उसके वश में भी नहीं रहता। तेलिया कंद से पारा और सत-रज-तम इन तीनों के संयम से मन मरता है, अतः इसी प्रकार इस मन को वश में किया जाय।

कविवर जायसी स्वयं को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—हे मुहम्मद, यह मन तो अमर है। तो कहो, इसे किस प्रकार से मारा जाय ? यदि ज्ञान की शिला पर इसे घिसा जाय तब कहीं घिसते-घिसते यह समाप्त होता है।

विशेष—उपनिषद दर्शन तथा अन्यत्र भोग विराग आदि के तत्व निरूपण में मन की ढीठता की व्याख्या व्यापक है। मन चंचल तुरंग की भाँति है; इसे वश में कर लेना ही जीवन मुक्त होना है—ऐसा हमारे भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक लोगों का कहना है। स्वयं भगवान कृष्ण ने अर्जुन को मन की यही स्थिति बतलाई है—

"असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्,
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च ग्रह्यते।"

यह मन ही समस्त वासनाओं एवं ढीठ अहं का जनक है। कहा भी है "मन के मारे जीत है!"

प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने सरल सहज भाव से मन की इस दार्शनिक ऊहा को जन-सुलभ-समझ बना दिया है, और फिर ज्ञान से उसे वश में करने का महान संदेश भी दिया—

"ग्यान सिला सौं जौं घँसे घँसतहि घँसत बिलाइ।"

शब्दार्थ—नियर=निकट। गाजा=गर्जा। अँदोरा=शोर। बहल=अनेक। चंडौल=उच्च सिंहासन या हौदा। सँवरै=स्मरण करे। बरिख=वर्ष। तेलिया= पारा वांधने का कंद या सत, रज, तम इन तीनों का समूह। बिलाई=समाप्त होना।

(४२३)

नागमती कहँ अगम जनावा। गै सो तपनि बरखा रितु आवा॥
अही जो मुई नागिनि जस तचा। जिउ पाएँ तन महँ भै सचा॥
सब दुख जनु कँचुली गा छूटी। होइ निसरी जनु बीर बहूटी॥
जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहिं बुंद औ सोंध बसाई॥
ओहि भाँति पलुही सुख बारी। उठे करिल नव कोंप सँवारी॥
हुलसी गंग जस बाढ़ै लेई। जोबन लाग तरंगैं देई॥
काम धनुक सर वै भै ठाढ़ी। भागेउ बिरह रही जिसु डाढ़ी॥
पूँछहिं सखी सहेली हिरदै देखि अनंद।
आजु बदन तुव निरमल कहाँ उवा है चन्द॥४२३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राजा रत्नसेन के आने की पूर्व सूचना रानी नागमती के अन्तर्मन ने स्वतः जता दी। अतः उसके विरह की तपन जाती रही; मानो वर्षाऋतु आ गई हो। नागमती की जो त्वचा, मरी नागिन के जैसी थी, वह मानो प्राणरूपी रत्नसेन के आ जाने से सत्यतः त्वचा

लगने लगी। सारा सन्ताप केंचुल की तरह छूट गया। वह उसमें से बीरबहूटी की तरह रक्तिम बनकर निकली—मिलन सुख से रंजित सुन्दरी सी बनकर ! जैसे जली भूमि असाढ़ मास में पुनः हरिया जाती है और बूंदें पड़ने से उसमें से सोंधी गन्ध निकलने लगती है, इसी तरह सुन्दरी नागमती सुख से हरी हो गई। जिस प्रकार करील में नई कोपलें निकलकर सुशोभित हों ऐसे ही वह सुन्दर प्रतीत होने लगी। जैसे उमड़ी गंगा हिलोरें लेती है···उसी भाँति नागमती में भी जीवन-यौवन की लहरें हिलोरें लेने लगीं। (उपमा अलंकार है।)काम के धनुष पर तीर साधकर वह खड़ी हुई। जिस विरह से वह दग्ध हो रही थी, वह विरह अब भाग गया।

उसके उर का उल्लास जानकर सारी सखी-सहेलियाँ पूछने लगीं—अरी, आज तेरा मुख निर्मलतम दीख रहा है; भला तेरा प्रियतम रूपी चन्द्र कहाँ उदय हुआ है ?—हम भी तो ज़रा देखें ?

विशेष—शृङ्गार का उद्दीपन रूप का चित्रण विशेष है। अंत की पंक्तियों में सखी-सहेलियों की बात स्वाभाविकता से पूर्ण है—अतः मनमोहक है।

शब्दार्थ—अगम=आगमन। तचा=त्वचा, खाल। निसरी=निकली। पलुहाई=हरियाई। सोंध=वर्षा से पैदा मिट्टी की सुगन्ध। बारी=सुन्दरी नागमती। करिल करील। कोंप=कोंपल। हुलसी=प्रसन्न हुई। सर=तीर या बाण। डाढ़ी=जलाई हुई। बदन=मुख। उवा=उगा।

(४२४)

अब लगि सखी पवन हा ताता। आजु लाग मोहि सीतल गाता।।
महि हुलसै जस पावस छाहाँ। तस हुलास उपना जिय माहाँ।।
दसौं दाउ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाउँ लै महरा।।
अब जोबन गंगा होइ बाढ़ा। औटन घटन मारि सब काढ़ा।।
हरियर सब देखौं संसारू। नए चार जानहुँ अवतारू।।
भागेउ बिरह करत जो डाहू। भा मुख चन्द छूटि गा राहू।।
लहकहिं नैन बाँह हिय खिला। को दहुँ हितू आइ चह मिला।।
कहतहि बात सखिन्ह सौं तेतखन आवा भाँट।
राजा आइ नियर भा मँदिल बिछावहु पाट।।४२४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

नागमती बोली—हे सखियो, अब तक जो वायु वियोग में मुझे दाहक लगती थी, आज वह मेरे शरीर को शीतल लग रही है। जैसे पावस ऋतु में मेघों की छाया से पृथ्वी उल्लसित होती है वैसे मेरे प्राणों में भी आज उल्लास जागा है। दसों दाँव···अर्थात् जो मैथुन का विरह देकर मेरा प्रियतम दशहरे के दिन मुझे छोड़कर चला गया था वह अब ससुर अर्थात् मेरे पिता के नाम स्वरूप मेरे पास पुनः लौट आया है—विचत्र सेना अर्थात् काम की सेना लेकर आ गया है। (नागमती के पिता का नाम चित्रसेन था अतः यहाँ

हेरफेर के साथ जायसी ने 'महरा' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ हुआ नागमती का पिता और रत्नसेन का ससुर "चित्रसेन" और उसके उपरांत अर्थ हुआ "चित्रवत काम की सेना") नागमती कह रही है, अब मेरी जवानी की गंगा में मस्ती की बाढ़ आ गई है। विरहाग्नि की तपन, घुटन और कृशता सब दूर हो गई है। मैं सारा संसार हरा-भरा देख रही हूँ। ऐसा लगता है कि मेरा नया अवतरण हुआ है। दाहक विरह भाग गया है। राहु से मुक्त होकर मेरा मुख-चन्द्र खिल गया है। नेत्र और बाहुपाश उससे मिलने के लिये ललक-फड़क रहे हैं। हृदय हर्ष से पुलकित है। लगता है जैसे मेरा प्यारा मुझसे मिलनातुर है।

यों नागमती सखियों से बातें कर रही थी कि तत्क्षण वहाँ भाट आ गया। उसने कहा, राजा निकट में आए हुए हैं, राजमहल में शीघ्रता से सिंहासन बिछाओ!

विशेष—सम्भोग श्रृङ्गार का उद्दीपन चित्रण है। विरह के सारे विभाव-अनुभाव वायु, पावस ऋतु आदि मिलनावस्था में परिवर्तित होकर कामोद्दीपन का कार्य कर रहे हैं। वर्णन रीतिकालीन परम्परा से मिलता-जुलता है।

शब्दार्थ—ताता = तप्त। गाता = शरीर। महि = पृथ्वी। महरा = ससुर। औटन = ताप। घटन = कृशता या घुटन। डाहू = दाह। लहकहि = ललकना। नियर = निकट। मँदिल = राजमहल। पाट = सिंहासन।

(४२५)

सुनतहि खन राजा कर नाऊँ। भा अनन्द सब ठाँवहि ठाऊँ॥
पलटा कै पुरखारथ राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा॥
देखि सो छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ॥
सैन पूरि आए घन घोरा। रहस चाउ बरिसै चहुँ ओरा॥
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरआँहि पोखरि ताल तलावा॥
लहकि उठा सब भुमिया नामा। ठाँवहि ठाँव दूब अस जामा॥
दादुर मोर कोकिला बोले। हते अलोप जीभ सब खोले॥
भै असवार परथमै मिलै चले सब भाइ।
नदी अठारह गंडा मिलीं समुँद कहँ जाइ॥४२५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा का नाम सुनते ही सब जगह आनन्द उमड़ने लगा। पुरुषार्थ करके सेनासहित राजा यों लौटा था जैसे असाढ़ मास, बादलों का दल सजाकर आता है। (उपमा अलंकार है।) उसके महान छत्र को देखकर संसार में छाया हो गई। (अतिशयोक्ति वर्णन है।) हाथी रूपी बादल संसार में सर्वत्र छा गए। सर्वत्र सैन्य सज्जित से घनघोर बादल उमड़कर गरज उटे। सर्वत्र उल्लास और उत्साह बरसने लगा। अब धरती और स्वर्ग का मधुर मिलन होगा। आशय है कि नागमती और राजा रत्नसेन मिलेंगे! पोखर, ताल और तालाब जल पूरित हो जायंगे। पृथ्वी का कण-कण चहचहा उठा। मानो जगह-जगह हरी दूब (दूर्वादरा) बिछ गई हो। दादुर, मोर और कोकिल बोलने लगे। जो पहले दुःख से

मौन और अदृश्य थे खुशी से वह सब जीभ खोल पड़े—मुखरित, चंचल हुए !

पहले घोड़ों पर सवार होकर सब भाई रत्नसेन से मिलने चले ; इस भाँति जैसे अठारह गंडे अर्थात् ७२ नदियाँ सागर से मिलने हेतु चली हों।

विशेष—प्रस्तुत पद में प्रकृति का स्वस्थ चित्रण है। राजा के सेना सहित लौटने की उपमा असाढ़ रूपी राजा के बादल-दल सहित आनेवाली उक्ति से बड़ी प्रभावशाली बन गई है। असाढ़ उपमान ने राजा उपमेय के पुरुषार्थ में मानो अपना पुरुषार्थ जोड़ दिया हो।

शब्दार्थ—दर=मेघ दल। घोरा=घोर। अलोप=छिपे हुये। अठारह गंडा= ७२ नदियाँ, एक गंडा ४ का होता है।

(४२६)

बाजत गाजत राजा आबा। नगर चहुँ दिसि होइ बधाबा॥
विहँसि आइ माता कहँ मिला। जनु रामहि भेंटै कौंसिला॥
साजे मँदिल बंदनवारा। औ बहु होइ मंगलाचारा॥
आवा पदुमावति क बेवानू। नागमती धिकि उठा सो भानू॥
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई। तैस झार लागी जौं आई॥
सहि नहिं जाइ सौति के झारा। दोसरे मंदिल दीन्ह उतारा॥
भै अहान चहुँ खंड बखानी। रतनसेनि पदुमावति आनी॥
पुहुप सुगंध संसार मनि रूप बखान न जाइ।
हेम सेत औ गौर गाजना जगत बात फिरि आइ॥४२६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन बाजे-गाजे की धूम-धाम के साथ आया है। चारों ओर नगर में बधाई होने लगी। वह प्रसन्नतापूर्वक अपनी माता से इस भाँति मिला जैसे राम कौशल्या माता से मिल रहे हों। राजमहल में वंदनवार सजाए गए और उसके स्वागत में अनेक मंगलाचार होने लगे। पर ज्योंही पद्मावती का विमान आया कि नागमती के लिये वह ईर्ष्या के कारण तपते सूर्य की भाँति प्रतीत हुआ। जैसे छाया में धूप दिखलाई पड़ती है इसी प्रकार पद्मावती के आगमन से नागमती को धूप की लपटें सी लगने लगीं—सौतिया डाह भड़क उठा ! नारी को सौतिया लपटें नहीं सही जातीं, अतः पद्मावती को अन्य महल में उतारा गया। चारों ओर लोक में कुचर्चा चल पड़ी कि रत्नसेन पद्मावती नामक दूसरी रानी ले आया है।

कविवर जायसी कहते हैं कि फूल की सुगन्ध और मणि के रूप का संसार में पूरी तरह वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हिमालय से सेतुबंध रामेश्वर तक तथा गौड़ बंगाले से ग़जनी तक चारों ओर पद्मावती और रत्नसेन के प्रणय की कुचर्चा फैल गई थी।

शब्दार्थ—बधावा=बधाई। कौसिला=कौशिल्या। मँदिल=राजमहल।

बेवानू = विमान। धिकि = धधक उठा, जल उठा। भानू = सूर्य। झार = लपट। दोसरे = दूसरे। हेम सेत औ गौर गाजना = उत्तर में हिमालय, दक्षिण में सेतुबंध, पूरब में गौड़ बंगाला और पश्चिम में गज़नी।

टिप्पणी—मैंने दूसरे व्याख्या ग्रंथों में दोहे की व्याख्या सर्वथा असंगत सी पाई है। फूल की सुगंध और मणि के रूप की तरह कहने से जायसी का आशय है कि इन्हीं की भाँति कुचर्चा भी तीव्रता से लोक में फैल जाती है। इससे पूर्व वह कह चुके हैं "भै आहान···" कि पद्मावती तथा रत्नसेन के प्रणय सम्बन्ध की कुचर्चा सर्वत्र फैल गई थी। अंततः "जगत बात फिरि आइ" उक्ति में मानो इस बात की पुष्टि हुई है। मेरी समझ से यही अर्थ अधिक संगत बैठता है।

(४२७)

सब दिन बाजा दान दवावाँ। भै निसि नागमती पहँ आवाँ॥
नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुख सौं डीठी॥
ग्रीखम जरत छाँड़ि जो जाई। पावस आव कवन मुख लाई॥
जबहिं जरै परबत बन लागे। औ तेहि झार पंखि उड़ि भागे॥
अब साखा देखिअ औं छाहाँ। कवने रहस पसारिअ बाहाँ॥
कोउ नहिं थिरकि बैठ तेहि डारा। कोउ नहिं करै केलि करुआरा॥
तूं जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि मई छार तोहि लागी॥
काह हँससि तूं मोसौं किए जो और सौं नेहु।
तोहि मुख चमकै बीजुरी मोहि मुख बरसै मेहु॥४२७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राजा के आने की खुशी में सारे दिन दान का नगाड़ा बजता रहा। रात हुई तो राजा रानी नागमती के पास आया। नागमती मुँह फेरकर रूठी सी बैठी थी। अपने पति की ओर, समक्ष में आँख न मिलाती थी। मधुर व्यंग से उसने रत्नसेन को कहा—जो ग्रीष्म के विरह-ताप में किसी को जलती छोड़ जाय वह पावस की मिलन ऋतु में कौन-सा मुँह लेकर आया है? तुमने उस समय न सोचा जब कि विरह-ग्रीष्म में पर्वत और वन दग्ध हो रहे थे और उसकी लपटों से पक्षी तक जलने के भय से उड़कर भाग गए थे। अब नई शाखा और नई छाया देखकर—नई जवानी का रस लेने के लिये, आलिंगन हेतु क्यों बाहु-पाश फैलाते हो? कोई पक्षी छोड़ी हुई, जली शाखा पर फिर पुलकित होकर नहीं बैठता; और फिर कोई उस पर क्रीड़ा कलरव नहीं करता—तुम किसलिये मुझसे मिलने आए हो? तू तो जोगी वैरागी बनकर मुझे छोड़ गया था और मैं तेरे वियोग में जल जलकर राख हो गई।

जब तूने किसी दूसरी से प्रेम कर लिया है तो मुझसे क्यों, कैसा, विनोद करता है? अरे निठुर, तेरे मुख पर तो बिजली की छटा चमकती है और मेरे मुख से वर्षा-झरी झरती है। आशय है कि तू हर्षित होता है और मैं आँसू बहा रही हूँ—फिर मेरा-तेरा प्रणय व्यापार

कैसा ?

विशेष—यहाँ 'स्वकीया' का अपने हरजाई पति के लिये प्रणय उपालम्भ बड़ा रोचक बन पड़ा है। अन्तिम पंक्ति में मिलन की कांति और विरह विदग्धता का बड़ा कारुणिक दृश्यपट है।

शब्दार्थ—दवाँवाँ=नगाड़ा। बईठी=बैठी। डीठी=दृष्टि। ग्रीखम=ग्रीष्म। झार=लपट। करुआरा=कलरव। छार=राख।

(४२८)

नागमती तूँ पहिलि बियाही। कान्ह पिरीति डही जसि राही ॥
बहुते दिनन्ह आवै जौं पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ॥
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ। सोउ मिलिहिं मन सँवरि बिछोऊ॥
भलहि सेत गंगा जल डीठा। जउँन जो स्याम नीर अति मीठा॥
काह भएउ तन दिन दस डहा। जौं बरखा सिर ऊपर अहा॥
कोउ केहि पास आस कै हेरा। धनि वह दरस निरास न फेरा॥
कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई॥
फरे सहस साखा होइ दारिवँ दाख जँभीर।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे लौटि उहै भै भीर ॥४२८॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

राजा बोला कि हे नागमती, तू मेरी पहली विवाहिता है। तू इसी प्रकार मेरे विरह में जली जैसे कृष्ण के प्रेम में राधा जली थी। यदि पति बहुत दिनों बाद आकर मिले और उससे उसकी स्त्री न मिले, तो निश्चय ही उसका मन पत्थर का है। देख, पत्थर और लोहा, ये दोनों संसार में बड़े कड़े पदार्थ हैं। ये दोनों एक ही खान में होते हैं, किन्तु बहुत समय पश्चात् भवन आदि के निर्माण के समय अपने पूर्व वियोग को याद करके फिर मिलते हैं। आशय यह है कि वियोग से विकल होकर पत्थर तथा लोहा तक जब कभी न कभी मिल ही जाते हैं, तो हे नागमती, तू मुझ रत्नसेन से मिलकर भी क्यों रूठी हुई है ? आगे रत्नसेन ने कहा—भले ही गंगा का पानी श्वेत या निर्मल दीखता है, किन्तु यमुना का श्यामल प्रतीत होने वाला पानी मीठा होता है। आशय है कि पद्मावती सुन्दर है किंतु तू गुणवती है। रत्नसेन ने कहा—जब वर्षा सिर के ऊपर बरसने को ही थी, तो क्या हुआ, यदि दस दिन तक ताप सहा। आशय है कि विरह ताप के कुछ दिन बाद जब सुख भोग की वर्षा होनी ही थी तो फिर चिन्ता क्यों ? रत्नसेन ने कहा—कोई किसी के पास कुछ आशा लेकर ही आता है—दर्शन करता है। वह स्त्री धन्य है जो अपने आश लगाए आए प्रियतम को निराश नहीं लौटाती। यों कहकर राजा ने रानी नागमती का कंठालिंगन करके मनाया। जली हुई बेल मानो सींचने से पुनः हरी हो गई। नागमती को सुख प्राप्त हुआ !

सहस्रों शाखों में दाड़िम, द्राक्षा और जँभीर के वृक्ष सडाल पुनः फले। सारे बिछुड़े

पक्षी सम्मिलित होकर आए और उन हरे-भरे पेड़ों को प्रणाम किया। अब फिर पूर्व जैसी भीड़ और रौनक चित्तौड़ में हो गई थी, क्योंकि रत्नसेन आ चुका था !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४२९)

जौं भा मेरु भएउ रँग राता। नागमती हँसि पूँछी बाता॥
कहहु कंत जो बिदेस लोभाने। कसि धनि मिली भोग कस माने॥
जौं पदुमावति है सुठि लोनी। मोरे रूप कि सरबरि होनी॥
जहाँ राधिका अछरिन्ह माहाँ। चन्द्रावलि सरि पूज न छाँहाँ॥
भँवर पुरुख अस रहै न राखा। तजै दाख महुआ रस चाखा॥
तजि नागेसरि फूल सोहावा। कँवल बिसँधे सो मन लावा॥
जौं नहवाइ भरिअ अरगजा। तबहु गयंद धूरि नहिं तजा॥
काह कहौं हौं तोसौं किछौ न तोरे भाउ।
इहाँ बात मुख मोसौं उहाँ जीउ ओहि ठाँउ॥४२९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में,

जब नागमती और रत्नसेन का प्रेम-मिलन हुआ और राजा प्रेम के रंग में रँग चुका तो नागमती ने उससे हँसकर बात पूछी—हे प्रियतम, तुम जो परदेस में मोहित होगए, तो बताओ वह स्त्री कैसी थी, और तुमने उसके साथ में कैसा भोग-सम्भोग अनुभव किया ? यद्यपि पद्मावती महा सुन्दरी है, तथापि क्या वह मेरे रूप के समान हो सकती है ? जहाँ अप्सराओं के बीच में सरल राधिका हो, वहाँ सुन्दरी चन्द्रावली उसकी छाया-सुषमा की भी समता नहीं कर सकती। भँवर तुल्य पुरुष ऐसा चंचल होता है कि किसी भी प्रकार रखने से भी वश में नहीं होता। वह अंगूर का रस त्यागकर महुवे के रस का ही स्वाद चखता है। वह ऐसा रस-लोलुप होता है कि नागकेसर का सुहावना पुष्प छोड़कर विषगंधी कमल से दिल लगाता है। (यहाँ 'नागकेसर' पुष्प का सम्बन्ध स्वयं नागमती के नाम से है और 'कमल' को विसगंध या 'बिसँधे'—मछली की चर्बी की गंध—जैसा बतलाकर नागमती ने पद्मावती सौत के प्रति अपना सौतिया डाह-भाव व्यंजित किया है। अतः यहाँ अर्थ श्लेष बनता है।) नागमती कहती है कि स्नान कराकर चाहे हाथी के अंग में अरगजा ही पूर्णतः भर दो फिर भी वह बदन पर धूल डालना नहीं छोड़ता। आशय यह है कि पुरुष अपनी सुशीला स्त्री से सन्तुष्ट न होकर इधर-उधर परकीया प्रणय की धूल छानता फिरता है !

नागमती ने कहा, मैं तुझसे क्या कहूँ; तेरा मेरे प्रति कोई प्रेम-भाव नहीं है। यहाँ मुख से मेरे जैसी बात और वहाँ मन उसी जगह है, जहाँ पद्मावती है।

विशेष—उपालम्भ, ईर्ष्या, कुत्सा भाव की व्यंजना सहज नारियोचित ढंग की है।

शब्दार्थ—मेरु=मेल। सरबरि=बराबर। अछरिन्ह=अप्सराओं। छाँहा=सुन्दरता या छाया। नागेसरि=नागकेसर। बिसँधे=दुर्गन्ध, मछली की चर्बी जैसी गंध।

गयंद=हाथी।

(४३०)

कही दुख कथा रैनि बिहानी। भोर भएउ जहँ पदुमिनि रानी॥
भान देख ससि बदन मलीनी। कँवल नैन राते तन खीनी॥
रैनि नखत गनि कीन्ह बिहानू। बिमल भई जस देखे भानू॥
सुरुज हँसा ससि रोई डफारा। टूटि आँसु नखतन्ह कै मारा॥
रहै न राखै होइ निसाँसी। तहँ वहि जाहि जहाँ निसि बासी॥
हौं कै नेहु आनि कुँव मेली। सींचै लाग झुरानी बेली॥
भए वै नैन रहँट की घरी। भरी तें ढारीं छूँछी भरीं॥
सुभर सरोवर हंस जल घटतहि गएउ बिछोइ।
कँवल प्रीति नहिं परिहरै सूखि पंक बरु होइ॥ ४३०॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग में—

अपनी व्यथा-कथा कहते-कहते नागमती ने रात व्यतीत कर दी। प्रातःकाल होने पर जहाँ पद्मिनी रानी थी, राजा वहाँ पहुँचा। सूर्य-रत्नसेन ने देखा कि चन्द्र-पद्मावती का मुख मलीन था। उसके कमल से नेत्र निशा-जागरण के कारण लाल थे और तन क्षीण था। उसने रात भर तारे गिन-गिनकर सवेरा किया था। जैसे ही उसने सूर्य रूप प्रियतम रत्नसेन को देखा कि वह शशि सी निर्मल हो गई। तब सूर्य-रत्नसेन हँसा और चन्द्र-पद्मावती धाड़ मारकर रो पड़ी। अश्रु रूपी नक्षत्रों की माला टूट-टूटकर बिखर गई। (रूपक अलंकार।) पद्मावती धीरज बँधाने पर भी नहीं मानती थी, और श्वासहीन हो रही थी। वह आवेश में बोली—जाओ, वहीं जाओ जिसके पास, जहाँ रात बिताई है। मुझसे प्रेम करके मुझे यहाँ लाए और कूप में डाल दिया। जो शुष्क बेल नागमती थी, तुम उसी को प्रेम जल से सींचने लगे। पद्मावती की आँखें रहट की डोलची बन गई थीं; वे भरकर छलकतीं और छलककर फिर भरती और फिर खाली होतीं। (उपमा)

पूर्णतः जलपूरित सरोवर में विहार करने वाला हंस, सरोवर का जल घटते ही अलविदाई ले जाता है। किन्तु कमल सरोवर से अपना प्रेम नहीं छोड़ता, चाहे उसका जल सूख जाय और कीचड़ ही क्यों न बन जाय।

विशेष—रूपक और उपमा अलंकारों के विशिष्ट प्रयोग से पद में काव्य चमत्कार देखते बनता है। एक विशेष दुख की परिस्थिति में आँखों से बहते झरने अश्रुओं का शब्द चित्र (Pen picture)—

"भए वैं नैन रहँट की घरी। भरीं ते ढारीं छूँछी भरीं॥"

अत्यन्त आकर्षक उतरा है। काव्य कला की कसौटी पर खरी उतरने के लिये जायसी की यह अकेली पंक्ति बहुत है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४३१)

पदुमावति तूँ जीव पराना। जिय तें जगत पियार न आना॥
तूँ जस कँवल बसी हिय माँहा। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ॥
मालति करी भँवर जौं पावा। सो तजि आन फूल कित धावा॥
अनु हौं सिंघल कै पदुमिनी। सरि न पूज जंबू नागिनी॥
हौं सुगंध निरमलि उजियारी। वह बिख भरी डरावनि कारी॥
मोरें बास भँवर सँग लागहिं। ओहि देखें मानुस डरि भागहिं॥
हौं पुरुख कै चितवौं डीठी। जेहि के जियँ असि अहौं पईठी॥
ऊँचे ठाँव जो बैठे करै न नीचेहुँ संग।
जहाँ सो नागिनि हिरगै काह कहिअ सो अंग॥ ४३१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा—हे पद्मा, तू मुझे इसी भाँति प्यारी है जैसे जीव और प्राण! संसार में प्राणों से अधिक और कोई प्यारा नहीं है। तू कमल की भाँति मेरे मन में बसी हुई है। मैं भौंरा बनकर तुझमे विद्ध हूँ। यह सुनकर पद्मावती बोली—जब भौंरा मालती की कली पा लेता है तो उसे छोड़कर वह दूसरे फूल पर क्यों दौड़ जाता है? हे प्रियतम, प्रसन्न हो जाओ!—मैं सिंघल की सुन्दरी पद्मिनी हूँ। मेरी समता जम्बूद्वीप की नागिन नागमती नहीं कर सकती। मैं सुगन्ध और निर्मल ज्योत्सना जैसी हूँ। वह विष भरी डरावनी काली नागिन है। मेरी सुगन्ध के पीछे रसलुब्ध भौंरे लग जाते हैं, उसे देखकर लोग डरकर भागते हैं। मैं उस पुरुष की प्रेम चितवन को भली भाँति जानती हूँ जिसके जी में मैं प्रेमिका बनी बैठी हूँ। आशय है कि हे राजा, मैं तुम्हारी प्रेम चितवन का रहस्य खूब जानती हूँ। (व्यंग है।)

पद्मावती कहती है कि जो उच्च स्थल पर बैठ गया है उसे नीच का संग नहीं करना चाहिये। जिससे जहाँ वह नागिन नागमती लिपटी हो भला उसके शरीर के प्रति क्या कहा जाय? आशय है कि हे राजा, तुम्हारा तन भी नागमती के प्रेमालिंगन के कारण विषैला और अशुद्ध हो गया है,—तुम मेरे योग्य नहीं रहे।

विशेष—सौतिया डाह और कुत्सा का भाव प्रधान है। यहाँ नारी के मनोविज्ञान का विश्लेषण बड़ा संगत है।

शब्दार्थ—पराना=प्राण। बेधा=विद्ध। करी=कली। अनु=प्रसन्न। विख=विष। कारी=काली, नागिनी। पईठी=बैठी, समाई हुई।

(४३२)

पलुही नागमती कै बारी। सोन फूल फूली फुलवारी॥
जावँत पंखि अहे सब डहे। ते बहुरे बोलत गहगहे॥
सारौं सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला।
हारिल सबद महोख सो आवा। काग कोराहर करहिं सोहावा॥

भोग बेरास कीन्ह अब फेरा। बासहिं रहसहिं करहिं बसेरा।।
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल न जाइ काहु कै सेवा।।
होइ उजियार बैठि जस तपी। खूसट मुँह न देखावहिं छपी।।
नागमती सब साथ सहेलीं अपनी बारी माँह।
फूल चुनहिं फर चूरहिं रहस कोड सुख छाँह।। ४३२।।

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी नागमती की सुखद अवस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

रत्नसेन के मिलन सुख से नागमती की पुष्पवाटिका पुनः पल्लवित हो गई। वहाँ सुनहले पुष्पों की फुलवारी फूली हुई है। जितने भी पक्षी हैं सब उसमें उड़ने-विचरने लगे हैं। पुनः लौटकर, वे आनन्दित होकर चहकने लगे हैं। मैना, तोता, ग्वालिन और कोकिल के साथ आनन्दित हुआ पपीहा मिल गया है। हारिल बोल रहा है और महोख भी आ गया है। वहाँ कोलाहल करते हुए कौवे भी भले लगते है। पुनः वहाँ भोगविलास ने आगमन किया है। वाटिका के पक्षी जोड़े से रात में बसेरा लेते हैं, क्रीड़ा विनोद करते हैं। पंडुक, मोर और पारावत नृत्य करते हैं। किसी की सेवा-साधना कभी निष्फल नहीं जाती। वहाँ नागमती स्वच्छ वेश में तपस्विनी बनी बैठी है। उसकी वाटिका में उल्लू अपना मुख नहीं दिखाते—छिपे हुए हैं।

नागमती सब संग-सहेलियों के साथ अपनी वाटिका में फूल चुनती है, फल खाती है और सुख की छाया में आनन्द विनोद करती है।

शब्दार्थ—पलुही=पल्लवित हुई। सोन=स्वर्ण। गहगहे=आनन्दित हुए। सारौं=मैना। रहसहिं=रहसना। कोराहर=शोर। खूसट=उल्लू।

३६--नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड

(४३३)

जाही जूही तेहि फुलवारी। देखि रहस सहि सकी न बारी।।
दूतिन्ह बात न हिएँ समानी। पदुमावति सौं कहा सो आनी।।
नागमती फुलवारी बारी। भँवर मिला रस करी सँवारी।।
सखी साथ सब रहसहि कूदहिं। औ सिंगार हार जनु गूंदहिं।।
तहँ जो बिकावरि तुम्ह सो लरना। बकुचुन कहौं लहौं जस करना।।
नागमती नागेसरि रानी। कँवल न आछै अपनी बानी।।

जस सेवती गुलाल चँबेली । तैसि एक जनि उहाँ अकेली ।।
अति जो सुदरसन कूजा तब सत बरगहि जोग ।
मिला भंवर नागेसरि सेंती दैय दीन्ह सुख भोग ।। ४३३ ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

नागमती की उस वाटिका में जाही और जूही खिली थी । उन्हें देखकर नागमती अपना आनन्द वश में न कर सकी । यह दृश्य, यह सुख कुटनियों के हृदय में न पच सका और उन्होंने यह सब कुछ पद्मावती से आकर कहा कि नागमती की वाटिका फूलों से खिल रही है । वहाँ कली नागमती के साथ भौंरा रत्नसेन मिला और उसने उससे रस-शृंगार-संभोग किया है । नागमती के साथ उसकी सखियाँ वहाँ केलि-क्रीड़ा करती हैं । उसके शृंगार के लिये सिंगार-हार गूँथती हैं । वहाँ की गुलबकावली की तुम्हारे से क्या तुलना ? वहाँ करना जैसे पुष्पों को यदि कहो तो अंजलि भर कर ले आएँ ? आशय है कि यद्यपि वह फुलवारी फूली हुई है तथापि वहाँ पद्मावती की शृंगार शोभा से कुछ भी बढ़कर नहीं है—यह कुटनी की कूट बातों का संकेत है ! आगे कुटनी कहती हैं—नागमती रानी नागकेसर के पुष्प जैसी है । वहाँ के कमल की प्रशंसा करना मुख से अच्छा नहीं लगता । जैसे सेवती, गुलाल, चमेली के पुष्प हैं, ऐसी तो वह अकेली नागमती ही सजी-धजी दीखती है, आशय है कि नागमती की वाटिका हरी-भरी है ।

उस वाटिका में सुदर्शन और कूजा फूलों की अधिकता है तो सदबरग भी फूला हुआ है । ऐसे वातावरण में भँवर रूपी रत्नसेन नागेसर रूपी नागमती से आ मिला है । ईश्वर ने उसको पुनः सुख-भोग प्रदान किया है ।

शब्दार्थ—सरल है । भावार्थ के अनुसार देखें ।

(४३४)

सुनि पदुमावति रिस न नेवारी । सखी साथ आई तेहि बारी ।।
दुओ सवति मिलि पाट बईठीं । हियँ बिरोध मुख बातें मीठीं ।।
बारी दिस्टि सुरँग सुठि आई । हँसि पदुमावति बात चलाई ।।
बारी सुफल आहि तुम्ह रानी । है लाई पै लाइ न जानी ।।
नागेसरि औ मालति जहाँ । सखदराउ न चाहिअ तहाँ ।।
अहा जो मधुकर कँवल पिरीती । लागेउ आइ करील की रीती ।।
जो अँबली बाँकी हिय माहाँ । तेहि न भाव नारँग कै छाहाँ ।।
पहिलें फूल कि दुहुँ फर देखिअ हिएँ बिचारि ।
आँब होइ जेहि ठाईं जाँबु लागि रहि आरि ।।४३४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दूतियों के मुख से नागमती की पुष्पित वाटिका सुनकर पद्मावती अपना सौतिया क्रोध वश में न कर सकी । वह सखी सहित उस वाटिका में आई। दोनों सौत मिलकर आसनों पर बैठीं । मन में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्याभाव था, किन्तु मुँह से मीठी-मीठी बातें करने

लगीं। वह वाटिका पद्मावती को बहुत सुहावनी लगी और उसने बात चलाई—हे रानी, तुम्हारी वाटिका तो खूब खिली-फली है। यद्यपि उसके फल तोड़ लिये गये हैं फिर भी वह ऐसी नहीं लगती कि उसके फल तोड़ लिए गये हैं। व्यंग्य से आशय यह है कि यद्यपि तुम्हारी जवानी ढलक चुकी है तथापि अभी उसमें प्रिय-मिलन की आब बाकी है। आगे उसने कहा—जहाँ नागेसरि अर्थात् नागमती और मालती अर्थात् पद्मावती को साथ ही रहना है वहाँ उनको परस्पर दुराव नहीं करना चाहिये, मिलकर रहना चाहिये। जो भौंरा अन्यत्र कमल से प्रेम करता था, अहोभाग्य है कि वह इस वाटिका में आकर कमल के अभाव में करील से भी प्रीति की रीति निभाने लगा है! (व्यंग है) यहाँ की जो रूप से मदमाती बाँकी इमली (आशय नागमती से है) है उसके सामने उसे नारंगी की सुषमा (आशय पद्मावती है) भी कुछ नहीं है।

पद्मावती ने व्यंग्य से कहा—पहले फूल होते हैं कि फल—तुम स्वयं इसे हृदय से विचारो। व्यंग्य यह है कि तुम्हारी प्रीति की वाटिका विचित्र हैं कि यहाँ बिना फूल के ही फल आ गये—बिना जवानी के मजा आ गया! पद्मावती ने कहा, इस वाटिका की क्या विचित्रता कही जाय—जहाँ आम का मधुर फल फला है वहाँ पास में काली जामुन पर भी बहार है।

विशेष—वाटिका के माध्यम से पद्मावती ने नागमती की सुन्दरता पर क्रूर व्यंग्य विरोध प्रकट किया है। समस्त पद काव्य-चातुर्य एवं चमत्कार से पूर्ण है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४३५)

अनु तुम्ह कही नीकि यह सोभा। पै फुल सोइ भँवर जेहि लोभा।।
साँबरि जाँबु कस्तुरी चोवा। आँब जो ऊच तौ हिरदै रोवाँ।।
तेहि गुन अस भै जाँबु पियारी। लाई आनि माँझ कै बारी।।
जल बाढ़ै ऊभै जो आई। हिय बाँकी अँबिली सिर नाई।।
सो कस पराई बारी दूखी। तजै पानि धावहि मुँह सूखी।।
उठै आगि दुइ डार अभेरा। कौनु साथ तेंहि बैरी केरा।।
जो देखी नागेसरि बारी। लाग मरैं सब सुग्गा सारी।।
जेहि तरुवर जो बाढ़ै रहै सो अपने ठाउँ।
तजि केसर औ कुन्दहि जाँउन पर अँबराउँ।।४३५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार प्रस्तुत पद में नागमती पद्मावती के पिछले कूट भाव का उत्तर दे रही है—

हे पद्मावती, प्रसन्न हो! तुमने इस वाटिका की शोभा का अच्छा वर्णन किया। किन्तु फूल वही माना जायगा जिस पर भौंरा मोहित हो जाय—भले ही वह कमल का न हो! जामुन काली जरूर होती है पर वह कस्तूरी जैसा रस टपकाती है। आम ऊँचा तो होता है पर हृदय से रुदन ही करता है। इस गुण को ध्यान रखकर मुझे जामुन प्यारी

है, और उसे वाटिका के बीच में लगाया गया है। जल बढ़ता है तो जामुन भी फूल जाती है, हृदय की टेढ़ी इमली सिर झुकाये रहती है। वह क्यों दूसरे की वाटिका को बुरा कहे, जिसकी वाटिका पानी के त्याज्य होने पर नारंगी की तरह मुँहसुखी हो जाती है। (पूर्व पद के प्रसंग के उत्तर में कहा जा रहा है। नागमती जामुन, इमली की प्रशंसा कर रही है और 'मुँहसुखी' कहकर नारंगी की अवहेलना है; क्योंकि नारंगी जल के अभाव में जल्दी सूख जाती है।) जिन दो शाखों की परस्पर मुठभेड़ से वाटिका में आग लग जाने का भय हो ऐसे केले और बेरी के पेड़ साथ न लगाए जाने चाहिये। जिसने इस नागेसरि अथवा नागमती की वाटिका को देखा वही ईर्ष्या से जल मरा कि यहाँ चहकनेवाले, अनेक तोते-मैंने जैसे पक्षी भरे पड़े हैं।

जो लता जिस वृक्ष के साथ बढ़ती है वह वृक्ष भी उसके लिये उसी स्थान पर स्थिर रहता है। अतः मैं अपने केसर और कुन्द छोड़कर कहीं अन्यत्र फले बगीचे पर नहीं जाती। यहाँ विशेष आशय से नागमती पद्मावती पर कटु व्यंग्य करती है कि रत्नसेन मेरा पति है, वृक्ष है, मैं उसकी मुख्य पत्नी हूँ, लता हूँ। मेरा उसका सम्बन्ध गूढ़ है। मैं उसी के साथ सुख-सम्भोग प्राप्त करूँगी, किन्तु तुझे किस बात की ईर्ष्या है? तू तो मेरे पति के साथ व्यभिचारिणी के रूप में है, कि उसे सुन्दर रसमय देखकर लुभा लिया।

विशेष--प्रस्तुत पद में कूट एवं व्यंग्य का भाव पूर्णतः विशिष्ट साग्रवयव, एवं स्वाभाविक है।

शब्दार्थ—अनु=प्रसन्न। नीकी—अच्छी। साँवरी=काली। अँबिली=इमली। नाई=झुकाये हुए। दूखी=दोष देना। अभेरा=मुँठभेड़। लाग=ईर्ष्या से। सारी=मैना। सुग्गा=तोता। अबराऊँ=बगीचा।

(४३६)

तुम्ह अँबराउँ लीन्ह का चूरी। काहे भई नींबि बिख मूरी॥
भई बेरि कत कुटिल कटैली। तेंदू कैंथ चाहि बिगसैली॥
नारँग दाख न तुम्हरी बारी। देखि मरहिं जहँ सुग्गा सारी॥
औ न सदाफर तुरँज जँभीरा। कटहर बड़हर लौकी खीरा॥
कँवल के हिय रोंवा तौ केसरि। तेहिं नहिं सरि पूजै नागेसरि॥
जहँ केसरि नहिं उबरै पूंछी। बर पाकरि का बोलहि छूंछी॥
जो फर देखिअ सोइअ फीका। ताकर काह सराहिअ नीका॥
रहु अपनी तें बारी मों सौं जूझु न बाँझ।
मालति उपम कि पूजै बन कर सूझा खाझ॥४३६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने व्यंग पूर्वक नागमती से कहा—तुमने बाग लगाया है तो इसमें चोरी की क्या बात है? किन्तु उसमें विष की जड़ वाला कड़वा नीम क्यों उत्पन्न हो गया? उसमें काँटे वाली टेढ़ी-मेढ़ी झड़बेरी क्यों उगाई गई? आशय है कि तुम्हारी

वाटिका दूसरों को कष्ट का कारण क्यों बनी ? तुम्हारी वाटिका में तेंदू और कैथ बढ़ना चाहिए। तुम्हारी वाटिका में नारंग और दाख नहीं है। तुम्हारी वाटिका वह है जिसमें देखते ही तोता और मैना की हत्या की जाती है। (यहाँ नागमती के द्वारा पूर्व हीरामन तोते को मार देनेवाला संकेत व्यंजित है।) इस वाटिका में न सदाफर, न तुरंज और न जँभीरी नींबू हैं। तुच्छ कटहल, बड़हल, लौकी और खीरा हो रहे हैं। कमल के हृदय में रोयाँ है तो उसमें सुन्दर केसर भी है। उसकी समता नागकेसर नहीं कर सकती। जहाँ केसर उगती है वहाँ जटाओं वाला गूलर का वृक्ष नहीं उग सकता, बरगद और पाकड़ की बकवाद कौन करे ? आशय है कि नागमती की वाटिका में सुन्दर वृक्ष नहीं उगते क्योंकि वह स्वयं पद्मावती से सुन्दर नहीं है। पद्मावती कहती है कि तुम्हारी इस वाटिका का जो भी फल देखो वही नीरस है, व्यर्थ है; भला ऐसी वाटिका की अच्छी सराहना क्या की जाय ? (व्यंगभाव)

पद्मावती ने कहा—हे रानी, तुम अपनी वाटिका की सीमा में रहो। हे बाँझ ! मुझसे व्यर्थ में न झगड़ा करो। जंगल के तुच्छ खजहजे मालती के समान या उसकी उपमा में श्रेष्ठ नहीं हो सकते। आशय है कि मेरी महत्ता के समान तुम नहीं हो सकतीं।

शब्दार्थ—अँवराऊँ=बाग। चूरो=चोरी। नीबि बिखमूरी=विष की जड़वाला कड़वा नीम। कटैली=काँटोंवाली। विगसैली=बढ़ने वाली। सारी=मैना। नागेसरि=नागकेसर, यहाँ 'नागमती' से भी अर्थ है। फीका=नीरस। जूझु=झगड़ा। बाँझ=व्यर्थ में। खूझा खाझ=छोटे जंगली खजहजे या मेवे।

(४३७)

कँवल सो कँवल सुपारी रोठा। जेहि के हिए सहस दुइ कोठा॥
रहै न झाँपे आपन गटा। सकति उघेलि चाह परगटा॥
कँवल पत्र दारिउँ तोरि चोली। देखसि सूर देसि हँसि खोली॥
ऊपर राता भीतर पियरा। जारौं वहै हरदि अस हियरा॥
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज हँसि हँसि तेहि रावसि॥
सब निसि तपि तपि मरसि पियासी। भोर भएँ पायसि पिय बासी॥
सेजवां रोइ रोइ जल निसि भरसी। तूँ मोसौं का सरबरि करसी॥
सुरुज किरिन तोहि रवै सरवर लहरि न पूज।
काम बिहून ए दूनौ कोउ रे घोबि कोउ भूँज॥४३७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती पद्मावती के प्रति व्यंग्य करती हुई कहती है—यह कैसा कमल है ? यह तो सुपारी की गाँठ है जिसके हृदय में दो सहस्त्र छिद्र हैं। यह अपना बीजकोष भीतर बन्द करके भी नहीं रख सकता—निर्लज्ज है ! अपनी नग्न शक्ति दिखलाकर प्रकट होना चाहता है। आशय है कि पद्मावती निर्लज्ज वैश्या के सदृश अपने गुप्त अंग तक नहीं ढँकती। हे कमल, तेरी दाड़िम सी लाल पंखुरी रूपी चोली तक फटी हुई है। तूने सूर्य अथवा रत्नसेन

के समक्ष हँसकर उसे निर्लज्जता से संपुट खोल दिया। यह कमल ऊपर से लाल एवं भीतर से पीला है। आशय है कि ऊपर से रक्तिम सौन्दर्य और भीतर काम-पीड़न से आतुर पीत रंग का। नागमती कहती है कि उस हल्दी जैसे हृदय में जी चाहता है मैं आग लगा दूँ, जो ऐसा पीला पड़ा हुआ हो—द्वेष भाव से परिपूर्ण हो। इधर तू भँवरे को मुख से मुख मिलाकर बातों में लगाए रही उधर सूर्य से हँस हँसकर समागम करती रही। तू सारी रात तो तप-तपकर प्यासी मरती है और प्रातःकाल होने पर बासी पति का प्यार पाती है। नागमती के कहने का आशय यह है कि रात को तो रत्नसेन मेरे पास रमण करता है और सवेरे तेरे पास बासी होकर जाता है और तू उसका झूठा प्यार पाती है। तू रात भर तो उसके विरह में रोती अश्रु बरसाती और जलती है। अतः तू मुझसे अपनी बराबरी क्या करती है?

आगे व्यंग्य कसती हुई नागमती पद्मावती से कहती है—सबेरे सूर्य अपनी केलि-किरणों से तुझे स्पर्श का रमण कराता है, क्या तेरी सन्तुष्टि सरोवर की लहरों से नहीं होती? आशय है कि तू तो वेश्या जैसी है! क्योंकि कमल को सरोवर एवं सूर्य का संसर्ग-समागम अनिवार्य होना है। नागमती कहती है, किन्तु सरोवर और सूर्य—ये दोनों ही कर्महीन हैं। क्योंकि कोई, अर्थात् सरोवर तो तुझे धोता है और कोई, अर्थात सूर्य तेरा भोग करता है। आशय है कि तू न सरोवर की है और न सूर्य की—तू किसी की भी अपनी नहीं।

विशेष—सौतिया डाह और संघर्ष का रूपक यहाँ प्रभावशाली ढंग से वर्णित है।

शब्दार्थ—रोठा = गाँठ। गटा = कमल का बीज। पत्र = पँखड़ी। पावसि = पाती है। रावसि = रमण करती है। भूंज = भोगता है।

(४३८)

अनु हौं कँवल सुरुज कै जोरी। जौं पिय आपन तौ का चोरी॥
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार भोर उठि देखौं॥
मोर बिगसि ओहिक परगासू। तूं जरि मरसि निहारि अकासू॥
हौं ओहि सौं वह मो सौं राता। तिमिर बिलाइ होत परभाता॥
कँवल के हिरदै मँह जौं गटा। हरिहर हार कीन्ह का घटा॥
जाकर देवस ताहि पै भावा। कारि रैंनि कत देखै पावा॥
तूं उँबरी जेहि भीतर माँखा। चाँटहि उठे मरन कै पाँखा॥
धोबिन धोवै बिख हरै अम्रित सौं सरि पाव।
जेहि नागिनि डसु सो मरै लहरि सुरुज कै आव॥४३८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में नागमती के आक्षेपों का उत्तर देती हुई पद्मावती कहती है—

हे नागमती, क्रोध न करो। मैं फिर भी कमल हूँ। सूर्य या रत्नसेन से मेरी जोड़ी है। जब पति मेरा है तो उससे समागम करने में क्या चोरी? मैं उसे अपना दर्पण समझती हूँ। प्रातःकाल शृङ्गार करके उस दर्पण रूप को देखती हूँ। उसके ही प्रेम-प्रकाश से मेरा प्रस्फुटन होता है। तू तो उस समय आकाश की ओर देखकर जल मरती है। मैं उससे

अनुरक्त हूँ और वह मुझसे अनुरक्त है। उसके आते—उदय होते ही, निराशा का अंधकार दूर हो जाता है और सवेरा हो जाता है। कमल के उर में जो गटा या बीज है, उसकी माला तो हरि-हर तक धारण करते हैं—वह तुच्छ कैसे है? जिसका दिन से लगाव है उसको तो दिन ही प्यारा होता है। भला वह काली रात क्यों देखे ? तू तो तुच्छ गूलर के फल की तरह है, जिसके भीतर मक्खियाँ होती हैं। आशय है कि नागमती घृणामयी है। पद्मावती कहती है, गूलर की चीटियों के मरने से पूर्व पंख निकल आते हैं—इसी प्रकार, हे नागमती, तेरे भी तिरस्कार और मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं।

पद्मावती कहती है कि धोबिन, जो कमल को धोकर स्वच्छ करती है इसलिये कि वह अमृत तुल्य महत्ता पा सके। किंतु तू नागिन जिसे डस लेती है, उसे मृत्यु इस भाँति आ जाती है, जैसे सूर्य की विषमय लू-लपट-लहर आती है।

शब्दार्थ—दरपन=दर्पण। भोर=सवेरा। बिगास=विकास, प्रस्फुटन। परगासू=प्रकाश। निहारि=देखकर। राता=अनुरक्त। घटा=कम हुआ। उँवरी=गूलर का फल। बिख=विष।

(४३९)

जौं कटहर बड़हर तौ बड़ेरी। तोहि अस नाहिं जो कोका बेरी।।
स्यामि जानु मोर तुरज जँभीरा। करुई नींबि तौं छाँह गँभीरा।।
नरियर दाख ओहि कहँ राखौं। गलि गलि जाउँ न सौतहि भाखौं।।
तोरे कहें होइ मोर काहा। फर बिनु बिरखि कोइ ढेल न बाहा।।
नवं सदा फर सो नित फरई। दारिवँ देखि फाटि हिय मरई।।
जैफर लौंग सुपारी हारा। मिरिचि होइ जो सहै न पारा।।
हौं सो पान रँग पूज न कोऊ। बिरह जो जरै चून जरि होऊ।।
लाजन्ह बूड़ि भरसि नहिं ऊभि उठावसि माँथ।
हौं रानी पिउ राजा तो कहँ जोगी नाथ।।४३९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार नागमती पद्मावती के आक्षेप-आरोपों का उत्तर देती हुई कहती है—

हे पद्मावती, यदि तुम्हारे कथनानुसार मेरी वाटिका में कटहर और बड़हल हैं तो यह उसकी महत्ता है, तुच्छता नहीं। वह तुझ जैसी कोकाबेली अथवा धाय की सन्तान (कोका) नहीं है। मेरी वाटिका के तुरंग और जँभीर को मेरे स्वामी चाखते हैं। यहाँ के कड़वे नीम की छाया को मेरी ही वाटिका पाती है। वाटिका के नारियल और द्राक्षा को मैं अपने पति के लिये सुरक्षित रखती हूँ। चाहे मैं गल-गल कर मर भी जाऊँ तो भी तुझ जैसी उद्दण्ड होकर सौत से कुछ न बताऊँगी। तेरे कुछ कहने से मेरा क्या बिगड़ता है ? बिना फले हुए वृक्ष पर कोई ढेला तक नहीं मारता। आशय है कि मेरी वाटिका फली-फूली है—मुझे प्रियतम का प्यार उपलब्ध है; तभी तू मुझपर आक्षेप कर रही है। जो वृक्ष फलों से सदा फला रहता है वह तो झुकता ही है। किन्तु दाड़िम उसे ऐसा देखकर

हृदय फाड़कर मर जाता है। आशय है कि हे पद्मावती! तू भी मेरे फलने-फूलने और प्रियतम से प्यार पाने के कारण जल मर रही है। इस वाटिका के लोंग, जायफल, सुपारी की फूली-फली दशा को देखकर जो मिर्च होगी, वह सहन न कर पाएगी। आशय है कि पद्मावती भी मिर्च की भाँति ईर्ष्यालु है। नागमती कहती है कि मैं उस पान की भाँति सौन्दर्य रंजित हूँ जिसके रंग के समान कोई नहीं है। किन्तु तुझ पद्मावती के समान जो विरह में ईर्ष्या से जलता है, वह जलकर चूना बन जाता है।

हे पद्मावती, तू लज्जा से डूब नहीं मरती, वरन उल्टे मेरे सामने गर्व से सिर उठाए है। मैं रानी, और मेरे प्रियतम रत्नसेन, मेरे राजा हैं। किंतु तेरे लिये तो वह जोगी और नाथ रूप ही हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं। भावार्थ के अनुसार सरलता से ज्ञातव्य है।

(४४०)

हौं पदुमिनी मानसर केवा। भँवर मराल करहि निति सेवा॥
पूजा जोग दंय हौं गढ़ी। मुनि महेस के माँथे चढ़ी॥
जानै जगत कँवल कै करी। तोहि असि नाहिं नागिन बिखभरी॥
तूँ सब लेसि जगत के नागा। कोइलि भइसि न छाँड़सि कागा॥
तूँ भुँजइलि हौं हंसिनि गोरी। मोहि तोहि मोंति पोति कै जोरी॥
कँचन करी रतन नग बना। जहाँ पदारथ सोह न पना॥
तूँ रे राहु हौं ससि उजियारी। दिनहि कि पूजै निसि अँधियारी॥
ठाढ़ि होसि जेहि ठाइँ मसि लागै तेहि ठाउँ।
तेहि डर राँध न बैठों जनि साँवरि होइ जाउँ॥ ४४०॥

भावार्थ—पूर्व पद के अनुसार पद्मावती नागमती के आरोप-आक्षेपों का उत्तर देती हुई कहती है—

हे नागमती, मैं पद्मिनी हूँ; मानसरोवर की कमलिनी! भौंरे और हंस नित्य मेरी सेवा करते हैं। विधाता ने मेरी रचना, पूजा के योग्य की है। मैं मुनियों और शंकर के माथे पर चढ़ती हूँ। मुझसे सारा विश्व कमल-कली के रूप-नाम से भली भाँति परिचित है। मैं तुझ जैसी विषैली नागिन नहीं हूँ। तू संसार भर के साँपों की विलासिनी है। ऊपर कोयल सी होकर तू कौवों या दुष्ट नायकों से अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ती। आशय है कि दुष्ट लोगों से भी तेरा अनुचित प्रेम सम्बन्ध बना है। तू काली नागिन है और मैं गोरांगी हंसिनी हूँ। मैं मोती सी उज्ज्वल हूँ और तू काँच के पोत 'इमीटेशन' की जोड़ी जैसी है। सोने की कली में हीरे का नग ही सुशोभित होगा। माणिक्य या हीरा के साथ पन्ना नहीं सुहाता। यहाँ सोने की कली से आशय पद्मावती से है और हीरे के नग से आशय रत्नसेन से है। इन दोनों का मेल फबता है। पद्मावती कहना चाहती है कि मेरा और रत्नसेन का जोड़ा ही उचित है किन्तु रत्नसेन रूपी माणिक्य के साथ नागमती रूपी पन्ना का मेल अनुचित है। आगे पद्मावती कहती है—अरी नागमती, तू राहु है और मैं चाँद की चाँदनी

हूँ। क्या दिन की रोशनी से रात की अंधियारी समता कर सकती है ?—नहीं !

हे नागमती, तू जहाँ खड़ी होती है वहाँ स्याही पुत जाती है—तू इतनी कलूटी है। मैं तेरे निकट नहीं बैठती कि कहीं मैं भी काली न हो जाऊँ।

विशेष—प्रस्तुत पद में ऊहात्मकता अधिक है। किन्तु सौतिया डाह के मनोभावों का प्रकाशन प्रभावशाली हुआ है। अन्तिम पंक्ति में उक्ति चमत्कार विशिष्ट है।

शब्दार्थ—केवा=कमल। पोति=काँच का टुकड़ा या झूठा मोती जिसे इमीटेशन भी कहा जा सकता है। पना=पन्ना। मसि=स्याही। राँध=निकट। साँवरि=काली।

(४४१)

फूलु न कँवल भान के उएँ। मैल पानि होइहि जरि छुएँ ॥
भँवर फिरहिं तोरे नैनाहाँ। लुबुध बिसाँइधि सब तोहि पाहाँ ॥
मंछ कच्छ दादुर तोहि पासा। बग पंखी निसि बासर बासा ॥
जो जो पंखि पास तोहि गए। पानी महँ सो बिसाँइधि भए ॥
सहस बार जौं धोवै कोई। नबहूँ बिसाँइधि जाइ न धोई ॥
जौं उजियार चाँद होइ उई। बदन कलंक डोवँ कै छुई ॥
औ मोहि तोहि निसि दिन कर बीचू। राहु के हाथ चाँद के मीचू ॥
काह कहौं ओहि पिय कहँ मोहि पर धरेसि अँगार।
तेहि के खेल भरोसें तुइँ जीता मोरि हार ॥ ४४१ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में पद्मावती पर कटाक्ष करती हुई नागमती कहती है—

हे कमल, सूर्योदय होने से मन में गर्व न कर, सूर्य के स्पर्श से ही तेरे सरोवर का जल जलकर सूख जायगा और तू मलीन हो जायगा। जो भौंरे तेरे नेत्रों की तरह चंचल और लुब्ध हैं वे तेरे सड़ने की गन्ध के कारण हैं। मछली, कछुए और मेंडक भी सरोवर में तेरे साथ ही बसते हैं। बगुले और पक्षी भी रात-दिन तेरे पास रहते हैं। जो जो पक्षी तेरे सम्पर्क में आए वह पानी की कीचड़ की गन्ध से दुर्गन्धमय हो गए। कमल की दुर्गन्ध को यदि कोई हज़ार बार भी साफ करे तब भी वह नहीं जाती। तू तो निर्मल चन्द्र की भांति पैदा हुई, किन्तु तेरे मुख पर चन्द्र जैसा ही लोक बदनामी का कलंक है कि मानो तुझे डोम ने छू दिया हो। मेरे और तेरे मध्य दिन रात का अन्तर है। राहु के हाथों चाँद की हत्या अवश्य ही लिखी है। आशय यह है कि पद्मावती घृणित है और एक दिन वह अपमानित होगी।

नागमती ने कहा, और मैं उस पति के लिये क्या कहूँ जिसने तुझ सौत को यहाँ लाकर मेरी छाती पर अंगारे रख दिये। उसीके दुष्ट कृत्य के कारण तू जीत गई और मेरी हार हुई, या मेरा हार जीता गया। आशय यह है कि मेरे पति रत्नसेन की ही कमज़ोरी है कि तुझे यहाँ लाकर मेरी अवहेलना की—मुझे अपमानित होना पड़ा।

शब्दार्थ—फूलु = गर्व करना। भान = सूर्य। उएँ = उदय होने से। बिसाइधि = कमल की सड़ाँध। मीचू = हत्या।

(४४२)

तारे अकेल जीतेउँ का हारू। मैं जीता जग केर सिंगारू॥
बदन जीतेउँ जो ससि उजियारी। बेनी जीतेउँ भुअंगिनि कारी॥
लोयन जीतेउँ मिरिग के नैना। कंठ जीतेउँ कोकिल के बैना॥
भौंह जीतेउँ अर्जुन धनुधारी। गीवँ जीतेउँ तवँचूर पुछारी॥
नासिक जीतेउँ पुहुप तिल सूवा। सूक जीतेउँ बेसरि होइ उवा॥
दामिनि जीतेउँ दसन चमकाहीं। अधर रंग रबि जीतेउँ सबाहीं॥
केहरि जीति लंक मैं लीन्हा। जीति मराल चाल आइ दीन्हा॥
पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ परिमल अंग बसाइ।
तूँ नागिनि मोरि आसा लुबुधी मरसि कि हिरकौं जाइ॥४४२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने कहा—मैंने केवल तेरा ही हार क्या जीता है; मैंने तो सारे संसार का श्रृङ्गार जीत रक्खा है। मैंने अपने मुख की सुन्दरता से उजाले चाँद को भी जीत रक्खा है। अपनी चुटिया से काली नागिनी को पराजित किया है। अपने चंचल नयनों से मृग-नेत्रों को जीत रक्खा है। अपने मधुर कण्ठ से कोयल के बोलों को जीत रक्खा है। अपनी भौंहों से वीर, धनुषधारी अर्जुन को जीत रक्खा है। अपनी सुन्दर गर्दन से कुक्कुट और मोर को जीत रक्खा है। अपनी पतली नासिका से तिल के फूल और तोते को जीत रक्खा है। शुक्र तारे को मैंने जीता है, अतः वह मेरी नाक का बेसर बना झिलमिलाता है। अपनी दाँतों की चमक-उज्ज्वलता से मैंने चंचला को जीत रक्खा है। अपने अरुण अधरों के रंग से मैंने प्रातःकालीन सूर्य को जीत रक्खा हैं। अपनी पतली कमर से मैंने सिंह को जीता है अथवा उसकी पतली कमर को जीतकर मैंने प्राप्त किया है। हंस को जीतकर मैंने उसको अपनी चाल दे दी है।

पुष्पों की गंध और मलयगिरि चन्दन को जीतकर मैंने उनका परिमल अपने अंगों में बसाया है। तू नागिन सी मेरी इन समस्त विशेषताओं से परिलुब्ध होकर चाहती है कि मुझसे लिपटकर जान दे दे।

विशेष—प्रस्तुत पद में श्रृङ्गार वर्णन रीतिकालीन परम्परा के अनुकूल है। समस्त उपमानों की हीनता, उपमेय पद्मावती के अंग-सौन्दर्य-वर्णन द्वारा सिद्ध की गई है।

शब्दार्थ—बदन = मुख। वेनी = चोटी। लोयन = नेत्र। बैना = वचन। गीवँ = गर्दन। तवंचूर = कुक्कुट, मुर्गा। लंक = कमर। मराल = हंस। पहुप = फूल। बास = सुगंध। हिरकौं = लपटना।

(४४३)

का तोहि गरब सिगार पराएँ। अबहीं लेंहि लूसि सब ठाएँ।।
हौं साँवरि सलोनि सुभ नैना। सेत चीर मुख चात्रिक बैना।।
नासिक खरग फूल धुव तारा। भौंहें धनुक गँगन को पारा।।
हीरा दसन सेत औ स्यामा। छपै बिज्जु जौ बिहँसै रामा।।
बिद्रुम अधर रंग रस राते। जूड़ अमीं अस रबि परभाते।।
चाल गयंद गरब अति भरी। बिसा लंक नागेसरि करी।।
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का गोरी सरबरि कर फीकी।।
पहुप बास हौं पवन अधारी कँवल मोर तरहेल।
जब चाहौं धरि केस ओनावौं तोर मरन मोर खेल।।४४३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती ने कहा—हे पद्मावती, तू अन्य के शृङ्गार पर क्या अभिमान करती है? जिनका यह शृङ्गार है वह अभी उसे सब तरफ से लूट ले जायँगे। मैं श्यामल अवश्य हूँ, पर मैं सुन्दर हूँ, मेरे नेत्र शुभ हैं, मेरे वस्त्र सादे और श्वेत हैं, मेरे मुख में चातक जैसे प्रियतम के लिये मीठे वचन हैं, मेरी नासिका खड्ग के समान है, जब कि तेरी तुच्छ तिल-पुष्प के समान है। मेरी नाक का फूल ध्रुव के समान अटल है, जबकि तेरी नाक का फूल शुक्र के समान अशुभ है। मेरी भौंहों का सौंदर्य आकाशी इन्द्रधनुष से भी अधिक है, जबकि तेरी भौंहें क़ातिल अर्जुन के धनुष की तरह है। मेरे दाँत हीरे से प्रोज्ज्वल हैं, जिनमें मिस्सी की श्यामता है; जबकि तेरे दाँतों की ज्योति चंचल क्रूर बिजली की चमक की तरह है। मैं जब हँसती हूँ तो लजाकर बिजली भी छिप जाती है। मेरे ओठों के रंग-रस से विद्रुम लाल हुए हैं, जबकि तेरे अधरों की रक्तिमा प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा की तरह क्षणिक है। मेरे अधारमृत से शीतल और सूर्य से तेजोमय हैं। मेरी चाल गर्व भरे हाथी की भाँति है, स्वाभिमान से पूर्ण है; जबकि तेरी चाल पक्षी हंस के समान अस्वाभाविक है। मेरी कटि बर्र के समान क्षीण है, जबकि तेरी कटि सिंह के समान भयानक है। जो साँवली होने पर पर भी सुन्दरी और गुणवाली है, उसकी समता नीरस, गुणहीन केवल गोरांगी क्या करेगी ?

नागमती ने कहा, मैं पुष्प की सुगंध जैसी, केवल वायु के आधार पर जीती हूँ। हे कमल रूपी पद्मावती ! तू सब भाँति मुझसे हीन है। मैं जब चाहूँ, पटरानी होने के नाते, तेरे बाल घसिटवा कर तुझे अपने पास बुलवा लूँ। तेरी मृत्यु मेरे लिये खेल हो सकती है।

शब्दार्थ—पराए=अन्य के। लूसि=चुराना, लूटना। चात्रिक=चातक। बैना =वचन, बोल। दसन=दाँत। सेत=श्वेत। जूड़=शीतल। अमीं=अमृत। गयंद= हाथी। बिसा=बर्र। लंक=कमर। तरहेल=हीन, पराजित।

(४४४)

पदुमावति सुन उतर न सही। नागमती नागिन जिमि गही।।

ओइँ ओहि कहँ ओइँ ओहि कहँ गहा। गहा गहनि तस जाइ न कहा।।
दुऔ नवल भर जोबन गाजीं। अछरीं जानु आखारें बाजीं।।
भा बाँहनि बाँहनि सौं जोरा। हिया हिया सों बाग न मोरा।।
कुच सौं कुच जौं सौंहें आने। नवहिं न नाए टूटहि ताने।।
कुंभ स्थल जेउँ गज मैमंता। दूनौ अल्हर भिरे चौदंता।।
देव लोक देखत मुए ठाढ़े। लागे बान हियँ जाहिं न काढ़े।।
जानहुँ दीन्ह ठग लाड़ू देखि आइ तस मींचु।
रहा न कोई धरहरिया करै जो दुहुँ महँ बीचु।।४४४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नागमती का कटाक्ष सुनकर पद्मावती ने कोई उत्तर न दिया। नागिन की तरह उसने नागमती को झपट कर जकड़ लिया। क्रोध में उसने उसको एवं उसको उसने पकड़ लिया। कविवर जायसी कहते हैं कि जिस प्रकार उन दोनों में धरपकड़ हुई उसके विषय में कुछ नहीं कहा जाता। दोनों पूरे यौवन के ज़ोर से भरी गरज रही थीं। लगता था, मानो दो अप्सराएँ दंगल में भिड़ने के लिये आ उतरी हों। पहले दोनों की भुजाओं का ज़ोर एवं टकराव हुआ। फिर वक्ष से वक्ष भिड़ा और कोई भी पीछे न हटती थी। समक्ष स्तनों से स्तन भिड़ गए। चोली के बंद टूट गए किन्तु वे झुकने या हारने को तैयार न थे। जैसे दो बिगड़े हुए हाथी अपने कुंभस्थलों को भिड़ाकर चौदन्तों (चारदातों) से टकराते हैं इसी प्रकार वे दोनों भिड़ गईं। देवता लोग प्राण शून्य, स्तब्ध हुए देवलोक से युद्ध देख रहे थे। इन्हें देखकर उनके हृदय में जो काम बाण लगे, वे निकाले नहीं जा सकते।

कविवर जायसी कहते हैं कि मानो उन्हें ठगलड्डू दिए गए हों, उनकी मृत्यु आती हुई दीख रही थी। कोई ऐसा मध्यस्थ 'धरहरिया' नहीं था, जो उन दोनों का बीच बचाव करता।

विशेष—दो सुन्दर सौतों का परस्पर झगड़ा-फिसाद यहाँ चित्रवत उतारा गया।

"देवलोक देखत मुए ठाढ़े। लागे बान हियँ जाहिं न काढ़े।"

उक्ति में नग्न स्त्रियों को देखकर जो स्वाभाविक कामवासना जाग्रत होती है, यही देवताओं में हुई व्यक्त की गई है। यह कवि की काम मनोवैज्ञानिक वृत्ति की सहज पैठ कही जायगी, जिसमें सत्यता और प्रभाव दोनों हैं।

शब्दार्थ—गहागहनि=धर पकड़। बाग न फेरा=पीछे न हटना। ताने=चोली के बन्द के डोरे। अल्हर=मस्त। चौदंत=दो हाथियों के भिड़ने से जो चार दाँत का युद्ध-दृश्य होता है।

(४४५)

पवन स्रवन राजा के लागा। लरहिं दुऔ पदुमावति नागा।।
दुऔ सम साँवरि औ गोरी। मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी।।
चलि राजा आवा तेहि बारीं। जरत बुझाई दूनौ नारीं।।

एक बार जिन्ह पिउ न बूझा। काहे कौं दोसरे सौं जूझा॥
अँस ज्ञान मन जान न कोई। कबहूँ रात कबहुँ दिन होई॥
धूप छाँह दुइ पिय के रंगा। दूनौं मिली रहहु एक संगा॥
जूझब छाँड़हु बूझहु दोऊ। सेव करहु सेवाँ कछु होऊ॥
तुम गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ औ मानहु सुख भोग॥४४५॥

भावार्थ—पद्मावती और नागमती के सौतिया संघर्ष के प्रसंगानुसार—

हवा में उड़ती-उड़ती यह बात राजा के कानों तक पहुँची कि पद्मावती एवं नागमती रानियाँ बुरी तरह झगड़ रही हैं। तब राजा ने विचारा कि मेरे लिये काली और गोरी दोनों ही का पद बराबर है। यदि वे दोनों रानियाँ झगड़कर मर गईं तो मुझे ऐसी सुन्दर पत्नी की जोड़ी कहाँ मिलेगी? राजा चलकर उस बगीची में आया और क्रोध में जलती झगड़ती उन दोनों सुन्दरियों को समझाया बुझाया। राजा ने कहा, जिन स्त्रियों ने एक बार अपने पति के मन को भली भाँति समझ लिया है, वह भला क्यों एक दूसरे से झगड़ा करेंगी? इस सत्य-ज्ञान को कोई मन में नहीं जानता कि कभी रात होती है और कभी दिन होता है। धूप और छाया, दोनों ही प्रियतम के रंग की हैं; अतः तुम दोनों मिलकर रहो! आशय यह है कि सच्चा ज्ञान इसी में है कि दोनों पत्नियाँ यह जान लें कि जैसे रात दिन और धूप-छाँह का अस्तित्व इस संसार में समान है इसी भाँति पति के लिये दोनों पत्नियों का महत्व भी समान है। राजा ने कहा, तुम दोनों को यह बात जानते हुए झगड़ा नहीं करना चाहिये। तुम दोनों लड़ना छोड़ो और अपने-अपने महत्व को समझो, मेरी सेवा करो और उससे ही कुछ अच्छा हो सकता है।

कविवर जायसी कहते हैं; हे नारियो, तुम दोनो गंगा-जमुना के समान हो। तुम्हारे लिये परस्पर योग, संयम और प्रेम आवश्यक है। दोनों मिलकर सेवा करो और सुख का भोग भोगो।

विशेष—अंतिम पंक्तियों में कुछ योग-परक संकेत हैं। दोनों 'नारी' से आशय इड़ा-पिंगला से है। इसी प्रकार राजा जीव-प्राण का संकेत है। किंतु यहाँ कथा प्रसंग के अनुकूल स्पष्ट दिया गया भावार्थ ही जानना उचित होगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

नोट—**३७ वाँ "रत्नसेन सँतति खण्ड" का एक छंद का प्रक्षिप्त है, अतः नहीं दिया गया।**

३८--राघवचेतन देस निकाला खण्ड

(४४६)

राघौ चेतनि चेतनि महा। आइ ओरँगि राजा के रहा।।
चित चिता जानै बहु भेऊ। कबि बियास पंडित सहदेऊ।।
बरनी आइ राजा कै कथा। सिंघल कबि पिंगल सब मथा।।
कवि ओहि सुनत सीस पै धुना। स्रवन सों नाद बेद कबि सुना।।
दिस्टि सो धर्म पंथ जेहि सूझा। ग्यान सो परमारथ मन बूझा।।
जोग सो रहै समाधि समाना। भोग सो गुनी केर गुन जाना।।
बीर सो रिस मारैं मन गहा। सोइ सिंगार पाँच भल कहा।।
बेद भेद जस बररुचि चित चिता तस चेत।
राजा भोज चतुर्दस बिद्या भा चेतन सौं हेत।।४४६।।

भावार्थ—ब्राह्मण राघव चेतन बड़ा चतुर था। वह चित्तौड़ आकर अपने चातुर्य से राजा के राजदरबार में विद्वानों के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ। वह मन से बड़ा विचारक एवं अनेक रहस्यों का ज्ञाता था। वह कवि व्यास एवं पण्डित सहदेव की भाँति प्रतिभाशाली तथा विद्वान था। उसने आकर राजा को एक काव्य-कथा सुनाई। सिंहल द्वीप सम्बन्धी उस काव्य में उसने सारा पिंगल या छन्द शास्त्र मथकर उसका सार तत्व प्रकट किया। उसे सुनकर वहाँ वे कवि अपनी लघुता के भाव से सिर धुनने लगे। उन्हें लगा कि अपने कानों से उन्होंने उस कवित्त में वेद का अनहद नाद सुना है—ब्रह्म-सहोदर आनन्द प्राप्त किया है जिसे राघव चेतन ने प्रकट किया। वही दृष्टि दर्शन सफल है जिससे धर्म का मार्ग दिखलाई पड़े। वही सत्य ज्ञान है जिससे परमार्थ करने के लिये मन प्रवृत्त हो। वही भोग है, जिसमें कलावंतों की कला का आनंद उठाया जाय। योग वही है जिससे निश्च्छल संयमित समाधिस्त सा रहा जाय। वीर वही है जो क्रोध को मारकर मन को वश में रक्खे। वही शृंगार-सौन्दर्य है, जिसे पाँच आदमी (पञ्च परमेश्वर) अच्छा कहें।

कविवर जायसी कहते हैं कि राघवचेतन ने महापण्डित वररुचि के समान अपने चित्त से वेद के रहस्य का चिन्तन मनन किया था। अतः वैसा ही ज्ञानवन्त उसका चेतन मन था। राजा रत्नसेन भोज की भाँति चौदह विद्याओं का प्रवीण था; अतः उसे सुयोग्य पण्डित राघव चेतन से अपनत्व जुड़ गया था।

शब्दार्थ—चेतनि=चतुर। ओरँगि=सिंहासन। बियास=व्यास जी। सहदेऊ =सहदेव जी। बरनी=वर्णन की। कै=के लिये। रिस=क्रोध।

(४४७)

घरी अचेत होइ जौं आई। चेतन कर पुनि चेत भुलाई ॥
भा दिन एक अमावस सोई। राजैं कहा दुइज कब होई ॥
राघौं के मुख निकसा आजू। पँडितन्ह कहा कालिह बड़ राजू ॥
राजैं दुहूँ दिसा फिरि देखा। को पंडित बाउर को सरेखा ॥
पैंज टेकि तब पँडितन्ह बोला। झूठा बेद बचन जौं डोला ॥
राघौं करत जाखिनी पूजा। चाहत सो रूप देखावत दूजा ॥
तेहि बर भए पैंज के कहा। झूठ होइ सो दोस न रहा ॥
राघौ पूजा जाखिनी दुइज देखावा साँझ।
पंथ गरंथ न जे चलहिं ते भूलेंहि बन माँझ ॥ ४४७ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

कविवर जायसी कहते हैं कि जब दुःख की घड़ी आने को होती है तो चतुर बुद्धिमान की भी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। एक दिन आया कि जब अमावस थी। राजा ने पंडितों से पूछा—हे पंडितो, दोयज कब की है? सहसा राघव ने मुख से कह दिया—आज! पंडितों ने कहा, नहीं महाराज, कल है। राजा ने यह विरोध देख दोनों की ओर घूमकर देखा कि दोनों पंडितों में कौन मूर्ख है और कौन बुद्धिमान है? तब प्रतिज्ञापूर्वक पंडितों ने कहा—यदि हमारा कहना झूठा हो तो वेद का वचन झूठा है। हमने शास्त्र-सम्मत बात कही है। राघव यक्षिणी की पूजा करता था। उसकी सिद्धि के कारण, जब चाहता था वह यक्षिणी किसी भी वस्तु का दूसरा रूप दिखा देती थी। उसकी शक्ति के विश्वास-बल से राधव ने भी सशपथ कहा—अच्छा हममें से जिसका कहना झूठ सिद्ध हो, वह देश छोड़ देगा।

इस प्रकार राघव ने यक्षिणी की पूजा की और सन्ध्या काल में ही लोगों को दोयज का चन्द्र-दर्शन करा दिया। कविवर जायसी संकेत देते हैं कि जो शास्त्र मार्ग पर नहीं चलते वह वन-निर्जन में भटक जाते हैं। आशय है कि शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले लोगों की बुद्धि मलीन हो जाती है और अन्त में वह अपने किये का दुख पाते हैं।

शब्दार्थ—चेतन कर=चतुर की भी। चेत=बुद्धि। बाउर=पागल, मूर्ख। सरेखा=बुद्धिमान। पैंज=प्रतिज्ञा। जाखिनी=यक्षिणी। बर=बल।

(४४८)

पंडित कहहिं हम परा न धोखा। यह सो अगस्ति समुँद जेइँ सोखा ॥
सो दिन गएउ साँझ भौ दूजी। देखिअ दूजि धरी वह पूजी ॥
पंडितन्ह राजहिं दीन्ह असीसा। अब कसिअइ कंचन औ सीसा ॥
जौं वह दूजि कालिन्ह कै होती। आजु तीजि देखिअति तसि जोती ॥
राघौ कालिह दिस्टि बँध खेला। सभा मोहि चेटक सिर मेला ॥
एहि कर गुरू चमारिन लोना। सिखा काँवरू पाढ़ित टोना ॥

दूजि अमावस महँ जो देखावै। एक दिन राहु चाँद कहँ लावै।।
राज बर अस गुनी न चाहिअ जेहि टोना कर खोज।
एहि छंद ठग विधा डहँका राजा भोज।। ४४८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

पंडितों ने कहा, हम कभी धोखे में नहीं आए। हमारा शास्त्र-वचन कभी मिथ्या नहीं जाता। यह राघव उस अगस्त मुनि की भाँति है जिसने सागर सोख लिया था,—यह ब्राह्मण तांत्रिक लम्पट मालूम होता है। वह दिन बीत गया और दूसरी सन्ध्या आई। जब घड़ी हुई तो वही दोयज का वास्तविक चन्द्रमा दिखलाई दिया। पंडितों ने राजा को आशीर्वाद देते हुए कहा, महाराज ! अब आप स्वर्ण और सीशे को सत्य की कसौटी पर ज़रा कसिए,—वह दोयज का सच्चा चन्द्र देखिए ! यदि वह दोयज कल हो गई होती तो आज तीज के चन्द्रमा की ज्योति झलकती दिखलाई देती। राघव ने कल दृष्टि को बाँधकर खेल रचा और छला था। उसने सभा को पागल बनाकर सिर पर जादू फेर दिया था। इस ब्राह्मण की गुरू, कामरूप की लोना चमारिन है। यह ब्राह्मण चंडाल है। यह कामरूप देश से जादू सीख-पढ़कर यहाँ आया है। हे महाराज, जो दूज को अमावस्या में ही दिखा सकता है, वह अविश्वासी चंडाल किसी दिन चंद्र के ग्रसने के लिये राहु भी ला सकता है। आशय है कि हे राजा, वह आपकी हत्या भी करा सकता है।

पंडितों ने कहा, राज दरवार में इस तरह चांडाल गुणी की अपेक्षा नहीं जो इस प्रकार की अनहोनी बात जादू-टोने से पैदा करके सबको धोखा दे। इसी प्रकार के छल-छिद्र और ठग-विद्या के धोके से राजा भोज भी ठगे गए थे।

शब्दार्थ—चेटक = जादू, इन्द्रजाल। लोना = कामरूप की प्रसिद्ध जादूगरनी चमारिन का नाम। डहँका = ठगे गए।

(४४९)

राघौ बैन जो कंचन रेखा। कसें बान पीतर अस देखा।।
अग्याँ भई रिसान नरेसू। मारौं काह निसारौं देसू।।
तब चेतन चित चिंता गाजा। पंडित सो जो बेद मति साजा।।
कबि सो पेम तंत कबिराजा। झूँठ साच जेहि कहत न साजा।।
खोट रतन सेवा फटिकरा। कहँ खर रतन जो दारिद हरा।।
चहै लच्छि बाउर कबि सोई। जेहि सुरसती लच्छि कित होई।।
कबिता सँग दारिद मति भंगी। काँटइ कुटिल पुहुप के संगी।।
कबिता चेला बिधि गुरू सीप सेवाती बुंद।
तेहि मानुस कै आस का जो मरजिआ समुंद।। ४४९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

कविवर जायसी कहते हैं कि राधव का दोयज वाला झूठा कथन जो कंचन-रेखा की भाँति प्रतीत हुआ था, सत्य की कसौटी पर कसने से वह पीतल के रंग का प्रतीत होने

लगा। राजा ने क्रोधित होकर आदेश दिया—बताओ पंडितो, इसे बध करूँ या देश निकाला दूँ ? उस समय राघव को यह अहसास हुआ कि सच्चा पंडित वही है जो वेद सम्मत अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है। महाकवि वह है जो प्रेम-तत्व पर काव्य रचना करे एवं झूँठ सच वर्णन में उसकी अपनी कोई आसक्ति न होवे। आशय यह है कि महाकवि को प्रेम-तत्व के प्रकाशन में रत रहना चाहिये उसके लिये, यदि उसे अपने काव्य में कुछ झूठ-सत्य का प्रलेपन भी करना पड़ जाय तो उसके प्रति उसका निरपेक्ष भाव ही रहे। राघव विचार रहा है, पर मैंने खोटे रत्न को सहेजा, सँवारा ! वह असल रत्न मेरे पास कहाँ था जो मेरे दारिद्रय को सर्वदा के लिये दूर करता। जो लक्ष्मी की इच्छा करे, ऐसा कवि पागल है। जिसके पास सरस्वती है भला उस कवि के पास सौत लक्ष्मी कैसे आ सकती है ? कविता के साथ बुद्धि को कुंठित बनाने वाला दारिद्रय इसी प्रकार से लगा हुआ है जैसे पुष्प के साथ तीखे काँटे होते हैं।

राघव सोच-पछता रहा है,—ब्रह्मा रूपी गुरू से कविता प्रेमी के पास कविता इस प्रकार आती है जैसे कि स्वाँति बूँद सीप में उतरती है। वह कवि, जो विशाल सागर की छाती के भीतर गोता मारकर, घुसकर,—मूल्यवान मोती लाता है, वह संसार के मनुष्य से किसी प्रकार की क्यों आशा करे ?

विशेष—प्रस्तुत अंश में कविवर जायसी ने राघव जैसे निंद्य कवि के माध्यम से एक सद् कवि की स्थिति, दिशा और उसके सत्य का वर्णन किया है। संक्षेप में कविवर जायसी के अनुसार कवि का धर्म प्रेम है, उसका कर्म निर्लिप्त भाव से रचना करना है, उसका जन्म गुरू ईश्वर है, वह प्रभु का वरदान है ! वह सरस्वती का आराधक है। अतः संसारिक लक्ष्मी का उसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं। वस्तुतः कवि की परिभाषा के लिये कविवर जायसी का यह पद कहीं भी उद्धरणीय है।

शब्दार्थ—सरल है।

(४५०)

यह रे बात पदुमावनि सुनी। चला निसरि कै राघौ गुनी॥
कै गियान धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा॥
जेइँ जाखिनी पूजि ससि काढ़ी। सुरुज के ठाउँ करै पुनि ठाढ़ी॥
कबि कै जीभ खरग हिरवानी। एक दिसि आग दोसर दिसि पानी॥
जनि अजगुत काढ़ै मुख भोरें। जस बहुतें अपजस होइ थोरें॥
राघौ चेतन बेगि हँकारा। सुरुज गरह भा लेहु उतारा॥
बाँभन जहाँ दखिना पावा। सरग जाइ जौं होइ बोलावा॥
आवा राघौ चेतनि धौराहर के पास।
अंस न जानै हिरदै बिजुरी बसै अकास॥४५०॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग में—

जब गुणी राघव चेतन के जानेवाली बात पद्मावती ने सुनी कि वह चित्तौड़ से

निकलकर जा रहा है, तब उस बाला ने सब बातों पर विचार करके भविष्य के भले-बुरे का ध्यान किया और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि राजा ने यह अच्छी बात नहीं की जो ऐसे गुणवान को अपने यहाँ से निकाल दिया। जिसने यक्षिणी की पूजा करके चन्द्रोदय दिखा दिया वह कभी कहीं चन्द्र को सूरज के समक्ष भी अपनी शक्ति से खड़ा कर सकता है। आशय यह है कि राघवचेतन भला भी तो कर सकता है, क्योंकि उसके पास यक्षिणी की बड़ी शक्ति है। कवि की जीभ हिरवानी तलवार की भाँति बड़ी अद्‌भुत होती है कि जिससे एक ओर आग होती है और दूसरी ओर पानी (सान) होता है। उसने सोचा, यह मूर्ख राघव चेतन यहाँ के विषय में अनुचित बात कहीं न कर दे। संसार में यश तो बहुत कुछ करने पर मिलता है किन्तु अपयश थोड़ी-सी बात पर मिल जाता है। ऐसा विचार कर उसने शीघ्रता से राघव चेतन को बुलाया और कहलाया—सूर्यग्रहण का कष्ट हुआ है; उसकी पूजा लो या दान दक्षिण (उतारा) लो। (यह कहलवाकर पद्मावती ने ब्राह्मण की लालची वृत्ति को प्रकट किया है; ताकि राघव सूर्यग्रह का दान लेने फिर वापस आ जाय) कविवर जायसी कहते है कि ब्राह्मण को जहाँ दक्षिणा मिलने की आशा हो; वह स्वर्ग के बुलावे पर भी वहाँ चला जायगा।

इस लालच से राघव चेतन धवल गृह के पास आया। उसे यह न पता था कि ऊपर आकाश में चंचला रहती है—महल के ऊपर अति सुन्दरी चंचला सदृश पद्मावती रहती है!

शब्दार्थ—निसरि=निकल। अजुगत=अनुचित। हँकारा=बुलवाया। गरह =ग्रह।

(४५१)

पदुमावति सो झरोखें आई। निहकलंक जसि ससि देखराई॥
तेतखन राघौ दीन्ह असीसा। जनहुँ चकोर चंद मुख दीसा॥
पहिरें ससि नखतन्ह कै मारा। धरती सरग भएउ उजियारा॥
औ पहिरें कर कंगन जोरी। लहै सो एक एक नग नव कोरी॥
कंगन काढ़ि सो एक अडारा। काढ़त हार टूटि गौ मारा॥
जानहुँ चाँद टूट लै तारा। छूटेउ सरग काल कर धारा॥
जानहुँ सुरुज टूट लै करा। परा चौंधि चित चेतनि हरा॥
परा आइ भुँइँ कंगन जगत भएउ उजियार।
राघौ मारा बीजुरी बिसँभर कछु न सँभार॥४५१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती गवाक्ष पर आई तो राघव को वह कलंक रहित उज्ज्वल शशि-सी दृष्टिगोचर हुई। तभी राघव ने उसे अशीश दी। वह उसके मुख-मण्डल को इस प्रकार निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा मानो चकोर चन्द्रमा को देखता हो। शशि रूप पद्मावती मानो तारों की माला पहिने थी, जिससे धरती और आकाश में उजाला हो गया। वह

हाथों में कंगन की जोड़ी पहिने हुये थी। एक-एक कंगन में नौ-नौ रत्न तरतीब से जड़े गये थे। उनमें से पद्मावती ने एक कंगन राघव के लिये उतारकर फेंक दिया। उसे फेंकने-उछालने में वह गुँथे हार का सूत्र टूट गया। तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो चाँद अपने तारागणों के साथ टूटकर गिरा हो, अथवा आकश से काल की धारा फूट पड़ी हो—विद्यतपात हुआ हो। अथवा सूर्य अपनी कलाओं के साथ टूटकर गिरा हो। इस घोर चमक से चौंधियाकर राघव चेतन अचेत हो गया।

कंगन पृथ्वी पर आ गिरा और उससे संसार में प्रकाश फैल गया। राघव चेतन पर मानो बिजली गिर गई। वह सुध बुध खोये, मूर्छित हो गया; गिर पड़ा।

विशेष—कंगन के विषय में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है किन्तु उक्ति चमत्कार प्रभावशाली है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४५२)

पदुमावति हँसि दीन्ह झरोखा। अब तो गुनी मरइ मोहिं दोखा।।
सखी सरेखी देखहिं धाई। चेत अचेत परा केहि घाई।।
चेतन परा न एकौ चेतू। सबन्हि कहा एहि लाग परेतू।।
कोइ कह काँप आहि सनिपातू। कोइ कह आहि मिरिगिया बातू।।
कोइ कह लाग पवन कर झोला। कैसेहुं समुझि न राघौ बोला।।
पुनि उठारि बैसारिन्हि छाहाँ। पूँछहि कौन पीर जिय माहाँ।।
दहुँ काहू के दरसन हारा। कै एहि धूत भूत छंद छारा।।
कै तोहि दीन्ह काहु किछु कै रे डसा तूं सांप।
कहु सचेत होइ चेतन देह तोरि कस काँप।।४५२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती ने राघव पर हँसते हुये गवाक्ष को बन्द कर दिया। उसने विचारा, अब यदि यह गुणवान ब्राह्मण मर गया तो मुझे दोष लगेगा। सखी-सहेलियाँ यह देखने के लिये दौड़ीं कि राघव चेतन किसके घाव से अचेत होकर गिर पड़ा? वह ऐसा गिरा कि उसे कुछ भी होश न रहा। सबने बताया कि इस पर भूत-प्रेत चिपट गया है। किसी ने कहा इसे मिरगी आती है, बात रोग है। किसी ने कहा इसे बर्फीली हवा का झोंका लगा है, सन्निपात या निमोनिया हो गया है। किसी भी उपचार से राघव न बोला, अचेत ही रहा। फिर सबने मिलकर उसे छाया में बिठलाया। पूछा, बताओ तुम्हारे मन में क्या कष्ट है? क्या किसी के दर्शनों ने तुम्हारा मन चुरा लिया है?—अथवा किसी धूर्त भूत ने छल-कपट से तुम्हें छला है?

अथवा किसी ने तुम्हें कुछ विषादि खिला दिया है अथवा तुम्हें सर्प ने डस लिया है? सखियों ने कहा—हे चेतन! चैतन्य हो और तूम्हारा शरीर क्यों काँपता है?

शब्दार्थ—दीन्ह = बन्द किया। दोखा = दोष। परेतू = प्रेत। सनिपातू = सन्निपात रोग। घाई = घाव। झोला = ठंडी हवा।

(४५३)

भएउ चेत चेतन तब जागा। बकत न आव टकटका लागा।।
पुनि जौं बोला बुधि मति खोवा। नैन झरोखा लाएँ रोवा।।
बाउर बहिर सीस पै धुना। आप न कहै पराए न सुना।।
जागहुँ लाई काहुँ ठगौरी। खिन पुकार खिन बाँधै पौरी।।
हौं रे ठगा एहि चितउर माँहा। कासौं कहौं जाउँ केहि पाहाँ।।
यह राजा सुठि बड़ हत्यारा। जेइँ अस ठग राखा उजियारा।।
ना कोइ बरज न लाग गोहारी। अस एहि नगर होइ बटवारी।।
दिस्टि दिए ठगलाडू अलक फाँस परी गींव।
जहाँ भिखारी न बाँचहि तहाँ बाँच को जीव।।४५३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

जब होश आया तो राघव चेतन जाग गया। उसके मुख से बोल न निकलता था और वह विस्फारित नेत्रों से सबको टकटकी बाँधकर देख रहा था। फिर ज्यों वह बोला तो लगा कि उसकी मति-बुद्धि एवं चेतना खोई हुई थी। वह अपनी आँखों को ऊपर गवाक्ष की ओर लगाये बस रोता था। पागल बहरा-सा वह सिर धुनता था। न किसी से कुछ अपनी बात कहता था और न किसी की बात सुनता था। लगता था मानो उसपर किसी ठग-जादूगर ने जादू-टोना मार दिया था। वह क्षण में पुकार करता और क्षण में ऐंठी-ऐंठी मुट्ठियाँ भींचता था। वह कहता था—मैं इस चित्तौड़ में ठगा-लूटा गया हूँ। न्याय के लिये किससे कहूँ, किसके पास जाऊँ? यहाँ का यह राजा बड़ा भारी चांडाल है, जिसने खुल्लमखुल्ला ऐसे विकट ठग को अपने राज्य में बसा रक्खा है। न तो कोई उसे रोकता है और न उसके विरुद्ध कोई पुकार ही सुनी जाती है। इस चित्तौड़ नगर में पथिक इसी भाँति खुलेआम लूटे जाते हैं, और कोई इन्साफ, सुरक्षा नहीं।

उसकी (पद्मावती की) नज़रों ने मुझे ठग लड्डू खिला दिये। उसकी अलकें मेरी गर्दन में फाँसी-सी पड़ गई। वहाँ, जहाँ भिखारी तक बचकर नहीं जाते, तो कोई दूसरा प्राणी कैसे बच सकता है?

शब्दार्थ—बकत = बोल। टकटका = स्थिर दृष्टि। बुधि = विचार शक्ति। मति = ज्ञान शक्ति। ठगौरी = ठग विद्या। गुहारी = सहायतार्थ पुकार।

(४५४)

कत धौराहर आइ झरोखें। लै गै जीव दक्खिना धोखें।।
सरग सूर ससि करै अँजोरी। तेहि तें अधिक देउँ केहि जोरी।।
ससि सूरहि जौं होति यह जोती। दिन भा रहत रैनि नहिं होती।।
सो हँकारि मोहि कंगन दीन्हा। दिस्टि न परै जीव हरि लीन्हा।।
नैन भिखारि ढीठ सत छाँड़े। लागे तहाँ बान बिखु गाड़े।।
नैनहि नैन जो बेधि समाने। सीस धुनहिं नहिं निसरहिं ताने।।

नवहिं न नाएँ निलज भिखारी। तबहूँ न रहहिं लागि मुख कारी ॥
कत करमुखे नैन भएँ जीव हरा जेहि बाट।
सरवर नीर बिछोह जेउँ तरकि तरकि हिय फाट ॥४५४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राघव चेतन कह रहा है—

वह पद्मावती अपने धवलगृह से झरोंखे में क्यों आई? दक्षिणा देने के धोखे में वह मेरे प्राण ले गई। सूर्य-चाँद आकाश में ज्यों प्रकाश करते हैं उनसे अधिक प्रकाश उसका था; अतः उसकी उपमा मैं किससे दूँ? सूर्य और चन्द्र में यदि उसका जैसा अनूठा प्रकाश होता तो संसार में कभी रात न होती, सदा दिन ही दिन रहता। उसने मुझे बुलाकर अपनी गोरी बाँह का कंगन तो दिया, किन्तु नज़र भी न पड़ी, कि मेरा प्राण हर ले गई। ढीठ भिखारी से बने मेरे नेत्र अपना स्वाभिमान छोड़कर वहाँ जा लगे जहाँ उसके विष से बुझे कटाक्ष के बाण गढ़े थे। विष बाण रूपी बरौनियों वाले उसके नेत्र मेरे नेत्रों को बींधकर इस भाँति समा गये हैं कि सिर धुनते हैं किन्तु उनसे खींचने पर भी निकल नहीं पाते। ये निर्लज्ज भिखारी से नेत्र ऐसे हैं कि झुकाने पर भी नीचे नहीं झुकते। यह फिर भी नहीं मानते जब कि इनके मुख में उसके क़ातिल काजल की कालिख लग गई है।

मेरे ये नेत्र कलमुखे क्यों हो गए? सम्भवतः इसीलिये कि मेरा प्राण इन्हीं के मार्ग पर ही हरा गया है। जिस भाँति जल के सूख जाने पर सरोवर में कीच की दरारें पड़ जाती हैं, उसी भाँति मेरा हृदय भी तड़फ-तड़फ कर फटा जा रहा है।

विशेष—यहाँ पर सूफी ढंग की रहस्यवादी व्यंजना भी है। पद्मावती के 'नूर' के सम्बन्ध में प्रस्तुत पंक्ति पठनीय है—

"ससि सूरहि जौं होति यह जोती। दिन भा रहत रैनि नहिं होती।"

इस प्रकार के रूप सौन्दर्य सम्बन्धी चित्रण में जायसी का काव्य-सौष्ठव अनूप होकर जगमगा उठा है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४५५)

सखिन्ह कहा चेतनि बिसँभरा। हिएँ चेतु जिय जासि न मरा ॥
जौं कोइ पावै आपन माँगा। ना कोइ मरै न काहू खाँगा ॥
वह पदुमावति आहि अनूपा। बरनि न जाइ काहु के रूपा ॥
जेइँ चीन्हा सो गुपुत चलि गएऊ। परगट काहु जीव बिनु भएऊ ॥
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए। धुनि धुनि सीस जीव दै गए ॥
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गीवा। उतरु न देइ मार पै जीवाँ ॥
तूँ पुनि मरब होब जरि भुई। अब उघेलु कान कै रूई ॥
कोइ माँगि मरै नहिं पावै कोइ बिनु माँगा पाउ।
तूँ चेतनि औरहि समुझावहि दहु तोहि को समुझाउ ॥४५५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती की सहेलियों ने कहा—अरे बेसुध चेतन, हृदय में कुछ सोच तो सही, योंही मरा मत जा ! यदि कोई अपनी इच्छानुसार पा सकता तो दुनिया में न किसी की मृत्यु होती और न किसी को कोई अभाव सताता। वह पद्मावती महान रूपवती है। उसके रूप की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। जिसने उसके रूप रहस्य को जान लिया वह मौन चुपचाप चला गया, फिर वह अपने अहम भाव की क्या बात प्रकट करे, वह तो स्वयं प्राण रहित हो जाता है। व्यंजना से आशय यह है कि जिस प्रेमी जीव ने उस ईश्वर रूपी पद्मावती को पहचान लिया फिर उसके पास अपना कहने और प्रकट करने के लिये कुछ नहीं रह जाता—वह उसी के साथ एकाकार हो जाता है। सखियों ने आगे कहा, हे राघव, तुम जैसे बहुत से उस पर विमोहित हुए और सिर धुन-धुनकर अपना प्राण उत्सर्ग कर गए। अनेक ने अपनी ग्रीवा झुकाकर उसे भेंट दे दी। पर वह किसी को उत्तर नहीं देती, निर्लेप निःसंग रहती है। अब तू भी मरेगा और जलकर राख हो जायगा। अब भी तू अपनी कानों की रुई निकाल। आशय है कि अब भी तू हमारी सत्य बात सुन और उसे पाने की बेहोशी को त्याग दे।

सखियाँ कहती हैं, कोई उसे माँगते-माँगते मर जाता है पर नहीं पाता। कोई बिना माँगे भी उसे पा लेता है। हे राघव, तू तो स्वयं पण्डित था, औरों को ज्ञान समझाता था; अब हम तुझे क्या समझाएँ...तू खुद क्यों नहीं समझ लेता ?

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने आत्मा परमात्मा की दाम्पत्य सम्बन्धी मधुर अभिव्यंजना भी की है। अन्तिम पंक्तियों में रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि विशुद्ध आत्मा ही को परमात्मा का मिलन प्राप्त होता है, अन्यथा उसका पाना दुर्लभ है—

"कोई माँगि मरै नहीं पावै कोइ बिनु माँगा पाउ" ।।

शब्दार्थ—बिसँभरा=बेसुध। खाँगा=अभाव। चीन्हा=पहचाना। गुपुत=मौन। भूई=राख।

(४५६)

भएउ चेत चित चेतनि चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता ।।
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले कवन सुख तहाँ ।।
जहँ वाँ रहें साँसौ जिय केरा। कौनु रहनि मकु चलौं सबेरा ।।
अब यह भीख तहाँ होइ माँगौ। तेत देइ जय जरमि न खाँगौ ।।
औ अस कंगन पावौं दूजी। दोरिद हरै इंछ मन पूजी ।।
ढीली नगर आदि तुरुकानू। साहि अलाउदीन सुलतानू ।।
सोन जरै जेहि की टकसारा। बारह बानी परहिं दिनारा ।।
तहाँ जाइ यह कँवल अभासौं जहाँ अलाउद्दीन ।
सुनि कै चढ़े भानु होइ रतन होइ जल मीन ।।४५७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

चेत आने पर चेतन ने अपने चित्त में विचारा—अब मैं पुनः यहाँ आकर इतना दुःख सहन न करूँगा। ('च' की आवृत्ति होने से अनुप्रास की शोभा दर्शनीय है।) जहाँ हम रोते हुए आएँ और वहाँ से रोते हुए ही चलें, वहाँ कौन सा सुख है? जहाँ रहने से प्राणों को संशय लगा रहे, वहाँ रहना क्या?—वहाँ से शीघ्र ही चला जाना चाहिये। अब मैं यह भीख वहाँ जाकर माँगूंगा जो इतना देगा कि जन्म भर इस संसार का कोई अभाव न होगा। और ऐसा कंगन यदि मैं दूसरा पा लूँगा तो वह मेरे दारिद्र्य को दूर कर देगा और मेरे मन की इच्छा पूरी हो जायगी। तुर्कों के राज्य में दिल्ली नगर मुख्य है। वहाँ का बादशाह अलाउद्दीन सुलतान है। जिसकी टकसाल में सोना गलाया जाता है और उसमें से विशुद्ध सोने की बारहबानी अलाई दीनार या मुहर ढलकर निकलती हैं।

उस जगह जाकर मैं कमल सुन्दरी पद्मावती का रूप वर्णन करूँगा जहाँ शाह अलाउद्दीन है। यह सुनकर वह सूर्य सा बनकर चढ़ाई करेगा और तब रत्नसेन की वह दुर्दशा होगी जैसे सूर्य के तपने पर जल में मछली की होती है।

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। साँसौ=संशय। चलौ सबेरा=शीघ्र चलना। खाँगो=कमी। इंछ=इच्छा। ढीली=दिल्ली। सोन=सोना। बारहबानी=तत्कालीन तपा हुआ विशुद्ध सोना। दिनारा=विशुद्ध स्वर्ण-मुहर।

●

३९--राघव चेतन दिल्ली गमन खण्ड

(४५७)

राघो चेतन कीन्ह पयाना। ढीली नगर जाइ नियराना॥
जाइ साहि के बार पहूँचा। देखा राज जगत पर ऊँचा॥
छतिस लाख ओरगन्ह असवारा। बीस सहस हस्ती दरबारा॥
जांवत तपै जगत मँह भानू। तांवत राज करै सुलतानू॥
चहूँ खंड के राजा आवहिं। होइ अस मर्द जोहारि न पावहिं॥
मन तिवानि कै राघौ झूरा। नहिं उबारु जिय कादर पूरा॥
जहाँ झुराहिं विहैं सिर छाता। तहाँ हमार को चालै बाता॥
अरघ उरघ नहिं सूझै लाखन्ह उमरा मीर।
अब खुर खेह जाब मिलि आइ परे तेहि भीर॥४५७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने चित्तौड़ से प्रस्थान किया और दिल्ली के निकट आ पहुँचा। वहाँ जाकर वह शाह अलाउद्दीन के राजद्वार पर पहुँचा। जो राज्य संसार भर से ऊँचा था उसे

उसने देखा। वहाँ उसने देखा कि छत्तीस लाख तुर्क सैनिक सवार और बीस सहस्र दरबारी हाथी थे। संसार में जहाँ तक सूर्य तपता है वहाँ तक सुलतान शासन करता था। चारों खण्डों के राजा आते हैं और वहाँ इतनी भीड़ की धक्कम-धक्का रहती है कि लोग शाह को दरबार में प्रणाम भी नहीं कर पाते। राघव ने मन में चिन्ता की और सन्ताप से होकर सोचा—यहाँ मेरा उद्धार न होगा क्योंकि शाह तक पहुँच होना कठिन है ! अतः वह कातर और दयनीय होगया। उसने सोचा, जहाँ छत्रधारी राजा खड़े-खड़े प्रणाम तक के लिये सूखते हैं वहाँ मेरी पहुँच कैसे होगी, मेरी बात कौन पूछेगा ?

लाखों अमीर-उमराओं में ऊँच-नीच भी नही सूझता। इस भारी भीड़ में आ पड़ा हूँ और अब मैं इन अमीरों और सवारों के घोड़ों की टाँपों या खुरों की धूल में ही मिलकर रह जाऊँगा।

विशेष—प्रस्तुत पद में चारण कवियों की भाँति राजा का प्रशस्ति वर्णन किया गया है। इस सम्बन्ध में भी जायसी की सफलता निःसन्देह है। इसका कारण यही है कि उन्होंने राजसी रंग-ढंग देखने में ही जीवन का बड़ा भाग व्यतीत किया था।

शब्दार्थ—पयाना = प्रस्थान। ढीली = दिल्ली। नियराना = निकट पहुँचा। ओरगन्ह = तुर्क। जाँवत = जहाँ तक। भानू = सूर्य। ताँवत = वहाँ तक। मर्द = भीड़ की धक्कम-धक्का। जोहारि = प्रणाम। निवानि = चिन्ता। झूरा = संताप। उबारू = उद्धार। कादर = कातर, दयनीय। झुराइ = सूखना। मीर = अमीर। खुर = टाप। खेह = धूल। भीर = भीड़।

(४५८)

पातसाहि सब जाना बूझा। सरग पतार रैनि दिन सूझा॥
जौं राचा अस सजग न होई। काकर राज कहाँ कर कोई॥
जगत भार वहि एक सँभारा। तौ थिर रहै सकल संसारा॥
औ अस ओहिक सिंघासन ऊँचा। सब काहू पर दिस्टि पहूँचा॥
सब दिन राज काज सुख भोगी। रैनि फिरै घर घर होइ जोगी॥
राँव राँक सब जावँत जाती। सब की चाह लेइ दिन राती॥
पंथी परदेसी जेत आवहिं। सब की बात दूत पहुँचावहि॥
यहु रे कत पहूँची सदा छत्र सुख छाँह।
बाँभन एक बार है कंगन जराऊ बाँह॥४५८॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंगानुसार—

बादशाह अलाउद्दीन सव जानता, समझता था। रात-दिन उसे स्वर्ग से पाताल तक सब कुछ दृष्टिगोचर होता था। कविवर जायसी कहते हैं कि यदि राजा इस प्रकार से सजग और सतर्क न रहे तो राजपाट किसका और कौन कहाँ पर शासन कर पाएगा ? विश्व का भार वह अकेला ही सँभालता था। सब संसार उसी के बल पर स्थिर था। उसका राजसिंहासन इतना ऊँचा था कि सभी की दृष्टि उस पर आकर्षित हुई टिकी रहती

थी। सब उस सिंहासन की ओर नज़र को पहुँचाये रहते थे। वह नित्य-प्रति राजकाज और सुखभोग का कार्य किया करता था। रात में घर-घर जोगी के वेश में घूम-घूमकर वह वहाँ वे गुप्त रहस्यों को जाना करता था। राजा से लेकर कंगाल तक, जितने वर्ग के लोग थे, वह सबके विषय में सूचना लेता था, सबकी स्थिति पर पूरा ध्यान रखता था। जितने पर-देसी लोग उसके राज्य में आते थे उन सबकी सूचना उसके दूत उस तक पहुँचाते थे।

अलाउद्दीन के पास यह सूचना भी पहुँची—सुख देनेवाली उसकी छत्रछाया सर्वदा तनी रहे। आशय यह है कि आशिष रूप में यह कहा गया कि उसका शासन सदा बना रहे। एक ब्राह्मण राजदरबार के द्वार पर आया है, जिसने बाँह में एक जवाहरात जटित कंगन पहना हुआ है।

विशेष—प्रस्तुत पद में प्राचीनकालीन राजा की राजनीति का संश्लिष्ट वर्णन है। शासन संचालन के लिए किस भाँति राजा को राज्य के समस्त रहस्यों से परिचित होने के लिये अपने दूतों का सहयोग एवं अपना पार्ट अदा करना पड़ता था, इस बात का जायसी ने यहाँ अच्छा वर्णन किया है। एक प्रकार से यह औशनिक राजनीति का प्रमुख भेद है। चाणक्य ने इस प्रकार के राजनीतिक पहलू का अच्छा प्रदर्शन किया था।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४५६)

मया साहि मन सुनत भिखारी। परदेसी कहँ पूंछु हकारी॥
हम पुनि है जाना परदेसा। कौन पंथ गवनब केहि भेसा॥
ढीली राज चित मन गाढ़ी। यह जग जैस दूध मँह साढ़ी॥
सैंति बरोरि छाँछि कैं फेरा। मथि घिउ लीन्ह महिउ केहि केरा॥
एहि ढीली कत होइ होइ गए। कै कै गरब छार सब भए॥
तेहि ढीली का रही ढिलाई। साढ़ी गाढि ढीलि जब ताई॥
रावन लंक जारि सब तापा। रहा न जोबन औ तरुनापा॥
भीखि भिखारिहि दीजिअ का बाँभनु का भाँट।
अग्याँ भई हँकारहु धरती धरै लिलाट॥४५६॥

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

"परदेसी भिखारी द्वार पर आया है"—यह सुनते ही बादशाह के मन में दया आ गई। उसने कहा कि परदेसी को बुलाकर पूछा जाय कि वह क्या चाहता है? फिर हमें भी तो परदेस जाना है। क्या पता हमें किस मार्ग से और किस भेष में परदेस में प्रस्थान करना पड़े। यह सोचकर दिल्ली के सुलतान के जी में चिन्ता और सूफीयाना विरक्ति का गूढ़ भाव कसक गया। उसने सोचा, इस संसार की स्थिति ऐसी है जैसे दूध में मलाई हो! इस संसार का कुछ भी संचय करना और मथना अंततः केवल छाँछ या व्यर्थ मट्ठे के समान सारहीन है। जब मथकर घी निकाल लिया गया तो मट्ठा किस काम का? आशय यह है कि इस संसार का शेष भाग, उसका आकर्षण और आनन्द व्यर्थ छाछ की तरह है! यदि

किसी ने उसके रहस्य की मलाई का मंथन कर दिया तो वह मक्खन रूपी सत्य तत्व को पा लेता है और शेष फिर महत्वहीन है। आगे शाह सोचता है—इस दिल्ली में कैसे-कैसे शासक होकर आए किन्तु सभी चल बसे। सब गर्व करके राख में मिल गए। उनकी इस दिल्ली में कौनसी ऐसी कमज़ोरी रह गई थी जो उन्हें अन्त का वह दुखदाई दिन भी देखना पड़ा। जब तक इसके रहस्य या आनन्द की गाढ़ी मलाई रही, तभी तक यह दिल्ली, दिल्ली बनी रही। आशय यह है कि संसार की सारी चमक-दमक, रूप, रस, गंध सौंदर्य आदि नश्वर हैं। दिल्ली उन सबका प्रतीक है। यह तभी तक अच्छी है जब तक कि यहाँ सुख-भोग है। एक दिन यह समाप्त हो जायँगे तो अलाउद्दीन भी कहीं न रहेगा; यहाँ ऐसा, दार्शनिक सूफ़ियाना 'फना' का विचार व्यक्त है! अलाउद्दीन आगे सोचता है—रावण की सोने की लंका जली और सबने उसे तापा, उसके नष्टीकरण का तमाशा देखा। सत्य है, यौवन और जवानी की उम्र कभी स्थाई नहीं रहती।

भिखारी को भीख देनी चाहिये। चाहे वह ब्राह्मण हो या भाट—कोई भी क्यों न हो। अलाउद्दान की आज्ञा हुई कि उस भिखारी को बुलाओ और वह याचना में पृथ्वी पर सिर टेककर प्रणाम करे, हमसे भीख माँगे।

शब्दार्थ—हकारी=बुलाकर। गवनब=जाना। साढ़ी=मलाई। बरोरि=मथना। सैंति=संचय करना। गरब=अभिमान। तरुदापा=जवानी। अग्याँ=हुक्म। लिलाट=माँथा।

(४६०)

राघौ चेतनि हुत जो निरासा। तेतखन बेगि बोलावा पासा ॥
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा। चमकत नगु कंगनु कर दीसा ॥
अग्याँ भई सो राघौ पाहाँ। तूँ मंगन कंगन का बाहाँ ॥
राघौं बहुरि सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भान कै करा ॥
पदुमनि सिंघल दीप की रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी ॥
कँवल न सरि पूजै तेहि बासाँ। रूप न पूजै चंद अकासाँ ॥
जहाँ कँवल ससि सूर न पूजा। केहि सरि देउँ और को पूजा ॥
सो रानी संसार मनि दखिना कंगन दीन्ह।
आछरि रूप देखाव कै धरि गहनें जिउ लीन्ह ॥४६०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

जो राघव चेतन निराश था, उसी क्षण उसे शीघ्र शाह के पास बुलाया गया। सिर झुकाकर उसने राजा को आशीर्वाद दिया। तभी शाह को उसके हाथ में रत्नजटित, चमकता हुआ कंगन दिखलाई पड़ा। शाह का, उस राघव के लिये हुक्म हुआ—तू भिखारी और तेरी बाँह में ये कंगन कैसा है? राघव ने फिर पृथ्वी पर सिर झुकाया और कहा—हे शाह, आपका शासन सूर्य के प्रकाश की तरह सदा बना रहे। सिंघलदीप की रानी पद्मावती को रत्नसेन व्याह कर चित्तौड़ के गढ़ में ले आया है। उस सुन्दरी के अंग की

सुगन्ध की समता कमल भी नहीं करता। अम्बर का चाँद भी उसके रूप के आगे तुच्छ है। जिसके रूप के आगे कमल, चन्द्र और सूर्य भी समान नहीं हैं उसकी तुलना किससे करूँ, कौन-सी उपमा दूँ ?—उसकी बराबरी भला कौन कर सकता है ?

वह रानी सारे संसार की रूप की दिव्यमणि है। दणिक्षा में उसने मुझे यह कंगन दिया है। अपना अप्सरा-सा रूप दिखाकर और यह कंगन मेरे पास गिरवी या स्मृति में रखकर वह मेरा प्राण ही छीन ले गई है।

विशेष—शृङ्गार वर्णन का भाव व्यापक है। पद्मावती की सुन्दरता के आगे प्रसिद्ध रूप के उपमान, कमल चन्द्र और सूर्य का सुन्दरता का ह्रास दिखलाकर कवि ने उपमेय को दिव्य सौन्दर्य का जामा पहनाना चाहा और यह कवि जायसी की काव्य परंपरानुगत विशेषता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६१)

सुनि के उतर साह मन हँसा। जानहुँ बीज चमकि परगसा॥
काँच जोग जहँ कंचन पावा। मंगन तेहि सुमेरु चढ़ावा॥
नाउँ भिखारि जीभ मुख बाँची। अबहु सँभार बात कहु साँची॥
कहँ अस नारि जगत उपराहीं। जेहि की सरिस सूर ससि नाहीं॥
जौं पदुमिनि तौं मंदिर मोरें। सातौं दीप जहाँ कर जोरें॥
सप्त दीप महँ चुनि चुनि आनी। सो मोरें सोरह सौ रानी॥
जौं उन्ह महँ देखसि एक दासी। देखि लोन होइ लोन बेरासी॥
चहूँ खंड हौं चक्कवै जस रवि तवै अकास।
जौं पदुमिनि तौं मंदिल मोरें आछरि तौ कबिलास॥४६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव का उत्तर सुनकर शाह मन ही मन हँसा। मानो बिजली का प्रकाश हुआ हो। जो भिखारी तुच्छ काँच पाने के योग्य है यदि कहीं किसी से उसे स्वर्ण मिल जाय तो वह भिखारी उस दान दाता को प्रशस्ति के सुमेरु पर्वत पर चढ़ा देता है—अतिशयोक्ति से उसका वर्णन करता है। शाह ने कहा, अरे मंगते, तेरा नाम भिखारी है, अतः तूने जो कुछ कहा उसके दण्ड स्वरूप तेरी जीभ मुख ही में बख्श दी गई, उसे खींच नहीं लिया गया। अब भी सँभल और सच्ची-सच्ची बात बतला ? इस संसार के ऊपर ऐसी विचित्र नारी कहाँ है, जिसके रूप के बराबर सूर्य और चन्द्र भी न हों ? तू जो पद्मिनी की बात कहता है, तो ऐसी मेरे रंगमहल में बहुतेरी हैं, जिनके आगे सातों द्वीप हाथ जोड़े उनके सौंदर्य की पूजा करते हैं। सातों द्वीपों से वह सुन्दरियाँ चुन-चुनकर महलों में लाई गई हैं। इस प्रकार की सोलह सौ पद्मिनियाँ मेरे पास हैं। तू यदि उन रानियों की एक दासी को भी देख ले तो उसकी सुन्दरता के पानी में तू नमक सा बनकर घुल जायगा।

अलाउद्दीन ने सगर्व कहा, अरे भिखारी, मैं चारों खण्डों अथवा दिशाओं में उसी

प्रकार चक्रवर्त्ती हूँ, चमकता हूँ, जैसे सूर्य आकाश में तपता-दिपता है। यदि वह पद्मिनी स्त्री है तो उस जैसी मेरे रनिवास में बहुतेरी हैं। और यदि वह अप्सरा है तो अप्सराएँ स्वर्ग में रहती हैं, इस भू पर नहीं।

शब्दार्थ—उतर=उत्तर। परगसा=प्रकाश होना। बाँची=बची। उपराही =ऊपर। मन्दिर=महल। लोन=सुन्दरता, लावण्य। बेरासी=विलीन, धुल जाना।

(४६२)

तुम्ह बड़ राज छत्रपति भारी। अनु बाँभन हौं आहि भिखारी॥
चारिहुँ खंड भीख कहँ बाजा। उदै अस्त तुम्ह अैस न राजा॥
धरम राज औ सत कुलि माहाँ। झूठ जो कहै जीभ केहि पाहाँ॥
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं। सो एहि जंबु दीप महँ नाहीं॥
पदुमिनि अंब्रित हंस सदूरू। सिंघल दीप सो भलेहँ अँकूरू॥
सातौं दीप देखि हौं आवा। तब राघौ चेतनि कहवावा॥
अग्याँ होइ न राखौं धोखा। कहौं सो सब नारिन्ह गुन दोखा॥
इहाँ हस्तिनी सिंघनी औ चित्रिनि बनबास।
कहाँ पदुमिनी पदुमसरि भँवर फिरहिं चहुँ पास॥४६२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

"राघव बोला, तुम महान राजा एवं उच्च छत्रपति शासक हो। मुझ पर प्रसन्न हो, मैं तो मंगता ब्राह्मण हूँ। चारों दिशाओं में भीख के लिये डोलता-फिरता हूँ। उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक तुम जैसा बड़ा राजा और कहीं नहीं है। तुम धर्मानुसार राज्य करते हो और क्षत्रियों के कुल में तुम्हारा सत है। तुमसे जो झूठ बोले ऐसी जीभ भला किसके पास है? किंतु जो सर्वश्रेष्ठ, चार ऊँची वस्तुएँ हैं, वह इस जम्बू द्वीप में नहीं है। वे चार वस्तुएँ इस प्रकार हैं—पद्मिनी नारियाँ, अमृत, हंस और शार्दूल? पर सिंघल-द्वीप में ये वस्तुएँ बहुतायत से उत्पन्न होती हैं, प्राप्य हैं। मैं सातों द्वीप घूम-देख आया हूँ, तब मेरा नाम राघव चेतन अर्थात् 'विद्वान' है। यदि हुक्म हो तो भेद न रखते हुए मैं स्पष्टतः सब जाति की स्त्रियों के गुण-दोषों का बखान करूँ?

इस जम्बू द्वीप में हस्तिती, सिंहनी एवं चित्रणी स्त्रियाँ सर्वत्र, वन तक में बसती हैं। किंतु यहां सरोवर के कमल जैसी पद्मिनी स्त्री कहाँ है जिसके चारों ओर भौंरे मँडराते हैं—रसिक पागल होते हैं?

शब्दार्थ—अनु=प्रसन्न। बाजा=डोलना। उपराही=ऊपर। सदूरू=शार्दूल। अँकूरू=उत्पन्न। भले=बहुतायत से।

४०--स्त्री-भेद वर्णन खण्ड

(४६३)

पहिलें कहौं हस्तिनी नारी। हस्ती कै परकीरति सारी॥
कर औ पाय सुभर गियँ छोटी। उर के खनि लंक कै मोटी॥
कुम्भस्थल गज मैमँत आहीं। गवन गयंद ढाल जनु बाहीं॥
दिस्टि न आवै आपन पीऊ। पुरुख पराएँ ऊपर जीऊ॥
भोजन बहुत बहुत रति चाऊ। अछवाई सों थोर सुभाऊ॥
मद जस मंद बसाइ पसेऊ। और बिसबास घरें जस देऊ॥
डर ओ लाज न एकौ हिएं। रहै जो राखें आँकुस दिएँ॥
गज गति चलै चहूँ दिसि हेरति लाइ जगत कहँ चोख।
वह हस्तिनी नारि पहिचानिअ सब हस्तिन्ह गुन दोख॥४६३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार प्रस्तुत पद में राघव चेतन हस्तिनी जाति की नारी का रूप-गुण वर्णन करते हुए कहता है—

पहले हस्तिनी जाति की स्त्री का वर्णन करता हूँ। उसकी सारी प्रकृति हाथी की जैसी होती है। हाथ-पाँव स्थूल एवं गर्दन छोटी होती है। छाती क्षीण एवं कमर मोटी होती है। उसका कुच-स्थल मस्त हाथी के कुम्भस्थल की भाँति होता है। (यहाँ कुम्भस्थल में श्लेष है। इसके अर्थ कुचस्थल एवं गंडस्थल दोनों हैं।) उसकी चाल हाथी की भाँति होती हैं और भुजाएँ ऐसी मानो ढाल लिये हों अथवा चँवर डुला रही हों। उसे मुटापे के कारण अपना प्रियतम नज़र नहीं आता। वह पर पुरुष पर आसक्त रहती है। भोजन और काम-क्रीड़ा अधिक चाहती है। वह घृणित एवं नीच स्वभाव वाली अभव्य स्त्री होती है। उसके पसीने से मद की दुर्गंध आती है। उस पर विश्वास किया जाय तो वह दानव की भाँति विश्वासघातिनी होती है। उसके हृदय में नारियोचित डर एवं लज्जा-सौम्यता का एक भी गुण नहीं होता। यदि कोई पुरुष उस पर अंकुश का जैसा कड़ा नियन्त्रण रक्खे तब कहीं वह वश में रह पाती है।

वह चारों तरफ की चमक-दमक देखती हुई गजगति-सी चलती हैं, मानो अपनी वासना की पिपासा में सारे संसार को चूस जायगी। हे शाह, ऐसी स्त्री को हस्तिनी जाति की समझनी चाहिये। उसमें हाथियों के समस्त गुण-दोष पाये जाते हैं।

विशेष—कविवर जायसी ने इस विषय को बार-बार दोहराया है। पीछे भी वह चार प्रकार की स्त्रियों का विस्तृत वर्णन कर आए हैं। उनका यह वर्णन कोई नवीन ढंग का नहीं समझना चाहिये। स्त्रियों के लक्षणों का वर्णन संस्कृत भाषा के काम शास्त्र विषयक

ग्रंथों में चला आया है। रतिमंजरी, पंचसायक, अनंगरंग आदि ग्रंथों में यह वर्णन संश्लिष्ट पाया जाता है। जायसी ने उन्हीं का आधार लेकर यह वर्णन किया है। इसमें उनकी प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६४)

दोसरें कहौं सिंघिनी नारी। करै बहुत बल अलप अहारी ॥
उर अति सुभर खीन अति लंका। गरब भरी मन धरं न संका ॥
बहुत रोस चाहै पिय हना। आगें घालि न काहूँ गना ॥
अपनै अलंकार ओहि भावा। देखि न सकै सिंगार परावा ॥
मोंट माँसु रुचि भोजन तासू। औ मुखआव बिसाइधि बासू ॥
सिंघ कै चाल चलै डग ढीली। रोवाँ बहुत होहि दुहुँ फीली ॥
दिस्टि तराहीं हेर न आगें। जनु मथवाह रहै सिर लागें ॥
सेजवाँ मिलत स्यामहि लावै उर नख बान।
जे गुन सबै सिंघ के सो सिंघनि सुलतान ॥४६४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन ने कहा, अब दूसरी, सिंहनी स्त्री का लक्षण वर्णन करता हूँ। वह अल्पाहारी होती है, किन्तु बल बहुत दिखलाती है। उसका वक्षस्थल खूब भरा हुआ और कमर अत्यन्त पतली होती है। अभिमान से भरी हुई वह मन में किसी प्रकार की शंका या संकोच नहीं करती। वह बहुत गुस्से से भरी, चाहती है कि पति की हत्या कर दे। अपने आगे आने वाले या प्रेमी को वह कुछ भी नहीं समझती। वह अपने शृङ्गारों को अच्छा समझती है। दूसरे के शृङ्गार को वह नहीं देख सकती; ईर्ष्या करती है। कलेजी का मोटा माँस खाने में रुचि रखती है। उसके मुख से सड़ी मछली की दुर्गन्ध आती है। पाँवों को शिथिल-सा छोड़कर वह शेर की-सी चाल चलती है। उसकी दोनों पिंडलियों पर बहुत-से रोयँ होते हैं। वह नीचे नज़र किये रहती है, आगे नहीं देखती। मानो उसके माथे पर कोई पट्ट या बाँध बँधा हो। (जो घोड़े बैल आदि के भी प्रायः बँधा होता है, जिससे वह नीचे ही देख पाते हैं, उसी बाँध को 'मथवाह' कहा गया है।)

राघव कहता है—हे शाह, ऐसी सिंहनी जाति की स्त्री अपने पति के साथ सेज पर समागम करते समय अपने तीर जैसे नाखूनों को उसकी छाती में लगाती है—चुभाती है। हे सुलतान, इस प्रकार जितने गुण सिंह में होते हैं, वह सब सिंहनी स्त्रियों में हुआ करते हैं।

शब्दार्थ—अलपहारी=कम खाने वाली। सुभर=खूब भरा हुआ। खीन=पतली। लंक=कमर। गरब=अभिमान। हना=मार डालना। घालि=आना। मोंट मासु=कलेजी का माँस। डग ढीली=शिथिल कदम। बिसाइँध=सड़ी मछली की दुर्गंध। तराहीं=नीचे। मथवाह=पट्टा, बाँध। स्यामहि=पति से। बान=तीर।

(४६५)

तीसरि कहौं चित्रनी नारी। महा चतुर रस पेम पियारी।।
रूप सरूप सिंगार सवाई। आछरि जसि नागरि अछवाई।।
रोष न जानै हँसता मुखी। जहँ असि नारि पुरुख सो सुखी।।
अपने पिय कै जानै पूजा। एक पुरुख तजि जानि न दूजा।।
चन्द बदन रंग कुमुदिनि गोरी। चाल सोहाइ हंस कै जोरी।।
खीर खाँड किछु अलप अहारू। पान फूल सौं बहुत पियारू।।
पदुमिनि चाहि घाटि दुइ करा। और सबै ओहि गुन निरमरा।।
चित्रनि जैस कमोद रँग आव न बासना अंग।
पदुमिनि सब चंदन अस भँवर फिरहिं तिन्ह संग।।४६५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन ने कहा, अब तीसरी जाति की, चित्रिणी स्त्री का वर्णन करता हूँ। वह प्रेम रस की प्रेमिका और अति चतुर होती है। उसका रूप स्वरूपवान एवं शृङ्गार सवाया होता है। अप्सरा की नाईं वह सुन्दरी और अछूती होती है। वह हँसमुखी रहती है और उसे क्रोध करना नहीं आता। जिसके पास ऐसी सुलक्षिणी जाति की चित्रिणी नारी है, वह नर सुखी रहता है। वह नारी अपने पति की पूजा करना जानती है। एक पुरुष के अलावा वह अन्य पुरुष को नहीं जानती। वह चन्द्रमुखी होती है और रंग में स्वच्छ कुमुदिनी की तरह गोरी होती है। उसकी चाल चलते समय इतनी अच्छी, मनोमुग्धकारी होती है कि मानो हंस की जोड़ी चल रही हो। वह खीर और खाँड़ का अल्प भोजन करती है। उसे पान-फूल का आहार बहुत प्रिय होता है। वह पद्मिनी स्त्री से दो कला में घटकर होती हैं। और सब जाति की स्त्रियों की अपेक्षा उसका गुण अधिक निर्मल होता है।

चित्रिणी स्त्री जैसे कुमुद के रंगवाली होती है। पर उसके अंग में कुमुद की बास नहीं आती। दूसरा आशय यह भी कि वह अंगों से वासना रहित होती है। राघव चेतन कहता है, हे शाह! किन्तु पद्मिनी जाति की तो सब स्त्रियाँ चन्दन की सुगन्ध से पूर्ण होती हैं और रस लुब्ध भौंरे या प्रेमी रसिक, उन पर रीझे, उनके पीछे-पीछे फिरते हैं।

शब्दार्थ—सवाई=सवाया। आछरि=अप्सरा। अछवाई=अछूती। घटि दुइ करा=दो कला घटकर।

(४६६)

चौथें कहौं पदुमिनी नारी। पदुम गंध सो दैय सँवारी।।
पदुमिनि जाति पदुम रँग ओहीं। पदुम बास मधुकर सँग होहीं।।
ना सुठि लाँबी ना सुठि छोटी। ना सुठि पातरि ना सुठि मोंटी।।
सोरह करा अंग होइ बनी। वह सुलतान पदुमिनी गनी।।
दीरघ चारि चारि लहु सोई। सुभर चारि चहुँ खीन जो होई।।
ओ ससि बदन रंग सब मोहा। चाल मराल चलत गति सोहा।।

खीर न सहै अधिक सुकुवारा। पान फूल के रहै अघारा॥
सोरह करा सँपूरन औ सोरहौ सिंगार॥
अब तेहि भाँति बरन गुन जस बरनै संसार॥४६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा—हे सुलतान, अब मैं चौथी, पद्मिनी जाति की नारी का रूप-गुण वर्णन करता हूँ। विधाता ने उसे पद्म की गंध से सँवारा है। पद्मिनी जाति की स्त्री में कमल का रँग घुला होता है। उसमें पद्म की सुगन्ध होती है जिससे उसके संग भौंरे-रसिक लगे रहते हैं। वह अधिक लम्बी, छोटी, पतली और मोटी नहीं होती। जिस स्त्री का शरीर चन्द्र की सोलह कलाओं की सुन्दरता से विनिर्मित हो, हे सुलतान, उसे पद्मिनी जाति की स्त्री जानना चाहिये। उसके शरीर के अंगों में चार अंग दीर्घ, चार लघु, चार मांसल और चार पतले होते हैं। उस चन्द्रमुखी के रूप वर्ण पर सब मुग्ध हो जाते हैं। वह चलती हुई मराल जैसी चाल से शोभित होती है। वह इतनी अधिक कोमल होती है कि खीर का भोजन भी नहीं पचा सकती। वह पान-फूल के खाद्य आधार पर जीवित रहती है।

वह चाँद की सोलह कलाओं एवं शरीर के सोलह शृङ्गारों से समलंकृत, पूर्ण सुन्दरी होती है। जिस भाँति संसार उसके रूप का वर्णन कर सकता है, वैसे ही मैं भी करता हूँ।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६७)

प्रथम केस दीरघ सिर होहीं। औ दीरघ अँगुरी कर सोहीं॥
दीरघ नैन तिक्ख तिन्ह देखा। दीरग गीवँ कंठ तिरि रेखा॥
पुनि लघु दसन होंहि जस हीरा। औ लघु कुच जस उतँग जँभीरा॥
लघु लिलाट दुइज परगासू। औ नाभी लघु चंदन बासू॥
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जेहि केहरि हारा॥
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर बिद्रुम रँग राता॥
सुभर कपोल देहिं मुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा॥
सुभर बनी भुग्रडंड कलाई सुभर जाँघ गज चालि।
ये सोरहौं सिंगार बरनि के करहि देवता लालि॥४६७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन ने कहा, पहले तो पद्मिनी जाति की स्त्री के सिर पर लम्बे-लम्बे केश होते हैं और हाथों में कलात्मक, लम्बी अँगलियाँ शोभित होती हैं। बड़े-बड़े नेत्र, और उनसे वह कटाक्ष चितवन करती हुई देखती है। उसकी दीर्घ-ग्रीवा और कंठ में तीन सुन्दर रेखाएँ दृष्टिगत होती हैं। फिर उसके छोटे-छोटे दाँत ऐसे लगते हैं जैसे हीरे चमकते हों। उसके छोटे-छोटे उरोज ऐसे लगते हैं जैसे उठे हुए बड़े नीबू के दाने हों। दोयज के चन्द्र

की भाँति उसका छोटा मत्था दैदीप्यमान होता है। उसकी छोटी सी नाभि से चंदन की सुगन्ध आती है। उसकी नासिका तलवार की धार की तरह पतली होती है। कटि क्षीण होती है, जिससे सिंह भी लज्जित, पराजित होता है। उसका पेट ऐसा सूक्ष्म होता है मानो आँत रहित हो। उसके ओंठ पतले, मूँगे के रँग वाले गहरे लाल होते हैं। उसके भरे-भरे गाल मुख की शोभा बढ़ाते हैं। उसके भरे हुए नितम्ब देखकर, मन मुग्ध हो जाता है; काम जाग्रत होता है !

उसके हाथों की कलाई भरी-भरी और चौड़ी होती है, भरी-भरी भुजाएँ होती हैं, और पीन जंघाओं से वह गज की चाल चलने वाली 'गजगामिनि' लगती है। इस प्रकार पद्मिनी नारी के ये सोलह शृङ्गारों का वर्णन है। जिसके कारण उसे पाने के लिये देवता भी लालसायुक्त रहते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में अनेक उपमानों के माध्यम से पद्मिनी नारी की रूप शोभा का वर्णन किया गया है, जो संश्लिस्ट है। वर्णन में अश्लीलता अशुभ है पर यह तो रीति-काव्य की विशेषता कही जानी चाहिये। जायसी ने उसका पूरा निर्वाह किया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

४१--पद्मावती रूप चर्चा खण्ड

(४६८)

यह जो पदुमिनि चितउर आनी। कुंदन कया दुवादस बानी॥
कुंदन कनक न गंध न बासा। वह सुगंध जनु कँवल बिगासा॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा। वह कोवँल रँग पुहुप सुरंगा॥
ओहि छुइ पवन बिरिख जेहि लागा। सोइ मलयागिरि भएउ सभागा॥
काह न मूँठि भरी ओहि खेही। असि मूरति कै देयँ उरेही॥
सबै चितेर चित्र कै हारे। ओहिक चित्र कोइ करै न पारे॥
कया कपूर हाड़ जनु मोती। तेहि तें अधिक दीन्ह बिधि जोती॥
सूरुज कांति करा जसि निरमल नीर सरीर।
सौहँ निरखि नहि जाइ निहारी नैनन्ह आवै नीर॥४६८॥

भावार्थ—राघव चेतन अलाउद्दीन से पद्मावती का रूप वर्णन करता हुआ कह रहा है—

हे सुलतान ! यह जो पद्मिनी चित्तौड़ में लाई गई है, उसका शरीर विशुद्ध कुंदन

सा चमकीला है। पर तपे कुन्दन स्वर्ण में न सुगन्ध होती है और न मोहकता। किन्तु वह ऐसी सुगन्धिमयी है, जैसे कमल विकसित हो। कुन्दन तो कठोर होता है पर उसके अंग कोमल हैं। वह कोमलांगी, पुष्प सी लाल है। उसे स्पर्श कर वायु जिस वृक्ष से लगती है, वही वृक्ष, मलयागिरि का चंदन-वृक्ष हो जाने का सौभाग्य पाता है। उस मुट्ठी भर धूल की पुतली में क्या विशेषता नहीं है? ईश्वर ने उस अद्भुत प्रतिभा की रचना की है। सारे चित्रकार उसका चित्र बनाने में हार गये किन्तु कोई भी उसका जैसा चित्र निर्मित न कर सका। उसका शरीर कपूर एवं हाड़ मोती के समान सुन्दर हैं। उनसे भी अधिक ज्योति-सौन्दर्य विधाता ने उसे प्रदान किया है।

हे सुलतान, सूर्य की जिस भाँति विभा-कला होती है, ऐसी ही शोभा-सुषमा उसके शरीर की है। उसे समक्ष से देखा नहीं जाता, और देखने से नेत्रों से पानी डबडबा आता है—वह अतिशय कान्तिमयी है, दिव्य है!

विशेष—पद्मावती के स्थूल रूप चित्रण में कवि ने कला एवं भाव-सौन्दर्य का सालंकारिक चित्रण प्रभावशाली किया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६९)

कत हौं अहा काल कर काढ़ा। जाइ धौराहर तर भौ ठाढ़ा॥
कत वह आइ झरोखें झाँकी। नैन कुरंगिनि चितवनि बाँकी॥
बिहँसी ससि तरईं जनु परीं। कै सो रैनि छूटी फुलझरीं॥
चमकि बीज जस भादौं रैनी। जगत दिस्टि भरि रही उड़ैनी॥
काम कटाख दिस्टि बिस बसा। नागिनि अलक पलक महँ डसा॥
भौंहँ धनुक तिल काजर ठोड़ी। वह भै धानुक हौं हियँ ओड़ी॥
मारि चली मरतहि मैं हँसा। पाछें नाग अहा ओइँ डसा॥
पाछें घालि काल सो राखा मंत्र न गारुरि कोइ।
जहाँ मंजूर पीठि ओइँ दीन्हे काँसु पुकारौं रोइ॥४६९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राघव चेतन पद्मावती का रूप वर्णन करते हुए कहता है—

भला मैं किसलिए काल से खींचा हुआ उसके धवलगृह के नीचे जाकर खड़ा हुआ? क्यों वह झरोखे पर आई, और नीचे झाँककर मुझे देखा? उस हिरणी जैसी नेत्र वाली की चितवन बड़ी विकट थी। वह चन्द्रमुखी जब हँसी तो मानो तारे बिखर पड़े; अथवा उसकी हँसी ऐसी प्रतीत हुई मानो रात में फुलझड़ी छूटी हो; अथवा जैसे भाँदों की काली रात में बिजली चमकी हो और संसार के नेत्रों को जुगुनुओं की चमक दिखलाई पड़ी हो; वह उसके पीछे उड़ चली हो। उसकी विष भरी दृष्टि में काम के कटाक्ष हैं। उसकी नागिन सी अलक, पलक मारते ही चट से डस लेती है। उसकी भौंहें धनुष जैसी हैं। काजल सा काला तिल ठोड़ी पर है। वह धनुर्धारी बनी और मैंने उसका निशाना हृदय

पर सहन किया। वह अपना बाण मार गई और उसके लगते ही मैं हँस पड़ा; मुझे सुख मिला। किन्तु उसके पीछे जो वेणी रूपी ज़हरीला नाग था, उसने मुझे डस लिया।

उसने अपनी वेणी का जो काला नाग पीठ पर डाल रक्खा था उसके डस लेने पर उसके ज़हर को उतारने का न कोई मन्त्र था और न कोई गारुड़ि अर्थात् सर्प के विष को उतारने वाला सपेरा था। जहाँ मोर ने भी पीठ कर रक्खी हो, वहाँ सहायतार्थ किससे रोकर अपने कष्ट को पुकारकर कहता। आशय यह है कि नागमती की मयूर जैसी गर्दन वाला मुख आगे था। चूँकि मयूर और नाग की शत्रुता होती है और मोर साँप को खा जाता है, अतः जब मयूर मुखी पद्मावती आगे चली गई तो उसके वेणी रूपी नाग के डस लेने पर कौन मेरी पुकार को सुनता ? सर्प से बदला चुकाता !

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी की विशद काव्य कल्पना का सौष्ठव प्रकट हुआ है। इस पंक्ति में—

"चमकि बीज जस भाँदौं रैनी। जगत दिस्टि भरि रही उड़ैनी॥"

कितनी सूक्ष्म कल्पना का समाहार हुआ है कि पद्मावती की छवि बिजली की चमक और उसकी झलक में जगत की दृष्टि जुगुनुओं की उड़ान से संयुक्त ! मानो दिव्याकर्षण के उपकरण सचमुच हमारी सौन्दर्य की पलकों पर आ बैठे हों !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४७०)

बेनी छोरि झारू जौं केसा। रैनि होइ जग दीपक लेसा॥
सिर हुत सोहरि परहिं भुइँ बारा। सगरे देस होइ अँधियारा॥
जानहु लोटहिं चढ़े भुवंगा। बेधे बास मलैगिरि संगा॥
सगबगाहिं बिख भरे बिसारे। लहरि आहिं लहकहि अति कारे॥
लुरहि मुरहिं मानहिं जनु केली। नाग चढ़ा मालति की बेली॥
लहरै देइ जानहुँ कालिंदी। फिरि फिरि भँवर भए चित फंदी॥
चवँर ढरत आछहि चहुँ पासा। भँवर न उड़हि जो लुबुधे बासा॥
होइ अँधियार बीजु खन लोकै जबहि चीर गहि झाँपु।
केस काल ओइ कत मैं देखे सँवरि सँवरि जिय काँपु॥४७०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में राघव चेतन कह रहा है—

वह पद्मावती चोटी खोलकर ज्यों ही बालों को झाड़ती है तो रात हो जाती है और संसार दीपक जलाने लगता है। (अतिशयोक्ति एवं भ्रान्ति) उसके केश सिर से पृथ्वी तक बिखर जाते हैं और सारे देश में अन्धकार हो जाता है। अथवा उनके लहराव से ऐसा लगता है मानो सर्प पृथ्वी पर लोट रहे हों, चढ़ रहे हों। या मलैगिरि की गंध से परिपूरित वह केश शरीर को बेंधते हैं। विष भरे वे केश रूपी सर्प सिमटते-खुलते हैं। वे अति काले केश रूपी सर्प लहराते और झोंका लेते हैं। मानो क्रीड़ा करते हुए वे लोटते-पोटते हैं। उसके केश उसके कोमल शरीर पर ऐसे लगते हैं मानो मालती की बेल पर

नाग चढ़ा हुआ हो। उन केशों का लहराना ऐसा है मानो यमुना लहर रही हो। उन लहरों रूपी अलकों का चक्र ही मानो भँवर पड़ता हो जिनमें मन फँसकर डूब जाता है। उसके चहुँ ओर चँवर डुलाए जाते थे। फिर भी मधु सौरभ के लोभी भँवरे थे कि उसके पास से न उड़ते थे।

जब वह उन केशों को ओढ़नी से ढँकती है, तब लगता है जैसे अन्धकार में पल भर के लिये चंचला चमक गई हो। राघव चेतन कहता है, ओह, मैंने क्यों उसके श्याम केशों को देखा ? उसकी शोभा को याद करके मेरा हृदय काँप-काँप उठता है।

विशेष—केशों के विचित्र सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त चमत्कृत है। किन्तु वर्णन में ऊहात्मकता आ गई है। शृङ्गार वर्णन की झोंक में काव्य का भाव पक्ष दब गया है, फिर भी कवि की कल्पना का रूप काफी सराहनीय कहा जायगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४७१)

कनक माँग जो सेंदुर रेखा। जनु बसन्त राता जग देखा॥
कै पत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र बिचित्र सँवारी॥
भएउ उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बगरि रहे घनश्यामा॥
जमुँना माँझ सुरसती माँगा। दुहुँ दिसि चित्र तरंगहि गाँगा॥
सेंदुर रेख सो ऊपर राती। बीर बहूटिन्ह की जनु पाँती॥
बलि देवता भए देखि सेंदरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू॥
भोर साँझ रबि होइ जो राता। ओहीं सो सेंदुर राता गाता॥
बेनी कारी पुहुप लै निकसी जमुना आइ।
पूजा इन्द्र अनन्द सो सेंदुर सीस चढ़ाइ॥४७१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन कहता है, हे सुल्तान ! पद्मावती की सुनहरी माँग में जो सिन्दूर रेखा है, वह इस भाँति शोभायमान है मानो रंगीन बसन्त ऋतु संसार में दृष्यमान हो। पत्रावली बनाकर उन केशों की पट्टियाँ बनाई गई थीं और चित्र विचित्र शिल्प से उन्हें दोनों ओर से सजाया-सँवारा गया था। सब प्रकार के फूलों से समलंकृत केशों की वह चित्र रचना ऐसी लगती थी मानो श्याम मेघों में श्वेत बगुलों की पंक्ति बिखरी हो। वह मानो यमुना में मिली सरस्वती हो, ऐसी लगती थी। (उत्प्रेक्षा) उसके दोनों ओर सँवार-शृङ्गार ऐसा लगता था मानो गँगा की लहरें हों। ऊपर सिन्दूर की रेखा मानो वीर बहूटियों की पंक्ति जैसी लाल थी। उसका सिंदूर देखकर उस पर देवता न्यौछावर हो गए। नित्य प्रातःकाल का सूर्य उसकी माँग की पूजा करता है। सन्ध्या और प्रातःकाल में जो सूर्य लाल हो जाता है, मानो उसी के सिंदूर में रँगकर लाल शरीर का हो जाता है।

उसकी काली वेणी ऐसी लगती थी मानो कमल पुष्प लेकर यमुना से बाहर आती कालिय नाग की स्त्री, नागिन हो, और उसने अपने सिर पर सिंदूर चढ़ाकर आनन्दपूर्वक

इन्द्र (या अपने पति रत्नसेन) की पूजा की हो। यहाँ आशय यह है कि पद्मावती के काले केश तो यमुना के समान हैं और उनसे लटकती उसकी शुभ वेणी कमल पुष्प लेकर यमुना से बाहर आती हुई कालिय नागिन जैसी है।

विशेष—प्रस्तुत पद में केशों की छटा का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रांकन किया गया है। उत्प्रेक्षाएँ गजब की हैं। एक मौलिक कल्पना की छटा द्रष्टव्य है—

"भएउ उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बगरि रहे घनश्यामा॥"

यहाँ दूसरे पद में "बगुलों की क़तारें ज्यों श्याम मेघों में बिखर रही हों।" यह कहकर जायसी ने पद्मावती के पुष्प समलंकृत केशों का सौंदर्य मानो आँखों की पुतली पर बारीकी से चित्रित कर दिया हो, ऐसा प्रतीत होता। इस प्रकार की चित्रात्मकता कालिदास के काव्य में उत्कृष्ट रूप में देखने को मिलती है। अन्यत्र, विशेषतः हिन्दी काव्य में कम ही। अन्त की पंक्तियों में कालीदह सम्बन्धी रूपक के पौराणिक आख्यान का आधार लेकर पद्मावती की वेणी और उसके केश सम्बन्धी रूपक को स्पष्ट किया गया है, इसके लिए भावार्थ में संगत स्पष्टीकरण है ही।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४७२)

दुइजि लिलाट अधिक मनि करा। संकर देखि माँथ भुंइ धरा॥
एहि निति दुइजि जगत महँ दीसा। जगत जोहारै देइ असीसा॥
ससि होइ छपी न सरबरि छाजै। होइ जो अमावस छपि मन लाजै॥
तिलक सँवारि जो चूनी रची। दुइज माँह जानहु कचपची॥
ससि पर करवत सारा राहू। नखतन्ह भरा दीन्ह परदाहू॥
पारस जोति लिलाटहि ओती। दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती॥
सिरी जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गँगन टूट निसि तारा॥
ससि और सूर जो निरमल तेहि लिलाट की ओप।
निसिदिन चलहिं न सरबरि पावहिं तपि तपि ओहिं अलोप॥४७२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुल्तान, पद्मावती का ललाट द्वितीया के चन्द्र से भी अधिक कलात्मक एवं दिपायमान है। शंकर ने भी उसे देखकर, प्रणाम के लिये अपना मत्था भूमि पर टेका है। वह ऐसा दोइज का चन्द्र है जो नित्य संसार में चमकता है कि उसकी जुहार संसार करता है और उसे आशीर्वाद देता है। सुन्दरता में उसकी समता न करने के कारण आकाश का चन्द्रमा छिप जाता है। जो अमावस्या होती है वह इसीलिये कि गगन के चन्द्र को पद्मावती के सौंदर्य से लज्जा होती है और वह इस समय छिप जाता है। गोल बिन्दी लगाकर इधर-उधर छोटे-छोटे लाल कणों की जो उसकी चुन्नी रची गई है, वह ऐसी शोभित है मानो द्वितीया के चन्द्रमा के भीतर कृत्तिका नक्षत्र जगमगाते हों। उसके चन्द्रभाल के ऊपर माँग ऐसी प्रतीत होती है मानो राहु ने चन्द्रमा के ऊपर आरा चलाया

हो। अथवा, नक्षत्रों को भरकर उसमें आग सुलगा दी हो। उसके लिलाट पर इतनी पारस ज्योति की दिव्यता है कि जो भी उसकी ओर दृष्टि करता है वही उस ज्योति से विभूषित हो जाता है। उसकी माँग में जो रत्नों की टिकुली बिठाली हुई है वह ऐसी लगती है, मानो निविड़ रात्रि में आकाश का कोई तारा टूटकर आ लगा हो।

राघव चेतन कहता है कि हे सुल्तान, यह जो सूर्य और चन्द्र प्रोज्ज्वल हैं, वह उसी ललाट की चमक के कारण हैं। वे चाँद और सूर्य दिन रात आकाश की सानपर चढ़ते रगड़ते हैं, फिर भी तप-तपकर वह उसके ललाट की प्रोज्ज्वलता की बराबरी नहीं कर पाते, और अलोप होते जाते हैं।

विशेष—अंतिम पंक्तियों में रहस्यवादी चिंताधारा का आग्रह विशेष है।

शब्दार्थ—दुइज=द्वितीया का चाँद। करा=कला। भुंइ=पृथ्वी। छाजै=शोभित होवे। छपि=छिपना। चूनी=चुन्नी। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र। बैसारा=बिठाला, लगाया। ओप=चमक। अलोप=छिपना।

(४७३)

भौहें स्याम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करै मानुस कहँ गढ़ा॥
चाँद कि मूँठि धनुक तँह ताना। काजर पनच बरुनि बिखबाना॥
जा सहुँ फेर छोहाइ न मारे। गिरिवर टर्रांहि सो भौहँन्ह टारे॥
सेतबंध जेइँ धनुक बिडारा। उहौ धनुक भौहँन्ह सौं हारा॥
हारा धनुक जो बेधा राहू। और धनुक कोइ गनै न काहू॥
कत सो धनुक मैं भौहँन्हि देखा। लाग बान तेत आव न लेखा॥
तेत बानन्ह झाँझर भा हिया। जेहि अस मार सो कैसें जिया॥
सोत सोत तन बेधा रावँ रोवँ सब देह।
नस नस महँ भै सालहिं हाड़ हाड़ भए बेह॥४७३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, पद्मावती की काली भँवें यों हैं मानो चढ़ा हुआ धनुष हो। जिसे वह अपनी उन भँवों का शिकार बनाए ऐसा भाग्यवान मनुष्य विधाता ने कहाँ जन्मा है? उसके मुख रूपी चन्द्र की मुट्ठी में वह धनुष चढ़ा हुआ है। उसका काजल उस धनुष की डोरी और बरौंनियाँ उन पर सधे विष के बाण हैं। जिसके सामने वह उस धनुष को घुमा देती है, फिर उस पर दया नहीं करती; बस तीर चला ही देती है। उन तीरों के प्रहार से पहाड़ भी हिल जाते हैं। जिस राम ने, धनुष से सेतुबन्ध के लिए समुद्र को बाण मारकर दो भागों में विभाजित कर दिया रूप बिगाड़ दिया, उनका वह धनुष भी उसकी भौहों से हार गया है। आशय है कि पद्मावती की भौहें घोर धनुर्धारी राम तक को पराजित कर देने वाली हैं। जिस धनुर्धारी अर्जुन ने स्वयम्बर के लिये अपने गाण्डीव धनुष से राहू का भेदन किया, वह भी उसकी भवें रूपी धनुष से हार गया। फिर उसके सामने किसी दूसरे धनुष की क्या गिनती है? राघव चेतन कहता है कि मैंने उसकी

भौंहों के धनुष को क्यों देखा, जो मेरे इतने वाण आ लगे कि उनकी गिनती भी नहीं की जा सकती ? उन बाणों के लगने से मेरा हृदय छलनी हो गया है। जिसे इस भाँति वींध कर मारा गया हो, वह भला कैसे जीवित रहे ?

मेरे शरीर का रंध्र रंध और रोम-रोम उन तीरों से घायल है। नस-नस में घावों का दुःख है, और हड्डी-हड्डी बिंधी हुई है।

शब्दार्थ—बेझकरे = लक्ष्य बनाए। पनच = प्रत्यंचा, धनुष की डोरी। छोहाइ = दया। बिडारा = बिगाड़ा। गनै = गणना करे। झाँझर = छलनी, झंझीरी। सोत = रंध्र। सालहि = घाव जनित दुख। बेह = बिधना।

(४७४)

नैन चतुर वै रूप चितेरे। कँवल पत्र पर मधुकर घेरे॥
समुँद तरंग उठहि जनु राते। डोलहिं तस घूमहिं जनु माँते॥
सरद चंद महँ खंजन जोरी। फिरि फिरि लरहिं अहोर बहोरी॥
चपल बिलोल डोल रह लागी। थिर न रहहिं चंचल बैरागी॥
निरखि अघाहिं न हत्या हतें। फिरि फिरि स्रवनन्हि लागहिं मतें॥
अंग सेत मुख स्याम जो ओहीं। तिरिछ चलहिं खिन सूध न होहीं॥
सुर नर गंध्रप लालि कराहीं। उलटे चलहिं सरग कहँ जाहीं॥

अस वै नैन चक्र दुइ भँवर समुँद उलथाहिं।
जनु पिउ घालि हिंडौरै लै आवहिं लै जाहि॥४७४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, उनके वे नेत्र मानो रूप के चित्रकार है। आशय यह है कि पद्मावती का रूप लावण्य उन नयनों के कारण बहुत बढ़ा-चढ़ा है। उन्हें देखकर लगता है कि कमल की पँखुरियों पर भौंरे मँडरा रहे हों। वे अनुराग से भरे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो समुद्र में लहरें उठ रही हों। वे नेत्र ऐसे चंचल हैं मानो मतवाले होकर घूम रहे हों। अथवा वे ऐसे लगते हैं कि शरदचन्द्र के वातावरण में खंजन की जोड़ी घूम-फिर-कर क्रीड़ा कर रही हो। अथवा वे चंचल स्वभाव वाले नेत्र हिलने वाले झूलने पर बैठे हों। वे नेत्र रमने वाले संन्यासी की तरह स्थिर नहीं रहते। वे नेत्र किसी ओर बस देखने मात्र से ही सन्तुष्ट नही होते, वरन वे तो जिसे देखते हैं उसकी हत्या करते हैं। फिर-फिर-कर वे कानों के पास मानो कोई गुप्त परामर्श करने के लिये पहुँचते हैं। यहाँ आशय सुन्दरी के चंचल नयनों के गुप-चुप वार कर देने वाले रहस्य से है। मनोवैज्ञानिक रूप में सुन्दरी के नेत्रों का कटाक्ष प्रायः कामोद्दीपन के समय कानों को स्पर्श करता-सा जान पड़ता है। यहाँ उसी ओर संकेत है। राघवचेतन कहता है, उन नेत्रों का शरीर श्वेत और मुख श्याम है। (यहाँ आँख का श्वेत भाग शरीर है, और श्याम पुतली मुख है; ऐसी कल्पना की गई है।) राघव कहता है, इसी कलमुँहे दोष के कारण ही तो वे तिरछे चलकर वार करते हैं। क्षणभर के लिये सीधे नहीं होते। वे नेत्र देवता, मनुष्य और गन्धर्वों को मोहित करते

हैं। अतः वे ऊर्ध्व होकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करते हैं, योग करते हैं।

पद्मावती के दोनों नेत्र दो चक्रों जैसे हैं। वे भँवर की भाँति चकराकर सागर को उलीचते हैं। वे प्राणों को झूलने पर डालकर बाहर भीतर लाते, ले जाते हैं—चैन नहीं लेने देते।

विशेष—नेत्रों के सौन्दर्याकर्षण की अनूठी परिकल्पनाओं और उपमानों से प्रकट किया गया है। किन्तु केवल काव्य चित्रण ही नहीं, पद में कई उक्तियों नेत्रों की काम-भाषा और भाव-भंगिमा को मनोवैज्ञानिक रूप में चित्रित करती हैं। यथा,

'निरखि अघाइ न हत्या हते।''

किंतु उनके कटाक्ष में कितनी गुप्त मंत्रणा भी है—

''फिरि फिरि स्रवनन्हि लागहिं मतें।।''

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४७५)

नासिक खरग हरे धनि कीरू। जोग सिंगार जिते औ बीरू।।
ससि मुख सौंहँ खरग गहि रामा। रावन सौं चाहै संग्रामा।।
दुहूँ समुंद्र रचा जेन्हँ बीरू। सेत बंध बाँधेउ नल नीरू।।
तिलक पुहुप अस नासिक तासू। औ सुगंध दीन्हेउ बिधि बासू।।
करन फूल पहिरें उजियारा। जानु सरद ससि सोहिल तारा।।
सोहिल चाहि फूल वह ऊँचा। धावहिं नखत न जाइ पहूँचा।।
न जनें केइँ फूल वह गढ़ा। बिगसि फूल सब चाहहिं चढ़ा।।
अस वह फूल बास कर आकर भा नासिक सनमंध।
जेत फूल ओहि फूलहिं हिरगे ते सब भए सुगंध।।४७५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा, उस सुन्दरी ने, तोते से खड्ग सी पतली नासिका मानो हर ली है। उसके द्वारा उसने शांत, शृङ्गार और वीर रस—इन तीनों को जीत लिया है। चन्द्र-मुख पर जो नासिका रूपी खड्ग है, मानो वह सुन्दरी उसके द्वारा अपने रमण करने वाले प्रियतम से युद्ध करना चाहती है। दोनों समुद्रों के बीच शशिमुखी सीता को पाने और पार उतरने के लिये राम ने जो नल-नील की सहायता से सेतुबन्ध बाँधा था, वही सेतुबन्ध मानो उसकी नासिका है। उसकी नासिका तिल के फूल के समान है, जिसे ईश्वर ने सुन्दर सुवास भी प्रदान की है। वह नाक में करना का समुज्ज्वल फूल पहने हुए है; मानो शरद्चन्द्र के निकट में सोहिल तारा उदित हो। सोहिल तारे से भी वह फूल श्रेष्ठ है। नक्षत्र दौड़ते हैं, किंतु वहाँ तक नहीं पहुँच पाते। पता नहीं, किसके लिये वह फूल गढ़ा गया है…कौन उसका भोग करेगा? उसी फूल पर सारे पुष्प खिलकर समर्पित होना चाहते हैं।

उसकी नासिका के सम्बन्ध को पाकर उस नासिका के फूल में इतनी सुवास परि-

पूर्ण होगई है कि अन्य जितने फूल खिले, और उस फूल से स्पर्श हुए, वे भी सारे उसी की सुगंध से परिपूर्ण होगए।

शब्दार्थ—खरग=खड्ग। कीरू=तोता। बीरू=वीर रस। रामा=स्त्री। रावन=रमण करने वाला पति। बिगसि=खिलकर। सनमंध=सम्पर्क, सम्बन्ध। हिरगे=स्पर्श किये।

(४७६)

अधर सुरंग पान अस खीने। राते रंग अमिअ्र रस भीने॥
आछहि भीज तँबोर सों राते। जनु गुलाल दीसहि बिहँसाते॥
मानिक अधर दसन नग हेरा। बैन रसाल खाँड मकु मेरा॥
काढ़े अधर डाभ सौं चीरी। रुहिर चुवैं जौं खंडहि बीरी॥
धारे रसहि रसहिं रस गीले। रकत भरे वै सुरंग रँगीले॥
जनु परभात रात रबि रेखा। बिगसे बदन कँवल जनु देखा॥
अलक भुवंगिनि अधरन्ह राखा। गहै जो नागिनि सो रस चाखा॥
अधर धरहिं रस पेम का अलक भुअंगिनि बीच।
तब अंब्रित रस पाउ पिउ ओहि नागिन गहि खींचु॥४७६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, पद्मावती के ओंठ पान की तरह पतले हैं। उनका रंग लाल है और वे अमृत-रस से परिलिप्त हैं। ताम्बूल के रस से भीगे हुए वे रक्त-वर्ण प्रतीत होते हैं। वे हँसते हुए दीखते हैं मानो गुलाल के पुष्प खिले हों। उसके ओठ माणिक्य और दाँत हीरे जैसे हैं। उसके बोल ऐसे मृदुल हैं मानो उसमें चाशनी मिली हो। उसके मुख-अधरों को देखकर प्रतीत होता है मानो किसी ने उन्हें डाभ से चीरा लगाकर (Operation) बाहर किया है। वह इतने रक्तिम और कोमल हैं कि पान की बीड़ी चबाने पर ही उनसे खून टपकने लगता है। रस युक्त और लिप्त वे अधर, रस का ही पान करते हैं। वे आकर्षक रंग वाले, रक्त से भरे हुए दीखते हैं। उन्हें देखकर लगता है मानो प्रभातकालीन सूर्य की रंगीन किरण-रेखा प्रकट हुई हों। अथवा मुख कमल खिलने पर अधर-पँखुरियाँ खुली हों। लट रूपी एक नागिन उन अधरों की रक्षा करती है। जो उस नागिन को वश में कर लेगा, वही उन अधरों का रस चूस सकता है।

उसके अधरों में प्रेम-रस भरा है। अलक रूपी नागिन बीच में है। यदि कोई उस अलक रूपी नागिन को खींचकर अपने वश में कर लेगा तभी वह उसके उन मृदुल अधरों का प्रेम-रस पान कर सकेगा।

शब्दार्थ—सुरंग=आकर्षक रंग। खीने=पतले। अमिअ्र=अमृत। तँबोर=ताम्बूल। बैन=बोल। मेरा=मिलाई। रुहिर=खून। भुवंगिनि=नागिन। बदन=मुख।

(४७७)

दसन स्याम पानन्ह रँग पाके। बिहँसत कँवल भँवर अस ताके॥

चमतकार मुख भीतर होई। जस दारिवँ औ स्याम मकोई।।
चमकै चौक बिहँसु जौं नारी। बीज चमक जस निसि अँधियारी।।
सेत स्याम अस चमकै डीठी। स्याम हीर दुहु पाँति बईठी।।
केइँ सो गढ़े अस दसन अमोला। मारै बीज बिहँसि जौं बोला।।
रतन भीज रँग मसि भै स्यामा। ओही छाज पदारथ नामा।।
कत वह दरस देखि रँग भीने। लै गौ जोति नैन भौ खीने।।
दसन जोति होइ नैन पँथ हिरदै माँझ बईठि।
परगट जग अँधियार जनु गुपुत ओहि पै डिठि।।४७७।।

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंगानुसार राघव चेतन कहता है कि हे सुलतान--

पद्मावती के कुछ दाँत, पान का पक्का रंग चढ़ने से श्याम रंग के हो गए हैं; और जब वह हँसती है तो वे ऐसे दीखते हैं कि मानो कमल पर भौंरे बैठे हों। उसके मुख के भीतर ऐसा चमत्कार है कि जैसे अनार के भीतर, उसके दानों के साथ, काली मकोय मिली हुई हो। अनायास जब वह सुन्दरी हँसती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अँधेरी रात में चंचला चमक उठी हो। उसका श्वेत और श्याम वर्ण चमकता हुआ ऐसा दृष्टिगत होता है मानो नीलम और हीरे दो पंक्तियों में जटित हों। उसके ऐसे अनमोल दाँत किसने बनाए हैं? वह हँसकर जब बोलती है तो बिजली गिर पड़ती है। उसका रत्नरूपी लाल मसूड़ा मिस्सी में भीगकर काला हो गया है। किंतु उसवाला पदार्थ नाम सच्चा है कि उसके हीरे जैसा शुभ्र अपना रंग नहीं छोड़ा। राघवचेतन कहता है कि मैंने क्यों उसका वह रंगराता दर्शन किया? वह दर्शन--जो ज्योति को लेकर मेरे नेत्रों को निर्बल बना गया? आशय है कि मेरा कैसा दुर्भाग्य था कि मैं उसे देखकर विकल हुआ, उसे पा न सका।

उसके दाँतों की ज्योति नेत्रों के मार्ग से होकर मेरे हृदय पर पहुँचकर चढ़ बैठी है। अतः यह दृश्यमान संसार मेरे लिये मानो अंधकार होगया और गुप्त रूप में, अन्तर में वही ज्योतिमयी दिखलाई पड़ती है।

विशेष--अंतिम पंक्तियों में सूफियाना सौन्दर्य का आध्यात्मिक भाव व्यक्त है। यहाँ 'कल्ब' (हृदय) की महिमा का बोध कराया गया है। कल्ब या हृदय अल्लाह का मंदिर है। किंतु इस कल्ब की महिमा हमारे उपनिषदों में भी मान्य है--देखिए,

"हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति···।"

किंतु यह ध्यान रखने वाली बात है कि यहाँ जायसी ने सिद्धान्त निरूपण नहीं किया, काव्य की 'वज्द' या तन्मयता या Emotion की अनुभूति ही प्रधान रक्खी गई है। यह उनके कलाकार की विशिष्टता है।

शब्दार्थ--सरल हैं।

(४७८)

रसना सुनहु जो कह रस बाता। कोकिल बैन सुनत मन राता।।

अंब्रित कोंप जीभ जनु लाई। पान फूल असि बात मिठाई।।
चात्रिक बैन सुनत होइ साँती। सुनै सो परै पेम मद माँती।।
बीरौ सूख पाव जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू।।
बोल सेवाति बुंद जेंउ परहीं। स्रवन सीप मुख मोंती भरहीं।।
धनि वह बैन जो प्रान अधारू। भूखे स्रवननि देहिं अहारू।।
ओन्ह बैनन्ह कै काहि न आसा। मोहहिं मिरिग बिहँसि भरि स्वाँसा।।
कंठ सारदा मोहहिं जीभ सुरसती काह।
इंद्र चंद्र रबि देवता सबै जगत मुख चाह।।४७८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, अब उसकी जीभ के विषय में सुनो, जो रस-पूर्ण बोल बोलती है। उसकी कोयल की-सी मृदु वाणी सुनकर मन अनुराग से रंजित हो जाता है। उसकी वह जीभ अमृत की कोंपल से बनी हुई है। उसकी बातों में पान और फूल की मृदुता है। उसके चातक एवं कोयल जैसे वचनों को सुनकर मन को शांति मिलती है। जो उसकी मिष्ट वाणी को सुनता है वह प्रेम-मद में चूर हो जाता है। पानी का सिंचन पाने से जिस भाँति सूखा पौधा हरा हो जाता है, इसी प्रकार उसके तरल वचनों को सुन-कर शरीर पल्लवित-पुलकित हो जाता है। उसके बोल, स्वाति बिंदु से झरते हैं; एवं श्रवण रूपी सीपों को मुक्ताओं से भर देते हैं। (रूपक है।) उसकी वह वाणी धन्य है कि जो प्राणधार बनकर प्रेम के भूखे कानों को भोजन देती है, संतोष देती है। उन मधुर बोलों को सुनने की आशा कौन नहीं करता? जब वह श्वाँस-संगीत भरकर हँसती है, तब मृग मोहित हो जाते हैं।

उसके मृदु कंठ से निकले बोल शारदा को भी मोहित कर लेते हैं। उसकी वाणी के आगे सरस्वती की क्या गिनती? इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, देवता और सारा विश्व उसके मुख को निहारता है—काश, वह बोल उठे—बोल उठे!

शब्दार्थ—रसना=जीभ। राता=अनुरक्त। अंब्रित=अमृत। कोंप=कोंपल। चात्रिक=कोयल और चातक। बीरौ=पौधा। नीरू=पानी। बैन=बोल, वचन। माँती=चूर, मस्त, मूर्छित। अधारु—आधार। स्रवन=कान। अहारू=भोजन।

(४७९)

स्रवन सुनहु जो कुंदन सीपी। पहिरें कुंडल सिंघल दीपी।।
चाँद सुरुज दुहुँ दिसि चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।।
खिन खिन करहिं बिज्जु अस काँपे। अंबर मेघ रहहिं नहिं झाँपे।।
सूक सनीचर दुहुँ दिसि मतें। होंहि निरार न स्रवनन्हि हुतें।।
काँपत रहहिं बोल जौं बैना। स्रवनन्हि जनु लागहिं फिरि नैना।।
जो जो बात सखिन्ह सौं सुना। दुहुँ दिसि करहिं सीस वै धुना।।
खूंट दुहूँ धुव तरई खूंटी। जानहु परहिं कचपची टूटी।।

वेद पुरान ग्रंथ जत सबै सुनै सिखि लीन्ह ।
नाद बिनोद राग रस बिदक स्रवन ओहि बिधि दीन्ह ।।४७६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, अब उसके कानों की चर्चा सुनो, जो स्वर्ण-सीपी की भाँति शोभायमान है। वह सिंघलद्वीप के कुंडल पहनती है। कुंडल क्या, वे तो चाँद सूरज की भाँति चमकते हैं। वे नक्षत्रों, अर्थात रत्नों से जड़े हुए हैं। अतः उनकी ओर देखा भी नहीं जाता। क्षण-क्षण में उनकी किरणें विद्युत की भाँति काँपती, चमकती हैं। उन पर मेघ जैसा वस्त्र ढका रहता है, किन्तु उसमें वे ढँके नहीं रहते ; साफ झिलमिलाते हैं। वे कुंडल क्या हैं, मानो शुक्र और शनिश्चर नक्षत्र परस्पर मंत्रणा करते हों ; और श्रवणों से अलग होना ही चाहते हों। जब वह बोलती है तो शुक्र और शनिश्चर डर से काँपते हैं कि कहीं फिर नेत्र कानों के साथ न मिल जायँ। आशय है कि शुक्र शनिश्चर इसलिये डरते हैं कि कहीं नेत्र का कानों से मिलन उनके लिये घातक और अशुभ सिद्ध न हों। क्योंकि नेत्रों की कोरें, ज्यों-ज्यों स्त्री की जवानी का उभार होता जाता है, त्यों-त्यों कानों की ओर बढ़ती जाती हैं। और उसके विवाह का लग्न पास आता जाता है। शुक्र शनिश्चर चूँकि इस लग्न के शत्रु और विवाह के बाधक होते हैं, अतः वह दुःखी होते हैं। आगे राघव चेतन कहता है, ज्यों-ज्यों उसे अपनी सखियों से बातें करते सुनते हैं, शुक्र शनिश्चर हाथों से अपना सिर धुनने लगते हैं। कानों के खूँट नामक दोनों गोल ज़ेवर मानो दो ध्रुव हैं। उनसे लटकती खूँटी, मानो नक्षत्रिका है। ऐसा लगता है मानो कचपजिया टूटी है।

उसने वेद, पुराणादि जितने भी ग्रंथ हैं, सब सुनकर सीख लिये हैं। नाद, विनोद, राग, रस आदि का अनुभव करने वाले अनोखे कान ईश्वर ने उसे प्रदान किये हैं।

शब्दार्थ—स्रवन=कान। निरखि=देखे। खिन=पल। बिज्जु=विद्युत। सूक=शुक्र तारा। मतें=मंत्रणा करना। निरार=अलग। सीस=सिर। खूँट=कान का दीपकाकार गहना।

(४८०)

कँवल कपोल आहि अस छाजे। और न काहु दैयँ अस साजे।।
पुहुप पंक रस अमिय्र सँवारे। सुरंग गेंदु नारँग रतनारे।।
पुनि कपोल बाएँ तिल परा। सो तिल बिरह चिनिगि कै करा।।
जो तिल देख जाइ डहि सोई। बाईं दिस्टि काहु जनि होई।।
जानहुँ भँवर पदुम पर टूटा। जीउ दीन्ह औ दिएहुँ न छूटा।।
देखत तिल नैनन्ह गा गाड़ी। औरु न सूझै सो तिल छाँड़ी।।
तेहि पर अलक मंजरी डोला। छुअै सो नागिनि सुरँग कपोला।।
रछ्या करै मँजूर ओहि हिरदैं ऊपर लोट।
केहि जुगुति कोइ छुइ सकै दुइ परबत की ओट।।४८०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, पद्मावती के कमल जैसे कपोल जिस भाँति शोभित हैं, विधाता ने वैसे किसी के नहीं बनाए। वे पुष्प-पराग एवं अमृत-रस से सँवारे गए हैं। वे रंगीन गेंद और नारँग की भाँति गोलाकार हैं। फिर उसके वाम कपोल पर तिल है। वह तिल लगता है कि बढ़ती विरहाग्नि की चिंगारी की लपट या चिह्न है। जो इस तिल को देखता है, वही दग्ध हो जाता है। ईश्वर न करे कि उसके प्रति किसी की कामातुर वामदृष्टि हो। आशय है कि कोई पद्मावती के उस कपोल-तिल को कामुक दृष्टि से न देखे, अन्यथा वह दग्ध हो जायगा। वह तिल, लगता है कि कमल पर भरमाया पड़ा भौंरा हो जिसने अपना प्राण दिया, किन्तु तब भी वह बन्धन मुक्त न हुआ। देखते ही वह तिल नेत्रों में पुतली बनकर गड़ गया। फिर उस तिल के सिवाय नेत्रों को कोई और दिखलाई नहीं पड़ता। आशय है कि उस तिल को देखकर नेत्र सर्वदा के लिये उसके वश में हो रहते हैं। उस तिल पर बिखरी लट मंजरी सी प्रतीत होती है, मानो वह तिल उसी पर प्रस्फुटित हुआ हो। वह नागिन सी लट उस तिल को स्पर्श कर मानो रसमय गालों को चूमती है।

उसकी मयूर सी ग्रीवा, उस नागिन लट को हृदय तक जाने से मानो रोक लेती है, उसकी रक्षा करती है कि कहीं वह हृदय को न डस जाय, नहीं तो वह लट हृदय पर जाकर लोटती। उसके उरोज रूपी दो पर्वतों के बीच में उस सुरक्षित हृदय को कौन, किस युक्ति से स्पर्श कर सकता है?

शब्दार्थ—छाजे=शोभित होना। पंक रस=पराग। अमिअ=अमृत। गेंदु=गेंद। चिनगि=चिंगारी। करा=कला या किरण, यहाँ 'लपट' से अर्थ है। पदुम=कमल। गाड़ी=गड़ा। रख्या=रक्षा।

(४८१)

गीवँ मँजूर केरि जनु ठाढ़ी। कुंदै फेरि कुँदेरैं काढ़ी॥
धन्य गीवँ का बरनौं करा। बाँक तुरंग जानु गहि धरा॥
घुरत परेवा गीवँ उँचावा। चहै बोल तँवचूर सुनावा॥
गीवँ सुराही कै असि भई। अमिय पियाला कारन नई॥
पुनि तिहि ठाउँ परी तिरि रेखा। नैन ठाँव जिउ होइ सो देखा॥
सुरुज कांति करा निरमली। दिसै पीकि जाति हिय चली॥
कंज नार सोहै गिवँ हारा। साजि कँवल तेहि ऊपर धारा॥
नागिनि चढ़ी कँवल पर चढ़ि कै बैठ कमंठ।
जो ओहि काल गहि हाथ पसारै सो लागे ओहि कंठ॥४८१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन ने कहा कि हे सुलतान, पद्मिनी की गरदन ऐसी है मानो मोर ने अपनी गरदन सीधी खड़ी कर ली हो; अथवा खरादी ने उसे खराद पर चढ़ाकर रची हो। वह गरदन धन्य है; उसकी कला-शोभा का मैं क्या वर्णन करूँ? लगता है कि मानो, चंचल तुरंग की रास पकड़ रक्खी हो। 'गुटरगूँ' बोलता हुआ कबूतर जैसे मस्ती से अपनी

गरदन ऊपर उठाता है, अथवा, जैसे मुर्गा अपनी बाँग देने के लिए ग्रीवा उठाता है, इसी भाँति उसकी गर्वीली ग्रीवा उठी हुई है। उसकी गरदन सुराही सदृश है जो अमृत-प्याले में उड़लने के लिये झुकती है। आशय यह है कि वह अपने प्रियतम के मधुपान की सुराही है। फिर उसमें तीन स्थान पर तीन धारियाँ पड़ी हैं। जो उसे देखता है, उसके प्राण सिमट कर नेत्रों में आ जाते हैं। वह गरदन सूर्य की कांति से भी अधिक निर्मल है। उसमें होकर हृदय में जाती पान की पीक तक दिखलाई पड़ती है। कमल की सुन्दर नाल तक उस गरदन की शोभा से पराजित है। अतः उस नाल ने अपने ऊपर कमल सजाया किन्तु वह कमल भी उस सुन्दरी की मुख-शोभा को न पा सका।

उसकी वेणी रूपी नागिन मुख रूपी कमल पर आसीन है। और फिर, वह मानो कछुए की कमर पर या पद्मावती की पीठ पर बैठ गई है। जो उस काल रूपिणी वेणी को पकड़ने को हाथ फैलाएगा, वही उस सुन्दरी का कंठालिगन कर सकेगा। आशय है उसे पाना साहस का काम है।

शब्दार्थ—गीवँ=गरदन। मँजूर=मोर। कुंदै=खराद। बरनौं=वर्णन करूँ। परेवा=कबूतर। घुरत=कबूतर का 'गुटरगूँ' बोल। उँचावा=ऊपर उठाना। बाँक=चंचल। तुरंग=घोड़ा। अमिय=अमृत। करा=किरण, काँति। कँचनार=कमल-नाल। कमंठ=कछुआ की जैसी पीठ से आशय है। पसारै=फैलाना। ओहि=उसका।

(४८२)

कनक डंड भुज बनीं कलाई। डांड़ी कँवल फेरि जनु लाई॥
चंदन गाभ की भुजा सँवारी। जनु सुमेल कोंवलि पौंनारी॥
तिन्ह डाँड़िन्ह वह कँवल हथोरी। एक कँवल कै दूनौ जोरी॥
सहजहिं जानहुँ मेंहदी रची। मुकुता लै जनु घुँघुँची पची॥
करपल्लौ जो हथोरिन्ह साथाँ। वै सुठि रकत भरे दुहुँ हाथाँ॥
देखत हिए काढ़ि जिउ लेहीं। हिया काढ़ि लै जाहिं न देहीं॥
कनक अँगूठी औ नग जरी। वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी॥
जेसनि भुजा कलाई तेहि बिधि जाइ न भाखि।
कंगन हाथ होइ जहँ तहँ दरपन का साखि॥४८२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन कहता है कि हे सुल्तान, उसके स्वर्ण दण्ड जैसी माँसल भुजाओं की कलाइयाँ इस प्रकार की हैं मानो कमल की डण्डी उल्टी करके लगाई गई हों। आशय है कि उसकी कलाइयाँ कमल की भाँति सुन्दर हैं। चन्दन गाभ से मानो ऊपरी भुजा सँवारी गई है। कलाइयों से उनका समन्वय कोमल कमल की नाल की तरह से है। कलाई से आगे की हथेली इस भाँति प्रतीत होती है मानो नाल पर कमल हो। उसकी दोनों हथेलियाँ एक कमल के दो भाग जैसी प्रतीत होती हैं। वह स्वाभाविक रूप में ऐसी लाल लगती हैं जैसे उनमें मेंहदी रची हो। जब वह हाथ में मोती लेती है तो घुंघुची की पच्चीकारी हुई सी

दिखलाई पड़ती है। हथेलियों के साथ जो कर-पल्लव हैं, उनसे, दोनों हाथों में रक्त भरा हुआ सा लगता है। वह देखते ही उर से प्राण खींच लेती है। जिस प्राण को वह निकाल-कर ले जाती है फिर वापिस नहीं देती। उसकी स्वर्ण की अँगूठी नगीना जड़ी हुई है। वह हत्यारिन होते हुये भी, उसका भाग्य कि नक्षत्रों से समलंकृत है।

उसकी जैसी भुजाएँ और कलाई हैं, उनका उसी भाँति वर्णन नहीं किया जाता। जिसका हाथ ही जहाँ कँगन जैसा छविमान हो उसे दर्पण में अपने रूप को प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता है ?

विशेष—प्रस्तुत पद में सौंदर्य-शृङ्गार का बड़ा बारीक चित्रण हुआ है। अन्तिम पंक्ति में तो जायसी ने उक्ति चमत्कार दिखलाने में कमाल ही किया है। दर्पण की उपेक्षा और रूप की अद्वितीयता का "कंगन हाथ" कहकर जायसी ने एक सर्वथा नवीन परि-कल्पना का चित्र खींचा है, जो काव्य शिल्प विधान का अनूठा उदाहरण बनकर स्थिर है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४८३)

हिया थार कुच कनक कचोरा। साजे जनहु सिरीफल जोरा॥
एक पाट जनु दूनौं राजा। स्याम छत्र दूनहुँ सिर साजा॥
जानहुँ लटू दुओौं एक साथाँ। जग भा लटू चढ़ै नहिं हाथाँ॥
पातर पेट आहि जनु पूरी। पान अधार फूल असि कोंवँरी॥
रोमावलि ऊपर लट झूमा। जानहुँ दुऔ स्याम ओ रूमा॥
अलक भुवँगिनि तेहिं पर लोटा। हेंगुर एक खेल दुइ गोटा॥
बाँह पगार उठे कुच दोऊ। नाग सरन उन्ह नाव न कोऊ॥
कैसेहुँ नवहि न नाएँ जोबन गरब उठान।
जो पहिलें कर लावै सो पाछें रति मान॥४८३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन कहता है कि हे सुलतान, पद्मावती का हृदय थाल है। उसके दोनों उरोज स्वर्ण-कटोरे हैं, अथवा मानो श्रीफल की जोड़ी हैं, अथवा एक सिंहासन पर मानो दो राजा आसीन हैं; और दोनों के सिर पर श्याम-छत्र शोभित है। यहाँ "श्याम छत्र" से आशय उरोजों की ऊपर की घुण्डी से है। अथवा दो एक साथ लड्डू हैं, जिन पर संसार लट्टू बना हुआ है, और वह सुन्दरी किसी के हत्थे नहीं चढ़ती। आशय यह है कि संसार पद्मावती के उरोज रूपी लट्टुओं पर मोहित होकर स्वयं लट्टू हो गया है, पर उसका स्पर्श-भोग नहीं कर पाता। आगे राघव चेतन कहता है कि उसका पतला पेट पूड़ी के समान है। वह पान के आधार पर जीती है एवं फूल जैसी सुकुमार अथवा कोमलांगी है। 'पान के आधार' से आशय पद्मावती के हल्के सुडौल शरीर से है। उसकी रोमावली के ऊपर झूमती हुई लट इस प्रकार शोभित होती है मानो श्याम एवं रूम देशों का जोड़ मिला हो। (उत्प्रेक्षा है, परिकल्पना बड़ी मौलिक एवं विशाल है।) उसपर अलक रूपी नागिन लोटती हुई ऐसी

प्रतीत होती है मानों दो गेंदों से चौगान का खेल खेला जा रहा हो। आशय यह है कि पद्मावती के दोनों उरोज, दो गेंद तुल्य हैं और उसकी लट उनसे चौगान का खेल जैसा दृश्य प्रस्तुत करती है। विचित्रता यह है कि किस प्रकार से उन उरोजों का चौगान जैसा खेल लटों द्वारा प्रकट हो रहा है। आगे राघव चेतन कहता है कि उसके भुजा रूपी परकोटे में बुर्जों के समान दो उत्तुंग कुच, समक्ष उठे हुये हैं। हाथी भी उनकी शरण लेते हैं, उन्हें अपनी टक्कर से नहीं धँसा पाते। अतः उन्हें कोई भी झुका नहीं सकता।

वह उरोज किसी भी प्रकार झुक नहीं सकते, क्योंकि वह यौवन के अभिमान से मत्त उठे हुए हैं। जो पहले उन्हें अपने अधीन करेगा तभी वह पद्मावती से सम्भोग प्राप्त कर सकेगा।

विशेष—प्रस्तुत पद में कुचों की उपमा उत्प्रेक्षा के लिये जिन उपमानों की परिकल्पना है एवं उनका विशिष्ट वर्णन किया गया है, वह सर्वथा मौलिक एवं प्रभावशाली है। जायसी के महाकवित्व को पुष्ट करनेवाली ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

'जानहु लटू दुऔ एक साथाँ। जग भा लटू चढ़ै नहिं हाथा॥"

× × ×

रोमावलि ऊपर लट झूमा। जानहु दुऔ स्याम औ रूमा॥

× × ×

अलक भुअंगिनि तेहि पर लोटा। हेंगुर एक खल दुइ गोटा॥

शब्दार्थ—सरल हैं। भावार्थ के अनुसार देखें।

(४८४)

भ्रिंग लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खँड निलिनि माँझ जस तागा॥
जब फिरि चली देख मैं पाछे। आछरि इन्द्र केरि जस काछें॥
उजहि चलो जनु भा पछिताऊ। अबहू दिस्टि लागि ओहि भाऊ॥
ओहि के गवन छपि अछरीं गईं। भईं अलोप नहिं परगट भईं॥
हंस लजाइ समुँद कहँ खेले। लाज गयंद धूरि सिर मेले॥
जगत इस्त्रीं देखी महूँ। उदै अस्त अस नारि न कहूँ॥
महि मंडल तो अैस न कोई। ब्रह्मँडल जौं होइ तो होई॥
बरनी नारि तहाँ लगि दिस्टि झरोखें आइ।
औरु जो रही अदिस्टि भै सो कछु बरनि न जाइ॥४८४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन कहता है कि हे सुल्तान, पद्मावती की कमर भृंगी की कमर जैसी है। वह इतनी पतली है कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका मध्य भाग लगा ही नहीं। अथवा, वह कमर कमलिनी के दो भागों को मध्य से जोड़ने वाला बारीक तन्तु हो। जब वह घूमकर चली तो मैंने पीछे से देखा जैसे इन्द्र की सजी-धजी अप्सरा चली हो। जब वह मुझे छोड़कर गई तो मेरे मन में पछतावा हुआ कि हाय, वह क्यों चली गई! अब भी मेरी दृष्टि उसी की भाव-मुद्रा पर लगी हुई है। उसकी मस्त चाल के आगे अप्सरायें छिप गईं। वह

ऐसी अदृश्य हुई कि फिर से न दिखलाई पड़ी। उसकी शोभा-सुषमा के समक्ष हंस लजाकर समुद्र की ओर चले गये और हाथी लाजवश सिर पर धूल उछालने लगा। आशय यह है कि उसकी चाल को देखकर हंस मानसरोवर का मार्ग छोड़ बैठे और हाथी अपनी चाल, गज-गरिमा पर हीनता से धूल उछालने लगा। आगे राघव चेतन कहता है कि मैंने भी संसार में बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ देखी हैं किंतु उदय से अस्त तक, अर्थात पूरब से पश्चिम तक कहीं भी मैंने वैसी सुन्दर स्त्री नहीं देखी। इहिलोक में तो कोई स्त्री है ही नहीं; हाँ स्वर्ग में कोई हो तो भले हो।

हे सुलतान, जितनी कुछ सुन्दरता मैंने झरोखे पर आई पद्मावती नारी की देखी, वह वर्णन कर दी है। और जो प्रत्यक्ष में वह अनदेखी रह गई है, उसका वर्णन नहीं किया जाता।

विशेष—अंतिम पंक्ति में सूफियाना-तजल्ली का जमाल (परम प्रेम ज्योति का माधुर्य) व्यक्त करके उस पर चिलमन डाल दी गई है ताकि जाहिद (साधक) उससे जिमाअ (संयोग) पाने के लिए तत्पर हो और वह दतुलवजूद (अद्वयसत्ता) की स्थिति प्राप्त करे। किंतु यह सब कुछ रहस्यवादी भावशैली के द्वारा ही अभिव्यक्त है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४८५)

का धनि कहौं जैसि सुकुंवारा। फूल के छुएँ जाइ बिकरारा॥
पँखुरी लीजहि फूलन्ह सेंती। सो नित डासिअ सेज सुपेती॥
फूल समूच रहै जो पावा। व्याकुल होइ नींद नहि आवा॥
सहै न खीर खाँड औ घीऊ। पान अधार रहै तन जीऊ॥
नसि पानन्ह कै काढ़िअ हेरी। अधरन्ह गड़ै फाँस ओहि केरी॥
मकरी क तार ताहि कर चीरू। सो पहिरे छिलि जाइ सरीरू॥
पालक पांव कि आछहि पाटा। नेत बिछाइअ जौं चल बाटा॥
घालि नयन जनु राखिअ पलकन कीजै ओट।
पेम क लुबुधा पावै काह सो बड़ का छोट॥४८५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव चेतन कहता है कि हे सुलतान, वह सुन्दरी कितनी कोमलांगी और सुकुमार है, मैं यह कैसे कहूँ? वह तो फूल के स्पर्श तक से विकल हो जाती है। नित्य उसकी सेज पर फूलों की पँखुरियों के साथ चादर बिछाई जाती है। यदि कोई फूल साबित रह जाता है तो वह बेचैन हो जाती है और उसे नींद नहीं आती। वह तो खीर, शक्कर और घी का तरल भोजन भी नहीं पचा पाती। वह तो पान के आधार पर शरीर में जीव धारण किये है। भली भाँति देखकर पानों की नसें (पतले रेशे) निकाली जाती हैं क्योंकि वह नसें फाँस की तरह उसके कोमल अधरों में चुभ जाती हैं। उसका वस्त्र बारीक, मानो मकड़ी के तारों से बना है, फिर भी उससे उसका कोमल शरीर छिल जाता है। उसके

चरण या तो पलँग पर रहते हैं, या सिंहासन-पीठ पर। जब वह पथ पर चलती है तो 'नेत' रेशमी वस्त्र बिछाया जाता है।

हे सुलतान, वह नेत्रों के भीतर समा-सजाकर रखने वाली है; और निमिष भर भी पलकों की ओट करने योग्य नहीं। कोई प्रेम-लुब्ध प्रेमी ही उसे प्राप्त कर सकता है; चाहे वह धनवान हो या निर्धन, बड़ा हो या छोटा।

विशेष—रूप वर्णन रीतिकालीन परम्परा का है। प्रायः बिहारी की नायिका का भी, इसी प्रकार की व्याजस्तुति से सौन्दर्य प्रकट किया गया है। इस प्रकार के वर्णन में कला-पक्ष का आग्रह अधिक एवं भाव-पक्ष सर्वथा गौण हो जाता है। जायसी के प्रस्तुत पद की भाँति, तुलनात्मक दृष्टि से बिहारी का यह दोहा पठनीय है—

छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झिझकति हिये गुलाब के, झँवा झँवावत पाय॥

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४८६)

राघौ जौं धनि बरनि सुनाई। सुना साह मुरुछा गति आई॥
जनु मूरति वह परगट भई। दरस देखाइ तबहिं छपि गई॥
जो जो मँदिल पदुमिनी लेखी। सुनत सो कँवल कुमुद जेउँ देखी॥
मालति होइ असि चित्त पईठी। औरु पुहुप कोइ आव न डीठी॥
मन हूवै भँवर भँवै बैरागा। कँवल छाँड़ि चित औरु न लागा॥
चाँद के रंग सुरुज जस राता। अब नखतन्ह सौं पूँछ न बाता॥
तब अलि अलाउदीन जग सूरू। लेउँ नारि चितउर कै चूरू॥
जौं वह मालति मानसर अलि न बेलंबै जात।
चितउर महँ जो पदुमिनी फेरि बहै कहु बात॥४८६॥

भावार्थ—पूर्व पदों के पद्मावती श्रृंगार सौन्दर्य वर्णन को राघव चेतन के मुख से सुनकर जो प्रतिक्रिया अलाउद्दीन की हुई उसको प्रकट करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं—

राघव चेतन ने जो उस सुन्दरी का वर्णन सुनाया, उसे सुनकर शाह को बेहोशी की स्थिति हो आई। उसे लगा मानो उसके सामने वह प्रतिमा साकार प्रगट हुई है और दर्शन दिखाकर तुरन्त लोप हो गई। महल में जिस-जिसको वह पद्मावती समझता था, अब उस कमल रूपिणी पद्मावती का रूप वर्णन सुनने के उपरान्त उस-उसको कुमुदिनी समझने लगा। मालती का पुष्प बनकर पद्मावती उसके हृदय में बैठ गई। और कोई फूल दृष्टि को न भाता था। मन भौंरा बनकर वैरागी सा घूमता था। उस कमल सदृश पद्मावती को छोड़-कर कहीं और मन न लगता था। जैसे सूर्य चन्द्रमा के सौन्दर्य पर अनुरक्त हो गया था, अतः अब नक्षत्रों की ओर ध्यान भी न करता था। तात्पर्य है कि शाह अब पद्मावती पर अनुरक्त होकर अन्य रानियों की ओर से वीतराग हो चला था। शाह ने सोचा, तब मैं

संसार का वीर अलवाल शाह अलाउद्दीन हूँगा जब कि चित्तौड़ को नष्ट करके सुन्दरी पद्मावती को अपने कब्जे में ले लूँगा।

यदि वह मालती पद्मावती दूर मानसरोवर में भी होती तो भी रसिक भौंरा, अर्थात् मैं अलाउद्दीन उसके लिए वहाँ जाते देर न करता। हे राघव, चित्तौड़ में वह जो पद्मिनी है, फिर से उसका रूप शृंगार वर्णन करो।

शब्दार्थ—मुरछा=बेहोशी। छपि=छिपना, अलोप। मँदिल=महल। पईठी=बैठी। पुहुप=पुष्प। सूरू=सूर्य, वीर। चूरू=नष्ट। बेलंबै=देरी से।

(४८७)

ए जग सूर कहौं तुम्ह पाहाँ। और पाँच नग चितउर माहाँ॥
एक हंस है पंखि अमोला। मोती चुनै पदारथ बोला॥
दोसर नग अंब्रित बसा। सब बिख हरै जहाँ लगि डसा॥
तीसर पाहन परस पखाना। लोह छुवत होइ कंचन बाना॥
चौथ अहै सादूर अहेरी। जेंहि बन हस्ति धरे सब घेरी॥
पाँचौं है सोनहा लागना। राज पंखि पंखी कर जना॥
हरिन रोझ कोइ बाँच न भागा। जस सैचान तैस उड़ि लागा॥
नग अमोल अस पाँचौ मान समुँद ओहि दीन्ह।
इसकंधर नहिं पाएउ जौं रे समुँद धँसि लीन्ह॥४८७॥

भावार्थ—पूर्व पद के अनुसार शाह अलाउद्दीन के कथन पर राघव चेतन विभीषण की भाँति चित्तौड़ का भेद देता हुआ कहता है—

हे संसार के सूर्य, तुम्हें बतलाता हूँ कि चित्तौड़ में और भी विचित्र पाँच रत्न हैं। एक हंस है, जो अनमोल पक्षी है। वह मोती चुगता है और उसकी बोली पदार्थ तुल्य उत्तम है। दूसरा एक रत्न है जिसमें अमृत निहित है। वह सब प्रकार के दंशों का ज़हर दूर कर देता है। तीसरा पारस पत्थर है। उससे लोहा स्पर्श करते ही स्वर्ण वर्ण हो जाता है। चौथा शिकारी शार्दूल है, जिसने सारे जंगली हाथियों को घेर रक्खा है। पाँचवाँ सोनहा है जो पक्षी के कुल में राजपक्षी बनकर जन्मा है। हिरन और नील गाय, कोई उससे बचकर नहीं जाता। वह बाज़ की भाँति उड़कर झपट्टा मारता है।

इस प्रकार के विचित्र पाँचों रत्न समुद्र ने उसे भेंट में दिये हैं। रत्नसेन ने जो समुद्र में धँसकर इस प्रकार के रत्न पाए हैं, ऐसे महान सिकन्दर ने भी नहीं पाए।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४८८)

पान दीन्ह राघौ पहिरावा। दस गज हस्ति घोर सौ पावा॥
औ दोसर कंगन कर जोरी। रतन लागि तेहि तीस करोरी॥
लाख दिनार देवाई जेंवा। दारिद हरा समुद कै सेवा॥
हौ जेंहि दिवस पदुमिनी पावौं। तोहि राघौ चितउर बैसावौं॥

पहिलें कै पाँचौं नग मूँठी। सो नग लेउँ जो कनक अँगूठी ॥
सरजा सेर पुरुख बरियारू। ताजन नाग सिंघ असवारू ॥
दीन्ह पत्र लिखि बेगि चलावा। चितउर गढ़ राजा पहँ आवा ॥
पग दीन्ह लै राजहि किरिपा लिखी अनेग।
सिंघल की जो पदुमिनी सो चाहौ यहि बेगि ॥४८८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राघव को सुलतान ने पान और सुन्दर पोशाक इनाम में दी। दस नर हाथी और सौ घोड़े भी राघव ने प्राप्त किये। और दूसरी कंगन की जोड़ी प्रदान की। उस कंगन में तीस करोड़ मूल्य के रत्नादि जड़े थे। आजीविका के लिये राघव को एक लाख दीनारें सुलतान ने इनाम में दीं। मानो समुद्र की सेवा करने से राघव का दारिद्रय समाप्त हो गया। सुलतान ने कहा कि हे राघव चेतन, जिस दिन मैं पद्मिनी पा जाऊँगा, तुझे चित्तौड़ के सिंहासन पर आसीन कर दूँगा। पहले उन पाँचों रत्नों को कब्जे में करके फिर उस नग को लूँगा जो हाथ की स्वर्णमुद्रा में जड़ने योग्य है। आशय है कि पद्मावती को अपना बनाऊँगा। सरजा एक सिंह पुरुष और बहादुर था। नाग का चाबुक लिये वह सिंह पर सवार रहता था। शाह ने उसे फरमान लिखकर चित्तौड़ के लिये भेजा। वह चित्तौड़गढ़ के राजा के यहाँ आया।

सरजा ने वह फरमान ले जाकर राजा को दिया। उसमें अनेक प्रकार की कृपायें लिखकर लिखा—"तुम्हारे पास जो सिंहल द्वीप की पद्मिनी है उसको मैं अविलम्ब चाहता हूँ।"

शब्दार्थ—पहरावा=पोशाक। घोर=घोड़ा। करोरी=करोड़। दिनार=दिनारें, सिक्का। बैसरवौं=बिठलाऊँगा। बरियारू=वीर। ताजन=कोड़ा, चाबुक। अनेग=अनेक। बेगि=अविलम्ब।

●

४२--बादशाह चढ़ाई खण्ड

(४८९)

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहु देव तरपि घन गाजा ॥
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूर लै खाई ॥
भलेहें सो साहि पुहुमिपति भारी। माँग न कोई पुरुख कै नारी ॥
जौं सो चक्कवै ता कहँ राजू। मँदिर एक कहँ आपन साजू ॥
आछरि जहाँ इंद्र पै रावा। औरु जो सुनै न देखै पावा ॥

कंस क राज जिता जौं कोपी। कान्हहि दीन्ह काहु कहु गोपी ।।
का मोहि तें अस सूर अँगारा। चढ़ौ सरग औ परौं पतारा ।।
को तोहि जीव मरावौं सकति आन के दोस।
जो तिल बुझै न समुँद जल सो बुझाइ कत ओस।।४८९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

अलाउद्दीन के पत्र में ऐसा लिखा हुआ सुनकर राजा रत्नसेन आग-बबूला हो गया। वह इस भाँति क्रोध में गरजा मानो बादल ने तड़पकर गर्जना की हो। राजा रत्नसेन बोला—अरे, तू मुझे अपना सिंह क्या दिखलाता है ? कहूँ तो मेरा शार्दूल उसे झपटकर खा जायगा। भले ही वह शाह बड़ा महीपति है किंतु पर पुरुष की स्त्री माँगने का उसे कोई अधिकार नहीं है। यदि वह चक्रवर्ती है तो अपने राज्य के लिये होगा किंतु हरएक को अपना घर अपना है, उस पर किसी का ज़ोर नहीं है। जहाँ अप्सरा रहती हैं वहाँ रमण इन्द्र जैसा राजा ही करता है। और कोई यदि उस अप्सरा के विषय में मालूम कर भी ले तो वह उसकी बुरी दृष्टि को नहीं सहन कर सकता। यद्यपि कृष्ण ने क्रोध करके कंस का राज्य जीत लिया किंतु फिर भी किसी गोप ने अपनी गोपी का अधिकार नहीं दे दिया या कृष्ण का अधिकार किसी गोपी पर नहीं होगया। यदि वह शाह सूर्य रूपी अंगारा है तो मुझे उससे क्या ? मैं भी स्वयं सूर्य हूँ, आकाश पर चढ़ सकता हूँ; और पाताल में छलाँग लगा सकता हूँ।

हे सरजा, दूसरे के किये अपराध में मैं तुझे क्या मारूँ ? जो प्यास समुद्र के जल से नहीं बुझती वह ओस से क्या बुझेगी ? आशय है कि मैं क्षत्री होकर दूत को क्या मारूँ ? जबकि बड़े-बड़े राजों को मार कर सन्तुष्टि नहीं होती तो तुच्छ दूत को मारकर क्या होगी !

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में भारतीय राजपूती मान-मर्यादा का जायसी ने बड़ा सुन्दर निर्वाह दिखलाया है। राजपूत राजे दूत को मारना अनुचित समझते रहे हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४९०)

राजा रिसि न होहि अस राता। सुनि होइ जूड़ न जरि कहु बाता ।।
आवा हौं सो मरै कहँ आवा। पातसाहि अस जानि पठावा ।।
जौ तोहि भार न औरहि लेना। पूँछहि काल उतर है देना ।।
पातसाहि कहँ अँस न बोलू। चढ़ै तो परै जगत महँ डोलू ।।
सूरै चढ़त न लागै बारा। धिकै आगि तेहि सरग पतारा ।।
परबत उड़ै सूर के फूंके। यह गढ़ छार होइ एक झूंके ।।
धँसै सुमेरु समुँद गा पाटा। भुइँ सम होइ धरै जौं बाटा ।।

तासौं का बड़ बोलसि बैठि न चितउर खासि।
उपर लेहि चँदेरी का पदुमिनि एक दासि ॥४६०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सरजा बोला, हे राजा, इस भाँति क्रोध से लाल नहीं हुआ करते। जो कुछ मैं कहूँ उसे ठंडे होकर शांतिपूर्वक सुनो, जली हुई बातें न करो। मैं जब यहाँ आया हूँ तो मरने के लिये ही आया हूँ। और मुझे बादशाह ने भेजा भी इसी विचार से है। जो तुम्हारा भार है वह तुम्हें ही ढोना होगा, और किसी को नहीं। कल तुमसे बादशाह पूछेगा तो तुम्हें उत्तर देना होगा, अतः बादशाह के लिये अपमानसूचक शब्द न बोलो। यदि वह चढ़ाई कर देगा तो संसार में खलबली मच जायगी। शूर या सूर्य को चढ़ते बिलम्ब नहीं लगता। उसकी क्रोधाग्नि से आकाश-पाताल जलने लगते हैं। शूर के फूँकने से पर्वत उड़ जाते हैं। तुम्हारा यह गर्वीला गढ़ एक झपेटे से राख हो जायगा। जब वह चढ़ाई करता है तो सुमेरु पर्वत धँस जाता है और सागर पट जाता है। वह राह चलता है तो धरती समतल हो जाती है।

ऐसे बादशाह के विरुद्ध अभिमान का बोल क्या बोलते हो? चुपचाप अपने चित्तौड़ में राज्य करो। चाहे ऊपर से चन्देरी का किला भी ले लो, दासी तुल्य भला पद्मिनी क्या चीज़ है?

विशेष—बादशाह के शौर्य का चारणकालीन जैसा वर्णन है।

शब्दार्थ—रिसि=क्रोधित। राता=लाल। जूड़=ठंडा। जरि=जलकर। हौं=मैं। पातसाहि=बादशाह। पठावा=भेजा। दोलू=खलबली। धिकै=जलने लगना। छार=राख। पाटा=पटना। भुइँ=धरती। सम=समतल, बराबर।

(४६१)

जौं पै घिरिहिनि जाइ घर केरी। का चितउर केहि काज चँदेरी ॥
जिअँ लेइ घर कारन सोई। सो घर देइ जो जोगी होई ॥
हौं रनथँभउर नाँह हमीरू। कलपि माँथ जेइ दीन्ह सरीरू ॥
हौं तौ रतनसेन सक बंधी। राहु बेधि जीती सैरिंधी ॥
हनिवँत सरिस भारू मैं काँधा। राघौ सरिस समुँद हठ बाँधा ॥
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइँ साका। सिंघल दीप लीन्ह जौं ताका ॥
ताहि सिंघ कै गहै को मोंछा। जौं अस लिखा होइ नहि ओछा ॥

दरब लेइ तौं मानौं सेव करौं गहि पाउ।
चाहै नारि पदुमिनी तौ सिंघल दीपहि जाउ ॥४६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

रत्नसेन ने कहा, यदि घर की स्त्री ही पराई होगई तो यह चित्तौड़ और चँदेरी का क्या अर्थ? कोई घर के कारण ही तो जीवित रहता है। (प्रेमचन्द ने कहा है, बिन धरमी घर भूत का डेरा—यहाँ यही आशय है।) जो जोगी हो जाता है वही घर छोड़ता है। मैं रणथम्भौर का राजा हम्मीर नहीं हूँ जिसने चित्तौड़ के आक्रमण से दो वर्ष पहले

अलाउद्दीन से लड़कर अपनी जान दे दी थी। मैं वीर रत्नसेन सकबन्धी हूँ। मैं ऐसा साका रखने वाला हूँ कि जैसे अर्जुन ने राधा बेध करके द्रोपदी का वरण किया था। मैंने हनुमान की भाँति प्रेम और कर्तव्य का पर्वत तुल्य बोझा अपने कन्धे पर ले रक्खा है। मैं राम के समान हूँ, जिन्होंने हठपूर्वक समुद्र में पुल बाँधा था। मैं वीर विक्रमादित्य के समान हूँ जिसने साका किया था। जब मैंने सिंघलद्वीप की ओर दृष्टि डाली तो उसे ले लिया। कौन मुझ जैसे शेर की मूँछें पकडने का साहस कर सकता है ? किंतु जिसने पत्र में "कृपा" जैसी बात लिखी है—सचमुच वह शाह टुच्चा नहीं होगा।

यदि वह वैभव ले ले तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, स्वीकार है। मैं पाँव पकड़कर उसकी सेवा करने को तत्पर हूँगा। यदि वह पद्मिनी जैसी नारी चाहता है तो सिंघलद्वीप जाए। आशय है कि पद्मावती के लिये पहले मुझ जैसी कठिनाइयाँ तो सहे।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६२)

बोलु न राजा आपु जनाई। लीन्ह उदैगिरि लीन्ह छिताई॥
सप्त दीप राजा सिर नावहिं। औ सँ चलीं पदुमिनी आवहिं॥
जाकरि सेवा करैं सँसारा। सिंघल दीप लेत का बारा॥
जनि जानसि तूँ गढ़ उपराहीं। ताकर सबै तोर कछु नाहीं॥
जेहि दिन आइ गाढ़ कै छेकै; सरवस लेइ हाथ को टेकै॥
सीस न झारु खेह के लागें। सिर पुनि छार होइ देखु आगें॥
सेवा करु जो जियन तोहि भावी। नाहिं तौ फेरि माँग होइ जावी॥
जाकरि लीन्ह जियन पै आगुमन सीस जोहारि।
ताकर कै सब जानै काह पुरुख का नारि॥४६२॥

भावार्थ—सरजा बोला, हे राजा, अपने बड़प्पन को प्रदर्शित करते हुए ऊँचे बोल न बोलो। शूरवीर शाह ने उदयगिरि को जीतकर देवगिरि के राजा की राजकुमारी "छिताई" प्राप्त कर ली। सप्तद्वीपों के राजा उसके सामने सादर सिर झुकाते हैं। और स्वयं पद्मिनी नारियाँ उसके भोग विलास के लिये चली आती हैं। सारा संसार सेवा करके जिसकी इच्छा पूर्ण करता है, उस बहादुर को भला सिंहलद्वीप के विजय करने में क्या देर लगती है ? हे राजा, गर्व में यह न समझो कि तुम अपने गढ़ को लेकर सबसे ऊपर हो। वास्तव में यह सब कुछ उसी शाह का है, तुम्हारा कुछ भी नहीं है। जिस दिन वह आकर गढ़ घेर लेगा, विपत्ति आ जायगी। सर्वस्व छीनते समय उसका हाथ यहाँ कौन पकड़ेगा ? किसकी सामर्थ्य होगी ? अरे राजा, इस समय जरा सी धूल के लग जाने के कारण, अर्थात् पद्मिनी देने वाली अपमानजनक बात पर, तुम अपने सिर की धूल को न झाड़ डालो, इसके परिणाम स्वरूप तुम आगे इसी सिर को राख होते हुए देखोगे—तुम्हारे अभिमान को शाह चूर-चूर कर डालेगा। यदि तुम्हें जीवन अच्छा लगता है तो सेवा करो नहीं तो सर्वथा टूट कर रह जाओगे। आशय यह है कि यदि भला चाहते हो तो पद्मावती देकर शाह की

इच्छा को पूरी करो, नहीं तो अनर्थ करा बैठोगे।

सरजा ने कहा कि उसे आगे होकर और सिर झुकाकर प्रणाम करना चाहिये कि जिससे जीवन मिला है। क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी कुछ उसी का समझना चाहिये।

शब्दार्थ—बारा=विलम्ब। उपराहीं=ऊपर। ताकर=उसका। खेह=धूल। सैं=स्वयं। गाढ़=आपत्ति। फाबी=अच्छा लगना। भाँग=टूटना, भंग होना।

(४६३)

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इसकंदर कै नाईं॥
सुनि अम्रित केटली बन धावा। हाथ न चढ़ा रहा पछितावा॥
उड़ि तेहि दीप पतंग होइ परा। अगिनि पहार पाउ दै जरा॥
धरती सरग लोह भा ताँबै। जीउ दीन्ह पहुँचब गा लाँबै॥
यह चितउर गढ़ सोइ पहारू। सूर उठै धिकि होइ अँगारू॥
जौं पै इसकंदर सरि कीन्ही। समुंद लेउ धँसि जस वै लीन्ही॥
जौं छरि आने जाइ छिताई। तबका भएउ जो मुक्ख जताई॥
महूँ समुझि अस अगुमन सँचि राखा गढ़ साजु।
काल्हि होइ जेहि अवना सो चढ़ि आवौ आजु॥४६३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

राजा ने कहा—हे सरजा, तुरुक अलाउद्दीन से जाकर कहो कि वह मौत के लिये उसकी ओर न दौड़े अन्यथा उसकी भी दशा इसी भाँति होगी जैसी कि सिकन्दर की हुई थी, जो ख्वाजा खिज्र के कहने पर अमृत की खोज में कदली बन अर्थात् जलमात नामक अन्धकार में पहुँचा और वहाँ वह उस अमृत को न पा सका और पछताता हुआ अग्नि के पहाड़ में जलकर मर मिटा था। वह सिकन्दर उस अग्नि-गिरि पर उड़ा और दीपक का पतिंगा होकर गिर पड़ा। उस अग्नि-पर्वत पर पाँव धरते ही वह जल मरा। राजा ने कहा, उसके कारण धरती और आकाश तपकर लोहे से बदलकर ताम्र के जैसे होगए, और वह वहाँ प्राण देकर मृत्युलोक को सीधा चला गया। राजा ने कहा, यह चित्तौड़ का गढ़ भी वैसा ही पहाड़ है। यह सूर्य किसी शूर के चढ़ने पर धधक कर अँगारा हो जाता है। यदि अलाउद्दीन सिकन्दर की बरावरी करना चाहता है तो वह भी उसकी तरह समुद्र में घुसकर मनोवांछित वस्तु या पद्मिनी पाए। आशय यह है कि शाह सागरों को पार करके सिंहलद्वीप जाए और पद्मिनी को प्राप्त करे। यदि कपट करके वह देवगिरि की कन्या 'छिताई' को ले आया तो क्या हुआ जो वह अपने को सबका सरताज या मुखिया जतलाता है।

ऐसा युद्ध का वातावरण समझ कर मैंने पहले ही गढ़ को भली प्रकार से रण-सामिग्री संचित एवं सज्जित कर रक्खा है। जिसे कल हमले से चढ़कर आना हो उसकी खुशी है कि आज ही चढ़ आए।

विशेष—प्रस्तुत पद में सिकन्दर का प्रसंग लेकर रत्नसेन के आदर्श वीरत्व का

प्रतिपादन किया गया है और अलाउद्दीन के हीन वीरत्व की भर्त्सना व्यंजित है। भावार्थ के क्रम में सिकन्दर की कथा व्यक्त की गई है।

शब्दार्थ—धाइ=दौड़कर। इसकंदर=सिकंदर। पाउ=पाँव। जरा=जला। सरग=आकाश। धिकि=धधककर। छार=कपट। अगुमन=आगे या पहले। मुक्ख मुखिया।

(४६४)

सरजा पलटि साहि पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा॥
आगि जो जरा आगि पै सूझा। जरत रहै न बुझाएँ बूझा॥
ऐसें पंथ न आवै देऊ। चढ़ै सुलेमा मानै सेऊ॥
सुनि कै रिसि राता सुलतानू। जैसे धिकै जेठ कर भानू॥
सहसौं करा रोस तस भरा। जेहि दिसि देखै सो दिसि जरा॥
हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहु अब न आगि सौं बाँचा॥
एहि जग आगि जो भरि मुँह लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा॥
जस रनथँभउर जरि बुझा चितउर परी सो आगि।
एहि रे बुझाएँ ना बुझै जरै दोस की लागि॥४६४॥

भावार्थ—राजा रत्नसेन के यहाँ से लौटकर सरजा अलाउद्दीन के पास आया। उसने बताया कि हे शाह, वह देव मेरे बहुत कहने सुनने पर भी कोई बात नहीं मानता। जो आग का जला हुआ है उसे आग ही दीख पड़ती है। वह जलता रहता है किन्तु बुझाने से नही बुझता। आशय है कि वह संघर्ष में पला है, संघर्ष ही चाहता है और समझाने से नहीं मानता। इस प्रकार वह देव अर्थात् राजा रास्ते पर नहीं आता। हमारी कोई बात कबूल नहीं करता। जब सुलेमान या सुलतान उस पर चढ़ाई करेगा तब वह मानेगा। शाही फरमान का अनादर सुनकर सुलतान क्रोध से लाल होगया ऐसे जैसे कड़ी जेठ की दोपहरी का सूरज धधकता है। वह इतना क्रोध में भर गया मानो सहस्रों रश्मियों से तप रहा हो। वह जिस दिशा की ओर देखता था वही उसकी क्रोधाग्नि से जलने लगती थी। सुलतान तमतमा कर गरजा, वह हिंदू राजा किस बलबूते पर इतना ऐंठता है ? मेरी क्रोधाग्नि से वह स्वर्ग में भी बिना जले न बच सकेगा। जिसने इस संसार में अपना मुँह आग से भर लिया मानो उसने दोनों लोकों में अपने लिये आग लगा ली।

जैसे रणथंभोर की आग उसे नष्ट करके बुझ गई वही आग अब चित्तौड़ पर लगने वाली है। किंतु रणथम्भोर की भाँति वह यहाँ पर बुझाए न बुझेगी बल्कि रत्नसेन के कसूर के कारण लगी आग और जगह भी लगेगी। आशय यह है कि अब सभी हिंदू राज्यों को जलाकर नष्ट कर दूंगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६५)

लिखे पत्र चारिहुँ दिसि धाए। जावँत उमरा बेगि बोलाए॥

डंड घाउ भा इंद्र सँकाना । डोला मेरु सेस अँगिराना ।।
धरती डोली कुँरुम खरभरा । महनारंभ समुँद महँ परा ।।
साहि बजाइ चढ़ा जग जाना । तीस कोस भा पहिल पयाना ।।
चितउर सोहँ बारिगह तानी । जहँ लगि कूच सुना सुलतानी ।।
उठि सरवान गगन लहि छाए । जानहुँ राते मेघ देखाए ।।
जो जहँ तहाँ सूति अस जागा । आइ जोहारि कटक सब लागा ।।
हस्ति घोर दर परिगह जावँत बेसरा ऊँट ।।
जहँ तहँ लीन्ह पलानी कटक सरह घटि छूट ।।४६५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

क्रोध में भरे अलाउद्दीन के लिखे हुए फरमान लेकर दूत चारों दिशाओं में दौड़े। जितने उमरा-सामंत थे, उन सबको शीघ्र बुलाया गया। ज्योंही डंके पर दण्डघात पड़ा कि भय से इंद्र काँप उठा, सुमेरु चलायमान होगया और पृथ्वी का बोझ उठाने वाला शेषनाग अँगड़ाई ले उठा। भूचाल आ गया, कूर्म खलभलाने लगा और समुद्र में मंथन आरंभ होगया। संसार जान गया कि शाह डंके की चोट से युद्ध के लिये चढ़ाई कर रहा है। दिल्ली से दूर पहला पड़ाव तीस कोस तक हुआ। उमराओं ने जहाँ तक सुलतान के कूँच का फरमान सुना था उसके अनुसार उन्हें पता था कि चित्तौड़ के सामने दरबारी शामियाना या वारि-गह तनेगा और वे वहाँ इकट्ठे हों। सारवान, लाल तम्बू गढ़े जो आकाश तक छा गये। प्रतीत हुआ मानो आकाश पर लाल बादल दीख पड़ते हों। कूंच का हाल सुनकर जो जहाँ था, मानो वह सोते से उठकर सहसा युद्धस्थल को चलने के लिये जागा हो। सभी ने लश्कर में प्रणाम करके इकट्ठा होना आरंभ किया।

हाथी, घोड़े, सेना, परिग्रह (सम्पूर्ण राजसी एवं युद्ध का साज-सामान) और जितने भी खच्चर, ऊँट थे, वे जहाँ-तहाँ लश्कर में सम्मलित होने के हेतु शरभ मृगों के झुंड की तरह झपटे।

विशेष—कहते हैं कि मुगलों तुर्कों के साथ युद्ध में युद्ध सामग्री के अतिरिक्त रनिवास का सामान भी चला करता था। जायसी ने तदर्थ "परिगह" शब्द का उपयोग बड़ी निपुणता से कर दिया है, जिसका अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(४६६)

चली पंथ पैगह सुलतानी । तीख तुरंग बाँक कैकानी ।।
परवँर चली सो पाँतिन्ह पाँती । बरन बरन औ भाँतिन्ह भाँती ।।
काले कुमँइत लील सनेबी । खंग कुरंग बोर दुर केबी ।।
अबलक अबसर अगज सिराजी । चौधर चाल समुँद सब ताजी ।।
खुरुमुज नोकिरा जरदा भले । औ अगरान बोलसिर चले ।।
पँच कल्यान संजाब बखाने । महि सायर सब चुनि चुनि आने ।।

मुसुकी औ हिरभिजी इराकी। तरुकी कहे भोथार बुलाकी ॥
सिर औ पोंछि उठाए चहुँ दिसि साँस ओनाहिं।
रोस भरे जस बाउर पवन तरास उड़ाहिं ॥४६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

सुलतान अलाउद्दीन की अश्व-सेना मार्ग में चल पड़ी। तीव्र चाल चलने वाले बाँके कोकाँण देश के घोड़े थे। घोड़ों की कतारें चलीं जिनके लोह झालरें बँधी थीं और जो अनेक रंग और अनेक जाति के घोड़े थे; जो काले, सुर्ख़, नीले, लोहिया, दूधिया, स्याह, सुर्ख़ व जर्द रंग मिश्रित, शहदी या बादामी, मोती से श्वेत, चितकबरे, दुरंगे, बुँदकीदार, श्वेत सिर वाले, चन्द्र से श्वेत, हल्की सफेदी वाले लाल रंग के, चकोर रंग वाले तथा सुनहले रंग के अनेक विविध रंगी स्वस्थ्य घोड़े उस सेना में थे।

चाँदी से चमकदार एवं स्वर्ण से पीले खुरमुज ईरानी, फारसी उत्तम घोड़े थे। और उबुल्लह से आए अर्थात् बोल्लाह के मटियाले से रंग के घोड़े भी साथ में थे। कुछ पंच कल्यान, (जिस घोड़े के आधे पाँव एवं मुख पर सफेदी हो। यह घोड़ा शुभ माना जाता है।) संजाव, लोमड़ी के से रँग वाले सुन्दर घोड़े थे जो वर्णनीय हैं और जो चुन-चुनकर पृथ्वी के दूर-दूर के भागों एवं समुद्रों के बंदरगाहों से लाये गये थे। स्याह रंग के मुश्की, और इराकी, हुरभुजी घोड़े भी थे। कहा जाता है कि उनमें तुरकी, भूटानी, चितकबरे घोड़े भी थे।

वे घोड़े अपने सिरों एवं पूछों को उठाए हुए जोश में भरकर ज़ोर की साँस चारों दिशाओं में छोड़ रहे थे। वह इस प्रकार रोष-जोश में भरे हुए थे मानो विक्षिप्त हों, और वे वायु वेग से उड़े चले जाते थे।

विशेष—जायसी की नाम परिगणन करने की लत से काव्य की सरसता प्रायः लोप हो गई है। यहाँ विभिन्न प्रदेशों, जातियों एवं वर्णों के घोड़ों का उल्लेख किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि जायसी की हर ओर गूढ़ दृष्टि थी। कल्पना करें कहाँ योग के तत्व, कहाँ शृंगार के उपकरण और कहाँ सेना के घोड़े! यह सब तत्व जायसी की प्रखर प्रतिभा के अन्तर्गत पूर्णतः आ सके और प्रकट हो सके हैं। ध्यान रहे कि तत्कालीन लोक प्रवृत्ति के अनुकूल ऐसा वर्णन बड़ा रोचक एवं उपयुक्त माना गया होगा, आज भले ही न माना जाय।

शब्दार्थ—सरल हैं। घोड़ों का स्पष्टीकरण पूरी तरह भावार्थ में दे दिया गया है।

(४९७)

लोहें सारि हस्ति पहिराए। मेघ घटा जस गरजत आए ॥
मेघन्ह चाहि अधिक वै कारे। भएउ असूझ देखि अँधियारे ॥
जनु भादौं निसि आई डीठी। सरग जाइ हिरगै तिन्ह पीठी ॥
सवा लाख हस्ती जब चला। परबत सरिस चलत जग हला ॥
फलित गयँद माँते मद आवहिं। भागहिं हस्ति गंध जहँ पावहिं ॥

ऊपर जाइ गँगन सब खसा। औ धरती तर गहि धसमसा ।।
भा भुइँचाल चलत गज गानी। जहँ पौ धरहिं उठै तहँ पानी ।।
चलत हस्ति जग काँपा चाँपा सेस पतार।
कुरुम लिहें हुत धरती बैठि गएउ गज भार ।।४६७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

लोह-झूलों को पहनाए हुए हाथी घोर मेघ घटा के समान गर्जना करते हुए आए। वे हाथी मेघों से भी अधिक श्याम थे। उनके काले रंग के मानो अन्धकार से सब कुछ अदृश्य हो गया। मानो भादों की काली रात दृष्टि में आ रही हो। उन हाथियों की ऊँची पीठ आकाश से जाकर अटकती थी। जब सवा लाख हाथी चले तो मानो पर्वतों के चलने से सारा संसार हिलने लगा। वे सज्जित हुए मस्त हाथी चले आ रहे थे। सामान्य हाथी उन रण-हाथियों की जहाँ मद गंध पाते थे उनसे दूर भागते थे। उन हाथियों ने मानो ऊपर उठकर अपनी पीठों से सारे आकाश को धसका दिया और उनके पाँवों के बोझ से धरती का तल नीचे धसकने लगा। उन विशेष हाथियों के चलने से भूचाल आ गया। जहाँ वे भारी पाँव रखते थे वहीं धरती फट जाती थी और पानी फूट निकलता था।

उन हाथियों के चलने से विश्व काँप उठा। शेषनाग ने ज़ोर से पाताल को जकड लिया। जो कूर्म अपनी पीठ पर धरती टिकाए हुए था वह भी उन हाथियों के बोझ से पिचक कर बैठ गया, अवसन्न हो गया।

शब्दार्थ—लोहें=लोहा। सारि=हाथियों का झूल। डीठी=दृष्टि। हिरगै=अटकती है। कलित=सज्जित। गयँद=हाथी। माँते=मतवाले, मस्त। खसा=धसका, खिसका। चाँपा=जकड़ा, दबाया। पतार=पाताल। कुरूँम=कूर्म।

(४६८)

चले सो उमरा मीर बखाने। का बरनौं जस उन्ह के थाने ।।
खुरासान औ चला हरेऊ। गौर बंगाले रहा न केऊ ।।
रहा न रूम साम सुलतानू। कासमीर ठट्ठा मुलतानू ।।
जावँत बीदर तुरुक कि जाती। माँडौ वाले औ गुजराती ।।
पाटि ओडैसा के सब चले। लै गज हस्ति जहाँ लगि भले ।।
काँवरू कामता औ पँडुआई। देवगिरि लेत उदैगिरि आई ।।
चला सो परबत लेत कुमाऊँ। खसिया मगर जहाँ लगि नाऊँ ।।
हेम सेत औ गौर गाजना बंग तिलंग सब लेत।
सातौ दीप नवौ खंड जुरे आइ एक खेत ।।४६८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

तत्कालीन उमरा और अमीर अलाउद्दीन के लश्कर के साथ युद्ध के लिये चले। कविवर जायसी कहते हैं कि उनकी सैनिक टुकड़ियों के पड़ाव-स्थलों का मैं किस तरह वर्णन करूँ ? फारस के प्रान्त खुरासान और ग़जनी के पश्चिमी देश हेरात तथा गौड़-बंगाले

के सैनिक चले। वहाँ कोई सैनिक शेष न रह गया। रूम या कुस्तुन्तुनियाँ एवं सीरिया का शाह भी सम्मिलित हुआ। कश्मीर, सिंध की राजधानी ठट्ठा एवं मुलतान के अमीर भी संग हो लिये। बीदर में जितनी भी तुर्क जाति थी वह भी चली। माण्डोंगढ़ एवं गुजरात के लोग भी चले। महानदी और गोदावरी के बीच के स्थान पटना एवं उड़ीसा के जितने उच्च कुलपति थे, वे सब अच्छे हाथियों को साथ में लेकर चले। बंगाल के कामरूप, कामता और पंडुआ के सब अमीर चले। देवगिरि के अमीरों-उमराओं को साथ लेते हुए उदयगिरि के अमीर-उमरा भी आ मिले। कुमाऊँ प्रदेश के खसिया और मगर आदि जितनी जातियों के लोग हैं, उन सबको साथ लेकर लश्कर चला।

हिमालय से सेतुबन्ध रामेश्वर तक और गौड़ से गाजना के अन्तरस्थित बंग और तिलंग प्रदेश के सब अमीर-उमराओं को सम्मिलित करते हुए सातों द्वीप और नवों खंडों के वीर योद्धा अलाउद्दीन की ओर से चित्तौड़ पर हमला करने के लिये एक लश्कर में एकत्रित हो गए।

विशेष—प्रस्तुत पद से कविवर जायसी के भौगोलिक गम्भीर ज्ञान का परिचय मिलता है, किन्तु काव्य नीरस हो गया है।

शब्दार्थ—सरल है। भावार्थ के अनुसार स्पष्ट है।

(४६६)

धनि सुलतान जेहिक संसारू। उहै कटक अस जोरै पारू॥
सबै तुरुक सिरताज बखाने। तबल बाज औ बाँधे बाने॥
लाखन मीर बहादुर जंगी। जंत्र कमानैं तीर खदंगी॥
जेबा खोलि राग सों मढ़े। लेजिम घालि इराकिन्ह चढ़े॥
चमकें पखरें सारि सँवारीं। दरपन चाहि अधिक उजियारीं॥
बरन बरन औ पाँतिहि पाँती। चली सो सेना भाँतिहि भाँती॥
बेहर बेहर सबकै बोली। बिधि यह खानि कहाँ सों खोली॥
सात सात जोजन कर एक एक होइ पयान।
आगिल जहाँ पयान होइ पाछिल तहाँ मेलान॥४६६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि सारे संसार का स्वामी, वह सुलतान धन्य है। वही इस प्रकार की विशाल सेना एकत्रित कर सकता है। तुर्कों के प्रसिद्ध सरताज तबले लिए थे और रण के पूर्ण सामान से सुसज्जित थे। लाखों की संख्या में बहादुर, विकट अमीर थे। उनके पास चर्खनुमा बड़ी कमानें थीं और तीर खदंग थे। वे ज़िरह बख्तर या कवच और राग, अर्थात टाँगों की रक्षा करने वाला तंग पजामा, टोप आदि पहने हुए पूरी तरह लैस या मढ़े हुये जान पड़ते थे। गले में लोहे की प्रत्यंचावाली कमान या लेज़िम डाले वे ईराकी घोड़ों पर चढ़े हुये थे। उनकी घोड़ों की पाखरें एवं हाथियों की लोह-झूलें आदि शीशे से भी अधिक चमकदार लगती थीं। विविधरंगी, कतारों के रूप में अनेक प्रकार से

यह सेना प्रस्थान कर चली। सबकी भाषा-बोली अलग-अलग थी। कविवर जायसी कहते हैं कि हे ईश्वर ! विस्मय है, यह सैनिक खान कहाँ से खोली गई ?

सात-सात योजन का एक-एक पड़ाव होता था। सैन्यदल का आगेवाला मोर्चा जिस पड़ाव से आगे बढ़ता था; पिछला सैन्य मोर्चा वहीं पर ठहरता था।

शब्दार्थ—पारू=सकता है। बाधे बाने=रण सज्जा का रूप सजाये हुये। जंत्र कमानै=चर्खनुमा लोह धनुषी, कमाने हिकमत या जन्त्रा धानुक। तीर खदंगी=चनार वृक्ष के बने उत्तम तीर। जेबा=कवच। राग=टाँगों तक का जिरहदार युद्ध वाला पजामा। खोलि=टोप। पखरैं=अश्वसन्नाह, घोड़े का कवच। सारि=हाथी का कवच। बेहर=भिन्न।

(५००)

डोले गढ़ गढ़पति सब काँपै। जीउ न पेट हाथ हिय चाँपे॥
काँपा रनथँभउर डरि डोला। नरवर गएउ झुराइ न बोला॥
जूनागढ़ औ चम्पानेरी। काँपा माँडौ लेत चँदेरी॥
गढ़ गवालियर परी मथानी। औ खंधार मठा होइ पानी॥
कालिंजर महँ परा भगाना। भाजि अजैगिर रहा न थाना॥
काँपा बाँधौ नर ओ प्रानी। डर रोहतास बिजैगिरि मानी॥
काँप उदैगिरि देवगिरि डरा। तब सो छिताई अब केहि धरा॥
जावँत गढ़ गढ़पति सब काँपे औ डोले जस पात।
का कहँ बोलि सौंहँ भा पातसाहि कर छात॥५००॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि अलाउद्दीन की सेना के कूँच करने के कारण किले हिल उठे और सारे किलों के अधिरक्षक कम्पायमान हो गये। उनके पेट में प्राण न रहा और उन्होंने भयातुर होकर अपना हृदय हाथों से दवा लिया। रणथम्भौर काँपा और चलायमान हो गया। नरवरगढ़ सूख गया और बोल न सका। जूनागढ़ और चम्पानेर काँप गये। ग्वालियर के पास, चन्देरी लेते समय माँडौगढ़ भी काँप उठा। ग्वालियर के किले को मानो किसी ने बिलो दिया हो। और खन्धार के दुर्ग रूपी मट्ठे का जैसे पानी बन गया हो। कालिंजर से भग्गी मच गई। अजयगिरि का सैनिकयुक्त थाना या गढ़ न रह गया, वह भाग खड़ा हुआ। रीवाँ अथवा बाँधौगढ़ के मनुष्य और जीव सारे भय से काँप उठे। रोहतासगढ़ और बीजागढ़ बड़े भयातुर हो गये। उदैगिरि काँप उठा। और देवगिरि यह सोचकर भयभीत हुआ कि पूर्व तो अलाउद्दीन 'छिताई' राजकन्या का अपहरण करके चला था और न जाने अब क्या करके रहेगा, किसका अपहरण करेगा ?

जितने किले और किलेदार थे वे सब ऐसे काँप उठे जैसे आँधी में पत्ता काँपता है। लोग सोचते थे, किसको युद्ध की चुनौती देकर बादशाह का छत्र सामने हुआ है कि वह रण के लिये आगे बढ़ रहा है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०१)

चितउर गढ़ औ कुंभलनेरे। साजे दूनौ जैस सुमेरै ।।
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा ।।
सुनि राजै दौराई पाती। हिंदू नाँव जहाँ लगि जाती ।।
चितउर हिंदुन्ह कर अस्थानू। सुतरु तुरुक हठि कीन्ह पयानू ।।
आवा समुंद रहै नहिं बाँधा। मैं होइ मेंड़ भारु सिर काँधा ।।
पुरवहु आइ तुम्हार बड़ाई। नाहि त सत गौ छाँड़ि पराई ।।
जौं लगि मेंड़ रहै सुख साखा। टूटे बार जाइ नहिं राखा ।।
सती जो जिय महँ सत करै मरत न छाड़ै साथ।
जहँ बीरा तहँ चून है पान सुपारी काथ ।।५०१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि चित्तौड़ और कुम्भलनेर के दोनों गढ़ इस तरह रण-सज्जित किये गये थे कि ज्यों सुमेरु पर्वत दीखता हो। दूतों ने राजा रत्नसेन से आकर सन्देश सुनाया कि तुर्क सेना को सजाये चढ़ाई के लिये चला आ रहा है। यह सुनकर जहाँ तक भी हिन्दू जाति के राजा थे उनके पास रत्नसेन ने पत्र पठाये। उसने पत्र में लिखा, चित्तौड़ हिन्दुओं का स्थान है। शत्रु तुर्क ने उस पर हठात् हमला करने के लिये चढ़ाई का प्रस्थान कर दिया है। वह समुद्र की तरह चढ़ा आ रहा है, रुकता नहीं है। मैंने मेड़ या बाँध बन कर उसे रोकने का बोझ अपने सिर-कन्धे पर लादा है। यदि रक्षा के लिये मेरा साथ दोगे तो तुम्हारा आभारी रहूँगा। अन्यथा सत्य और गाय की रक्षा से विमुख हो जाओ। आशय है कि हिन्दू होकर हिंदू की मदद करो क्योंकि देश-जाति और धर्म पर विदेशियों का संकट आ रहा है। यहाँ "गाय और सत्य" शब्द हिंदू धर्म, आन और मर्यादा के साक्षी हैं। जब तक मेंड़ अथवा आन रहती है तब तक आत्मस्थित जिंदगी की सुख की शाखा बनी रहती है। मेंड़ के टूट जाने पर धर्म के द्वार की रक्षा नहीं हो सकती।

जो स्त्री मन में सत्य, धर्म, आन और मर्यादा को धारण किये होती है वह पति के मरने मर भी उसका साथ नहीं छोड़ती—जलकर सती हो हाती है। जहाँ बीड़ा है वहाँ पान, सुपारी, कत्था और चूने का साथ आवश्यक है। आशय है कि मैं बीड़े के रूप में हूँ, और हे हिंदू राजाओ, मेरा सहयोग दो यही मर्यादानुकूल है।

विशेष—यहाँ राजसी पत्र की शैली कितनी विशिष्ट है कि उसमें सब कुछ मान-मर्यादा का संकेत करके राजा ने अन्य सहयोगी राजाओं का प्रबल आह्वान किया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०२)

करत जो राय साहि के सेवा। तिन्ह कहँ पुनि अस आउ परेवा ।।
सब होइ एकहि मतें सिधारै। पातसाहि कहँ आइ जोहारै ।।

चितउर हैं हिंदुन्ह कै माता । गाढ़ परें तजि जाइ न नाता ।।
रतनसेनि है जौहर साजा । हिंदुन्ह माँह अहै बड़ राजा ।।
हिन्दुन्ह केर पतिंग कर लेखा । दौरे परहिं आगि जहँ देखा ।।
किरिपा करसि त करसि समीरा । नाहित हमहिं देहि हँसि बीरा ।।
हम पुनि जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ । मेटि न जाइ लाज कर नाऊँ ।।
दीन्ह साहि हँसि बीरा आवहिं तीन दिन बीच ।
तिन्ह सीतल को राखै जिन्हें आगि महँ मीच ।।५०२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि जो राय शाह अलाउद्दीन की सेवा करते थे या उसके फरमाबरदार थे, उनके पास भी चित्तौड़ का द्रुतगामी पत्रवाहक दूत आया। सब ने एकमत होकर कूँच किया और बादशाह के यहाँ आकर उसे प्रणाम किया। उन्होंने कहा—हे सुलतान, चित्तौड़ हिंदुओं की माँ है। उस पर जब संकटकाल आया है तो हमसे उसको छोड़ा नहीं जाता; उसके कर्तव्य का सम्बन्ध नहीं तोड़ा जाता। रत्नसेन ने जौहर का आयोजन कर लिया है। आशय यह है कि वह उसकी रक्षा के लिये मरने पर तुला हुआ है और तब चित्तौड़ की स्त्रियाँ स्वभावतः सती हो जायँगी। रायों ने कहा—वह रत्नसेन हिंदुओं के बीच सबसे ऊँचा राजा है। हिंदू अपनी आन-मर्यादा के प्रेम में पतिंगे जैसा निडर स्वभाव रखते हैं। जहाँ युद्ध जौहर की आग देखते हैं वहीं जा गिरते हैं। आशय यह है कि युद्ध का आकर्षण हमें भी कम नहीं है। रायों ने आगे कहा—हे शाह, यदि आप ही कृपा करें तब तो उससे शीतल समीर उठेगी जिससे विद्वेश और युद्ध जौहर की ज्वाला बुझ जायगी और हम पतिंगे से उसमें न जल मरेंगे। अन्यथा हमें हँसकर बीड़ा दीजिए, हम चलें और फिर हम जाकर उस स्थान पर मरें। नाम की लज्जा को हम नहीं मिटा सकते। व्यँजना है कि सारे राजपूत राव रत्नसेन के पक्ष में बोल रहे थे।

शाह ने हँसकर उन्हें बीड़ा दिया और कहा कि तीन दिन के दौरान में वे वहाँ आयें और जिन्हें आग में जल मरना ही है, उन्हें ठंडा कौन कर सकता है?

विशेष—औरंगजेब के सैनिकों ने भी इसी प्रकार शिवाजी के शौर्य की अनूठी अभिव्यंजना की है। पद भूषण कवि रचित है। पद की पंक्तियाँ देखिए—(औरंगजेब से सैनिकों का कथन है)—

"सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज,
हजरत हम मरिबे को नहिं डरते।
चाकर हैं उजर कियो न जाय नेक पै,
कुछ दिन उबरते तो घने काज करते।"

भूषण रचित इन पंक्तियों की सम्यकता, व्यंजना जायसी के प्रस्तुत पद की इस पंक्ति में दर्शनीय है—

किरिपा करसि त करसि समीरा। नहिं त हमहिं देहि हँसि बीरा।।

"हम पुनि जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ। मेटि न जाइ लाज कर नाऊँ॥"

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०३)

रतनसेनि चितउर महँ साजा। आइ बजाइ पैंठ सब राजा॥
तोंवर बैस पवाँर जो आए। औ गहिलौत आइ सिर नाए॥
खत्री औ पँचबान बघेले। अगरवार चौहान चँदेले॥
गहरवार परिहार सो कुरी। मिलन हंस ठकुराई जुरी॥
आगे ठाढ़ बजावहिं हाड़ी। पाछें धजा मरन कै काढ़ी॥
बाजहिं सींग संख औ तूरा। चंदन घेवरें भरे सेंदूरा॥
सँचि संग्राम बाँधि सत साका। तजि कै जिवन मरन सब ताका॥
गँगन धरति जेइँ टेका का तेहि गरुअ पहार।
जब लगि जीव कया महँ परै सो अँगवै भार॥५०३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि रत्नसेन ने चित्तौड़ में युद्ध की पूरी तैयारी कर रक्खी थी। सब राजा युद्ध के बाजे बजाते हुए वहाँ एकत्रित हुए। तौंमर, बैस, परमार, गहिलौत, खत्री, पंचबान, बघेले, अगरवाल, चौहान और चंदेले, गहड़वाल, प्रतिहार, जो छत्तीस कुलीन क्षत्रियों के ही अंग थे—इन सबों ने राजा रत्नसेन को प्रणाम किया। मिलन-हंस क्षत्रियों की सभा भी वहाँ जुड़ गई। सामने खड़े हाड़ी बजाने वाले हाड़ी बजाकर युद्ध के लिये उत्प्रेरित कर रहे थे। पीछे मृत्यु की ध्वजा खड़ी हुई फहरा रही थी। सींग, शंख और तूर बज रहे थे। क्षत्रिय लोग शरीर पर चन्दन और ललाट पर सिन्दूर का तिलक लगाए हुए थे। संग्राम सज्जित होकर, सत्य का साका अथवा प्रण लेकर और जीवन की आशा त्यागकर सबने मृत्युवरण की ओर दृष्टि की हुई थी।

जिसने धरती आकाश को टिका लिया हो उस वीर के लिये पहाड़ का बोझ क्या भारी है? जब तक शरीर में प्राण रहते हैं तब तक वीर शूरमा पर जो भी कुछ संकट का बोझ आ पड़ता है, उसे झेलता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में युद्धारम्भ से पूर्व सेना के शौर्य प्रदर्शन का चित्र बड़ा स्वाभाविक एवं उत्साहजनक है। गीता में वर्णित दोनों सेनाओं के युद्ध के आयोजन की झाँकी हम इस श्लोक में पाते हैं। ज़रा देखिए—

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत॥ गीता अ० १ श्लोक १३॥

और यह भी—

बाजहिं सींग संख औ तूरा। चँदन घेवरें भरें सेंदूरा॥

इन दोनों उदाहरणों में अन्तर्साम्यता स्पष्ट है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरल हैं।

(५०४)

गढ़ तस सँचा जो चाहिअ सोई। बरिस बीस लहि खाँग न होई ॥
बाँके चाहि बाँक सुठि कीन्हा। औ सब कोट चित्र कै लीन्हा ॥
खंड खंड चौखंडी सँवारीं। धरी बिखम गोलहन्ह की नारीं ॥
ठाँवहि ठाँव लीन्ह गढ़ बाँटी। बीच न रहा जो सँचरै चाँटी ॥
बैठे धानुक कुँगु रहि कँगुरा। पुहुमि न आँटी अँगुरिहि अँगुरा ॥
औ बाँधे गढ़ि गढ़ि मँतवारे। फाटै छाति होंहि जिवधारे ॥
बिच बिच बुरुज बने चहुँ फेरी। बाजें तबल ढोल औ भेरी ॥
भा गढ़ गरजि सुमेरु जेंउ सरग छुवै पै चाह ।
समुँद न लेखें लावै गाँग सहस मकु बाह ॥५०४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

कविवर जायसी लिखते हैं कि चित्तौड़ गढ़ में इस प्रकार सामग्री इकट्ठी की गई थी कि जिस किसी वस्तु की आवश्यकता थी वह वहाँ मौजूद थी। बीस बरस तक युद्ध करने के लिये भी वहाँ सामग्री की कमी नहीं थी। दुर्ग को दृढ़ से दृढ़तम किया गया था। उसके परकोटे को भी पुख्ता, चित्रवत कर दिया गया था। परकोटे के एक-एक भाग में चौखण्डे बुर्ज सँवारे गए थे। उनके ऊपर गोला चलाने वाली तोपों की घातक नालें रक्खी गई थीं। जगह-जगह पर गढ़ की मोर्चेबन्दी उसकी रक्षार्थ शूरों ने बाँट ली थी। चींटी के प्रवेश तक का मार्ग बीच में कहीं अरक्षित न रह गया था। कँगूरे कँगूरे पर, धनुर्धर अपने-अपने स्थान पर अड़े थे। वहाँ इतनी खचाखच थी कि एक अंगुल भूमि भी बँटवारे के लिये रिक्त नहीं थी। वहाँ शत्रुओं पर गिराने के लिये अँटा-अँटाकर घातक पत्थर बाँधे गये थे। जब उनकी छाती फटती थी या वे शत्रु पर लुढ़काए जाते थे तो प्रतीत होता था मानो वे सजीव हों। परकोटे के चारों ओर बीच-बीच में बुर्ज निर्मित थे। तबले (नगाड़े), ढोल और भेरी (तूरी) नामक बाजे बज रहे थे।

उन बाजों की घोर ध्वनि के कारण वह दुर्ग ऐसा प्रतिध्वनित हो रहा था जैसे बादलों की गरज से प्रभावित सुमेरु पर्वत आकाश को स्पर्श किया चाहता हो। सागर की भी कोई महत्ता नहीं थी, क्योंकि दुर्ग की दीवार के आगे जैसे हजारों गंगाएँ बह रही थीं। (दुर्ग के आगे पानी का घेरा होता है; ताकि, दुश्मन उसे लाँघकर सहज ही दुर्ग के परकोटे पर न आ सके। यहाँ उसी ओर संकेत है।)

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०५)

पातसाहि हठ कीन्ह पयाना। इन्द्र फनिंद्र डोलि डर माना ॥
नबे लाख असवार सो चढ़ा। जो देखिअ सो लोहें मढ़ा ॥
चढ़हिं पहारन्ह भै गढ़ लागू। बनखंड खोह न देखहिं आगू ॥
बीस सहस घुम्मरहिं निसाना। गलगाजहिं बिहरै असमाना ॥

बैरख ढाल गँगन गा छाई । चला कटक धरती न समाई ।।
सहस पाँति गज हस्ति चलावा । खसत अकास धँसत भुइँ आवा ।।
बिरिख उपारि पेंड़ि सौं लेहीं । मस्तक झारि डारि मुँह देहीं ।।
कोउ काहु न सँभारै होत आव तस चांप ।
धरति आपु कहँ काँपै सरग आपु कहँ काँप ।।५०५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

बादशाह अलाउद्दीन ने राजा रत्नसेन के विरुद्ध युद्ध करने की जिद बनाकर युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया। उसकी सेना से इन्द्र और शेषनाग विचलित और भयातुर हो गए। नब्बे लाख सवारों को साथ लेकर उसने आक्रमण के लिये चढ़ाई की। जो देखो वही लोहे के कवच, जिरह-बख्तर आदि से सुसज्जित था। दुर्ग विजय के लिये सैनिक इतने उत्साहित थे कि पर्वतों पर आरोहण करते थे। आगे के वन-खण्डों एवं खोहों को नहीं देखते थे; बस, सीधे बढ़ते चले जाते थे। बीस हजार डंके उद्घोष कर रहे थे। वह ऐसा घोष कर रहे थे कि आकाश फटा चाहता था। ध्वजों एवं ढालों से आकाश अच्छादित होगया। वह लश्कर ऐसा कि धरती पर नहीं समाता था। हजारों कतारों में नर-हाथी चले, जिनके कारण आकाश खिसकने लगा और धरती धसकने लगी। वे मस्त हाथी तनों सहित वृक्षों को उखाड़ लेते और अपने मस्तकों से झाड़कर मुँह में ठूंस लेते थे।

भीड़ का ऐसा ज़ोर बढ़ता जा रहा था कि कोई किसी को सँभाल न पा रहा था, सभी असुरक्षित थे! धरती भय से अपने लिये कम्पायमान थी और आकाश अपने लिये कम्पायमान था।

शब्दार्थ—पातसाहि = बादशाह। हठि = जिद। फनिंद्र = शेषनाग। घुम्मरहि = घोर शब्द करते हुए। निसाना = डंके। बिहरै = फटना। बैरख = ध्वज। कटक = लश्कर। खसत = खिसकना। भुइँ = पृथ्वी। बिरिख = वृक्ष। उपारि = उखाड़। पेंड़ि = तना। सँभारे = सँभलना, सुरक्षा करना। सरग = आकाश।

(५०६)

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला। आवहिं चलीं फरति सब डोला ।।
लागे चक्र बज्र के गढ़े। चमकहिं रथ सब सोने मढ़े ।।
तिन्ह पर बिखम कमानैं धरीं। गाजहिं अस्ट धातु की भरीं ।।
सौ सौ मन पीअहिं वै दारू। हेरहिं जहाँ सो टूट पहारू ।।
माँति रहहिं रथन्ह पर परी। सतुरून्ह कहँ सो होंहि उठि खरी ।।
लागहि जौं संसार न डोलहिं। होइ भौकंप जीभ जौं खोलहिं ।।
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती। खाँचहिं रथ डोलहिं नहिं माँती ।।
नदी नगर सब पानी जहाँ धरहिं वै पाउ ।
ऊँच खाल बन बेहड़ होत बराबरि आउ ।।५०६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

जिन तोपों के मुख पर गोला था, वे चलीं। जब वे चलती थीं तो धरती हिलती थी। जिन पर वे तोपें रखी हुई थीं उन रथों के पहिये फौलाद के बने हुए थे। सारे रथ सोने से मढ़े हुए चमकते थे। उन पर घातक तोपें रखी हुई थीं। वे ठोस, अष्टधातु की ढाली हुई थीं। अतः चलते समय उनसे घन्नाहट का शब्द निकलता था। वे तोपें सौ-सौ मन मदिरा की तरह बारूद पीकर चलती थीं। जिधर उनकी मुख दृष्टि होती थी उधर पहाड़ भी टूट जाता था मानो मस्त हुई वे तोपें रथ पर पड़ी थीं। किंतु शत्रुओं की ललकार पर वे उठ खड़ी होती थीं। वे इतनी वज़नी थीं कि सारे संसार के ज़ोर लगाने से भी नहीं हिल सकती थीं। जब वे अपना मुँह खोलती अर्थात् चलती थीं तो भूकम्प हो जाता था। हजार-हजार हाथी पंक्तियाँ बनाकर उनका रथ खींचते थे, किंतु वे इतनी मस्त कि हिलती थीं, न खिचती थीं।

वे जहाँ हाथ पाँव रखती (यहाँ तोपों के रथ-बोझ से तात्पर्य है।) वहाँ पानी फूट निकलता और नदी बन जाती, नगरों में पानी-पानी हो जाता था। ऊँचे स्थल, नाले, वन बीहड़—सब पिसकर एक से हो जाते थे।

विशेष—वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। किंतु युद्ध वर्णन प्रायः सदा से ऐसा ही होता चला आया है। चारण काल में चन्द, जगनिक आदि चारण कवियों ने भी ऐसा ही अतियुक्तितूर्ण युद्ध का चित्रण किया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०७)

कहौं सिंगार सो जैसी नारीं। दारू पिअहिं सहज मँतबारीं ॥
उठै आगि जौं छाँड़हि स्वाँसा। तेंपि उर कोउ रहै नहिं पासा ॥
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन झमकत जाहीं ॥
कुच गोला दुइ हिरदै लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए ॥
रसना गूँगि रहहिं मुख खोले। लंका जरी सो उन्ह के बोले ॥
अलकें साँकरि हस्तिन्ह गीवाँ। खाँचत डरहिं मरहिं सुठि जीवा ॥
बीर सिंगार दुवौ एक ठाऊँ। सुतुरुसाल गढ़भंजन नाऊँ ॥
तिलक पलीता तुपक तन दुहुँ दिसि ब्रज के बान।
जहँ हेरहिं तहँ परै भगाना हँसहिं त केहि के मान ॥५०७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि जैसी वे तोपें या नालें हैं, उनका अब शृङ्गार वर्णन करता हूँ। वह दारू या शराब रूपी बारूद पीती हैं और सहज मतवाली हो जाती है। वह श्वास लेती हैं तो धूम्रयुक्त आग निकलती है। इस भय से उनके पास कोई नहीं रहता आशय यह कि तोपों में पलीता लगाकर दूर हटा जाता है। उनके सिर पर सिन्दूर की भाँति आग की लाल लपट उठती हैं। उनके रथ के पहिये ताड़ के गोल पत्तों की तरह झमकते जाते हैं। उनके हृदय पर कुच रूपी दो गोले लगे हैं। अंचल की भाँति उनके ऊपर ध्वजा

फ़हराती है। वह मुख खोले रहती हैं। और उनकी जीभ गूँगी है। किन्तु उनके बोलने पर या छूटने पर लंका जैसी सुदृढ़ नगरी जल जाती है। हाथियों की शृङ्खला की मानो उनकी गर्दन पर अलकें पड़ी हैं किंतु वे मजबूत हाथी भी उन्हें खींचते डरते हैं कि कहीं मर न जायँ। इस प्रकार वीर और शृङ्गार—दोनों रस उन तोपों के साथ मिले हुए हैं। उनके नाम शत्रु-शाल और गढ़भंजन जैसे हैं। आशय है कि उनके नाम बड़े घातक हैं।

उन तोपों के सिर पर तिलक रूपी पलीता है। शरीर के दोनों ओर वे लोहे के गोले धाँगती हैं। वे जहाँ देखती हैं वहीं से भग्गी पड़ जाती है। जब हँस पड़ती हैं अर्थात चिनगारी उछालती हैं तो किसी के वश में नहीं रहतीं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५०८)

जेहि जेहि पंथ चली वे आवहिं। आवै जरत आगि तस लावहिं॥
जरहि सो परबत लागि अकासा। बन खंड ढंख परास को पासा॥
गेंड गयंद जरे भए कारे। औ बन मिरिग रोझ झौंकारे॥
कोकिल काग नाग औ भँवरा। औ जो जरहि तिन्हें को सँवरा॥
जरा समुंद्र पानि भा खारा। जमुना स्याम भई तेहिं झारा॥
धुँआ जामि अन्तरिख भै मेघा। गँगन स्यामु भै भारन थँघा॥
सूरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी लंक भा डाहू॥
धरती सरग असूझ भा तबहुँ न आगि बुझाइ।
अहुठौ बज्र दंगवै मारा चहै जुझाइ॥५०८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वे तोपें जिस-जिस मार्ग से चली आती थीं तो लगता था वह मार्ग भी जलता आता है; वे ऐसी भयानक आग लगाती जाती हैं। जो ऊँचे पर्वत आकाश छूते थे वह भी जलने लगे। बनखंड, ढाक का जंगल, पलाश आदि कौन उनके पास में पड़कर बच पाता था? गैंडे और हाथी उन्हीं तोपों की आग में जलकर काले हो गए थे। वन के मृग और नीलगाय (रोझ) उन्हीं की लपटों से झुलसकर अपने यथावत रंग के होगए। कोयल, कौवे, सर्प और भौंरे, उन्हीं तोपों के कारण काले होगए। और भी जो जीव जन्तु उन तोपों के कारण जलते हैं, उनकी शुमार कौन क्या कर सकता है? उन तोपों की आग से सागर उबला तो उसका पानी खारा होगया। उन तोपों की लपटों से यमुना झुलसकर श्यामल होगई। आकाश काला पड़ गया और उन तोपों के जमे हुए धुएँ को न थाम सका तो काले बादल के टुकड़ों के रूप में वह धुआँ पृथ्वी पर बरस पड़ा। उन तोपों से सूर्य, चन्द्र और राहू जले। धरती जली, लंका दहन हुआ।

उन तोपों के कारण धरती से आकाश तक, सर्वत्र धुन्ध छा गया; कुछ दिखाई न पड़ता था। ज्ञात होता था कि दंगवै राजा, साढ़े तीन बज्र या अहुठ बज्रों को चलाकर संघर्ष करना चाहता था। यहाँ यह संकेत किया गया है कि चित्तौड़ का गढ़पति अथवा

द्रंगपति राजा रत्नसेन दैविक भयानक अहुठ बज्रों या साढ़े तीन बज्रों की शक्ति के द्वारा युद्ध करने वाला है।

शब्दार्थ—ढंख=आग के जंगल। रोभ=नीलगाय। भौंकारे=झुलसकर काला हो जाना। झारा=लपट। अहुठौ बज्र=साढ़े तीन बज्र जिससे विष्णु का चक्र, शिव का त्रिशूल, इन्द्र का बज्र तथा शेष आधे भाग में संसार का विनाशकारी तत्व बना।

(५०९)

आवै डोलत सरग पतारू। काँपै धरति न अँगवै भारू॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ होइ चूर उड़हि होइ छारा॥
सतखंड धरति भई खट खंडा। ऊपर अस्ट भए ब्रह्मंडा॥
इन्द्र आइ तेहि खंड होइ छावा। औ सब कटक घोर दौरावा॥
जेहि पँथ चला एरापति हाथी। अबहुँ सो डगर गँगन महँ आथी॥
औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहुँ बसी सो हरिचँद पूरी॥
गँगन छपान खेह तसि छाई। सूरुज छपा रैनि होइ आई॥
इसिकंदर केदली बन गवने अस होइगा अँधियार॥
हाथ पसार न सूझै बरै लागु मसियार॥५०९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि अलाउद्दीन की सेना के प्रयाण से आकाश पाताल कम्पित होते जा रहे थे। धरती उस विराट् सेना के भार को सह सकने में असमर्थ थी, काँपती थी। सुमेरु पर्वत के शिखर टूट-टूटकर गिर रहे थे। वे सेना के भार से चूर-चूर होकर धूल में परिणित होकर उड़े जा रहे थे। सप्त खण्डों वाली धरती छः खण्डों की रह गई। सेना के प्रयाण से एक खण्ड धूल बनकर आकाश में चला गया और ऊपर ब्रह्माण्ड के आठ खण्ड होगए। वहीं आकर इन्द्र ने अपनी छावनी स्थापित की और सारे लश्कर तथा घोड़ों को वहाँ दौड़ाने लगा या परेड कराने लगा। जिस मार्ग से होकर इन्द्र का ऐरावत नामक हाथी चला था अब भी वह धूल का मार्ग आकाश पर स्थित है। और वह जो आकाश में धूल जमी है, अब भी उसी धूल की बनी वह हरिश्चन्द्र की पुरी बसी हुई है। यहाँ आशय यह है कि आकाश पर जितनी छायाएँ प्रकट होती है वह सब अलाउद्दीन की सेना के कारण उड़ी धूल के कारण ही हैं। आगे जायसी कहते हैं कि उस सेना के प्रयाण से ऐसी घनीभूत धूल उड़ी कि उससे आकाश ढँक गया, सूर्य छिप गया और रात हो आई।

जैसे सिकन्दर के कदली बन गमन के समय अंधकार होगया था वैसा ही अंधकार छा गया। (इस प्रसंग में छन्द ४९३ भी देखें) फैला हुआ हाथ भी न दीखता था और दिन ही में मशालें जल उठीं।

विशेष—इस पद में सेना के रण में प्रस्थान करते समय का सजीव और ओजस्वी चित्रण प्रधान है। इसी से मिलता-जुलता भूषण का यह पद भी देखिए—

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उलसत हैं।
तारा सो तरन धूरिधारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५१०)

दिनहि राति अस परी अचाका। भा रबि अस्त चंद रथ हाँका॥
दिन के पंखि चरत उठि भागे। निसि के निसरि चरै सब लागे॥
मँदिलन्ह दीप जगत परगसे। पथिक चलत बसेरै बसे॥
कँवल सँकेता कुमुदिनि फूली। चकई बिछुरि अचक मन भूली॥
तैस चलावा कटक अपूरी। अगिलहि पानी पछिलहि धूरी॥
महि उजरी सायर सब सूखा। बनखँड रहा न एकौ रूखा॥
गिरि पहार पब्बे भे माँटी। हस्ति हेरान तहाँ को चाँटी॥
जिन्ह जिन्ह के घर खेह हेराने हेरत फिरहिं ते खेह।
अब तौ दिस्टि तबहिं पै आवहिं उपजहिं नए उरेह॥५१०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि सुलतान की सेना के प्रयाण से ऐसा लगा मानो दिन में ही रात उतर आई हो। सूर्य डूबा और चाँद अपना रथ हाँके आकाश में चढ़ गया। चुगते हुए दिवस के पक्षी 'रात होगई'—यह सोचकर उड़ भागे और रात के सब पक्षी निकलकर चरने-विचरने लगे। संसार के घरों में दीपक जल गए। चलते हुए राही रुककर ठाँव लेने लगे। कमल मुँदा और कुमुदिनी विकसित होगई। (रात में कमल मुंद जाता है और कुमुदिनी खिल जाती है।) अचानक चकवे से बिछुड़ जाने के कारण चकवी मन में भूली-भूली सी अर्थात् दुखी हुई। (कवि वर्णन के अनुसार रात को चकई-चकवे बिछुड़ जाते हैं।) लश्कर इतना विस्तृत फैला था कि उसके आगे के भाग को तो पानी मिल जाता था और पिछले भाग को धूल मिलती थी। उस सेना के प्रयाण से धरती उजाड़ होगई और सब सागर सूख गए। जंगल में एक भी पेड़ न रहा। पहाड़ के पहाड़ उस सेना के कारण पिस-कर धूल होगए। उस विशाल सेना में जब हाथियों का पता न चलता था फिर चींटी का तो कहना ही क्या ?

उस सेना के प्रयाण से उड़ी धूल में जिन-जिन के घर खो गए थे वे उन्हें उस धूल में खोजते फिरते थे। किन्तु अब तो उनका नवीन रूप में ही बनाना-देखना सम्भव था।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५११)

एहि विधि होत पयान सो आवा। आइ साहि चितउर नियरावा ॥
राजा राउ देखि सब चढ़ा। आउ कटक सब लोहैं मढ़ा॥
चहुँ दिसि दिस्टि परी गज जूहा। स्याम घटा मेघन्ह जग रूहा ॥
अरघ उरघ कछु सूझ न आना। खरग लोह घुम्मरहिं निसाना॥
बैरख ढाल गँगन भै छाहाँ। रैनि होत आवै दिन माहाँ॥
चढ़ि धोराहर देखहिं रानी। धनि तूं असि जाकर सुलतानी॥
कै धनि रतनसेनि तूं राजा। जाकहँ बोलि कटक अस साजा ॥
अंध कूप भा आवै उड़त आव तसि छार।
ताल तलाब अपूरि गढ़ धूरि भरी जेंवनार ॥५११॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

इस प्रकार अलाउद्दीन की सेना का प्रयाण होता चला आ रहा था। सुलतान चित्तौड़ के पास आ गया। चित्तौड़ के राजा और रावों ने गढ़ पर चढ़कर देखा कि सुलतान का सारा लश्कर कवच-बख्तर आदि लोहे से लैस हुआ आ रहा है। चारों ओर हाथियों के झुण्ड पर दृष्टि पड़ी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो संसार में काली घटा घहरा गई हो। इधर-उधर ऊपर-नीचे कुछ भी दृष्टिगोचर न होता था। लोहे की चमचमाती तलवारें दीखती थीं और धौंसे का रव सुनाई पड़ता था। ध्वजों और ढालों से आकाश आच्छादित होगया। दिन में ही रात होती जाती थी। धवलगृह के ऊपर चढ़कर रानियाँ यह नज़ारा देखती थीं। उन्होंने आप ही में सोचा—तू धन्य है कि ऐसे वीर शाह की सुलतानी या बेगम है। वह यह भी सोचती कि हे रत्नसेन, तुझे भी धन्य है कि तुझको चुनौती देकर हमारे सुलतान ने ऐसी सेना सजाई, और हमें उसे देख पाने का अवसर मिला। आशय है कि बेगमें खुश थीं कि उनका सुलतान ऐसी सेना का शाह है।

ऐसी धूल उड़ती आ रही थी कि घोर अंधकार होगया। ताल-तालाब और गढ़ में अँटकर वह धूल खाद्य-पदार्थों में भी भर गई थी।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५१२)

राजैं कहा कीन्ह सो करना। भएउ असूझ सूझ जस मरना ॥
जहँ लगि राज साज सब होऊ। तेत खन भएउ सँजोउ सँजोऊ॥
बाजे तबल अकूत जुझाऊ। चढ़ा कोपि सब राजा राऊ॥
राग सनाहा पहुँची टोपा। लोहँ सार पहिरि सब कोपा॥
करहि तोखार पवन सों रीसा। कंध ऊँच असवार न दीसा॥
का बरनौं अस ऊँच तोखारा। दुइ पैरीं पहुँचे असवारा॥
बांधे मौर छांह सिर सारहिं। भाँजहिं पूंछि चँवर जनु ढारहिं॥

टँग्रा चँवर बनाए ग्रौ घाले गज भाँप।
ग्रौ गज गाह सेत तिन्ह बाँधे जो देखै सो काँप ॥५१२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

ग्रलाउद्दीन की सेना को ग्राते देखकर राजा रत्नसेन ने कहा—जो हमें करना उचित था वह हमने किया है। ग्रब सब कुछ ग्रसूझ हो चला है, केवल जैसे मरना ही सूझ पड़ता है। ग्रपना राज्य जहाँ तक है वहाँ तक सब युद्ध के लिये सज्जित हो जाग्रो। उसी समय, राजा की यह ग्राज्ञा सुनकर सब कुछ सैन्य वातावरण का साज-सामान सजाया जाने लगा। बहुत से युद्ध के बाजे-नगाड़े बजने लगे। सब राजा-रावों को युद्ध का रोष ग्रा गया। सब योद्धा राग या पाजानुमा कवच, सनाहा या जिरहबख्तर, पहुँची या दस्ताने ग्रौर टोप ग्रादि पुख्ता लोहे के बने सामान पहनकर युद्ध के लिये कुपित हो गए। उनके तुखारी घोड़े हवा से प्रतिस्पर्धा करते थे। उन घोड़ों के कँधे इतने ऊँचे थे कि उन पर बैठा सवार दिखलाई नहीं पड़ता था। कविवर जायसी कहते हैं कि उन घोड़ों की ऊँचाई का मैं क्या वर्णन करूँ ? सवार उन पर दो-दो सीढ़ी लगाकर चढ़ते थे। वे घोड़े सिर पर बँधी मुहर की पड़ती हुई छाया से बिगड़कर ग्रपनी गरदन इधर-उधर फिराते थे। भागते हुए उनकी उठाई पूँछ ऐसी प्रतीत होती थी मानो चँवर डुलाए जा रहे हों।

उनके मस्तक टैया तथा चँवर गहनों से सजाए गए थे। उनकी पीठ पर घुटनों तक लटकती गजभाँप या भूलें पड़ी हुई थीं। उनकी गरदन में, सामने पाँवों तक लटकती हुई सफेद गजगाह या भालरें बँधी हुई थीं। जो उन विचित्र सजे-धजे घोड़ों को देखता था वही काँप उठता था।

शब्दार्थ—तेतखन = उसी क्षण। ग्रकूत = बहुत, बेहद। सँजोउ = साज-सामान। सँजोऊ = सँजोया गया। राग, सनाहा, पहुँची = भावार्थ से देखें। सार = फौलाद, पुख्ता लोहा। कोपा = क्रोध। तोखार = तुखार देश। रीसा = क्रोध। दीसा = दीखना। पैरीं = सीढ़ी। मौर = मुकुट। सराहि = इधर-उधर घुमाना। शेष भावार्थ से स्पष्ट है।

(५१३)

राज तुरंगम बरनौं काहा। ग्राने छोरि इंद्र रथ बाहा ॥
ग्रैस तुरंगम परे न डीठी। धनि ग्रसवार रहहिं तिन्ह पीठी ॥
जाति बालका समुँद थहाए। माँथे पूँछि गँगन सिर लाए ॥
बरन बरन पखरे ग्रति लोने। सार सँवारि लिखे सब सोने ॥
मानिक जरे सिरो ग्रौ काँधे। चँवर मेलि चौरासी बाँधे ॥
लागे रतन पदारथ हीरा। पहिरन देहिं देहिं तिन्ह बीरा ॥
चढ़े कुँवर मन करहिं उछाहू। ग्रागें घालि गनहिं नहिं काहू ॥
सेंदुर सीस चढ़ाएँ चंदन घेवरें देह।
सो तन काह लगाइग्र ग्रंत भरै जो खेह ॥५१३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

कविवर जायसी कहते हैं कि राजा के प्रिय उन विशेष घोड़ों का मैं क्या वर्णन करूँ ? वे राजवल्लभ घोड़े क्या थे मानो इन्द्र-रथ के घोड़े ही खुलवाकर मँगाए गए थे। उन जैसे घोड़े कहीं अन्यत्र देखने में नहीं आए। वे सवार सौभाग्यशाली और धन्य हैं जो उन घोड़ों की पीठ पर सवार होते हैं। वे घोड़े उस उच्चेःश्रवा जाति के हैं जिन्होंने समुद्र की थाह पाई थी। उनकी पूँछ इतनी लम्बी कि उनके माथे तक आती थी और सिर आकाश को छूता था। वे विविध प्रकार के कवचों से सज्जित अति सुन्दर लगते थे। उनकी तमाम फौलादी झूलें (सार) सँवारकर सोने के पानी से चित्रित की हुई थीं। उनके मस्तक पर लगे सिर एवं गरदन पर बँधे कंठाभूषणों में माणिक जड़े हुए थे। गले में चँवर मिलाकर सुन्दर चौरासी या घुँघरूदार कंठा बँधा हुआ था। रायों के पहनने के लिये रत्न, हीरे, जवाहरात जड़ी युद्ध की पोशाकें दी जा रही थीं और साथ में युद्ध के बीड़े भी। शूरवीर कुँवर उन घोड़ों पर चढ़े, मन में युद्ध के लिये बड़े उत्साहित हो रहे थे। वे उन घोड़ों को आगे बढ़ा-बढ़ाकर अपने समान किसी को योद्धा ही न समझ रहे थे, या किसी को कुछ गिनते ही न थे।

वे कुँवर सिर पर सिन्दूर लगाए हुए थे और शरीर पर चंदन का खौर किए हुए थे। कविवर जायसी कहते हैं—पर उन वीरों का शरीर में कुछ लगाना भी क्या ?—अंततः उस शरीर को मरना है या उसे मिट्टी में ही मिल जाना है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार स्पष्ट है।

(५१४)

जज मैमँत पखरे रजबारा। देखिअ जानहुँ मेघ अकारा॥
सेत गयंद पीत औ राते। हरे स्याम घूमहिं मद माँते॥
चमकहि दरपन लोहैं सारी। जनु परबत पर परी अँबारी॥
सिरी मेलि पहिराई सूँड़ैं। कटक न भाय पाय तर रूँदैं॥
सोनैं मेलि सो दाँत सँवारे। गिरिवर टरहिं सो उन्हकें टारे॥
परबत उलटि पुहुमि सब मारहिं। परै ज्यों भीर तीर जेउँ टारहिं॥
अस गयंद साजे सिंघली। गनवत कुरूँम पीठि कलमली॥
ऊपर कनक मँजूसा लाग चँवर औ ढार।
भलइत बैठ भाल लै औ बैठे धनुकार॥५१४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन के यहाँ राजद्वार पर कवच पहने मस्त हाथी खड़े हुए थे। वे आकार में मेघ जैसे लगते थे। श्वेत, पीले, लाल, हरे और काले वे मस्त हाथी घूम रहे थे। उन पर पड़ी लोहे की झूलें दर्पण सी चमक रही थीं। उनके पीठ पर धरा हौदा, अम्बारी या मंजूषा ऐसा प्रतीत होता था मानो पहाड़ के ऊपर रक्खा हुआ हो। सिरी नामक झूल को डालकर उसे उनकी सूड़ों तक पहनाया गया था। पैर के कड़े उन हाथियों को अच्छे न लग रहे थे। अतः उन्हें वे पैरों तले रौंद देना चाहते थे। उनके दाँतों में सोने के

कड़े या बंगरी पहनाकर उन्हें सजाया गया था। उनके धक्के से पहाड़ भी हटते थे। वे पर्वतों को उलट सकते हैं। पृथ्वी पर सभी को मार सकते थे। वह अपने आगे की पड़ी हुई भीड़ को तीर की तरह चीरकर या तितर-बितर करके बढ़ते थे। कविवर जायसी कहते हैं कि ऐसे विकट सिंहली हाथी रण हेतु सज्जित किये गये थे। उनके चलने से कूर्म की पीठ भी कुलबुलाने लगती थी।

उन हाथियों की पीठ पर स्वर्ण हौदा, मंजूषा या अम्बारी रक्खा था। उस पर चँवर ढाल आदि सामान लगे हुए थे। उन हाथियों के हौदों पर भाले वाले भाला लेकर एवं धनुर्धर धनुष लेकर बैठे थे।

शब्दार्थ—मैमंत = मस्त। रजबारा = राजद्वार। अकारा = आकार के। सेत = श्वेत। गयंद = हाथी। राते = लाल। दरपन = दर्पण। सारी = झूलें। अंबारी = हौदा। सिरी = पाखर या झूल। कटक = हाथी के पाँव का कड़ा। गवनत = चलते हुए। कुरुँम = कूर्म। कलमली = कुलमुलाना। कनक = सोना। मँजूसा = हौदा। भलइत = भाले वाले।

(५१५)

असु दल गज दल दूनौ साजे। औ घन तबल जूझ कहँ बाजे॥
माथें मटुक छत्र सिर साजा। चढ़ा बजाइ इन्द्र होइ राजा॥
आगें रथ नौ सैना भइ ठाढ़ी। पाछें धजा अचल सो काढ़ी॥
चढ़ा बजार चढ़ै जस इँदू। देव लोक गोहन सब हिंदू॥
जानहु चन्द नखत लै चढ़ा। सुरुज कि कटक रैनिमसि मढ़ा॥
जौ लहि सुरुज चाह देखरावा। निकसि चाँद घर बाहेर आवा॥
गगन नखत जस गने न जाहीं। निकसि आइ तस भुइँ न समाहीं॥
देखि अनी राजा के जग होइ गएऊ असूझ।
दहुँ कस होइ चलत ही चाँद सुरुज कै जूझ॥५१५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन के घोड़ों एवं हाथियों के दल सजे। और तब, नगाड़े तथा डंके युद्ध-प्रयाण के लिए बज उठे। राजा रत्नसेन माथे पर मुकुट और सिर पर छत्र धारण कर सज्जित हुआ। बाजे-गाजे के सहित वह इन्द्र के समान युद्ध के लिये तैयार हुआ। आगे रथ सेना खड़ी हुई। पीछे अटल मरण ध्वजा निकालकर खड़ी की गई, जिससे सेना पीछे पीठ न दिखाए। इन्द्र के समान राजा रत्नसेन बाजे बजाता हुआ चढ़ाई के लिये चला। उसके साथ हिन्दू वीर राजे इस प्रकार से थे जैसे इन्द्र के साथ देवलोक चल रहा हो। या मानो चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ आक्रमण के लिये चला हो और मानो सूर्य समान शाह के लश्कर को रात की स्याही ने आच्छादित कर लिया हो। जब तक सूर्य रूपी शाह अपना विजय का प्रकाश दिखलाये कि उससे पूर्व ही चन्द्रमा रूपी रत्नसेन बाहर आकर चमकने लगा। जिस प्रकार आकाश के तारे नहीं गिने जाते इसी प्रकार रत्नसेन की विशाल सेना के नक्षत्र

रूपी सैनिक वहाँ छा गए और वह पृथ्वी पर नहीं समा रहे थे।

कविवर जायसी कहते हैं कि राजा रत्नसेन की सेना को देखकर विश्व में अन्धकार आच्छादित हो गया। न जाने रत्नसेन-चन्द्र और अलाउद्दीन-सूर्य के युद्ध-रत होने पर क्या बीतेगी ?

विशेष—इस पद में सूर्य एवं चाँद के प्रतीक प्रयोग में लाये गये हैं। यह दोनों परस्पर प्रतिपक्षी हैं—एक मधुर रात का राजा तो दूसरा उष्ण दिन का। इस दृष्टि से रत्नसेन-चन्द्र एवं अलाउद्दीन को सूर्य के प्रतीक में रक्खा गया है। यह दोनों प्रतीक जायसी के पद्मावत में अधिक हैं। यह प्रतीक सिद्ध-नाथ पंथ में पहले से बड़े रहस्यमय ढंग से प्रयोग में चले आ रहे थे। जायसी पर इनका प्रभाव था। पीछे पद्मावती एवं रत्नसेन को भी चाँद-सूरज के प्रतीक माध्यम से व्यक्त किया गया है और जिनका अनवरत आकर्षण प्रतिपादित किया गया है। मूलतः संसार के संचालन में चन्द्र-सूर्य की जोड़ी शाश्वत सौन्दर्य, साधना एवं सत्स्वरूप की प्रतिष्ठा करती है। सम्भवतः जायसी का यही दृष्टिकोण प्रधान रहा हो।

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

४३--राजा-बादशाह युद्ध खण्ड

(५१६)

इहाँ राजा असि साज बनाई। उहाँ साहि की भई अवाई ।।
अगिलै धौरी आगें आई। पाछिल बाहु कोस दस ताँई ।।
आइ साहि मंडल गढ़ बाजा। हस्ती सहस बीस सँग साजा ।।
ओनै आइ दूनौ दर गाजे। हिन्दू तुरुक दुऔ सम बाजे ।।
दूऔ समुंद दधि उदधि अपारा। दूऔ मेरू खिखिद पहारा ।।
कोपि जुझार दूहूँ दिसि मेले। औ हस्ती हस्तिन्ह कहँ पेलै ।।
आंकुस चमकि बीज अस जाहीं। गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं ।।
धरती सरग दुऔ दर जूझहिं ऊपर जूह ।।
कोऊ टरै न टारे दूऔ बज्र समूह ।।५१६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

इधर राजा रत्नसेन ने सेना का ऐसा साज बनाया और उधर शाह अलाउद्दीन के लश्कर का आगमन हुआ। कूदती-फाँदती घुड़सवारों की अगली सेना आगे अड़ी। उससे पीछे का सेना भाग वक्षस्थल की भाँति दस कोस तक फैला हुआ था। शाह अलाउद्दीन दिल्ली

से मंडलगढ़ तक आ धमका। बीस हज़ार हाथियों का रेला उसके साथ था। एक दूसरे के निकट झुककर या मुठभेड़ करते हुये दोनों सेनायें गरज उठीं। हिन्दू और तुरकों का पास पहुँचकर आमना-सामना हुआ। दोनों दल दधि और उदधि सागरों की भाँति अपार लगते थे। दोनों दल सुमेरु एवं किष्किधा पर्वतों की तरह अटल थे। दोनों ओर के वीर योद्धा रोष में भरकर परस्पर जूझे। हाथी हाथियों पर पेले गए। अंकुश बिजली की तरह चमकते थे। हाथी क्या गरजते थे मानो मेघ गर्जन करते थे।

धरती से आकाश तक फैले हुए दोनों दल दीखते थे। झुण्डों के ऊपर झुण्ड छा रहे थे। कोई भी किसी की टक्कर से पीठ न फेरता था। दोनों दल ही वज्र समूह से अटल और दुर्जेय हो रहे थे।

विशेष—प्रस्तुत पंक्ति में 'अंकुस के चलने की त्वरित गति का, लगता है कि बिजली की कूची से एक सजीव चित्र आँक दिया गया है—

"आँकुस चमकि बीज अस जाहीं।"

और हाथियों के गर्जन की ध्वनि भी कम प्रभावशाली नहीं—

"गरजहिं हस्ति मेघ घहराहीं।"

शब्दार्थ— अगिलै=सेना का अग्रभाग। धौरी=सेना की कूद-फाँद। पाछिल= सेना का पिछला भाग। ओने=निकट। बाछु=वक्षस्थल। बाजे=आकर। खिखिद= किष्किन्धा।

(५१७)

हस्तिन्ह सौं हस्ती हठि गार्जहिं। जनु परबत परबत सौं बार्जहिं॥
गरुअ गयंद न टारे टरहीं। टूटहिं दंत सुंड भुइँ परहीं॥
परबत आइ जो परहिं तराहीं। दर मँह चाँपि खेह मिलि जाहीं॥
कोइ हस्ती असवारन लेहीं। सुंड समेटि पाय तर देहीं॥
कोइ असवार सिंघ होइ मारहिं। हनि मस्तक सिउँ सुंड उतारहिं॥
गरब गयंदन्ह गँगन पसीजा। रुहिर जो चुवै धरति सब भीजा॥
कोइ मैमंत सँभारहिं नाहीं। तब जानहिं जब सिर गड़खाँहीं॥
गँगन रुहिर जसि बरिसै धरती भीजि बिलाइ।
सिर धर टूट बिलाहिं तस पानी पंक बिलाइ॥५१७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी लिखते है कि दोनों दलों के हाथी-हाथियों से भिड़कर गर्जना करते थे। मानो पर्वतों से पर्वत टकरा रहे हों। वे भारी हाथी हटाने से नहीं हटते थे। उनके दाँत और सुंड टूट-टूट कर पृथ्वी पर धराशाई हो रहे थे। नीचे यदि पर्वत भी आकर पड़ जायँ तो उस हस्ति दल के बोझ से कुचलकर धूल-धूल हो जाए। कोई हाथी सवारों को लेकर और अपनी सुँड में समेटकर पैरों से कुचल देता था। कोई सवार सिंह सा होकर उन हाथियों को मारता था और उनका सिर चीरकर सुँड़ उतार लेता था। जिन हाथियों के

गर्व से आकाश पसीजा था अब उन्हीं हाथियों के रक्त से धरती भीग गई थी। कोई हाथी मस्त होकर अपने चारों ओर की सुध भूल जाते थे और उन्हें तब अपना होश आता था जब कोई उनके सिर में गड़ नामक दुफंकी भाला अंकुश या बर्छा मारता था।

आसमान से वर्षा के रूप में खून की धाराएँ बरस रही थीं। उनसे भीगकर धरती बही जा रही थी। सिर धड़ से इस भाँति अलग होकर रक्त में बहते थे, जैसे पानी में कीचड़ बह जाती है।

विशेष—युद्ध का वर्णन अत्यन्त ओजस्वी एवं संश्लिष्ट है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५१८)

अहुठौं बज्र जूझि जस सुना। तेहितें अधिक होइ चौगुना॥
बाजहिं खरग उठै दर आगी। भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी॥
चमकै बीज होइ उजियारा। जेहि सिर परै होइ दुइ फारा॥
सैन मेघ अस दुहुँ दिसि गाजै। सरग जो बीच बीज अस बाजै॥
बरिसै सेल आँसु होइ काँदौ। जस बरिसै सावन औ भादौं॥
टूटहिं कुंत परहिं तखारी। औ गोला ओला जस भारी॥
जूझे बीर लिखौं कहँ ताईं। लै अछारि कबिलास सिधाईं॥
स्यामी काज जे जूझे सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै मसि मुख चढ़ी परात॥५१८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि त्रि-बज्रों का जैसा भयंकर युद्ध सुना जाता है, उससे भी अधिक भयंकर, चौगुना युद्ध अलाउद्दीन एवं रत्नसेन में चला। खड्गों के टकराने से सेना में आग भड़क रही थी। वह आग धरती से जलकर आकाश में लगना चाहती थी। तलवारें बिजली सी चमकती थीं, जिससे उजाला हो जाता था। वह खड्ग जिसके सिर पर पड़ता, दो टुकड़े कर देता था। मेघों सी सेनाएं दोनों ओर गरज रही थीं। बीच-बीच में तलवार बिजली सी टूटती थी। दीर्घ भालों से आँसू की तरह रक्त की बूंदें इस प्रकार टपक रही थीं जैसे सावन और भाँदों में पानी बरसता है। उससे कीचड़ हो रही थी। बर्छे टूट रहे थे, तलवारें गिर रही थीं। भारी-भारी गोले ओलों की भाँति बरस रहे थे। कविवर जायसी कहते हैं कि इतने वीर युद्ध में काम आए कि उनका कहाँ तक वर्णन लिखूं? बहुत से सुन्दर वीरों को अप्सराएँ कैलाश ले गई।

कविवर जायसी कहते हैं कि जो वीर अपने स्वामी के पक्ष में बलि होगए वही लाल मुख वाले अर्थात् सौभाग्यशाली हुए—महान मौत मर कर गए!

जो युद्ध का सत्यधर्म छोड़कर पीठ दिखला गए, उन कायरों के मुख पर स्याही भरी परात पुत गई।

विशेष—प्रस्तुत पद में युद्ध का वर्णन सर्वथा चारणकालीन परम्परा सा ओजस्वी

है। विस्मय है कि प्रेम कवि जायसी की वेदनामई वाणी में इतनी ओजस्विता भी थी ! उपरोक्त पद की तुलना में चन्दबरदाई का यह पद देखिए कि दोनों के युद्ध वर्णन में कितनी सूक्ष्म-साम्यता है—

पवन रूप परचंड। घालि असु असिवर झारैं।
मार मार सुर बज्जिय। पत्त तरु अरि सिर पारैं।
फहकि सद्द फेफरा। हड्डु कंकर उष्षारैं।
कटि भुसुंड परिमुंड। भिड कंटक उप्पारैं।
बज्जयौ विषम मेवार पति। रज उड़ाइ सुरतान दल।
समरथ्थ समर सम्मर मिलिय। अनी मुष्ष पिष्षौ सबल।

(अर्थ—मेवाड़पति समर ने सामर्थ्यवान, बलवान, विषम स्वरूप, प्रचण्ड पवन के समान चलकर सेना से भिड़न्त की। प्रारम्भ में ही युद्धान्तर मिलता हुआ दिखलाई पड़ा। वह श्रेष्ठ तलवार निकालकर शत्रु सैनिकों का नाश करने लगा और "मार मार" शब्द उच्चारण करता हुआ वृक्ष रूपी बैरियों के पत्ते रूपी शिरों का नाश करने लगा। उसने फेफड़ों से "फू फू" शब्द कर हड्डी और कंकाल उखाड़ दिए। हाथियों के सुंड काटता हुआ बीहड़ बन रूपी शाही दल के क्रूर कंटकों को उखाड़ कर, शाही दल की रजोगुण रूपी रज (सेना) का नाश कर दिया।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं।

(५१९)

भा संग्राम न अस भा काऊ। लोहैं दुहुँ दिस भएउ अघाऊ॥
कंध कबंध पूरि भुइँ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे॥
अनँद बियाह करहिं मँसुखाए। अब भख जरम जरम कहँ पाए॥
चौंसठ जोगिन खप्पर पूरा। बिग जँबुकन्ह घर बाजहिं तूरा॥
गीध चील्ह सब माँड़ो छावहिं। काग कलोल करहिं औ गावहिं॥
आजु साहि हठि अनी बियाही। पाई भुगुति जैस जियँ चाही॥
जेन्ह जस माँसू भखा परावा। तस तेन्ह कर लै औरन्ह खावा॥
काहूँ साथ न तनु गा सकति मुऐ पै पोखि।
ओछ पूर तब जानब जब भरि आउब जोखि॥५१९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि वह संग्राम इतना भयंकर हुआ कि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। खूब जोरों के साथ दोनों सेनाओं में शस्त्र चले। सैनिकों के कंध-कबंध धरती पर पड़े थे। रुधिर रूपी जल का सागर भरा हुआ था। माँसभक्षी, भूत-प्रेत राक्षस आदि आनंदित होकर विवाह रचाने में लगे हुए थे। अब उन्हें जन्म-जन्म का भोजन मिला है। चौंसठ जोगिनियों या पिशाचनियों ने खून से खप्पर भर लिये। भेड़ियों एवं सियारों के घर हर्ष से बाजा बज रहा था। गिद्ध एवं चील विवाह के मण्डप छवाने

लगे। कौवे हर्ष क्रीड़ा करने लगे तथा गाने लगे। आज शाह अलाउद्दीन स्वयं सेना का ब्याह रचा रहे थे, अर्थात् वे सब सेनापति बने, सेना का संचालन कर रहे हैं। अतः सभी ने आज अपनी इच्छानुसार माँस खाने के लिये पाया है। जिन्होंने या वीरों ने दूसरों का जिस प्रकार से माँस खाया था, आज उसी तरह उनका माँस और पक्षी खा रहे थे।

कविवर जायसी दार्शनिक भाव से कहते हैं, यह शरीर किसी के साथ नहीं गया है। प्रत्येक शक्तिपूर्वक इसका पोषण कर मर जाता है। किन्तु इसका कम अधिक महत्व तब जाना जायगा, जब कयामत या प्रलय के दिन इसका इंसाफ होगा, और इंसाफ की तराजू पर ये भरापूरा उतरेगा।

विशेष—प्रस्तुत पद में वीभत्स रस का सहज परिपाक हुआ है। यह सजीव वर्णन चारणकील युद्ध क्षेत्र के सजीव वर्णन की स्मृति जाग्रत करता है। परमाल रासो एवं पृथ्वीराज रासो में ऐसे वर्णन स्थल प्रायः मिलते हैं। "जेन्ह पास माँसू" पंक्ति में अहिंसा-वादी व्यंजना है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५२०)

चँद न टरै सूर सौं रोपा। दोसर छत्र सौंह कै कोपा।।
सुना साहि अस भएउ समूहा। पेले सब हस्तिन्ह के जूहा।।
आजु चन्द तोहि करौं निपातू। रहै न जग महँ दोसर छातू।।
सहस कराँ होइ किरन पसारा। छपि गा चाँद जहाँ लगि तारा।।
दर लोहें दरपन भा आवा। घट घट जानहुँ भानु देखावा।।
बहु विरोघ कुंताहल धावै। अगिनि पहार जरत जनु आवै।।
खरग बीज जस तुरुक उठाएँ। ओड़ न चन्द कँवल कर पाएँ।।
चकमक अनी देख कै धाइ दिस्टि तसि लागि।
छुइ होइ जो लोहें रुई माँझ उठि आगि ।।५२०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

चन्द्र-रत्नसेन सूर्य-शाह के सम्मुख भिड़ गया और हटाये न हटता था। उसने सरोष शाह के छत्र के सामने अपना दूसरा छत्र अड़ा दिया। शाह ने जाना कि इस प्रकार प्रबल शत्रु समूह इकट्ठा हुआ है तो उसने सारे हाथियों के झुण्डों को पेलने की आज्ञा दी। सुलतान ने कहा—हे चन्द्र रत्नसेन! आज मैं तेरा सर्वनाश कर दूँगा। संसार में दूसरा छत्र नहीं रहेगा। यह कहकर शाह ने अपना सहस्र कलाओं का शौर्य फैलाया, जिसके कारण चाँद और जहाँ तक तारे थे, सब छिप गये। सैनिक दल लोहे के बख्तरों से लैस, दर्पण-सा चमकता हुआ बढ़ा चला आता था। हर सैनिक के घट-घट में मानों सूर्य रूपी शाह अलाउद्दीन के शौर्य का प्रतिबिंब पड़ रहा था। बर्छेत बड़े क्रोध में बर्छे लेकर दौड़े चले आते थे। लगता था मानो आग का जलता हुआ पहाड़ आ रहा हो। तुर्क हाथों में बिजली सी चमचमाती हुई तलवारें लिए थे। उनका वार चन्द्र रूपी रत्नसेन एवं कमल रूपी पद्मावती नहीं सह

सकते; या जब वह बिजली गिरेगी तो चन्द्र और कमल का संग विच्छेद हो जायगा।

राजा की चकमक-सी सेना को शाह अलाउद्दीन की लोहे-सी सेना ने देखा और दृष्टि की रगड़ पैदा हुई। यों दोनों सेनाओं की रगड़ से आग पैदा हुई और संग्राम की ज्वाला भड़क उठी।

विशेष—अंतिम दो पंक्तियों में जायसी ने वैज्ञानिक दृष्टि का बड़ा सूक्ष्म अन्वेषण प्रकट किया है। रत्नसेन की सेना चकमक-सी, शाह की सेना लोहे-सी और रणक्षेत्र में दोनों दृष्टि रगड़ से चिनगारी उठना, फिर संग्राम की आग प्रज्वलित होना—यह सब रूपक बड़ा ही वैज्ञानिक एवं काव्य-संगत है। काव्य एवं विज्ञान का यह चमत्कारपूर्ण समन्वय बड़ा आकर्षक बन पड़ा है।

शब्दार्थ—कोपा=क्रुद्ध होकर। जूहा=समूह। निपातू=नाश। छातू=छत्र। कुंताहल=बर्छैत। ओड़=सहना, बचाव करना।

(५२१)

सूरज देखि चाँद मन लाजा। बिगसत बदन कुमुद भा राजा ।।
चंद बड़ाई भलेहँ निसि पाई। दिन दिन भर सौं कौनु बड़ाई ।।
अहे जो नखत चंद सँग तपे। सूर की दिस्टि गँगन महँ छपे ।।
कै चिता राजा मन बूझा। जेहि सिउँ सरग न धरती जूझा ।।
गढ़पति उतरि लरैं नहिं धाए। हाथ परें गढ़ हाथ पराएँ ।।
गढ़पति इंद्र गँगन गढ़ साजा। देवस न निसर रैनि को राजा ।।
चंद रैनि रह नखतन्ह माँझा। सुरुज न सौंह होइ चह साँझा ।।
देखा चंद भोर भा सुरुज के बड़ भाग।
चाँद फिरा भा गढ़पति सुरुज गँगन गढ़ लाग ।।५२१।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

सूर्य अर्थात् शाह को देखकर चन्द्र अर्थात् राजा रत्नसेन मन में लज्जित हुआ। राजा का पूर्व कमल जैसा खिला हुआ मुखमण्डल कुमुद के समान मलीन हो गया। चन्द्रमा ने भले ही रात में बड़प्पन पाया हो किन्तु दिन के तेजोमय सूर्य के समक्ष उसका बड़प्पन और महत्व क्या है? जो तारे (सैनिक) उस चन्द्र रूपी रत्नसेन के साथ में चमक रहे थे वे सूर्य सदृश शाह की दृष्टि पड़ते ही आकाश में छिप गए। यह सब कुछ देखकर राजा ने चिन्तापूर्वक मन में सारी स्थिति को सोच-समझ लिया कि जिसके पास स्वर्ग है वह धरती पर अर्थात् मैदान में युद्ध नहीं करता। आशय यह है कि रत्नसेन यह समझ गया कि मुकाबले के युद्ध में वह अलाउद्दीन से नहीं जीत पायेगा; अतः गढ़ की नीति से लड़ने में ही उसने अपनी जीत समझी।—आगे रत्नसेन स्पष्ट सोचता है कि गढ़पति अपने गढ़ से उतरकर मैदान में जूझने के लिये नहीं झपटता। यदि वह मैदान में शत्रु के हाथ पड़ गया तो उसका गढ़ भी उसके हाथ से निकलकर शत्रु के हाथ में चला जाता है। वह गढ़पति इंद्र के समान, आकाश में बने हुए, या अपने आकाश से ऊँचे गढ़ का स्वामी है। रात का

राजा चंद्र अपनी रात को छोड़कर कभी दिन में उदय नहीं होता। रात में चन्द्र नक्षत्रों के मध्य रहता है। सूर्य रात को नहीं चाहता; प्रातःकाल चाहता है। आशय यह है कि राजपूत गढ़ के युद्ध में निपुण होता है; जिसे सूर्य रूपी शाह नहीं चाहता। वह तो प्रातः-काल रूपी मैदान चाहता है।

इस प्रकार रत्नसेन ने समझ लिया कि मैदान का संग्राम उस चन्द्र जैसे के लिये अशुभ प्रातःकाल है, पराजय का कारण है! और सूर्य जैसे शाह के लिये वह प्रातःकाल शुभ है। वह निश्चित विजेता होगा। यह सोचकर राजा लौट पड़ा और गढ़ में जाकर गढ़पति हो गया। यह देखकर शाह सूर्य ने आकाश से ऊँचे उस गढ़ को चारों ओर से घेर लिया।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने तत्कालीन युद्ध सम्बन्धी राजनीतिक दाँव-पेंच का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। यह उनकी सूझ की सूक्ष्म पकड़ की बात है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५२२)

कटक असूझ अलावल साही। आवत कोइ न सँभारै ताही॥
उदधि समुंद जेउँ लहरैं देखें। नैन देखि मुँह जाहि न लेखें॥
केत बजावत उतरे घाटी। केत बजाइ गए मिलि माँटी॥
केतन्ह नितिहि देइ नव साजा। कबहुँ न साज घटै तस राजा॥
लाख जाहि आवहि दुइ लाखा। फरहि झरहि उपनहि नौ साखा॥
जो आवे गढ़ लागै सोई। थिर होइ रहै न पावै कोई॥
उमरा मीर अहे जहँ ताईं। सबहूँ बाँटि अलंगै पाईं॥
लागि कटक चारिहुँ दिसि गढ़ सो परा अगिडाहु।
सुरुज गहन भा चाँदहि चाँद भएउ जस राहु॥५२२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

अलाउल शाह अलाउद्दीन का लश्कर बहुत अधिक था। उसके आक्रमण को कोई झेल नहीं सकता था। उस लश्कर की चली आती हुई सैनिक टुकड़ियाँ ऐसी दीखती थीं मानो उदधि समुद्र की भयंकर लहरें उठ रही हों। इस अद्भुत दृश्य को आँखों से देखकर भी लिखा नहीं जा सकता। कितने योद्धा बाजे-गाजे के साथ मौत की घाटी के पार गए। कितने योद्धा जोर-शोर दिखाकर मिट्टी में मिल गए। कितनों को राजा नित्य ही नया साज-सामान प्रदान करता था। जिसके यहाँ कभी किसी को किसी भी वस्तु का अभाव न अखरा, ऐसा सम्पन्न वह राजा था। एक लाख लेकर जाते तो दो लाख लेने वाले आ जाते। इस प्रकार उस राजा की सम्पन्नता एक फलवती लता जैसी थी, जो फिर-फिर झड़ती है, फिर-फिर फलती है—उस पर सदा नई बहार और नई शाखाएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं। जो आता था वही क़िले को घेरने में लग जाता था। कोई स्थिर नहीं रह पाता था। जितने अमीर-उमरा थे, सबको क़िले के अलग-अलग मोर्चों पर लगा दिया गया था।

चारों ओर से घिरकर शाह का लश्कर क़िले पर आक्रमण करने लगा, और चित्तौड़

का क़िला आग की लपटों में पड़ गया। शाह अलाउद्दीन रत्नसेन रूपी चाँद के लिये ग्रहण हो गया और चन्द्र रूपी रत्नसेन सूर्य सदृश शाह के लिये राहू जैसा बन गया था। आशय यह है कि शाह और रत्नसेन परस्पर एक दूसरे के काल शत्रु बने हुए थे।

विशेष—अन्तिम पंक्तियों में ग्रहण और राहु सम्बन्धी रूपक स्पष्ट नहीं है।

शब्दार्थ—अलावल=अलाउल, अलाउद्दीन का प्रचलित नाम। उतरे घाटी=आशय है, मर गए। उपनहिं=उत्पन्न होना। अलंगै=अलग। अगिडाहू=आग की लपटों में।

(५२३)

अँथवा देवस सुरुज भा बासाँ। परी रैनि ससि उवा अकासाँ।।
चाँद छत्र दै बैठेउ आई। चहुँ दिसि नखत दीन्ह छिटकाई।।
नखत अकासहुँ चढ़े दिपाहीं। टूटहिं लुक परहिं न बुझाहीं।।
परहिं सिला जस परैं बजागी। पहनहि पाहन बाजि उठ आगी।।
गोला परहिं कोल्हु ढुरुकावहिं। चून करत चारिहु दिसि आवहिं।।
ओनइ अँगार बिस्टि झरि लाई। ओला टपकै परै न बुझाई।।
तुरुक न मुंह फेरहिं गढ़ लागें। एक मरैं दोसर होइ आगें।।
परहि बान राजा कै मुख न सकै कोइ काढ़ि।
अनी साहि कै सब निसि रही भोर लहि ठाढ़ि।।५२३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दिन डूबा और सूर्य अर्थात शाह का अस्तमित या विश्रामकाल आ गया। रात हुई तो आकाश पर चन्द्रोदय हुआ अर्थात रत्नसेन अपने गढ़ पर चढ़ा। चाँद रूपी रत्नसेन छत्र के तले बैठ गया और गढ़ के चारों तरफ नक्षत्रों जैसे अपने योद्धाओं को नियुक्त कर दिया। वे नक्षत्रों से योद्धा आकाश सदृश गढ़ पर चढ़े हुए चमकते थे। गढ़ के ऊपर से शत्रुदल पर लूक या गोलियाँ छूटती थीं, जो बुझाई न जाती थीं। शिलायें ऐसे गिरती थीं जैसे गाज गिरती हों। पत्थर से पत्थर की टकराहट होने पर आग उठ रही थी। गोले गिरते थे और कोल्हू सरकाये जाते थे। चारों ओर से गिरकर वह शत्रु सेना का चूरा किये दे रहे थे। आग-अंगारों की वर्षा-झरी लगी हुई थी, वह आग विषम ओले-सी बरसती थी पर बुझने में न आती थी इतने पर भी वीर तुर्क गढ़ की ओर से मुँह न मोड़ते थे। एक मरता तो दूसरा झट मोर्चे पर आगे अड़ जाता था

शाह के लश्कर पर राजा के गोले बरस रहे थे। कोई मुख से कुछ न कह पाता था। अजीब जान की परेशानी आ पड़ी थी। शाह की सेना रात भर मौत से युद्ध करती रही, सवेरे तक सो न सकी, बस खड़ी ही रही।

शब्दार्थ—अँथवा=अस्त। उवा=उदय हुआ। लूक=गोलियाँ, गोले आदि। बजागी=बज्राग्नि, गाज। पाहन=पत्थर। बिस्टि=वर्षा। बान=गोला। रैनि=रात।

(५२४)

भएउ बिहान भान पुनि चढ़ा। सहसहुँ करा कैस बिधि गढ़ा।।

भा ढोवा गढ़ लीन्ह गरेरी। कोपा कटक लाग चहुँ फेरी।।
बान करोरि एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लगि फूटहिं।।
नखत गगन जस देखिअ घने। तस गढ़ फाटहिं बानन्ह हनें।।
जानहुँ बेधि साहि कै राखा। गढ़ भा गरुर फुलाएँ पाँखा।।
ओरगा केरि कठिन है जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता।।
पीठि देहिं नहिं बानन्हि लागे। चाँपत जाहिं परगहि पग आगे।।
चारि पहर दिन बीता गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुव होत पै आवै दिन-दिन टाँकहि टाँक।।५२४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

फिर प्रातःकाल हुआ और सूर्य या शाह अपनी सहस्त्रों रश्मियों के साथ चढ़ा; ईश्वर ने उसे कैसा सम्पन्न बनाया है? आक्रमण बोल दिया गया और चित्तौड़ गढ़ को घेर लिया गया। रोष में भरी हुई सेना चारों ओर फिरने लगी। करोड़ों तीर एक ओर से छोड़े जा रहे थे। जहाँ वे लगते थे, अपने पिछले भाग के पंखों तक धँस जाते थे। आकाश में ज्यों अनगिनत तारे दीखते हैं; इसी प्रकार उन बाणों के आघात से क़िला फटकर छलनी हो चला था। शाह के बाणों से बिंधा हुआ वह गढ़ सेही अथवा पंख फूले हुए गरुड़ के जैसा प्रतीत होता था। तुर्क की जाति बड़ी विकट होती है। वह बलपूर्वक अधिकार प्राप्त करते हैं। अतः उनका मुख लाल या तमतमाया हुआ रहता है। गोलों के प्रहारों के बावजूद भी वे युद्ध से पीठ नहीं दिखलाते थे और क़दम-क़दम पर आगे बढ़ते कब्जा करते जाते थे।

चार पहर युद्ध करते-करते दिन व्यतीत हो गया। किन्तु वह दृढ़ गढ़ न टूटा, विजित न हुआ। जिस प्रकार "टाँक" धनुष की तोल से दिन-प्रतिदिन धनुष की गरिमा बढ़ती ही जाती है, इसी प्रकार दिन-प्रति-दिन के युद्ध से युद्ध की स्थिति भी विषम होती जाती थी।

शब्दार्थ—विहान=सवेरा। भान=सूर्य या शाह। करा=रश्मि। ढोवा=आक्रमण। गरेरी=घेर लेना। बाजहि=लगना, टकराना। फोंक=तीर के पीछे लगे कुछ पंख जैसे। साहि=एक जीव, जिसके शरीर में काँटे होते हैं—सेही। ओरगा=तुर्क। राता=लाल। चाँपत=अधिकार में करना। बाँक=विकट। गरुव=दृढ़ता, गरिमा, भार। टाँक=धनुष की गरिमा नापने वाला; २५ सेर का तोल होता था।

(५२५)

छेंकर गढ़ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा।।
गरगज बाँधि कमानें धरीं। चलहि एक मुख दारू भरीं।।
हबशी रूमी औ जो फिरंगी। बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी।।
जिन्ह के गोट जाहि उपराहीं। जेहि ताकहि तेहि चूकहिं नाहीं।।
अस्ट धातु के गोला छूटहिं। गिरि पहार पब्बे सब फूटहिं।।
एक बार सब छूटहिं गोला। गरजै गँगन धरति सब डोला।।

फूटै कोट फूट जस सीसा। ओदरहिं बुरुज परहिं कौसीसा।।
लंका रावट जसि भई डाह परा गढ़ सोइ।
रावन लिखा जो जरै कह किमि अजरावर होइ ।।५२५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

शाह ने चित्तौड़ गढ़ को घेर लिया एवं उसे नष्ट करने के लिये इस प्रकार से ज़ोर लगाया या योजना बनाई—पहली योजना यह कि कुमायूँ के खस एवं नैपाल के मगर जाति के पत्थर तोड़ सैनिकों को गढ़ में सुरंग लगाने का काम दिया गया। दूसरी योजना यह कि क़िले के बाहर गरगज या बुर्ज बनाकर उन पर तोपें रक्खी गईं। उन तोपों में दारू अर्थात बारूद भरी थी और एक साथ एक लक्ष की ओर चलती थीं। निपुण गोलन्दाज़—हब्शी, रूमी एवं फिरंगी उन पर नियुक्त थे; जिनके गोले धुर ऊपर तक पहुँचते थे। जिसको ताकते थे उसके ऊपर उनका निशाना चूकता नहीं था। आठ धातु के पुख्ता गोले छूट रहे थे। उनके लगने से पहाड़ के पहाड़ धराशायी हो जाते थे। एक साथ जब सारे गोले छूटते तो आकाश गरज उठता था और सारी धरती हिलने लगती थी। गढ़ की दीवार ऐसे दरक जाती जैसे शीशा फूटता है। बुर्ज फटते और कँगूरे गिरते थे।

जिस आग से लंका जलकर काली पड़ गई या लाजवर्दी रंग की हो गई थी वही भयंकर आग क़िले में लग गई थी। कविवर जायसी कहते हैं कि जब रावण या राजा के भाग्य में जलना ही बदा था तो वह अजर-अमर कैसे होता? आशय यह है कि जिसका नाश होना ही है, वह कैसे बचे?

शब्दार्थ—जोरा=जोर वाला उपाय। खसिया=कुमायूँ के पत्थर फोड़ जाति के लोग। मगर=नैपाल जाति के लोग। हबशी=अबिसीनिया के लोग। रूमी=तुर्क। फिरंगी=पुर्तगाली। गोट=गोले। ओदरहिं=फटना। क़ोट=गढ़ की दीवार से आशय है। कौसीसा=कंगूरा। रावट=काला, लाजवर्दी रंग का। रावन=रावण या राजा।

(५२६)

राजा केरि लागि रहै ढोई। फूटै जहाँ सँवारहि सोई।
बाँके पर सुठि बाँक करेई। रातहि कोट चित्र कै लेई।।
गाँजै गँगन चढ़ै जस मेघा। बरिसहिं बज्र सिला को थेघा।।
सौ सौ मन के बरिसहिं गोला। बरसहिं तुपक तीर जस ओला।।
जानहुँ परी सरग हुति गाजा। फाटै धरति आइ जहँ बाजा।।
गरगज चूर चूर होइ परहीं। हस्ति घोर मानुस संघरहीं।।
सबहिं कहा अब परलौ आवा। धरती सरग जूझ दुहुँ लावा।।
अहुठों बज्र जुरे सनमुख होइ इक दंगबै लागि।
जगत जरै चारहुँ दिसि को रे बुझावै आगि ।।५२६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि शाह के द्वारा ध्वंस किये गये चित्तौड़गढ़ के राजा

की ओर से उसकी मरम्मत का कार्य हो रहा था। जहाँ से वह गढ़ टूटता था वहीं से उसे ठीक कर दिया जाता था। वह गढ़ तो पहले ही बड़ा दृढ़ था फिर उसे और दृढ़ बनाया जा रहा था। रात-रात में वे गढ़-दीवार को कगूरों आदि से सँवार कर चित्र की तरह बना देते थे। वह गढ़ इस प्रकार गूँज रहा था जैसे कि आकाश पर छाए मेघ गरजते हैं। उस पर वज्र शिलाएँ गिर रही थीं, पर उन्हें कौन रोकता ? सौ-सौ मन भारी गोले बरस रहे थे। तोपें ओलों की तरह गोले बरसा रही थीं। लगता था कि आकाश से गाज गिर रही थी। वह जहाँ गिरतीं, वहीं से धरती दरक जाती थी। गढ़ के सामने के बुर्ज या गरगज चूर-चूर होकर गिर रहे थे; और हाथी, घोड़ों और मनुष्यों को कुचलकर संहार कर रहे थे। सबने कहा, अब प्रलय आने वाली है। धरती और आकाश दोनों में युद्ध छिड़ गया है।

साढ़े तीन बज्र सामने इकट्ठे थे और उनसे जूझने के लिये वह अकेला गढ़पति रत्नसेन है। चारों दिशाओं से जलते हुए संसार वाली आग को किसमें सामर्थ्य है जो बुझाए ?

शब्दार्थ—ढोई=मरम्मत के समान की ढुलाई। सँवारहि=ठीक करना। रातहि=रात रात में। कोट=गढ़ की दीवार। थेघा=रोकना। गाजा=गाज। बाजा=गिरती। गरगज=किले के बाहर का बुर्ज। संघरहीं=संहार, कुचलना। अहुठौं बज्र=साढ़े तीन बज्र। पूरा अर्थ पद संख्या ५०८ के शब्दार्थ में देखें।

(५२७)

तबहूँ राजा हिएँ न हारा। राज पँवरि पर रचा अखारा॥
सौहें साहि जहँ उतरा आछा। ऊपर नाच अखारा काछा॥
जंत्र पखाउज आउझ बाजा। सुरमंडल रबाब भल साजा॥
बीन पिनाक कुमाइच कही। बाजि आँबिरती अति गहगही॥
चंग उपंग नागसुर तूरा। महुवरि बाज बंसि भल पूरा॥
हुरूक बाज डफ बाज गँभीरा। औ तेहि गोहन झाँझ मँजीरा॥
तंत बितंत सुभर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा॥
जस सिंगार मन मोहन पातर नाँचहिं पाँच।
पातसाहि गढ़ छेंका राजा भूला नाँच॥५२७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि युद्ध का ऐसा विषम वातावरण होने के उपरान्त भी राजा हृदय न हारा। उसके आदेशानुसार राजद्वार के ऊपर संगीत और नृत्य आदि के रासरंग का अखाड़ा रचा गया। सामने ही, जहाँ बुर्ज से होकर राजा उतरा हुआ था उसके ऊपर ही अखाड़े की धूमधाम की गई थी। वाद्यों में मृदंग (पखावज) एवं ताशे (आवझ) बज रहे थे। सुरमंडल एवं रवाव अर्थात् शततंत्री वीणा एवं सरोद नामक मधुर साज बज रहे थे। वीणा, पिनाक (शंकर का बाजा) एवं सारंगी (कुमाइच) वाद्य भी वहाँ

मौजूद थे। अमृत कुंडली (अँबिरती) घन्नाते हुए स्वरों में बज रही थी। विशाल खंजड़ी, (चंग), तुरही (उपंग), नागसुर (लम्बी बीन) एवं तुरही या तूर वाद्य ध्वनित हो रहे थे। महुवर (सपेरों की बीन) एवं बंसरी में तन्मय स्वर फूंका जा रहा था। हुड़क बज रहा था एवं डफ की गम्भीर आवाज़ हो रही थी। और इन सबके साथ में झाँझ-मजीरे झंकृत हो रहे थे। तार-बेतार वाले वाद्य और भारी खड़ताल बज रहे थे, और उनकी झंकार का शब्द गूँज रहा था।

जिस अनूप शृङ्गार से मन मोहित होता है वैसा ही शृंगार किये हुए वहाँ पाँच नर्त्तकियाँ नृत्य कर रही थीं। वहाँ शाह अलाउद्दीन ने गढ़ को दबा रक्खा था और यहाँ राजा रत्नसेन नृत्य-रागरंग में खोया हुआ था।

विशेष—प्रस्तुत पद में वाद्यों का नाम परिगणन वर्णन प्राधान है। ध्यान देने वाली बात है कि जायसी का प्रत्येक प्रकार का ज्ञान कितना विस्तृत था। अपने समय की साहित्यिक, राजनैतिक, प्राकृतिक, राजसी, विलासी, संग्रामिक आदि सभी स्थितियों का जायसी को पूर्णतः इतिवृत्त ज्ञान था। यह उनकी सूक्ष्म मेधा का ज्वलन्त उदाहरण है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरलता से ज्ञात हो सकता है।

(५२८)

बीजानगर केर सब गुनी। करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी॥
प्रथम राग भैरौ तेन्ह कीन्हा। दोसरें माल कौस पुनि लीन्हा।
पुनि हिंडोल राग तिन्ह गाए। चौथें मेघ मलार सोहाए॥
पुनि उन्ह सिरी राग भल किया। दीपक कीन्ह उठा बरि दिया॥
छवउ राग गाएनि भल गुनी। औ गाएनि छत्तीस रागिनी॥
ऊपर भंई सो पातर नाँचहिं। तर भै तुरुक कमानै खाँचहिं॥
सरस कंठ भल राग सुनावहिं। सबद देहिं मानहुँ सर लागहिं॥
सुनि सुनि सीस धुनहिं सब कर मलि मलि पछितांहि।
कब हम हाथ चढ़हिं ये पातरि नैनन्ह के दुख जांहि॥५२८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

बीजानगर के समस्त निपुण गायक अपनी चौगुनी प्रतिभा से आलाप ले रहे थे। उन्होंने पहले भैरव राग अलापा, फिर मालकोश राग गाया, फिर हिंडोला राग गाया, फिर मेघ मल्हार मुखरित किया, फिर शोभन रूप में राग श्रीराग गाया, फिर दीपक-राग गाया और उससे दीप जल उठा। निपुण गवैयों ने छहों राग गाए और छत्तीसों रागि-नियाँ भी गाईं। ऊपर वे नृत्यिकाएँ नाँच रही थीं। नीचे के भाग में ठहरे हुए तुर्क सैनिक, कमान ताने हुए थे। वे नर्त्तकी मृदुल कंठ से मीठे-मीठे राग सुना रही थीं। उनके मुखरित स्वर मानो बाण से लगते थे।

यह सब कुछ सुनकर सब लोग सिर धुनते और हाथ मल-मलकर पछताते थे कि कब हमारे हाथ में यह नर्त्तकी चढ़े और नयनों की पीड़ा-प्यास दूर हो!

विशेष—यहाँ राग सम्बन्धी नाम परिगणन वर्णन की ही प्रधानता है। इससे कवि-वर जायसी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

शब्दार्थ—मालकौस=मालकोश राग। भेरौ=भैरव राग। सिरी राग—श्री राग। भल=उत्तम। बरि=जला। पातर=नर्त्तकी। सर=तीर।

(५२९)

पतुरिनि नाँचै दिहें जो पीठी। परिगै सौहँ साहि कै डीठी॥
देखत साहि सिंघासन गूँजा। कब लगि मिरिग चंद रथ भूँजा॥
छाँड़हु बान जाहिं उपराहीं। गरब केर सिर सदा तराहीं॥
बोलत बान लाख भा ऊँचा। कोइ सो कोट कोइ पँवरि पहूँचा॥
मलिक जहाँगिरि कनउज राजा। ओहि कबान पातरि कहँ बाजा॥
बाजा बान जंघ जस नाँचा। जिउ गा सरग परा भुइँ साँचा॥
उदसा नाँच नचनिया मारा। रहसे तुरुक बाजि गए तारा॥
जो गढ़ साजा लाख दस कोटि सँवारहिं कोट।
पातसाहि जब चाहै बचहि न कौनिहु ओट॥५२९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

जो नर्त्तकी पीठ किये नाच रही थी, सहसा वह शाह अलाउद्दीन की दृष्टि के सामने पड़ी। उसे देखते ही वह सिंहासन से गरजा—कब तक चाँद मृग को अपने रथ में जोते हुए उसका आनन्द लूटेगा? हे सिपाहियो! वह तीर चलाओ जो ऊपर पहुँचे। अभिमानी की गर्दन सदा नीची होनी चाहिये; उसका अभिमान नष्ट कर देना चाहिये। आज्ञा होते ही लाखों बाण ऊपर छोड़े गए। उनमें से कोई तो गढ़ कोट तक और कोई गढ़ फाटक तक पहुँचा। मलिक जहाँगीर, जो कन्नौज का राजा था, उसका बाण नर्त्तकी के जाकर घुसा। जैसे ही उसके बाण लगा कि उसकी जंघा एक-बारगी तड़फड़ा कर जैसे घुमारी खा गई। तत्काल उसका प्राण स्वर्ग पहुँच गया और शरीर भूमि पर निर्जीव होकर लुढ़क गया। नर्त्तकी के इस अप्रत्याशित मरण से नाच उखड़ गया। यह देखकर तुर्क खुश हुए और उत्साह से तालियाँ बज उठीं।

कविवर जायसी कहते हैं कि जो गढ़ दस लाख मनुष्यों द्वारा सजाया गया हो और करोड़ों द्वारा जिसका दृढ़ परकोटा निर्मित किया हो उसे भी बादशाह जब चाहे नष्ट कर सकता है—किसी की भी रक्षा से वह बच नहीं सकता!

शब्दार्थ—पुतुरिनि=नर्त्तकी। सौहँ=सामने। डीठी=दृष्टि। भूँजा=आनंद लूटना। उपराहीं=ऊपर। तराहीं=नीचे। कोट=किला। पँवरि=फाटक। कनउज =कन्नौज। बाजा=जाकर लगा। जंघ=जंघा। कोटि=करोड़। ओट=रक्षा।

(५३०)

राजें पँवरि अकास चलाई। परा बाँध चहुँ फेर अलाई॥
सेतबंध जस राघौ बाँधा। परा फेरु भुइँ भारु न काँधा॥

हनिवँत होइ सब लाग गुहारा। आवहि चहुँ दिसि केर पहारा।।
सेत फटिक सब लागै गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा।।
खँड ऊपर खँड होंहि पटाऊ। चित्र अनेग अनेग कटाऊ।।
सीढ़ी होति जांहि बहु भाँती। जहाँ चढ़हिं हस्तिन्ह कै पाँती।।
भा गरगज अस कहत न आवा। जनहुँ उठाइ गगन कहँ लाग्रा।।
राहु लाग जस चाँदहि गढ़हि लाग तस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा रहा जाइ गढ़ काँध।।५३०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन ने सुरक्षार्थ गढ़ की पौरी को जैसे आकाश तक ऊँची बनाई हुई थी। अतः अलाउद्दीन ने उसके चारों ओर बाँध बाँधने का बन्दोबस्त किया। जिस प्रकार श्रीराम ने सेतुबन्ध बाँधा था उसी प्रकार उस बाढ़ के बाँध के लिये त्वरित, बिना पृथ्वी पर कोई सामान रक्खे हुए, हाथों-हाथ उस बाँध को बाँधने वालों ने काम करना आरम्भ किया। यह देखकर राजा की सेना में हनुमान की भाँति ज़ोर की चिघाड़ होने लगी। चारों ओर से पहाड़ तोड़कर लाए जाने लगे। श्वेत पत्थरों को कारीगर गढ़ने लगे। गढ़ के चारों ओर बाँध बाँधा गया और स्थापित किया जाने लगा। खंड ऊपर खंड पर वह पटने लगा। उसमें अनेक चित्र और कटाव-कढ़ाव का शिल्प रचा गया। उसमें बहुत प्रकार की सीढ़ियाँ भी बनती जाती थीं, जिन पर होकर हाथियों की कतारें चढ़ सकती थीं। उस बाँध से जैसा गरगज अथवा बुर्ज बन गया उसके विषय में कहा नहीं जा सकता। मानो उस गर-गज को उठाते-उठाते आकाश तक ऊँचा बनाया गया था।

जिस भाँति चाँद को राहु घेरता है इसी प्रकार चित्तौड़गढ़ को उस विशाल बाँध ने घेर लिया। सारे सैन्यदल को निगलता हुआ वह बाँध गढ़ के परकोटे तक पहुँच गया।

शब्दार्थ—पँवरि=पौर। अलाई=अलाउद्दीन। राघौ=श्रीराम। गुहारा=चिंघारना। मढ़ा=घेरा। अनेग=अनेक। पाँती=कतार। गरगज=बुर्ज। दर=सैन्य दल। लीलि=निगलना। भा=हुआ। गढ़काँध=परकोटे का ऊँचा सिरा। सेत-फटिक=श्वेत पत्थर।

(५३१)

राजसभा सब मतैं बईठी। देखि न जाइ मंदि भै डीठी।।
उठा बाँध तस सब गढ़ बाँधा। कीजै बेगि भार जस काँधा।।
उपजै आगि आँगि जौं बोई। अब मत किएँ आन नहिं होई।।
भा तेवहार जो चाँचरि जोरी। खेलि फागु अब लाइअ होरी।।
समदहु फागु मेलि सिर धूरी। कीन्ह जो सका चाहिअ पूरी।।
चंदन अगर मलैगिरि काढ़ा। घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा।।
जौहर कहँ साजा रनिवाँसू। जेहि सत हिएँ कहाँ तेहि आँसू।।

पुरुखन्ह खरग सँभारे चंदन घेवरे देह।
मेहरिन्ह सेंदुर मेला चहहिं भई जरि खेह ॥५३१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन की समस्त राजसभा उस विषम संकट पर विचारार्थ, मंत्रणा के लिए बैठी। मंत्रणा हुई कि कुछ नहीं सूझता, दृष्टि मन्द हो गई है ! अलाउद्दीन ने बाँध इस प्रकार उठाया है कि सारा गढ़ उसके घेरे में आ गया है। जिस कर्त्तव्य को करने का भार हमने कंधों पर लिया है, उसे अब हमें शीघ्रता से कर देना चाहिये। जब आग बोई है तो आग ही पैदा होगी। अब मंत्रणा किये से कुछ और नहीं हो सकता। अब केवल जान पर खेल जाना ही उचित है। अब वह चाँचर जोड़ी अभिसार-आलिंगन सम्बन्धी नृत्य-रास-रंग का उपलक्ष बीत चुका। अब होली जलाकर फाग खेलो;—मरो-मारो ! यदि आन-मर्यादा का 'साका' अथवा गुरु कर्त्तव्य पूरा करना चाहते हो तो सिर में धूल डालकर फाग मिलो। आशय यह है कि चिता की राख उड़ने दो ! इस मंत्रणा के पश्चात्, मलैगिरि चंदन-अगर की घर-घर में खड़े होकर चिता सजाई गई। सारा रनिवास अर्थात् रानियों का समूह चिता में जलकर जौहर करने के लिये तत्पर हुआ। पर जिसके मन में सत्य का बल है उसकी आँखों में भला पश्चाताप या दुख के अश्रु कहाँ ?

वीर पुरुषों ने खड्ग सँभाले और शरीर पर चँदन-लेप किया। राजपूतानियों ने माँग में सिंदूर भरा और चिता में जलकर भस्म हो जाने की इच्छुक हुई।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३२)

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा। धनि सुलतान कि राजा महा॥
आइ साहि अँबराँउ जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए॥
हठि चूरौ तौ जौहर होई। पदुमिनि पाव हिएँ मति सोई॥
एहि बिधि ढीली दीन्ह तब ताँई। ढीलो की अरदासैं आईं॥
पछिउँ हरेव दीन्ह जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंहँ कै डीठी॥
जिन्ह भुइँ माँथ गँगन तिन्ह लागा। थाने उठे आउ सब भागा॥
उहाँ साह चितउर गढ़ छावा। इहाँ देस सब होइ परावा॥
जेहि जेहि पंथ न तिनु परत बाढ़ै बैरि बबूर।
निसि अँधियार बिहाइ तब बेगि उठै जब सूर ॥५३२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी लिखते हैं कि यों आठ वर्ष तक निरन्तर अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ गढ़ घिरा रहा। किसे धन्य कहा जाय,—राजा को या शाह को ? शाह ने जो बाग लगाए वे फलकर झड़ भी गए किन्तु वह दृढ़ दुर्ग उससे न लिया जा सका। रह-रहकर उसके मन में यही बात विचरती—काश, पद्मिनी पाऊँ···पद्मिनी पाऊँ ! इसके लिये वह सोचता कि यदि बलात् गढ़ का ध्वंस करूँगा तो वहाँ जौहर हो जायगा, फिर पद्मिनी न मिलेगी।

अतः उसने तब तक गढ़ के ध्वंस में देरी की थी। दिल्ली से उसके पास विनतीमय सूचनाएँ आई कि पश्चिम के विजित शासक ने शाह की अनुपस्थिति में दिल्ली की ओर नजरें गढ़ाकर आक्रमण कर दिया है। जिनका मस्तक शाह की धौंस से धरती पर झुका रहता था, वह अब अभिमान से आकाश में जा लगा है। शाही सैनिक टुकड़ियों के मोर्चे या थाने उठ गए हैं, और सैनिक भागे चले आ रहे हैं। उधर शाह चित्तौड़ के किले को घेरे हुए बैठा है, इधर उसके न होने से सारा देश पराया हुआ जा रहा है।

जिस-जिस मार्ग पर तृण नहीं होता था, वहाँ बेरी एवं बबूल बढ़ गए हैं। आशय है कि शाह की अनुपस्थिति में बैरी सर्वत्र सिर उठाने लगे हैं। ('बेरी' शब्द में श्लेष है।) रात्रि का अन्धकार तभी दूर होगा जब शीघ्र ही सूर्य या शाह का शासन में आगमन होगा। आशय है कि दिल्ली में शाह की उपस्थिति अनिवार्य थी।

शब्दार्थ—अरदासैं = विनती।

●

४४--राजा-बादशाह मेल-खण्ड

(५३३)

सुना साहि अरदासि जो पढ़ी। चिंता आनि आन कछु चढ़ी॥
तब अगुमन मन चिंतै कोई। जो आपन चिंता कछु होई॥
मन झूठा जिउ हाथ पराएँ। चिंता एक भए दुइ ठाँए॥
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटा। होइ मेराउ कि सो गढ़ टूटा॥
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। बधौं रतन पान दै बीरा॥
सरजा सेंति कहा यह भेऊ। पलटि जाहि अब मानै सेऊ॥
कहु तोसौं न पदुमिनी लेऊँ। चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ॥
आपन देस खाहि भा निस्चल औरु चँदेरी लेहि।
समदन समुँद जो कीन्ह तोहि ते पाँचौं नग देहि॥५३३॥

भावार्थ—पूर्व शासन सम्बन्धी सूचना के पद प्रसंग में—

दिल्ली की भेजी हुई अरदास या पत्री पढ़ी गई और उसे शाह अलाउद्दीन ने ध्यानपूर्वक सुना। अब तक तो उसे गढ़ एवं पद्मावती को जीतने की विकट चिंता चढ़ी थी, और अब दिल्ली की शासन-व्यवस्था की दूसरी चिंता चढ़ गई। कविवर जायसी कहते हैं, कोई तब भविष्य की बात मन में सोचे जो अपना सोचा हुआ कुछ होवे भी। आशय है कि मनुष्य के सोच-विचार से कुछ नहीं होता। जो अल्लाह या ईश्वर चाहता है वही होकर रहता है। वह मन झूठा है कि जो पराए हाथ में जीता हो। वह इसलिये झूठा है कि दो

स्थानों की एक सिद्धि वाली बात सोचता है। आशय है कि मन को एक ओर ही केन्द्रित होकर कुछ सोचना-करना चाहिये तभी सफलता मिल सकती है (कहा भी है, "**एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाइ**"।) अलाउद्दीन ने सोचा कि इस गढ़ से तभी छुटकारा पाया जा सकता है, जब या तो रत्नसेन से सन्धि हो अथवा गढ़ ध्वंस हो। पत्थर का शत्रु, उसे काटने के लिये पत्थर अर्थात हीरे का कण ही हुआ करता है। इसी प्रकार मैं इस रत्नसेन को पान का बीड़ा अर्थात झूठा आदर देकर परास्त करूँगा। सरजा से शाह ने यह रहस्य बतलाया—जिस तरकीब से राजा रत्नसेन का युद्ध-विचार पलट जाय और वह सेवा स्वीकार कर ले, उससे जाकर कहो। शाह ने सरजा से कहा कि वह रत्नसेन से जाकर कहे कि मैं पद्मिनी को तुझसे न लूँगा और तेरे ध्वस्त किये हुए, विजित गढ़ को भी तेरे लिये बख्श दूँगा।

सुलतान ने कहा कि हे सरजा, रत्नसेन से कहना—अपने चित्तौड़ गढ़ का निश्चित शासन भोग करो; एवं साथ में चन्देरी भी ले लो। किन्तु समुद्र ने जो पाँच रत्न तुम्हें दिये हैं, वह मुझे दे दो।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३४)

सरजा पलटि सिंघ चढ़ि गाजा। अग्याँ जाइ कही जहँ राजा।।
अबहूँ हिएँ समझु रे राजा। पातसाहि सौं जूझ न छाजा।।
जाकरि धरी पिरिथिमी सेई। चहै न मारै औ जिउ देई।।
पींजर महँ तूँ कीन्ह परेवा। गढ़पति सो बाँचै कै सेवा।।
जब लगि जीभि अहै मुख तोरें। पँवरि उघेलु बिनौ कर जोरें।।
पुनि जौं जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै को बोलै देई।।
आगे जस हमीर मत मंता। जौं तस करसि तोर भवंता।।
देखु काल्हि गढ़ टूटहि राज ओही कर होइ।
करु सेवा सिर नाइ कै घर न घालु बुधि खोइ।।५३४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सरजा शाह के यहाँ से जाकर अपने सिंह पर चढ़ा और गरजा। जहाँ राजा रत्नसेन था वहाँ शाह का फरमान जाकर कहा। वह कहने लगा—हे राजा! अब भी मन में सोच समझ ले। बादशाह से तेरा युद्ध करना अच्छा नहीं। जिसकी दी हुइ पृथ्वी पर तू राज्य करता है वह चाहे मारे या छोड़े। तुझे शाह ने पिंजरे का कैदी-पक्षी बना रक्खा है। उससे वही गढ़पति बचा रहता है जो उसकी सेवा करता है। जब तक तेरी जीभ तेरे मुख में है अर्थात् जब तक तू जीवित है, तब तक के लिये हाथ जोड़, विनती करके गढ़ का द्वार खोल दे। ऐसा न करने पर जब शाह ने तेरी जीभ पकड़कर खींच ली, प्राण ले लिया, तो फिर किसका खोलना और किसका बोलना—कौन बोलने देगा? इससे आगे तेरी मर्ज़ी, जैसी हमीर ने अपनी हठ की थी, यदि वैसी तू भी करनी चाहे तो तू जाने।

सरजा ने कहा कि हे राजा, कल तेरा चित्तौड़ गढ़ ध्वस्त हो जायगा और यहाँ शाह का राज्य स्थापित हो जायगा। अतः सिर झुका कर उसकी सेवा कर और घर का सर्वनाश न कर, पागल न बन !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३५)

सरजा जस हमीर मन थाका। और निबाहेसि आपन साका।।
ओहि अस हौं सक बंधी नाहीं। हौं सो भोज बिक्रम उपराहीं।।
बरसि साठि लहि अन्न न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा।।
तेहि ऊपर जौं पै गढ़ टूटा। सत सक बंधी केर न छूटा।।
सोरह लाख कुँवरि हहिं मोरे। परहिं पतिंग जस दीप अँजोरे।।
तेहि दिन चांचरि चाहौं जोरी। समदौं फागु लाइ कै होरी।।
जो दै गिरिहिनि राखत जीऊ। सो कस आहि निपुंसक पीऊ।।
अब हौं जौंहर साजि कै कीन्ह चहौं उजियार।
फागु गएँ होरी बुझै कोउ समेंटहु छार।।५३५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सरजा के गर्वीले-बोलों का उत्तर देते हुए रत्नसेन ने कहा—हे सरजा, जैसा हमीर का दृढ़ मन था, उसी के अनुसार उसने अपने वीर-व्रत का निर्वाह किया था। किन्तु मैं उस जैसा केवल सकबन्धी ही नहीं, वरन् मैं तो भोज और विक्रम से भी अधिक हूँ, सम्पन्न हूँ। मेरे यहाँ युद्ध के दौरान में साठ साल तक भी अन्न का टोटा न होगा। मेरे यहाँ तो बिना माँगे पानी पहाड़ से बहता रहता है। तिस पर भी यदि मेरा गढ़ टूट गया तो मुझ सकबन्धी का विश्वास रक्खो कि मेरा सत् खण्डित न होगा। मैं आन पर जान दे दूँगा। मेरे यहाँ सोलह लाख क्षत्रीय योद्धा हैं। वह युद्ध में इस प्रकार जूझ मरेंगे जैसे दीपक पर पतिंगा जूझता है। उस दिन ही मैं सच्ची चाँचर जोड़ना चाहूँगा। उस दिन मैं होली जलाकर फाग खेलूंगा—जौहर मचेगा। वह कैसा कायर और नपुंसक पति है, जो अपनी स्त्री देकर अपना जीवन बचाना चाहता है।

अब मैं जौहर सजाकर सत्य का प्रकाश करना चाहता हूँ। जब फाग बीत जाएगा, होली बुझ चूकेगी; तब कोई भी उसकी राख बटोर ले।

विशेष—अन्तिम पंक्ति में जौहर की व्यंजना बड़ी मार्मिक है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३६)

अनु राजा सो जरै निआना। पातसाहि कै सेव न माना।।
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजौना। अंत भए लंका के रूना।।
जेहि दिन ओइँ छेंकी गढ़ घाटी। भएउ अन्न तेहि दिन सब माँटी।।
तूँ जानहि जल चुवै पहारू। सो रोव मन सँवरि संघारू।।

सोतहि सोत अंस गढ़ रोवा। कस होइहि जौं होइहि ढोवा।।
सँवरि पहार सो ढारै आँसू। पं तोहि सूझ न आपन नासू।।
आजु कालिह चाहै गढ़ टूटा। अबहु मानु जौं चाहसि छूटा।।
इहि जो पाँच नग तो सिउँ लै पाँचौं करु भेंट।
मकु सो एक गुन मानै सब औगुन धरि मेंट।।५३६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सरजा बोला—हे राजा, पक्ष में हो। साफ़ बात है कि जो बादशाह की सेवा से विमुख होना चाहेगा, वह जलेगा। तुम्हारी तरह बहुतों ने ऐसा गढ़ सजाया था किंतु अन्त में उनकी दशा लंका के रावण की भाँति दयनीय हुई। जिस दिन शाह ने तुम्हारे गढ़ की घाटी घेर ली, समझ लो, उसी दिन तुम्हारा सारा एकत्रित अन्न मिट्टी हो जायगा। जैसा तूने कहा, और तू जानता है कि तेरे यहाँ पहाड़ चूता है वस्तुत: वह तेरे विनाश की याद में रुदन के आँसू बहाता है। पहले ही जब पहाड़ फूट-फूट कर रो रहा है तो जब शाह का आक्रमण होगा तब क्या होगा ? जड़ पहाड़ भी तो तेरे उस विध्वंस का स्मरण करके आँसू बहा रहा है। पर तू भी कैसा है कि तुझे अपना आता हुआ विनाश दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है ? आज-कल में तेरा गढ़ ध्वंस हुआ चाहता है। यदि विनाश से बचना चाहता है तो अब भी कहा मान जा।

तेरे पास जो वे पाँच रत्न हैं, उन्हें ले जाकर बादशाह अलाउद्दीन को नज़र कर दे। सम्भव है तेरे इस एक सुकृत से वह तेरे सारे अवगुणों को भूल जाय; तुझ पर कृपा दृष्टि बना ले !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३७)

अनु सरजा को मेंटै पारा। पातसाहि बड़ आहि हमारा।।
औगुन मेंटि सकै पुनि सोई। औरु जो कीन्ह चहै सो होई।।
नग पाँचौं औ देउं भँडारा। इसकंदर सौं बाँचै दारा।।
जौं यह बचन तौ माँथें मोरें। सेवा करौं ठाढ़ कर जोरें।।
पै बिनु सपत न अस मन माना। सपत क बोल बचा परवाना।।
नाइत माँझ भँवर हति गीवाँ। सरजैं कहा मंद यहु जीवाँ।।
खंभ जो गरुव लेंहि जग भारू। ताकर बोल न टरै पहारू।।
सरजैं सपत कीन्ह छर बैनन्हि मीठै मीठ।
राजा कर मन माना मानी तुरित बसीठ।।५७३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा ने कहा—हे सरजा, अनुकूल हो। बादशाह हमारा अधिकारी है, इस तथ्य को कौन मिटा सकता है ? वही अवगुणों को भुलाकर फिर माँफी भी दे सकता है। वह जो भी और कुछ करना चाहे, कर सकता है। मैं उसे पाँचों नग एवं राज-कोप भी दे सकता

हूँ; यदि इससे दारा सिकंदर के हाथों से मुक्त हो सकता है। (यहाँ 'दारा' शब्द श्लेष है जिसका अर्थ "स्त्री" भी है। आशय यह हो सकता है कि यदि नगों को लेकर अलाउद्दीन सन्तुष्ट हो सकता है और मेरी स्त्री को छोड़ दे तो मुझे खुशी है, मैं तदर्थ तत्पर हूँ।) राजा ने आगे कहा—यदि शाह के यह वचन हैं तो मुझे स्वीकार हैं, सिर माँथे है। मैं उसकी सेवा में सामने हाथ जोड़कर खड़े करने को तैयार हूँ। किन्तु बिना शपथ खिलाए मेरा मन नहीं मानता। शपथ खाई हुई बात प्रमाणित होती है। यह सुनकर सरजा ने सशपथ यह उक्ति कही—"सामुद्रिक व्यापारी की बीच मझधार में गरदन मारना या उसे डुबाना, यह कमीनों का कृत्य है।" सरजा ने आगे कहा—जो खम्भ से अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ होते हैं, वे संसार का बोझ उठा लेते हैं। उनका दिया गया वचन पर्वत की तरह अटल होता है!

कविवर जायसी कहते हैं कि इस प्रकार सरजा ने राजा रत्नसेन से कपट के साथ शपथ ग्रहण की। राजा के मन ने उसका विश्वास कर लिया और तुरन्त दूत पठाया गया।

शब्दार्थ—मेटे पारा=मिटा सकता है। बड़=अधिकारी, बड़ा। भँडारा=राज-कोष। ठाढ़=खड़े हुए। कर=हाथ। जोरें=जोड़े हुए। सपत=शपथ, कसम। परवाना =प्रमाण। बसीठ=दूत।

(५३८)

हंस कनक पिंजर हुति आना। औ अंब्रित नग परस पखाना ॥
औ सोनहा सोने की डांड़ी। सारदूर रूपे की कांड़ी ॥
बसिठि दीन्ह सरजा लै आए। पातसाहि पहँ आनि मिलाए ॥
ऐ जग सूर पुहुमि उजियारे। बिनती करहिं काग मसि कारे ॥
बड़ परताप तोर जग तपा। नवौ खंड तोहि कोइ न छपा ॥
कोह छोह दूनौ तोहि पाहाँ। मारसि धूप जियावसि छाहाँ ॥
जौं मन सुरुज चाँद सौं रूसा। गहन गरासा परा मँजूसा ॥
भोर होइ जौं लागै उठहिं रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैनि कै कागा कांप अभाग ॥३३८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

स्वर्ण-पिंजर में जो हंस था, वह लाया गया; और अमृत, नग पारस पत्थर, सोने की छड़ी पर बैठा सोनहा पक्षी एवं चाँदी के कटघरे का शार्दूल, यह सब उपहार या बसीठी में भेंट करने के लिये सरजा के सामने लाए गए। सरजा ने वह सब कुछ बादशाह को लाकर दिया। सरजा ने शाह की प्रशस्ति बखानी—हे विश्व सूर्य, पृथ्वी के प्रकाशदाता, तुम्हारे यश का बखान स्याही से काले कौवे, अर्थात् लज्जित-पराजित राजा कर रहे हैं। तुम्हारा यश पराक्रम महान है, जो संसार भर में देदीप्यमान है। पृथ्वी मण्डल के नौ-खंडों में जो कुछ हो रहा है, वह तुमसे छिपा नहीं है। क्रोध और दया—ये दोनों तुम में हैं। तुम धूप में मारते हो तो छाया में जिलाते हो। आशय है कि संसार पर तुम्हारे क्रोध एवं संवेदन का भाव बराबर है। यदि सूर्य का मन चाँद से क्रोधित हो जाता है तो उससे चाँद को ग्रहण

लग जाता है और वह 'मंजूषा' अर्थात् क़ैद में पड़ जाता है। (यहाँ रत्नसेन के क़ैदी हो जाने की भविष्य वाणी है।)

हे शाहंशाह! ज्योंही तुम्हारे पराक्रम के प्रकाश से प्रातःकाल होता है कि कौवे अर्थात् राव-राजे काँव-काँव करने लगते हैं। (व्यंग है कि वह व्यर्थ ही जलने लगते हैं।) तुम्हारे द्वारा रात की सारी स्याही छूट गई किन्तु कौवे का कैसा दुर्भाग्य है कि वह दुखी होता है। आशय यह है कि शाह का शासन तो श्रेष्ठ है पर इन हिन्दू राजाओं को वह क्योंकर रुचिकर नहीं?

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५३९)

कै बिनती अग्याँ असि पाई। कागहु सैं आपुहि मसि लाई॥
पहिलें धनुक नवै जब लागे। काग न नए देखि सर भागे॥
अबहुँ तेंहि सर सौंहँ न होहीं। देखहि धनुक चलहि फिरि ओहीं॥
तिन्ह कागन्ह कै कौनु बसीठी। जो मुख फेरि चलहि दै पीठी॥
जौं ओहि सर सौं होत संग्रामा। कत बग सेत होत ओइ स्यामा॥
करहि न आपन उज्जर केसा। फिरि फिरि कहहि पराव सँदेसा॥
काग नाग एइ दूनौ बाँके। अपने चलत स्याम भे आँके॥
अब कैसेहुँ मसि जाइ न मेंटी भे जो स्याम ओइ अंक।
सहस बार जौं धोवहु तबहुँ गयंदहि पंक॥५३९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

सरजा की बिनती करने के उपरान्त शाह की आज्ञा हुई—कागों ने स्वयं अपने आप ही अपने स्याही पोती है। (यहाँ व्याज द्वार शाह ने राजों को कौव्वा कहा है।) जब पहले ही हमने धनुष चढ़ाया तो कव्वे उसे देखकर न झुके और तीरों को देखकर युद्ध के लिये भागे। किन्तु अब तक भी उन बाणों के आगे नहीं होते। धनुष को देखते हैं और पीठ दिखाकर भागते हैं। उन कव्वों के दूत भला कैसे, जो युद्ध से मुख फेरकर और पीठ दिखा कर चलते हैं? पर जो राजे शाही तीरों के समक्ष संग्राम में हुए वे बगले जैसे श्वेत होगए; उन्होंने शाही शौर्य के श्वेत रंगी तीरों से परास्त होकर अधीनता स्वीकार करली। किन्तु वे राजे, जो युद्ध से भागते रहे, इस प्रकार श्वेत-वर्ण के कैसे होते?—वे काले कव्वे ही बने रह गए। वे स्वयं अपने केश (पंख) उज्ज्वल नहीं करते। फिर-फिरकर मुझ सूर्य के सामने से भागने का ही संदेश कहते हैं। कव्वे और सर्प, ये दोनों ही चरित्र के नीच और टेढ़े होते हैं। अपने दूषित चरित्र के कारण ही वे काले—कलंकित हैं!

जो अपने कुटिल चरित्र की स्याही से काले हो चुके हैं, उनकी स्याही मिटाई नहीं जा सकती। हाथी को हज़ार बार भी पानी में धोया जाय, तब भी वह कीचड़ से परिलिप्त ही रहता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५४०)

अब सेवाँ जौं आह जोहारैं। अबहूँ देखौं सेत कि कारैं ॥
कहहु जाइ जौं साँच न डरना। जहवाँ सरन नाहिं तहँ मरना ॥
काल्हि आव गढ़ ऊपर भानू। जौं रे धनुक सौंहँ हिय बानू ॥
बसिठन्ह पान मया के पाए। लीन्ह पान राजा पहँ आए ॥
जस हम भेंट कीन्ह गा कोहू। सेवा मँह पिरीत औ छोहू ॥
काल्हि साहि गढ़ देखै आवा। सेवा करहु जैस मन भावा ॥
गुन सों चलै सो बोहित ओझा। जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा ॥
भा आयुस राजा कर बेगहि करहु रसोइ।
तस सुसार रस मेवरहु जेंहि रे प्रीति रस होइ ॥५४०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

शाह कह रहा है—अब जब राजा रत्नसेन मेरी सेवा में पहुँचकर बन्दगी करेगा तब मैं देखूँगा कि वह सफेद हुआ या अभी काला ही है। आशय है कि उसने शाह का आंतक माना है या नहीं। उससे कहना कि यदि वह सच्चा है तो उसे मेरा भय नहीं होना चाहिये। जहाँ कोई किसी का शरणागत हो जाता, वह मरता नहीं है। आशय है कि यदि राजा ने शाह की सच्चाई से शरण ले ली है तो उसे मरण का भय नहीं होना चाहिये। कल गढ़ के ऊपर सूर्य अर्थात् शाह आएँगे। यदि वह राजा धनुष की तरह टेढ़ा ही तना रहा तो अपनी छाती पर मेरा तीर बिंधा हुआ समझे। इसके पश्चात् दूतों को शाह की ओर से कृपासूचक बीड़े या पान मिले। पान चबाकर वे दूत राजा रत्नसेन के पास पहुँचे—और कहा, हे राजा, जैसे ही हम शाह से मिले, वह प्रसन्न हुआ। सेवा में प्रेम और संवेदन रहता है। आशय है कि शाह का व्यवहार बड़ा अनुकूल था। दूतों ने बताया कि कल शाह चित्तौड़ गढ़ को देखने के लिये आएगा। जैसी हो सके मन से उसकी सेवा करो। गुन, अर्थात् जहाज़ खींचने वाली रस्सी द्वारा ही जहाज़ में बोझ खींचकर लादा जाता है। आशय है कि कृतज्ञता का व्यवहार ही बड़े, जहाज तुल्य व्यक्ति का मन खींच लेता है। (यहाँ 'गुन' शब्द श्लेष है, आशय है "जहाज खींचने की रस्सी" एवं "विनीत आचरण") दूतों ने आगे कहा—हे राजा, किंतु जहाँ, जिसका धनुष का जैसा बाँकपना है, उद्दण्ड व्यवहार है—उसके लिये तो बिंधने के लिये सीधा तीर होता है। आशय है कि यदि शाह के साथ राजा का व्यवहार विनीत न हुआ तो बुरी बीतेगी।

यह सुनकर राजा की आज्ञा हुई कि शीघ्रता से रसोई तैयार की जाय। खाद्य-सामग्री में ऐसा रस मिलाओ कि जिससे प्रेम का रस पैदा हो।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार स्पष्ट है।

४५--बादशाह भोज खण्ड

(५४१)

छागर मेंढा बड़ औ छोटे। धरि धरि आने जहँ लगि मोंटे ।।
हरिन रोझ लगुना बन बसे। चीतर गौन झाँख औ ससे ।।
तीतर बटई लवा न बाँचे। सारस कूँज पुछारि जो नाँचे ।।
धरे परेवा पंडुक हेरी। खेहा गुडरू उसरबगेरी ।।
हारिल चरज आइ बँदि परे। बनकुकुटी जलकुकुटी धरे ।।
चकवा चकई केंव पिदारे। नकटा लेदी सोन सिलारे ।।
मोंट बड़े सब टोइ टोइ धरे। उबरे दुबरे खुरुक न चरे ।।
कंठ परी जब छूरी रकत ढरा होइ आँसु।
कै आपन तन पोखा भा सो परावा माँसु ।।५४१।।

भावार्थ—इससे पूर्व रत्नसेन पद्मावती के विवाह के अवसर पर जेवनार का प्रसंग आ चुका है। किन्तु यह प्रसंग उससे बढ़कर है। इस प्रसंग में कविवर जायसी तत्कालीन राजसी समूचे पाकशास्त्र का सामिष एवं निरामिष सम्बन्धी मानो संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

छोटे-बड़े बकरे और मेंढ़े, जहाँ तक मोटे-मोटे मिल सके, पकड़-पकड़कर पकाने के लिये लाए गये। हिरन, नीलगाय। (रोझ) खरलगुना हिरन, चीतल, बारहसिंगा, (गौन) साँभर, (झाँख) और खरगोश (ससे) आदि जितने भी बनवासी जीव थे वे शिकार के लिये लाए गए। तीतर, बटेर, लवा, सारस, क्रौंच (कूँज) और नृत्य करने वाले मोर (पछारि) भी न बचे, वे भी लाए गए। जंगली कबूतर, पण्डुक, घुघूता (खेहा), गुडरू, छोटी जाति की चिडियाँ (उसरबगेरी) आदि पक्षी खोज-खोजकर पकड़ लाए गए। हारिल, सोनचिड़ैया (चरज) भी आकर शिकार के लिये बन्दी हुए। बनमुर्गी एवं जलमुर्गी भी रक्खी गईं। चकवा, चकवी, जलबोदरी (केंवा), पिद्दे (पिदारे), लाल चोंच वाली बत्तखें (नकटा), छोटी बत्तखें (लेदी), कलहंस (सोन), सिलरी बत्तखें (सिलारे)—ये सब जीव मोटे-मोटे और बड़े-बड़े खोज-खोजकर लाए गए। दुबले-पतले जीव बेखटके, निश्चित चर रहे थे।

कविवर जायसी कहते हैं कि उन जीवों की गर्दन पर जब छुरी चलाई गई तो उनकी आँखों से खून आँसू बनकर ढुलकने लगा। हाय, तन को अपना समझकर पाला-पोसा गया था, किन्तु अब वह दूसरों के भक्षण का माँस बन गया था। कितना तुच्छ है यह तन भी !

विशेष—इस प्रसंग में पूर्णतः काव्यात्मक सौन्दर्य न होते हुए भी कविवर जायसी की तीक्ष्ण मेधा एवं वर्णन शक्ति का परिचय मिलता है। इतने पक्षियों का विशेष आकार-प्रकार का ज्ञान कितना गूढ़ है। और फिर उसका काव्य में वर्णन करना उससे भी गूढ़तर है। पर जायसी ने यहाँ उसे सहजता से व्यक्त कर छोड़ा है।

पद की अंतिम पंक्तियों में इस शरीर की तुच्छता की कितनी दार्शनिक अभिव्यंजना है। इस शरीर का सृजन और सिंचन, संहार की धार पर कितनी आसानी से चढ़ जाता है—यह तथ्य यहाँ बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया गया है। इसके साथ ही यहाँ जायसी की अहिंसावादी चिन्ताधारा भी सूक्ष्मता से व्यंजित है। यह सब कुछ एक सच्चे महाकवि के वर्णन का ही चमत्कार होता है।

शब्दार्थ—भावार्थ के साथ स्पष्ट किया गया है, उसे देखें।

(५४२)

धरे मंछ पढ़िना औ रोहू। धीमर मारत करै न छोहू।।
संध सुगंध धरे जल बाढ़े। टेंगनि मोइ टोइ सब काढ़े।।
सिगी मँगुरी बीनि सब धरे। नरिया भोथ बाँब बंगरे।।
मारे चरक चाल्ह परहाँसी। जल तजि कहाँ जाइ जल बासी।।
मन होइ मीन चरा मुख चारा। परा जाल दुख को निरुवारा।।
माँटी खाइ मंछ नहिं बाँचे। बाँचहि का जो भोग सुख राँचे।।
मारै कहँ सब अस कै पाले। को उबरा एहि सरबर घाले।।
एहि दुख कंठ सारि कै अगुमन रकत न राखा देइ।
पंथ भुलाइ आइ जल बाझे झूठे जगत सनेह।।५४२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पढ़िन एवं रोहू मछलियाँ पकड़कर लाई गईं। उन्हें मारते हुए मछेरों को कोई सम्मोह न हुआ। जल में भरी हुई सेंधा और सिलंध नामक मछलियाँ पकड़कर लाई गईं। टेंगनी और मोय इन छोटी मछलियों को हाथों से पकड़कर लाया गया। चुन-चुनकर सिंगी, मोंगरी, नरिया, भोथ, बाँब और बाँगुर मछलियों को पकड़ लिया गया। चरखी, चेल्हवा और पर्यासी मछलियाँ मार डाली गई। बिचारा जल-जीव भला जल को छोड़कर फिर कहाँ जाए? मन भी तो मछलियों की भाँति मुख से चारा चरता है। उनकी तरह मन भी लालच के जाल में फँसा हुआ है। (यहाँ रत्नसेन की ओर संकेत है कि वह भी अलाउद्दीन की मित्रता के लालच में फँसा) उसकी आपत्ति कौन दूर करेगा? कविवर जायसी कहते हैं कि जब मिट्टी को खाने वाली मछलियाँ भी नहीं बच पाई तो वे जो भोगों के सुख में मस्त हैं, भला क्या बचेंगे? संहार के लिये ही सबका इस प्रकार भरण-पोषण होता है। कौन इस संसार रूपी सरोवर में पड़कर बच सका है?

किन्तु जो विचारक हैं, वह इस दुख से छूटने के लिये पहले से ही अपना कंठ तैयार रखते हैं; और शरीर का सारा रक्त योग-साधनों-संयमों द्वारा सुखा देते हैं। किन्तु जो

लोलुप होते हैं, वे सद्मार्ग को भूलकर संसार के मिथ्या-मोह में फँसकर इस जल में डूब जाते हैं। आशय है कि पुण्यात्मा इस संसार के लोभ-जाल से तर जाते हैं और पापात्मा डूब जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में मछलियों की १५ जातियों का वर्णन यद्यपि प्रधान है किंतु अंततः सांसारिक भोग से निवृत्ति पाने की सूक्ष्म अभिव्यंजना भी की गई है। इससे हमें कवि के सात्विक प्राणों की ध्वनि श्रवणगोचर होती है। शंकर का "संसार मिथ्या है"— यह विचार इस उक्ति में व्यक्त है—

"झूठे जगत सनेह।"

शब्दार्थ—भावार्थ से स्पष्ट है।

(५४३)

देखत गोहूँ कर हिय फाटा। आने तहाँ होब जहँ आटा ॥
तब पीसे जब पहलेंहि धोए। कापर छानि मांड भल पोए ॥
करिल चढ़े तहँ पाकहिं पूरीं। मूँठिहिं माँह रहहिं सो चूरीं ॥
जानहु सेत पीत ऊजरी। लैनू चाहि अधिक कोंवरी ॥
मुख मेलत खिन जाहिं बिलाई। सहस सवाद पाव जो खाई ॥
लुचुई पोइ घीय सो भेंई। पाछें चहीं खाँड सों जेंई ॥
पूरि सोहारी करी घिउ चुवा। छुवत बिलाहिं डरन्ह को छुवा ॥
कही न जाइ मिठाई कहति मीठि सुठि बात।
जेंवत नाहिं अघाइ कोइ हियें बरु जाइ सिरात ॥५४३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

देखते ही गेहूँ का हृदय फट गया। वह वहाँ लाया गया जहाँ पिसकर उसका आटा होना था। (यहाँ जायसी का आध्यात्म भाव यह भी है कि जन्म मरण की चक्की को देखकर गेहूँ रूपी मन की वेदना बढ़ती है कि हाय, जीवन काल से पिस रहा है।) जब पहले वे गेहूँ धो लिये गये तब पीसे गए। फिर कपड़े से छानकर मैदा करके उनको खूब माँड़ा गया अर्थात् आटा गूँथा गया। कड़ाह चढ़े हुए थे, और उनमें पूरियाँ उतर रही थीं। वह इतनी मुलायम थीं कि मुट्ठी में ही दबकर चूर-चूर हो जाती थीं। वे पूरियाँ श्वेत, पीत, और उजली थी, और मक्खन से भी अधिक मुलायम या खस्ता थीं। मुख में डालते ही वे तुरन्त घुल जाती थीं। जो उन्हें खाता वह सहस्रों स्वाद पाता था। लुचुई बनाकर घी में भिगो दी गई कि बाद को उसे इच्छानुसार खाँड के साथ खाया जाय। पूरी एवं सोहारी ऐसी थी कि उनसे तरातर घी टपक रहा था। वे छूते ही घुल जायँगी—इस डर से उन्हें कोई छूता भी न था।

कविवर जायसी कहते हैं कि वहाँ के मिष्टान्न के विषय में कुछ कहा नहीं जाता। उनकी तो बात ही करने में बड़ी मीठी लगती है। उनको खाते हुए कोई सन्तुष्ट न होता था; भले ही उसका मन परितृप्त हो गया हो।

विशेष—पद में वर्णनात्मक प्रधान है, और काव्य रस गौण है। यों समझना चाहिये

कि ऐसे स्थल प्रायः कथा प्रसंग को अनावश्यक विस्तार देने के लिये लाए गए हे।

शब्दार्थ—सरल है।

(५४४)

सींझहि चाउर बरनि न जाहीं। बरन बरन सब सुगँध बसाहीं॥
रायभोग औ काजररानी। झिनवा रौदा दाउदखानी॥
कपुरकांत लेंजुरि रितुसारी। मधुकर ढेला जीरासारी॥
घिर्तकाँदौ औ कुँवर बेरासू। रामरासि आवै अति बासू॥
कहिअ सो सोंधे लाँबे बाँके। सगुनी बेगरी पढ़िनी पाके॥
गड़हन जड़हन बड़हन मिला। औ संसार तिलक खँड चिला॥
रायहंस औ हंसाभौंरी। रूपमाँजरि केतुकी बिकौरी॥
सोरह सहस बरन अस सुगंध बासना छूटि।
मधुकर पुहुप सो परिहरे आइ परे सब टूटि॥५४४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

जो चावल पक रहे थे उनका वर्णन नहीं किया जाता। वह विविध प्रकार के थे, सभी सुगन्ध में रसे-बसे थे। राजभोग, रानी काजर, झिनवा, रदुआ, दाउदखानी, कपूर-कान्त, लेंजुरि, रितुसारी, मधुकर, दिहुला, जीरासारी, घृतकाँदौं, कुँवरविलास और राम-रास, आदि चावलों के पकने की खुशबू आ रही थी। वे चावल सीधे, लम्बे, टेढ़े और बारीक थे। सगुनी, बेगरी एवं पढिनी जाति के चावल भी पकाये जा रहे थे। गड़हन, जड़हन, बड़-हन, संसारतिलक, खँडचिला, राजहंस, हंसाभौरी, रूपमंजरी, केतकी और बिकौरी—

इस प्रकार सोलह सहस्त्र प्रकार के चावलों के पकने की स्वादिष्ट सुगन्ध आ रही रही थी। भौंरों ने पुष्पों को छोड़ दिया और वहीं आकर टूट पड़े।

विशेष—प्रस्तुत पद में चावलों की जाति परिगणन का वर्णन ही प्रधान है। जायसी की वर्णन शक्ति का एसे प्रसंगों में बड़ा जोरदार परिचय मिलता है। हिन्दी काव्य में जायसी की वर्णन शक्ति, रीतिकालीन कवि केशव के समतुल्य कही जा सकती है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५४५)

निरमल माँसु अनूप पखारा। तिन्ह के अब बरनौं परकारा॥
कटाँ बटवाँ मिला सुबासू। सीझा अनबन भाँति गरासू॥
बहुते सोंधै घिरित बघारा। औ तहँ कुंकुहँ पीसि उतारा॥
सेंधा लोन परा सब हाँड़ी। काटे कन्द मूर कै आँड़ी॥
सोवा सौंफ उतारे घना। तेहि ते अधिक आव बासना॥
पानि उतारा टाँकहिं टाँका। घिरित परेह रहा तस पाका॥
और कीन्ह माँसुन्ह के खंडा। लाग चुरै सो बड़बड़ हंडा॥

छागर बहुत समूँचे घरे सरागिन्ह भूँजि।
जो अस जेंवन जेवँ उठे सिंघ अस गूँजि ॥५४५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

उत्तम माँस धोकर स्वच्छ किया गया। कविवर जायसी कहते हैं कि उनके प्रकारों का अब वर्णन करता हूँ। कीमा और पिसे हुए बटवाँ गोश्त को अनेक सुगन्ध मिलाकर बहुत सुवासित बनाया गया। फिर उसे जीरे, धनिये आदि की सुगन्धों के साथ घी में छोंका गया। केसर पीसकर ऊपर वुरका गया। सब गोश्त की हाँड़ियों में सेंधा नमक डाला गया। फिर कंद-मूल की गांठें भी काटकर डाली गई। सेवा, सोंफ, एवं धनियाँ खूब छिड़का गया। अत: उस गोश्त में से अति-सुगन्ध आने लगी। माँस के टुकड़े-बड़-बड़े देगों या टाकों में पानी भरकर डाले गए एवं उन्हें घृत के साथ इस प्रकार पकाया गया कि उनके ऊपर से घृत चूने लगा। और माँस का सूब बनाया गया। मांस के टुकड़ बड़े-बड़े हंडों में चुराए या बनाए गए।

अनेक पूरे के पूरे छागर या छीछड़े लेकर उन्हें सलाखों में पिरोकर भूने गए—कवाब बनाई गई। कविकर जायसी कहते है कि जो ऐसे गोश्त को खाता है वह शेर की तरह स्वस्थ बनकर गरजता है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५४६)

भूँजि समोसा घिय महँ काढ़े। लौंग मिरिचि तिन्ह महँ सब डाढ़े॥
औरु जो माँसु अनूप सो बाँटा। भे फर फूल आँब औ भाँटा॥
नारँग दारिवँ तुरुँज जँभीरा। औ हिन्दुआन बालबाँ खीरा॥
कटहर बड़हर तेउ सँवारे। नरियर दाख खजूर छोहारे॥
औ जाँवत खजेहजा होहीं। जो जेहि बरन सवाद सो ओहीं॥
सिरिका भेइ काढ़ि ते आने। कँवल जो कीन्ह रहहिं बिगसाने॥
कीन्ह मसौरा धनि सो रसोई। जो किछु सबहि माँसु हतें होई॥
बरी आइ पुकारै लिहें सबै फर छूँछ।
सब रस लीन्ह रसोईं अब मो कहँ को पूंछ ॥५४६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

समोसे घी में भूनकर निकाले गए। फिर उनमें लौंग, मिर्च मिलाकर तला गया। और जो स्वादिष्ट माँस बनाया गया था उसे फल, फूल आम और भाँटा भरकर या सम्मिलित करके बनाया गया था। नारंगी, अनार, तुरँज, जँभीर, तरबूज, बालमखीरा, कटहल, बड़हल, नारियल, अँगूर, खजूर, छोहारे—इन फलों मेवों में पिसा हुआ मांस भरकर पकाया गया। और भी जितने प्रकार के फल-मेवे होते हैं, उन सभी में इस भांति का स्वाद बनाया गया। जो जिस तरह का था उसके अनुसार उसमें माँस भरा गया और लज्जत पैदा की गई। माँस भरने के पश्चात उन फलों को सिरके से तर करके निकाला गया और और खाने के लिए

परोसा गया। कमल जैसी पद्मावती ने उन्हें तैयार किया था, अतः वे उस जैसे ही ताज़ी और स्वादिष्ट बने हुए थे। जहाँ ऐसे क़बाब तैयार हुए, वह रसोई धन्य थी। वहाँ जो कुछ बनाया गया था, सब माँस का बनाया गया था।

कविवर जायसी कहते हैं कि माली ने आकर पुकार लगाई—अरे, लोगों ने फलों का रस या स्वाद तो रसोई में माँस भरे फलों से ही ले लिया; अब मुझे और मेरे बाग के फलों को भला कौन पूछेगा ?

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५४७)

काटे मंछ मेलि दधि धोए। औ पखारि चहुँबार निचोए॥
करुए तेल कीन्ह बसिवारू। मेंथी कर तेहि दीन्ह धुँगारू॥
जुगुति जुगुति सब मंछ बघारे। आंब चीरि तेहिं माहँ उतारे॥
ऊपर तेहि तहँ चटपट राखा। सो रस परस पाव जो चाखा॥
भाँति भाँति तिन्ह खँडरा तरे। अँडा तरि तरि बेहर धरे॥
घिउ टाटक मँह सोधि सेरावा। अनेक बखान कीन्ह अरदावा॥
कुंकुहँ परा कपूर बलाई। लौंग मिरिचि तेहि ऊपर लाई॥
घिरित परेह रहा तस हाथ पहुँच लहि बूड़।
बूढ़ खाइ तौ होइ नवजोबन सौ मेहरी लै ऊड़॥५४७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

पहले मछलियों को काटा गया और दही में मिलाकर धोया गया। चार बार साफ़ करने के बाद उन्हें कपड़े में रखकर निचोड़ा गया ताकि गन्ध निकल जाए फिर उन्हें कड़वे तेल में छोंक दिया गया और मेंथी में धुंगारा गया। विविध प्रकारेण मछलियों को छोंका गया। चीरकर आम की फांकें उनके ऊपर डाली गईं। ऊपर से गरममसाले डालकर उन्हें चटपटा बनाया गया। जो उन्हें खाएगा वह बड़ा उत्तम रस का स्वाद पाएगा। तरह-तरह से तलकर उन मछलियों के खँडरे या छीछड़े बनाए गए। मछलियों के अंडों को अलग तलकर रखा गया। उन्हें टटके या ताज़े घी में तलकर ठंडा किया गया। अनेक प्रकार से उन मछलियों का अरदावा अर्थात् भरता बनाया गया। उस भरते में केसर डालकर कर्पूर से सुगन्धित किया गया; फिर उसे चटपटा बनाने के लिए उसके ऊपर लौंग तथा काली मिर्चें डाली गईं।

उसके ऊपर इतना घी तैर रहा था कि उसे निकालते-परोसते समय पहुँचे तक हाथ डूब जाता था। कविवर जायसी कहते हैं कि यदि वृद्ध उस भोजन को खाए तो नवयुवक हो जायगा और सौ स्त्रियों के साथ विवाह-सम्भोग या 'उड़' करने में समर्थ होगा।

शब्दार्थ—मेलि=मिलाकर। बसिवारू=छोंकना। धुँगारू=छोंकना। जुगुति जुगुति=विविधि प्रकार से। आँब चीरि=आम को चीरकर। परस=उत्तम। खंडरा=छीछड़े। टाटक=ताज़ा घी। सोधि सरेवा=तलकर ठंडा किया गया। अरदावा=

मछलियों का भरता। कुंकुहँ=केसर। घिरित=घृत, घी। परेह=तैरना। बूड़=डूबना। मेहरी=स्त्री। ऊड़=विवाह-भोग करना।

(५४८)

भाँति भाँति सीझी तरकारी। कइउ भाँति कुम्हड़ा कै फारी॥
भै भूँजी लौआ परबती। रैता कहँ काटे कै रती॥
चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा। अरुई कहँ भल अरिहन बाँटा॥
तोरई चिचिंडा डिंडूसी तरे। जीर धुँगारि कलै सब धरे॥
परवर कुँदरू भूँजे ठाढ़े। बहुतै घियँ चुरचुर कै काढ़े॥
करुई काढ़ि करैला काटे। आदी मेलि तरे किए खाटे॥
रींधे ठाढ़ सेंब के फारा। छौंकि साग पुनि सोंधि उतारा॥
सीझी सब तरकारी भा जेंवन सब ऊँच।
दहुँ जेंवत का रूचै केहि पर दिस्टि पहूँच॥५४८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

भांति-भांति की सब्जियाँ छोंकी या तैयार की गईं। कई तरह से कुम्हड़ा की फाँकें की गईं। पहाड़ी लौकी भूनी गई। रायते के लिए उसके बारीक-बारीक रेशे काटे गए। चूर की खटाई के साथ भाँटा पकाया गया। अरवी या घुँय्यां की सब्जी में डालने के लिए आलन या आटा पीसा गया। तरोई, चिचिंडा एवं टिंडे तले गए। उन्हें ज़ीरे से धुँगारकर घी में तड़का कर रक्खा गया। परवल, कुँदरू साबित ही भुने गए और बहुत से घी में तैराकर निकाल लिए गए। करेलों की कड़वाहट निकालकर उन्हें बिनारा गया, अदरक डालकर तला गया एवं खटाई डाली गई। खड़ी सेम की समूची फली पकाई गई। सभी सागों को छोंक-बनाकर एवं सोंधा करके उतार लिया गया।

इस प्रकार सभी सब्जियां बनाई गईं। सभी भोजन बड़ा स्वादिष्ट था। लालसा बनी रही कि न जाने भोजन के समय क्या अच्छा लगे और किस पर नज़र पड़ जाय !

विशेष—वही वर्णनात्मकता प्रधान है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५४९)

घिरित कराहन्हि बेहर धरा। भाँति भाँति सब पाकहिं बरा॥
एकहि आदि मिरिच सिउँ पीठे। और जो दूध खाँड सो मीठे॥
भई मुंगौछी मिरिचैं परीं। कीन्ह मुंगौरा औ गुरबरी॥
भई मेंथौरी सिरिका परा। सोंठि लाइ कै खिरिसा धरा॥
मीठ महिउ औ जीरा लावा। भीजि बरी जनु लेंगू खावा॥
खँडई कीन्ह अँबचुर तेहि परा। लौंग लाइची सिउँ खँडि धरा॥
कढ़ी सँवारी औ झुभकौरी। औ खँडवानी लाइ बरौरी॥

पान लाइ कै रिकवछ छौंके हींगु मिरिच औ आद।
एक कठ हँडी जेंवत सत्तरि सहस सवाद ॥५४९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कड़ाहियों में अलग-अलग घी भरा रक्खा था। भाँति-भाँति के बड़े पकाए जा रहे थे। इस प्रकार की पिट्ठी के बड़े मिर्च एवं अदरक के मेल से नमकीन बनाए गए थे, और दूसरे दूध एवं खाँड मिलाकर मीठे बनाए गए थे। मिर्चें डालकर मुँगौछी अर्थात् मूँग का नमकीन पदार्थ बनाया गया था। मुँगौड़े और मीठी बड़ियाँ बनी थीं। सिरका में पड़ी हुई मेंथौरी बड़ियाँ बनाई गई थीं। मीठी सोंठिया में खिरसा डालकर बनाया गया था। मीठे दही में जीरा डालकर उसमें बड़ियाँ भिगोई हुई थीं, जो खाने में मक्खन सी मुलायम एवं स्वादिष्ट लगती थीं। चाशनी में अमचूर डाला गया णौर उसमें लोंग, इलाइची मिलाकर रक्खी गईं। कढ़ी और डभकौरी बनी, और खाँड के पने में बरौरी तैयार की गई थीं।

पत्ते लाकर रिकवछ (अरबी के पत्तों को उड़द की पीठी में तला गया पदार्थ) छोंका गया। उसमें हींग, मिर्च और अदरक मिले। कविवर जायसी कहते हैं कि एक-एक हाँडी का पदार्थ खाते हुए सत्तर सहस्र स्वाद आते थे।

शब्दार्थ—घिरित=घी। बेहर=अलग। एकहि=एक के। आदि=अदरक महि=दही। खँडुई=चासनी।

शेष पदार्थों के शब्दार्थ भावार्थ से देखें।

(५५०)

तहरी पाकि लोनि औ गरी। परी चिरौंजी औ खुरुहुरी ॥
घिरित भूँजि कै पाका पेठा। औ भा अंब्रित गुरँब गरेठा ॥
चुंबक लोहडा औटा खोवा। भा हलुवा घिउ करै निचोवा ॥
सिखरन सोंधि छनाई गाढ़ी। जामा दूध दहिउ सिउँ साढ़ी ॥
और दहिउ के मोरँड बाँधे। औ संधान बहुत तिन्ह साधे ॥
भै जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खिनु जाइ बिलाई ॥
मोंतिलडु छाल और मुरकुरी। माँठ पेराक बुंद ढुरहुरी ॥
फेनी पापर भूंजे भए अनेग परकार।
भै जाउरि पछियाउरि सोभा सब जेंवनार ॥५५०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

लौनी और गिरी मिलाकर तहारी (बढ़िया खिचड़ी) पकाई गई। फिर उसमें चिरोंजी तथा खुरहुरी (मेवा) डाली गई। घी में भूनकर पेठा पाग बना। मीठा आम का बनाया गया गुलम्बा, अमृत जैसा स्वादिष्ट था। चुम्बक लोहे की कढ़ाई में खोवा बनाया गया। घी-निचुड़वा हलुवा बना। सुगन्धित द्रव्य मिलाकर गाढ़ी सिखरन छानी गई। मोटी मलाई वाले दूध की दही जमाई गई। फिर दही के मारंडे (कपड़े में दही को

वाँधकर बनाए जाने वाला पदार्थ।) बाँधे गए, और फिर उनमें वहुत प्रकार के नमकीन, चटपटे, स्वादिष्ट मसाले मिलाए गए। जो-जो मिठाईयाँ बनीं, वह कही नहीं जातीं। मुँह में डालते ही वे तत्कालीन घुल जाती थीं, मोती-लड्डू, छाल, मुरकुरी, माँठ, गूँझे, बुंदिया की दुरहुरी आदि अनेक मिठाइयाँ बनी थीं।

फेनी और पापर भूने गए, और भी अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ थे। जाउरि (दूध का खीर) एवं पछियाउरि (जौनार के अंत की मीठी तश्तरी) परोसी गई। इस प्रकार वह विशिष्ट जौनार सम्पन्न हुई।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरल किये गए हैं।

(५५१)

जति परकार रसोइँ बखानी। तब भई जब पानी सौं सानी॥
पानी भूल परेखौ कोई। पानी बिना सवाद न होई॥
अंब्रित पानि न अंब्रित आना। पानी सौ घट रहै पराना॥
पानि दूध महँ पानी धीऊ। पानि घटैं घट रहै न जीऊ॥
पानी माँह समानी जोती। पानिहि उपजै मानिक मोती॥
पानी सब महं निरमरि करा। पानि जो छुवै होइ निरमरा॥
सो पानी मन गरब न करई। सीस नाइ खालें कहँ ढरई॥
मुहमद नीर गँभीर जो सो नै मिलै समुँद।
भरे ते भारी होइ रहे छूंछे बाजहिं दुँद॥५५१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कविवर जायसी कहते हैं कि जितने प्रकार की रसोई वर्णन की गई हैं वे तभी बनी जबकि पानी से उन्हें बनाया गया। कोई भी परीक्षा करके देख ले, पानी ही सब पदार्थों का मूल अस्तित्व है। पानी के अभाव में स्वाद नहीं होता। पानी ही अमृत है, और अमृत तो कुछ भी नहीं; सब पानी है। पानी से ही शरीर में प्राण-तत्व रहता है। दूध और घी—इन दोनों में ही पानी है। पानी के न रहने से शरीर में प्राण नहीं रहता। पानी में ही ज्योति (तजल्ली) समाई हुई है। पानी से ही माणिक-मोती पैदा होते हैं। पानी (वीर्य) में ही समस्त स्वरूपों की निर्मलता प्रतिबिम्बित रहती है। जो पानी को स्पर्श करता है, वैसा ही निर्मल हो जाता है। ऐसा पानी मन में अभिमान का संचार नहीं करता। पानी तो सिर झुकाये नीचे की ओर ही नाला बनकर बहता है। आशय है पानी सा स्वच्छ जीवन अभिमानी नहीं होता।

कविवर जायसी स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे मुहम्मद, जो गम्भीर जलाशय है, वही विशाल सागर में मिलता है। जो भरे हुए हैं वही भारी होते हैं। जो खाली हैं—बे-पानी के हैं, वह व्यर्थ में दुंदुभी की तरह जोर से बजते हैं। आशय है कि जीवन की महत्ता से हीन व्यक्ति उद्दण्ड और निर्लज्ज होते हैं क्योंकि उनमें लज्जा का पानी नहीं होता।

विशेष—प्रस्तुत पद में जल-तत्व की महत्ता का बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। ईश्वरीय

रूप जल, वीर्य, और जीवन—इनका दार्शनिक पक्ष एक जैसा है। जायसी ने इसी चिन्ता-धारा को इस पद में अभिव्यक्त किया है। आगे कविवर रहीम ने भी 'पानी' की महत्ता का कुछ इसी प्रकार का चित्रण किया है। तुलना में देखिए—

"रहिमन पानी रखिए बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरे मोती, मानुस चून॥"

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखने से सरल है।

४६--चित्तौड़ गढ़ वर्णन खण्ड

(५५२)

सीझि रसोई भएउ बिहानू। गढ़ देखै गवनै सुलतानू॥
कँवल सहाइ सूर सँग लीन्हा। राघौ चेतनि आगें कीन्हा॥
तेतखन आइ बेवान पहूँचा। मन सौं अधिक गँगन सो ऊँचा॥
उघरी पँवरि चला सुलतानू। जानहुँ चला गँगन कहँ भानू॥
पँवरि सात सातौ खंड बाँकी। सातौ गढ़ि काढ़ी दै टाँकी॥
जानु उरेह काटि सब काढ़ीं। चित्र मूरति जनु बिनवहिं ठाढ़ीं॥
आजु पँवरि मुख भा निरमरा। जौं सुलतान आइ पगु धरा॥
लख लख बैठ पँवरिया जिन्ह सों नवहि करोरि।
तिन्ह सब पँवरि उघारी ठाढ़ भए कर जोरि॥५५२॥

भावार्थ—पूर्व जौनार के प्रसंग क्रम में—

रसोई बनते हुए सवेरा होगया। शाह अलाउद्दीन गढ़ देखने के लिये आया। कँवल सहाइ अर्थात् सरजा—यानी सरजा को शाह रूपी सूर्य ने अपने साथ में लिया। राघवचेतन को आगे कर दिया गया। तत्काल ही उसका विमान गढ़ पर आ पहुँचा। वह विमान चाल में मन की चाल से अधिक चलायमान और ऊँचाई में आकाश की ऊँचाई से भी ऊँचा था। गढ़ का द्वार खोल दिया गया और सुलतान उसके भीतर घुसा। प्रतीत होता था मानो सूर्य आकाश पर चढ़ रहा हो। गढ़ में सात फाटक थे, और उनमें बाँके सात खण्ड विनिर्मित थे। उन सातों को ही टाँकी से गढ़कर बनाया गया था। लगता था कि गढ़ में मानो उभरी हुई मूर्तियाँ तराश कर निकाली गई थीं। अथवा वे चित्र-विचित्र मूर्त्तियाँ खड़ी हुई विनती कर रही थीं। आज जब सुलतान ने वहाँ आकर पाँव रक्खा था तो उन पौरियों का मुख निर्मल हो उठा, खिल गया।

प्रति पौरी पर लाख-लाख द्वारपाल तैनात थे। जिनके आगे करोड़ों आगन्तुक

झुकते थे। शाह को देखकर उन्होंने सारी पौरियाँ खोल दीं और हाथ जोड़कर खड़े हो गए।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५५३)

सातहुँ पवरिन्ह कनक केवारा। सातहुँ पर बाजहिं घरियारा।।
सातहुँ रंग सो सातहुँ पवँरी। तब तहँ चढ़ै फिरै सत भँवरी।।
खँड खँड साजी पालक पीढ़ी। जानहुँ इंद्र लोक की सीढ़ी।।
चंदन बिरिख सुहाई छांहाँ। अंब्रित कुंड भरे तेहि माँहाँ।।
फरे खजेहजा दारिवँ दाखा। जो ओहि पँथ जाइ सो चाखा।।
सोने क छात सिंघासन साजा। पैठत पँवरि मिला लै राजा।।
चढ़ा साढ़ि चितउर गढ़ देखा। सब सँसार पाँव तर लेखा।।
साहि जबहिं गढ़ देखा कहा देखि कै साजु।
कहिअ राज फुर ताकर सरग करै जो राजु।।५५३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सातों पौरियों पर स्वर्ण-किवाड़ें लगे हुए थे। सातों पर ही घड़ियाल बजते थे। सातों पौरियों के भिन्न-भिन्न सात प्रकार के रंग थे। तब कोई उन पर चढ़ सकता था जबकि उनके भीतर चक्करदार सीढ़ियों पर सौ चक्कर काटता था। प्रत्येक खण्ड पर, जहाँ सीढ़ियों का चक्कर समाप्त होता था, वहाँ पलंगनुमा एक पीढ़ी या बुर्जी सी सुनिर्मित थी। वह इतनी ऊँची लगती थी मानो इन्द्रलोक या स्वर्ग तक चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ हों। वहाँ चन्दन-वृक्षों की शीतल सुहावनी छाया थी, और उनमें अमृत से जल के कुंड भरे हुए थे। वहाँ मेवे, अंगूर, और अनार के वृक्ष फले हुए थे। जो उस मार्ग से गुजरता उन फलों-मेवों को खाता-चाखता था। शाह के पौर में प्रविष्ट होते ही, राजा रत्नसेन सोने का छत्र धारण किये हुए, सजे हुए सिंहासन पर आरूढ़, उसके स्वागत के लिये तैयार था। शाह ऊपर चढ़ा और वहाँ से चित्तौड़ का गढ़ देखा। उसे लगा, सारा संसार उसके पाँव के नीचे है।

कविवर जायसी कहते हैं कि जब राजा ने गढ़ और उसके साज को देखा तो बरबस उसके मुँह से निकला—

"उसी का राज्य करना सत्य है जो स्वर्ग पर राज्य करता हो।"—आशय है कि अलाउद्दीन को वह गढ़ राजसी गर्व-गौरव का प्रतीक प्रतीत हुआ।

शब्दार्थ—कनक केवारा = स्वर्ण के किवाड़। खजेहजा = मेला। दाखा = अंगूर। तर = नीचे।

(५५४)

चढ़ि गढ़ ऊपर बसगति देखी। इंद्रपुरी सो जानु बिसेखी।।
ताल तलाब सरोवर भरे। औ अँबराउँ चहूँ दिसि फरे।।
कुँआ बावरी भाँतिन्ह भाँती। मढ़ मंडप तहँ भै चहुँ पाँती।।

राय राँक घर घर सुख चाऊ। कनक मँदिल नग कीन्ह जराऊ॥
निसि दिन बाजहिं मंदिर तूरा। रहस कोइ सब लोग सेंदूरा॥
रतन पदारथ नग जो बखाने। खोरिन्ह महँ देखिअ छिरिआने॥
मँदिल मँदिल फुलवारी बारी। बार बार तहँ चित्तरसारी॥
पाँसा सारि कुँवर सब खेलहिं स्रवनन्ह गीत ओनाहिं।
चैन चाउ तस देखा जनु गढ़ छेंका नाहिं॥५५४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

गढ़ पर चढ़कर शाह ने चित्तौड़ की बस्ती को देखा। वह इन्द्रपुरी सी प्रतीत हुई। वहाँ ताल सरोवर भरे हुए थे, एवं चारों ओर बाग ही बाग फले हुए थे। भाँति-भाँति के कूएँ एवं बावड़ियाँ थीं। चारों ओर मठ और मण्डपों की कतारें बनी हुई थीं। राजा और रंक—दोनों के घर में सुख और उत्साह बराबर का था। स्वर्ण-मंदिरों में जवाहरात का जड़ाव हो रहा था। रात-दिन मंदिरों में नौबत एवं तूर्य बजता था। आमोद-प्रमोद से सब लोग रक्त-वर्ण के अर्थात् स्वथ्य बने हुए थे। रत्न-हीरे आदि का जो बखान किया गया सो वह छोटी कोठरियों में (खोरियों) बिखरे हुए थे। मंदिर-मंदिर में फुलवारियाँ एवं वाटिकाएं थीं। द्वार-द्वार पर चित्तरसारियाँ बनी हुई थीं।

सब राजकुमार उन चित्तरसारियों में (सारि) पासाँ (चौपड़) खेलते थे और उनके कान संगीत-गीत के सुनने में लगे रहते थे। शाह अलाउद्दीन ने वहाँ ऐसा चैन-सुख देखा, मानो गढ़ को घेरा ही न गया हो।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरल हैं।

(५५५)

देखत साहि कीन्ह तहँ फेरा। जहाँ मँदिल पदुमावति केरा॥
आस पास सरवर चहुँ पासा। माँझ मँदिल जनु लाग अकासाँ॥
कनक सँवारि नगन्हि सब जरा। गगन चाँद जनु नखतन्ह भरा॥
सरवर चहुँ दिसि पुरइनि फूली। देखा बारि रहा मन भूली॥
कुँवर लाख दुइ बार अगोरे। दुहुँ दिसि पँवरि ठाढ़ कर जोरे॥
सारदूर दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े। गल गाजहिं जानहुँ रिसि बाढ़े॥
जावँत कहिअ चित्र कटाऊ। तावँत पँवरिन्ह लाग जराऊ॥
साहि मँदिल अस देखा जनु कबिलास अनूप।
जाकर अस धोराहर सो रानी केहि रूप॥५५५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गढ़ को देखते-देखते शाह अलाउद्दीन उधर घूमा जहाँ पद्मावती का महल था। उसके आस-पास चारों ओर सरोवर था और मध्य में महल था। लगता था मानो वह आकाश को चूम रहा हो। स्वर्ण मण्डित, वह रत्नों से जड़ा हुआ था। मानो अम्बर में चाँद तारों से भरा हुआ चमक रहा हो। सरोवर के चारों ओर कमल की बेल विकसित थीं।

सरोवर का निर्मल जल देखकर शाह का मन भूला-भूला सा हो गया। दो लाख कुँवर दरवाजे का पहरा देते थे। हाथ बाँधे वे पौर के दोनों ओर खड़े हुए थे। दोनों ओर दो शार्दूल गढ़कर रचे गए थे। वे मानो अत्यंत क्रोध की मुद्रा में दहाड़ना चाहते हों। जितने प्रकार के कटावदार शिल्प-चित्र कहे जाते हैं, वे सब पौरियो में रत्नों से सुजटित, स्थापित थे।

शाह ने उस महल को यों देखा मानो वह अनोखा स्वर्ग हो। उसने सोचा कि जिसका धवलगृह ऐसा सुन्दर है वहाँ रहने वाली रानी पद्मावती किस रूप की होगी !

शब्दार्थ—मँदिल = महल। सरवर = सरोवर। माँझ = बीच में। कनक = सोना। नखतन्ह = तारों से। पुरइन = कमल बेल। बारि = पानी, जल। बार = द्वार। अगोरे = रखवाली में। पँवरि = पौरी। सारदूल = शार्दूल। गलगाजहिं = दहाड़ना।

(५५६)

नाँघत पँवरि गए खँड साता। सोनै पुहुमि बिछावन राता ॥
आँगन साहि ठाढ़ भा आई। मँदिल छाँह अति सीतल पाई ॥
चहूँ पास फुलवारी बारी। माँझ सिंघासन धरा सँवारी ॥
जनु बसंत फूला सब सोने। हँसहि फूल बिगसहिं फर लोने ॥
जहाँ सो ठाँउ दिस्टि महँ आवा। दरपन भा दरसन देखरावा ॥
तहाँ पाट राखा सुलतानी। बैठ साहि मन जहाँ सो रानी ॥
कँवल सहाइ सूर सौं हँसा। सूर क मन सो चाँद पहँ बसा ॥
सो पै जान पेम रस हिरदैं पेम अँकूर।
चंद जो बसै चकोर चित नैनन्ह आव न सूर ॥५५६॥

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पौरियों को पार करते हुए शाह सातवें खण्ड में गया जहाँ स्वर्ण भूमि पर लाल कालीन बिछे हुए थे। शाह आँगन में आकर खड़ा हो गया। उसे महल में अति शीतल छाया के मिलने का सुख अनुभव हुआ। चारों ओर, आस-पास फुलवारियाँ और वाटिकाएँ थीं। उनके बीच में सजा-सजाया सिंहासन रक्खा हुआ था। वहाँ की शोभा ऐसी प्रतीत होती थी मानो सर्वत्र सुनहले रूप में वसंत फूला हुआ हो। वहाँ फूल हँस-खिल रहे थे और मधुर फल लगे थे। पद्मावती का स्थान जहाँ से दृष्टिगोचर होता था वहाँ से दर्पण में होकर उसके प्रतिबिम्ब का दर्शन हो पा रहा था। वहीं सुलतान का सिंहासन रक्खा गया था। उस पर शाह बैठ तो गया पर उसका ध्यान उसी ओर था जहाँ रानी पद्मावती थी। सरजा (कँवल सहाइ) सूर्य-शाह पर मुस्कराया, पर उसका मन तो उसी चन्द्र पद्मावती के पास बस रहा था; उसे पता भी न चला कि उसपर कौन हँसा है।

कविवर जायसी कहते हे कि वही प्रेम के रस को जानता है जिसके उर में वह उत्पन्न होगया है। जब चकोर के मन में प्रेम-रूप चाँद बसा है तो उसके नेत्रों में सूर्य का रूप-सौन्दर्याकर्षण नहीं समाता। आशय है कि पद्मावती का शाह की ओर कोई आकर्षण न

था, क्योंकि उसे तो अपने रत्नसेन से पूर्णतः प्रेम था।

शब्दार्थ—नांघत=पार करते हुए। पुहुमि=पृथ्वी। बारी=वाटिका। पाट=सिंहासन। कँवल सहाइ=सरजा। पूर्व इसको स्पष्ट किया जा चुका है। अंकूर=अँकुरित, उत्पन्न।

(५५७)

रानी धौराहर उपराहीं। गरबन्ह दिस्टि न करहि तराहीं॥
सखीं सहेलीं साथ बईठी। तपै सूर ससि आव न डीठी॥
राजा सेव करै कर जोरें। आजु साहि घर आवा मोरें॥
नट नाटक पतुरिन औ बाजा। आनि अखार सबै तहँ साजा॥
पेम क लुबुध बहिर औ अंधा। नाच कोड जानहुँ सब धंधा॥
जानहुँ काठ नचावै कोई। जो जियँ नाच न परगट होई॥
परगट कह राजा सें बाता। गुपुत पेम पदुमावति राता॥
गीत नाद जस धंधा घिरै बिरह कै आँच।
मन की डोर लांगि तोहि ठाई जहाँ सोगहि गुन खाँच॥५५७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

रानी पद्मावती धवलगृह के ऊपर, सतखंड पर थी। वह मान से नज़र नीचे न करती थी। वहाँ, वह सखी-सहेलियों के संग बैठी थी। इधर शाह सूर्य उसे देखने के लिये तप रहा था। किन्तु वह चन्द्रवती थी कि नज़र न आती थी। राजा रत्नसेन शाह के समक्ष हाथ जोड़े हुए उसकी सेवा में उपस्थित था। सोचता था कि यह मेरा सौभाग्य है जो आज शाह मेरे घर में महमान बनकर आया है। नट, नाटक नर्तकियाँ एवं वाद्य—ये सब शाह के मनोविनोदार्थ अखाड़े में पूर्णतः सजाए और रक्खे गए थे। किन्तु कविवर जायसी कहते हैं कि प्रेम में लुब्ध हुआ व्यक्ति बहिरा और अन्धा हो जाता है। (कहा भी है—Love is blind) नाच, खेल, और आमोद-प्रमोद—ये सब मानो वह गोरखधन्धा समझता है। शाह की दशा जड़ कठपुतली की तरह हो गई, जैसे कोई उसे नचाये वह नाचे। पर जो पद्मावती उसके मन में नृत्यरत थी, वह प्रकट न होती थी। वह प्रकट में राजा रत्नसेन से बातचीत कर रहा था किन्तु गुप्त रूप से मन में पद्मावती पर आशिक था।

शाह को वह गीत स्वर-वादन, सारा कुछ व्यर्थ का बवाल प्रतीत हो रहा था। क्योंकि उसके अन्तर्मन में तो विरह की आग भड़क रही थी। मन की डोरी तो उसी पद्मावती के हाथ थी जहाँ से पकड़कर वह उसे खींच रही थी। (**खींचतीं तुम कौन ऐसे बंधनों से जो कि रुक सकता नहीं मैं।**" —बच्चन)

शब्दार्थ—उपराहीं=ऊपर। तराहीं=नीचे। अखार=अखाड़ा। धंधा=बवाल। गुन=रस्सी। खाँच=खींचना।

(५५८)

गोरा बादिल राजा पाहाँ। राउत दुवौ दुवो जनु बाहाँ॥

आइ स्रवन राजा के लागे। मूँसि न जाहि पुरुख जौं जागे।।
बाचा परखि तुरुक हम बूझा। परगट मेरु गुपुत दर सूझा।।
तुम्ह न करहु तुरुकन्ह सौं मेरू। छर पै करहि अंत के फेरू।।
बैरी कहिन कुटिल जस काँटा। ओहि मकोइ रहि चूरहि आँटा।।
सतरु कोटि जौं पाइअ गोटी। मीठे खांड जें वाइअ रोटी।।
हम सो ओछ कै पावा छातू। मूल गए सँग रहे न पातू।।
इहौं किस्न बलि बार जस कीन्ह चाह छर बाँध।
हम विचार अस आवै मेरहि दीज न काँध।।५५८।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन के यहाँ गोरा बादल नायक वीर थे। वे दोनों रावत या सामन्त थे और राजा की दोनों भुजाओं जैसे थे। आकर उन दोनों ने राजा के कान से लगकर कहा—हे राजा! जो आदमी जागता है, वह चोरी का शिकार(मूसा) नहीं होता। हमने तुर्क को खूब परख-बूझकर देख रखा है। वह प्रकट में मेल दिखाता है और गुप्त रूप में सैन्य-दल का रूप सोचता-सजाता है। हे राजा, तुम तुर्कों से मेल न जोड़ो। अन्ततः यह कपट करते हैं। शत्रु तुर्क ये तीखे बेरी के कठिन काँटे की तरह कुटिल होता है। उसके साथ तो कँटीला मकोय जैसा ही कोई रह सकता है; जो मौका पड़ने पर उसका चूरन बना सके। बैरी की कोटि वाले को जब अपनी पकड़ या गोटी में पा लिया जाय तो क्या उसे मीठी खाँड के साथ भोज दिया जाना चाहिये? क्या शाह के साथ तुमने ऐसा उदारता का व्यवहार दिखाकर अच्छा किया है? उस नीच, विश्वासघाती तुर्क शाह का जब हमारे हाथ में छत्र आ गया है तो उसे साफ कर देना चाहिये। जड़ के कट जाने पर संग के पत्ते भी नहीं रहते। आशय है कि जब शाह मार दिया जायगा तो उसकी सेना भी नष्ट हो जायगी।

गोरा बादल ने कहा—हे राजा! जैसे विष्णु ने बलि के द्वार पर छल किया, इसी प्रकार शाह भी छल-कपट से हमें बन्दी बनाना चाहता है। हमारे विचार से यह मेल शुभ नहीं; इसे नहीं करना चाहिए।

शब्दार्थ—गोरा बादल=तत्कालीन दो बड़े वीर सामन्त थे। राउत=सामन्त। स्रवन=कान। मेरु=मेल। आँटा=दाँव। बैरी=बेरी, शत्रु (श्लेष शब्द है)। गोटी=वश में। ओछ=नीच, विश्वासघाती।

(५५९)

सुनि राजा हियँ बात न भाई। जहां मेरु तहँ अस नहि भाई।।
मंदहि भल जो करै भलु सोई। अंतहु भला भले कर होई।।
सतरु जौं बिख दै चाहै मारा। दीजै लोन जानु बिख सारा।।
बिख दीन्हे बिखधर होइ खाई। लोन देखि होइ लोन बिलाई।।
मारें खरग खरग कर लेई। मारै लोन नाइ सिर देई।।
कौरवँ बिख जौं पंडवन्ह दीन्हा। अंतहुँ दाँउ पंडवन्ह लीन्हा।।

जो छुर करै ओहि छर बाजा। जैसें सिंघ मँजूसा साजा।।
राजैं लोनु सुनावा लाग दुहूँ जस लोन।
आए कोहाइ मँदिल कहँ सिंघ जानु औगौंनु।।५५९।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा बादल की बात सुनी तो पर राजा रत्नसेन के मन को वह बात ठीक न जँची। राजा ने कहा—हे भाई, जहाँ मेल हो जाता है वहाँ ऐसा धोखा नहीं होता। मन्द के साथ जो भला करे वही भला है। अंत में भलाई का बदला भलाई है। बैरी यदि ज़हर देकर मारना भी चाहे तो उसे लवण अर्थात् अच्छा व्यवहार देना चाहिए। ऐसा करके समझो कि तुमने उसका सारा विष मार दिया। (नमक से जहर नहीं रहता और प्रेम व्यवहार से विद्वेष दूर होता है। यहाँ यही आशय है—कहा भी है—**"जो तोको कांटा बुवै ताहि बोइ तू फूल। तोको फूल को फूल है वाको है त्रिशूल।"**) विष देने से विषधर(शत्रु)काटने को दौड़ता है। किन्तु नमक(सद्व्यवहार से)देखकर वह स्वयं नमक बनकर गल जाता है। खड्ग मारने पर शत्रु भी हाथ में खड्ग ले लेता है; किन्तु सुन्दर प्रेम व्यवहार के वार के आगे वह सिर झुका देता है। कौरवों ने पांडवों को विष दिया, पर वह न मरे। अंततः विजय का दाँव पांडवों के ही हाथ रहा। जो छल-कपट करता है उसे खुद छल-कपट का शिकार होना पड़ता है। जिस प्रकार सिंह अपने आतंक के फलस्वरूप पिंजरे में बन्दी हो जाता है।

राजा ने जो नमक से सुन्दर व्यवहार की बात कही वह बात गोरा बादल को कटे घाव पर नमक छिड़क देने वाली जैसी बुरी प्रतीत हुई। वे दोनों क्रोध में भरे हुए अपने भवन को लौट आए, जैसे सिंह खत्ते (औगौनु) में आ गिरता है—विवश! निराश!!

विशेष—प्रस्तुत पद में गांधीवादी चिंताधारा का भाव प्रधान है—"शत्रु के साथ भी प्रेम दया का व्यवहार करो।"

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखो।

(५६०)

राजा के सोलह सै दासीं। तिन्ह मँह चुनि काढ़ीं चौरासीं।।
बरन बरन सारी पहिराईं। निकसि मँदिल हुतें सेवा आईं।।
जनु निसरीं सब बीर बहूटीं। रायमुनी पिंजर हुति छूटीं।।
सबै प्रथम जोबन सौं सोहीं। नैन बान औ सारँग भौंहीं।।
मारहिं फनुक फेरि सर ओहीं। पनघट घाट ढंग जित होहीं।।
काम कटाख रहै चित हरनी। एक एक तें आगरि बरनी।।
जानहुँ इन्द्रलोक ते काढीं। पाँतिन्ह पाँति भई सब ठाढीं।।
साहि पुंछ राघौ कहँ सर तीखे नैनाहँ।
तैं जो पदुमिनि बरनी कहु सो कबन इन्ह माहँ।।५६०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा की सोलह सौ दासियाँ थीं। उनमें से चौरासी दासियाँ चुनकर निकाली गई। उन्हें रंग-विरंगी साड़ियाँ पहनाकर सजाया गया। वे भवनों से निकलकर शाह की सेवा में आई। ऐसा लगा मानो वे क्या, सारी वीरबहूटियाँ निकल आई थीं, किंवा राय-मुनिया पिंजरे से छूटकर बाहर आई थीं। सभी नव-वय वाली अक्षत सुंदर वीरांगनाएँ थीं। उनके नयन-कटाक्ष तीर से और भौंहें धनुषाकार थीं। पनघट, तट और जंगल, जहाँ भी वे होतीं, वे भौंहें रूपी धनुष को घुमाकर चितवन के बाण चलाती थीं। वे कामनियाँ, एक से एक बढ़कर रूप-रंगवाली थीं। प्रतीत होता था कि वे इंद्रलोक की अप्सराएँ निकल कर पंक्ति-दर-पंक्ति में सब उपस्थित हुई हैं।

शाह अलाउद्दीन ने तिरछी चितवन करके राघव चेतन से पूछा—तुमने जिस पद्मिनी का वर्णन किया था, कहो, इनमें इनके बीच वह कौन-सी है?

विशेष—यहाँ दासियों के रूप-सौन्दर्य का वर्णन रीतिकालीन नख-शिख शृंगार वर्णन की परम्परा का है। किन्तु कविवर जायसी का रूप सौंदर्य का चित्रण जड़ नहीं रहता; उसमें एक अनूठी मांसलता रहती है। उक्ति देखिए—

"जनु निकसी सब बीरबहूटी। रायमुनी पिंजर हुति छूटी॥"

सुन्दरियों के सजकर आने के साथ ही उनकी जो उपमा सहसा वीरबहूटी एवं राजमुनी के पिंजर से छूटकर निकलने से दी गई है, वह हमारे नेत्रों के सामने उनके अनूठे शृंगार का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देती हैं। ऐसी सजीव या प्राणवन्त चित्रात्मकता का, रीतिकालीन नखशिख शृंगार वर्णन में प्रायः अभाव-सा रहा है। पर जायसी के तो स्वभाव में ऐसा चित्रण चित्रित था।

शब्दार्थ—सरल है।

(५६१)

दीरघ आउ पुहुमिपति भारी। इन्ह महं नाहिं पदुमिनी नारी॥
यह फुलवारि सो ओहि की दासी। कहँ वह केत भँवर सँग बासी॥
वह सो पदारथ एइ सब मोंती। कहँ वह दीप पतँग जेहि जोती॥
ये सब तरँई सेव कराहीं। कहं वह ससि देखत छपि जाहीं॥
जौं लहि सूर की दिस्टि अकासू। तब लगि ससि न करै परगासू॥
सुनि कै साह दिस्टि तर नावा। हम पाहुन एक मँदिल परावा॥
पाहुन ऊपर हेरै नाहीं। हना राहु अरजुन परिछाहीं॥
तपै बीज जस धरती सूख विरह कै धाय।
कब सुदिस्टि कै बरिसै तन तरिवर होइ जाय॥५६१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राघव चेतन शाह अलाउद्दीन से बोला—हे महान महीपाल, आपकी दीर्घायु हो। इन सब में वह पद्मिनी स्त्री नहीं है। यह सब तो फुलवारी सी उसकी परिचारिकायें हैं। भौंरे (रसिक) के अभिसार में रहनेवाली वह केतकी पद्मावती इनमें कहाँ है। वह तो

हीरा है, और य सब मोती हैं। वह अलखदीप कहाँ, जिसकी ज्योति पतिंगें को मोहित कर लेती है। आशय है कि वह दिव्य स्वरूपा पद्मावती इनमें कहाँ, जो अपनी तजल्ली से संसार के बन्दे को मोहती है ? (रहस्यवादी सूफियाना भाव है।) ये सब दासियाँ तो तारों की क़तारें हैं, जो उसकी सेवा में रहती हैं। वह शशि रूपिणी पद्मावती कहाँ जिसकी दिव्यता को देखते ही ये सब उसमें छिप जाती हैं। हे शाह, जब तक सूर्य का तेज आकाश में विद्यमान रहता है, तब तक शशि पद्मावती अपना प्रकाश नहीं करती, दर्शन नहीं देती। यह सुनकर झट शाह ने अपनी नज़र नीचे झुका ली। उसने ताड़ लिया कि हम तो यहाँ महमान जैसे हैं; और यह महल तो आखिर पराया ही है। महमान ऊपर नज़र नहीं करता। अर्जुन ने भी द्रौपदी के वरण करने के लिए नीची नजर करके ही राधा-वेध (मछली का भेदन) किया था। उसी तरह मेरे लिए भी यहाँ यही उचित है।

कविवर जायसी कहते हैं कि जैसे बीज धरती पर पड़ा तपता है; इस प्रकार शाह पद्मावती के प्रेम-विरह में दग्ध हो रहा था। उसके मन में लालसा थी कि कब पद्मावती की सुदृष्टि उस पर पड़ेगी कि जिससे उसका प्रज्वलित तन-तरुवर हरा-भरा हो जायगा।

विशेष—पद्मावती का शृंगार वर्णन रहस्यवादी ढंग का है। उक्ति चमत्कार विशिष्ट है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखो।

(५६२)

सेव करहिं दासी चहुँ पासाँ। अछरीं जानि इन्द्र कबिलासाँ॥
कोइ लोटा कोंपर लै आईं। साहि सभा सब हाथ धोवाईं॥
कोइ आगें पनवार बिछावहिं। कोइ जेंवन सब लै लै आवहिं॥
कोइ माँडि जाहि धरि जोरी। कोइ भात परोसहिं पूरी॥
कोई लै लै आवहि थारा। कोइ परसहि बावन परकारा॥
पहिरि जो चीर परोसै आवहिं। दोसरै और बरन देखरावहिं॥
बरन बरन पहिरहि हर फेरा। आव झुँड जस अछरिन्ह केरा॥
पुनि सँधान बहु आनहिं परसहिं बूकहिं बूक।
करै सँवार गोसाईं जहाँ परै किछु चूक॥५६२॥

भावार्थ—पूर्व पद के क्रम में—

शाह के चारों ओर आई हुई दासियाँ उसकी सेवा कर रही थीं। लगता था मानो स्वर्ग में इंद्र की सेवा के लिए अप्सराएँ लगी हुई हों। कोई लोटा और परात (कोंपर) ले आई। उन्होंने शाह और उसकी सारी सभा के हाथ धुलाए। कोई आगे पत्तलें परसने लगी। कोई सारी भोज सामग्री लेकर आने लगीं। पत्तलों पर कोई भाँडे की जोड़ी परोसकर जा रही थी। कोई भात और कोई पूरी परोसती थीं। कोई भरे-भरे थाल लेकर आती थीं। कोई बावन तरह की खाद्य-सामग्री परोस रही थीं। एक बार जो परोसते समय वस्त्र पहने आती थीं, वह दूसरी बार किसी दूसरे ही वेश-परिधान में दिखलाई पड़ती थीं। हर फेरी में

वह विविध रंगी वस्त्र पहने अप्सराओं के झुंड के रूप में आती थीं।

फिर अनेक प्रकार के अचार लेकर आतीं और उसे चुंगुल चुंगल करके परोसती थीं। जहाँ कुछ भूल-चूक हो जाती तो स्वयम् राजा रत्नसेन उसे सुधार देते थे। आशय है कि शाह के समादर में राजा स्वयं खानपान सम्बन्धी पूरी देख-रेख कर रहा था।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५६३)

जानहुँ नखत रहहिं रवि सेवां। बिनु ससि सूरहि भाव न जेंवां॥
सब परकार फिरा हर फेरें। हेरा बहुत न पावा हेरें॥
परी असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी॥
मंछ छुअै अवहि कर कांटे। जहाँ कँवल तहँ हाथ न आँटे॥
मन लागेउ तेहि कँवल की डंडी। भावै नहि एकौ कठहंडी॥
सों जेंवन नहि जाकर भूखा। तेइ बिनु लाग जानु सब रूखा॥
अनभावत चाखै बैरागा। पँच अंम्रित जानहु बिख लागा॥
बैठि सिंघासन गूँजै सिंघ चरे नहि घास।
जौं लहि मिरिगि न पावै भोजन गनै उपास॥५६३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

शाह उन दासियों की परिचर्या के बीच ऐसा लग रहा था मानो नक्षत्रगण सूर्य की सेवा में रत हों। किन्तु सूर्य-शाह को शशि-पद्मावती के बिना भोजन करना नहीं रुचरहा था। हर फेरे में सब भाँति के भोज पदार्थ चल आते थे; पर शाह के लिए वह सब कुछ व्यर्थ था क्योंकि वह बहुत गौर से देखता था, किन्तु जिसे वह देख रहा था, उसे, अर्थात् पद्मावती को नहीं देख पाता था। सारी तरकारियाँ बेहद पड़ी थीं, किन्तु लावण्यमयी पद्मावती के बिना शाह को वह सारे नमकीन पदार्थ नीरस थे। शाह इतना बेसुध था कि मछली छूता तो काँटा हाथ में उठा लेता। जहाँ ग्रास या कौर (दूसरा आशय पद्मावती से भी है।) था वहाँ हाथ न पड़ता था। दूसरा आशय यह कि पद्मावती हत्थे नहीं चढ़ रही थी। उसका मन तो उसी कमल की नाल, पद्मावती को पकड़ने के लिए कलक रहा। अत: उसे एक भी काठ की हाँडी भली प्रतीत न होती थी। शाह को वह भोजन न मिला जिसके लिए वह क्षुधातुर था। आशय है कि रति रूपा पद्मावती नहीं मिली थी। उसके अभाव में मानो उसे सब कुछ नीरस प्रतीत हो रहा था। वह अनिच्छित खाद्य-सामग्रियों को विरक्त भाव से चाख भर रहा था। पंचामृत भी, पद्मावतीके अभाव में उसे विष तुल्य प्रतीत हो रहा था।

वह सिंघासन पर बैठा बड़बड़ा रहा था—सिंह घास नहीं चरता। जब तक वह हिरन का शिकार नहीं पाता, साधारण शिकार या भोजन होन पर भी उपवास ही गिनता है। आशय है कि रत्नसेन की उसे दी गई वह सब दावत फिजूल थी, यदि पद्मावती के समागम की भूख शांत न हो सकी।

शब्दार्थ—साधारण है। भावार्थ में देखें।

(५६४)

पानि लिहें दासी चहुँ ओरा। अंब्रित बानी भरें कचोरा।।
पानी देंहि कपूर क बासा। पियै न पानी दरस पियासा।।
दरसन पानि देइ तौ जीयौं। बिनु रसना नैनन्ह सौं पीयौं।।
पीउ सेवाती बुंदहि अघा। कौनु काज जौं बरिसै मघा।।
पुनि लोटा कोंपर लै आंई। कै निरास अब हाथ धोवांई।।
हाथ जो धोवै बिरह करोरा। सँवरि सँवरि मन हाथ मिरोरा।।
बिघि मिलाउ जासौं मन लागा। जोरि न तोरु पेम कर तागा।।
हाथ धोइ जस बैठेउ ऊभि लीन्ह तस साँस।
सँवरा सोई गोसांई देहि निरासहि आस।।५६४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

शाह के चारों ओर दासियाँ पानी लिए हुए थीं। वे कटोरों में अमृत सा जल भरे हुए थीं। वे कपूर से सुवासित जल दे रही थीं। किंतु शाह पानी नहीं पीता था, वह तो पद्मावती के दर्शनों का प्यासा था। उसने सोचा, यदि पद्मावती अपना दर्शन-जल देगी तभी मैं जीवित रह पाऊँगा। उसके प्रेम-रूप-जल को रसना से बिना पिए, केवल आँखों से ही पान करूँगा, और परितृप्त हो जाऊँगा। पपीहा तो स्वाती बूंद से ही परितृप्त होता है। मघा नक्षत्र में कितना ही पानी क्यों न बरसे, पर पपीहे को उससे क्या काम! फिर दासियाँ लोटा एवं कोंपर लेकर आई। शाह को पिपासाकुल, निराश छोड़कर अब वे उसके हाथ धुलाने लगीं। ज्यों-ज्यों वह हाथ धोता था त्यों-त्यों उसे विरह कचोटता जाता था। पद्मावती की याद में वह हाथ मल रहा था—धो रहा था। वह सोच रहा था कि हे ईश्वर, उससे मिला जिससे मेरा दिल लगा हुआ है। प्रेम का धागा जोड़कर अब न तोड़। आशय है कि पद्मावती का प्रेम-रूप प्राप्त हो।

शाह ज्योंही हाथ धोकर उठा कि उसने निराशा की एक गहरी साँस ली। फिर निराश, उसने उस ईश्वर का सुमरन किया जो निराश की आशा पूरी करता है।

विशेष—अन्तिम पंक्ति में कवि की भक्ति भावना का सबल प्रकाशन हुआ है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५६५)

भै जेवनार फिरा खँडवानी। फिरा अरगजा कुंकुहु बानी।।
नग अमोल सो थारा भरे। राजें सेवा आनि कै धरे।।
बिनती कीन्ह घालि गियँ पागा। ए जग सूर सीउ मोहि लागा।।
औगुन भरा काँप यह जीऊ। जहाँ भान रह तहाँ न सीऊ।।
चारिहुँ खंड भान अस तपा। जेहि की दिस्टि रैनि मसि छपा।।
कँवल भान देखे पै हँसा। औ भानहि चाहै परगसा।।
औ भानहि असि निरमरि करा। दरस जो पाव सोइ निरमरा।।

रतन स्यामि तहँ रैनि मसि ऐ रबि तिमिर सँघार ।
करु सुदिस्ट औ किरिपा देवस देहि उजियार ।।५६५।।

भावार्थ——पूर्व पद के प्रसंग में—

जौंनार पूरी हुई और तो शरबत घुमाया गया। सबको केसरी अरगजा या सुगंधित द्रव्य दिया गया। सौ अमूल्य रत्न थाल में रखकर राजा रत्नसेन ने शाह के सामने भेंट में रक्खे शाह के गले में सम्मानित पगड़ी पहनाकर राजा रत्नसेन ने विनय की—हे विश्व-सूर्य, आपके शौर्य तेज के समक्ष मुझे शीत आता है। आशय है कि मैं भयातुर हूँ। हे शाह, मेरी रक्षा करो ? राजा ने आगे कहा—हे शाह, कुकृत्यों से भरा, भयातुर हुआ मेरा यह हृदय कम्पित है। किन्तु जहाँ सूर्य होता है वहाँ शीत नहीं रहता। आशय है कि जहाँ शाह पक्ष में हो वहाँ भय नहीं रहेगा, यह विश्वास है। चारों भू-खण्डों में सूर्य ऐसा तप रहा है कि उसकी दृष्टि से अँधेरी रात छिप गई है। कमल, सूर्य को देखने से खिला चाहता है और यह भी चाहता है कि वह अधिक प्रकाशयुक्त हो। और सूर्य की कला-ज्योति इतनी निर्मलतम होती है कि जो उसके दर्शन करता है वही पवित्र हो जाता है।

रात की स्याही से रत्न काला पड़ गया है। हे सूर्य, रात के अंधकार का नाश कर। अपनी कृपा की सुदृष्टि मे दिवस का उजाला प्रदान कर।

विशेष—प्रस्तुत पद में शाही रिवाज के मुताविक रत्नसेन ने एक आधीन राव की भाँति अलाउद्दीन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह उस समय की मर्यादा और परम्परा की सामान्य बात थी। इसके आधार पर बहुत से साहित्यिक मनीषी जायसी पर साम्प्रदायिक आरोप लगाते हैं, जो उक्त धारणा को दृष्टि में रखते हुए उचित नहीं। और फिर कवि तो सामान्य बात को काव्यानुरूप बनाने के लिये अतिशयोक्ति का सहारा लेने का पूरा अधिकारी होता है। जायसी ने उस अधिकार का मय ब्याज के लाभ उठाया है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५६६)

सुनि बिनती बिहँसा सुलतानू। सहसहुँ करा दिपै जस भानू ।।
अनु राजा तूं साँच जड़ावा। भै सुदिस्टि सो सीउ छड़ावा ।।
भान की सेवा जाकर जीऊ। तेहि मसि कहाँ कहाँ तेहि सीऊ ।।
खाहि देस आपन करु सेवा। और देउँ माँडौं तोहिं देवा ।।
लीक पखान पुरुख कर बोला। धुव सुमेरु तेहि उपरं डोला ।।
बहु बोसाउ दीन्ह नग सूरू। लाभ देखाइ लीन्ह चह मूरू ।।
हँसि हँसि बोलै टेकै काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छरि बाँधा ।।
माया बोलि बहुत कै पान साहि हँस दीन्ह।
पहिलें रतन हाथ कै चहै पदारथ लीन्ह ।।५६६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन की विनती सुनकर सुलतान अलाउद्दीन हँसा और तब ऐसा प्रतीत

हुआ जसे सहस्रों रश्मियों से सूर्य दिपता है। सुलतान ने कहा, वस्तुतः तुम शीत से आकुल थे। तुम पर मेरी दया की सुदृष्टि होगई, जिसने तुम्हारे शीत से तुम्हें मुक्त कर दिया है। सूर्य या शाह की सेवा में जिसका मन रत हो उसे कैसा अन्धकार और कैसा जाड़ा ? हे राजा, तू अपने देश चित्तौड़ का भोग कर और मेरी सेवा कर। इसके अतिरिक्त तुझे माण्डवगढ़ भी इनाम में दूंगा। पुरुष का वचन पत्थर की लकीर की तरह अमिट, सत्य होता है। अटल ध्रुव उसी वचन रूपी सुमेरु पर्वत के ऊपर चक्कर काटता रहता है। कविवर जायसी कहते हैं कि दिखावे में तो शाह रूपी सूर्य ने राजा रत्नसेन को बहुत सा लालच-व्यवसाय प्रदान किया किंतु वास्तव में उसने लोभ का लालच दिखाकर उसका मूलधन भी हड़प लेना चाहा। राजा के कन्धे पर हाथ रक्खे बड़े स्नेह से वह हँस-हँसकर बातें बना रहा था। प्रीति का धोखा देकर वह उसे छल-कपट से बाँध लेना चाहता था।

अति माया-जाल युक्त बोलकर शाह ने हँसकर राजा को पान पेश किया। कपट से वह चाहता था कि पहले रत्नसेन को हत्थे पर चढ़ाकर तत्पश्चात् उसका हीरा, पद्मावती को भी हथिया ले।

शब्दार्थ—बिहँसा=हँसा। करा=कला, रश्मियाँ। भान=सूर्य, शाह। सीउ=जाड़ा, शीत। खाहि=भोगना। माँडौ=माण्डवगढ़। बौसाउ=व्यवसाय, यहाँ लालच से तात्पर्य है। मूरू=मूलधन।

(५६७)

मया सूर परसन भा राजा। साहि खेल सँतरज कर साजा॥
राजा है जौ लहि सिर घामू। हम तुम्ह घरिक करहिं बिसरामू॥
दरपन साहि पंत तहँ लावा। देखौं जबहि झरोखें आवा॥
खेलहिं दुवौं साहि औ राजा। साहि क रुख दरपन रह साजा॥
पेम क लुबुध पयादें पाऊँ। चलै सोंहँ तारे कोनहाऊँ॥
घोरा दै फरजी बँदि लावा। जेहि मोहरा रुख चहै सो पावा॥
राजा फील देइ सह माँगा। सह दै साहि फरजी दिग खाँगा॥
फीलहि फील ढकावा भए दुवौ चौ वंत।
राजा चहै बुरद भा साहि चहै सह मंत॥५६७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

शाह अलाउद्दीन की दया-दृष्टि को देखकर राजा रत्नसेन हर्षित हुआ। शाह ने शतरंज का खेल सजाया या बिछाया और कहा कि हे राजा ! जब तक सिर पर धूप तच रही है हम तुम कुछ देर आराम करें—शतरंज खेलें। शाह ने पलंग के पाँयत पर शीशा रख लिया। उसने यह सोचा कि जब पद्मावती शतरंज का खेल देखने झरोखे पर आएगी तो मैं देख लूंगा। शाह और राजा, दोनों शतरंज खेलने लगे। शाह शतरंच खेल तो रहा था किन्तु उसका रुख विशेषतः उसी शीशे की ओर आसक्ति से लगा हुआ था। प्रेम का लुभाया हुआ, प्यादे की चाल की तरह पाँवों से चलता है। वह सीधा चलता है किन्तु दाएँ बाएँ कटाक्ष

रखता है। शाह की इच्छा थी कि अपने घोड़े को राजा के घोड़े के बराबर मिला दे और उसे झूठ-मूठ ही फरजीबन्द बना ले (पद्मावती को अपना बना ले) और जिस पद्मावती के चेहरे मोहरे को वह चाहता था, उसे देख-पाले। आशय यह है कि शाह ने झूठी चाल से रत्नसेन को बराबरी का पद देकर छलपूर्वक पद्मावती (फरज़ी) को प्राप्त करना चाहा। यह देख राजा ने शाह को हाथी देकर उसकी शह या चाल सुरक्षित की। शाह ने मन मारकर वह शह दी तो, किन्तु उसका मन फरजी या रानी पद्मावती की ओर ही अटका हुआ था।

राजा ने अपना हाथी शाह के हाथी के सामने बढ़ा दिया और दोनों के हाथी चौदन्त हुए—मिल गए। राजा चाहता था कि इस ढंग से मेल प्रदर्शित कर वह शाह से लाभ में रहे। और शाह अपने मन की इच्छा, पद्मावती को पाकर पूर्ण करना चाहता था।

शब्दार्थ—मया=दया। घरिक=घड़ी भर। बिसरामू=आराम। दुवौं=दोनों। पैत=पलंग के नीचे की ओर—पाँयत। पयादें=प्यादा, शतरंज की गोट कोनहाऊ=कुहनी की ओर दाएँ-बाएँ। फरजी=वजीर, यहाँ पद्मावती से अर्थ है। फील=ऊँट या हाथी। खाँगना=अटका हुआ। बुरुद=खेल में दिखावटी भाव।

(५६८)

सूर देखि ओइ तरँई दासीं। जहँ ससि तहाँ जाइ परगासीं॥
सुना जो हम ढीली सुलतानू। देखा आजु तपै जस भानू॥
ऊँच छत्र ताकर जग माँहाँ। जग जो छाँह सब ओहि की छाँहा॥
बैठि सिंघासन गरबन्ह गूँजा। एक छत्र चारिहुँ खँड भूजा॥
सौहँ न निरखि जाइ ओहि पाहीं। सबै नवहिं कै दिस्टि तराहीं॥
मनि माँथें ओहि रूप न दूजा। सब रुपवंत करहिं ओहि पूजा॥
हम अस कसा कसोटी आरसि। तहूँ देखु कंचन कस पारस॥
पातसाहि ढीली कर कत चितउर महँ आव।
देखि लेहि पदुमावति हियँ न रहै पछिताव॥५६८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सूर्य सदृश शाह को देखकर वे नक्षत्र रूपी दासियाँ जहाँ शशि पद्मावती थी, वहाँ झिलमिलाई या पहुँची। उन्होंने पद्मावती से कहा कि जिस दिल्ली सुलतान के बारे में हम सुना करती थीं, उसे आज हमने देखा। वह सूर्य की भाँति तपता है। उसका छत्र या शासन संसार में सर्वोच्च एवं महान है। संसार में जितनी छाँह है वह उसी छत्र की छाया है। वह अपने तख्त पर बैठकर गर्व-गौरव से गरजता है। वह चारों भूखण्डों में एकछत्र राज-भोग करता है। उसको सामने होकर नहीं देखा जाता। सब उसके आगे नीची नज़र किये झुके खड़े रहते हैं। उसके ललाट पर मणि चमकती है या उसका मणि ललाट है। उसके से रूप का कोई समकक्षी नहीं है। सारे स्वरूपवान उसकी पूजा करते हैं। किन्तु हम जैसी तुच्छ-जीवा तो कसौटी पर काँच ही परख पाती हैं। हे रानी पद्मावती, तू स्वयं पारसमई है,

अतः स्वयं जाकर परख कि वह स्वर्ण खरा है, या खोटा !

दिल्ली का बादशाह भला फिर चित्तौड़ में किसलिये आएगा ? हे पद्मावती, तू भी देख ले, कहीं बाद में उसे न देखने का पश्चाताप ही बना न रह जाय।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(५६६)

बिगसि जो कुमुद कहँ ससि ठाऊँ। बिगसा कँवल सुनत रबि नाऊँ ।।
भै निसि ससि धौराहर चढ़ी। सोरह करा जैसि बिधि गढ़ी ।।
बिहँसि झरोखें आइ सरेखी। निरखि साहि दरपन महँ देखी ।।
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना ।।
रुख माँगत रुख तासौं भएऊ। भा सह मांत खेल मिटि गएऊ ।।
राजा भेदु न जानै झाँपा। भै बिख नारि पवन बिनु काँपा ।।
राघौ कहा कि लाग सुपारी। लै पौढावहु सेज सँवारी ।।
रैंनि बिहानी भोर भा उठा सूर तब जागि।
जौं देखै ससि नाहीं रही करा चित लागि ।।५६६।।

भावार्थ—कुमुदिनी रूपी दासियों ने सहर्ष खिलकर शशि-रूपी पद्मावती के समीप शाह के तप तेज की बात कही तो सूर्य या शाह का नाम सुनकर कमल रूपी पद्मावती हर्ष से विकसित हो गई। (यहाँ शशि और कमल दोनों उपमान पद्मावती के लिये ही प्रयोग में आए हैं। कुमुदिनी सदृश दासियों के लिये उसे शशि कहना उचित है, क्योंकि शशि को देखकर ही वे खिलती हैं। और सूर्य सदृश शाह के लिये उसे कमल कहना उचित है क्योंकि सूर्य को देखकर ही कमल खिलता है।) पद्मावती ने सहज स्वभाव से दासियों की बात मानकर शाह को देखना स्वीकार कर लिया। रात हुई, शशि-पद्मावती धवलगृह पर चढ़ी। पूर्ण शृंगार सज्जित वह ऐसी सुन्दर प्रतीत हो रही थी मानो सोलह कलाओं से पूर्ण, विधाता ने उसे चन्द्र सदृश बनाया है। ज्योंही हँसते हुए वह सुन्दरी झरोखें पर आई कि तत्काल शाह ने उसे शीशे में देख लिया। उस पारसमई के दर्शन होते ही शाह के लिये सब कुछ लावण्यमय हो गया। पृथ्वी से आकाश तक सब कुछ स्वर्ण ही स्वर्ण हो गया। वह मिथ्या शतरंज की चाल का रुख माँगता था और अब उसके लिये पद्मावती का ऐसा दिव्य रुख हो गया ! उससे शाह की मात हो गई और खेल समाप्त हो गया। शाह अचेत हो गया। राजा यह गुप्त रहस्य नहीं जान पाया। शाह को उस विषमई नारी के स्वरूप का मधुर विष चढ़ गया। अतः वातरोग के बिना भी उसे कँपकपी आ रही थी। शाह की यह विषम दशा देखकर राघव चेतन ने कहा कि शाह के गले में पान की सुपारी अटक गई है। सजी हुई सेज पर ले जाकर इन्हें लिटा दो।

रात व्यतीत हुई, सवेरा हुआ और तब शाह जागकर उठा। उसने देखा कि शशि पद्मावती वहाँ नहीं थी। फकत उसकी कला-सुन्दरता चित्त पर चढ़ी हुई थी।

विशेष—इस पद की **"राजा भेदु न जानै झाँपा। भै बिख नारि पवन बिनु**

काँपा।" उक्ति में सूफियाना "मोहब्बत" की अभिव्यंजना स्पष्ट है। मोमिन (प्रणयी) की नफ्स (वासना) की परिणिति प्रायः इसी प्रकार होती है। यहाँ उसी दशा की भावना व्यक्त करना जायसी का आशय है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५७०)

भोजन पेम सो जान जो जेंवा। भँवर न तजै बास रस केवा॥
दरस देखाइ जाइ ससि छपी। उठा भान जस जोगी तपी॥
राघौ चेतन साहि पहँ गएऊ। सूरुज देख कँवल बिख भएऊ॥
छत्रपती मन कहाँ पहूँचा। छत्र तुम्हार गँगन पर ऊँचा॥
पाट तुम्हार देवतन्ह पीठी। सरग पतार रैनि दिन डीठी॥
छोह त पलुहै उकठा रूखा। कोह त महि सायर सब सूखा॥
सकल जगत तुम्ह नावै माँथा। सबकी जियन तुम्हारे हाथा॥
दिन न नैन तुम्ह लावहु रैनि बिहावहु जागि।
अब निचिंत अस सोए काहे बेलँब असि लागि॥५७०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

जो भोगता है, वही प्रेम के भोजन का महत्व जानता है। कमल के रस और उसकी सुगन्ध को एक बार पाकर फिर भौंरा उसे नहीं छोड़ता। अलाउद्दीन को दर्शन देकर शशि पद्मावती जाकर छिप गई। सूर्य सदृश शाह इस प्रकार उठा जैसे योगी तप करके उठता है। राघव चेतन शाह के पास गया। वह बोला—हे शाह, यह क्या बात है कि कमल या पद्मावती को देखकर सूर्य को विष का असर हो गया? हे छत्रपति, तुम्हारा मन कहाँ पहुँच गया? तुम तो महान हो, तुम्हारा छत्र तो गगन से भी ऊँचा है। देवताओं की पीठ पर तुम्हारा सिंहासन रखा है। इसलिये दिन-रात, तुम्हारी दृष्टि स्वर्ग और पाताल को भली-भाँति जाँचती रहती है। तुम्हारी स्नेह-दृष्टि से तो सूखा पेड़ भी पल्लवित हो सकता है। तुम्हारे क्रोध से पृथ्वी एवं सागर में जो कुछ है, वह सूख सकता है। सारा विश्व तुम्हारे समादर में सिर झुकाता है,—तुम्हें बंदना करता है। चराचर का जीवन तुम्हारे हाथ में है।

हे शाह, तुम तो सल्तनत के काम में रात-दिन को पलकें नहीं झँपाते थे और सारी रात जागते-जागते व्यतीत करते थे। किन्तु अब क्या हो गया कि तुम ऐसे बेफिक्र सोए हो? तुम्हें ऐसा आलस्य क्यों आ गया है?

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५७१)

देखि एक कौतुक हौं रहा। अहा अँतरपट पै नहिं अहा॥
सरवर एक देख में सोई। अहा पानि पै पानि न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा। अहा धरति पै धरति न आवा॥

तेहि महँ है पुनि मंडप ऊँचा। करहि अहा पै कर न पहूँचा॥
तेहि मंदिल मूरति मैं देखी। बिनु तन बिनु जिय जियै बिसेखी॥
जान सँपूरन जन होइ तपी। पारस रूप दरस दै छपी॥
अब जहँ चित्र बसै जिउ तहाँ। भान ममावस पावै कहाँ॥
बिगसा कमल सरग निसि जनहुँ लौंकि गा बीजु।
यहौ राहु भा भानहि राघहु मर्नाहि पतीजु॥५७१॥

भावार्थ——पूर्व पद के प्रसंग क्रम में——

राघव चेतन के उत्तर में शाह बोला,——मैं एक कौतुक होते हुए देख रहा था। मैं देख रहा था कि एक आवरण (चिलमन) सा था और नहीं भी था। यहाँ सुन्दर रहस्यवादी ढंग से परमतत्व और जीवात्मा के मध्य जो माया का आवरण पड़ा है उसका दिग्दर्शन जायसी ने इस आशय के माध्यम से किया है कि दर्पण में अलाउद्दीन पद्मावती को देख भी रहा था और नहीं भी। यह रहस्यवादी तत्व दर्शन हमारे उपनिषदों में इतस्ततः बिखरा पड़ा है। श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल द्वारा उधृत गीता का उदाहरण दे रहा हूँ——

आश्चर्यवत्पश्चति कश्चिदेन भाश्चर्य वद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्य वच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिन॥

(गीता २।२९)

× × ×

आगे अलाउद्दीन राघव चेतन से कह रहा है——उस कौतुक में मैंने एक सरोवर भी देखा। उसमें जल तो था पर पीने योग्य नहीं। आकाश आकर पृथ्वी पर छाया हुआ था। वह पृथ्वी पर आया तो था किन्तु वास्तव में आया हुआ नहीं था। उस आकाश में एक ऊँचा मंडप दृष्टिगत हुआ। वह हाथ से पकड़ा-छुआ जा सकता था किन्तु उस तक वस्तुतः हाथ नहीं पहुँच पाता था। उस मंडप या मंदिर में मैंने एक मूर्त्ति देखी। लगता था कि वह बिना शरीर और प्राण के ही जी रही थी। वह पूर्णचन्द्र की भाँति कान्तिमई लगती थी। वह अपने दिव्य, पारस तुल्य रूप का दर्शन देकर छिप गई। अब वह चित्र अथवा बिम्ब जहाँ निवास करता है वहीं मेरा जीव है। अब तो अमावस है, सूर्य को राहु ने ग्रस रक्खा है——अतः उस पूनम के चाँद से मिलन कैसे हो सकता है?

शाह ने कहा कि हे राघव चेतन, रात आकाश में मैंने एक खिला हुआ कमल देखा। मानो मेरे समक्ष चंचला कौंध गई हो। बस, यही सब कुछ मुझ सूर्य के लिये, राहु अथवा दुख हो गया है। हे राघव, मेरे इस कहे हुए कौतुक पर तुम विश्वास करो।

विशेष——प्रस्तुत पद में रहस्यवादी-अद्वैतवादी अभिव्यंजना विशिष्ट हुई है। यह पद वस्तुतः चेतन की सिद्धि का ज्ञानतत्व-शोधक प्रमाण (Epistemological argument) प्रस्तुत करता है। दर्शन में ईश्वर की यह प्रतिभासिक अनुभूति स्वप्नवत (Hallucination or projection) कही गई है। जायसी ने पद्मावती का चित्रण इसी आशय से किया है। तुलसीदास ने भी इसी प्रकार की ईश्वर सम्बन्धी प्रतिभासिक

अनुभूति का प्रकाशन यों किया है—

"पद बिनु चले सुने बिनु काना।
कर बिन कर्म करे बिधि नाना।।"

तुलसी के इस पद-कौतुक की अभिव्यंजना का सूक्ष्म प्रकाशन जायसी के कौतुक-वाद से मूलतः साम्य रखता प्रतीत होता है।

शब्दार्थ—सरल है।

(५७२)

अति विचित्र देखेऊँ सो ठाढ़ी। चित कै चित्र लीन्ह जिय काढ़ी।।
सिंघ की लंक कुंभस्थल जोरू। अंकुस नाग महावत मोरू।।
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिरि अलि लीन्ह पुहुप रस बासू।।
दहुँ खंजन बिच बैठेउ सुवा। दुइज क चाँद धनुक लै उवा।।
मिरिग देखाइ गगन फिरि किया। ससि भा नाग सुरुज भा दिया।।
सुठि ऊँचे देखत औचका। दिस्टि पहुँचि कर पहुँचि न सका।।
भुजा बिहूनि दिस्टि कत भई। गहि न सकत देखत वह गई।।
राघौ आवौ होत जौं कत आछत जियँ साघ।
ओहि बिनु आघ बाघ बर सकै त लै अपराध।।५७२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

शाह ने राघव चेतन से कहना जारी रक्खा—मैंने उसे विलक्षण रूप में खड़े देखा। उसने अपनी चितवन से अपना सौन्दर्य-चित्र मेरे अंदर प्रविष्ट कर मेरा हृदय निकाल लिया। उसकी कमर सिंह की जैसी थी जिस पर हाथी के कुम्भस्थलों या उरोजों का जोड़ा था। ऊपर मोर रूपी महावत सर्प रूपी अंकुश लिये है। आशय है कि पद्मावती के कुच-रूपी कुम्भस्थल पर मयूर रूपी गर्दन पर अलक रूपी भुजंग लोटता था (रूपक अलंकार है)। उसके ऊपर उसका मुख-कमल खिला हुआ है। भौंरे फिर-फिरकर उस कमल मुख की सुगन्ध और उसका रसपान कर रहे हैं—आशय है कि उसकी काकुलें बिखरी हुई हैं। दो खंजनों अर्थात् नेत्रों के मध्य सुग्गा अर्थात् नाक स्थित है एवं द्वितीया का चन्द्र धनुष लेकर प्रकाशित है। अर्थात् चन्द्र रूपी ललाट पर धनुष-रूपी भौंहें शोभित हैं। मृग अर्थात् चितवन दिखाकर वह घूमकर चल दी। तब उसका मुखचन्द्र परिवर्तित होकर नाग अर्थात् वेणी बन गया। और सूर्य रूपी शाह इससे दीपक सा मंद पड़ गया। उसे उस अचानक अति ऊँची स्थिति में देखकर दृष्टि ही उस तक पहुँच पाई, हाथ न पहुँच सका। शाह पश्चात्ताप करता है कि बिना भुजाओं के दृष्टि क्यों हुई कि वह देखते-देखते चली गई और दृष्टि उसे पकड़कर न रख सकी।

हे राघव, यदि मैं उससे परितृप्त हो जाता तो उसके प्रति मेरे मन में अदम्य इच्छा क्यों बनी रहती! उसके अभाव में मुझे यदि सिंह सूंघ ले तो अच्छा हो। यदि हो सके, तो हे राघव, तू ही यह अपराध अपने सिर पर ओढ़कर मुझे सिंह के सामने डाल दे।

विशेष—प्रस्तुत पद में पद्मावती का नख-शिख श्रृंगार वर्णन ऊहात्मक पद्धति पर किया गया है। कविवर सूरदास ने भी राधा का श्रृंगार वर्णन कुछ ऐसा ही किया जैसा जायसी ने अपने इस पद में किया है। तुलनात्मक दृष्टि रखने के लिये सूरदास का यह पद पठनीय है—

राधा के चीरहरण प्रसंग में—

अद्भुत एक अनुपम बाग।

× × ×

जुगल कमल पर गजवर क्रीड़ित, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग॥
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहु पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृदमद काग॥
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग॥

स्पष्ट है कटि, नेत्र एवं लट आदि उपमेय की उपमा में सिंह, खंजन एवं नाग आदि उपमान एक समान प्रयोग में लाए गए हैं। इससे कविवर जायसी के कलापक्ष का चमत्कार पूर्णतः ज्ञातव्य है।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(५७३)

राघौ सुनत सीस भुइँ धरा। जुग-जुग राज भान कै करा॥
ओहि करा और रूप बिसेखी। निस्चै तुम्ह पदुमावति देखी॥
केहरि लंक कुंभस्थल हिया। गीवँ मंजूर अलक रबि दिया॥
कँवल बदन औ बास समीरू। खंजन नैन नासिका कीरू॥
भौहैं धनुक ससि दुइज लिलाटू। सब रानिन्ह ऊपर वह पाटू॥
सोई मिरिग देखाइ जो गएउ। बेनी नाग दिया चित भएऊ॥
दरपन महँ देखी परिछाँहीं। सो मूरति जेहि तन जिय नाहीं॥
सबहि सिंगार बनी धनि अब सोई मत कीज।
अलक जो लगुने अधर कें सो गहि कै रस लीज॥५७३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

शाह की बात सुनकर राघव चेतन ने पृथ्वी पर मत्था टेका और कहा कि हे सूर्य के सदृश प्रतापी, आपका शासन युग-युग रहे। हाँ, उसी पद्मावती के स्वरूप का, उसकी काँति का तुमने निश्चय वर्णन किया है; जो मैंने तुमसे पूर्व कहा था। अवश्य तुमने पद्मावती को देखा है। सिंह की-सी कमर कुंभस्थल से उरोज··यह उसीका स्वरूप है। उसकी गर्दन मयूर के जैसी है; और उसकी अलकें ऐसी ही जहरीली नागिन हैं कि जिन्होंने सूर्य-शाह को भी स्वत्वहीन कर दिया है। उसका कमल जैसा मुख है और उस मुख-कमल से गंधयुक्त श्वास-

प्रश्वास का आवागमन होता रहता है। उसके नेत्र खंजन हैं, नासिका शुक है; धनुष भौंहें हैं एवं द्वितीया का चन्द्र जैसा सुंदर उसका ललाट है। वह सब रानियों की पटरानी है। जाते समय जो हरिण उसने दिखलाया वह उसके नेत्रों का ही क़ातिल-कटाक्ष था। उसके घूमते हुए जो नाग दीखा है, वह उसकी वेणी ही है। तुमने दर्पण में जिसका प्रतिबिम्ब देखा, वह सूक्ष्म मूर्त्ति वही पद्मावती की मूर्त्ति है जिसके न तुमने शरीर को देख पाया और न प्राणों को। (पहले यह बात अलाउद्दीन पद संख्या ५७१ में कह चुका है। उसी का प्रतिपादन यहाँ राघव ने किया है।)

राघव आगे कहता है कि हे शाह, किंतु वास्तव में वह सुन्दरी समस्त शृङ्गारों से सज्जित थी। अब तुम यही बात ठीक मानो। वह वही लौकिक सुंदरी है जिसकी अलकें थामकर अधरों के पास होकर रसपान किया जा सकता है।

विशेष—इस पद की अन्तिम पंक्तियों से सबसे बड़ी बात यह स्पष्ट होती है कि कविवर जायसी सूक्ष्मतः तो अध्यात्म-रहस्यवाद का भाव-दर्शन प्रकट करते जाते हैं, किन्तु लौकिक दृष्टि मे उनका कथानक लौकिक ही है, पात्र भी लौकिक हैं, शृंगार वर्णन भी लौकिक है। दूसरी ओर यह अनुक्रम इश्क मिजाजी से इश्क हकीकी का एक घुमाव है।

शब्दार्थ—कठिन नहीं।

●

४७--रत्नसेन बन्धन खण्ड

(५७४)

मत भा माँगा बेलि बेवानू। चला सूर सँवरा अस्थानू॥
चलन पंथ राखा जो पाऊ। कहाँ रहन थिर कहाँ बटाऊ॥
पंथिक कहाँ कहाँ सुस्ताई। पंथ चलें पै पंथ सिराई॥
छर कीजै बर जहाँ न आँटा। लीजै फूल टारि कै काँटा॥
बहुत मया सुनि राजा फूला। चला साथ पहुँचावै भूला॥
साहि हेतु राजा सौं बाँधा। बातन्ह लाइ लीन्ह गहि कांधा॥
घिउ मधु सानि दीन्ह रस सोई। जो मुख मीठ पेट बिख होई॥
अमिअ बचन औ मया को न मुएउ रस भीजि।
सतए मरैं जौं अंम्रित कत ताकहँ बिख दीजि॥५७४॥

भावार्थ—शाह के चित्तौड़ से दिल्ली रवाना होने के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं कि—

शाह के जाने का निश्चय हो गया और शीघ्र विमान मंगवाया गया। शाह ने

अपनी दिल्ली का स्मरण किया और प्रस्थान किया। कविवर जायसी कहते हैं कि जिसने प्रस्थान के मार्ग पर पाँव रख दिया हो फिर उस राही का राह पर स्थिर रहना कहाँ ? कहाँ राही और कहाँ फिर उसका विश्राम। मार्ग तो चलते-चलते ही तै हो पाता है। जहाँ बल काम न आए वहाँ कपट से काम बनाना चाहिये। बुद्धिमान को काँटा बचाकर फूल चुन लेना चाहिये। शाह की कृपा युक्त बातें सुनकर राजा को मन में प्रसन्नता हुई। भूला-भूला सा होकर वह शाह को पहुँचाने, विदा देने के लिये साथ हो लिया। शाह ने सस्नेह राजा को बातों में लगाकर उसका कन्धा हाथों से पकड़ लिया। शाह ने राजा को घी और शहद मिलाकर ऐसा रस दिया था कि जिससे मुँह तो मीठा हुआ किन्तु पेट में पहुँचकर वह विष तुल्य, मारने वाला बन गया।

कविवर जायसी कहते हैं कि अमृत जैसे मीठे वचनों की दया पाकर उसके रस में डूबकर, कौन नहीं मरा ? यदि बैरी अमृत देकर ही मारा जाए तो उसे विष क्यों दिया जाय ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५७५)

एहि जग बहुत नदी जल जूड़ा। कौन पार भा को नहिं बूड़ा॥
को न अंध भा आँखि न देखा। को न भएउ डिठियार सरेखा॥
राजा कहँ बियाधि भै माया। तजि कबिलास परे भुइँ पाया॥
जेहिं कारन गढ़ कीन्ह अँगूठी। कत छाँड़ै जौं आवै मूँठी॥
सतुरुहि कोउ पाव जौं बाँधी। छाँड़ि आपु कहँ करै बियाधी॥
चारा मेलि धरा जस माँछू। जल हुँति निकसि सकति मुव काछू॥
मंत्रन्ह नाग पेटारें मूँदा। बाँधा मिरिग पैगु नहिं खूँदा॥
राजा धरा आनि कै औ पहिरावा लोह।
अँस लोह सो पहिरै जो चेत स्यामि कहँ दोह॥५७५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार ही कविवर जायसी कहते हैं—

इस संसार सागर में बहुत सी नदियों का जल मिला है। कौन इससे पार हुआ है ? कौन इसमें नहीं डूबा है। कौन इस संसार के भ्रम में आँख से न देखकर अन्धा नहीं हुआ ? यहाँ जिसने अपनी आँखों से देखा, वह कौन चतुर नहीं हो गया ? शाह की वह कपट-कृपा अन्धे राजा के लिये कष्ट का कारण बन गई। वह अपना स्वर्ग जैसा गढ़ छोड़-कर पृथ्वी पर आ गिरा। शाह ने जिस रत्नसेन के लिये वह गढ़ घेरकर क़ैदखाना (अँगूठी) बना रक्खा था; जब वही राजा रत्नसेन उसकी मुट्ठी में दब गया तो वह उसे क्यों छोड़े ? यदि कोई बैरी को अपने कब्ज़े में कर ले तो उसे मुक्त करके अपने लिये विपत्ति पैदा करता है। शाह ने लोभ-स्नेह का चारा डाकर मछली की तरह रत्नसेन को फँसा लिया। जल से बाहर आने पर कछुए को उसका बल छोड़ देता है। आशय है कि गढ़ से बाहर आकर राजा रत्नसेन जल विहीन कछुए की भाँति निर्बल हो गया था। जिस प्रकार मंत्र

से साँप को पिटारे में बन्द किया जाता है, उसी प्रकार शाह ने राजा को अपनी बन्दिश में ले लिया था। शाह ने राजा रत्नसेन को हिरन की तरह इस प्रकार अपने चंगुल में फँसा लिया कि वह एक क़दम भी नहीं कूद सकता था; भागने की तो कौन चलाई ?

शाह ने राजा को क़ैदी बनाकर अपने यहाँ लाकर बेड़ी हथकड़ी पहना दीं। कविवर जायसी कहते हैं कि लोहे की ऐसी बेड़ी-हथकड़ी वही पहनता है जो स्वामी के प्रति विद्रोह की भावना रखता है।

शब्दार्थ—जूड़ा = मिला होना। डिठियारा = दृष्टि वाला। अँगूठी = क़ैदखाना। मेलि = डालकर। खूँदा = कूदना।

(५७६)

पायन्ह गाढ़ी बेरी परीं। साँकरि गीव हाथ हथकरीं।
औ धरि बाँधि मँजूसा मेला। अस सतुरुह जनि होइ दुहेला॥
सुनि चितउर महँ परा भगाना। देस देस चरिहुँ खंड जाना॥
आजु नराएन फिर जग खूँदा। आजु सिंघु मँजूसा मूँदा॥
आजु खसे रावन दस माँथा। आजु कान्ह कारी फन नाथा॥
आजु परान कंससेनि ढीला। आजु मीन संखासुर लीला॥
आजु परे पंडौ बँदि माहाँ। आजु दुसासन उपरी बाहाँ॥
आजु धरा बलि राजा मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अँथवा भा चितउर अँधियार॥५७६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राजा रत्नसेन के पाँवों में भारी बेड़ी, गर्दन में लोहे की साँकल या जंजीर एवं हाथों में हथकड़ी डाली गई, और कटघरे में बन्द कर दिया गया। कविवर जायसी कहते हैं कि हे भगवान, ऐसा दुख बैरी को भी न हो। राजा के क़ैदी होने का समाचार जानकर चित्तौड़ में भगदड़ पड़ गई। यह बात देश-देशान्तर एवं चारों खंडों में उड़ गई। अन्य राजों ने ऐसा अनुभव किया मानो परशुराम नारायण ने संसार को अपने पराक्रम से रोंद डाला हो। उन्होंने सोचा कि आज सिंह रत्नसेन को क़ैद में डाला गया है, कि आज रावण के दसों शिर कट गए हैं, कि आज कृष्ण ने काली नाग का फन नाथ दिया है, कि आज कंस ने अपना प्राण त्याग कर दिया है, कि आज मत्स्यावतारधारी विष्णु भगवान ने शंखासुर को निगल लिया है, कि पाँचो पान्डव दुर्योधन के बन्धन में या लाक्षाग्रह में हो गए हैं, कि आज दुःशासन की भुजा खंडित की गई है। और यह भी—

कि आज राजा बलि पकड़कर पाताल मे धँसा दिया गया है, कि आज दिन में ही सूर्य डूब गया है, कि चित्तौड़ में अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया हो।

विशेष—प्रस्तुत पद के वर्णन में कविवर जायसी ने कितनी सामर्थ्य किन्तु स्वाभाविकता से शक-सन्देह का चमत्कार वर्णन किया है। यह वर्णन उनके कलाकार की प्रौढ़-प्रतिभा का प्रमाण है।

शब्दार्थ--सरल हैं।

(५७७)

देव सुलेमाँ की बँदि परा। जहँ लगि देव सबहि सत हरा॥
साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना। जो जहँ सुतरु सो तहाँ बिलाना॥
खुरासान औं डरा हरेऊ। काँपा बिदर धरा अस देऊ॥
बिंधि उदैगिरि धवलागिरि। काँपी सिस्टि दोहाई फिरी॥
उवा सूर भै सामुहँ करा। पाला फूटि पानि होइ ढरा॥
डंडवै डाँड़ दीन्ह जहँ ताईं। आइ सो डँडवत कीन्ह सबाईं॥
दुंदि डाँड़ि सब सरगहि गई। पुहुमि जो डोल सो अस्थिर भई॥
पातसाहि ढीली महँ आइ बैठ सुख पाठ।
जिन्ह जिन्ह सीस उठाए धरती धरे लिलाट॥५७७॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग में--

वह देव या राजा रत्नसेन सुलेमान की क़ैद में पड़ गया तो, जहाँ तक दूसरे एकत्रित राजे थे उनका स्वत्व भी टूट गया; साहस जाता रहा। शाह ने राजा को पकड़कर प्रयाण कर दिया था। अतः जो शत्रु जहाँ पर था, भय से वहीं छिप गया। खुरासान और हेरात भयभीत हो गए। बीदर यह सोचकर काँप गया कि जब शाह ने रत्नसेन तक को क़ैदी बना लिया तो मेरी क्या दशा होगी! विन्ध्याचल-हिमालय तक सारी दुनिया भयभीत हो गई और शाह की दुहाई दी जाने लगी। सूर्योदय हुआ और उसकी रश्मियाँ सामने फैल गईं। पाला पिघलकर, पानी होकर बह गया। शाह या दण्डपति ने जहाँ तक राजों को आधीन करके उन पर खिराज या टैक्स लगाया उन राजों ने आकर उसे प्रणाम झुकाया। शाह की विजय-दुन्दुभी दण्ड देकर स्वर्ग तक सुनाई पड़ने लगी। पृथ्वी जो डोल गई थी, अब फिर स्थिर हो गई।

दिल्ली आकर बादशाह सुख से तख़्त पर बैठा। जिन्होंने उसकी अनुपस्थिति में सिर उठाया था, उन्होंने अब पराजित हो, धरती पर मत्था टेककर उसे प्रणाम झुकाया।

शब्दार्थ--पयाना=प्रस्थान। सतुरु=शत्रु, बैरी। बिलाना=छिप गया। उवा सूर=सूर्योदय हुआ। डँडवै=दंडपति। डाँड=खिराज या टैक्स।

(५७८)

हबसी बंदिवान जियबधा। तेहि सौंपा राजा अगिदधा॥
पानि पवन कहँ आस करेई। सो जिय बधिक साँस नहिं देई॥
माँगत पानि आगि लै धावा। मोंगरुहूँ एक आइ सिर लावा॥
पानि पवन तैं पिया सो पिया। अब को आनि देइ पापिया॥
तब चितउर जिय अहा न तोरें। पातसाहि है सिर पर मोरें॥
जबहि हँकारहि है उठि चलना। सो कत करौं होइ कर मलना॥
करौं सो मीत गाढ़ि बंदि जहाँ। पानि पवन पहुँचावै तहाँ॥

जल अंजुलि महँ सोवा समुँद न सँवरा जागि।
अब धरि काढ़ा मंछ जेउँ पानी माँगत आगि ॥५७८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

क़ैदखाने में क़ैदियों के ऊपर एक हबशी जल्लाद तैनात था। राजा रत्नसेन को उसी जल्लाद के हाथों में, अग्नि में जला देने के लिये सौंप दिया गया। राजा की मुसीबत थी कि वह पानी तो क्या साँस वायु लेने तक की आशा से हीन था। उसे इतनी स्वतन्त्रता कहाँ थी ? वह जल्लाद तो उसे साँस भी न लेने देता था। पानी माँगने पर वह राजा को जला देने के लिये आग लेकर दौड़ता था और आकर सिर में एक मोंगरी भी जड़ देता था। जल्लाद कहता, तू जो पानी और हवा पी चुका सो पी चुका। हे दुष्ट पापी, अब तुझे लाकर यह सब कौन दे ? तेरा कौन नौकर बैठा है यहाँ ? जब तू चित्तौड़ में था तब कभी तूने मन में यह न सोचा था कि मेरे सिर पर मुझसे बड़ा, मेरा शासक बादशाह भी है, कि जब वह मुझे बुलाएगा तो मुझे उठकर उसके पास जाना होगा, कि मैं ऐसा कुछ वह कैसे करूं जिससे बाद में पछताकर हाथ मलना पड़े ? तूने यह न सोचा कि उसे अपना मित्र बना लूँ ताकि वह कारागार में तुझे हवा-पानी पहुँचाता।

जल्लाद ने कहा, तू चुल्लू भर पानी में सोता रहा, तूने जाकर कभी सागर का ध्यान नहीं किया। आशय है कि तू अपने अभिमान में फूला-फूला रहा। शाह के बल की बात न सोच सका। अब, जब शाह ने मछली की तरह तुझे तेरे राज्य से निकालकर यहाँ क़ैदखाने में डाल दिया है तो अपनी करनी की सजा मे पानी माँगने पर तुझे आग मिलेगी।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखे।

(५७९)

पुनि चल दुइ जन पूँछै आए। ओहि सुठि दगध आए देखराए॥
तूं मर पुरी न कबहूं देखी। हाड़ जो बिथुरें देखि न लेखी॥
जाने नहिं कि होब अस महूं। खाजें खोज न पाउब कहूं॥
अब हम उतर देहि रे देवा। कवने गरब न माने सेवा॥
तोहि अस केत गाड़ि खनि मूंदे। बहुरि न निकसि बार कै खूंदे॥
जो जस हँसै सो तैसै रोवा। खेलि हाँसि एहि भुंइ पै सोवा॥
तस अपने मुँह काढ़ै धुवाँ। चाहसि परा नरक के कुँवा॥

जरसि मरसि अब बाँधा तैस लागि तोहि दोख।
अबहूँ मानु पदुमिनी जौं चाहसि भा मोख॥५७९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

तत्पश्चात् दो जन राजा के पास पूछने के लिए आए। उन्होंने आकर भयंकर आग मे उसे जला देने का भय दिखलाया। उन्होंने कहा, अरे ! क्या तूने कभी मरघट नहीं देखा ? वहाँ जो हड्डियाँ बिखरी हुई थीं, उन्हें देखकर भी तू मृत्यु को नहीं समझा ? क्या तूने नहीं जाना कि मैं भी ऐसा हो जाऊँगा ?—खोज करने पर भी कहीं पता न चलेगा ?

अरे देव, अब तू हमें उत्तर दे कि किस अभिमान से तू शाह की सेवा स्वीकार नहीं करता ? (सम्भवतः ये जन कूट दूत थे जो राजा को पद्मावती देने के लिये उकसा-डरा रहे थे। उस काल में यह प्रथा प्रचलित थी।) आगे उन दो जनों ने राजा से कहा, अरे! तुझ जैसे कितनों को शाह ने गढ़ा खुदवा कर गाड़ दिया। जो गाड़ दिये गये उन्होंने फिर बाहर आकर अपना घर द्वार नहीं देखा। जो जितना जैसे हँसता है, उसे उतना वैसे ही रोना भी पड़ता है। हँस-खेलकर अन्त में वह इसी भूमि पर सो जाता है, मर जाता है। तू जो अपने मुँह से घमंड का धुआँ निकालता था, उसके फलस्वरूप तू नरक-कूप में डाला जाना चाहिये।

तेरा दोष ही ऐसा था जो अब तू क़ैद में पड़ा जल-मर रहा है। यदि तू अपनी मुक्ति चाहता है तो अब भी मान जा;—पद्मिनी शाह को दे दे!

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(५८०)

पूँछेन्हि बहुत न बोला राजा। लीन्हेसि चूपि मीचु मन साजा॥
खनिगड़ ओबरी मँह लै राखा। निति उठि दगध होंहि नौ लाखा॥
ठाउँ सो साँकर औ अँधियारा। दोसरि करवट लेइ न पारा॥
बीछी साँप आनि तहँ मेले। बाँका आनि छुवावहिं हेले॥
दहकहिं सँडसी छूटहि नारी। राति देवस दुख गंजन भारी॥
जो दुख कठिन न सहा पहारू। सो अँगवा मानुस सिर भारू॥
जो सिर परै सरै सो सहै। कछु न बसाइ काहु के कहै॥
दुख जारै दुख भूँजै दुख खोवे सब लाज।
गाजहि चाहि गरुव दुख दुखी जान जेहि बाज॥५८०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

उन दोनों जन ने राजा से बहुत कुछ कहा—पूछा; किन्तु राजा मौन रहा। वह मौत की स्वीकृति मन में धारण करके चुप्पी साधे रहा। फलस्वरूप क़ैदी को दुख दी जाने वाली संकीर्ण कोठरी में ले जाकर उसे रक्खा गया। प्रतिदिन उसके शरीर में नौ घावों के निशान दाग़े जाते थे। उस कोठरी में अन्धेरी एवं तंग जगह थी। रत्नसेन उसमें दूसरी करवट भी न ले सकता था। वहाँ बिच्छू और साँप लाकर छोड़ दिय गये। डोम अर्थात् 'हेले' उसके तन में तिरछा चाकू चुभाते थे। दहकती सँडासियों के दग़ने से राजा की नाड़ियाँ फटने लगतीं। रात-दिन क़ैद के भारी अपमान और दुख को सहन करना पड़ता था। जो पहाड़ सा कठिन दुःख कभी नहीं सहा था उसका बोझ उस बिचारे मनुष्य को सहन करना पड़ रहा था। कविवर जायसी कहते हैं कि जो दुःख जिसके सिर पर पड़ता है, उसे सहना ही पड़ता है। किसी के कहने, चिल्लाने, चीख़ने से कुछ वश नहीं चलता।

दुख बड़ा निर्दयी होता है—वह मनुष्य को जलाता है, भूनता है, और उसकी समस्त लज्जा को गँवा देता है। दुःख बज्र से भी अधिक भारी है। जिस दुखी पर वह पड़ता

है वही उसे जानता है।

विशेष—शाही काल में अपराधी को दण्ड देने का जो तौर-तरीक़ा था वह प्रस्तुत पद में चित्रवत है। अन्त में दुख की परिभाषा अत्यन्त लोक सम्मत है। यहाँ बुद्ध का दार्शनिक दुखवाद न होकर वरन यथार्थ जगत में मनुष्य को जो गुरुतर दुख आए दिन झेलने पड़ते हैं—अकेले भोगने पड़ते हैं—जायसी ने एक भुक्तभोगी की भाँति उसका मार्मिक चित्रण किया है। अतः अन्तिम पंक्तियों में सहज-स्मरणीयता का गुण आ गया है।

शब्दार्थ—भावार्थ में देखें।

•

४८--पद्मावती नाममती विलाप खण्ड

(५८१)

पदुमावति बिनु कंत दुहेली। बिनु जल कँवल सूखि जसि बेली॥
गाढ़ी प्रीति पिय मो सों लाए। ढीली जाइ निचित होइ छाए॥
कोइ नवहुरा निबहुर देसू। केहि पूछौं को कहै सँदेसू॥
जो गौनै सो तहाँ कर होई। जो आवै कछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे जाइ सो बहुरि न आवा॥
कुँआ ढार जल जैस बिछोवा। डोल भरें नैनन्ह तस रोवा॥
लेंजुरि भई नाँह बिनु तोही। कुवाँ परी धरि काढ़हु मोही॥
नैन डोल भरि ढारें हिएँ न आगि बुझाइ।
घरी घरी जिउ बहुरै घरी घरी जिउ जाइ॥५८१॥

भावार्थ—राजा रत्नसेन के अलाउद्दीन द्वारा क़ैदी हो जाने पर उसकी रानी पद्मावती एवं नागमती का विरह-विलाप वर्णन करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं—

पद्मावती अपने पति रत्नसेन के अभाव में इस प्रकार दुखी और चितत हुई कि जैसे बिना जल के कमल की बेल सूखने लगती है। वह सोचती है, हाय, प्रियतम की मुझसे गहरी प्रीति थी किंतु अब वह दिल्ली पहुँचकर वहाँ निश्चिन्त होकर बस गए हैं। दिल्ली ऐसा देश है कि वहाँ जाकर कोई वापिस नहीं लौटा। किससे पूछूँ, कौन वहाँ सन्देश लेकर जाय? जो भी वहाँ जाता है बस वहीं का हो रहता है। और जो भी आता है, वह अनजान सा बना हुआ आता है। वह अज्ञात मार्ग है जिस पर प्रियतम गए हैं। जो उस मार्ग पर जायगा फिर वापस लौटकर न आयेगा। कुँआढार या ढॅलवा कूप-जगत से जिस प्रकार डोल से पानी ढुलकता है उसी प्रकार भरे हुए डोल की तरह पद्मावती की आँखें रो रही थीं, आँसू ढरक रहे थे। वह पुकारती थी, हे प्रियतम! तेरे बिना मैं रस्सी सी दुबली-पतली होगई हूँ।

मैं दुख-कूप में पड़ी हूँ। आओ, और मुझे पकड़कर उससे बाहर निकालो।

कविवर जायसी कहते हैं कि पद्मावती नेत्र रूपी डोलों को अश्रु जल से भर-भर कर रीता कर रही थी। किंतु उसके हृदय की आग नहीं बुझ पाती थी। एक घड़ी में प्राण निकलते थे और लौट आते थे।

शब्दार्थ—दुहेली=दुख में। ढीली=दिल्ली। बहुरा=लौटा। निबहुर देसू=ऐसा देश जहाँ से कोई फिर न लौट कर आ पाए, यहाँ यमलोक से भी तात्पर्य हो सकता है। लेंजुरि=रस्सी। कुँआढार=कूएँ का ढलवाँ स्थान, या उसकी जगत जहाँ से पानी बहकर निकलता है।

(५८२)

नीर गँभीर कहाँ हो पिया। तुम बिनु फाट सरोवर हिया॥
गएउ हेराइ बिरह के हाथा। चलत सरोवर लीन्ह न साथा॥
चरत जो पंछि केलि कै नीरा। नीर घटै कोउ पाव न तीरा॥
कँवल सूख पँखुरी बिहरानी। कन कन होइ मिलि छारि उड़ानी॥
बिरह रेति कंचन तनु लावा। चून चून कै खेह मिलावा॥
कनक जो कनकन होइ बिहराई। पिय पे छार समेटै आई॥
बिरह पवन यह छार सरीरू। छारहु आनि मिला वहु नीरू॥
अबहुँ मया कै आइ जिहावहु बिधुरी छार समेटि।
नव अवतार होइ नइ काया दरस तुम्हारें भेंटि॥५८२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—किन्तु पद से यह स्पष्ट नहीं कि यह विलाप पद्मावती का है अथवा नागमती का पं० रामचन्द्र शुक्ल की ग्रंथावली में पद संख्या ८३ के बाद तीन पद नागमती विलाप के और दिये गए हैं। किन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त उन्हें क्षेपक मानते हैं। श्री अग्रवाल जी ने भी अपने पद्मावत ग्रंथ में उन्हें नहीं दिया। वस्तुतः मुझे भी उन पदों के भावार्थ में जायसी की निश्च्छल आत्मानुभूति की तीव्रता (Intensity) प्रतीत नहीं हुई। पूर्वोक्त तीन पदों में निश्चय ही जायसी का पीड़ायुक्त मर्म बोलता है। अस्तु—

हे गम्भीर जल या सागर के तुल्य प्रियतम, तुम कहाँ हो? तुम्हारे बिना मेरा हृदय सरोवर फटा जा रहा है। तुम विरह के हाथों गुम कर दिए गए हो। जाते हुए, तुम मुझ सरोवर को भी अपने साथ ही क्यों न ले गए? जो पक्षी जल में क्रीड़ा करते थे, अब जल के घट जाने से कोई तट पर नहीं फटकता। कमल सूख चला और उसकी पँखुड़ियाँ झर गई और कण-कण होकर धूल में मिलकर उड़ गईं। विरह की रेत, स्वर्ण जैसे शरीर पर लग गई है। वह रेत तन को चूरा-चूरा करके मिट्टी में मिला रहा है। हे प्रियतम, यदि मेरे शरीर का स्वर्ण कण-कण होकर बिखर जाय—तो एक बार तुम राख समेटने के लिये अवश्य आना। विरह पवन है, यह शरीर छार है। हे प्रियतम, आकर, आँसुओं का पानी मिला-मिलाकर मेरी राख को छानना और सोना निकालना।

हे प्रियतम, अब भी दया करके आ जाओ और मेरी बिखरी राख को समेटकर मुझे जीवित करो। तुम्हारे दर्शन पाकर फिर से मुझे नया जन्म और नया तन मिल जायगा।

शब्दार्थ—हेराइ=गुम होना। बिहरानी=झर जाना। खेह=रेत, मिट्टी।

(५८३)

नैंन सीप मोंतिन्ह भरि आँसू। टुटि टुटि परहिं करैं तन नाँसू॥
पदिक पदारथ पदुमिनि नारी। पिय बिनु भै कौड़ी बर बारी॥
सँग लै गएउ रतन सब जोती। कंचन कया काँचु भै पोती॥
बूड़ति हौं दुख उदधि गँभीरा। तुम्ह बिनु कंत लाव को तीरा॥
हिएँ बिरह होइ चढ़ा पहारू। जल जोबन सहि सकै न भारू॥
जल महँ अगिनि सो जान बिछूना। पाहन जरैं होइ जरि चूना॥
कवने जतन कंत तुम्ह पावौं। आजु आगि हौं जरत बुझावौं॥
कवन खंड हौं हेरौं कहाँ मिलहु हो नाहँ।
हेरें कतहु न पावौं बसहु तौ हिरदै माहँ॥५८३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

नेत्र रूपी सीपियों में मोतियों जैसे आँसू भर-भर आते हैं। वे टूट-टूटकर गिरते हैं और शरीर अपने को नष्ट कर रहा है। पद्मिनी नारी श्रेष्ठ हीरे जैसी थी, किंतु प्रियतम के बिना वह कौड़ी के मोल सी तुच्छ होगई थी। वह रत्नसेन उसकी सब ज्योति अपने संग में लेगया। उसका कंचन तन काँच का तुच्छ मोती होगया। पद्मावती कहती है, मैं दुख के गहरे सागर में डूब रही हूँ। हे स्वामी, तुम्हारे बिना मुझे कौन पार पर लगाएगा? पहाड़ बनकर विरह हृदय के ऊपर चढ़ा बैठा है। जल सदृश मेरा यौवन उसका बोझ सहने में असमर्थ है। वियोगी ही जल में प्रज्वलित आग को जान सकता है। उस आग से पत्थर जलकर चूना हो जाता है। हे प्रियतम, किस युक्ति से तुम्हें पाऊँ? तुम्हें पाऊँ तो आज ही इस जलती हुई विरहाग्नि को बुझा दूँ।

हे प्रियतम, किस स्थल पर तुम्हें खोजूँ; तुम कहाँ मिलोगे? ढूँढने पर तुम्हें कहीं नहीं पाती, किंतु तुम मेरे हृदय में ही तो रमे हुए हो!

शब्दार्थ—सरल हैं।

४९--देवपाल दूती खण्ड

(५८४)

कुंभलनेरि राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय सालू।।
ओइँ पुनि सुना कि राजा बाँधा। पाछिल बैर सँवरि छर साँधा।।
सतुरु साल तब नेवरै सोई। जौ घर आव सतुरु कै जोई।।
दूती एक बिरिध ओहि ठाऊँ। बाँभनि जाति कमोदिनि नाऊँ।।
ओहि हँकारि कै बीरा दीन्हा। तोरे बर मैं बर जिय कीन्हा।।
तूँ कुमुदिनी कँवल के नियरे। सरग जो चाँद बसै तुव हियरे।।
चितउर महँ जो पदुमिनि रानी। कर बर छर सो देहि मोहिं आनी।।
रूप जगत मनि मोहनि औ पदुमावति नाउँ।
कोटि दरब तोहि देहूँ आनि करसि एक ठाउँ।।५८४।।

भावार्थ--राजा रत्नसेन के शत्रु, कुंभलनेर के राव देवपाल के कपट का वर्णन करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं--

कुंभलनेर का राय देवपाल, राजा रत्नसेन का शत्रु था और उसके हृदय में रत्नसेन के बैर का काँटा चुभा, सालता था। उसने सुना कि रत्नसेन शाह का बन्दी होगया है। पूर्व बैर का स्मरण करके उसने इस अवसर पर कपट रचा। शत्रु का द्वेष-दर्द तभी मिटता है जबकि बैरी की स्त्री उसके घर में रख ली जाय। उसके यहाँ एक वृद्ध दूती थी। वह जाति की ब्राह्मणी थी, और कुमुदिनी उसका नाम था। राव ने उसे बुलाकर बीड़ा दिया और कहा---तेरे बल पर मैंने अपने मन में कुछ बल धारण किया है। तू कुमुदिनी, कमल (आशय पद्मावती से है।) के निकट की बसने वाली है। गगन का चन्द्रमा भी तेरे हृदय में बसता है। चित्तौड़ में जो पद्मिनी रानी है उसे तू अपने छल-बल और कला-कौशल द्वारा मुझसे लाकर मिला।

वह रूप के संसार की मोहक मणि है। वह जगत में प्रसिद्ध, नाम की पद्मावती है। हे दूती, यदि तू उसे इस स्थान पर लाकर मुझसे मिला देगी तो तुझे मालामाल कर दूंगा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५८५)

कुमुदिनि कहा देखु मैं सोहौं। मानुस काह देवता मोहौं।।
जस काँवरू चमारी लोना। कौन छरा पाढ़ित औ टोना।।
बिसहर नाँचहि पाढ़ित मारें। औ धरि मूँदहि घालि पेटारें।।

बिरिख चलै पाढ़ित की बोला । नदी उलटि बह परबत डोला ॥
पाढ़ित हरै पँडित मति गहरे । औरू को अंध गूँग औ बहिरे ॥
पाढ़ित औसि देवतन्ह लागा । मानुस का पाढ़ित हुति भागा ॥
पाढ़ित कै सुठि काढ़त बानी । कहाँ जाइ पदुमावति रानी ॥
दूती बहुत पंज कै बोली पाढ़िस बोल ।
जाकर सत्त सुमेरु है लागे जगत न डोल ॥५८५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

दूती कुमुदिनी ने कहा—हे राव ! देखो, मैं वह हूँ जो मनुष्य तो क्या, देवता तक को मोह लूँ । कामरूप की लोना चमारिन के पढ़े तन्त्र-मन्त्रों से जैसे कोई बिना छले नहीं बचा; उसी प्रकार से मैं भी हूँ । मेरे मंत्र पढ़कर मारने से ज़हरीला सर्प मोहित होकर नाचने लगता है; और मैं उसे पकड़कर पिटारे में बन्द कर सकती हूँ । मेरे मन्त्रपाठ से वृक्ष चलने लगता है, नदी उल्टी बहने लगती है, और पर्वत डोल जाता है । पण्डित की गम्भीर बुद्धि को मेरा जादू हर लेता है । अंधे, गूँगे और बहरे लोगों का फिर मेरे जादू से क्या हाल होगा, इसका तो कहना ही क्या है ! मेरा पढ़ा हुआ मन्त्र देवताओं पर भी प्रभावशाली है । मनुष्य तो उससे क्या बचकर निकलेगा ! मेरी अच्छी तरह निकली हुई मन्त्रवाणी के प्रभाव से पद्मावती रानी कहाँ बचकर जायगी ?

कविवर जायसी कहते हैं कि दूती ने बहुत-सी प्रतिज्ञा करके अपने मन्त्र के बोलों की प्रशंसा और शक्ति राव को बतलाई । किंतु जिसका सत या सतीत्व सुमेरु पर्वत की भाँति दृढ़ है, वह सारे संसार के जोर लगाने पर भी अडिग ही रहेगा । आशय है कि पद्मावती का सतीत्व अडिग था ।

शब्दार्थ—सरल हैं—

(५८६)

दूती दूत पकवान जो साँधे । मोंतिलडु कीन्ह खिरोरा बाँधे ॥
माँठ पेराक फेनी औ पापर । भरे बोझ दूती कै कापर ॥
लै पूरी भरि डाल अछूती । चितउर चली पंज कै दूती ॥
विरिध बएस जो बाँधे पाऊ । कहाँ सो जोबन कत बेबसाऊ ॥
तन बुढ़ाइ मन बूढ़ न होई । बल न रहा लालच जिय सोई ॥
कहाँ सो रूप देखि जग राता । कहाँ सो गरब हस्ति जस भाँता ॥
कहाँ सो तीख नैन तन ठाढ़ा । सबै मारि जोबन पुनि काढ़ा ॥
मूहम्मद बिरिध जो नै चलै काह चलै भुइँ टोइ ।
जोबन रतन हेरान है मकु धरती महँ होइ ॥५८६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

उस दूती ने झटपट पकवान बनवाए । मोतीचूर के लड्डू बने एवं खिरौरे बाँधे गए । माँठ, पैराक, फेनी और पापड़ के भरे झाल दूती ने सिरों पर लदवाए । पूरियों की अछूती

टोकरियाँ भरकर दूती प्रतिज्ञा सहित चित्तौड़ की ओर चली कि पद्मावती को बहका-फुसला कर लाएगी। वृद्ध होकर भी जो किसी कठिन काम को करने की गाँठ बाँधता है, वह व्यर्थ है क्योंकि कहाँ वह यौवन रहता है; और कहाँ फिर किसी भारी काम को पूरा करने का व्यवसाय या उत्साह रहता है? शरीर वृद्ध हो जाता है, किंतु मन वृद्ध नहीं होता। भले ही शक्ति न रहे; पर लालच मन में अवश्य बना रहता है। बुढ़ापे में वह रूप कहाँ रहा जिससे विश्व मोहित हो जाता है?——वह मदमाते हाथी का-सा गर्व बुढ़ापे में फिर कहाँ? बुढ़ापे में वे सुतीक्ष्ण नयन, वह तनी देह, फिर यह सब कहाँ रहता है?——यौवन इस सबको कुचल कर निकल जाता है।

कविवर जायसी स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं——हे मुहम्मद! वृद्ध जो नीचे सिर झुकाकर चलता है भला वह धरती पर क्या खोजता जाता है? उसका यौवन रूपी रत्न खो गया है; शायद उसी को वह खोजता है कि हो न हो धरती पर गिरा मिले।

शब्दार्थ——सरल हैं।

(५८७)

आइ कमोदिनि चितउर चढ़ी। जोहन मोहन पांडित पढ़ी।।
पूँछि लीन्ह रनिवाँस बरोठा। पैंठि पँवरि भीतर चहँ कोठा।।
चहँ पदुमावति ससि उजियारी। लै दूती पकवान उतारी।।
बाँह पसारि धाइ कै भेंटी। चीन्है नहिं राजा कै बेटी।।
हौं बाँमनि कुमुदिनि नाऊँ। हम तुम्ह उपजी एकहिं ठाऊँ।।
नाँउ पिता कर दूबे बेनी। सदा पुरोहित गंध्रपसेनी।।
तुम्ह बारी तब सिंघल दीपाँ। लीन्हें दूध पियाइउँ छीपाँ।।
ठाउँ कीन्ह मैं दोसर कुमलनेरिहि आइ।
सुनि तुम्ह कहँ चितउर महँ कहिउँ कि भेंटौ जाइ।।५८७।।

भावार्थ——पूर्व पद के प्रसंग क्रम में——

दूती कुमुदिनी चित्तौड़ पहुँची। वह त्राटक, (जोहन) वशीकरण (मोहन) मंत्र पढ़ी हुई थी। उसने अन्तःपुर का प्रवेश द्वार या अलिन्द मालूम किया। वह पौरी में होकर उस मंडप में पहुँची जहाँ चन्द्र सी प्रोज्ज्वल पद्मावती बैठी थी। वहाँ दूती ने सारे पकवान उतरवाए। बाँह फैलाकर उसने शीघ्रतापूर्वक रानी से भेंट की। कहा, हे राजकुमारी! क्या तुमने मुझे नहीं पहचाना? मैं ब्राह्मणी हूँ, मेरा नाम कुमुदिनी है। हम तुम एक ही स्थान पर पैदा हुई थीं। मेरे पिता का नाम बेनी दुबे था। वह सदैव गंधर्वसेन का राजपुरोहित रहा था। तुम सिंघलदीप में छोटी सी थीं, तब मैं तुम्हें गोद में लिये-लिये तुम्हारे मुँह में दूध टपकाकर पिलाया करती थी।

तत्पश्चात् मैं कुंभलनेर में दूसरा स्थान बनाकर रही। तुम्हारा चित्तौड़ म आगमन सुनकर मैंने सोचा कि तुमसे आकर मिलूँ।

शब्दार्थ——विशेष नहीं। भावार्थ से देखें।

(५८८)

सुनि निस्चै नैहर कै कोई। गरें लागि पदुमावति रोई ।।
नैन गरब रबि बिनु अँधियारे। ससि मुख आँसु टूट जनु तारे ।।
जग अँधियार गहन दिन परा। कब लगि ससि नखतन्ह निसि भरा।।
माइ बाप कत जनमी बारी। दइउ तुहूँ न जन्मतहि मारी ।।
कत बियाहि दुख दीन्ह दुहेला। चितउर पठै कंत बँदि मेला ।।
अब एह जीवन बादि जो मरना। भएउ पहार जरम दुख भरना ।।
निसरि न जाइ निलज यह जीऊ। देखौं मँदिल सून बँदि पीऊ ।।
कुहुँकि जो रोई ससि नखत नैनन्ह रात चकोर।
अबहूं बोलहिं तेहि कुहुँकि कोकिल चातक मोर ।।५८८।।

भावार्थ--पूर्व-पद के प्रसंग क्रम में--

दूती की बात को निश्चयत: विश्वास युक्त सुनकर कि वह पिता के घर अर्थात् पीहर से आई है, पद्मावती उससे कंठ से लगकर रोई। उसके नेत्र-गगन में रत्नसेन रूपी सूर्य के अभाव में, अंधकार छाया हुआ था। उसके चन्द्रमुख से तारों के समान आँसू टूट-टूटकर गिर रहे थे। उसके लिए संसार अन्धकारपूर्ण था; क्योंकि दिन में ही ग्रहण लग गया था। जीवित रहते ही उसका पति रत्नसेन बंदी बन गया था। उस सूर्य रत्नसेन के बिना वह शशि रूपी पद्मावती अश्रु रूपी तारों से निराशा रूपी रात को कब तक भरती रहेगी? आशय है कि कब तक वह आँसू बहाती रहेगी? रानी ने कहा, मुझे माता-पिता ने शिशु-रूप में जन्म ही क्यों दिया? हे ईश्वर, तूने भी मुझे जन्मते ही क्यों न मार दिया? विवाह करके मुझे यह दारुण दुख क्यों दिया? चित्तौड़ में भेजकर मेरे पति को वन्दी बनाकर डाल दिया। अब यदि यों ही मरना है तो मेरा जीना व्यर्थ है। जन्म भर का दुःख सहना मृत्यु सम, पहाड़-सा कठिनतम हो गया है। यह प्राण निर्लज्ज है जो निकलता भी नहीं है। प्रियतम वन्दी है और मैं यह शून्य महल देख रही हूँ--धिक्कार है!

यों शशि रूपी पद्मावती अपने चकोर जैसे लाल नेत्रों से तारों जैसे आँसू बरसाती हुई विलख उठी। कविवर जायसी कहते हैं कि अब भी उसी के दर्द भरे विलाप से अभिभूत कोयल, चातक एवं मोर कुहकते हैं।

विशेष--अन्तिम पंक्ति में रुदन का प्रभाव अत्यन्त व्यापक करके पूर्णत: मार्मिक बनाया गया है। भावपक्ष की दृष्टि से यह कला की उत्कृष्ट व्यंजना है।

शब्दार्थ--सरल है--

(५८९)

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई। पुनि लै रोग वारि मुख धोई ।।
तूँ ससि रूप जगत उजियारी। मुख न झाँपु निनि होइ अँधियारी ।।
सुनि चकोर कोकिल दुख दुखी। घुँघुची भई नैन कर मुखी ।।
केतौ धाय भरै कोइ बाटा। सो पै पाव जो लिखा लिलाटा ।।

जो पै लिखा आन नहिं होई। कत धावै कत रोवै कोई।।
कत कोइ इंछ करै औ पूजा। जो बिधि लिखा सो होइ न दूजा।।
जेत कमोदिनि बैन करेई। तस पदमावति स्रवन न देई।।
सेदुंर चीर मैल तस सूखि रहे सब फूल।
जेहि सिंगार पिउ तजिगा जरम न बहुरै मूल ।।५८९।।

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग में--

पद्मावती कुमुदनी दूती के कंठ से लगकर जी भर रोई । फिर स्वर्ण-कलश के जल से उसने अपना मुख धोया। दूती ने कहा कि हे पद्मावती, तू शशि जैसी रूपवती है। संसार में तेरे रूप का प्रकाश है। लजा कर मुँह न ढंक, अन्यथा संसार में अँधियारी छा जाएगी। तेरा रुदन सुनकर, तेरे दुख से, कोयल एवं चकोर भी दुखी हैं। तेरे दुःख से उनकी नेत्र रूपी घुँघची (पुतली) कलमुखी हो गई है। कितना ही कोई मार्ग पर भाग-दौड़ करके मरे किंतु जो भाग्य में लिखा है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। कितनी ही दौड़-धूप करने एवं कितना ही रोने से कुछ नहीं बनता। कोई इच्छा रखकर कितनी भी देव पूजा क्यों न करे, किन्तु जो विधाता ने भाग्य में लिख दिया है वही होगा, अन्यथा नहीं। यों दूती कुमुदिनी जितनी फुसलाने की बातें करती थी, पद्मावती उन्हें कान न करती थी।

पद्मावती का लाल चीर मलीन हो गया था और शृंगार के सारे फूल सूख गए थे। जिस स्त्री के शृंगार को उसका प्रियतम छोड़ गया हो, फिर वह पहले जैसा जीवन पर्यन्त नहीं बनता।

शब्दार्थ—सरल है।

(५९०)

पुनि पकवान उघारे दूती। पदुमावति नहिं छुवै अछूती।।
मोहिं अपने पिय केर खँभारू। पान फूल कस होई अहारू।।
मो कहँ फूल भए जस काँटे। बाँटि देहु जेहि चाहहु बाँटे।।
रतन छुए जिन्ह हाथन्ह सेंती। ओरु न छुऔं सो हाथ सँकेती।।
ओहि के रँग तस हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तो घुँघुची डीठी।।
नैन करमुखे राती काया। मोंति होहिं घुँघुची जेहि छाया।।
अस कर ओछ नैन हत्यारे। देखत गा पिउ गहै न पारे।।
का तेहि छुऔं पकापन गुर करवा घिव रूख।
जेहि मिलि होत सवाद रस लै सो गएउ सब भूख ।।५९०।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में--

फिर दूती ने पकवान खोले किन्तु पद्मावती ने उन्हें छुआ तक नहीं, उनसे अछूती रही। पद्मावती ने कहा कि हे दूती ! मुझे अपने प्रियतम के वियोग का दुख है, मेरे लिए भला पान-फूल का भी आहार कैसे; फिर मैं तेरे ये पकवान कैसे स्वीकार करूँ ? मुझे पुष्प काँटों के समान हो गए हैं। यह पकवान जिसे बाँटना चाहो उसे बाँट दो। मेरे

प्रियतम रत्नसेन ने जिन हाथों से मेरे हाथों का स्पर्श किया है, मैं अब, अतः अपने हाथों से किसी अन्य का स्पर्श या प्रेमामंत्रण नहीं कर सकती। आशय यह है कि मेरा पाणिग्रहण जिसके हाथों के साथ हुआ है मैं उसे छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुष का हाथ कदापि नहीं पकड़ सकती। उस पति का रंग (हल्दी वाले हाथ) लगकर मेरे हाथ ऐसे लाल हो गए हैं कि हाथ में मोती लेती हूँ तो वह भी घुँघची दिखलाई पड़ती हैं। उस पति के रंग में मेरी काया अनुरक्ति के रंग में पूर्णत. लाल हो गई है। किन्तु उसके बिछोह में नयन कलमुँहे हो गए हैं। और इन दोनों की झलक से मेरे हाथों के मोती भी घुँघची हो जाते हैं। आशय है कि मेरे लिए अन्य सुन्दर पुरुष मेरे पति के सुहाग सौन्दर्य के कारण तुच्छ लगते हैं। मेरे ये तुच्छ नेत्र ऐसे हत्यारे हैं कि इनके देखते-देखते मेरा प्रियतम चला गया और ये उसे पकड़ कर न रख सके।

अतः मैं तुम्हारे पकवानों को क्या करूँ ? उनका गुड़ कड़वा एवं घी नीरस लगेगा। जैसे प्रियतम के साथ मिलकर रस-स्वाद मिलता था, वही अपने साथ मेरी सारी भूख ले गया है।

विशेष––प्रस्तुत पद की "**रतन हुए जिन हाथन्ह सेंती। और न छुओं सो हाथ सँकेती**" पंक्ति की व्यंजना भारतीय पतिव्रता की महानता एवं पतिपरायणता की महान कसौटी बनी हुई है। यह पंक्ति विशुद्ध काव्यानुभूति की द्योतक है।

शब्दार्थ––सरल हैं।

(५६१)

कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सुरुज चाँद की आसा॥
दिन कुँभिलानि रहे भै चोरू। रैनि बिगिसि बातन्ह कर भोरू॥
कत तूँ बारि रहसि कुँभिलानी। सूखि बेलि जस पाव न पानी॥
अबहीं कँवल करी तूँ बारी। कौंवलि बएस उठत पौनारी॥
बैरिनि तोरि मैलि औ रूखी। सरवर माँझ रहसि कत सूखी॥
पानि बेलि बिधि कया जमाई। सींचत रहै तबहि पलुहाई॥
करु सिंगारि सुख फूल तँबोरा। बैठु सिघासन झूलु हिंडौरा॥
हार चीर तन पहिरहि सिर कर करहि सँभार।
भोग मानिले दिन दस जोबन के पैसार॥५६१॥

भावार्थ––पूर्व पद के प्रसंग क्रम में––

दूती कुमदिनी कँवल अर्थात् पद्मावती के पास रुकी। उसके लिए सूर्य बैरी हो गया और चाँद की आशा लगाए रही। आशा है कि दिन ढले और शीघ्र रात आए दिन भर वह चोर की तरह झिझकी-डरी रही। रात में खिलकर स्वतन्त्रता से पद्मावती को बातों में लाकर भुलावा देना चाहती थी। उसने कहा, हे सुन्दरी, तू ऐसी कुम्हलाई हुई-सी क्यों रहती है, जैसे पानी न पाकर बेल सूख जाती है। अभी तो तू कमल की कली जैसी अनखिली बाला है। अभी तो तू उम्र में उठती हुई पद्मनाल के समान तरुणाई पा रही

है। यों मैली और नीरस तेरी बैरिन रहे, तू क्यों ऐसी रहती है ? तेरे लिए किस बात की कमी है ? तू सरोवर में रहकर भी क्यों शुष्क बनी रहे ? ईश्वर ने तेरी काया पान की बेल की भाँति कोमल बनायी है । यह तभी हरी-भरी रहेगी कि जब इसका सिंचन होता रहे। तू शृंगार कर, पान-फूल का सुख भोग, सिंहासन पर बैठ, आमोद-विनोद के हिंडोले (सँभोग से आशा है।) पर झूल !

शरीर पर हार और वस्त्रों को पहन । सिर का शृंगार सजा। दस दिन के लिए जो यौवन का प्रवेश है तब तक भोग भोगले।

शब्दार्थ—करी = कली। बएस = वयस, उम्र। पैनारी = पद्मनाल। माँझ = में। पलुहाई = हरी होना। पैसार = प्रवेश।

(५६२)

बिहँस जो कुमुदिनि जोबन कहा। कँवल जो बिगसा संपुट गहा।।
कुमुदिनि कहु जोबन तेहि पाहाँ। जो अछहि पिय की सुख छाहाँ।।
जाकर छतिवनु बाहर छावा। सो उजार घर को रे बसावा।।
अहा जो राजा रैनि अँजोरा। केहि क सिंघासन केहि क हिंडोरा।।
को पालक सोवै को माढ़ी। सोव निहार परा बँदि गाढ़ी।।
जेहि दिन गा घर भा अँधियारा। सब सिंगार लै साथ सिधारा।।
कया बेलि तब जानौं जामी। सींचनिहार आव घर स्वामी।।
तब लगि रहौं झूरि असि जब लहि आव सो कंत।
यहै फूल यह सेंदुर नव होइ उठै बसंत।।५६२।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दूती कुमुदिनी ने जो यौवन-भोग का चित्रण हँस-हँसकर कहा उससे पद्मावती रूपी कमल जो कुछ खिला हुआ था वह भी संपुटित हो गया । पद्मावती ने कहा कि हे कुमुदिनी, यौवन की चर्चा उससे जाकर करो जिसे अपने प्रियतम का सामीप्य-समागम प्राप्त है। जिसके बाहर अशुभ गंध वाला छितवन का पेड़ छाया हुआ है उस उजाड़ घर को कौन बसाएगा ? जो मेरा राजा रत्नसेन था वही मेरी रात का उजाला था। वह नहीं तो किसका राज-सिंघासन और किसका झूलना ?—सब व्यर्थ है। अब कौन पर्यंक और मंडप पर सोए ? साथ सोने वाला तो पूर्णतः क़ैदी हुआ पड़ा है। वह जिस दिन गया तो जीवन का घर अंधकारमय हो गया। मेरे सारे शृंगारों को साथ लेकर वह चला गया। मैं अपनी इस काया-रूपी लता को तभी जमी हुई जानूँगी जब इसे सींचने वाला, मेरा पति घर वापिस लौट आएगा।

हे कुमुदिनी, जब तक पति आएँगे तब तक मैं इसी भाँति सूखी बनी रहूँगी। जब वह लौट आएँगे तो यही सूखा पुष्प और उजड़ा सिंदूर नव-बसंत की भाँति हो जायँगे।

शब्दार्थ—जोवन कहा = जवानी के रस-भोग का चित्रण कहा। बिगसा = खिला हुआ। संपुट गहा = मुरझा गया। छतिवनु = एक अति सुगंध का अशुभ वृक्ष। पालक =

पर्यंक । झूरी=सूखी हुई ।

(५६३)

जनि तूं बारि करसि अस जीऊ । जौ लहि जोबन तौ लहि पीऊ ।।
पुरुष सिंघ आपन केहि करा । एक खाइ दोसरेह मुँह हेरा ।।
जोबन जल दिन दिन जस घटा । भँवर छपाइ हंस परगटा ।।
सुभर सरोवर जो लहि नीरा । बहु आदर पंछी बहु तीरा ।।
नीर घटें पुनि पूंछ न कोई । बेरसि जो लीज हाथ रह सोई ।।
जब लगि कालिंदिरी बेरासी । पुनि सुरसरि होइ समुंद गरासी ।।
जोबन भँवर फूल तन तोरा । बिरिध पोंछ जल हाथ मरोरा ।।
क्रिस्न जो जोबन करत तन मया गुनत नहिं साथ ।
छरिकै जाइहि बान लै धनुक छाँड़ि तोहि हाथ ।।५६३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दूती कुमुदिनी ने कहा—हे बाले, तू दिल दुःखी न कर। जब तक यौवन है तब तक प्रियतम का सुख-संभोग मिल सकता है । पुरुष रूपी बाघ किस स्त्री का अपना होकर रहा है ? एक को खाकर, उससे आनन्द लूटकर वह दूसरी का मुँह देखता है । यौवन के सरोवर का जल जैसे दिन प्रतिदिन कम होता जाता है, भँवर रूपी काले केश छिपने लगते हैं और हंस रूपी श्वेत बाल प्रकट होने लगते हैं—बुढ़ापा आने लगता है । जब तक सरोवर में पानी है, वह सुन्दर है, आदरास्पद है । अनेक पंछी उसके तीर पर आते और विनोद करते हैं । किंतु पानी घटने पर फिर कोई बात भी नहीं पूछता ; अतः जो आनन्द लूट-भोग लिया जाय वही अपने हाथ है । जब तक तू यमुना-जैसी काले केश वाली सुन्दरी है, तब तक यौवन का आनन्द भोग ले । फिर गंगा-सी श्वेत केशवाली वृद्धा हो जाने पर तुझे सागर अपने में सदा को समोलेगा, तेरा जीवन-यौवन बीत जायगा । यौवन एक भँवरा है, तेरा शरीर जवानी की डाल पर खिलता-खिलता एक छबीला फूल है । किंतु ज्योंही बुढ़ापा इस फूल का रस चाट जायगा तो हाथ ही मलना पड़ेगा ।

हे पद्मा ! वह यौवन, जो शरीर को मद से श्यामल अर्थात् जहाँ मदमस्त भौंरे के समान बनाता है, पर वह शरीर के साथ किसी प्रकार की दया नहीं करता । वह धोखा देकर तुम्हारे काम-कटाक्ष के बाण ले जायगा । रूप, वर्ण, रस, गन्ध सब कुछ ले जाते हुए तुम्हारे पास कमर झुकी हुई अर्थात् वृद्धावस्था को धनुषाकार रूप में छोड़ जायगा ।

विशेष—प्रस्तुत पद में यौवन के सौंदर्य, भोग एवं बुढ़ापे के पछतावे और जर्जरपने की साथ-साथ व्यंजना पूर्णतः मार्मिक हुई है । पद्मावत के श्रेष्ठ पदों में यह पद समझना चाहिए । उर्दू की एक शेर का इस पद की व्यंजना से बड़ा साम्य प्रकट होता है—

"जो जाके न आए जवानी देखी ।
जो आके न जाये बुढ़ापा देखा ।।"

शब्दार्थ—सरल है ।

(५६४)

कित पावसि पुनि जोबन राता । मैमँत चढ़ा स्याम सिर छाता ।।
जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ । बिनु जोबन थाकसि सब ठाउँ ।।
जोबन हेरत मिलै न हेरा । तेहि बन जाइहि करिहि न फेरा ।।
हहिं जो केस नग भँवर जो बसा । पुनि बग होहिं जगत सब हँसा ।।
सेंबर सेइ न चित कह सुवा । पुनि पछिताहि अंत होइ भुवा ।।
रूप तोर जग ऊपर लोना । यह जोबन पाहुन जग होना ।।
भोग बेरास केरि यह बेरा । मानि लेहि पुनि को केहि हेरा ।।
उठत कोंप तरिवर जस तस जोबन तेहि रात ।
तौ लहि रंग लेहि रचि पुनि सो पियर ओइ पात ।।५६४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

दूती ने कहा कि हे पद्मा, फिर ऐसा रंगीन यौवन तुम कहाँ पाओगी ? श्याम छत्र धारण किए यौवन मदमाते हाथी पर चढ़कर आता है। यौवन बीतने पर "वृद्ध है" नाम पड़ जाता है। बिना यौवन के हर स्थल पर तुम्हारा तन थकित लगेगा। यौवन के खो जाने पर फिर वह खोजने मे भी नहीं पाता। उसका कितना ही मोल-व्यवहार कीजिये वह फिर लौटकर नहीं मिलता। जिन काले नाग जैसे केशों में भँवरा (जुल्फें) बसता है वे केश बुढ़ापे में फिर श्वेत बगले के समान हो जायँगे और उन पर सारा विश्व हँसेगा। (यहाँ कवि केशव के श्वेत केशों के प्रति यह करुण उक्ति स्मरण हो आती है—"**केशव केसन अस करी अरिहू जस न कराहिं। चन्द्र वदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।**) हे पद्मा, सुग्गे के समान सेमल की सेवा मत करे। यहाँ दो आशय हैं कि व्यर्थ रत्नसेन के लिए मत मरी जा अथवा बुढ़ापे का व्यर्थ आह्वान न कर। दूती आगे कहती है, तब तू पछताएगी जब उस पर भुए लगेंगे। तेरा रूप तो संसार भर में सर्वसुन्दर है। किंतु यह यौवन संसार में महमान होकर आया है। तेरी यह जवानी का समय भोग-विलास करने के लिए है। मेरी यह बात मान ले, नहीं तो फिर कौन किसका हुआ है ? आशय है कि कौन तुझे मेरी जैसी ऐसी शुभ सीख देगा ?

हे पद्मा, तेरा यौवन इसी भाँति राग-रस-सौन्दर्य युक्त है जैसे कि वृक्ष का प्रस्फुटित पल्लव होता है। जब तक यौवन है तभी तक भोग-विलास का राग-रंग ले लो फिर तो यह यौवन, यह जीवन—पीले पत्ते के समान व्यर्थ हो जायगा।

शब्दार्थ—सरल है।

(५६५)

कुमुदिनि बैन सुनाए जरे । पदुमिनि हिय अंगार जस परे ।।
रँग ताकर हौं जारौं रचा । आपन तजि जो पराएँ लचा ।।
दोसर करै जाइ दुइ बाटा । राजा दुइ न होहिं एक पाटा ।।
जेहि जियँ पेम प्रीति दिन होई । सुख सोहाग सौं निबहा सोई ।।

जोवन जाउ जाउ सो भँवरा। प्रिय की प्रति सो जाइ न सँवरा।।
एहि जग जौं पिय करहि न फेरा। ओहि जग मिलहिं सो दिन दिन मेरा।।
जोबन मोर रतन जहँ पीऊ। बलि सौंपौं यह जोबन जीऊ ।।
भरथ बिछोउ पिंगला आहि करत जिय दीन्ह ।
हौं बिसारि जौं जियत हौं यहै दोस बहु कीन्ह ।।५६५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

दूती कुमुदिनी ने पद्मावती को ऐसे जले हुए वचन कहे, जो उसके हृदय में अंगारों की तरह पड़े। पद्मावती ने कहा कि हे कुमुदिनी, मैं उसके रचे रँग अथवा प्रेम को जलाने योग्य समझती हूँ जो अपने को छोड़कर पराए पर झुकती-ललचाती है। जो स्त्री किसी दूसरे को अपना बनाती है वह कुल्टा तो दो राहों पर चलती है। एक सिंहासन पर दो राजे नहीं हो सकते। आशय है कि एक स्त्री दो से प्रेम नहीं कर सकती। जिस दिन जिसकी प्रीति मन में हो गई, उसी के साथ सुख-सुहाग मिलता है। वह यौवन चला जाय, वह भँवरे से काले केश भी चले जायँ जिससे कि प्रियतम की प्रीति-स्मृति न की जाय। यदि इस जग में, इस जन्म में, प्रियतम नहीं भी लौटेंगे तो उस जग में, परलोक में तो उनसे प्रतिदिन मिलन होगा ही। मेरा यौवन तो वहीं है जहाँ मेरा प्रियतम रत्नसेन है। मैं अपना यौवन और प्राण उसी को बलि सौंपती हूँ।

देखो भरथरी के वियोग में पिंगला नारी ने आह भरते हुए अपना प्राण न्यौछावर कर दिया। मैंने यही बड़ा अपराध किया है जो प्रियतम को भूलकर मैं अबतक भी जीवित हूँ।

शब्दार्थ—बैन=वचन। जरे=जले हुए। लचा=ललचाना, झुकना। निबहा निर्वाह होना। मेरा=मिलन। भरथ=राजा भरथरी।

(५६६)

पदुमावति सो कवनि रसोई। जेहि परकार न दोसर होई ।।
रस दोसर जेहि जीभ बईठा। सो पै जान रस खट्टा मीठा।।
भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई।।
तै रस परस न दोसर पावा। तिन्ह जाना जिन्ह लीन्ह परावा।।
एक चुरू रस भरै न हिया। जौ लहि नहि भर दोसर पिया।।
तोर जोबन जस समुँद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा।।
दिन क ओर नहि पाइअ बैसे। जरम ओर तुइँ पाउब कैसे।।
देखि धनुक तोर नैना मोहि लागहिं बिख बान ।
बिहँसि कँवल जौं मानै भँवर मिलावौं आनि ।।५६६।।

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

दूती कुमुदिनी ने कहा कि हे पद्मावती, वह रसोई कैसी जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के दूसरे खाद्य-पदार्थ न हों? दूसरे रस का आस्वादन जिसकी जिह्वा कर चुकी होती है वही खट्टे-मीठे रसों का महत्व जानती है। देखो, इसी उद्देश्य से भौंरा बहुत से फूलों की

सुगन्धि लेता है और फूल भी बहुत से भँवरों को अपनी गन्ध देता है। हे पद्मा, तूने दूसरे रस का स्वाद नहीं छुआ है। आशय है कि पर-पुरुष का समागम नहीं पाया। जिन्होंने दूसरे रस का स्वाद चखा है वे ही उसका आनन्द जानते हैं। एक चुल्लू रस से हृदय परितृप्ति से पूर्ण नहीं होता; जब तक कि दूसरा चुल्लू भी भरकर न पिए। तेरा यौवन सागर सा उमड़कर हिल्लोरें ले रहा है। मेरा जी उसे देख-देखकर डूबा जा रहा है, दुखी हूँ। बैठे-बैठे तो दिन का अंत मिलना भी दूभर हो जाता है; फिर भला तू यों बैठे-बैठे अपने जन्म का अन्त कैसे पा सकेगी—एकाकी जीवन कैसे व्यतीत करेगी? आशय है कि राव देवपाल को बुलाऊँ?

हे पद्मा, तेरे धनुषाकार दृगों को देखकर मेरे विष के बाण से लग रहे हैं। हे कमल, यदि तू माने तो मैं तुझसे भौंरे को लाकर मिलाऊँ? आशय है कि राव देवपाल को बुलवाऊँ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

(५९७)

कुमुदिनि तूँ बैरिन नहिं धाई। मुँह मसि बोलि चढ़ावै आई॥
निरमल जगत नीर कस नामा। जौं मसि परै सोउ होइ स्यामा॥
जहँवाँ धरम पाप तहँ दीसा। कनक सोहाग माँझ जस सीसा॥
जो मसि परी भई ससि कारी। सो मसि लाइ देसि मोहि गारी॥
कापर महँ न छूट मसि अंकू। सो मोहि लाए अंस कलंकू॥
स्यामि भँवर मोर सूरज करा। औरु जो भँवर स्यामि मसि भरा॥
कँवल भँवर रबि देखे आँखी। चंदन बास न बैठे माँखी॥
स्यामि समुँद मोर निरमल रतनसेनि जग सेनि।
दोसर सरिजो कहावै तस बिलाइ जस फेनि॥५९७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पद्मावती बोली कि हे कुमुदिनी, लगता है, तू धाय नहीं, बैरिन है। तू अपने पतित वचन मुँह से बोलकर मेरा मुँह काला करने आई है। संसार में जल नामक द्रव्य कितना निर्मल होता है, किन्तु यदि उसमें स्याही गिर जाय तो वह भी काला हो जाता है। जहाँ धर्म है वहाँ पाप स्पष्ट दिखाई पड़ जाता है; ऐसे, जैसे स्वर्ण में सुहागा मिलने से कुधातु सीसा साफ प्रकट हो जाता है। स्याही पड़ी तो चन्द्र की कला भी काली-कलंकित होगई। वही कलंक की स्याही चुपड़कर तू मुझे गाली देती है; अर्थात् कहती है कि पर पुरुष को मुझसे मिलाए! स्याही का धब्बा कपड़े पर से भी नहीं छूटता। वही स्याही तूने मेरे पोत कर मुझे ऐसा कलंकित किया है। मेरा प्रियतम-भँवरा तो ऐसा प्रोज्ज्वल है जैसे सूर्य की कला हो। और जितने रसिक-भँवर हैं वह मेरे लिये स्याही जैसे भरे कलंकित हैं। कमल रूपी पद्मावती सदा अपने भँवर रूपी प्रियतम रत्नसेन के मिलन की आशा किये रहती है। हे कुमुदिनी, जहाँ चन्दन की सुगन्ध होती है वहाँ गलीज मक्खी नहीं बैठती।

मेरे स्वामी रत्नसेन तो सागर के जल से निर्मल हैं और संसार के अन्य पक्षी जैसे राजों में बाज पक्षी (सेनि) जैसे वीर हैं। यदि कोई दूसरा राव-राजा उनकी समानता करेगा तो झाग की तरह विलीन हो जायगा, मिट जायगा। यहाँ सूक्ष्म संकेत दूती कथित देवपाल राजा से है कि वह यदि रत्नसेन की समता करेगा तो मारा जायगा।

शब्दार्थ—धाई = धाय। मसि = स्याही। सेनि = बाजपक्षी। बिलाइ = विलीन होना। फेनि = झाग।

(५९८)

पदुमिनि बिनु मसि बोलु न बैना। सो मसि चित्र दुहूँ तोर नैना॥
मसि सिंगार काजर सब बोला। मसि क बुंद तिल सोह कपोला॥
लोना सोइ जहाँ मसि रेखा। मसि पुतरिन्ह निरमल जग देखा॥
जो मसि घालि नैन दुहुँ लीन्ही। सो मसि बेहर जाइ न कीन्ही॥
मसि मुंद्रा दुहुँ कुच उपराहीं। मसि भंवरा जस कँवल बसाहीं॥
मसि केसन्हि मसि भौहँ उरेही। मसि बिनु दसन सोभ नहिं देही॥
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं। सो कस पिंड न जेहि परछाहीं॥
अस देवपाल राउ मसि छत्र धरा सिर फेरि।
चितउर राज बिसरिगा गएउँ जो कुंभलनेरि॥५९८॥

भावार्थ—पूर्वपद के प्रसंग क्रम में—

दूती कुमुदिनी ने कहा कि हे पद्मावती, बिना स्याही के निरर्थक बोल न बोलो। जिस स्याही की तू उपेक्षा कर रही है उसी स्याही से ही तो तेरे दोनों नेत्र चित्रवत, सुन्दर प्रतीत होते हैं। स्याही वह शृंगार है जिसे सब काजल कहते हैं। कपोल का सुन्दर तिल स्याही का ही एक बिंदु है। वहीं सौन्दर्य है जहाँ पर स्याही की रेखा हो। नेत्र की पुतली भी वही स्याही की बूँद है जिससे यह स्वच्छ संसार दीख पड़ता है। जो स्याही दोनों नेत्रों में डाली गई है वह अपने से अलग नहीं की जा सकती। तेरे दोनों उरोजों पर स्याही की मुहर लगी है। (यहाँ उरोजों के ऊपर की काली घुन्डी से तात्पर्य है।) वहाँ वह स्याही इसी भाँति शोभित होती है जैसे कमल पर बैठा भौंरा शोभित होता है। तेरे केशों में भी स्याही ही शोभित है और भौहों में भी वही चित्रित है। स्याही या मिस्सी के बिना दाँत भी शोभा नहीं पाते। वह श्वेत सौन्दर्य कैसा जिसमें स्याही न हो? वह शरीर कैसा, जिसकी स्याह परछाहीं न हो?

दूती ने कहा कि राव देवपाल में भी ऐसी ही शोभावर्धक स्याही है। उसके सिर पर राजसी छत्र धरा है। उसके राज्य, कुंभलनेर जाकर मुझे चित्तौड़ का राज्य भूल गया।

शब्दार्थ—मसि = स्याही, मिस्सी, तिल आदि। घालि = जलकर। बेहर = अलग। बसाही = बैठा हुआ। उरेही = चित्रित। दसन = दाँत।

(५९९)

सुनि देवपाल जो कुंभलनेरी। कँवल जो नैन भँवर धनि फेरी॥

मोर पिय क सतुरु देवपालू । सो कत पूज सिंघ सरि भालू ।।
दोख भरा तन चेतनि कैसा । तेहि क संदेस सुनावहि बेसा ।।
सोन नदी अस मोर पिय गरुवा । पाहन होइ परै जौं हरुवा ।।
जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ । सो कस डोल डोलाएँ जीऊ ।।
फेरत नैन चेरि सौ छूटीं । भै कूटनि कुटनी तसि कूटीं ।।
कान नाक काटे मसि लाई । बहु रिसि काढ़ि दुवार नँघाई ।।
मुहमद गरुए जो बिधि गढ़े का कोई तिन्ह फूँक ।
जिन्ह के भार जगत थिर उड़हिं न पवन के झूँक ।।५६६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कुंभलनेर के राव देवपाल का नाम सुनते ही पद्मावती ने अपने कमलरूपी नेत्रों की भ्रमर रूपी पुतलियों को क्रोध से तरेरा। उसने कहा—अरी कुटनी, देवपाल तो मेरे प्रियतम का बैरी है। वह रीछ भला मेरे सिंह-राज पति का क्या मुकाबला करेगा ? दुष्ट देवपाल का शरीर भी राघव चेतन के जैसा दूषित है। अरी रंडी, तू उस दुष्ट का प्रेम-संदेश मुझे सुना रही है ? मेरा प्रियतम तो स्वर्णपूरित सोन नदी के समान भारी अर्थात् महान है। जो हल्की वस्तु उसमें पड़ती है, वह जड़ पत्थर बन जाती है। जिसके ऊपर ऐसा गौरव-शाली भारी पति है उसका मन विचलित करने पर भी कैसे विचलित हो सकता है ? इस प्रकार कहते हुए पद्मावती ने ज्योंही नेत्र फिराए कि तुरंत सौ दासियाँ दौड़ पड़ीं और कुटनी को इस भाँति मारा-कूटा कि जैसे सिल को कूटते हैं। उसके नाक-कान काटकर मुँह पर कालिख लगा दी और अति क्रोध करके राजद्वार से बाहर खदेड़ दिया।

कविवर जायसी स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि अरे मुहम्मद ! जिनको ईश्वर ने महान बनाया है उन्हें फूँक से नहीं उड़ाया जा सकता। जिन पर्वत तुल्य महान् लोगों के भार से यह विश्व ठहरा है वे तूफान के झोंके से नहीं उड़ा करते। आशय है कि पद्मावती का सतीत्व-व्यक्तित्व अटल अडिग और महान् था, फिर वह दूती की बातों में क्योंकर आती ?

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

५०--बादशाह दूती खण्ड

(६००)

रानी धरमसार पुनि साजा । बंद मोख जेहि पावै राजा ।।
जाँवत परदेसी चलि आवा । अन्नदान पय पानि पियावा ।।

जोगी जती आव जेत कंथी। पूँछै पियहि जान कोइ पंथी ।।
देत जो दान बाँह भइ ऊँची। जाहि साहि पहँ बात पहूँची ।।
पातर एक हुती जोगि सुवाँगी। साहि अखारें हुति ओहि माँगी।।
जोगिनि भेस बियोगिनि कीन्हा। सिंगी सबद मूल तंतु लीन्हा।।
पदुमिनि कहँ पठई कै जोगिनि। बेगि आनु कै बिरह बियोगिनि।।
चतुर कला मन मोहनि परकाया परवेस।
आइ चढ़ी चितउर गढ होइ जोगिन के भेस ।।६००।।

भावार्थ—राजा रत्नसेन को अलाउद्दीन की क़ैद से मुक्त कराने की आयोजना के प्रसंग में कविवर जायसी लिखते है—

फिर राजा रत्नसेन के बंधन से मुक्त हो जाने के निमित्त, पद्मावती ने अन्नसत्र अथवा धर्मस्थान सजाए बनाए कि जिनके प्रभाव से राजा मुक्त हो पाए। वहाँ जितने परदेसी यात्री चलकर आते थे इन धरमसारों में उन्हें अन्न, भोजन दान दिया जाता था और जल पिलाया जाता था। जोगी अथवा सिद्ध और नाथपंथी यती अर्थात् हस, परमहंस, वैष्णव साधु और कंथाधारी, जितने आते थे, पद्मावती उन सबसे रत्नसेन के विषय में पूछती कि शायद उनमें से कोई उसके प्रियतम के यहाँ का आता-जाता राहगीर हो। दान देते हुए जो उसकी भुजा ऊँची रहने लगी यह बात बादशाह के कानों तक जा पहुंची। वहाँ एक नर्त्तकी या पातर थी जो बहरूपियन जोगिन का भेष बनाने में बड़ी निपुण थी। शाह ने उसे अपनी रंगशाला में बुलाया। उसने शाह के कहने से जोगिन का भेष बनाकर अपने को वियोगिन के रूप में बना लिया। उसने सिंगी बजाकर मूल तत्व अर्थात् शिव का नाम उच्चारा। उस जोगिन को शाह ने पद्मावती के यहाँ भेजी कि उसे शीघ्र अपनी जैसी विरह वियो-गिनी बनाकर ले आए।

उस छद्म वियोगिनि ने घोषणा की—मैं मनमोहने की कला में प्रवीण हूँ और परकाया प्रवेश (मेसमरेजम की क्रिया) करना भी जानती हूँ। इस भाँति, जोगिन के भेष में वह चित्तौड़ गढ़ में आ गई।

शब्दार्थ—धरमसार = अन्नसत्र या धर्मस्थान, मठ आदि। मोख = मुक्ति। जाँवत = जितने। कंथी = कंथाधारी साधु। पातर = नर्त्तकी। सुवाँगी = चित्र विचित्र रूप धरने वाली बहरूपियन। आखारे = रंगशाला। मूल तँतु = शिव। परकाया परवेस = एक तांत्रिक क्रिया, जिसे 'मेसमरेजम' भी कहा जा सकता है।

(६०१)

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई ।।
जोगिनि एक बार है कोई। माँगै जैस बियोगिनि होई ।।
अबहिं नवल जोबन तप लीन्हे। फारि पटोरा कंथा कीन्हे ।।
बिरह भभूति जटा बैरागी। छाला काँध जाप कँठ लागी ।।
मुंद्रा स्रवन डँड न थिर जीऊ। तन तिरसूल अधारी पीऊ ।।

छात न छाँह धूप जस मरई। पाय न पाँवरि भूँभुरि जरई॥
सिंगी सबद धघाँरी करा। जरै सो ठाँउ पाउँ जहँ धरा॥
किंगिरी गहें बियोग बजावै बारहिं बार सुनाव।
नैन चक्र चारिहुँ दिसि हेरै दहुँ दरसन कब पाव॥६०१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

वह छद्म-जोगिन माँगती हुई राज द्वार तक चली आई। दासियों ने यह बात पद्मावती से कही कि कोई एक जोगिन द्वार पर आई हुई है। वह इस प्रकार से भीख माँगती है जैसे कोई वियोगिन हो। अभी उसका नव-यौवन है किन्तु उसने तप ले रक्खा है। उसने अपनी रेशमी तीअल, (पटोरा या लहँगा) फाड़कर उसका योग-कंथा बना लिया है। विरह में उसने भभूत रमाई हुई है और वैरागियों की जैसी जटाएँ कर रक्खी हैं। कन्धे पर मृगछाला है और कंठ में जयमाला पहनी हुई है। कानों में मुद्राएँ हैं और चंचल चित्त मानो उसका दण्ड है। आशय है कि वह वियोगिन है। उसका शरीर प्रियतम के वियोग में त्रिशूल-सा है। वह प्रियतम के स्मरण को अघारी बनाए है। (योग में 'स्मरण' का पारिभाषिक शब्द "अघारी" है।) वह धूप में जलती है किंतु छाते की छाया नहीं करती। पांवों में खड़ाऊँ नहीं, यद्यपि गर्म रेत में जल रही है पर अन्यत्र किसी प्रियतम का आश्रय नहीं चाहती। वह सिंगी बजाती है और हाथ में गोरखधंधा लिये हुए है। आशय है कि गुरु गोरखनाथ का आशीर्वाद लिये है। वह जिस जगह पाँव रखती है, जल जाती है।

वह किंगरी लेकर विरह का संगीत जगाती है और बारम्बार उसे सुनाती है। नेत्रों को चक्र की भांति चारों ओर घुमाकर किसी को खोजती है कि कैसे, कहाँ, कब, उसका दर्शन पाए!

विशेष—इससे पूर्व सिद्धनाथ-पंथी भेष आदि के विषय में पूरा विवरण पद २०६, २३० आदि में आ चुका है। इस पद को समझने के लिये उन्हें फिर देखना ठीक रहेगा।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(६०२)

सुनि पदुमावति मँदिल बोलाई। पूँछी कवन देस सों आई॥
तरुनि बैस तुम्ह छाज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह बियोगू॥
कहेसि बिरह दुख जान न कोई। बिरहिनि जान बिरह जेहि होई॥
कंत हमार गए परदेसा। तेहि कारन हम जोगिन भेसा॥
काकर जिउ जोबन औ देहा। जौं पिय गएउ भएउ सब खेहा॥
फारि पटोरि कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलै लेहुँ सो पंथा॥
फिरा करौं चहुँ चक्र पुकारा। जटा परीं को सीस सँभारा॥
हिरदै भीतर पिउ बसै मिलै न पूँछौं काहि।
सून जगत सब लागै पिय बिनु किछौ न आहि॥६०२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

दासियों द्वारा दुष्ट जोगिन के आगमन के विषय में सुनकर पद्मावती ने उसे महल के भीतर बुलवाया। पूछा, री ! तू किस देश से यहाँ आई है ? इस जवानी की अवस्था में तुझे यह योग वेश अच्छा नहीं लगता। फिर किस कारण से तूने यह वियोग-वेश किया है ? जोगिन ने कहा—रानी, किसी की विरह-व्यथा को कोई अन्य नहीं जान सकता। जिस विरहिन को विरह-दुख होता है, वही उसे जानती है। मेरा प्रियतम परदेस चला गया और उसी के वियोग में मैंने यह योग-वेश ले लिया है। नारी जीवन, उसकी जवानी और और उसका तन, प्रियतम को छोड़ और किसका अपना है ? पर जब प्रियतम चले गए तो सब कुछ रेत हो गया। मैंने अपना रेशमी लँहगा फाड़कर कंथा बना लिया। अब तो जिस राह पर मेरा प्रियतम मिलेगा, मैं वही मार्ग चलूँगी। चारों दिशाओं में उसे पुकारती फिरती हूँ। मेरे सिर पर जटाएँ उलझी हैं; किन्तु प्रियतम के बिना इन्हें कौन सँवारे ?

प्रियतम हृदय के भीतर बसा हुआ है; किन्तु मुझे नहीं मिलता। किससे पूछूँ ? यह सारा विश्व सूना-सूना लग रहा है। प्रियतम के बिना यहाँ कुछ भी नहीं है, कुछ नहीं सुहाता !

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६०३)

स्रबन छेदि मुंद्रा मैं मेले। सबद ओनाउँ कहाँ दहुँ खेले ।।
तेहि बियोग सिंगी नित पूरौं। बार बार होइ किंगरी झूरौं ।।
को मोहि लै पिउ के डँड लावै। पर अधारी बात जनावै ।।
पाँवरि टूटि चलत गा छाला। मन न मरै तन जोबन बाला ।।
गइँउ पयाग मिला नहिं पीऊ। करवत लीन्ह दीन्ह बलि जीऊ ।।
जाइ बनारसि जारिउँ कया। पारिउँ पिंड निबहुरे गया ।।
जगरनाथ जगरन कै आई। पुनि दुवारिका जाहु अन्हाई ।।
जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ तहँ न मिला तन आँकि
ढूँढ़ि अजोध्या सब फिरिउँ सरग दुवारी झाँकि ।।६०३।।

भावार्थ—पुर्व पद के प्रसंगानुसार—

जोगिन कह रही है कि हे पद्मावती, मैंने कानों में छेद करके मुंद्राएँ डाली हैं। मैं प्रियतम के शब्द श्रवण करने के लिये अपने कान झुकाती हूँ, पर वह न जाने कहाँ डोल रहा है। आशय है कि कानों में मुंद्रा डालकर और कान झुकाकर मैं प्रिय के ध्यान में लीन हूँ। (योगियों की यह एक क्रिया विशेष से सम्बन्धित है।) उसके वियोग में मैं नित्यप्रति सिंगी बजाती हूँ; नित्य किंगरी बजा-बजाकर उसका स्मरण करती हूँ। हाय कौन मुझे मेरे प्रियतम की गली में ले जाएगा ! कौन उसका विश्वस्त समाचार कहेगा ! चलते-चलते पैरों की खड़ाऊँ टूट गई और छाला पड़ गया है। मन की वासना नहीं मरती, क्योंकि बाला के शरीर में यौवन भरा हुआ है। मैं प्रयाग भी गई किन्तु वहाँ भी प्रियतम नहीं मिला।

मैंने जीते जी करवट अर्थात् मृत्यु स्वीकार की है और प्रियतम पर अपना प्राण न्यछौावर किया है। बनारस जाकर अपना शरीर जलाया भी। गया में पिंड भी दिया, पर गया हुआ प्रियतम फिर न लौटा, या न लौटने वाला प्रियतम न मिला। जगन्नाथ में उसके लिये जागरण-व्रत भी कर आई हूँ। फिर द्वारिका जाकर परम स्नान भी किया है।

केदारनाथ में शरीर को दाग भी कराया किंतु तदुपरान्त भी प्रियतम का पता-चिह्न न मिला। सारी अयोध्या में उसे खोजती फिर रही हूँ और स्वर्ग-द्वार भी झाँककर देख लिया है; किन्तु प्रियतम को कहीं न पाया। आशय यह कि किसी योग, साधन, व्रत, तीर्थाटन आदि से मेरा प्रियतम मुझे नहीं मिला, यह सब कुछ व्यर्थ ही गया।

विशेष—प्रस्तुत पद की अन्तिम पंक्तियों में योग तीर्थ बाह्य-धर्माचरण के प्रति सूक्ष्म अनास्था का भाव व्यंजित है। यहाँ इस्लामी एकेश्वरवादी धारणा का पुट है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६०४)

बन बन सब हेरेउ बनखँडा। जल जल नदी अठारह गंडा॥
चौंसठि तिर्थ कीन्ह सब ठाँउँ। लेत फिरौं ओहि पिय कर नाऊँ॥
ढीली सब हेरउँ तुरुकानू। औ सुलतान केर बँदिवानू॥
रतनसेनि देखेउँ बँदि माहाँ। जरै धूप खिन पाव न छाहाँ॥
का सो भोग जेहि अंत न केऊ। एहि दुख लिहें भई सुखदेऊ॥
सब राजा बाँधे औ दागे। जोगिन जानि राजा पाँ लागे॥
ढीली नाउँ न जानहि ढीली। सुठि बँदि गाढ़ न निकसै कीली॥
देखि दगध दुख ताकर अबहूँ कया न जीउ।
सो धनि जियत किमि आछै जेहि रु अंस बँदि पीउ॥६०४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार—

जोगिन ने कहा कि हे पद्मा, सारे वन-वन और बनखण्ड में मैंने प्रियतम को खोज डाला। अठारह गन्डे नदियों के जल में स्नान कर आई। सब स्थानों में चौंसठ तीर्थ कर आई। उसी अपने निठुर प्रियतम का नाम लेकर घूमती फिरी, किन्तु वह न मिला। दिल्ली के सब तुर्कों में उसे खोज लिया और सुलतान के बंदीग्रह में भी देख लिया। (यहाँ आशय यों भी हो सकता है कि "सुलतान के बन्दियों को देख लिया", किन्तु बन्दीग्रह को देखना अधिक संगत प्रतीत होता है।) रत्नसेन को वहाँ क़ैद में देखा। वह धूप में जलता है और पल को भी छाँह नहीं पाता। वह भोग भी कैसा जिसका कोई अंत न हो। इसी दुख के मारे मैं शुकदेव जैसी अस्थिर होगई हूँ। (शुकदेव जी गो दोहन के समय से अधिक कहीं नहीं थमते, जायसी ने यहाँ यह उपमा अच्छी दी है।) सबने राजा रत्नसेन को बाँधा और दागा है। जोगिन समझकर, कृपा पाने के लिये उसने मेरे पाँव पकड़ लिये। उस शाही नगर का नाम है तो ढीली (दिल्ली) पर वह कोई 'ढील' या दया दिखानी नहीं जानती। वहाँ की सज़ा कठोर है, वहाँ की कीली निकलती नहीं है। आशय है कि वहाँ के बन्दीगृह की

शृंखला कभी नहीं खुलती।

जोगिन कह रही है कि हे पद्मावती, उस रत्नसेन के दारुण-दुख को देखकर जैसे अब भी मेरे शरीर में जान नहीं है। भला वह नारी कैसे जीवित होगी, जिसका पति ऐसा बन्दी बना हुआ है ?

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार सरल किये गये हैं, देखें।

(६०५)

पदुमावति जौं सुना बँदि पीऊ। परा अगिनि मँह जानहुँ धीऊ ॥
दौरि पायँ जोगिन के परी। उठी आगि जोगिनि पुनि जरी ॥
पाय देइ दुइ नैनन्ह लावौं। लै चलु तहाँ कंत जहँ पावौं ॥
जिन्ह नैनन्ह देखा तैं पीऊ। सो मोहि देखाउ देउँ बलि जीऊ॥
सत औ धरम देउँ सब तोही। पिय की बात कही जेइ मोही ॥
तूँ मोरि गुरू तोरि हौं चेली। भूली फिरत पंथ जेइँ मेली॥
डंड एक माया करु मोरें। जोगिन होउँ चलौं सँग तोरें ॥
सखिन्ह कहा पदुमावति रानी करहु न परगट भेस।
जोगी सोइ गुपुत मन जोगवै लै गुरु कर उपदेस ॥६०५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

कुटिनी जोगिन से जब पद्मावती ने रत्नसेन को बंदीगृह में सुना, तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो विरह की आग में घी पड़ा हो। वह दौड़कर जोगिन के पैरों पर जा पड़ी। उसके तन मे विरह-दुख की जो आग उठी उससे वह जोगिन भी जलने लगी। पद्मावती ने कातरता से कहा— हे जोगिन, ला तेरे दोनों चरण को मैं अपनी आँखों से लगा लूँ। मुझे वहाँ ले चल जहाँ मैं स्वामी को पा सकूँ। जिन आँखों से तूने मेरे प्रियतम को देखा है, मुझे भी दिखा तदर्थ मैं तुझ पर अपना प्राण बलि देती हूँ। अपना सत्य और धर्म, सब कुछ तेरी भेंट करती हूँ; जिसने कि प्रियतम का संदेशा मुझसे कहा है। अब तू मेरी गुरु है और मैं तेरी शिष्या। मैं प्रियतम के लिए मार्ग पर भूली-भरमाई फिरती थी; तूने उसके मिलन मार्ग से मुझे मिला दिया है। मुझ पर दया करके निमिष भर के लिये ठहर जा, ताकि जोगिन बनकर म भी तेरे साथ चलूँ।

ऐसा अशुभ सुनकर पद्मावती की सखियों ने समझाया कि हे रानी, प्रकट में जोगन का भेप लेना उचित नहीं। जोगी वही है जो गुप्तरूपेण गुरु के उपदेश को धारण कर मन में जोग साधता है। आशय है कि मन को संयमित करो, बाहरी जोग-भेष आडम्बर है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६०६)

भीखि लेहि जोगिनि फिर माँगू। कंत पाइअ किए सँवागू ॥
एहि बिधि जोग बियोग सहा। जैसें पिउ राखै तिमि रहा ॥
गिरिही महँ भै रहा उदासा। अंचल खप्पर सिंगी स्वाँसा ॥

रहै पेम मन अरुझा लटा। बिरह धँधारि परहिं सिर जटा ॥
नैन चक्र हेरै पिय पंथा। कया जो कापर सोई कंथा ॥
छाला पुहुमि गँगन सिर छाता। रंग रकत रह हिरदै राता ॥
मन माला फेरत तँत ओहीं। पांचौं भूत भसम तन होहीं ॥
कुंडल सो जो सुनै पिय बैना पाँवरि पाय परेहु।
डंड आइ एक जाहु गोरा बादल पहँ जाइ अधारी लेहु ॥६०६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सखियों ने पद्मावती को समझाया कि हे पद्मावती, जोगिन बनकर तो भिक्षा फिर माँग लेना। केवल जोग का स्वाँग रचने से ही प्रियतम को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो प्रियतम से सच्चा प्रेम रखकर जोग-वियोग सह सकती है; वह जोगन बनकर उस प्रियतम के लिये अपनी वर्तमान अवस्था में ही सन्तुष्ट रहती है; कि जिस अवस्था में उसके प्रियतम ने उसे रख छोड़ा है। आशय है यह कि जैसी दशा में प्रियतम ने तुम्हें छोड़ा है, वैसी ही दशा में तुम्हें रहना चाहिये। जोग का दूसरा रूप बनाना उचित नहीं। आगे सखियाँ कहती हैं कि ऐसी विरहणी गृहस्थ में रहकर ही जोग की साधना में रत रहती हैं। उसके लिये अपना अंचल ही जोग का खप्पर है और श्वाँस सिंगी है। प्रियतम के विरह-प्रेम में उसका मन उलझा रहता है। विरह के गोरखधंधे के कारण उसके सिर पर जटा बन जाती है। वह अपने नेत्र रूपी चक्रों से प्रियतम का पथ देखती है। उसके शरीर के वस्त्र ही उसकी कँथरी होते हैं। धरती उसकी मृगछाला और गगन उसके सिर का छत्र होता है। रक्त के गेरुए प्रेम-रँग से उसका हृदय रँगा रहता है। उसी के सुमरन में वह मन की माला जपती है। पंचभूतों की भस्म ही उसके लिये भभूत होती है। आशय यह है कि प्रियतम के विरह में जलकर मिट जाना ही उसकी साध होती है।

वह नारी प्रियतम के जो शब्द कान में सुनती है, वही उसके कुंडल होते हैं। उसके पाँव ही खड़ाऊँ होते हैं। पद्मा, एक घड़ी भर के लिये गोरा-बादल के पास हो आओ और कुछ धीरज लाभ करो।

विशेष—प्रस्तुत पद पद्मावत के काव्य-उद्देश्य एवं चमत्कार की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। "सच्चा योग तप आत्म साधना पर निर्भर है; बाह्याडम्बर पर नहीं"— यह तत्वभूत संदेश इस पद के द्वारा अत्यन्त रागात्मक ढंग से दिया गया है। साथ ही सिद्ध, नाथ एवं सहजयानी योग क्रिया पद्धति का बहिष्कार करते हुए यहाँ मूक प्रेम एवं साधना के महत्व का सूक्ष्म प्रतिपादन किया गया है, जो प्रभावशाली है। इस पद को और अधिक समझने के लिये पद ३७१ का भावार्थ भी देखो।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार स्पस्ट है।

●

५१--पद्मावती गोरा बादल संवाद खण्ड

(६०७)

सखिन्ह बुझाई दगधि अपारा। गै गोरा बादल के बारा ।।
कँवल चरन भुइँ जरम न धरे। जात तहाँ लगि छाला परे ।।
निसरि आए सुनि छत्री दोऊ। तस काँपे जस काँप न कोऊ ।।
केस छोरि चरनन्ह रज झारे। कहाँ पाउ पदुमावति धारे ।।
राखा आनि पाट सोनवानी। बिरह बियोग न बैठी रानी ।।
चँवरिधारि होइ चँवर डोलावहिं। माथे छाँह रजायसु पावहिं ।।
उलटि बहा गंगा कर पानी। सेवक बार न आवै रानी ।।
का अस कीन्ह कस्ट जिय जो तुम्ह करत न छाज।
आयाँ होइ बेगि कै जीव तुम्हारे काज ।।६०७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सखियों ने समझा-बुझाकर पद्मावती की अपार दाहक अग्नि को शान्त किया। पद्मावती गोरा-बादल के यहाँ गई। कविवर जायसी कहते हैं कि उसने जीवन भर, कभी अपने चरण-कमल धरती पर नहीं रक्खे थे। अतः गोरा बादल के घर पहुँचते-पहुँचते उसके पाँवों में छाले पड़ गए। "पद्मावती आई है,"—यह सुनते ही वे दोनों वीर घर से बाहर निकल आए। वे उसे देखकर शंकाकुल हो इस तरह काँपने लगे कि जैसे कोई भी नहीं काँपता। उन्होंने अपने केश बिखराकर रानी के पावों की धूल झाड़ी। कहा, बाले, हा ! रानी पद्मावती को यहाँ कहाँ पाँव रखने पड़े ? उन्होने तत्काल स्वर्णासिन लाकर रक्खा। किन्तु विरह विदग्धा रानी उस पर न बैठी। वे दोनों वीर चँवरधारी बनकर उस पर चँवर डुलाने लगे। बोले, यदि तुम्हारी कोई पालनार्थ आज्ञा हम पाएँ, तो वह हमारे मत्थे की छाँह बनेगी। आशय यह है कि आज्ञा का पालन कर हमें सुख मिलेगा। वे बोले, आज गंगा जल उल्टा बह निकला है। नहीं तो, सेवकों के द्वार पर रानी नहीं आया करतीं।

वे कहने लगे कि हे रानी, तुमने अपने जी में एसा कौन सा दुख माना है ? वह दुख करना तुम्हें शोभा नहीं देता। अपने दुःख के निवारणार्थ हमें तुरन्त आज्ञा दें; हमारा प्राण तुम्हारी सेवा के लिये प्रस्तुत है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

(६०८)

कहै रोइ पदुमावति बाता। नैनन्ह रकत देखि जग राता ।।
उलथि समुंद जस मानिक भरे। रोई रुहिर आँसु तस ढरे ।।

रतन के रंग नैन पै वारौं। रती रती कै लोहू ढारौं॥
कँवलन्ह ऊपर भँवर उड़ावौं। सूरज जहाँ तहाँ ले लावौं॥
हिय के हरद बदन कै लोहू। जिउ बलि देउँ सो सँवरि बिछोहू॥
परहिं आँसु सावन जस नीरू। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चीरू॥
चढ़े भुवंग लुरहिं लट केसा। भै रोवत जोगिनि के भेसा॥
बीर बहूटी होइ चली तबहूँ रहहिं न आँसु।
नैनन्हि पंथ न सूझै लागेउ भादवँ मासु॥६०८॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा-बादल को पद्मावती ने रोकर सारी बातें कहीं। उसकी आँखों के रक्ताश्रु देखकर संसार रक्तिम हो गया। उसके रुदन से रक्ताश्रु ऐसे गिरे जैसे सागर अपने में भरे हुए माणिक्यों को उलीच रहा हो। पद्मावती मानो मौन भाषा में कह रही थी,—मैं अपने प्रियतम के अनुराग के लाल-रंग में अपनी आँखों को न्योछावर कर दूंगी और रत्ती-रत्ती कर सारा रक्त ढाल दूंगी। नेत्र-कमलों से पुतली रूपी भँवरा उड़ाकर वहाँ भेज दूंगी जहाँ सूर्य रूपी प्रियतम रत्नसेन है। प्रियतम के वियोग का स्मरण कर मैं हृदय को केसरिया एवं मुख को रक्तिम करके अपना प्राण त्याग कर दूंगी। पद्मावती के अश्रु यों झर रहे थे जैसे सावन का जल बरसता है। सावन के जल से भूमि हरी होती है और पद्मावती के रक्ताश्रु-जल से उसके तन का चीर कुसुम्भी रंग का हो चला था। उसकी उलझी-पुलझी लटें, सर्प की भाँति सिर पर लरज-लोट रहीं थीं। रोते-रोते उसका वेश स्वतः जोगिन का सा हो गया था।

इतनी रक्तिम अश्रु बूंदें झरीं कि पृथ्वी पर रेंगती हुई वीरबहुटियाँ बन चलीं। फिर भी उसकी अश्रु-झरी रुकती नहीं थी। आँखों से मार्ग न सूझता था। अश्रु की झरी भाँदों मास की वर्षा-झरी सी लग रही थी।

शब्दार्थ—राता=लाल। उलथि=उलटना। मानिक=माणिक्य। हरद=हल्दी, यहाँ केसरिया रंग से तात्पर्य है। हरियर भुइँ=हरी भूमि। भुवंग=सर्प। वीरबहूटी=बरसात का एक मखमली सा लाल कीड़ा, जिसे मैंने प्रायः बच्चों से "भगवान जी की गुड़िया" कहते सुना है।

(६०९)

तुम्ह गोरा बादिल खँभ दोऊ। जस मारथ तुम्ह और न कोऊ॥
दुख बिरिखा अब रहै न राखा। मूल पतार सरग भइ साखा॥
छाया रहा सकल महि पूरी। विरह बेजि होइ बाढ़ि खजूरी॥
तेहि दुख केत बिरिख बन बाढ़े। सीस उघारे रोवहिं ठाढ़े॥
पुहुमी पूरि सायर दुख पाटा। कोड़ी भई बिहरि हिय फाटा॥
बिहरा हिए खजूरि क बिया। बिहरै नहिं यह पाहन हिया॥
पिय जहँ बंदि जोगिनि होइ धावौं। हौं होइ बंदि पियहि मोंक रावौं

सूरज गहन गरासा कँवल न बैठे पाट।
महूँ पंथ तेहि गवनव कंत गए जेहि बाट ॥६०६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पद्मावती बोली कि हे गोरा बादल, तुम दोनों यहाँ के राज्य-स्तम्भ हो। महाभारत के युद्ध के वीर अर्जुन के समान तुम्हीं हो और मेरा यहाँ कोई नहीं है। मेरे दुख का पेड़ अब इतना बढ़ता जा रहा है कि रोके से उसकी वृद्धि नहीं रुकती। उस दुःख-वृक्ष की विराटता इतनी बढ़ गई है कि उसकी जड़ें पाताल में और शाखाएँ आकाश में फैल गई हैं। उसकी छाया से समस्त पृथ्वी ढँक गई है। उससे लिपटी विरह की लता खजूर के समान ऊँची चली गई है। उस दुःख-वृक्ष के चारों ओर, बन में और भी कितने ही वृक्ष बढ़ गए हैं जो सिर नंगा किये खड़-खड़े विलाप करते हैं। उस दुःख ने पृथ्वी को ढँककर सागर को भी ढाँप लिया है। उस दुःख से, सागर की कौड़ी का हृदय फट गया। खजूर के कठोर बीज का हृदय भी उस दुःख से फट गया। किंतु मेरा यह पाषाण हृदय नहीं फटता। अब जहाँ मेरे प्रियतम बंदी पड़े हैं, मैं वहाँ जोगन बनकर जाऊँगी। मैं स्वयं बंदिनी होकर प्रियतम को मुक्ति दिलाऊँगी।

सूर्य को ग्रहण लगा है। अर्थात् रत्नसेन बंदी है। अतः कमल, अर्थात् पद्मावती सिंहासन पर नहीं बैठ सकती। मैं भी उसी मार्ग पर जाऊँगी जिस मार्ग पर मेरे स्वामी गए हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में दुःख को वृक्ष का रूप देकर उसकी विराटता की कल्पना बड़ी विशद की गई है। इस पद में सर्वाधिक और श्रेष्ठ परिकल्पना का रूप है, फिर उसकी मौलिकता भी अपूर्व है।

शब्दार्थ—भावार्थ में देखें।

(६१०)

गोरा बादिल दुवौ पसीजे। रोवत रुहिर सीस पाँ भीजे॥
हम राजा सौं इहै कोहाने। तुम्ह न मिलहु धरियेहु तुरुकाने॥
जो मत सुनि हम आइ कोंहाई। सो निआन हम माँथें आई॥
जब लगि जियहिं न तार्कोहि दोहू। स्यामि जिअै कस जोगिनि होहू॥
उहे अगस्त हस्ति घन गाजा। नीर घटा घर आइहि राजा॥
का बरखा अगस्ति की डीठी। परै पलानि तुरंगम पीठी॥
बेधौं राहु छड़ावौं सूरू। रहै न दुख कर मूल अँकूरू॥
वह सूरज तुम्ह ससि सरद आनि मिलावहिं सोइ।
तस दुख महँ सुख ऊपनै रैनि माँझ दिन होइ ॥६१०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में।

गोरा और बादल ये दोनों ही वीर रानी पद्मावती के दुःख को सुनकर पसीज गए। वह भी रोने लगे और रक्ताश्रुओं से सिर से पाँव तक तर हो गए। वे बोले, हम राजा

से इसी कारण तो रूठे थे कि तुम तुर्क से मेल न करो, और उसे बंदी बना कर धर लो। राजा के जिस विचार से हम रूठ कर आए उसका दुष्परिणाम अन्ततः हमारे ही मत्थे पड़ा। किंतु हम जब तक जीवित हैं तब तक कभी भी राजद्रोह नहीं कर सकते। हे रानी, स्वामी के जीवित रहते तुम जोगन भला कैसे बन सकती हो? जब आश्विन शुक्ल में अगस्त नक्षत्र उदित होगा, हस्ति नक्षत्र में रीते घन गरजेंगे और पृथ्वी पर पानी घटेगा, तब निश्चय ही राजा चित्तौड़ लौट आएँगे। अगस्त की दृष्टि के आगे भला वर्षा कहाँ? सैनिकों के रण-प्रयाण के लिए घोड़ों की पीठ पर ज़ीन या पलान कसी जायगी। और तब मैं राहू बेध कर सूर्य अर्थात् राजा रत्नसेन को बंधन से मुक्त करूँगा। हे रानी, तब तुम्हारे हृदय का अंकुर समूल नष्ट हो जायगा। आशय यह है कि शत्रु अलाउद्दीन को मार भी दूंगा और पद्मावती के पति रत्नसेन को मुक्त भी करा दूंगा। यों रानी का क्लेश मूलतः मिट जायगा।

हे रानी, राजा रत्नसेन सूर्य है और तुम शरद की पूर्ण चन्द्र हो। हम उस प्रियतम को लाकर तुमसे मिलन कराएँगे। इस भाँति दुःख में से सुख का प्रादुर्भाव होगा और निराशा की रात का अन्धकार मिटेगा, दिन होगा।

शब्दार्थ—कोहान = रूठना, कुपित होना। दोहू = द्रोह, यहाँ राज-द्रोह से तात्पर्य है। स्यामि = स्वामी। गाजा = गरजना। डीठी = दृष्टि। परै पलानि = घोड़े की ज़ीन कसना। तुरंगम = घोड़ा। अँकूरू = अंकुर।

(६११)

लेहु पान बादल औ गोरा। केहि लै देउँ उपमा तुम्ह जोरा॥
तुम्ह सावँत नहि सरबर कोऊ। तुम्ह अंगद हनिवंत सम दोऊ॥
तुम्ह बलबीर जाज जगदेऊ। तुम्ह मुस्टिक औ माल कँडेऊ॥
तुम्ह अरजुन औ भीम भुआरा। तुम्ह नल नील मेंड़ देनिहारा॥
तुम्ह टारन भारन जग जाने। तुम्ह सो परसु औ करन बखाने॥
तुम्ह मोरे बादिल औ गोरा। काकर मुख हेरौं बँदिछोरा॥
जस हनिवँत राघौ बँदि छोरी। तस तुम्ह छोरि मिलावहु जोरी॥
जैसे जरत लखा ग्रिहँ साहस कीन्हेउ भीवँ।
जरत खंभ तस काढ़हु कै पुरुखारथ जीवँ॥६११॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा बादल के आश्वासन को सुनकर रानी पद्मावती ने कहा कि हे बादल-गोरा, मेरा यह बीड़ा ग्रहण करो। तुम दोनों वीरों की जोड़ी की उपमा मैं किससे दूँ? तुम जैसे वीर-सामंतों की बराबरी में कोई भी नहीं है। तुम दोनों अंगद और हनुमान के समान बलशाली हो। तुम जाजदेव (राजा हम्मीर के एक विश्वस्त वीर का नाम) और वीर जगदेव (धार के परमार राजा का ज्येष्ठ पुत्र जिसने सिद्धराज की रक्षा में अपना सिर दे दिया था। इसके लिये कविवर मैथलीशरण जी गुप्त ने "सिद्धराज" नामक खण्ड-काव्य

लिखा है जो पठनीय है।) के समान वीर स्वामिभक्त हो। तुम कंस के प्रमुख मल्ल मुष्टिक और मार्कण्डेय ऋषिकुमार के समान साहसी और दृढ़व्रती हो। तुम अर्जुन और भूपाल के समान वीर हो। तुम समुद्र में बाँध बाँधने वाले राम-सनेही नल नोल के समान हो। तुम भार हटाने में (आशय दुःख भार से है।) जगत प्रसिद्ध हो। तुम परशुराम एवं कर्ण के समान सर्वविदित वीर बखाने जाते हो। हे गोरा-बादल, जब तुम मेरे हित में हो तो मैं स्वामी को बन्धन से मुक्त कराने के लिए किसका मुँह ताकूँगी? जिस भाँति स्वामिभक्त हनुमान ने श्रीराम को बंधन-संकट से मुक्त कराया था, सीता दिलाई थीं, इसी भाँति तुम मेरी बिछुड़ी जोड़ी मिलाओगे—रत्नसेन को मुक्त कराके मुझसे मिलन कराओगे।

जिस प्रकार जलते हुए लाक्षाग्रह में भीम ने साहस करके प्रवेश किया था, इसी प्रकार तुम प्राणों के पुरुषार्थ पर खेलकर उस जलते हुए स्तम्भ अर्थात् राजा रत्नसेन को मुक्त कराके लाओगे।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(६१२)

गोरा बादिल बीरा लीन्हा। जस अंगद हनिवंत बर कीन्हा।
साजि सिंहासन तानहिं छातू। तुम्ह माँथें जुग जुग अहिबातू॥
कँवल चरन भुइँ धरत दुखावहु। चढ़हु सिंघासन मँदिल सिधावहु॥
सुनि सूरज कँवलहि जिय जागा। केसरि बरन बोल हियँ लागा॥
जनु निसि महँ रबि दीन्ह देखाई। भा उदोत मसि गई बिलाई॥
चढ़ि सो सिंघासन झमकत चली। जानहुँ दुइज चांद निरमली॥
औ सँग सखी कमोद तराई। ढारत चवर मँदिल लै आई॥
देखि सो दुइज सिंघासन संकर घरा लिलाट।
कँवल चरन पदुमावति लै बैसारेन्हि पाट॥६१२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पद्मावती का दिया हुआ बीड़ा गोरा बादल ने ग्रहण किया। जिस भाँति श्रीराम की सेना के लिए अंगद और हनुमान ने बल-व्रत किया था, उसी भाँति गोरा बादल ने भी किया। उन्होंने पद्मावती को आश्वासन देते हुए कहा कि तुम्हारे लिए हम सिंहासन सजाकर उस पर छत्र तानेंगे। तुम्हारे ललाट पर युग-युग तक सदा के लिए सुख-सौभाग्य रहेगा। तुमने रानी होकर अपने चरण-कमल पृथ्वी पर रखकर महा दुःख पाया है। अब तुम सिंहासन पर चढ़ो और अपने महल में जाओ। सूरज अर्थात् रत्नसेन का नाम सुनकर कमल अर्थात् पद्मावती के हृदय में प्रसन्नता हुई। गोरा बादल का शुभ-कथन केसरिया रंग का बनकर उसके हृदय में लग गया। मानो रात में सूर्य उदय हो गया हो, अतः उजाला हो गया, और निराशा की कालिमा मिट गई। पद्मावती प्रसन्नता पूर्वक सिंहासन पर चढ़कर प्रकाश वितीर्ण करती हुई राजमहल के लिए चली। प्रतीत हुई, मानो वह दोयज की निर्मल चन्द्र हो। तारों तथा कुमुदिनियों सी सखियाँ उसके साथ में

चँवर डुलाती हुई उसे राजमंदिर में ले आई।

कविवर जायसी कहते हैं कि दोयज के चन्द्र-सी पद्मावती को सिंहासनारूढ़ देखकर शंकर जी उसके रूप पर मोहित हुए और उन्होंने अपने ललाट पर द्वितीया के चन्द्र को आसन दिया; उसे पद्मावती की प्रतिमूर्त्ति कल्पित थी।

पद्मावती के चरण-कमल का स्पर्श कर सखियों ने उसे सिंहासन पर आसीन किया।

शब्दार्थ—मँदिल = राजमहल। बरन = रंग। उदोत = उदय। भा = हुआ। मसि = कालिमा। झमकत = प्रसन्नतापूर्वक। निरमल = निर्मल। बैसारेन्हि पाट = सिंहासन पर बिठलाया।

५२--गोरा बादल युद्ध यात्रा खण्ड

(६१३)

बादिल केरि जसो वै माया। आइ गहे बादिल के पाया।।
बादिल राय मोर तूं बारा। का जानसि कस होइ जुझारा।।
पातसाहि पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहिं छाजा।।
छत्तिस लाख तुरै जेहि छाजहिं। बीस सहस हस्ती दर गाजहिं।।
जबहिं आइ जुरिहै वह ठटा। देखत जैस गगन घन घटा।।
चमकहिं खरग सो बीज समाना। गलगाजहिं घुम्मरहिं निसाना।।
बरिसहिं सेल बान घनघोरा। धीरज धीर न बाँधहि तोरा।।
जहाँ दलपती दलमलहिं तहाँ तोर का जोग।
आजु गवन तोर आवै मंदिल मानु सुख भोग।।६१३।।

भावार्थ—राजा रत्नसेन की मुक्ति हेतु पद्मावती से की हुई प्रतिज्ञानुसार गोरा-बादल युद्ध के लिए दिल्ली को प्रस्थान करते हैं। कविवर जायसी उस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

माता यशोवती ने आकर अपने पुत्र बादल के पाँव पकड़ लिये और बोली कि हे मेरे बादलराय, तू तो अभी बालक है। तू क्या जाने कि युद्ध-वीर कैसे विकट होते हैं। बादशाह अलाउद्दीन महीप है। उसका सामना करना वीर हमीर के लिये भी शोभन न हुआ कि जिसके यहाँ छत्तीस लाख घोड़ों की सेना है, बीस सहस्र हस्ति दल गरजता है। जब उन सबका वीर समूह आकर जुड़ेगा तब ऐसा लगेगा मानो आकाश में घोर घटाएँ उमड़ पड़ी हों। तलवारें बिजली सी चमकेंगी। हाथियों की गरज से नगाड़ों का घोर रव होगा। सेल

(विशेष प्रकार का बर्छा) और बाणों की प्रचुर वर्षा होगी। उस भयंकर युद्ध में तेरा धर्म या साहस बँधा न रह सकेगा।

जहाँ विकट दलपति दल मारकाट मचा देंगे भला वहाँ तेरा क्या वश चलेगा ? आज तेरा गौना आने वाला है, (नववधु आगमन) अतः अपने भवन में ही तू सुख भोग मान।

शब्दार्थ—सरल है।

(६१४)

मता न जानसि बालक आदी। हौं बादिला सिंघ रनबादी।।
सुनि गज जूह अधिक जिउ तपा। सिंघ की जाति रहै नहिं छपा।।
तब गाजन गलगाज सिंघेला। सौंहँ साहि सौं जुरौं अकेला।।
अंगद कोपि पाँव जस राखा। टेकौं कटक छतीसौं लाखा।।
को मोहि सौंहँ होइ मैमंता। फारौं कुंभ उपारौं दंता।।
जादौं स्याम सँकरे जस टारा। बल हरि जस जुरजोधन मारा।।
हनिवँत सरिस जंघ बर जोरौं। धँसौं समुंद्र स्याम बँदि छोरौं।।
जो तुम्ह मात जसोवै कान्ह न जानहु बार।
जहँ राजा बलि बांधा छोरौं पैठि पतार।।६१४।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

बादल अपनी माँ को वीर धर्म समझाते हुए आश्वासन देता है कि हे माँ, तू मुझे निपट बालक ही मत समझ। मैं बादल,—रण में भीषण दहाड़ मारने वाला सिंह हूँ। सिंह का हृदय पौरुष हाथियों के झुण्ड देखकर और अधिक उबलता है। सिंह जाति का क्षत्रीय छिपा हुआ नहीं रह सकता ? मेरी सिंह सी दहाड़ तभी सार्थक है जबकि शाह के मुकाबले पर अकेला ही भिड़ूँ। जिस प्रकार रावण दल के आगे कुपित हुए अकेले अंगद ने अटल पाँव अड़ाया था इसी प्रकार मैं भी चाहूँगा कि मैं अकेला ही बादशाह के छत्तीस लाख के लश्कर को रोक लूँ। कौन वह मैमंत या मस्त युद्ध का हाथी है जो मेरे मुकाबले पर आए ? मैं उसका गण्डस्थल फाड़ डालूँगा और दाँत तोड़ दूँगा। जिस भाँति कंस को मारकर यदुवंशी श्रीकृष्ण ने संकट दूर किए और भीमसेन ने अभिमानी, दुराचारी दुर्योधन को मारा, उसी भाँति मैं भी युद्ध करूँगा। मैं भी महाबली हनुमान की भाँति अपने पटों में बल संचित करके सागर में कूदूँगा, और स्वामी रत्नसेन को क़ैद से छुड़ाऊँगा।

हे माँ, जब तुम यशोवती अर्थात् कृष्ण की माँ जशोदा सी यशवती हो तो अपने मुझ कृष्ण जैसे को निरा बालक ही मत जानो। जहाँ बलि राजा को बाँधा गया था, उस पाताल में घुसकर भी मैं अपने राजा को छुड़ाऊँगा।

विशेष—प्रस्तुत पद में राजपूती वीर भावना का ओजस्वी प्रकाशन हुआ है, और यह भी भारतीय आधार-आख्यानों पर ?

शब्दार्थ—भावार्थ में स्पष्ट किया गया है; देखें।

(६१५)

बादिल गवन जूझि कहँ साजा। तैसेंहि गवन आइ घर बाजा ॥
लिहें साथ गवने कर चारू। चन्द्र बदनि रचि कीन्ह सिंगारू ॥
माँग मोति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मँजूर बाँक तस जूरा ॥
भौंहें धनुक टँकोरि परीखे। काजर नैन मार सर तीखे ॥
घालि कचपची टीका सजा। तिलक जो देख ठाउँ जिउ तजा ॥
मनि कुंडल डोलहिं दुइ स्रवना। सीस धुनहिं सुनि सुनि पिय गवना ॥
नागिनि अलक झलक उर हारू। भएउ सिंगार कंत बिनु भारू ॥
गवन जो आई पिय रवनि पिय गवनें परदेस।
सखी बुझावौं किमि अनल बुझै सो कहु उपदेस ॥६१५॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग क्रम में--

वीर बादल ने ज्यों ही रण की तैयारी की कि त्यों ही घर पर उसका गौना आ गया। गौने की समस्त रीति-रस्म साथ में लिये चन्द्रमुखी उसकी नवोढ़ा वधू ने पूर्णत: शृंगार किया हुआ था। उसने सिन्दूर भरकर मोतियों से माँग सजाई थी। बीच सिर पर बँधा उसका जूड़ा ऐसा सुशोभित था, मानो मोर बैठा हो। उसकी भौहें ऐसी तीखी और चंचल थीं जैसे टँकार कर परखा जाता हुआ धनुष हो। नयनों का जल कामदेव का तीखा कटाक्ष-बाण सरीखा लग रहा था। माँथे पर कचपची या कृत्तिका नक्षत्र जैसा शोभित टीका लगाया हुआ था। उस नववधू का माँथे का तिलक जो देखता, वही प्राण छोड़ देता था। दोनों कानों में रत्नमणि जटित कुंडल हिलते थे। मानो प्रियतम का रण-गमन सुनकर वे अपना सिर धुन रहे थे। हृदय-हार के पास नागिनि सी एक लट झलकती थी। यह सब शृंगार भी प्रियतम के बिना उसे भारस्वरूप हो रहा था।

वह रमणी ज्योंही गौने में आई कि उसका दुर्भाग्य जो प्रियतम परदेस जाने लगा। वह बोली,--हे सखी, बता, यह दुःख की आग कैसे बुझाऊँ?--ऐसी युक्ति बता जो यह बुझ जाए।

शब्दार्थ--गवन=प्रस्थान। जूझि=युद्ध। गवन=गौना। रचि=पूर्णत: शृंगार करके। मँजूर=मोर। परीखे=परीक्षा करना। टंकार=धनुष की श्रेष्ठता की जाँच का शब्द। घालि=लगाया हुआ। कचपची=कृत्तिका नक्षत्र।

(६१६)

मानि गवन जस घूंघट काढ़ी। बिनवै आइ नारि भै ठाढ़ी ॥
तीखे हेरि चीर गहि ओढ़ा। कंत न हेर कीन्ह जिय पोढ़ा ॥
तब धनि बिहँसि कीन्ह चखु डीठी। बादल तबहिं दीन्ह फिरि पीठी ॥
मुख फिराइ मन उपनी रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा ॥
भा मन फीक नारि के लेखें। कस पिय पीठि दीन्ह मोहिं देखें ॥
मकु पिय दिस्टि समानेउ चालू। हुलसा पीठि कढ़ावै सालू ॥

कुच तूंबो अब पीठि गड़ोवौं। कहेसि जो हूक काढ़ि रस धोवौं ।।
रहौं लजाइ तौ पिय चलै कहौं तो मोहि कहँ ढीठि ।
ठाढि तिवानी का करौं दूभर दुवौं बसीठि ।।६१६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

अपने प्रियतम बादल का प्रस्थान जानकर वह नववधू जैसा घूँघट किए हुए थी उसी तरह बादल के पास आकर, उससे विनती करने के लिए खड़ी हो गई। एक बार गड़ी हुई कटाक्षपूर्ण दृष्टि से उसको देखकर पुनः घूँघट खींच लिया। किन्तु फिर भी बादल ने उसे न देखा; हृदय ऐसा कठोर कर लिया। तब नववधू ने विहँसकर उसकी ओर देखा। किन्तु तब भी बादल ने उसकी ओर पीठ कर ली। बादल ने मुख फेर लेने की उपेक्षा से उस ओर पीठ कर ली। बादल के मुख फेर लेने की उपेक्षा से उस नववधू के मन में क्रोध जागा। उसने सोचा कि विदा के समय भी प्रियतम न अपनी प्रिया का मुख देखना पसन्द न किया। क्या उसका मन अपनी स्त्री के प्रति नीरस हो गया है? मुझे देखकर प्रियतम ने पीठ क्यों कर ली, मेरी उपेक्षा क्यों की? इसके विपरीत वह नववधू शृंगारिक परिकल्पना करती हुई सोचती है—हो न हो प्रियतम की दृक्टि में भी गौने का मान-रंग छा गया है। वह प्रसन्नता में चाहता है कि मेरी दृष्टि के कटाक्ष-वाण उसकी छाती से होकर पीठ के पार होते हुए दीखें। अच्छा तो फिर मैं जब अपने कुच रूपी तुम्बे उसकी पीठ पर गड़ाऊँगी, और उसने जो काम-क्रीड़ा की सांकेतिक बात कही है, उसे यों, कुच निकालकर रति-रस से स्नात कर दूंगी।

नववधू असमंजस में सोचती है कि यदि मैं लाज में भरी रही तो प्रियतम शीघ्र चला जायगा, और यदि प्रेम को कहदूं तो वह मुझे ढीठ एवं वाचाली कहेगा। वह खड़ी-खड़ी चिंतित है कि क्या करूँ? दोनों प्रकार से प्रियतम के मन तक प्रेम-संदेश का दूत-कर्म करना बड़ा ही कठिन है।

विशेष—यहाँ कविवर जायसी ने शृंगार के दुविधाजनक भावों-अनुभावों का सफल चित्रण किया है। मनोवैज्ञानिक रूप मे यह पद अत्यधिक ललित किन्तु सत्य-गुंफित हैं।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६१७)

मान किहें जौं पियहि न पावौं। तजौं मान कर जोरि मनावौं ।।
कर हुति कंत जाइ जेहि लाजा। घूँघट लाज आव केहि काजा ।।
तब धनि बिहँसि कहा गहि फेंटा। नारि जो बिनवै कंत न मेंटा ।।
आजु गवन हौं आई नाहाँ। तुम्ह न कंत गवनहु रन माहाँ ।।
गवन आव धनि मिलन की तांई। कवन गवन जो गवनै साई ।।
धनि न नैन भरि देखा पीऊ। पिय न मिला धनि सौं भरि जीऊ।।
तहँ सब आस भरा हिय केवा। भँवर न तजै बास रस लेवा ।।

पायन्ह धरं लिलाट धनि बिनति सुनहु हे राय।
अलक परी फँदवारि होइ कैसेहुँ तजै न पाय।।६१७।।

भावार्थ––पूर्व पद के प्रसंग में बादल की नवोढ़ा वधू अपने मनोभावों के आवेश में सोचती है––

यदि मान करने से मैं अपने प्रियतम को नहीं पा सकती तो मान त्यागकर मैं उसे हाथ जोड़कर अनुकूल करूँगी। जिसके कारण अपना पति अपने हाथ से निकल जाय वह घूँघट की लज्जा भी किस काम की है? (यहाँ आधुनिक नारी का विचार साम्य व्यंजित है।) तब बादल की फेंट पकड़कर उस बाला ने सस्मित कहा––स्त्री की विनती को पुरुष नहीं मिटा सकता। हे स्वामी, मैं आज ही तो गौने में आई हूँ; अतः तुम आज रण के लिए प्रस्थान न करो। गौने में स्त्री पति से समागम करने के लिए आती है। वह गौना ही फिर किस अर्थ का यदि पति चला जाय? जहाँ स्त्री ने भरे नयनों से अपने प्रियतम को न निहारा, और पति हृदय सहित अपनी प्रिया से न मिला तो वहाँ हृदय-कमल की समस्त आशा-अभिलाषाएँ व्यर्थ भरी की भरी ही रह जाती है। रसपान करने वाले प्रियतम रूपी भँवरे को उसे छोड़कर नहीं जाना चाहिए।

यों वह बाला पति के चरणों पर मत्था रखकर कहने लगी कि हे राय, मेरी विनती सुनो, स्वीकार करो। उसकी अलकें फंदा डालने वाली बनकर बादल के पाँवों से जकड़ गईं––बेड़ी सी! किसी भी तरह पैरों को न छोड़ती थीं।

शब्दार्थ––विशेष नहीं हैं।

(६१८)

छांड़ु फेंट धनि बादिल कहा। पुरुख गवन धनि फेंट न गहा।।
जौं तूँ गवन आइ गजगामी। गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी।।
जब लगि राजा छूटि न आवा। भावं बीर सिंगारु न भावा।।
तिरिया पहुमि खरग कै चेरी। जीतै खरग होइ तेहि केरी।।
जेहि कर खरग मूठि तेहि गाढ़ी। जहाँ न आँउ न मोंछ न दाढ़ी।।
तब मुख मोंछ जीव पर खेलौं। स्याम काज इंद्रासन पेलौं।।
पुरुख बोलि कै टरै न पाछू। दसन गयंद गीव नहिं काछू।।
तूँ अबला धनि मुगुध बुधि जानै जान निहार।
जहँ पुरुखन्ह कहँ बीर रस भाव न तहाँ सिंगार।।६१८।।

भावार्थ––पूर्व पद के प्रसंग क्रम में––

वीर बादल ने अपनी नववधू को समझाया––हे बाले, मेरी फेंटि छोड़ दे। वीर पुरुष के प्रस्थान के समय उसकी स्त्री उसकी फेंट नही थामा करती। आशय है कि एक वीर क्षत्राणी के लिये यह शोभनीय नहीं कि वह अपने वीर पति की, रण-प्रस्थान के समय बाधा बने। हे गजगामिनी, यदि तू गौने में आई है तो मेरा भी अनिवार्य गमन वहाँ हो रहा है, जहाँ मेरा स्वामी है। जब तक राजा रत्नसेन मुक्त नहीं हो आता तब तक मुझे वीर रस

भाता है, शृंगार नहीं। हे बाले, स्त्री और भूमि, यह खड्ग की दासी है। जो इन्हें खड्ग से जीतता है, यह उसी की होती हैं। जिसके कर में तलवार होती है उसकी मुट्ठी सम्पन्नता से भरी होती है। जिस वीर की मुट्ठी में तलवार की मूँठ, अँविया अथवा आँड नहीं होती, उस वीर की मूँछ और दाढ़ी का सम्मान नहीं होता। आशय है कि एक क्षत्रीय-वीर का गौरव-सम्मान, मुट्ठी की तलवार पर निर्भर है। बादल कहता है कि हे बाले, मेरे मुँह पर तभी मूँछ सार्थक होंगी जब कि मैं युद्ध क्षेत्र में जान पर खेल जाऊँगा और अपने स्वामी के हित इंद्रासन तक को धकेल दूँगा। पुरुष वचन देकर पीछे नहीं हटता। उसका वचन हाथी के दाँत की भाँति अग्र-अड़ियल होता है; कछुए की गर्दन की भाँति समय पर पीछे सिकुड़ जाने वाला नहीं।

हे बाले, तू अबला है, अतः तेरी बुद्धि नादान है। इस वीर-महत्व को वही जानता है जो जानने वाला सच्चा वीर है? जिन वीर पुरुषों के लिये वीर रस अच्छा है, उन्हें रस-शृंगार नहीं भाता।

शब्दार्थ—तिरिया = स्त्री। धनि = नारी, स्त्री। गवन = प्रस्थान। गहा = पकड़ना। गजगामी = गजगामिनी। भावा = अच्छा लगना। आँड = तलवार की मूँठ या अँविया। मुगुधबुधि = नादान बुद्धि।

(६१९)

जौं तुम्ह जूझि चहौ पिय बाजा। किहें सिंगार जूझि मैं साजा॥
जोबन आइ सौंहँ होइ रोपा। पखरा बिरह काम दल कोपा॥
भएउ बीर रस सेंदुर माँगा। राता रुहिर खरग जस नाँगा॥
भौंहँ धनुक नैन सर साँधे। काजर पनच बरुनि बिख बाँधे॥
दै कटाख सो सान सँवारे। औ नख सैल भाल अनियारे॥
अलक फाँस गियँ मेलि असूझा। अधर अधर सौं चाहै जूझा॥
कुंभस्थल दुइ कुच मैमंता। पेलौं सौहँ सँभारहु कंता॥
कोप सँघारहु बिरह दल टूटि होइ दुइ आध।
पहिलें मोहि संग्राम कै करहु जूझ कै साध॥६१९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

बादल की नववधू बोली—हे प्रियतम, यदि तुम युद्ध में लड़ना चाहते हो तो मैंने प्रथम तुम्हारे साथ संभोग-युद्ध करने का साधन बना रक्खा है। आशय है कि पहले मेरी काम वासना को शान्त कर जाओ। यौवन मोर्चे पर सामने अड़ा हुआ है। विरह का कवच पहने हुए काम की सेना कुपित हो रही है। तुम्हारे वीर रस में मेरी सिंदूर खचित माँग इस प्रकार की लग रही है मानो रक्त रंजित नंगी तलवार हो। भौंह रूपी धनुष, नेत्र-बाण साधे हुए हों। प्रत्यंचा, आँखों में खिंची काजल की रेखा है। बरौनियों का उनपर विष लगा है। कटाक्ष रूपी सान उन बाणों पर धरी गई है। तीखे उठे हुए नख, बल्लम या भाले हैं। केशपाश रूपी दृढ़ फंदा तुम्हारी गर्दन में डालकर मेरे ओठ तुम्हारे ओठों से संग्राम या जी-

भर चुम्बन करना चाहते हैं। मेरे दोनों उरोज, दो मतवाले हाथी हैं। हे प्रियतम, तो लो, मैं उन्हें आगे पेलती हूँ, सँभालो।

हे मेरे वीर प्रियतम, कुपित होकर विरह की इस सेना का इस प्रकार खण्डन करो कि दो टुकड़े हो जायँ। मेरे साथ काम-संग्राम करो, और फिर शत्रु-संग्राम की कामना करना।

विशेष—कविवर जायसी में काव्य की तत्व गत शक्ति (Elemental power) प्रखर थी। कई स्थलों पर उन्होंने दो विरोधी भावनाओं, रसों एवं मनोवेगों का सफल चित्रण किया है। वीर और शृंगार रस परस्पर विरोधी माने गए हैं। यहाँ दोनों के विरोध में कितनी तत्वगत समीपता है, यह कविवर जायसी की काव्य कला की विशिष्टता है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६२०)

कैसेहुँ कंत फिरै नहिं फेरें। आगि परी चितउर धनि केरें॥
उठे सो धूम नैन करुआने। जबहीं आँसु रोइ बेहराने॥
भीजे हार चीर हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली॥
भीजी अलक चुई कटि मंडन। भीजे भँवर कँवल सिर फुंदन॥
चुइ चुइ काजर आँचर भीजा। तबहुँ न पिय कर रोवँ पसीजा॥
छाँड़ि चला हिरदै दै डाहू। निठुर नाँह आपन नहिं काहू॥
सबै सिंगार भीज भुइं चूवा। छार मिलाइ कंत नहिं छुवा॥
रोएँ कंत न बहुरै तेहि रोएँ का काज।
कंत धरा मन जूझ रन धनि साजे सब साज॥६२०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पर····किसी भी भाँति प्रियतम का मन न फिरता था। इससे बादल की नवोढ़ा वधू के अन्तर में वासना-उपेक्षा की आग प्रज्वलित हो गई। उस विषम ज्वाला के धुएँ से उसके नेत्र कसैले हुए और तभी वे फटकर रोते हुए अश्रु बरसाने लगे। उन आँसुओं से उसका हार, वस्त्र, हृदय भीगे, चोली भीगी। किन्तु वह चोली बिना कंत के खोले अछूती ही रह गई। अलक भीग गई; कटि की करधनी चू पड़ी। स्तनों के काले अग्रभाग 'चूचुक' (घुंडी के आकार का) तथा सिर के लटकते हुए चुटीले का फुंदना भी भीग गया। काजल चूकर बहा और अंचल भीग गया। किन्तु फिर भी प्रियतम का एक रोवाँ भी न पसीजा। उसके हृदय में आग सुलगाकर वह छोड़ चला। निठुर प्रियतम किसी का सगा नहीं हुआ। उसका सारा शृंगार अश्रु के साथ भीगा-भीगा, चूकर धरती में बिखर गया। उसका सारा शृंगार मिट्टी में मिल गया, पर निठुर प्रियतम ने उसे छुआ तक नहीं।

कविवर जायसी कहते हैं कि जिस रुदन से प्रियतम न लौटे, वह किस अर्थ का ?

उधर तो प्रियतम ने रण में जूझना निश्चित कर लिया था और इधर बाला ने सब शृंगार सजाया था, कितनी असंगति !

शब्दार्थ—विशेष नहीं।

५३--गोरा बादल युद्ध खंड

(६२१)

मँते बैठ बादिल औ गोरा। सो मत कीज परै नहिं भोरा।।
पुरुख न करहिं नारि मति काँची। जस नौसाबै कीन्ह न बाँची।।
हाथ चढ़ा इसिकंदर बरी। सकति छाँड़ि कै भै बँदि परी।।
सजग जो नाहिं काह बर काँधा। बधिक हुते हस्तीगा बाँधा।।
देवन्ह चली आई असि आँटी। सुजन कँचन दुर्जन भा माँटी।।
कंचन जुरै भए दस खंडा। फुटि न मिलै माँटी करभंडा।।
जस तुरकन्ह राजहिं छर साजा। तस हम साजि छड़ावहिं राजा।।
पूरुख तहाँ करै छर जहँ बर कीन्हें न आँट।
जहाँ फूल तहाँ फूल होइ जहाँ काँट तहाँ काँट ।।६२१।।

भावार्थ—राजा रत्नसेन को छुड़ाने के लिए गोरा बादल परस्पर युद्ध सम्बन्धी मंत्रणा करने लगे। इस प्रसंग में कविवर जायसी लिखते हैं, युद्ध योजना के लिए गोरा और बादल परस्पर मंत्रणा करने लगे। उन्होंने मंत्रणा की कि कोई ऐसा अमोघ मंत्र निश्चित करें जो चूकने वाला न हो ! पुरुष, स्त्रियों की भाँति कच्ची बुद्धि से कार्य नहीं करते; जैसा कि नौशावा रानी ने किया कि सिकन्दर को दूत जानकर भी उसे न पकड़ा और फिर स्वयं उसके आधीन हो गई। प्रतापी सिकन्दर उसके हाथ में आ गया किंतु वह परीज़ादी अपनी शक्ति को छोड़कर उसकी बंदिनी हो गई। जो सजग नहीं उसका बल धारण करना किस अर्थ था ? देखो, बुद्धि से शिकारी के द्वारा हाथी बाँध लिया गया। हिन्दू राजों में यह परम्परागत रीति चली आई है कि उन्हें सज्जन तो सोना है, और दुर्जन मिट्टी। सोना दस टुकड़े होकर जुड़ जाता है किन्तु मिट्टी का बर्तन फूटने पर फिर नहीं जुड़ता। आशय यह है कि विजय अतंत: हर परिस्थिति के उपरांत सज्जन के सत्य की है, दुर्जन के असत्य की नहीं। अत: राजा मुक्त होगा । गोरा बादल ने मंत्रणा की कि जिस प्रकार तुर्कों ने राजा के साथ कपट करके उसे क़ैदी बनाया उसी भाँति हम भी उसे मुक्त कराएँगे।

पुरुष का जहाँ बल से पूरा नहीं पड़ता वहाँ वह छल करता है। जहाँ फूल होता है वहाँ वह फल बन जाता है, जहाँ काँटा होता है वहाँ वह काँटा हो जाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में लोक व्यवहार की नीति का प्रतिपादन बड़े काव्य कौशल से किया गया है। उक्ति है—

"शठम शाठ्ये समाचरेत"

उसका पुष्ट प्रतिपादन देखिए कविवर जायसी की इस पंक्ति में—

"जस तुम्हकन्ह राजहि छर साजा, तस हम साजि छड़ावहिं राजा।"

और भी, नारी की प्रायः मंद बुद्धि का सिकन्दर की लोक कथा के आधार-उदाहरण द्वारा अच्छी पुष्टि की गई है। अन्तिम पंक्ति में "जैसे को तैसा" वाला लोक प्रचलित सिद्धान्त फूल काँटे के रूपक से प्रभावशाली ढंग से व्यंजित किया गया है। पद में "औशनिक नीति" मंत्रणा भी व्यंजित है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं है।

(६२२)

सोरह सौ चंडोल सँवारे। कुँवर सँजोइल के बैठारे॥
साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू॥
रचि बेवान तस साजि सँवारा। चहुँ दिसि चँवर करहि सब ढारा॥
साजि सबै चंडोल चलाए। सुरँग ओढांइ मोंति तिन्ह लाए॥
भै सँग गोरा बादिल बली। कहत चले पदुमावति चली॥
हीरा रतन पदारथ झूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहिं॥
सोरह सै सँग चलीं सहेली। कँवल न रहा और को बेली॥

रानी चली छड़ावै राजहिं आपु होइ तेहि ओल।
बतिस सहस सँग तुरिअ खिचावहिं सोरह सै चंडोल॥६२२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा बादल ने सौलह सो चंडोल (बड़ी पालकी) जुटाए और उनके भीतर राज-कुँवारों को हथियार बन्द करके बिठाया। फिर रानी पद्मावती का विमान सजा जिसमें एक लोहार विठाया गया और इस रहस्य को सूर्य ने भी नहीं जाना कि वह क्यों बिठाया गया है! यह विमान उसी भाँति का रचा-सजा था कि जैसा वस्तुतः पद्मावती का अपना विमान था। उसके चारों ओर हाथों से चँवर डुलाए जा रहे थे। सब चंडोल सजाकर रवाना किये गये। उनके ऊपर मोती टँके लाल-पट उढ़े हुए थे। वीर गोरा बादल साथ में चले और यह कहते हुए कि पद्मावती जा रही है। पद्मावती के विमान में देवताओं को भ्रमित करने वाले सुन्दर-सुन्दर हीरे, लाल और चमकीले रत्न लटक-झलक रहे थे। यह भी कहा गया कि पद्मावती की सौलह सौ सखी-सहेलियाँ भी उसके साथ चल रही हैं। जब कमल अर्थात् पद्मावती ही न रही तो वे सखी-लताएँ भला कैसे रहतीं?

यह भी घोषित किया गया कि राजा रत्नसेन को मुक्त कराने के लिए स्वयं रानी पद्मावती अपने को शाह के यहाँ समर्पित करने या जमानत में धरने जा रही है। वह अपने साथ वत्तीस सहस्त्र घोड़े एवं सोलह सो चंडोल इसी उद्देश्य से लेकर जा रहा है।

विशेष—कविवर जायसी को राजनीतिक दाँव-पेंच पैने मालूम थे, यहाँ और अन्यत्र भी इस बात की यथेष्ट पुष्टि हुई है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं।

(६२३)

राजा बँदि जेहि की सौंपना। गा गोरा तापहँ अगुमना ।।
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्ह पाय गहि गोरा ।।
बिनवहु पातसाहि पहँ जाई। अब रानी पदुमावति आई ।।
बिनै करै आई हौं ढीली। चितउर की मो सिउँ है कोली ।।
एक घरी जौं आग्यां पावौं। राजहिं सौंपि मँदिल कहँ आवौं ।।
बिनवहु पातसाहि के आगें। एक बात दीजै मोहिं मागें ।।
हते रखवार आगें सुलतानी। देखि अँकोर भए जस पानी ।।
लीन्ह अँकोर हाथ जेइँ जाकर जीव दीन्ह तेहि हाँथ।
जो वहु कहै सरै सो कीन्हे कनउड़ भार न माँथ ।।६२३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

राजा रत्नसेन क़ैद में जिसकी तैनाती में था, सबसे पहले गोरा उसके पास गया। उसे दस लाख चाँदी के टके रिश्वत में दिये, फिर गोरा ने उसके पाँव पकड़कर विनती की कि बादशाह अलाउद्दीन के पास जाकर यह विनती करो कि रानी पद्मावती तुम्हारे यहाँ पेश होने आई है। वह यह विनय करती है कि मैं दिल्ली आ गई हूँ। चित्तौड़ की चाबी मेरे पास है। यदि एक घड़ी की आज्ञा पाऊँ तो उस चाबी को राजा रत्नसेन के सुपुर्द करके आपके रंगमहल में पहुँचूँ। गोरा ने कहा कि तुम शाह से इस प्रकार निवेदन करना। यह एक प्रार्थना की पूर्ति मुझे भीख में दे दो, आभारी रहूँगा। कविवर जायसी कहते हैं यों तो सुलतान के रखवाले आग जैसे बने हुए थे, किन्तु रिश्वत को देखकर वे पानी पानी होगए, ललचा गए।

कविवर जायसी कहते हैं कि जिसने जिसके हाथ से रिश्वत ले ली, समझो उसने उसके हाथ में अपनी आत्मा बेच दी। जैसा रिश्वत देने वाला कहता है, लेने वाला वैसा ही करता है। जो जिसके अहसान से दब गया वह उसकी गर्दन हलाल नहीं कर सकता। आशय है कि उसे उचित अनुचित सभी कुछ करना पड़ता है।

विशेष—महाकवि की दृष्टि त्रिकालदर्शी होती है। आज के घूँसखोरी के गर्म बाजार और व्यक्तित्व के पतन का नक्शा आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व कविवर जायसी ने घूँसखोरी के इस पद चित्रण में ज्यों-का-त्यों खींच दिया है। कितना यथार्थ कितना आदर्श के आग्रह से परिपूर्ण ! इसके आगे के पद में भी घूँसखोरी, पाप लोभादि का संश्लिष्ट चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं।

(६२४)

लोभ पाप कै नदी अँकोरा। सत्तु न रहै हाथ जस बोरा ।।
जहँ अँकोर तहँ नेगिन्ह राजू। ठाकुर केर बिना सहिं काजू ।।
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा। दरब लोभ चंडोल न हेरा ।।
जाइ साहि आगें सिर नावा। ऐ जग सूर चाँद चलि आवा ।।
औ जावँत सँग नखत तराईं। सोरह सै चंडोल सो आईं ।।
चितउर जेति राज कै पूंजी। लै सो आई पदुमावति कूंजी ।।
बिनति करै कर जोरें खरी। लै सौंपौं राजहिं एक घरी ।।
इहाँ उहाँ के स्वामी दुहूँ जगत मोहि आस।
पहिलें दरस देखावहु तौ आवौं कबिलास ।।६२४।।

भावार्थ––पूर्व पद के प्रसंग क्रम में––

कविवर जायसी कहते हैं कि लोभ तथा पाप की नदी रिश्वत है। ज्योंही कोई उसमें हाथ डुबाता है कि उसका सत्य नहीं रहता। जहाँ रिश्वर चलती है वहाँ कर्मचारियों का राज हो जाता है। वे मनमानी करने लगते हैं। वे अपने मालिक का काम बिगाड़ने लगते हैं। गोरा के हाथ से रिश्वत पाकर बन्दीगृह के रखवालों का मन घी की तरह पिघल गया। धन के लालच से उन्होंने चंडोलों या पालकियों की तलाशी न ली। शाह के पास जाकर उन्होंने आगे होकर सिर झुकाया और बोले, हे विश्व सूर्य ! शशि-पद्मावती आपकी सेवा में आकर प्रस्तुत हो रही है। और उसकी जितनी तारिकाओं सी सखी-सहेलियाँ हैं, वे भी सोलह सौ चंडोलों में साथ आई हैं। चित्तौड़ राज्य की जितनी पूंजी है उस सबकी चावी भी पद्मावती ले आई है। वह खड़ी होकर विनती कर रही है कि शाह की यदि आज्ञा हो तो मैं घड़ी भर में वह चावी राजा रत्नसेन के सुपुर्द कर आऊँ !

वह कहती है कि जो मेरे इस-उस दोनों लोक के स्वामी हैं, और जिनसे मुझे दोनों लोक में उद्धार की आशा है, पहले मुझे उनके दर्शन करा दो, तब मैं शाह के रंगमहल में आऊँगी।

शब्दार्थ––विशेष नहीं हैं।

(६२५)

अग्याँ भई जाउ एक घरी। छूंछि जो घरी फेरि बिधि भरी ।।
चलि बेवान राजा पहँ आवा। सँग चण्डोल जगत गा छावा ।।
पदुमावति मिस हुत जो लोहारू। निकसि काटि बँदि कीन्ह जोहारू ।।
उठेउ कोपि जब छूटेउ राजा। चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा ।।
गोरा बादलि खाँडा काढ़े। निकसि कुंवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े ।।
तीख तुरंग गँगन सिर लावा। केहु जुगुति को टेकै बागा ।।
जौं जिउ ऊपर खरग सँभारा। मरनिहार सो सहसन्हि मारा ।।

भई पुकार साहि सौं ससियर नखत सो नाहिं।
घर कै गहन गरासा गहन गरासे जाहिं ॥६२५॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

बन्दीगृह के मंतरी का समाचार सुनकर शाह का हुक्म हुआ कि अच्छा जाओ, घड़ी भर के लिये मिल आओ। पद्मावती के लिये जो रिक्त घड़ी थी मानो फिर ईश्वर ने भर दी। विमान चलकर राजा रत्नसेन के पास आया। साथ के चंडोलों के जमघट से मानो संसार छा गया। पद्मावती के बहाने मे जो लोहार बैठा था, उसने बाहर आकर राजा के बंधन काट दिये और प्रणाम किया। बंधन मे मुक्त होते ही राजा का क्रोध भड़क उठा। घोड़े पर चढ़कर वह शेर की तरह गरजने लगा। गोरा बादल ने भी तलवार सूंत ली। साथ के क्षत्रीय कुँवर भी पालकियों मे उतर घोड़ों पर चढ़कर रण के लिये तत्पर खड़े हो गए। तीव्रगामी घोड़ों का सिर आकाश को छू रहा था। किस युक्ति से कौन उनकी रास को थाम सकता था ? कविवर जायसी कहते हैं कि जब कोई वीर जान पर खेलकर तलवार उठा लेता है तो मरते-मरते हुए भी वह हजारों को मार देता है।

शाह के पास पुकार हुई कि वे चन्द्र और तारे अर्थात् पद्मावती तथा उसकी सखियाँ नहीं हैं। छलपूर्वक जिन्हें हमने बन्दो बनाया था, वे हमें ग्रहण लगाकर चल जा रहे है। आशय है कि बन्दी या ग्रहन लगा राजा रत्नसेन राहु बनकर अब सूर्य रूपी शाह को ग्रहण लगाकर मुक्त हुआ चला जा रहा है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६२६)

लै राजहिं चितउर कहँ चले। छूटेउ मिरिग सिंघ कलमले ॥
चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी। कटक असूझ पारि जग कारी ॥
फिरि बादिल गोरा सौं कहा। गहन छूट पुनि जाइहि गहा ॥
चहुँ दिसि आइ अलोपत भानू। अब यह गोइ इहै मैदानू ॥
तूं अब राजहि लै चलु गोरा। हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा ॥
दहुँ चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रन जुरौं अकेला ॥
तब पावौं बादिल अस नाऊँ। जीति मैदान गोंइ लै जाऊँ ॥
आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौहँ साहि सों हाल जगत महँ होइ ॥६२६॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

वे गोरा-बादल राजा को मुक्त करा के चित्तौड़ ले चले। मृग के छूटने से सिंह कुलबुलाने लगा—आशय है, शाह को रत्नसेन की मुक्ति चुभी। चढ़ाई कर देने के लिए पुकार उठी और शाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। शाह के विशाल कटक या लश्कर ने संसार को अँधेरे से ढँक दिया। घूमकर बादल ने गोरा से कहा, जो ग्रहण से छुटा है, लगता है, वह फिर पकड़ा जायगा—आशय है कि रत्नसेन फिर ख़तरे में है। चारों ओर

से सूर्य—शाह हम पर छाता आ रहा है। अब मुझे मेरी खोपड़ी गेंद होगी और ये रण-क्षेत्र उससे खेलने का मैदान होगा। हे गोरा, तू राजा को लेकर आगे बढ़ा चला जा। मैं लौटकर मुक़ाबले में शाह की युद्ध-जोड़ी बनूँगा; उससे युद्ध जूझूँगा। देखूँ तो कि तुर्क शाह कैसा चौगान खेलता है! मैं खिलाड़ी बनकर उससे अकेला ही रण में भिड़ूँगा। मेरा सच्चा नाम 'बादल' तभी होगा जब मैं शाह से चौगान जीतकर गेंद ले जाऊँ। आज खड्ग रूपी चौगान या बल्ला हाथ में लेकर युद्ध स्थल में सिर की गेंद बना दूँगा। (चौगान प्राचीन काल का एक प्रमुख राजसी खेल था जिसे गेंद से खेला जाता था। आज का "टैनिस" का खेल सम्भवतः कुछ उसी ढंग का हो। चौगान का अर्थ बल्ला या "बैट" से भी है।)

शाह के सामने अड़कर खेलूँगा; जिससे कि संसार इस बात को जान ले कि शाह ही नहीं; और भी जान पर खेलने वाले खिलाड़ी हैं—वीर हैं।

शब्दार्थ—कलमले = हिलना-डुलना। चढ़ि = चढ़ाई। पारि = ढँकना। गाइ = गेंद। जोरा = जोड़। चौगान = ऊपर भावार्थ में स्पष्ट किया गया है।

(६२७)

तब अंकम दै गोरा मिला। तूँ राजहिं लै चलु बादिला॥
पिता मरै जो सारैं साथें। मींचु न देइ पूत के माँथें॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताउँ आइ जौं पूंजी॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौं जूझी। ताकहँ जनि रोवहु मन बूझी॥
कुँवर सहस सँग गोरैं लीन्हे। औरु बीर सँग बादिल दीन्हें॥
गोरहि समदि बादिला गाजा। चला लीन्ह आगे कै राजा॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पुरुखन्ह देखि चाउ मन बाढ़ा॥
आउ कटक सुलतानी गँगन छपा मसि माँझ।
परत आव जग कारी होत आव दिन साँझ॥६२७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

तब गोरा, बादल से गले लगकर मिला। उसने कहा कि हे बादल, तू राजा को लेकर चल; और यदि अपने दल या साथी की रक्षा के लिये पिता की मृत्यु होती हो तो वह अपने पुत्र के सिर से मौत नहीं मँढ़ता। मैंने पूर्ण आयु का भोग कर लिया है। अब यदि आयु की निधि चली भी जाय तो पश्चात्ताप क्या? यदि जूझूँगा तो बहुतों को मारकर मरूँगा। मन में ऐसा समझकर तू मेरी मृत्यु के लिये रोना मत! यह कहकर गोरा ने एक सहस्त्र कुँवर अपने संग में लिए और शेष सैनिक बादल के साथ कर दिए। गोरा से अन्तिम भेंट करके बादल गरजा और राजा को आगे करके चल दिया। गोरा लौटकर रणक्षेत्र में खड़ा हुआ। उसे देख वीरों के मन में युद्ध-उत्साह का ज्वार आ गया।

सुलतानी सेना के आने से आकाश स्याही में छिप गया। संसार में अँधियारी घिरती आ रही थी, और दिन में ही सन्ध्या होती जा रही थी। आशय है कि सुलतानी

सेना अपार थी।

शब्दार्थ--विशेष नहीं हैं।

(६२८)

होइ मैदान परी अब गोई। खेस हाल दहुँ काकरि होई॥
जोबन तुरै चढी सो रानी। चली जीति अति खेल सयानी॥
लट चौगान गोइ कुच साजी। हिय मैदान चली लै बाजी॥
हाल सो करै गोइ लै बाढा। कूरी दुहूँ बीच कै काढा॥
भए पहार दुवौ वै कूरी। दिस्टि नियर पहुँचत सुठि दूरी॥
ठाढ बान अस जानहु दोऊ। सालहिं हिए कि काढै कोऊ॥
सालहिं तेहि न जासु हियें ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े॥
मुहम्मद खेल पिरेम का घरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोई जौं हाल न होइ मैदान॥६२८॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग क्रम मे--

अब गेंद खेल के मैदान में पड़ी है। खेल में किसका क्या हाल होगा इसे कौन जाने ? आशय है कि पद्मावती रूपी गेंद किसकी होकर रहेगी, किसे आनन्द प्राप्त होगा, क्या पता है ? पद्मावती रानी यौवन के घोड़े पर सवार है। खेल में या कामक्रीड़ा में वह जीतकर या जीतने चली है। उसकी छाती पर लरजती लट मानो बल्ला है, और उसके कुच गेंद के समान शोभित-सज्जित हैं। वह रानी हृदय के मैदान में काम-क्रीड़ा की बाजी जीतने चली है। जो वीर काम के मैदान में गेंद लेकर या रमणी को लेकर उसे और दोनों खंभों के बीच में होकर निकालता है या संभोग करता है वही आनन्द या विजय प्राप्त करता है। वे दोनों "गोल" खंभे या कूरियाँ गेंद को पहुँचाने में पहाड़ सी दुस्साध्य हो गई थीं। वह कूरियाँ देखने में पास लगती थीं, किन्तु गेंद की पहुँच में दूर थीं। वे दोनों कूरियाँ तीखे बाणों की तरह खड़ी थीं। वे खिलाड़ियों या रसिकों को आतुर कर रही थीं कि कोई उनमें से गेंद को निकाले या पद्मावती के काम-मैदान को जीते। किन्तु वे कूरी रूपी बाण जिसके पास हैं उसका हृदय नहीं सालतीं; या जो उनके बीच से गेंद निकालना चाहता है, उसके हृदय को सालती हैं।

कविवर जायसी स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, कि हे मुहम्मद ! चौगान की प्रेम क्रीड़ा, घड़ी भर की भी बड़ी कठिन होती है। जब तक गेंद के साथ सिर भी न दिया जाय तब तक खिलाड़ी की मैदान में विजय नहीं होती।

विशेष--प्रस्तुत पद में शृंगारपरक अर्थ की व्यंजना अति ऊहात्मक है जो युद्ध के लक्षण-उपलक्षणों के माध्यम से प्रकट हुई है। भावार्थ में यथासाध्य, यथास्थल स्पष्टीकरण किया गया है, जिसे गहराई से पढ़ें। चौग़ान खेल की वर्णन परम्परा जायसी से बहुत पूर्व की है जो शृंगार और आध्यात्म प्रेम में ही घटाई गई है। कबीर ने इसका प्रयोग किया और खुसरू ने तो पूरा कथानक इस पर गढ़ा है।

शब्दार्थ—मैदान=चौगान खेल का मैदान या कामक्रीड़ा स्थल, हालगाह। गोई=गेंद या पद्मावती के कुच। हाल=कूरी, गोल या काम दशा का आनन्द, चुम्बन, कुचमर्दन आदि। तुरै=घोड़ा। बरन=धनुकी की मुठिया या दोनों स्तन।

(६२९)

फिरि आगें गोरें तब हाँका। खेलों आजु करौं रन साका॥
हौं खेलौं धौलागिरि गोरा। टरौं न टारा बाग न मोरा॥
सोहिल जैस इन्द्र उपराहीं। मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं॥
सहसौं सीसु सेस सरि लेखौं। सहसौं नैन इन्द्र भा देखौं॥
चारिउ भुजा चतुर्भुज आजू। कंस न रहा और को राजू॥
हौं होइ भीवँ आजु रन गाजा। पाछें घालि दंगवै राजा॥
होइ हनिवंत जमकातरि ढाहौं। आजु स्यामि सँकरें निरबाहौं॥
होइ नल नील आजु हौं देउँ समुँद महँ मेंड़।
कटक साहि कर टेकौं होइ सुमेरु रन बेंड़॥६२९॥

भावार्थ—पूर्व के युद्धप्रसंग क्रम में—

आगे घूमकर गोरा गरजा—मैं आज रण का भीषण खेल खेलूँगा और विशेष पराक्रम या साका प्रदर्शित करूँगा। मैं गोरा हिमालय सा अटल होकर खेलूँगा। किसी की टक्कर के हटाए न हटूँगा और पीछे रास या बाग न मोड़ूंगा। मैं अगस्त्य तारे की भाँति वर्षादेव इंद्र के ऊपर रहूँगा; मुझे देखते ही मेघ घटाएँ अथवा शत्रु सेनाएँ नष्ट हो जाएँगी। मैं युद्ध में औरों के समकक्ष अपने को सहस्र सिरवाला शेषनाग समझूँगा। सहस्रों आँखों से इंद्र की भाँति शत्रुओं को खोज-खोज कर मारूँगा। चार भुजा वाला, आज मैं चतुर्भुज विष्णु बनूँगा। जब कंस भी सामने न रहा तो अन्य राजों की तो बात ही क्या है ? मैं आज भीम सा रण में गरजूँगा, और राजा रत्नसेन को पीछे सुरक्षित रखकर युद्ध करूँगा। मैं हनुमान बनकर महिरावणपुरी की जमकात गिरा दूँगा और अपने स्वामी रत्नसेन को दुःख से छुटकारा दिलाऊँगा।

आज मैं नल नील बनकर समुद्र में सेतु या मेंड़ बाँध दूँगा। सुमेरु पर्वत सा बन-कर मैं अपनी शक्ति की साँकल से शाह का लश्कर बाँध लूँगा या उसे रोक दूँगा, मार दूँगा।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(६३०)

ओनै घटा चहुँ दिसि तसि आई। चमकहि खरग बान झरि लाई॥
डोलै नहिं देव जस आदी। पहुँचे तुरुक बादि कहँ बादी॥
हाथन्ह गहे खरग हिरवानी। चमकहि सेल बीज की बानी॥
सजें बान जानहुँ ओइ गाजा। बासुकि डरै सीस जनि बाजा॥
नेजा उठा डरा मन इंदू। आइ नबाज जानि कै हिंदू॥

गोरैं साथ लीन्ह सब साथी। जनु मैमंत सुंड बिनु हाथी॥
सब मिलि पहिलि उठौनी कीन्ही। आवत अनी हाँकि सब लीन्ही॥
रुंड मुंड सब टूटहिं सिउँ बकतर औ कुंडि।
तुरिअ होंहि बिनु काँधे हस्ति होहि बिनु सुंडि॥६३०॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सेनाएँ उमड़ती-घिरती हुई घटाओं की भाँति चारों ओर से आ जुटीं। तलवारें चमकीं और तीरों की झड़ी लग गई। आदि देव की भाँति गोरा अटल हो गया था। तुर्क जोड़ के तोड़, अर्थात् वादी-प्रतिवादी की भाँति आ भिड़े। वे हाथों में पुख़्ता हिरवानी खड्ग लिए हुए थे। उनके दुष्ट बल्लम बिजली की भाँति चमकते थे। गोले या बाण वज्र जैसे तैयार थे। शेषनाग भयभीत हो रहा था कि कहीं वह उसके सिर पर न आ पड़े। तुरकों का भाला उठा तो इन्द्र यह सोचकर डर गया कि कहीं वह हिंदू जानकर मेरी ओर न झपट पड़े। गोरा ने अपने सब साथी साथ में लिए। वे सब मानों भयानक सुण्डहीन मतवाले हाथी थे। सब ने मिलकर पहला हमला किया और सभी ने घोर गर्जना की, और आती हुई सेना से भिड़ गए।

सब रुंड-मुंड जिरह बख़्तर एवं टोपों के साथ कट-कटकर गिरने लगे। घोड़े बिना गर्दन के हो गए, और हाथी बिना सूंड के।

विशेष—प्रस्तुत पद में युद्धक्षेत्र का वर्णन सजीव और चित्रवत है। वीरगाथा कालीन काव्य के वर्णन की टक्कर में यह पद रक्खा जा सकता है।

शब्दार्थ—ओनै=उमड़ती, घिरती। झरि=झरी। आदि=पूर्ण, सर्व प्रथम, सर्वथा। सेल=पुख़्ता बल्लम। उठौनी=धावा। कुंडि=लड़ाई का टोप। बकतर=बख़्तर। काँधे=गर्दन।

(६३१)

ओनवत आव सैन सुलतानी। जानहुँ पुरवाई अतिवानी॥
लोहैं सैन सूझ सब कारी। तिल एक कतहुँ न सूझ उघारी॥
खरग पोलाद निरँग सब काढ़े। हरे बिज्जु अस चमकहिं ठाढ़े॥
कनक बान गजबेलि सो नाँगी। जानहुँ काल करहिं जिउ माँगी॥
जनु जमकात करहि सब भवाँ। जिउ लै चहहि सरग उपसवाँ॥
सेल साँप जनु चाहहिं डसा। लेहिं काढि जिउ मुख बिख बसा॥
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा। अंगद सरिस पाउ रन रोपा॥
सपुरुस भागि न जानै भएँ भीर भुइँ लेइ।
असि बर गहें दुहूँ कर स्यामि काज जिउ देइ॥६३१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सुलतान की सेना घिरती चली आती थी; जैसे तीव्र पुरवाई आँधी उठी हो। लोहे के शस्त्रास्त्र से मढ़ी सारी सेना काली दीखती थी। वह तिलभर भी कहीं से उघरी

हुई दिखलाई नहीं पड़ती थी। सब योद्धाओं ने फौलादी खड्ग म्यान से खींच लिए। वे खड्ग जैसे बिजली की हरी-गहरी चमक से चमकते थे। ताम्र-मिश्रित लोहे की बनी गजबेली नंगी तलवारें स्वर्ण सी झिलमिलाती थीं। मानो काल हाथ पसारे प्राण माँग रहा हो। लगता था मानो अनेक जमकातें चक्कर खा रही थीं; और वे प्राण लेकर स्वर्ग जाना चाहती हों। मानों सर्प सदृश पुख्ता बल्लम डस लेना चाहते हों। मानों वह मुख के विष से डसकर प्राण निकालना चाहते हों। उनके समक्ष अड़कर गोरा क्रोधित हुआ और अंगद के समान उसने युद्धस्थल में अपना पाँव अड़ा दिया।

कविवर जायसी कहते हैं कि वीर पुरुष युद्धस्थल से पीठ दिखाकर भागना नहीं जानता। संकट में वह रणभूमि का वार झेलता है। भलीभाँति अपने दोनों हाथों में खड्ग लेकर वह अपने स्वामी के हितार्थ अपने प्राणों की बलि देता है।

शब्दार्थ—ओनावत=घिरती हुई। अतिवानी=तीव्रता से। पोलाद=फौलाद। निरंग=म्यान। गजबेलि=ताम्र मिश्रित पक्का लोहा। भवाँ=चक्कर खाना। उपसवाँ=ऊपर जाना। सेल=बल्लम की तरह का शस्त्र। कोपा=क्रोधित हुआ। सरिस=भाँति। रोपा=अड़ाया। भीर=संकट। स्यामि=स्वामी। जिउ=प्राण।

(६३२)

भै बगमेल सेल घन घोरा। औ गज पेल अकेल सो गोरा॥
सहस कुँवर सहसहुँ सत बाँधा। भार पहार जूझि कहँ काँधा॥
लाग मरैं गोरा के आगें। बाग न मुरै घाव मुख लागें॥
जैस पतंग आगि धँसि लेहीं। एक मुएँ दोसर जिउ देहीं॥
टूटहि सीस अधर धर मारे। लोटहि कंध कबंध निनारे॥
कोई परहि रुहिर होइ राते। कोइ घायल घूमहिं जस माँते॥
कोइ खुर खेह गए भरि भोगी। भसम चढ़ाइ परे जनु जोगी॥
घरी एक भा भारथ भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवर सब बीते गोरा रहा अकेल॥६३२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पंक्तिबद्ध शाही घुड़सवारों के सेलों या बल्लमों के साथ एकदम घोर मुठभेड़ हुई और गोरा ने अकेले ही अपना हाथी बीच में पेल दिया। गोरा के साथ केवल एक ही हजार सच्चे वीर कुँवर थे। उन्होंने शाही सेना का पहाड़-सा युद्धभार अपने कंधों पर ले लिया। वह गोरा के आगे आकर जूझकर प्राण देने लगे। उनके मुंह पर घाव लगते थे, किन्तु घोड़ों की बाग न मोड़ते थे, पीठ नहीं दिखाते थे। जिस प्रकार पतिंगे एक-एक करके आग में पड़कर जलते हैं; इसी प्रकार एक कुँवर मरता तो झट दूसरे उसके स्थान पर आकर प्राण देते थे। उनके सिर कटते पर धड़ से ही वे बीच में प्रहार करके शत्रु को मार देते। फिर सिर और धड़ दोनों अलग-अलग पृथ्वी पर तड़फड़ाते थे। कोई रक्तरंजित होकर गिरते और कोई घायल होकर मतवाले हाथी जैसे बने घूमते थे। कोई भोगी सरदार

घोड़ों की टापों की उड़ी धूल से ढँक गए और ऐसे प्रतीत होते थे जैसे भस्म भूत योगी पड़े हों।

एक घड़ी महाभारत सा युद्ध हुआ। सवारों में जमकर टक्कर हुई। सब वीर कुँवर खेत रहे। बस, अकेला गोरा बचा।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६३३)

गोरें देख साथ सब जूझा। आपन काल नियर भा बूझा।।
कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला।।
लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा। जैसें सिंघ बिडारै घटा।।
जेहि सिर देइ कोपि करवारू। सिउँ घोरा टूटै असवारू।।
टूटहिं कंध कबंध निनारे। माँठ मँजीठि जानु रन डारे।।
खेलि फागु सेंदुर छिरिआवै। चाँचरि खेलि आगि रन धावै।।
हस्ती घोर आइ जो ढूका। उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका।।
भै अग्याँ सुलतानी बेगि करहु एहि हाथ।
रतन जात है आगें लिए पदारथ साथ।।६३३।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा ने देखा कि साथ के सारे वीर कुँवर साथी खेत रहे। उसने अपना अन्त समय निकट आया जान लिया। सिंह की भाँति कुपित होकर वह युद्ध में लीन होगया। लाखों शत्रु सेनिकों से वह अकेला न हट पाता था। उसने शाही-हाथियों के समूह में ज़ोर की दहाड़ मारी और फिर शेर की तरह से उस हाथियों के समूह को फाड़ने लगा। कुपित होकर वह जिसके सिर पर वार करता था कि वही शाही सवार घोड़े सहित कटकर गिर जाता। सिर और धड़ अलग-अलग कटकर गिर रहे थे। उनसे रक्त बहता हुआ ऐसा लगता था कि जैसे किसी ने मँजीठ के घड़े ढुलका दिए हों। गोरा मानो फाग खेलता हुआ लाल सिंदूर उड़ा रहा था; अथवा चाँचर खेलता युद्ध रूपी होलिका-अग्नि की ओर दौड़ रहा था। हाथी या घोड़ा या जो कोई भी उसके निकट युद्ध को झुकता कि उसी के तन से खून का फव्वारा यों छूटता जैसे आग की लपट उठती हो।

सुलतान का हुक्म हुआ कि इसे शीघ्र हत्थे चढ़ाओ, पकड़ो! रत्नसेन पद्मावती-पदार्थ को साथ में लिये चला जा रहा है।

विशेष—यहाँ वीर एवं वीभत्स रस का परिपाक प्रभावशाली है।

शब्दार्थ—नियर=निकट। मुरै=मुड़ता था। हाँकि=गर्जना। ठटा=समूह। बिडारै=नष्ट करना। वारू=प्रहार। सिउँ=साथ। कंध कबंध=सिर और धड़। निनारे=अलग। माँठ=घड़ा। छिरिआवै=उड़ावे, छिड़के। चाँचरि=होली का एक खेल-नृत्य। ढूका=झुकना। रुहिर भभूका=रक्त के फव्वारे से आशय है।

(६३४)

सबहि कटक मिलि गोरा छेका। गुंजर सिंघ जाइ नहिं टेका॥
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठायँन्ह आवा॥
तुरुक बोलावहिं बोलहिं बाहाँ। गोरें मींचु धरा मन माहाँ॥
मुए पुनि जूझि जाज जगदेऊ। जियत न रहा जगत महँ केऊ॥
जनि जानहु गोरा सो अकेला। सिंघ की मोंछ हाथ को मेला॥
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा। मुएँ पार कोई घिसयावा॥
करै सिंघ हठि सौंही डीठी। जग लगि जिऐ देह नहिं पीठी॥
रतनसेनि तुम्ह बाँधा मसि गोरा के गात।
जब लगि रूहिर न धोवौं तब लगि होउँ न रात॥६३४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

सारी शाही सेना ने मिलकर अकेले गोरा को घेर लिया। किंतु सिंह की भाँति गरजता हुआ गोरा किसी से थामा न जाता था। जिधर वह उछलता था, लगता था, मानो खा ही जायगा। फिर सिंह की नाई उसी जगह पर आ धमकता था। तुर्क ललकारते थे, और उसकी भुजाएँ उसका मुँह तोड़ उत्तर देती थीं। किंतु गोरा ने मन में अपनी मृत्यु निश्चित आई हुई जान ली। उसने सोचा कि युद्ध में जाज और जगदेव जैसे वीर भी मर मिटे। (जाज-जगदेव के विषय में छन्द ६११ का भावार्थ भी पढ़ें, वहाँ स्पष्टीकरण किया जा चुका है।) इस नाशवान संसार मे कोई भी अमर न रहा (इस विषय में यह शेर भी पठनीय है—"दारा रहा न जम न सिकन्दर सा बादशाह। हज़ारों आए इस तख्ते ज़मीं पर चले गए।") यों मत समझो कि गोरा अकेला रह गया है। शेर की मूँछें कौन पकड़ सकता है ? जीवित रहते सिंह अपने को नहीं पकड़वाता। उसके मरने पर उसे कोई घसीट ले। सिंह अभिमान से आगे ही दृष्टि रखता है। जब तक जीवित रहता है, कायरता से पीठ नहीं करता।

हे तुर्कों, तुमने रत्नसेन को क़ैदी बना लिया तो मेरे मुख पर शर्म की स्याही पुत गई। जब तक उसे तुम्हारे रक्त से न धोऊँगा तब तक चैन नहीं पाऊँगा, उज्ज्वल मुख न होऊँगा।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं।

(६३५)

सरजा बीर सिंघ चढ़ि गाजा। आइ सौंह गोरा के बाजा॥
पहलवान सो बखाना बली। मदति मीर हमजा औ अली॥
मदित अयूब सीस चढ़ि कोपे। रामलखन जिन्ह नाउँ अलोपे॥
औ ताया सालार सो आए। जिन्ह कौरौ पंडौ बँदि पाए॥
लिधउर देव धरा जिन्ह आदी। औरु को माल बादि कहँ बादी॥
पहुँचा आइ सिंघ असवारू। जहाँ सिंघ गोरा बरियारू॥
मारेसि साँगि पेट महँ धँसी। काढ़सि हुमुकि आँत भुइँ खसी॥

भाँट कहा धनि गोरा तू भोरा रन राउ।
आँति सँति करि काँधे तुरै देत हैं पाउ।।६३५।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

शाह का सर्वश्रेष्ठ वीर सरजा जो शेर पर चढ़कर गरजता था; गोरा के मुक़ाबले आकर अड़ा। वह बड़ा पहलवान है, ऐसा विख्यात था। उसे महा बलशाली पहलवान मीर हमजा और अली की कृपाशक्ति प्राप्त थी। उसके मददगार हज़रत अयूब उसके सिर पर चढ़े हुए कुपित हो रहे थे जिनके त्याग-धर्म ने राम-लक्ष्मण का नाम तक अलोप कर दिया था। उसकी मदद के लिए वह तायासालार भी आया जिसने अपने पराक्रम से कौरव-पाण्डवों तक को बंदी बना लिया था। जिसने पूर्व विख्यात, वीर रुद्रदेव अथवा लुद्दरदेव तक को बंदी बना लिया। यों वह सरजा ऐसा विकट योद्धा था। तब और कौन योद्धा उसके प्रतिपक्ष में हो सकता था? वह सरजा सिंह पर सवार हुआ वहाँ आ पहुँचा जहाँ सिंह जैसा वीर गोरा अड़ा हुआ था। सरजा ने उस पर साँगी (छोटे भाले) का करारा प्रहार किया, जो गोरा के पेट में घुस गई। फिर ज़ोर से हुमककर सरजा ने उसे बाहर खींच लिया। जिसमे गोरा की आँत धरती पर कढ़ आई।

भाट पुकारा कि हे गोरा, तू धन्य है। सचमुच राजा भोलाभीम सा वीर है। लगता है कि अभी-अभी तू अपनी आँतों को समेटकर उन्हें अपने कंधों पर लाद घोड़े पर पाँव रखकर चढ़ा चाहता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में सरजा के बल पौरुष को सिद्ध करने के लिए जो हज़रत अयूब की राम-लक्ष्मण से, ताया सालार की कौरव-पाण्डवों से तुलना की गई है वह असंगत है और असत्य भी। हो सकता है कि यहाँ इस्लामी महत्व प्रतिपादन का भाव आग्रह काम कर गया हो।

शब्दार्थ—भावार्थ के अनुसार देखें।

(६३६)

कहेसि अन्त अब भा भुइ परना। अन्त सो तन्त खेह सिर भरना।।
कहि कै गरज सिंह अस धावा। सरजा सारदूर पहँ आवा।।
सरजैं कीन्ह साँगि सौं घाऊ। परा खरग जनु परा निहाऊ।।
बज्र साँगि ओ बज्र के डाँडा। उठी आगि सिर बाजत खाँडा।।
जानहुँ बजर बजर सौं बाजा। सब हीं कहा परी अब गाजा।।
दोसर खरग कुंडि पर दीन्हा। सरजैं धरि ओड़न पर लीन्हा।।
तीसर खरग कंध पर लावा। काँध गुरुज हत घाव न आवा।।
अस गोरैं हठि मारा उठी बजर की आगि।
कोइ न नियरैं आवै सिंघ सदूरहि लागि।।६३६।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा ने चोट खाकर कहा कि अब अंत हुआ चाहता है। पृथ्वी पर गिरना ही

होगा। जीवन का अन्तिम का परिणाम यही है कि सिर में धूल भरती है—माँटी माँटी से मिल जाती है। यह कहकर, सिंह सदृश गरजता हुआ वह सरजा शार्दूल के ऊपर झपट पड़ा। सरजा ने जिस साँगी से उसके घाव किया था, उसपर गोरा का खड्ग गिरकर ज़ोर से झनका कि जैसे लोह-घन बजा हो। वह साँगी फौलाद की थी और उसका डंडा भी वज्र-सा कठोर था। साँगी से खड्ग के टकराने पर आग उठी। प्रतीत हुआ कि वज्र से वज्र टकरा गया। सब ने कहा कि गाज गिर पड़ी है। गोरा ने दूसरा खड्ग सरजा के लोह-टोप पर मारा। सरजा ने सँभलकर उसे अपनी ढाल पर रोक लिया। गोरा ने तीसरा खड्गवार सरजा के गर्दन पर किया, किंतु कंधे पर गदा धरी थी अतः कोई घाव न बैठा।

इस प्रकार गोरा ने तान-तानकर सरजा के वार किए और उनसे वज्राग्नि प्रज्वलित हुई। सिंह और शार्दूल अर्थात् गोरा और सरजा की इस घोर भिड़ंत में कोई पास न फटकता था।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं।

(६३७)

तब सरजा गरजा बरिबंडा। जानहुँ सेर करे भुग्रडंडा।।
कोपि गुरुज मेलेसि तस बाजा। जानहुँ परी परबत सिर गाजा।।
ठाठर टूट टूट सिर तासू। सिउँ सुमेरु जनु टूट अकासू।।
धमकि उठा सब सरग पतारू। फिरिगै डीठि भवाँ संसारू।।
भा परलौ सबहूँ अस जाना। काढ़ा खरग सरग नियराना।।
तस मारेसि सिउँ घोरें काटा। धरती फटी सेस फन फाटा।।
अति जौं सिंघ बरिअ होइ आई। सारदूर सौं कवनि बड़ाई।।
गोरा परा खेत महँ सिर पहुँचावा बान।
बदिल लै गा राजहि लै चितउर नियरान।।६३७।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

गोरा के वारों को झलकर, तब महावीर सरजा गरज उठा। उसके भुजदण्ड शेर के समान माँसल थे। उसने कुपित होकर गदा चलाई, जो इस प्रकार ठनकी मानो पर्वत की चोटी पर गाज गिरी हो। गोरा के तन का पुर्जा-पुर्जा बिखर गया और खोपड़ी का चूर्ण बन गया। लगा मानो सुमेरु के साथ आकाश खण्ड-खण्ड होकर गिरा हो। सारा स्वर्ग-पाताल धमक उठा। गोरा की आँखें नटर गई, संसार घूम गया। सबने समझा कि प्रलय हो गई है। जब सरजा ने खड्ग निकाला तो लगा कि आकाश पास में आ गया हो। उसने ऐसा प्रहार किया कि साथ में घोड़ा तक काट डाला। धरती फट गई, शेषनाग का फन फट गया। सिंह चाहे कितना भी बलवान् क्यों न हो किंतु शार्दूल के सामने उसकी क्या बिसात है? आशय है कि शार्दूल सरजा के सामने सिंह-गोरा की एक न चली, वह पराजित हुआ।

गोरा खेत रहा और अपनी बान या गौरव के लिए प्रतीक स्वरूप शत्रु के पास

पहुँचा दिया। उधर बादल राजा रत्नसेन को ले जाता हुआ चित्तौड़ के निकट आ लगा।

शब्दार्थ—विशेष नहीं हैं. भावार्थ में से स्पष्ट होंगे।

●

५४--बन्धन मोक्ष; पद्मावती खण्ड

(६३८)

पदमावति मन अही जो झूरी। सुनत सरोवर हिय गा पूरी ॥
अद्रा महँ हुलास जस होई। सुख सोहाग आदर भा सोई ॥
नलिनि निकन्दी लीन्ह अंकूरू। उठा कँवल अथवा सुनि सूरू ॥
पुरइनि पूरि सँवारे पाता। पुनि विधि आनि धरा सिर छाता ॥
लागे उवँ होइ जस भोरा। रैनि गई दिन कीन्ह बहोरा ॥
अस्तु अस्तु सुनि भा किलकिला। आगें मिलै कटक सब चला ॥
देखि चाँद असि पदुमिनि रानी। सखी कमोद सबै बिगसानी ॥
गहन छूट दिनकर कर ससि सौं होइ मेराउ।
मँदिल सिंघासन साजा बाजा नगर बधाउ ॥६३८॥

भावार्थ—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी मुक्त हुए राजा रत्नसेन के साथ चित्तौड़ में रानी पद्मावती का शृंगार वर्णन करते हुए लिखते हैं—

जिस प्रियतम रत्नसेन के वियोग में पद्मावती का मन मुरझाया हुआ था उसके आगमन का समाचार सुनकर पद्मावती का हृदय-सरोवर भर गया। वर्षारम्भ में आद्रा नक्षत्र मे जैसा सुख-उल्लास उर को प्रतीत होता है, वैसा ही रत्नसेन राजा को पाकर पद्मावती को प्रतीत हुआ। जो नलिनी निर्मूल हो गई थी, अब फिर प्रस्फुटित हो गई। आशय है कि पद्मावती में फिर नया यौवन आ गया। सूर्योदय हुआ सुनकर कमल पुनः जी उठा। आशय है राजा रत्नसेन को पाकर पद्मा को फिर नया जीवन मिल गया। उस कमल ने अपनी बेल फैलाकर नवपल्लव सँवारे—पद्मावती ने नव शृंगार किया। विधना ने पुनः उसके सिर पर छत्र लगा दिया; वह फिर रानी बन गई। सूर्योदय होने से जैसे भोर होती है वैसे ही रत्नसेन के मिलने से पद्मावती भोर की भाँति सुन्दर प्रतीत होने लगी। निराशा की रात कट गई, आशा का दिवस चमक उठा। "सूर्य" अर्थात् "राजा आ गया है···राजा आ गया है"—यह सुनकर सर्वत्र हर्षध्वनि या किलकारी होने लगी। राजा की अगवानी के लिए सारा चित्तौड़ का सैन्य-दल चल पड़ा। चाँद-जैसी सजी-धजी सुन्दर पद्मावती रानी को देखकर उसकी सखी रूपी सारी कुमुदिनी खिल गई।

सूर्य का ग्रहण छूट गया था; रत्नसेन मुक्त हो गया था। शशि-पद्मावती से उसका

मिलन होने को था। महल में सिंहासन सजाया गया और नगर में बधाई के वाद्य बजने लगे।

शब्दार्थ—निकंदी=बिना जड़ की। छाता=छत्र। किलकिला=हर्षध्वनि, किलकारी। बधाउ=बधाई के वाद्य।

(६३९)

बिहँसि चंद दै माँग सेंदूरा। आरति करैं चली जहँ सूरा॥
औ गोहने सब सखीं तराईं। चितउर की रानी जहँ ताईं॥
जनु बसन्त रितु फूली छूटी। कै सावन मँह बीरबहूटी॥
भा अनंद बाजा पँच तूरा। जगत रात होइ चला सेंदूरा॥
राजा जनहुँ सूर परगासा। पदुमावति मुख कँवल बिगासा॥
कँवल पाय सूरुज के परा। सूरुज कँवल आनि सिर धरा॥
दुंद मृदंग मुर ढोलक बाजे। इन्द्र सबद सो सबद सुनि लाजे॥
सेंदुर फूल तँबोर सिउँ सखी सहेलीं साथ।
धनि पूजै पिय पाय दुइ पिय पूजै धनि माथ॥६३९॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

हँसकर शशि-पद्मावती माँग में सिंदूर भरकर जहाँ सूर्य-रत्नसेन था वहाँ उसकी आरती करने चली। उसके संग सारी नक्षत्र रूपी सखियाँ और चित्तौड़ रनिवास की रानियाँ भी चलीं। लगा, मानो पुष्प भरित वसंत ऋतु ही बिखर पड़ी हो किंवा सावन में बीर-बहूटियाँ फैल गई हों। सर्वत्र आनन्द छा गया और पंचवाद्य बजने लगे। संसार सिन्दूर-सा लाल हो गया; या हर्षरंजित हो गया। राजा रत्नसेन सूर्य सदृश प्रकाशित हुआ और उसे देखकर पद्मावती का मुख-कमल खिल गया। कमल-पद्मावती सूर्य-रत्नसेन के चरणों में गिर पड़ी। सूर्य-रत्नसेन ने कमल-पद्मावती को आकर पुनः प्रेम से शिरोधार्य किया, अपनाया। दुन्दुभि, मृदंग, मुरुज और ढोलक—ये वाद्य बजने लगे। कविवर जायसी कहते हैं कि उन वाद्यों की ध्वनियों को सुनकर इंद्र के अखाड़े की ध्वनि भी लज्जित हो गई।

सिन्दूर, फूल और ताम्बूल से पद्मावती ने सखी-सहेलियों सहित प्रियतम के दोनों चरणों की पूजा की और प्रियतम ने भी ऊपर से प्रिया के माथे का पूजन किया।

शब्दार्थ—सरल हैं।

(६४०)

पूजा कवनि देउँ तुम्ह राजा। सबै तुम्हार आव मोहि लाजा॥
तन मन जोबन आरति करेऊँ। जीउ काढ़ि नेवछावरि देऊँ॥
पंथ पूरि कै दिस्टि बिछावौं। तुम्ह पगु धरहु नैन हौं लावौं॥
पाय बुहारत पलक न मारौं। बरनिन्ह सेंति चरन रज झारौं॥
हिया सो मंदिल तुम्हारे नाहाँ। नैनन्हि पँथ आवहु तेहि माहाँ॥

बैठहु पाट छत्र नव फेरी। तुम्हरें गरब गरुइ हौं चेरी ॥
तुम्ह जियँ हौं तन जौं अतिमया। कहै जो जीउ करे सो कया ॥
जौं सूरुज सिर ऊपर आवा तब सो कँवल सुख छात।
नाहिं तौ भरे सरोवर सूखे पुरइनि पात ॥६४०॥

शब्दार्थ—पूर्व पद के प्रसंग में—

पद्मावती बोली कि हे राजा, तुम्हें क्या पूजन प्रदान करूँ? सब कुछ तो तुम्हारा ही है; मैं इससे लज्जा विनत हूँ। अपने तन-मन और यौवन से तुम्हारी आरती उतारती हूँ। अपना प्राण निकालकर तुम पर बलि देती हूँ। तुम्हारे पथ पर मैं अपनी पूर्ण दृष्टि बिछाती हूँ। मैं नेत्र रखती हूँ कि तुम उनपर अपने पैर धरो। तुम्हारे पाँव पखारते हुए मैं पलक न मारूँगी। बरौनियों से तुम्हारी चरण धूलि झाड़ूँगी। हे स्वामी, मेरा हृदय तुम्हारा मन्दिर है। मेरे नेत्र-पथ से होकर उसमें आओ। राजसिंहासन पर विराजमान होवो और फिर से नया छत्र धारण करो। तुम्हारे राज्य-गौरव से मैं दासी भी प्रतिष्ठित होऊँगी। यदि तुम्हारी अति कृपा है तो मैं शरीर हूँ और तुम प्राण-रूप हो। प्राण जो कहता है शरीर वही करता है। आशय है कि मैं तुम्हारी चिर आज्ञाकारिणी हूँ।

पद्मावती ने कहा कि हे प्रियतम, जब सूर्य सिर के ऊपर उदय होता है तभी कमल के ऊपर सुख का छत्र तनता है, वह खिलता है। अन्यथा सूर्य के अभाव में, भरे हुए सरोवर मे भी कमल की बेल के पत्ते सूखे रहते हैं।

शब्दार्थ—कोई विशेष नहीं हैं।

(६४१)

परसि पाय राजा के रानी। पुनि आरति बादिल कहँ आनी ॥
पूजे बादिल के भुजडंडा। तुरिअ के पाउ दाबि कर खंडा ॥
यह गज गवन गरब सिउँ मोरा। तुम्ह राखा बादिल औ गोरा ॥
सेंदुर तिलक जो आँकुस अहा। तुम्ह माँथें राखा तब रहा ॥
काज रतन तुम्ह जिय पर खेला। तुम्ह जिउ आनि मँजूसा मेला ॥
राखेउ छात चँवर औ ढारा। राखेउ छुद्रघंट झनकारा ॥
तुम्ह हनवँत होइ धुजा बईठे। तब चितउर पिय आइ पईठे ॥
पुनि गज हस्ति चढ़ावा नेत बिछावा बाट।
बाजत गाजत राजा आइ बैठ सुख पाट ॥६४१॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

रानी राजा के चरणस्पर्श कर, फिर बादल की आरती उतारने के लिए लाई। उसने बादल के भुजदण्डों की पूजा की। तत्पश्चात उसने घोड़े के हाथ-पैर और सिर को दबाया। वह कहने लगी कि हे गोरा-बादल, मेरा गज-गमन जैसा गर्व तुमने ही मेरे पति को बचा-मिलाकर सुरक्षित रक्खा है। अंकुश जैसा मेरे सिर पर जो सौभाग्य सिंदूर का तिलक लगा है, हे गोरा-बादल, तुमने ही जब उसकी सुरक्षा की तो वह बना रह सका है।

रत्नसेन के हित में तुम अपने प्राणों की बाज़ी लगा गए। क़ैदखाने में पड़े मेरे क़ैदी प्राण अर्थात रत्नसेन को तुम ही छुड़ाकर लाए। तुम्हीं ने मेरे छत्र, चँवर एवं उनके ढालक, अर्थात् रत्नसेन की सुरक्षा की। तुमने मेरी छुद्रघंटिका अर्थात् करघनी की झंकार की रक्षा की। मैं सुहागिन बनी रह सकी। तुम हनुमान बनकर ध्वजा पर आसीन हुए। अतः मेरे प्रियतम चित्तौड़ आ पहुँचे हैं।

फिर राजा रत्नसेन को हाथी पर बिठाया गया। मार्ग पर "नेत" अथवा रेशमी वस्त्र बिछाया गया। यों बाजे-गाजे के साथ राजा सिंहासनारूढ़ हो गए।

शब्दार्थ—भावार्थ में स्पष्ट किये गये हैं, देखें।

(६४२)

निसि राजैं रानी कँठ लाई। पिय मरजिया नारि ज्यौं पाई॥
रँग कै राजैं दुख अगुसारा। जियत जीव नहिं करौं निनारा॥
कठिन बंदि लै तुरकन्ह गहा। जौं सँवरौं जिय पेट न रहा॥
खनिगड़ ओबरी मँह लै मेला। साँकर औ अँधियार दुहेला॥
राँध न तहँवा दोसर कोई। न जनौं पवन पानि कस होई॥
खिन खिन जीव सँडासिन्ह आँका। आतँहि डोंब छुवावहि बाँका॥
बोछी साँप रहहिं नित पासा। भोजन सोइ डसहिं हर स्वाँसा॥
आस तुम्हारे मिलन की रहा जीव तब पेट।
नाहिं तो होत निरास जौं कत जीवन कत भेंट॥६४२॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

रात्रि में राजा ने रानी का कंठालिंगन किया। मरा हुआ प्रियतम नारी का मधुर संस्पर्श पाकर पुनः जी गया। आशय है कि वियोग से मृतप्राय राजा रत्नसेन को रानी पद्मावती का संभोग-संस्पर्श पुनः नव जीवन प्रदान कर गया। अथवा 'मरजिया' अर्थात् गोताखोर को डूबते-डूबते नारी या रस्सी मिल गई, वह बच गया। मिलन-क्रीड़ा करके राजा ने अपना वियोग दुख प्रस्तुत किया। कहा, मैं तुम्हें जीते जी विलग नहीं करता, नाँ ही करना चाहता था। किन्तु दुष्ट तुर्कों ने मुझे कठोर क़ैदखाने में डालकर तुमसे विलग करा दिया। जब उस दुख के विषय में सोचता हूँ तो पेट में प्राण नहीं रहते। मुझे खोद-गाड़ने वाली 'ओबरी' या काल-कोठरी में डाला गया। उसमें भयंकर अंधकार था, स्थान की संकीर्णता थी। वहाँ पूर्णतः एकान्त था, दूसरा कोई न था। वहाँ मुझे हवा-पानी उपलब्ध नहीं हुए, उनका उपभोग नहीं कर सका। वहाँ पल-पल में गरम संडासियों से प्राण दागे जाते थे। डोम पैने चाकू शरीर में गड़ाते थे। नित्य साँप बिच्छू पास में रहते थे। हर साँस में उनका डसना, बस यही वहाँ का भोजन था।

तुमसे मिलन की आशा बँधी थी, अतः प्राण बने रहे और मैं जीवित रहा। यदि मैं निराश हो गया होता और तुम्हारे मिलन की दृढ़ आशा न बाँधे रखता तो फिर कैसा जीवन और कैसा मिलन ?—कुछ न होता!

शब्दार्थ—सरल है।

(६४३)

तुम्ह पिय भँवर परी अति बेरा। अब दुख सुनहु कँवलि धनि केरा॥
छाँड़ि गएहु सरवर मँह मोहीं। सरवर सूखि गएउ बिनु तोहीं॥
केलि जो करत हंस उड़ि गएउ। दिनअर मीत सो बैरी भयऊ॥
गई भीर तजि पुरइन पाता। भइउँ धूप सिर रहा न छाता॥
भइउँ मीन तन तलफै लागा। बिरहा आइ बैठ होइ कागा॥
काग चोंच तस साल न नाहाँ। जसि बँदि तोरि साल हिय माहाँ॥
कहेउँ काग अब लै तहँ जाही। जहँवाँ पिउ देखैं मोहि खाई॥
काग निखिद्ध गीध अस का मारहि हौं मंदि।
एहि पछताएँ सुठि भइउँ गइउँ न पिय सँग बंदि॥६४३॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

पद्मावती बोली कि हे प्रियतम, वास्तव में तुम्हारी नैया बुरी तरह भँवर में पड़ गई थी। पर अब अपनी प्रिया, कमल-पद्मावती का दुख भी सुनो। तुम मुझे यौवन के सरोवर में छोड़कर गए थे। किन्तु तुम्हारे बिना वह सरोवर सूख चला था। जो हंस (आशय रत्नसेन से है) उस सरोवर में विहार करता था, वह उड़ गया था। जो सूर्य मित्र था, वह शत्रु होगया। आपत्ति में देखकर कमल-बेलि भी पत्तों से रहित होगई। मैं धूप में मरने लगी, किन्तु सिर पर कोई छाता न रहा। आशय है कि तुम्हारा प्रेमाश्रय न रहा तो मैं विरह की धूप में जलने लगी। मैं मछली सी होगई, मेरा शरीर जलहीन या प्रेमविहीन होकर तड़पने लगा। ऐसे कष्टदायक समय में विरह कौवे की भाँति आ बैठा। किन्तु हे प्रियतम, उस विरह-काग की चोंच भी मुझे इतनी कष्टदायक नहीं लगती थी जितना कि तुम्हारा कारावास मेरे हृदय को विदीर्ण किये डालता था। मैंने काग से कहा, हे काग! मुझे वहाँ ले चल जहाँ प्रियतम देखें और तू मेरी बोटी-बोटी नोंचकर खाए।

हे काग, नीच गीध की तरह होकर मुझ हत्भागिनी को क्या मारता-खाता है? मैं तो इस पश्चाताप से आप ही पूर्णतः मरी हुई हूँ कि प्रियतम के संग में मैं भी क़ैद क्यों न होगई!

विशेष—यहाँ विरह-वेदना की दारुण दशा का उद्घाटन विशेष प्रभावशाली एवं मार्मिक बन पड़ा है।

शब्दार्थ—विशेष नहीं है।

(६४४)

तेहि ऊपर का कहौं जो मारी। बिखम पहार परा दुख भारी॥
दूति एक देवपाल पठाई। बाँभनि भेस छरै मोहि आई॥
कहै तोरि हौं आदि सहेली। चलु लै जाउँ भँवर जहँ बेली॥
तब मैं ग्यान कीन्ह सतु बाँधा। ओहि के बोल लागु बिखसाँधा॥

कहेउँ कँवल नहिं करै अहेरा। जौं है भँवर करहिं सं फेरा ॥
पाँच भूत आतमा नेवारेउँ। बारहिं बार फिरत मन मारेउँ ॥
औ समुझाएउँ आपन हियरा। कंत न दूरि अहै सुठि नियरा ॥
बास फूल घिउ छीर जस निरमल नीर मँठाहँ।
तसकि घटं घट पूरुख ज्यो रे अगिनि कठाहँ ॥६४४॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

रानी ने कहा कि हे प्रियतम, तत्पश्चात् मुझ पर क्या आघात हुआ उसे तुम्हें क्या बतलाऊँ ? दुख का भारी पर्वत मेरे ऊपर टूट पड़ा। देवपाल ने एक कुटनी मेरे पास भेजी। ब्राह्मणी के वेश में वह मुझे छलने आई। उसने कहा कि मैं तो तेरी सबसे पुरानी सहेली हूँ। चल, मैं तुझे वहाँ ले चलूँ जहाँ एक भौंरा तेरा संगी या प्रेमी होगा। यह सुनकर मैंने सत्य ज्ञान का सहारा लिया। उसके बोल मुझे विष भरे बाण से लगे। मैंने कहा, कमल कहीं आखेट के लिये नहीं जाता......भोग विलास के लिये नहीं भटकता। यदि कोई भौंरा होगा तो सौ बार यहाँ आएगा। यों मैंने अपने इस पंचभूतात्मक विकार भरे शरीर पर संयम रक्खा और बार-बार चंचल मन को मारा। अपने हृदय को समझाया कि अरे, प्रियतम दूर नहीं। सदा तेरे पास ही है।

जिस प्रकार पुष्प में गन्ध, दूध में घी, घड़े में निर्मल जल एवं काठ में अग्नि रहती है, इसी प्रकार प्राण-घट में प्रियतम रहता है।

विशेष—अंतिम पंक्तियों में उपमा जनक सौन्दर्य चमत्कार बड़ा उत्कृष्ट बन पाया है।

शब्दार्थ—कोई विशेष नहीं हैं।

●

५५--रत्नसेन देवपाल युद्ध खण्ड

(६४५)

सुनि देवपाल राव कर चालू। राजहि कठिन पराजिय सालू ॥
दा ुर पुनि सो कँवल कहँ पेखा। गादुर मुख न सूर कर देखा ॥
अपने रँग जस नाँच मँजूरू। तेहि सरि ताध करै तँवचूरू ॥
जब लहि आइ तुरुक गढ़ बाजा। तब लगि धरि आनौं तो राजा ॥
नीद न लीन्ह रैनि सब जागा। होत बिहान जाइ गढ़ लागा ॥
कुंभलनेर अगम गढ़ बाँका। बिखम पंथ चढ़ि जाइ न झाँका ॥
राजहि तहाँ गएउ लै कालू। होइ सामुँद रोपा देवपालू ॥

दुवौं लरैं होइ सनमुख लोहें भएउ असूझ।
सतुरु जूझि तब निबरै एक दुहूँ महँ जूझ ॥६४५॥

भावार्थ—पूर्व पद के अनुसार—

पद्मावती से राव देवपाल की कुत्सित करतूत सुनकर राजा के मन को घोर वेदना अनुभव हुई। राजा ने विचारा कि वह तुच्छ मेंढक है जो कमल की ओर ताके। वह चमगादड़ है जिसने सूर्य का मुँह नहीं देखा। स्वाभाविक रूप में जैसे मोर को नाचते देख-कर मूर्ख मुर्गा भी नाचने लगे इसी प्रकार की करतूत राव देवपाल ने की है। आगे राजा ने सोचा कि जब तक तुर्क चित्तौड़ गढ़ पर आक्रमण के लिये आएँ उससे पूर्व ही मैं देवपाल को पकड़ लाऊँ, तभी मेरा नाम राजा रत्नसेन सच्चा! इस ऊहा पोह में राजा को नींद न आई। रात भर जागरण किया। सबेरा होते ही उसने कुंभलनेर का गढ़ घेर लिया। कुंभलनेर का दुर्ग दृढ़ और दुर्गम था। उस पर चढ़ने का मार्ग टेढ़ा था। उस पर चढ़कर नीचे झाँका तक न जाता था; इतना ऊँचा था वह! राजा रत्नसेन को उसका काल वहाँ ले गया था। उसने मुक़ावले पर देवपाल को रोका।

दोनों आमने-सामने भिड़े। शस्त्रों की झोंक में कुछ दीख न पड़ता था। कविवर जायसी कहते हैं कि शत्रु के साथ युद्ध का निपटारा तभी होता है जब कि दोनों में से एक जान दे दे।

शब्दार्थ—सरल है।

(६४६)

चढ़ि देवपाल राउ रन गाज। मोहि तोहि जूझि एकौझा राजा ॥
मेलेसि साँगि आइ बिख भरी। मेंटि न जाइ काल की घरी ॥
आइ नाभि तर साँगि बईठी। नाभि बेधि निकसी जहाँ पीठी ॥
चला मारि तब राजै मारा। कंध टूट धर परा निनारा ॥
सीट काटि कै पैरें बांधा। पावा दाउँ बैर जस साधा ॥
जियत फिरा आइउं बलु हरा। माँझ बाट होइ लोहें घरा ॥
कारी घाउ जाइ नहि डोला। गही जीभ जम कहै को बोला ॥
सुद्धि बुद्धि सब बिसरी बाट परी मँझ बाट।
हस्ति घोर को काकर घर आत्त कै खाट ॥ ६४६ ॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

राव देवपाल ने चढ़कर रण-गर्जन किया। उसने कहा—हे राजा, मेरे और तेरे मध्य अकेले-अकेले समक्ष—युद्ध चले। देवपाल ने विष बूझी साँगी का फेंककर वार किया। काल की घड़ी नहीं टलती। वह साँगी रत्नसेन की नाभि के नीचे हो घुप गई और उसे चाक करती हुई पीठ के पार निकल गई। रत्नसेन पर आघात करके ज्योंही देवपाल चला कि रत्नसेन ने उस पर तानकर वार किया, परिणामतः उसका सिर कटा और धड़ अलग जाकर गिर पड़ा। रत्नसेन ने शत्रु देवपाल का सिर काटकर अपने पैरों से कुचला—बाँधा।

उसने जैसा बैर किया उसने उसका वैसा ही लक्ष्य बनाकर बदला चुका लिया; दाँव ले लिया। राजा रत्नसेन घायल जीता हुआ तो लौटा किंतु उसका आयु-बल चूर हो गया था। बीच रास्ते में ही साँगी के वार ने उसे धर दबाया। काले नाग के डसने पर जैसे हिला-डुला नहीं जाता, उसी प्रकार रत्नसेन की जीभ कालदेव ने पकड़-जकड़ ली। भला अब वह क्या बोल सकता था?

राजा की जीवन-चेतना विलुप्त हो गई। बीच राह में वह लुट गया था; संकट ग्रस्त हो गया था। हाथी, घोड़ा किसके?—वह खाट पर डालकर लाया गया।

शब्दार्थ—एकौझा=अकेले आमने-सामने। साँधा=लक्ष बनाकर। आरउँ=आयु का। बाट परी=डाँका पड़ना, संकट आना।

●

५६ : राजा रत्नसेन बैकुँठ वास खण्ड

(६४७)

तेहि दिन साँस पेट महँ रही। जो लगि दसा जियन की रही॥
काल आइ देखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँडि कै माँटी॥
काकर लोग कुटुंब घरबारू। काकर अरथ दरब संसारू॥
ओहि घरी सब भएउ परावा। आपन सोइ जो बेरसा खावा॥
अहे जो हितू साथ के नेगी। सबै लाग काढ़ैं पै बेगी॥
हाथ झारि जस चला जुवारी। तजा राज होइ चला भिखारी॥
जब हुत जीव रतन सब कहा। जौं भा बिन जिय कौड़ि न लहा॥
गढ़ सौंपा बादिल कहँ गए निकसि बसुदेव।
छाँड़ी लंक भभीखन जेहि भावै सो लेउ॥ ६४७॥

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंगानुसार कविवर जायसी नश्वर जीवन के दार्शनिक भाव को प्रकट करते हुए लिखते हैं—

घायल हो जाने के पश्चात् उस दिन तक राजा के पेट में साँस चलती रही कि जब तक उसकी जीवन-अवधि शेष थी। और फिर, जब यम ने आकर अपना कोड़ा दिखाया कि जीव मिट्टी के तन को छोड़ उठकर चल दिया। अरे, ये लोग, ये कुटुम्ब, ये घर-द्वार, किसका अपना है? अर्थ, वैभव और यह संसार भी किसका हुआ है? मृत्यु की घड़ी आते ही यह सब कुछ पराया हो जाता है? अपना बस वही है जो जीवन में भोग-खा लिया है। मित्र, हितैषी, सेवक सखा, सभी उस मृतक को शीघ्र घर से निकालने की फिक्र में होते हैं। वह मृतक हारे हुए जुआरी की तरह हाथ झाड़कर चल देता है। वह अपना सारा राजपाट

छोड़ भिखारी बन कर चला जाता है। जब तक शरीर में जीव था तब तक सभी उसे 'रत्नसेन' कहते थे। किंतु जीव के न रहने पर उसका मूल्य एक कौड़ी का भी न रहा।

राजा ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में बादल को चित्तौड़ का गढ़ सौंप दिया और उसके प्राणदेवता निकल कर चले गए—वह मर गया। अब विभीषण ने मानो लंका छोड़ दी; उसे जो चाहे ले।

विशेष—जीवन की नश्वरता एवं उदासीनता के प्रति कविवर जायसी की अभिव्यंजना अत्यधिक सबल और मार्मिक हुई है। प्रस्तुत पद को पढ़कर सहज ही मर्म के ऊपर विरक्ति पूतना सी बनकर बैठ जाती है।

शब्दार्थ—सरल हैं।

●

५७ : पद्मावती नागमती सती खण्ड

(६४८)

पदुमावति नइ पहिरि पटोरी। चली साथ होइ पिय की जोरी॥
सूरुज छपा रैनि होई गई। पूनिवँ ससि सो अमावस भई॥
छोरे केस मोंति लर छूटे। जानहुँ रैनि नखत सब टूटे॥
सेंदुर परा जो सीस उघारी। आगि लाग जनु जग अँधियारी॥
एहि देवस हौं चाहति नाहाँ। चलौं साथ बाहौं गल बाँहाँ॥
सारस पंखि न जियै निनारे। हौं तुम्ह बिनु का जियौं पियारे॥
नैवछावरि कै तन छिरिआवौं। छार होइ सँगि बहुरि न आवौं॥
दीपक प्रीति पतंग जेऊँ जनम निवाह करेउँ।
नेवछावरि चहुँ पास होइ कंठ लागि जीव देउँ॥ ६४८॥

भावार्थ—राजा रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् पद्मावती एवं नागमती के जौहर का वर्णन प्रस्तुत करते हुए कविवर जायसी लिखते हैं—

पद्मावती नई रेशमी साड़ी पहन, प्रियतम की जोड़ी बनकर उसके साथ चली। सूर्य छिप गया, रात हो गई। आशय है कि रत्नसेन मर गया तो पद्मावती के लिये यह दुनिया अंधकार मयी रात्रि हो गई। जो पूनम का चंद्र (शृंगारिणी पद्मावती) थी वह अमावस्या होगई। आशय है कि पद्मावती विधवा हो गई। उसने बाल बिखेरे, मोतियों की लड़ियाँ टूट गई, जैसे रात के सब तारे टूट गए हों। उसके खुले सिर पर जो माँग भरी सिंदूर की रेखा थी, वह ऐसी लग रही थी जैसे संसार की अँधियारी रात में आग सुलग रही हो। पद्मावती हिचकी भर-भरकर कहने लगी कि हे प्रियतम, मैं इस दिन के लिए चाहती

थी कि तुम्हारे संग गले में हाथ डाले-डाले चलूं। सारस पक्षी अपनी जोड़ी से बिछड़ कर जीवित नहीं रहता। हे प्यारे, मैं तुम्हारे बिना क्या जीवित रहूँ? अपने तन को पुर्ज़ा-पुर्ज़ा करके तुम पर न्यौछावर कर दूंगी, राख बन जाऊँगी; ताकि फिर तुम्हारे साथ को छोड़कर यहाँ जन्म न लूं।

दीपक से ज्यों पतिंगे की प्रीत होती है, मैंने इसी प्रकार से अपने जन्म भर का निर्वाह तुम्हारे साथ किया है। अब तुम्हारी परिक्रमा करके, तुम्हारे कंठ से लगकर, अपना प्राण नेवछावर कर दूंगी।

शब्दार्थ--पटोरी=साड़ी। उघारी=खुला हुआ। सीस=सिर। वाहौं=बाहे डालकर। चहुँ पास होइ=परिक्रमा करके।

(६४६)

नागमती पदुमावति रानीं। दुवौ महासत सती बखानीं॥
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं। जौ सिवलोक परा तिन्ह डीठीं॥
बैठो कोइ राज औ पाटा। अन्त सवै बैठिहि एहि खाटा॥
चंदन अगर काढ़ि सर साजा। औगति देइ चलै लै राजा॥
बाजन बाजहिं होइ अकूता। दुऔ कंत ले चाहहिं सूता॥
एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दोसरें होइ ओर निबाहू॥
जियत जो जरहिं कंत की आसा। मुँए रहसि बैठहिं एक पासा॥
आजु सूर दिन अँथवा आजु रैनि ससि बूड़ि।
आजु बाँचि जिय दीजिअ आजु आगि हम जूड़ि॥ ६४६॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग क्रम के अनुसार--

नागमती और पद्मावती, दोनों रानियाँ अपने महान सतीत्व के लिये विख्यात थीं। दोनों विमान अर्थात् अर्थी पर बैठ गई। उनको शिवलोक दृष्टिगोचर होने लगा। कविवर जायसी कहते हैं कि कोई भले ही राजसिंहासन पर आसीन हो ल पर अंत में सबको इसी अर्थी पर बैठना है। अगरु-चंदन की चिता सजाई गई, और लोग राजा का दाह संस्कार करने चले। घोर शोकसूचक बाजे बज रहे थे; दोनों रानियाँ स्वामी के साथ सोना चाहती थीं। एक बार के बाजे बजने से विवाह हुआ था; अब दूसरी बार के बाजे बजने से उसी विवाह के सम्बन्ध-निर्वाह का अंत होगा। जो जीते जी अपने प्रियतम के प्रेम-विरह में जलते हैं, वही मृत्यु-आसन पर उसके साथ बैठते हैं।

आज दिन में ही सूर्यास्त हो गया। रात में ही चाँद छिप गया। आज चाहिये कि हम अभिलषित भाव से प्राण दें, कि आज तो आग भी हमारे लिये शीतल सुखदाई हो गई है।

शब्दार्थ--महासत=महान सतीत्व। खाट=अर्थी। गतिदेइ=दाह संस्कार करें। अकूता=वाद्य ध्वनि। अँथवा=अस्त हुआ। बाँचि=अभिलाषा। जूड़ि=शीतल-सुखदाई।

(६५०)

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा । सात बार फिरि भाँवरि दीन्हा ।।
एक भँवरि भै जो रे बियाही । अब दोसरि दै गोहन जाहीं ।।
लै सर ऊपर खाट बिछाई । पौढ़ीं दुवौ कंत कँठ लाई ।।
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाईं । मुए कंठ नहि छाँड़हि साँईं ।।
औ जो गाँठि कंत तुम्ह जोरी । आदि अंत तिन्हि जाइ न छोरी ।।
एहि जग काह जो आथि निआथी । हम तुम्ह नाहँ दुहूँ जग साथी ।।
लागी कंठ आगि दै होरीं । छारि भईं जरि अंग न मोरीं ।।
रातीं पिय के नेह गईं सरग भएउ रतनार ।
जो रे उवा सो अँथवा रहा न कोइ संसार ।। ६५० ।।

भावार्थ—पूर्व पद के प्रसंग क्रम में—

चिता सजाकर बहुत-सा दान-पुण्य किया गया। तत्पश्चात् दोनों रानियों ने मृत पति की चिता के चारों ओर सात बार घूमकर सात भाँवरें लगाई। कविवर जायसी कहते हैं कि एक बार तो उनकी भाँवरें तब पड़ी थीं जब राजा के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था और अब ये दूसरी बार अंतिम भाँवरे डालकर वे पति के साथ परलोक जा रही हैं, या दूसरा आशय यह भी कि पहली बार तो केवल व्याह हुआ था इस बार स्थाई रूप में वह पति की होकर गौने में जा रही हैं। अर्थी उठाकर चिता पर रखी गई। पति के गले से चिपट कर दोनों रानियाँ चिता पर पड़ गई। वह कहने लगीं—हे प्राण प्यारे, तुमने जीते जी हमें अपने कंठ से लगाया था। हे प्रियतम, हम मरने पर भी तुम्हारा कंठ नहीं छोड़ सकतीं। और हे प्रियतम, तुमने जो दामपत्य ग्रंथि, जीवन के आदि से लेकर अंत तक के लिये जोड़ी थी, अब वह तोड़ी या खोली नहीं जाती। इस संसार का क्या, जो यहाँ "है" वही "नहीं" हो जाता है। आशय है कि यह संसार नाशवान है। पर हे प्राण, हम तुम तो इहिलोक-परलोक दोनों के साथी हैं। यों उन्होंने पति के कंठ से लगकर चिता की होली में आग लगा दी। वे जल मरीं, पर विचलित न हुई।

प्रिय की लाली में लाल होकर वे इस संसार को छोड़ गई। आकाश भी लालिमा-मय हो गया। कविवर जायसी कहते हैं कि हाय, इस संसार में जो भी पैदा हुआ, बच न सका, मर गया। संसार में कोई अमर न हुआ।

विशेष—प्रस्तुत पद में दुखात्मकता (Tregedy) सीधी चलकर मर्म पर तिरछी चोट करती है। कविवर जायसी ने इस पद के द्वारा भारतीय सती नारी के प्रति एक अमिट छाप मानस पर अंकित कर दी, ऐसा लगता है। यही जायसी का महाप्राणत्व है।

शब्दार्थ—सरल है।

(६५१)

ओइ सहगवन भईं जब ताईं । पातसाहि गढ़ छेंका आई ।।
तब लगि सो ओसर होइ बीता । भए अलोप राम औ सीता ।।

आइ साहि सब सुना अखारा। होइ गा राति देवस जो पारा ॥
छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ पिरथमी झूठी ॥
जो लगि उपर छार न परई। तब लगि नाहि जो तिस्ना मरई ॥
सगरें कटक उठाई माँटी। पुल बाँधा जहँ जहँ गढ घाटी ॥
भा ढोवा भा जूझि असूझा। बादिल आइ पँवरि होइ जूझा ॥
जौहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ चूरा चितउर भा इसलाम ॥ ६५१ ॥

भावार्थ--पूर्व पद के प्रसंग क्रम में--

जब तक रानियाँ पति के साथ चिता में सती हुई कि तब तक बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ को घेर लिया। किंतु रानी पद्मावती को हथियाने का मौक़ा निकल चुका था। राम और सीता अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती परलोक मे आलोप हो चुके थे। शाह ने आकर उस सारे वीर कृत्य (जौहर) के विषय में हाल जाना। मानो दिन-रात में परिणित हो गया कि जिस निराशाजनक परिणाम ने उसे अबतक रोक-थाम रक्खा था वही अंततः घटित हो गया। शाह ने एक मुट्ठी चिता की राख ली और यह कहते हुए उड़ा दी--"यह दुनिया मिथ्या है!" कविवर जायसी कहते हैं कि जबतक मनुष्य के ऊपर धूल नहीं गिरती तबतक उसकी वासना नहीं मरती। आशय है कि वासना की दुखद परिणति ही उसे जगत के दारुण सत्य से परिचित कराती है। शाह के सारे लश्कर ने मिट्टी उठाई और गढ़ में जहाँ-जहाँ खाइयाँ और घाटियाँ थी जहाँ पुल बना लिया। फिर धावा बोला और घमासान युद्ध हुआ। वीर बादल लड़ते-लड़ते गढ़ की पौर में मर मिटा।

चित्तौड़ की स्त्रियों ने जौहर किया और उनके पुरुष युद्ध करते-करते खेत रहे। शाह ने गढ़ ध्वस्त कर दिया और चित्तौड़ इस्लाम के अधिकार में हो गया।

विशेष--ध्यान देने वाली बात है कि इस पद में करुण रस की व्यंजना होते हुए भी पूर्ण रस परिपाक मूलतः वीर रस में हुआ प्रतीत होता है। 'जौहर' अपने में चरम वीरता का लक्षण है।

शब्दार्थ--सहगवन=सती होना। अखारा=वीर कृत्य 'जौहर' से आशय है। पारा=रोक रखना। कटक=लश्कर, सेना। छार=धूल। चूरा=ध्वस्त होना।

●

५८ : उपसंहार खण्ड

(६५२)

मुहमद यह कवि जोरि सुनावा। सुना जो पेय पीर गा पावा ॥
जोरि लाइ रकत के लेई। गाढी प्रीति नैन जल भेई ॥

औ मन जानि कबित अस कीन्हां । मकु यह रहे जगत महँ चीन्हा ।।
कहां सो रतनसेनि अस राजा । कहाँ सुवा असि बुधि उप राजा ।।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ।।
कहँ सरूप पदुमावति रानी । कोई न रहा जग रही कहानी ।।
धनि सो पुरुख जस कौ रति जासू । फूल मरै पै भरे न बासू ।।
केइँ नजगत जस बेंचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ।। ६५२ ।।

प्रसंग स्पष्टीकरण—पद्मावत महाकाव्य के अंत में कवि सुलभ आत्म-अभिव्यंजना करते हुए कविवर जायसी यहाँ अपने काव्य सृजन का ध्येय इंगित कर रहे हैं। इससे पूर्व, एक पद और भी शुक्ल जी द्वारा जायसी ग्रंथावली में सम्पादित मिलता है—

"मैं यहि अरथ पंडितन्ह बूझा..."

किंतु यह पद प्रक्षिप्त है। मैंने इसके भावार्थ में डूबकर देखा तो मुझे लगा कि यह पद जायसी की आत्माभिव्यक्ति नहीं रखता। इतना सब कुछ लिखने पर भी वह पण्डितों से अर्थ पूछते ?—और फिर समझाते भी ? इसके बाद के प्रमाणिक पद की **"सुना जो प्रेम पीर गा पावा"**—उक्ति से भी **"अरथ पण्डिन्ह बूझा"** और **"कछु और न सूझा"** वाली प्रक्षिप्त पद वाली उक्ति का घोर विरोध है। खैर—कुछ भी हो, मुझे लगा कि यह जायसी के काव्य-प्रेमी, किसी निपुण काव्य रसिक की सफल कारस्तानी है कि क्षेपक बड़े मोर्चे पर मिलाया है। किंतु कागज का फूल आखिर कागज का ही तो है ! अस्तु—

भावार्थ—कविवर जायसी स्वयं को इंगित करते हुए कहते हैं कि मुहम्मद ने यह पद्मावत काव्य रचकर सुनाया तो जिसने इसे सुना वही प्रेम की पीड़ा पा गया। इस प्रेम कथा को कवि ने अपने रक्त की लेही बनाकर जोड़ा है। उसने इसकी गाढ़ी प्रीति को अपने नयन जल या आँसुओं से धोया है और मन में यह सोचकर इस काव्य की रचना की है कि सम्भवतः जगत में यह एक निशानी बनकर रह जाय। कहाँ वह रत्नसेन सा राजा, कहाँ वह कुशाग्र बुद्धि वाला तोता, कहाँ अलाउद्दीन सुलतान, कहाँ वह राघव चेतन जिसने पद्मावती के रूप सौन्दर्य का बखान किया, कहाँ वह महा सुन्दरी पद्मावती रानी, इन सब में कोई भी शेष नहीं बचा; सब मर मिटे। केवल जग में यह कहानी ही रही जो प्रस्तुत है। वह पुरुष धन्य है, जिसकी इस जग में विमल कीर्त्ति है। फूल झर जाता है, किंतु उसकी खुशबू नहीं मरती...चारों दिशाओं में डोलती है।

संसार में न किसी ने यश को बेचा है और न किसी ने उसे मोल लिया है। आशय है, सबकी अपनी-अपनी साधना का श्रेय है। कविवर जायसी कहते हैं कि मेरी बस यही विनम्र प्रार्थना है कि जो इस प्रेम-कथा-काव्य को पढ़े, वह दो बोलों से हमें भी स्मरण करले। इससे आत्मशांति मिल जायगी।

विशेष—प्रस्तुत पद में कविवर जायसी ने अपने काव्य का पर्यालोचन एवं पर्यवसान इन दोनों को बड़े उत्कृष्ट ढंग से व्यक्त किया है। पर्यालोचन में **"जोरी लाइ खात**

के लेई। गाढी प्रीति नैन जल भेई।" उक्ति प्रेम की सीमा-रेखा है। और पर्यवसान में **"जो यह पढ़े कहानी हम सँवरे दुइ बोल"**--यह उक्ति जायसी के कविगत विनम्र निवेदन की सीमा है; कुरान की यह प्रार्थना प्रतिध्वनि होती है--**"रब्बे इग फ़िर"** कि हे प्रभु, सब कुछ क्षमा करना। इसके दो बोल या शब्द **"प्रेम"** की सीमा से भी आलिंगनबद्ध हैं; और वह आलिंगन है रत्नसेन पद्मावती का...जन्म और मृत्यु के शृंगार और वैराग्य का!

शब्दार्थ--विशेष नहीं हैं।

(६५३)

मुहमद विरिध बएस अब भई। जोबन हुत सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिष्टि गई नैनन्ह दै नीरू॥
दसन गए के तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला॥
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुंड़ सिर नाई॥
सखन गए ऊँच दै सुना। गारो गएउ सीस भी धुना॥
भँवर गएउ केसन्ह दै भुवा। जोवन गएउ जियत जनु धुवा॥
तब लगि जीवन जोबन साँथा। पुनि सो मींचु पराए हाथा॥
बिरिधि जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ आढ होहु तुम्ह केइँ यह दीन्ह असीस॥ ६५३॥

भावार्थ--कविवर जायसी स्वतः की आत्म-अभिव्यंजना करते हुए लिखते हैं कि मुहम्मद की अब वृद्धावस्था हो गई है। जो यौवन की आयु थी, वह बीत गई। जो पौरुष-बल था, वह तन को सुखाकर चला गया। आँखों की रोशनी चली गई, पानी गिरने लगा, नजर मंद पड़ गई है। दाँत टूट गए, अतः भरे-भरे गाल पिचक कर त्वचामात्र रह गए हैं। कर्कश स्वरों को देकर मधुर वचन चले गए। बुद्धि लुप्त हो गई, हृदय पगला गया। अभिमान सिर को झुकाकर चलता बना। कानों की श्रवण शक्ति ऊँचा सुनने का अभिशाप देकर चली गई। गर्व-गौरव चला गया। और सिर, श्वेत केशों के कारण धुनी हुई रुई-सा हो गया। केशों में रहनेवाला श्यामवर्ण रूपी भँवरा केशों को भुएँ का श्वेत वर्ण देकर चला गया। आशय है काले वाल, श्वेत हो गए। यौवन चला गया तो यह तन जीवित रहते भी मानो मुर्दा-सा है। तब तक ही वास्तविक जीवन है जब तक कि उसका हमसफर, यौवन है। किंतु बुढ़ापा ?--वह तो पराए हाथों पड़ना है। और फिर पराए हाथ जीना ही तो बस मृत्यु है।

वृद्ध जो सिर हिलाता है, मानो इस क्रोध से अपना सिर धुनता है कि **'तुम वृद्ध होकर सम्मानित होओ'**,--यह आशीर्वाद किस दुष्ट ने दिया ? आशय यह है कि वृद्ध का सब सम्मान करते हैं; किंतु वह स्वयं वृद्ध है--यह असम्मान का भाव क्या उस वृद्ध की अपनी अनुभूति में लज्जा जन्य तथा विवशता जन्य नहीं ? वह इसी दुख से मानो सिर नहीं हिलाता, उसे धुनता है।

विशेष—इस पद से यह प्रकट होता है कि कविवर जायसी ने पद्मावत का सृजन पूर्ण वृद्धावस्था में ही किया होगा, और वैसे काव्य-सौष्ठव तथा जीवनानुभव की अभिव्यंजना की दृष्टि से पद्मावत सर्वश्रेष्ठ रचना सिद्ध होती है। निश्चित ही पद्मावत कविवर जायसी की अन्तिम समय में लिखी हुई कृति प्रतीत होती है।

शब्दार्थ—बिरिध=वृद्ध। बएस=आयु। हुत=था। खीन=दुबला पतला। नीरू=पानी, या अश्रु। दसन=दाँत। तुचा=त्वचा। कपोल=गाल। बैन=वचन, बोल। सरवन=कान। गारौ=गौरव। रीस=क्रोध। आढ़े=सम्माननीय।

●

तृतीय खण्ड

परिशिष्ट

१. अख़रावट का मूल पाठ
   आख़िरीकलाम का मूल पाठ
२. अखरावट में सूफी दर्शन
   आख़िरीकलाम में निर्णय के दिन का वर्णन
   सूफी काव्यों की विशेषताएँ
३. सहायक पुस्तक सूची

●

सम्पादक

प्रो० दानबहादुर पाठक, एम. ए.

परिशिष्ट--१

अखरावट

(१)

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
अैसेइ अंधकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर ॥
साई केरा नावँ, हिया पूर काया भरी।
मुहमद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब ॥
आदिहु तें जो आदि गोसाईं। जेइँ सब खेल रचा दुनियाईं ॥
जस खेलेसि तस जाइ न कहा। चौदह भुवन पूरि सब रहा ॥
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती ॥
जौ वै आनि जोति निरमई। दीन्होसि ग्याँन, समुझि मोहिं भई ॥
औ उन्ह आनि बार मुख खोला। भइ मुख जीभ, बोल मैं बोला ॥
वै सब किछु करता किछु नाहीं। जैसे चले मेघ परछाहीं ॥
परगट गुपुत बिचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा ॥
कहौं सो ग्याँन ककहरा, सब आख महँ लेखि।
पंडित पढ़ि अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि ॥
हुता जो सुन्न-म-सुन्न, नाँव ठाँव ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्नि, मुहमद आपुहि आपु महँ ॥ १ ॥

(२)

आपु अलख पहिले हुत जहाँ। नाँव न ठाँव न मूरत तहाँ ॥
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू। गुपुत ते गुपुत सुन्न ते सुन्नू ॥
अलख अकेल सबद नहिं भाँती। सूरुज चाँद देवस नहिं राती ॥
आखर सुर नहिं बोल अकारा। अकथ कथा का कहौं बिचारा ॥
कछु कहिए तौ किछु नहिं आखौं। पै किछु मुहँ महँ किछु हिय राखौं ॥
बिना उरेह अरंभ बखाना। हुता आपु महँ आपु समाना ॥
आस न बास न मानुस अंडा। भए चौखंड जो अैस पखंडा ॥
सरग न धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरो अस, ओहि न रंग न भेस ॥

तब भा पुनि अंकूर, सिरजा दीपक निरमला।
रचा मुहम्मद नूर, जगत रहा उजियार होइ ॥ २ ॥

(३)

अैस जो ठाकुर किय एक दाऊँ। पहिले रचा मुम्मद नाऊँ ॥
तेहि के प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा ॥
होतैं बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता ॥
सूरुज चाँद देवस औ राती। एकहि दूसर भएउ सँघाती ॥
चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक, उपनी दुइ डारा ॥
भेटेन्हि जाइ पुन्नि औ पापू। दुख औ सुख आनँद संतापू ॥
औ तब भए नरक बैकूँठू। भल औ मंद, साँच औ झूँठू ॥
नूर मुहम्मद देखि तौ, भा हुलास मन सोइ।
पुनि इबलीस सँचारेउ, डरत रहै सब कोइ ॥
हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु ॥ ३ ॥

(४)

जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा ॥
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुँदा ॥
सोई अंस घट घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला ॥
भए आपु औ कहा गोसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं ॥
आन फूल भाँति बहु फूले। बास बेधि कौतुक सब भूले ॥
जिया जंतु सब अस्तुति कीन्हा। भा संतोख सबै मिलि चीन्हा ॥
तुम्ह करता बड़ सिरजन हारा। हरता धरता सब संसारा ॥
भर भँडार गुपुत तहँ, जहाँ छाँह नहिं धूप।
पुनि अनबन परकार, सौं खेला परगट रूप ॥
परैं प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करै।
ज सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस ॥ ४ ॥

(५)

एक चाक सब पिंड चढ़ें। भाँति भाँति के भाँडा गढ़ै ॥
जबहीं जगत किएउ सब साजा। आदि चहेउ आदम उपराजा ॥
पहिलेइँ रचे चारि अढ़वायक। भए सब अढ़वैयन के नायक ॥
भए आयसु चारिहु के नाऊँ। चारि वस्तु मेरवहु एक ठाऊँ ॥
तिन्ह चारिहु कै मँदिर सँवारा। पाँच भूत तेहि महँ पैसारा ॥
आपु आपु महँ अरुझी माया। अैस न जानै दहुँ केहि काया ॥
नव द्वारा राखे मँझियारा। दसवँ मूँदि कै दिएउ केवारा ॥

रकत माँसु भरि पूरि हिय, पाँच भूत के सँग।
प्रेम देस तेहि ऊपर, बाज रूप और रंग॥
रहेउ न दुइ महँ बीचु, बालक जैसे गरभ महँ।
जग लेइ आई मीचु, मुहमद रोएउ बिछुरि कै॥५॥

(६)

उहँई कीन्हेउ पिंड उरेहा। भइ सँजूत आदम कै देहा॥
भइ आयसु यह जग भा दूजा। सब मिलि नवहु करहु एहि पूजा॥
परगट सुना सबद सिर नावा। नारद कहँ बिधि गुपुत देखावा॥
तू सेवक है मोर निनारा। दसईं पँवरि होसि रखवारा॥
भइ आयसु जब वह सुनि पावा। उठा गरब कै सीस नवावा॥
धरिमिहि धरि पापी जेहि कीन्हा। लाइ संग आदम के दीन्हा॥
उठि नारद जिउ आइ सँचारा। आइ छींक उठि दीन्ह केवारा॥
आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ घाला कैलास।
पुनि तहँवाँ ते कढा, नारद के बिसवास॥
आदि किएउ आदेस, सुन्नहिं तें अस्थुल भए।
आपु करै सब भेस, मुहमद चादर ओट जेउँ॥६॥

(७)

का-करतार चाहिए अस कीन्हा। आपन दोख आन सिर दीन्हा॥
खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने। परे आइ जग महँ पछिताने॥
छोड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव तें दैउ बिछोवा॥
अंधकूप सगरउँ संसारू। कहाँ सो पुरुख, कहाँ मेहरारू॥
रैनि छ मास तैसि झरि लाई। रोइ रोइ आँसू नदी बहाई॥
पुनि माया करता के भई। भा भिनुसार, रैनि हटि गई॥
सूरुज उए कँवल दल फूले। दूवौ मिले पंथ कर भूले॥
तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिन्ह भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥
बुंदहि समुंद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महँ॥७॥

(८)

खा-खेलार जस है दुइ करा। उहै रूप आदम अवतरा॥
दूहूँ भाँति तस सिरिजा काया। भए दुइ हाथ भए दुइ पाया॥
भए दुइ नयन स्रवन दुई भाँती। भए दुइ अधर दसन दुइ पाँती॥
साथ सरग धर धरती भएऊ। मिलि तिन्ह जग दूसरे होइ गएऊ॥
माटी माँसु रकत भा नीरू। नसें नदी हिय समुंद गंभीरू॥

रीढ़ सुमेरु कीन्ह तेहि केरा। हाड़ पहार जुरे चहु फेरा।।
बार विरिछ रोवाँ खर जामा। सूत सूत निसरे तन चामा।।
सातौं दीप नवौं खंड, आठौं दिसा जो आहिं।
जो बरम्हंड सौ पिंड है, हेरत अंत न जाहिं।।
आगि बाउ जल धूरि, चारि मेरइ भाँडा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहि आपु महँ।।८।।

(९)

गा-गौरहु अब सुनहु गियानी। कहौ ग्यान संसार बखानी।।
नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौहैं हैं दुइ पला।।
चाँद सुरुज दूनौ सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं।।
जागत दिन निसि सोवत माँझा। हरख भोर विसमय होइ साँझा।।
सुख बैकुंठ भुगुति और भोगू। दुख है नरक जो उपजै रोगू।।
बरखा रुदन गरज अति कोहू। बिजुरी हँसी हिवंचल छोहू।।
घरी पहर बेहर हर साँसा। बीते छओ ऋतु बारह मासा।।
जुग जुग बीतै पलहि पल, अवधि घटति निति जाइ।
मीचु नियर जब आवै, जानहुँ परलय आइ।।
जेहि घर ठग हैं पाँच, नवौ बार चहुँदिसि फिरहिं।
सो घर केहि मिस बाँच, मुहमद जौ निसि जागिए।।९।।

(१०)

घा-घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना।।
माथा ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी के नाऊँ।।
सरवन आँखि नाक मुख चारी। चारिहु सेवक लेहु विचारी।।
भावै चारि फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु।।
भावै चारिहु मुरसिद कहऊ। भावै चारि किताबै पढ़ऊ।।
भावै चारि इमाम जे आगे। भावै चारि खंभ जे लागे।।
भावै चरिहु जुग मति पूरी। भावै आगि बाउ जल धूरी।।
नाभि कँवल तर नारद, लिए पाँच कोटवार।
नवौ दुवारि फिरै निति, दसई कर रखवार।।
पवनहु ते मन चाँड़, मन ते आसु उतावला।
कतहूँ मेड़ न डाँड़, मुहमद बहु विस्तार सो।।१०।।

(११)

ना-नारद तस पाहरू काया। चारा मेलि फाँद जग माया।।
नाद बेद औ भूत सँचारा। सब अरुझाइ रहा संसारा।।
आपु निपट निरमल होइ रहा। एकहु बार जाइ नहिं गहा।।

जस चौदह खँड तैस सरीरा । जहँवै दुख है तहँवै पीरा ।।
जौन देस महँ सँवरै जहवाँ । तौन देस सो जानहु तहँवाँ ।।
देखहु मन हिरदय वसि रहा । खन महँ जाइ जहाँ कोइ चहा ।।
सोवत अंत अंत महँ डोलै । जब बोलै तब घट महँ बोलै ।।
तन तुरँग पर मनुआ, मन मस्तक पर आसु ।
सोई आसु बोलावई, अनहद बाजा पासु ।।
देखहु कौतुक आइ, रूख समाना वीज महँ ।
आपुहि खोदि जमाइ, मुहमद सो फल चाखई ।।११।।

(१२)

जा-चरित्र जौ चाहहु देखा । बूझहु बिधिना केर अलेखा ।।
पवन चाहि मन बहुत उताइल । तेहि तें परम आसु सुठि पाइल ।।
मन एक खंड न पहुँचै पावै । आसु भुवन चौदह फिरि आवै ।।
भा जेहि ग्याँन हिए सो बूझै । जो धर ध्यान न मन तेहि रूझै ।।
पुतरी महँ जो बिंदि एक कारी । देखै जगत सो पट बिस्तारी ।।
हेरत दिस्टि उघरि तसि आई । निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई ।।
पेम समुँद सो अति अवगाहा । बूड़ै जगत न पावै थाहा ।।
जबहिं नींद चख आवै, उपजि उठै संसार ।
जागत अैस न जानै, दहुँ सौ कौन भँडार ।।
सुन्न समुँद चख माँहि, जल जैसी लहरैं उठहिं ।
उठि उठि मिटि मिटि जाहिं, मुहमद खोज न पाइए ।।१२।।

(१३)

छा-छाया जस बुंद अलोपू । ओठई सौं आनि रहा करि गोपू ।।
सोइ चित्त सों मनवाँ जागै । ओहि मिलि कौतुक खेलै लागै ।।
देखि पिंड कहँ बोली बोलै । अब मोहिं बिनु कस नैन न खोलै ।।
परम हंस तेहि ऊपर देई । सोऽहं सोऽहं साँसै लई ।।
तन सराय मन जानहु दीया । आसु तेल दम बाती कीया ।।
दीपक महँ विधि जोति समानी । आपुहि बरै बाति निरबानी ।।
निघटे तेल झूरि भइ बाती । गा दीपक बुझि अँधियरि राती ।।
गा सो प्रान परेवा, कै पींजर तल छूंछ ।
मुए पिंड कस फूलै, चेला गुरु सन पूंछ ।।
बिगरि गए सब नावँ, हाथ पाँव मुंह सीस धर ।
तोर नावँ केहि ठावँ, मुहमद सोइ बिचारिए ।।१३।।

(१४)

जा–जानहु अस तन महँ भेदू । जैसे रहै अंड महँ मेदू ।।

बिरिछ एक लागी दुइ डारा। एकहिं ते नाना परकारा।।
मातु के रकत पिता के बिंदू। उपने दुवौ तुरुक औ हिंदू।।
रकत हुते तन भए चौरंगा। बिंदु हुतें जिउ पाँचौ संगा।।
जस ये चारिउ धरति बिलाहीं। तस वै पांचौ सरगहि जाहीं।।
फूलै पवन पानि सब गरई। अगिनि जारि तन माटी करई।।
जस वै सरग के मारग माहाँ। तस ये धरति देखि चित चाहा।।

जस तन तस यह धरती, जस मन तैस अकास।
परमहंस तेहि मानस, जैसि फूल महँ बास।।
तन दरपन कहँ साजि, दरसन देखा जौ चहै।
मन सौं लीजिय मांजि, मुहमद निरम होइ हिया।। १४ ।।

(१५)

झा–झाँखर तन महँ मन भूलै। काँटन्ह माँझ फूल जनु फूलै।।
देखेउ परमहंस परछाहीं। नयन जोति सो बिछुरति नाहीं।।
जगमग जल महँ दीखै जैसे। नाहिं मिला, नहिं बेहरा तैसे।।
जस दरपन महँ दरसन देखा। हिय निरमल तेहि महँ जग देखा।।
तेहि संग लागीं पाँचौ छाया। काम, कोह, तिस्ना, मद, माया।।
चख महँ नियर निहारत दूरी। सब घट माँह रहा भरिपूरी।।
पवन न उड़ै न भीजै पानी। अगिनि जरै जस निरमल बानी।।

दूध माँझ जस घीउ है, समुंद माहँ जस मोति।
नैन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति।।
एकहि ते दुइ होइ, दुइ सौं राज न चलि सकै।
बीचु तें आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु।। १५ ।।

(१६)

ना–नगरी काया बिधि कीन्हा। जेइ खोजा पावा तेइ चीन्हा।।
तन महँ जोग भोग औ रोगू। सूझि परै संसार सँजोगू।।
रामपुरी औ कीन्ह कुकरमा। मौन लाइ साधै अस्तर माँ।।
पै सुठि अगम पंथ बड़ बाँका। तस मारग जस सुई क नाका।।
बाँक चढ़ाव सात खँड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा।।
जस सुमेरु पर अमृत मूरी। देखत नियर चढ़त बड़ि दूरी।।
नाँघि हिवंचल जो तहँ जाई। अमृत मूरि पाइ सो खाई।।

एहि बाट पर नारद, बैठ कटक कै साज।
जो ओहि पेलि पईठै, करै दुवौ जग राज।।
हौं कहतै भए ओट, पियै खंड मो सौं किएउ।
भए बहु फाटक कोट, मुहम्मद अब कैसे मिलहिं।। १६ ।।

(१७)

टा—टुक झाँकहु सातौ खंडा। खंडै खंड लखहु बरम्हंडा॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ। लखि न अँटकु पौरी महँ ठाऊँ॥
दूसर खंड ब्रिहस्पति तहँवा। काम दुवार भोग घर जहँवाँ।
तीसर खंड जो मँगल जानहु। नाभि कमल महँ ओहि अस्थानहु॥
चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई॥
पाँचवें खंड सुक्र उपराहीं। कंठ माहँ औ जीभ तराहीं॥
छठएँ खंड बुद्ध कर बासा। दुइ भौहन्ह के बीच निवासा॥

सातवें सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुवार।
जो वह पँवरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार॥
जौ न होत अवतार, कहाँ कुटुम परिवार सब।
झूँठ सबै संसार, मुहमद चित्त न लाइए॥१७॥

(१८)

ठा—ठाकुर बड़ आप गुसाईं। जेइ सिरजा जग अपनिहि नाईं॥
आपुहि आपु जौ देखै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा॥
आपुहि बन औ आपू पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भँवर बास रस भूले॥
आपुहि फल आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखनहारा॥
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै॥

आपुहि कागद आप मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पँडित अपार॥
केहु नहिं लागिहि साथ, जब गौनब कैलास महँ।
चलब झारि दोउ हाथ, मुहमद यह जग छोड़ि कै॥१८॥

(१९)

डा-डरपहु मन सरगहि खोई। जेहि पाछे पछिताव न होई॥
गरब करै जौ हौं हौं करई। बैरी सोइ गोसाइँ क अहई॥
जो जानै निहचय है मरना। तेहि कहँ मोर तोर का करना॥
नैन बैन सरवन बिधि दीन्हा। हाथ पाँव सब सेवक कीन्हा॥
जेहि के राज भोग सुख करई। लेइ सवाद जगत जस चहई॥
सो सब पूँछिहि मैं जो दीन्हा। तै ओहि कर कस अवगुन कीन्हा॥
कौन उत्तर का करब बहाना। बोवै बबुर लवै कित धाना॥

कै किछु लेइ न सकत तब, नितिहिं अवधि नियराइ।
सो दिन आइ जो पहुँचै, पुनि किछु कीन्ह न जाइ॥

जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ जौ लहि पिंड महँ।
पुनि किछु परै न चीन्ह, मुहमद यह जग धुंध होइ ॥१९॥

(२०)

ढा-ढारै जो रकत पसेऊ। सो जानै एहि बात क भेऊ ॥
जेहि कर ठाकुर पहरै जागै। सो सेवक कस सोवै लागै ॥
जो सेवक सोवै चित देई। तेहि ठाकुर नहि मया करेई ॥
जेइ अवतरि उन्ह कहँ नहिं चीन्हा। तेइ यह जनम अँबिरथा कीन्हा ॥
मूँदे नैन जगत महँ अवना। अंधधुंध तैसै पै गवना ॥
लइ किछु स्वाद जागि नहिं पावा। भरा मास तेइ सोइ गँवावा ॥
रहै नींद दुख भरम लपेटा। आइ फिरै तिन्ह कतहुँ न भेंटा ॥
धावत बीते रैनि दिन, परम सनेही साथ।
तेहि पर भएउ बिहान जब, रोइ रोइ मींजै हाथ ॥
लछिमी सत कै चेरि, लाल करै बहु मुख चहै।
दीठि न देखै फेरि, मुहमद राता प्रेम जो ॥२०॥

(२१)

ना-निसता जो आपु न भएऊ। सो एहि रसहि मारि बिख किएऊ ॥
यह संसार झूठ थिर नाहीं। उठहिं मेघ जेउँ जाइ बिलाहीं ॥
जो एहि रस के बाएँ भएऊ। तेहि कहँ रस बिख भर होइ गएऊ ॥
तेइ सब तजा अरथ बेवहारू। औ घर बार कुटुम परिवारू ॥
खीर खाँड तेहि मीठ न लागै। उहै बार होइ भिच्छा माँगै ॥
जस जस नियर होइ वह देखै। तस तस जगत हिया महँ लेखै ॥
पुहुमी देखि न लावै दीठी। हेरै नवै न आपनि पीठी ॥
छोड़ि देहु सब धंधा, काढ़ि जगत सौं हाथ।
घर माया कर छाँड़ि कै, धरु काया कर साथ ॥
साँई के भँडारु बहु, मानिक मुकता भरे।
मन चोरहि पैसारु, मुहमद तौ किछु पाइए ॥२१॥

(२२)

ता-तप साधहु एक पथ लागे। करहु सेव दिन रात सभागे ॥
ओहि मन लावहु रहै न ऊठा। छोड़हु झगड़ा यह जग झूँठा ॥
जब हँकार ठाकुर कर आइहि। एक घरी जिउ रहै न पाइहि ॥
ऋतु बसंत सब खेल धमारी। दगला अस तन चढ़ब अटारी ॥
सोइ सोहागिनि जाहि सोहागू। कंत मिलै जो खेलै फागू ॥
कै सिंगार सिर सेंदुर मेलै। सबहि आइ मिलि चाँचरि खेलै ॥
औ जो रहै गरब कै गोरी। चढ़े दुहाग जरै जस होरी ॥

खेलि लेहु जस खेलना, ऊख ग्रागि देइ लाइ।
झूमरि खेलहु झूगि कै, पूजि मनोरा गाइ॥
कहाँ ते उपने ग्राइ, सुधि बुधि हिरदय उपजिए।
पुनि कहँ जाहिं समाइ, मुहमद सो खँड खोजिए॥२२॥

(२३)

था-थापहु बहु ग्याँन बिचारू। जेहि महँ सब समाइ संसारू॥
जैसी ग्रहै पिरथिमी सगरी। तैसिहि जानहु काया नगरी॥
तन महँ पीर ग्रौ बेदन पूरी। तन महँ बैद ग्रौ ग्रोखद मूरी॥
तन महँ बिख ग्रौ ग्रमृत बसई। जानै सो जो कसौटी कसई॥
का भा पढ़े गुने ग्रौ लिखे। करनी साध किए ग्रौ सिखे॥
ग्रापुहि खोइ ग्रोहि जो जावा। सो बीरौ मनु लाइ जमावा॥
जो ग्रोहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै ग्रमृत फल खाई॥
ग्रापुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि विचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥
कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नहिं हँसी न रोज, मुहमद ऐसै ठाँव वह॥२३॥

(२४)

दा-दाया जा कहँ गुरु कइई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई॥
सात खंड ग्रौ चारि निसेनी। ग्रगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी॥
तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै। पाँव न डगै, ग्रधिक बल पावै॥
जो बरु सकति भगति भा चेला। होइ खेलार खेल बहु खेला॥
जो ग्रपने बल चढ़ि कै नाँघा। सो खसि परा, टूटि गई जाँघा॥
नारद दौरि संग तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला॥
तेली बैल जो निसि दिन फिरई। एका परग न सो ग्रगुसरई॥
सोइ सोधु लागा रहै, जेहि चलि ग्रागे जाइ।
नतु फिरि पीछे ग्रावई, मारग चलि न सिराइ॥
सुनि हस्ती कर नावँ, ग्रधरन्ह टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेहि ठावँ, मुहमद सो तैसे कहा॥२४॥

(२५)

धा-धावहु तेहि मारग लागे। जेहि निस्तार होइ सब ग्रागे॥
बिधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥
जेइ हेरा तेइ तहँवैं पावा। भा संतोख समुझि मन गावा॥
तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा। भा परवान दुवौ जग बाँचा ॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप पुन्नि सुनि लागे ॥
वह मारग जो पावै, सो पहुँचै भव पार।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बटवार ॥
साईं केरा वार, जो चिर देखै औ सुनै।
नइ नइ करै जोहार, मुहमद निति उठि पाँच बेर ॥२५॥

(२६)

ना-नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी ॥
कही सरीयत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुंद जल जिउ न डेराई ॥
जेहि कै ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़ूकी ॥
ढूँढ़ि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा ॥
साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ ॥
जेइ पावा गुरु मीठ, सो सुख मारग महँ चलै।
सुख आनंद भा डीठ, मुहमद साथी पोढ़ जेहि ॥२६॥

(२७)

पा-पाएउँ गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
नावँ पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू ॥
औ तिन्ह दरस गोसाईं पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा ॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वै चेला ॥
सैयद मुहमद दीनहि साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सबाचा ॥
जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे ॥
दानियाल तइँ परगट कीन्हा। हजरत ख्वाज खिजिर पथ दीन्हा ॥
खड़ग दीन्ह उन्ह जाइ कहँ, देखि डरै इबलीस।
नावँ सुनत सो भागै, धुनै ओट होइ सीस ॥
देखि समुंद महँ सीप, बिनु बूड़े पावै नहीं।
होइ पतंग जलदीप, मुहमद तेहि धँसि लीजिए ॥२७॥

(२८)

फा-फल मीठ जो गुरु हुंत पावै। सो बीरौ मन लाइ जमावै ॥
जो पखारि तन आपन राखै। निसि दिन जागै सो फल चाखै ॥
चित भूलै जस भूलै ऊखा। तजि के दोउ नींद औ भूखा ॥

चिता रहै ऊख पहँ सारू। भूमि कुल्हाड़ी करै प्रहारू।।
तन कोल्हू मन कातर फेरै। पाँचौ भूत आतमहि पेरै।।
जैसे भाठी तप दिन राती। जग धंधा जारै जस बाती।।
आपुहि पेरि उड़ावै खोई। तब रस औट पाकि गुड़ होई।।
अस कै रस औटावहु, जामत गुड़ होइ जाइ।
गुड़ तें खाँड मीठि भई, सब परकार मिठाई।।
धूप रहै जग छाइ, चहूँ खँड संसार महँ।
पुनि कहँ जाइ समाइ, मुहमद सो खँड खोजिए।।२८।।

(२९)

बा-बिनु जिउ तन अस अँधियारा। जौ नहिं होत नयन उजियारा।।
मसि क बुंद जो नैनन्ह माहीं। सोई प्रेम अंस परिछाहीं।।
ओहि जोती सौं परखै हीरा। ओहि सौं निरमल सकल सरीरा।।
उहै जोति नैनन्ह महँ आवै। चमकि उठै जल बीजु दिखावै।।
मग ओही सगरे जाहिं बिचारू। साँकर मुँह तेहि बड़ बिस्तारू।।
जहँवाँ किछु नहिं है सत करा। जहाँ छूंछ तहँ वह रस भरा।।
निरमल जोति बरनि नहिं जाई। निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई।।
माटी तें जल निरमल, जल तें निरमल बाउ।
बाउहिं तें सुठि निरमल, सुनु यह जाकर भाउ।।
इहै जगत कै पुन्न, यह जप तप सत साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्ध भा।।२९।।

(३०)

भा-भल सोइ जो सुन्नहि जानै। सुन्नहि ते सब जग पहिचानै।।
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती। सुन्नहि ते उपजै बहु भाँती।।
सुन्नहि माँझ इन्द्र बरम्हंडा। सुन्नहि ते टीके नवखंडा।।
सुन्नहि ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई।।
सुन्नहि सात सरग उपराहीं। सुन्नहि सातौं धरति तराहीं।।
सुन्नहि ठाट लाग सब एका। जीवहि लाग पिंड सगरे का।।
सुन्नम सुन्नम सब उतिराई। सुन्नहि महँ सब रहै समाई।।
सुन्नहि महँ मन रूख, जस काया महँ जीउ।
काठी माँझ आगि जस, दूध माहँ जस घीउ।।
जावँन एकहि बूंद, जामै देखहु छीर सब।
मुहमद मोति समुंद, काढ़हु मथन आरंभ कै।।३०।।

(३१)

मा-मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो आपु अहीरू।।

पाँचौं भूत आतमहि मारै। दरब गरब करसी कै जारै॥
मन माठा सम अस के धोवै। तन खैला तेहि माहँ बिलोवै॥
जपहु बुद्धि कै दुइ सन फेरहु। दही चूर अस हिया अभेरहु॥
पछवाँ कढई कैसन फेरहु। ओहि जोति महँ जोति अभेरहु॥
जस अंतरपट साढ़ी फूटै। निरमल होइ मया सब छूटै॥
माखन मूल उठै लेइ जोती। समुँद माँह जस उलथै मोती॥
जस घिउ होइ जराइ कै, तस जिउ निरमल होइ।
महै महेरा दूर करि, भोग करै सुख सोइ॥
हिया कँवल जस फूल, जिउ तेहि महँ जस बासना।
तन तजि मन महँ भूल, मुहमद तब पहिचानिए॥३१॥

(३२)

जा-जानहु जिउ बसै सो तहँवाँ। रहै कँवल हिय संपुट जहँवाँ॥
दीपक जैसे बरत हिय आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे॥
देहि कहँ अंस समानेउ आई। सुन्न सहज मिली आवै जाई॥
जहाँ उठै धुनि आउंकारा। अनहद सवद होइ झनकारा॥
तेहि महँ जोति अनूपम भाँति। दीपक एक बरै दुइ बाती॥
एक जो परगट होइ उजियारा। दूसर गुपुत सो दसवँ दुवारा॥
मन जस टेम प्रेम जस दीया। आसु तेल दम बाती कीया॥
तहँवा जिउ जस भँवरा, फिरा करै चहुँ पास।
मींचु पवन जस पहुँचै, लइ फिरै सो बास।
सुनहु बचन यह मोर, दीपक जस आरे बरै।
सब घर होइ अँचोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ॥३२॥

(३३)

रा-रातहु अब तेहि के रँगा। बेगि लागु प्रीतम के संगा॥
अरध उरध अस है दुइ हीया। परगट गुपुत बरै जस दीया॥
परगट मया मोह जस लावै। गुपुत सुदरसन आप लखावै॥
अस दरगाह जाइ नहिं पैठा। नारद पँवरि कटक लेइ बैठा॥
ताकहँ मंत्र एक है साँचा। जो वह पढ़ै जाइ सो बाँचा॥
पंडित पढ़ै सो लेइ-लेइ नाऊँ। नारद छाँडि देइ सो ठाऊँ॥
जेकरे हाथ होइ वह कूँजी। खोलि केवार लेइ सो पूँजी॥
उघरै नैन हिया कर, आछे दरसन रात।
देखै भुवन सो चौदहौं, औ जानै सब बात॥
कंत पियारे भेंट, देखै तूलम तूल होइ।
भए बयस दुइ हेंठ, मुममद निति सरबर करै॥३३॥

(३४)

ला-लखई सोई लखि आवा। जो एहि मारग आपु गँवावा॥
पीउ सुनत धुनि आपु बिसारै। चित्त लखै तन खोइ अडारै॥
हौं हौं करब अडारहु खोई। परगट गुपुत रहा भरि सोई॥
बाहर भीतर सोई समाना। कौतुक सपना सो निजु जाना॥
सोइ देखै औ सोई गुनई। सोई सब मधुरी धुनि सुनई॥
सोई करै कीन्ह जो चहई। सोइ जानि बूझि चुप रहई॥
सोई घट घट होइ रस लेई। सोई पूँछै सोइ ऊपर देई॥
सोई साजै अंतर पट, खेलै आपु अकेल।
वह भूला जग सेती, जग भूला ओहि खेल॥
जौ लगि सुनै न मींचु, तौ लगि मारै जियत जिउ।
कोई हुतेउ न बीचु, मुहमद एकै होइ रहै॥३४॥

(३५)

वा-वह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी॥
छंदहि छंद भएउ सो बंदा। छन एक माहँ हँसी रोवंदा॥
बारे खेल तरुन वह सोवा। लउटी बूढ़ लेइ पुनि रोवा॥
सो सब रंग गोसाईं केरा। भा निरमल कैलास बसेरा॥
सो परगट महँ आइ भुलावै। गुपुत में आपन दरस देखावै॥
तुम अनु गुपुत मते तस सेऊ। ऐसन सेउ न जानै केऊ॥
आप मरे बिनु सरग न छुवा। आँधर कहहिं चाँद कहँ उवा॥
पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतिराइ।
एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ॥
दीन्ह रतन बिधि चारि, नैन बैन सरवन्न मुख।
पुनि जब मेटहि मारि, मुहमद तब पछिताब मैं॥३५॥

(३६)

सा-साँसा जौ लहि दिन चारी। ठाकुर से करि लेहु चिन्हारी॥
अंध न रहहु होहु डिठियारा। चीन्हि लेहु जो तोहि सँवारा॥
पहिले सो जो ठाकुर कीजिए। ऐसे जियन मरन नहिं छीजिय॥
छाँड़हु घिउ औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध माँसु घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू॥
ऐहि विधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिस्ना मद माया॥
तब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी॥
प्रेत तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैस अहेर कहँ, लाग रहै सर साँधि॥

अपने कौतुक लागि, उपजाएन्हि बहु भाँति कै।
चीन्हि लेहु सो जागि, मुहमद सोइ न खोइए ।।३६।।

(३७)

खा-खेलहु खेलहु ओोहि भेंटा। पुनि का खेलहु खेल समेटा ।।
कठिन खेल औ मारग सँकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा ।।
मरन खेल देखा सो हँसा। होइ पतंग दीपक महँ धँसा ।।
तन पतंग कै भिरिंग कै नाई। सिद्धि होइ सो जुग-जुग ताई ।।
बिनु जिउ दिए न पावै कोई। जो मरजिया अमर भा सोई ।।
नीम जो जामै चंदन पासा। चंदन बेधि होइ तेहि बासा ।।
पावँन्ह जाइ बली सन टेका। जौ लहि जिउ तन तौ लहि भेका ।।
अस जानै है सब महँ, और सब भावहि सोइ।
हौं कोहाँर कर माटी, जो चाहै सो होइ ।।
सिद्ध पदारथ तीनि, बुद्धि पाँव औ सिर कया।
पुनि लेइहि सब छीनि, मुहमद तब पछिताब में ।।३७।।

(३८)

सा-साहस जाकर जग पूरी। सो पावा वह अमृत मूरी ।।
कहौं मंत्र जो आपनि पूँजी। खोलु केवारा ताला कूँजी ।।
साठि बरिस जो लपई झपई। छन एक गुपुत जाप जो जपई ।।
जानहु दुवौ बराबर सेवा। ऐसन चलै मुहमदी खेवा ।।
करनी करै जो पूजै आसा। सँवरै नावँ जो लेइ लेइ साँसा ।।
काठी धँसत उठै जस आगी। दरसन देखि उठै तस जागी ।।
जस सरवर महँ पंकज देखा। हिय के आँखि दरस सब लेखा ।।
जासु कया दरपन कै, देखु आप मुँह आप।
आपुइ आपु जाइ मिलु, जहँ नहिं पुन्नि न पाप ।।
मनुवाँ चंचल ढाँप, बरजे अहथिर ना रहै।
पाल पेटारे साँप, मुहमद तेहि बिधि रखिए ।।३८।।

(३९)

हा-हिय ऐसन बरजे रहई। बूड़ि न जाइ बूड़ अति अहई ।।
सोइ हिरदय कै सीढ़ी चढ़ई। जिमि लोहार घन दरपन गढ़ई ।।
चिनगि जोति करसी तें भागै। परम तंतु परचावै लागै ।।
पाँच भूत लोहा गति लावै। दुहूँ साँस भाठी सुलगावै ।।
कया ताइ केकरि दर (?) करई। पेम के सँड़सी पोढ़ कै धरई ।।
हनि हथेव हिय दरपन साजै। छोलनी जाप लिहे तन माँजै ।।
तिल तिल दिस्टि जानि सहुँ ठानै। माँस चढ़ाइ कै ऊपर आनै ।।

तौ निरमल मुख देखै, जोग होइ तेहि ऊप।
होइ डिठियार सो देखै, अंधन के अँधकूप॥
जेकर पास अनफाँस, कहु हिय फिकिर सँभारि कै।
कहत रहै हर साँस, मुहमद निरमल होइ तब॥३९॥

(४०)

खा-खेलन औ खेल पसारा। कठिन खेल औ खेलन हारा॥
आपुहि आपुहि चाह देखावा। आदम रूप भेस धरि आवा॥
अलिफ एक अल्ला बड़ सोई। दाल दीन दुनिया सब कोई॥
मीम मुहम्मद प्रीति पियारा। तिनि आखर यह अरथ बिचारा॥
मुख बिधि अपने हाथ उरेहा। दुइ जग साजि सँवारा देहा॥
कै दरपन अस रचा बिसेखा। आपन दरस आप महँ देखा॥
जो यह खोज आप महँ कीन्हा। तेइ आपुहि खोजा सब चीन्हा॥
भागि किया दुइ मारग, पाप पुन्नि दुइ ठाँव।
दहिने सो सुठि दाहिने, बायें सो सुठि बाँव॥
भा अपूर सब ठाँव, गुड़िला मोम सँवारि कै।
राखा आदम नाँव, मुहमद सब आदम कहै॥४०॥

(४१)

औ उन्ह नावँ सीखि जौ पावा। अलख नावँ लेइ सिद्ध कहावा॥
अनहद ते भा आदम दूजा। आप नगर करवावै पूजा॥
घट घट महँ होइ निति सब ठाऊँ। लाग पुकारै आपन नाऊँ॥
अनहद सुन्न रहै सँग लागे। कबहुं न बिसरे, सोए जागे॥
लिखि पुरान महँ कहा बिसेखी। मोहिं नहिं देखहु, मैं तुम्ह देखी॥
तू तस साईं न मोहिं बिसारसि। तू सेवा जीतै नहिं हारसि॥
अस निरमल जस दरपन आगे। निसि दिन तोरि दिस्टि मोहि लागे॥
पुहुप बास जस हिरदय, रहा नैन भरिपूरि॥
नियरे से सुठि नीयरे, ओहट से सुठि दूरि॥
दुवौ दिस्टि टक लाइ, दरपन जौ देखा चहै।
दरपन जाइ देखाइ, मुहमद तौ मुख देखिये॥४१॥

(४२)

छा—छाँड़हु कलंक जेहि नाहीं। केहुन बराबरि तेहि परछाहीं॥
सूरुज तपै परै अति घामू। लागे गहन गरात होइ सामू॥
ससि कलंक का पटतर दीन्हा। घटै बढ़ै औ गहनै लीन्हा॥
आगि बुझाइ जौ पानी परई। पानि सूख माटी सब सरई॥
सब जाइहि जो जग महँ होई। सदा सरबदा अहथिर सोई॥

निहकलंक निरमल सब अंगा। अस नाहीं केहु रूप न रंगा॥
जो जानै सो भेद न कहई। मन महँ जानि बूझि चुप रहई॥
मति ठाकुर कै सुनि कै, कहै जो हिय मझियार।
बहुरि न मत तासौं करैं, ठाकुर दूजी बार॥
गगरी सहस पचास, जौ कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए॥ ४२॥

(४३)

ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेहि सँभारी॥
पाँच भूत माँड़ी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई॥
बिधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नावँ कूँच सौं माँजै॥
मन मुरीं देइ सब अंग मारै। तन सों बिनै दोउ कर जारै॥
सून सूत सो कया मँजाई। सीझा काम बिनत सिधि पाई॥
राउर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ।
तेरि राजा निति सँवरै, पूँछै धरम बोलाइ॥
तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं।
परैं खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं॥ ४३॥

(४४)

मन सौं देइ कढ़नी दुइ गाढ़ी। गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी॥
ना ओहि लेखं राति न दिना। करगह बैठि साट सो बिना॥
खरिका लाइ करै तन घीसू। नियर न होइ डर इबलीसू॥
भरै साँस जब नावै नरी। निसरै छूँछी पैठे भरी॥
लाइ लाइ कै नरी चढ़ाई। इलालिलाह कै ढारि चलाई॥
चित डोलै नहिं खूटी ढरई। पल पल पेखि आग अनुसरई॥
सीधे मारग पहुँचै जाई। जो एहि भाँति कर सिधि पाई॥
चलै साँस तेहि मारग, जेहि से तारन होइ।
धरै पाँव तेहि सीढ़ी, तुरतै पहुँचै सोइ॥
दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गए।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए॥ ४४॥

(४५)

कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ग्याँनी भए धियानी॥
चेलै समुझि गुरू सौं पूछा। देखहु निरखि भरा औ छूँछा॥
दुहूँ रूप है एक अकेला। औ अनबन परकार सौं खेला॥

औ भा चहै दुबौ मिलि एका । को सिख देइ काहि को टेका ।।
कैसे आपु बीच सो मेटै । कैसे आप हेराइ सो भेंटे ।।
जौ लहि आपु न जीयत मरई । हँसै दूरि सौं बात न करई ।।
तेहि कर रूप बदन सब देखै । उहै घरी महँ भाँति बिसेखै ।।
सौ तौ आपु हेरान, है तन मन जीवन खोइ ।
चेला पूछै गुरू कहँ, तेहि कस अगरे होइ ।।
मन अहथिर कै टेकु, दूसर कहना छाँड़ि दे ।
आदि अंत जो एक, मुहमद कहु दूसर कहाँ ।।४५।।

(४६)

सुनु चेला उत्तर गुरु कहई । एक होइ सो लाखन लहई ।।
अहथिर कै जो पिंडा छाँड़ै । औ लेइ कै धरती महँ गाड़ै ।।
काह कहौं जस तू परिछाहीं । जौ पै किछु आपन बस नाहीं ।।
जो बाहर सो अंत समाना । सो जानै जो ओहि पहिचाना ।।
तू हेरे भीतर सौं मिता । सोइ करै जेहि लहै न चिंता ।।
अस मन बुझि छाँड़ को तोरा । होहु समान करहु मति मोरा ।।
दुइ हुंत चलै न राज न रैयत । तब वेइ सीख जो होइ मग अैयत ।।
अस मन बूझहु अब तुम, करता है सो एक ।
सोइ सूरत सोइ मूरत, सुनै गुरू सौं टेक ।।
नवरस गुरु पहँ भीज, गुरु परसाद सो पिउ मिलै ।
जामि उठै सो बीज, मुहमद सोई सहस बुँद ।।४६।।

(४७)

माया जरि अस आपुहि खोई । रहै न पाप मैल गइ धोई ।।
गौ दूसर भा सुन्नहि सुन्नू । कहँ कर पाप कहाँ कर पुन्नू ।।
आपुहि गुरू आपु भा चेला । आपुहि सब औ आपु अकेला ।।
अहै सो जोगी अहै सौ भोगी । अहै सो निरमल अहै सो रोगी ।।
अहै सो कड़ुआ अहै सो मीठा । अहै सो आमिल अहै सो सीठा ।।
वै आपुहि कहँ सब महँ मेला । रहे सो सब महँ खेलै खेला ।।
उहे दोउ मिलि एकै भएऊ । बात करत दूसर होइ गएऊ ।।
जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ।।
एक से दूसर नाहिं, बाहर भीतर बूझि ले ।
खाँड़ा दुइ न समाहिं, मुहमद एक मियान महँ ।।४७।।

(४८)

पूछौं गुरू बात एक तोहीं । हिया सोच एक उपजा मोहीं ।।

तोहि अस कतहुँ न मोहि अस कोई । जो किछु है सो ठहरा सोई ।।
तस देखा मैं यह संसारा । जस सब भाँड़ा गढ़ै कोहाँरा ।।
काहू माँझ खाँड़ भरि धरई । काहू माँझ जो गोबर भरई ।।
वह सब किछु कैसे कै कहई । आपु बिचारि बूझि चुप रहई ।।
मानुस तौ नीके संग लागै । देखि घिनाइ त उठि कै भागै ।।
सीझ चाम सब काहू भावा । देखि सरा सो नियर न आवा ।।
पुनि साई सब जग रमै, औ निरमल सब चाहि ।
जेहि न मैलि किछु लागै, लावा जाइ न लाहि ।।
जोगि उदासी दास, तिन्हहिं न दुख औ सुख हिया ।
घर ही माहँ उदास, मुहमद सोइ सराहिए ।।४८।।

(४९)

सुनु चेला जस सब संसारू । ओही भाँति तुम किया विचारू ।।
जौ जिउ कया तौ दुख सौं भीजा । पाप के ओट पुन्नि सब छीजा ।।
जस सुरुज उअ देख अकासू । सब जग पुन्नि उहै परगासू ।।
भल औ मंद जहाँ लगि होई । सब पर धूप रहै पुनि सोई ।।
मंदे पर वह दिस्टि जो परई । ताकर मैलि चैन सौं ढरई ।।
अस वह निरमल धरति अकासा । जैसे मिली फूल महँ बासा ।।
सबै ठाँव औ सब परकारा । ना वह मिला न रहै निनारा ।।
ओहि जोति परछाहीं, नवौ खंड उजियार ।
सुरुज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार ।।
जेहि कै जोति सरूप, चाँद सुरुज तारा भए ।
तेहि कर रूप अनूप, मुहमद बरनि न जाइ किछु ।।४९।।

(५०)

चलैं समुझि गुरु सौं पूछा । धरती सरग बीच सब छूँछा ।।
कीन्ह न थूनी भीति न पाखा । केहि बिधि टेकि गगन यह राखा ।।
कहाँ से आइ मेघ बरिसावै । सेत साम सब होइ कै धावै ।।
पानी भरै समुंद्रहि जाई । जहाँ से उतरै बरसि बिलाई ।।
पानी माँझ उठै बजरागी । कहाँ से लौकि बीजु भुइँ लागी ।।
कहवाँ सूर चंद औ तारा । लागि अकास करहिं उजियारा ।।
सूरुज उवै बिहानहि आई । पुनि सो अथै कहाँ कहँ जाई ।।
काहे चंद घटत, है काहे सूरुज पूर ।
काहे होइ अमावस, काहे लागै मूर ।।
जस किछु माया मोह, तैसे मेघा, पवन, जल ।
बिजुरी जैसे कोह, मुहमद तहाँ समाइ यह ।। ५० ।।

(५१)

सुनु चेला ! एहि जग कर अवना । सब बादर भीतर है पवना ॥
सुन्न सहित विधि पवनहि भरा । तहाँ आप होइ निरमल करा ॥
पवनहि महँ जो आप समाना । सब भा बरन ज्यों आप समाना ॥
जैस डोलाए बेना डोलै । पवन सबद होइ किछुहु न बोलै ॥
पवनहि मिला मेघ जल भरई । पवनहि मिला बुंद भुइँ परई ॥
पवनहि महँ जो बुल्ला होई । पवनहि फुटै, जाइ मिलि सोई ॥
पवनहि पवन अंत होइ जाई । पवनहि तन कहँ छार मिलाइ ॥
जिया जंतु जत सिरजा, सब महँ पवन सो पूरि ।
पवनहि पवन जाइ मिलि, आगि, बाउ, जल धूरि ॥
निति सो आयसु होइ, साई जो आज्ञा करै ।
पवन-परेवा सोइ, मुहमद बिधि राखे रहै ॥ ५१ ॥

(५२)

बड़ करतार जिवन कर राजा । पवन बिना किछु करत न छाजा ॥
तेहि पवन सौं बिजुरी साजा । ओहि मेघ परबत उपराजा ॥
उहै मेघ सौं निकरि देखावै । उहै माँझ पुनि जाइ छपावै ॥
उहै चलावै चहुँ दिसि सोई । जस जस पावँ धरै जो कोई ॥
जहाँ चलावै तहवाँ चलई । जस जस नावै तस तस नवई ॥
बहुरि न आवै छिटकत झाँपै । तेहि मेघ सँग खन खन काँपै ॥
जस पिउ सेवा चूके रूठै । परै गाज पुहुमी तपि कूटै ॥
अगिनि, पानि औ माटी, पवन फूल कर मूल ।
उहई सिरजन कीन्हा, मारि कीन्ह अस्थूल ॥
देखु गुरू, मन चीन्ह, कहाँ जाइ खोजत रहै ।
जानि परै परबीन, मुहमद तेहि सुधि पाइए ॥ ५२ ॥

(५३)

चेला चरचत गुरु-गुन गावा । खोजत पूछि परम गति पावा ॥
गुरु बिचारि चेला जेहि चीन्हा । उत्तर कहत भरम लेइ लीन्हा ॥
जगमग देख उहै उजियारा । तीनि लोक कहि किरिन पसारा ॥
ओहि ना बरन, न जाति अजाती । चंद न सुरुज, दिवस ना राती ॥
कथा न अहै, अकथ भा रहई । बिना बिचार समुझि का परई ? ॥
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई । जा बूझै सो धीरज धरई ॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी । जो बूझै सो सिद्धि गियानी ॥
माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खंड ।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड ॥

गलि सोइ माटी होइ, लिखनेहारा वापुरा।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना ॥ ५३ ॥

●

आखिरी कलाम

(१)

पहिले नावँ दैउ कर लीन्हा। जेइ जिउ दीन्ह, बोल मुख कीन्हा॥
दीन्हेसि सिरा सँवारे पागा। दीन्हेसि कया जो पहिरै बागा॥
दीन्हेसि नयन जोति उजियारा। दीन्हसि देखै का संसारा॥
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै। दीन्हेसि बुधि गियान बहु गुनै॥
दीन्हेसि नासिक लीजै बास। दीन्हेसि सुमन सुगंध बिरासा॥
दीन्हेसि जीभ बैन रस भाखै। दीन्हेसि भुगुति साध तेहि राखै॥
दीन्हेसि दसन सुरंग कपोला। दीन्हेसि अधर जो रचैं तँबोला॥
दीन्हेसि बदन सुरूप रँग, दीन्हेसि माथे भाग।
देखि दयाल मुहम्मद, सीस नाइ पथ लाग॥१॥

(२)

दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि भुजाडंड बल वाहाँ॥
दीन्हेसि हिया भोग जेहि जामा। दीन्हेसि पाँच भूत आतमा॥
दीन्हेसि बदन हीत (सीत?) औ घामू। दीन्हेसि सुक्ख नींद बिसरामू॥
दीन्हेसि हाथ चाह अस कीजै। दीन्हेसि कर परलौ (पल्लव?) गहि लीजै॥
दीन्हेसि रहस कोड़ वहुतेरा। दीन्हेसि हरख हिया औ थारा॥
दीन्हेसि बैठक आसन मारै। दीन्हेसि बूत जो उठै सँभारै॥
दीन्हेसि सबै सँपूरन काया। दीन्हेसि दोइ चलने का पाया॥
दीन्हेसि नौ नौं नाटका (फाटका?), दीन्हेसि दसवें दुवार।
सो अस दानि मुहम्मद, तिनकै हौं बलिहार॥२॥

(३)

मरम नैन कर अँधरै बूझा। तेहि बिय (बिन?) रे संसार न सूझा॥
मरम स्रवन कर बहिरै जाना। जो न सुनै किछु दीजै साना॥
मरम जीभ कै गूँगै पावा। साधहि मरै पै निकर (न?) नावाँ॥
मरम बाँह कर लूलै चीन्हा। जेहि बिधि हाथन्ह पाँगुर कीन्हा॥
मरम कया कै कुस्टी भेंटा। नित चिरकुट जो रहै लपेटा॥

मरम बैठ उठ तेहि पै गुना। जो रे मिरग कस्तूरी पहाँ॥
मरम पावँ कै तेहि पै दीठा। जो अपया भुइँ चलै वईठा॥
अति सुख दीन्ह विधातै, औ सब सेवक ताहि।
आपन मरम मुहम्मद, अबहुँ समुझ कि नाहिं॥३॥

(४)

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कवि बदी॥
आवत उधतचार बड ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र बिधि भाई। फिरै अकास रहट कै नाई॥
गिरि पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला॥
मिरित लोक जेहि रचा हिंडोला। सरग पताल पवन घट (खट?) डोला॥
गिरि पहार परबत ढहि गए। सात समुंद्र कहच (कीच?) मिलि भए॥
धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिस्टि हठानी (दिठानी?)॥
जो अस खंभहि पाई कै, सहसजीव (जीभ?) गहिराइँ।
सो अस कीन्ह मुहम्मद, तो अस बपुरे काइँ॥४॥

(५)

सूरुज सेवक वाके अहै। आठौ पहर फिरत जो रहै॥
आयसु लिहे राति दिन धावै। सरग पताल दुवौ फिरि आवै॥
दगधि आग महँ होइ अँगारा। तेहि कै आँच धिकै संसारा॥
सो अस वपुरै गहनै लीन्हा। औ धरि बाँधि चँडाले दीन्हा॥
गा अलोप होइ भा अँधियारा। दीखँ दिनहि सरग माँ तारा॥
उवतै झाँप्पि लीन्ह घुप चापै। लाग सरप (सरब?) जिउ थर थर काँपै॥
जिउ का परै कया (ग्याँन?) सब छूटै। तब भा मोख गहन जौ छूटै॥
ताको अता तरासै, जो सेवक अस मित।
अबहुँ न डरसि मुहम्मद, काह रहसि निहचिंत॥५॥

(६)

ताकरि अस्तुति कीन्हि न जाई। कौर्ना जीभि मै करौं बड़ाई॥
जग पताल जो सैतै कोई। लेखनी परिख समुँद्र मसि होई॥
लागै लिखै सिरिस्ट मिलि जाई। समुद घटै पै लिखि न सिराई॥
साँचा सोइ और सब झूठे। ठाँव न कतहूँ ओन के रूठे॥
आयसु हूँ इबलीस जौ टारै। नारद होइ नरक महँ पारै॥
सौ दुइ कटक कइउ लख घोरा। फरऊँ रौदि नील महँ बोरा॥
जौ सदाद बैकुंठ सँवारा। पैठत पौरि बीच गहि मारा॥
जो ठाकुर अस दारुन, सेवक तहँ निरदोख।
माया करै मुहम्मद, तौ पै होइहि मोख॥ ६॥

(७)

रतन एक बिधनै अवतारा। नावँ मुहम्मद जग उजियारा ॥
चारि मीत चहुँ दिसि गजमोती। माँझ दिपै मनि मानिक मोती ॥
जेहि हित सिरिजा सात समुंदा। सातहु दीप भरे एक बुंदा ॥
ता पर चौदह भुवन दसारे (?)। बिच बिच खंड बिखंड सँवारे ॥
धरती औ गिरि मेरु पहारा। सरग चाँद सूरज औ तारा ॥
सहस अठारह दुनिया सेरी (?)। आवत जात जातरा फेरी ॥
जेइ नहिं लीन्ह जनम माँ नाऊँ। तेहि कहँ कीन्ह नरक माँ ठाऊँ ॥
सो अस दैव न राखा, जेहि कारन सब कीन्ह।
दहुँ तुम काह मुहम्मद, एहि प्रिथिमी चित दीन्ह ॥ ७ ॥

(८)

बावर साह छत्रपति राजा। राज पाट उनका बिधि साजा ॥
मुलुक सुलेमाँ का अस दीन्हा। अदल दून (दुनी?) उम्भर जस कीन्हा ॥
अली केर जस कीन्हेसि खाँडा। लीन्हेसि जगत समुँद भा डाँडा ॥
वल हमजा कर जैस सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा ॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहुँ बादि का बादी ॥
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बाँधे ॥
दरब जोरि सब काहूँ दिए। आपुन बिरह (?) आपु जस लिए ॥
राजा होइ करै तब (तप), छाँड़ि जगत माँ राज।
सब अस कहै मुहम्मद, वै कीन्हा किछु काज ॥ ८ ॥

(९)

मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा ॥
जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक बिधि धरा ॥
औ निहंग दरिया जल माहाँ। बूडत कहँ धरि काढ़त बाहाँ ॥
समुँद माँझ जो बोहित फिरई। लतै नावँ सहूँ होइ तरई ॥
तिन घर हौं मुरीद सो पीरू। सँवरत बिन गुन लावैं तीरू ॥
कर गहि धरम पंथ देखराएउ। गा भुलाइ तेहि मारग लाएउ ॥
जो अस पुरुतै मन चित लाए। इच्छा पूजै आस तुलाए ॥
जौ चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ ॥
दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोइ ॥ ९ ॥

(१०)

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर के नावँ आदि उदयानू ॥
तहाँ देवस दस पहुनें आएउँ। भा बैराग, बहुत सुख पाएउँ ॥
सुख भा सोच एक दुख मानौं। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं ॥

नैन रूप सों गएउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई॥
जहँवै देखौं तहँवै सोई। और न आवै दिस्टि तर कोई॥
आपुन देखि देखि मन राखौं। दूसर नाहिं सो कासौं भाखौं॥
सबै जगत दरपन कर लेखा। आपुन दरसन आपुहि देखा॥
अपने कौतुक कारन, मीर पसारिन हाट।
मलिक मुहम्मद भिनहीं, हाइ निकसिन तेहि बाट॥ १०॥

(११)

धूत एक मारत घन गुना। कपट रूप नारद कर जना॥
नावँ असाधु साधु कहवावै। तहाँ लगि चलै जौ गारी पावै॥
भाव गाँठि अस मुख कर भाँजा। कारिख तेल घालि मुख माँजा॥
परत (हि) दीठि छरत मोहि लेखे। दिनहि माँझ अँधियर मुख देखे॥
लीन्हें चंग राति दिन रहई। परपँच कीन्ह लोगन माँ चहई॥
भाइ बंधु माँ लाई लावै। बाप पूत माँ घटी करावै॥
मन मैलै कै ठग ठगै, ठगै न पाएउ काहु।
बरजेउ सबहिं मुहम्मद, अस जिन तुम पतियाहु॥११॥

(१२)

अंग छड़ा औ सूरी भारा। जाइ कहौ अति चंग अधाग॥
जौ काहू सौं आनि न छूटै। सुनहु मोर बिधि कैसे छूटै॥
उहै नावँ करता करै लेऊ। पढ़े पलीता धूवाँ देऊ॥
जौ यह धुवाँ नासिक माँ लागै। मिनती करै औ उठि उठि भागै॥
धरि बाई लट सीस झकोरै। करिया बरग जो हाथ मरोरै॥
तबहि सँकोच अधिक वै होवै। छाँड़ौ छाँड़ौ कहि कै रोवै॥
धरि बाहीं लै धुवाँ उड़ावै। तासौं डरै जो ऐस छुड़ावै॥
है नरकी औ पापी, टेड़ बदन औ आँखि।
चीन्हत उहै मुहम्मद, झूठि भरी सब साखि॥१२॥

(१३)

नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कविता आखर कहे॥
देखौ जगत धुंध कलि माहाँ। उवत धूप धरि आवत छाहाँ॥
यह सँसार सपने कर लेखा। माँगत बदन नैन भरि देखा॥
लाभ दिए बिनु भोग न पाउब। परें डाँड़ जहाँ (मूर?) गँवाउब॥
राति कर सपन जागि पछिताना। ना जानौं कब होइ बिहाना॥
अस मन जानि बेसाहौं सोई। मूर न घटै लाभ जेहि होई॥
ना जानौ बाढ़त दिन जाई। तिल तिल घटै आइ नियराई॥

असं जिन जानहु ओहट है, दिन आवत नियरात।
कहै सो बूझि मुहम्मद, फिर फिर कहौं असि बात ॥१३॥

(१४)

जबहिं अंत कर परलौ आई। धरमी लोग रहै न पाई॥
जबहीं सिद्ध साधु गा तपा। तबहीं चलं चोर औ जपा॥
जाई मया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आई बेरा॥
उठिहैं पंडित बेद पुराना। दत्त सत्त दोउ करिहिं पयाना॥
धूम बरन सूरुज होइ जाई। क्रिस्न बरन सिस्टिहि दिखाई॥
दो अद (?) पुरुब दिसि उइहै जहाँ। पुनि फिरि आइ अथइहै तहाँ॥
चढ़ि गदहा निकसै दर जालू। हाथ खंड होइ आए कालू॥
जो रे मिलै तेहि मारै, फिरि फिर आइ अकाज।
सबई मारि मुहम्मद, भूँजि अढ़तिया राज ॥१४॥

(१५)

पुनि धरती का आयसु होई। उगिलै दरब लोग सब लेई॥
मोर मोर कै उठिहै भारी। आपु आपु माँ करिहै मारी॥
असन केउ जानै मन माहाँ। जो यह सचा अहै सो अहाँ॥
सैति सैति लेइ लेइ घर भरहीं। रहस काड़ अपने जिउ करहीं॥
खनै उतंग खनै बर साँती। नितहि हुलंब उठै बहु भाँती॥
पुनि एक अचरज सँचरै आई। नावँ मजारी भँवा बिलाई॥
ओहि के सूँघे जिनै न कोई। जो न मरै तेहि भक्खै सोई॥
सब संसार सिराय औ, तेहि में केरी (?) घात।
उनहूँ कहँ मुहम्मद, बार न लागै जात ॥१५॥

(१६)

पुनि मैकाइल आएसु पाए। अनबन भाँति मेघ बरसाए॥
पहिले लागै परै अँगारा। धरती सरग होइ उजियारा॥
लागी सबै पिरिथिमी जरै। पाछे लागे पाथर परै॥
सौ सौ मन कै एक एक सिला। चलै बिंद (पिंड?) घुटि आवै मिला॥
वजर गोट तस छूटै भारी। टूटे रूख बिरिख सब झारी॥
परत दमाग (धमाक?) धरति सब हालै। आदरत उठै सरग लै सालै॥
अधाधार बरसै बहु भाँती। लाग रहै चालिस दिन राती॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जित सिरिजा संसार।
कोउ न रहै मुहम्मद, होइ बीता संघार ॥१६॥

(१७)

जिबरईल पाउब फरमानू। आइ सिस्टि देखब मैदानू॥

जियत न रहा जगत केउ ठाढ़ा। मारा झोरि कचरी सब गाढ़ा।।
मरि गंधाइँ सांस नहिं आवै। उठै बिगंध सड़ाइँध आवै।।
जाइ दैउ से करहु बिनाती। कहब जाइ जस देखब भाँती।।
देखहु जाइ सिस्टि बेवहारू। जगत उजाड़ सून संसारू।।
अस्ट दिसा उजारि सब मारा। कोउ न रहा नावँ लेनिहारा।।
मरि माजरि पिरथिमीं पाटी। परै पिछानि न दीखै माटी।।
सून पिरथिमीं होवै, धरती दहुँ सब लीप।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबै भाइ जल दीप।।१७।।

(१८)

मकाईल पुनि कहब बुलाई। बरसौ मेघ पिरथिमीं जाई।।
ओनै मेघ भरि उठिहै पानी। गरजि गरजि बरसैं अति बानी।।
झरी लागि चालिस दिन राती। छरी न निमुसै एकै भाँती।।
छूट पानि परलौ कै नाई। चढ़ा छापि सगरी दुनियाई।।
बूड़िहिं परबत मेरु पहारा। जलहल उमड़ि चलै असरारा।।
जहँ लगि मरि माजरि जत होई। लइ बहाइ जाइहि भुइँ धोई।।
पुनि घटि नीर भँडारै आई। जनौं न बरसा तैस सुखाई।।
सून पिरथिमीं होइयि, बूझै हँसै ठठाइ।
दतनि जो सिस्टि मुहम्मद, सो कहँ गइउ हेराइ।।१८।।

(१९)

पुनि ईसराफील फरमाए। फूंके सब संसार उड़ाए।।
दै मुख सूर भरै जो साँसा। डोलै धरती लुपत अकासा।।
भुवन चौहहौ गिरि बन डोला। जानौ घालि झुलाएसि हिंडोला।।
पंहिले एक फूंक जो आई। ऊँच नीच एक सम होइ जाई।।
नदी नार सब जैहैं पाटी। अस होइ मिलै जो ठारे बाटी।।
दूसर फूंक जो मेरु उड़ैहैं। परबत समुंद एक होइ जैहैं।।
चाँद सुरुज तारा घट टूटै। परतहि खंभ सेसहि घट फूटै।।
तस रे बजर मयाउब, अस भुइँ लेव मयाइ।
पूरब पछिउँ मुहम्मद, एक रूप होइ जाइ।।१९।।

(२०)

अजराइल कहँ बेगि बुलाए। जीउ जहाँ लगि सबै लिवाए।।
पहिले जिउ जिबरैल कै लेइ। लौटि जीउ मैकाइल देई।।
पुनि जिउ देई इसराफीलू। तीनिहुन का मारै अजराईलू।।
काल फिरिस्तन केर जौ होई। कोइ न जागै निसि होइ सोई।।
पुनि पूंछत जम सब जिउ लीन्हा। एको रहा बाच जिउ दीन्हा।।

सुनि अजराइल आगे होइ आउब। उत्तर देब सीस भुइँ नाउब॥
आयसु होइ करौं अब सोई। की हम की तुम और न कोई॥
जो जम आनि जिउ लेत हैं संकर, तिनहू कर जिउ लेव।
सो अवतरे मुहम्मद, देखु तहूँ जिउ देव॥२०॥

(२१)

पुनि फुरमाए आप गोसाईं। तुमहूँ देउ जिवाइहिं नाहीं॥
सुनि आयसु पाछे का धाए। तिसरी पौरि नाँघि नहिं पाए॥
परत कीन्ह जिउ निसरन लागे। होई कस्ट घड़ी एक जागे॥
प्रान देत सँवरे मन माहाँ। उवत धूप धरि आवत छाहाँ॥
जस जिउ देत मोहिं दुःख होई। ऐसै दुखिया भा सब कोई॥
जौ जनतेउँ जिउ अस दुख देता। तौ जिउ काहू केर न लेता॥
लौटि काल निनहूं कर होवै। आइ नींद निधरक होइ सोवै॥
भंजन गढ़न सँवारन, जिन खेला सब खेल।
सब का टारि मुहम्मद, अब हूँ रहा अकेल॥२१॥

(२२)

चालिस बरिख जबहि होइ जैहें। उठिहि मया पछिले (सब) ऐहें॥
मया मोह कै किरपा आए। आपुहि कहें आपु फुरमाए॥
मैं संसार जो सिरिजा एता। मोर नावँ कोऊ नहिं लेता॥
जेतने परे अब सबहि उठावौं। पुल सिलवात के पंथ रेंगावौं॥
पाछे जिए पूछौं सब लेखा। नैन माद (माहँ?) जेता हौं देखा॥
जस वाकर सरवन बिन सूना। धरम पाप गुन औगुन गूना॥
कै निरमल कौसर अन्हवावौं। पुनि जीवन बैकुंठ पठावौं॥
मरन गँजन धन होइ जस, जस दुख देखत लोग।
तस सुख होइ मुहम्मद, दिन दिन मानैं भोग॥ २२॥

(२३)

पहिले सेवक चारि जियाउब। तिन्ह सब काजै काज पठाउब॥
जिबरईल औ मैकाईलू। असराफील औ अजराईलू॥
जिबरईल प्रिथिमीं माँ आए। जाइ मुहम्मद का गोहराए॥
जिबरईल जग आइ पुकारब। नावँ मुहम्मद लेत हँकारब॥
होइहैं जहाँ मुहम्मद नाऊँ। कइउ लाख बोलिहैं एक ठाऊँ॥
ठाढ़ि रहै कतहूँ ना पावै। फिरि कै जाइ मारि गोहरावै॥
कहै गोसाइँ कहाँ वै पावौं। लाखन बोलैं जौ रे बोलावौं॥
सब धरती फिरि आएऊँ, जहाँ नावँ सो लेउँ।
लाख उठै मुहम्मद, केहि कै उत्तर देउँ॥ २३॥

(२४)

जिबराइल पुनि आयसु पाए। सूंघै जगत ठाँव सो पाए॥
बास सुबास लीन है जाहाँ। नावँ रसूल पुकारसि ताहाँ॥
जिबरईल फिरि प्रिथिमीं आए। सूंघत जगत ठावँ सो पाए॥
उठहु मुहम्मद होहु बड़ नेगी। देन जुहार बोलाएँ बेगी॥
बेगि हँकारे उमत समेता। आवहु तुरँत साथ सब लेता॥
एतने बचन जबहिं मुख काढ़े। सुनत रसूल भए उठि ठाड़े॥
जहँ लगि जीउ मोख सब पाए। अपने अपने पिंजरे आए॥
कइउ जुगन के सोवत, उठे लोग मत जागि।
अस सब कहें मुहम्मद, मैन पलक ना लागि॥ २४॥

(२५)

उठत उमत कहँ आलस लागै। नींद भरी सोवत ना जागै॥
पौढ़त बार न हम का भएऊ। अबहीं अवधि आइ कब गहेऊ॥
जिबरईल तब कहब पुकारी। अबहुँ नींद ना गई तुम्हारी॥
सोवत तुम्हें कइउ जुग बीते। अैसे तौ तुम हौं नहिं चीते॥
कइउ करोरि बरस भुइँ परे। उठहु न बेगि मुहम्मद खरे॥
सुनि कै जगत उठी सब भारी। जेतना सिरजा पुरुष औ नारी॥
नँगा नाँग उठिहै संसारू। नैसा होइहें सब के तारू॥
कोउ न कतहुँ पुनि बंरै?, दिस्टि सरग सब केरि।
ऐसे जतन मुहम्मद, सिस्टि चलै सब घेरि॥ २५॥

(२६)

पुनि रसूल जहई होइ आगे। उमत चल सब पाछे लागे॥
अध गियान होइ सब केरा। ऊँच नीच जहँ होइ अभेरा॥
सबहीं जियत चहै सुँसारा। नैनन नीर चलै असरारा॥
सो दिन सँवरि उमत सब रोवै। ना जानौं आग कस होवै॥
जो न रहै तेहि का यह संगा। मुख सूखै तेहि पर यह दंगा॥
जेहि दिन का नित करत डरावा। सोइ देवस अब आगे आवा॥
जो पै हमसे लेखा लेवा। का हम कहब उतर का देबा॥
एत सब संवरि कै मन माँ, चहें जाइ सो भूलि।
पैगै पैग मुहम्मद, चित्त रहै सब भूलि॥२६॥

(२७)

पुल सिलवात पुनि होइ अभेरा। लेखा लेब अंब (उमत?) सब केरा॥
एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं। जिबरईल दूसर दिसि होइहैं॥
वार पार किछू सूझत नाहीं। दूसर नाहिं को टेकै बाहीं॥

तीस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा।।
बारहु ते पतरा अस भीनी। खड़ग धार से अधिकौ पैनी।।
दोउ दिसि नरक कुंड कै भरे। खोज न पाउब तेहि माँ परे।।
देखत काँपै लागै जाँघा। सो पँथ कैसे जैहै नाघा।।
तहाँ चलत सब परखब, को रे पूर को ऊन।
अबहुँ को जाने मुहम्मद, भरे पाप औ पून।। २७।।

(२८)

जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु गहब जौ पारा।।
बहुतक जानु तुरंग भल धैहैं। बहुतक जानु पखेरु उडैहैं।।
बहुतक चाल चलैं माँ जैहैं। बहुतक मरि मरि पाँव उठैहैं।।
बहुतक जानु पखेरु उड़ैहैं। पवन कि नाई जिय माँ जैहैं।।
बहुतक जानौं रेंगैं चाँटी। बहुतक रहैं दाँत धरि माटी।।
बहुतक नरक कुंड माँ पड़िहीं। बहुतक रकत पी माँ पड़िहीं।।
जेहि कै जाँघ भरोस न होई। सो पंथी निभरोसी रोई।।
परै तराप सो नाँघन, को रे वार को पार।
कोउ तरि हा मुहम्मद, कोउ बूड़ा मँझधार।।२८।।

(२९)

लौटि हँकारब यह जब भानू। तपै कहे होइहि फुरमानू।।
पूँछब कटक जहाँ ते आवा। को सेवक को बैठे खावा।
जेहि जस आहि जियन मैं दीन्हा। तेहि तस संमर चहौं मैं लीन्हा।।
अब लगि राज देस कर भूँजा। अब दिन आइ लिखा कर पूजा।।
छः मास कर दिन करौं आजू। आउ क लेउँ औ देखौं साजू।।
से चौराहा बैठे आवै। एक एक जनौ का पूँछि पकरावै।।
नीर खीर हुँत काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी।।
धरम पाप फरियाउब, गुन औगुन सब दोख।
दुखी न होहु मुहम्मद, जोखि लेब धरि जोख।।२९।।

(३०)

पुनि कस होइहि दिवस छ मासू। सूरुज आइ तपहिं होइ बाँसू।।
कै सउहै नियरे रवि हाँके। तेहि कै आँच गूद सिर पाकै।।
वजरागिनि अस लागै तैसे। (त्रि) लखै लोग पियासन वैसे।।
उनै अगिनि अस बरसै घामू। भूँजि देह जरि जाए चामू।।
जेइ किछु धरन कीन्ह जग मांहाँ। तेहि सिर पर किछु आवै छाहाँ।।
धरमिहि आनि पियाउब पानी। पापी बपुरहि छाहँ न पानी।।
चोरा जपा सो काज न आवै। इहाँ का दीन्ह उहाँ सो पावै।।

जो लखपती कहावै, लहै न कौड़ी आधि।
चौदह धजा मुहम्मद, ठाड़ करहिं सब बाँधि ॥३०॥

(३१)

सवा लाख पैगम्बर जेते। अपने अपने पाए तेते ॥
एक रसूल न बैठहिं छाहाँ। सबही धूप लेहिं सिर माहाँ ॥
घामै उमत दूखी जेहि केरी। सो का मानै सुख अवसेरी ॥
पुनी उमत तौ पुनि मैं दुखी। तेहि सुख होइ तौ पुनि मैं सुखी ॥
पुनि करता कै आयसु होई। उमत हँकारु लेखा मोहिं देई ॥
कहब रसूल कि आयसु पावौं। पहिले सब धरमी लै आवौं ॥
होइ उतर तिन्ह ही ना चाहौं। पापी घालि नरक महँ पाहौं (?) वाहौं ॥
पाप पुन्नि केते खरे, होइ चहत है पोच।
अस मन जानि मुहम्मद, हिरदै मानेउ सोच ॥३१॥

(३२)

पुनि जैहैं आदम केरे पासा। पिता तुम्हारि बहुत मोहिं आसा ॥
उमत मोरि गाढ़े है परी। भा न दान लेखा का धरी ॥
दुखिया पूत होत जो अहै। सब दुख पै बापै से कहै ॥
बाप बाप कै जो कछु खाँगै। तुमहि छाँड़ि कासौं चित बाँधै ॥
तुम जठेर पुनि सबहीं केरा। अहै सँतति मुख तुम्हरै हेरा ॥
जठ जठेर जो करिहैं मिनती। ठाकुर जबहीं सुनिहैं मिनती ॥
जाइ दैउ सै बिनवौ रोई। मुख दयाल दाहिन तोहि होई ॥
कहहु जाइ जस देखैं, जेहि होवै उदघाट।
वहु दुख दुखी मुहम्मद, बिधि संकर तेहि काट ॥३२॥

(३३)

सुनौ पूत आपन दुख कहऊँ। हौं अपने दुख बाउर रहऊँ ॥
होइ बैकुंठ जो आयसु ठेलौं (ठेलेउँ)। दूत के कहे मुख गोहूँ मेलौं (मेलेउँ?) ॥
दुखिया पेट लागि सँग धावा। काढ़ि बिहिस्त से मैल ओढ़ावा ॥
परलौ जाइ मँडल संसारा। नैन न सूझि निसि अँधियारा ॥
सकल (ज) गत में फिरि फिरि रोवा। जीऊ जान बाँधि कै खोवा ॥
भएँ उजियार पिरथिमी जइहौं। औ गोसाइँ कै अस्तुति करिहौं ॥
लौटि मिलै जौ हौवै आई। तो जिउ कहँ धीरज भा जाई ॥
तेहि हुते लाजि उठै जिउ, मुहँ न सकौं दरसाइ ॥
सो मुहँ लाइ मुहम्मद, बात कहौं का जाइ ॥३३॥

(३४)

पुनि जैहैं मूसै केर दोहाई। ऐ बंधु मोहिं उपगुरु आई ॥

तुम का बिधिनै आयसु दीन्हा। तुम नेरे होइ बातैं कीन्हा ॥
उम्मत मोरि बहुत दुख देखा। भा निदान माँगत है लेखा ॥
अब जो भाइ मोर तुम अहेऊ। एक बात मोहि कारन कहेऊ ॥
तुम अस तुहसे बात का कोई। सोई कहेऊ बात जेहि होई ॥
गाढ़े मीत कहौं का काहू। कहौ जाइ जेहि होइ निबाहू ॥
तुम सँवारि कै जानौ बाता। मकु सुनि माया करै बिधाता ॥
मिनती किहेउ मोर हुते, सीस नाइ कर जोरि।
है है करै मुहम्मद, उमत दुखी है मोरि ॥३४॥

(३५)

सुनहु रसूल बात का कहौं। हौं अपने दुख बाउर रहौं ॥
कै कै देखेउँ बहुत डिठाई। मुँह कड़ुदाना खात मिठाई ॥
पहिले मो कहँ आयसु दीन्हा। फरऊँ से मैं झगरा कीन्हा ॥
रोद नील कै डावसि चाला। फुर भा झूँठ झूँठ (भा) भला ॥
पुनि देखै बैकुण्ठ पठाएउ। एकौ दिसि करै पंथ न पाएउ ॥
पुनि जो मो कहँ दरसन भएउ। कोह तूर रावट होइ गएऊ ॥
भा अनेक मैं फिर फिर जाँपी। हर दावँन कै लीन्हेसि चाँपी ॥
निरखि नैन मैं देखौं, कतहुँ परै नहिं सूझि।
रहौं लजाइ मुहम्मद, बात कहौं का बूझि ॥३५॥

(३६)

दौरि दौरि सबही पा जैहैं। उतर दिहें सब फिर बहिरैहैं ॥
ईसै कहिन कि कस नहि कहतेउँ। जौ किछु कहे क उत्तर बैठेउँ (?)॥
मैं मुए मानुस बहुत जियावा। औ बहुतै जिउ दान दिवावा ॥
इब्राहिम कहा कस ना कहतेउँ। बात कहे बिन मे ना रहतेउँ ॥
मोसौं खेल हिंदू जो खेला। सर रचि बाँधि अगिनि माँ मेला ॥
तहाँ अगिनि इब (हुत?) भइ फुलवारी। अपउर डरौं न बिरह सँभारी ॥
नूह कहिन जब परलौ आवा। सब जग बूड़ रहेउँ चरि (चढ़ि?) नावा।
केउ कहै काहू से, सबै उढ़ाउब भार।
जस कै बनें मुहम्मद, करु आपन निस्तार ॥३६॥

(३७)

सबै भार अस मेलि उड़ाउब। फिरि फिर कहब उतर ना पाउब ॥
पुनि रसूल जैहैं दरबारा। पैग मारि भुइँ करब पुकारा ॥
तैं सब जानसि एक गोसाईं। कोउ न आव मोरी उमत के ताईं ॥
जेइ मे कहौं सो चुप होइ रहई। उमत लाइ केउ बात न कहई ॥
मोरे चाँड़ केऊ नहिं चाँड़ा। देखा दुख सबहीं मोहि छाँड़ा ॥

मोहिं अस तुहीं लाग करतारा। तुहि होई भल सोइ निस्तारा॥
जो दुख चहहि उमत का दीन्हा। सो सब मैं अपने सिर लीन्हा॥
लेखि जोखि कहियावन(?), मरन गँजन दुख दाहु।
सो सब सभै (सहै?) मुहम्मद, दुखी करौ जनि काहु॥ ३७॥

(३८)

पुनि रिसाइ कै कहै गोसाई। फातिम कहँ ढूँढहु दुनियाई॥
का मोसौं उन झगरि बिसारा। हसन हुसैन कहौ को मारा॥
ढूँढे जगत कतहुँ ना पैहैं। फिरि कै जाइ मारि गोह रैहैं॥
ढूँढ़ि जगत दुनिया सब आएउँ। फातिम खोज कतहुँ ना पाएउँ॥
आयसु होइ अहैं पुनि ताहाँ। उठै नाथ हैं धरती माहाँ॥
मूँदै नयन सकल संसारा। बीबी उठै करै निस्तारा॥
जो कोउ आब देखै नैन उघारी। तेहि कहँ छाह करौं घरि जारी॥
आयसु होइ दैउ कर, नैन रहै सब झाँपि।
एक ओर डरै मुम्मद, उमत मरै डर काँपि॥ ३८॥

(३९)

उट्ठिन बीबी तब रिस किहें। हसन हुसेन दुवौ सँग लिहें॥
तैं करता हरता सब जानसि। झूँठै फुरै नीक पहिचानसि॥
हसन हुसेन दुवौ मोर बारे। दुनहु यजीद कौने गुन मारे॥
पहले मोर नियाव निबारू। तेहि पाछे जेतना संसारू॥
समुझे जीउ आगि महँ दहऊँ। देहु दादि तौ चुप कै रहऊँ॥
नाहिं त देउँ सराप रिसाई। मारौं आहि अर्स जरि जाई॥
बहु संताप उठै जिया, कतहूँ समुझि न जाइ।
बरजहु मोहि मुहम्मद, अधिक उठै दुख दाइ॥ ३९॥

(४०)

पुनि रसूल कहँ आयसु होई। फातिमा कहँ समुझावहु सोई॥
मारै आहि अर्स जरि जाई। तेहि पाछे आपुहि पछिताई॥
जौ नहिं बात क करै बिबादू। जानौ मोहिं दीन्ह परसादू॥
जौ बीबी छाँड़हि यह दोखू। तों मैं करौं उमत कै मोखू॥
नाहिं तौ घालि नरक महँ जारौं। लौटि जियाइ मुए पर मारौं॥
अगिनि खंभ देखहु जस आगे। हिरकत छार हार तेहि लागे॥
चहुँ दिसि फेरि सरग लै लावौं। मुँगरिन मारौ लोव (लोह?) चटावौं॥
तेहि पाछे धरि सारौं, घालि नरक के काँट।
बीबी कहँ समुझावै जौ, रे उमत कै चाँट॥ ४०॥

(४१)

पुनि रसूल तलफत तहाँ जैहें। बीबी आइ बार समुझैहें ।।
बीबी कहब घाम कत सहौ। कस ना बैठि छाहँ माँ रहौ ।।
सब पैगंबर बैठे छाहाँ। तुम कस तपौ बजर अस माहाँ ।।
कहब रसूल छाहँ का बैठौं। उमत लागि धूपहु नहिं बैठौं ।।
तेइँ सब बाँधि घाम महँ मेले। का भा मारे छाहँ अकेले ।।
तुम्हरे कोह सबहि जो मरै। समुझहु जीउ तबै निस्तरै ।।
जो मोहिं चाहौ निवारहु कोहू। तब विधि करै उमत पर छोहू ।।
बहु दुख देखि पिता कर, बीबी समुझा जीउ।
जाइ मुहम्मद बिनवा, ठाढ़ पाक (पाग) कै गीउ ।। ४१ ।।

(४२)

तब रसूल (के) कहें भइ माया। जिन चिंता मानौ भइ दाया ।।
जौ बीबी अबहूँ रिसियाई। सबहि उमत सिर आनि बिसाई ।।
अब फातिमा का बेगि बोलावौ। देउ दाद तौ उमत छोड़ावौ ।।
फातिमा आइ कै पार लगावा। धरि यजीद माँ गोवा (आवा?) ।।
अंत कहा धरि जान से मारै। जिउ देइ देइ पुनि लौटि पछारै ।।
तस मारब जेहि भुइँ गड़ि जाई। खन खन मारै लौटि जियाई ।।
बजर अगिनि जारब कै छारा। लौटि धौवै (दहै?) जस धौवै (दहै?) लोहारा ।।
मारि जारि घिसियावौं, धरि दोजख माँ देव।
जेतनी सिस्टि मुहम्मद, सबहि पूकारै लेव ।। ४२ ।।

(४३)

पुनि सब उम्मत लेब बुलाई। हरू गरू लागब बहिराई ।।
निरखि रहौती कारब (गारब) छानी। करब निनार दूध औ पानी ।।
बाप पूत ना पूतै बापू। पाप पुन्नि ना पुन्नै पापू ।।
आप (हि) आप आइ कै परी। क्वाउ न क्वाउ क धरहरि करी ।।
कागज काढ़ि लेब सब लेखा। दुख सुख जो पिरथिमी महँ देखा ।।
पौन पियाला लेखा माँगब। उतर देत उन पानी खाँगब ।।
नैन का देखा स्रवन का सुना। कहब करब औगुन औ गुना ।।
हाथ पाँव मुख काया, स्रवन सीस औ आँखि।
पाप न छपै मुहम्मद, अते भरैं सब साँखि ।। ४३ ।।

(४४)

देह का रोवाँ बैरी होइहें। बजर बिया एहि जीउ के बोइहें ।।
पाप पुन्नि निरमल कै धोउब। राखब पुन्नि पाप सब खोउब ।।
पुनि कौसर पउब अन्हवाए। जहाँ कया निरमल सब पाए ।।

बुड़की देव देंह सुख लागी। पलुहव उठि सोवत अस जागी ॥
खोरि नहाइ धोइ हैं सब दुंदू। होइ निकरहिं पुनि वा कै चंदू ॥
सब के सरीर सुवास बसाई। चंदन कै अस खानी आई ॥
झूठै सबहि आप पुनि साँचे। सबहि नबी के पाछे बाँचे ॥
नबी छाँड़ि सब होई, बरह बरिस कै राह।
सब अस जानौ मुहम्मद, होइ बरिस कै राह ॥ ४४ ॥

(४५)

पुनि रसूल नेवतब जेवनारा। बहुत भाँति होई परकारा ॥
ना अस देखा ना अस सुना। जौ सरहौं तो है दस गुना ॥
पुनि अनेक विस्तर जहाँ डासब। वास सुबास कपूर से बासब ॥
होइ आएसु जो पैग (बेगि?) बोलाउब। औ सब उमत साथ लेइ आउब ॥
जिबरईल आगे होइ जइहें। पग डारै का आयसु होइहैं ॥
चलब रसूल उमत लै साथा। परग परग पर नावत माथा ॥
आवै भीतर बेगि बोलाउब। विस्तर जहाँ तहाँ बैठाउब ॥
झारि उमत सब बैठे, जोरि कै एकै पाँति।
सब के माँझ मुहम्मद, जानौ दुलह बराति ॥४५॥

(४६)

पुनि जेंवन का आवन लागै। सब (के) आगे धरत न खाँगै ॥
भाँति भाँति के देखब थारा। जानब ना दहुँ कौन प्रकारा ॥
पुनि फुरमाउब आपु गुसाई। बहुतै दुख देखो (देखेउ?) दुनियाई ॥
हाथन से जेंवनार मुख डारब। जीभ पसारत दाँत उघारब ॥
कूँचत खात बहुत दुख पावौ। तहँ ऐसै जेंवनार जेंवावौ ॥
अब जिनि लौटि कस्ट जिउ करौ। सुख संवाद औ इंद्री भरौ ॥
पाँच भूत आतमा सेराई। बैठि अघाइ और ना भाई ॥
ऐस करब पहुनाई, तब होई संतोख।
दुखी न ह्वाव मुहम्मद, पोखि लेहु धरि पोख ॥४६॥

(४७)

हाथन्ह से केउ कौर न लेई। सेइ जाइ मुख पैठै जोई ॥
दाँत जीभ मुख किछु न डोलाउब। जस जस रुची तस तस खाउब ॥
जैस अन्न बिनु कूँचे रूचै। तैस सिठाइ जौ कोऊ कूँचे ॥
एक एक परकार जो आए। सत्तर सत्तर स्वाद जो पाए ॥
जहँ जहँ जाइ के परै जुड़ाई। इंछा पूजै खाइ अघाई ॥
अन चाखे वाते (?) फिर चाखा। सब अस लेब अपरस रस राखा ॥
जनम जनम कै भूख बुझाई। भोजन केरे साथै जाई ॥

जेंवन अँचवन होइ पुनि, पुनि होई खिलवान।
अमृत भरा कटोरा, पियौ मुहम्मद पानि ॥४७॥

(४८)

एक अमृत औ बास कपूरा । तेहि कहँ कहा शराव न थूरा ॥
लागब भरि भरि देइ कटोरा । पुरुव ग्याँन अस फरै महोरा ॥
ओहि कै मिठाइ भाँति एक दाऊँ । जनम न मानव होइ अब काहूँ ॥
सचु मतवार रहव होइ सदाँ । रहस (औ) कोड़ सदा सरबदाँ ॥
कबहुँ न खोवै जनम खुमारी । जनौ बिहान उठै भरि मारी ॥
ततखन चासि (बासि) जनु घाला । घरी घरी जस लेब पियाला ॥
सबहिक भा मन सो मधु पिया । तब औतार भवा औ जिया ॥
फिरै तँबोल माया से, कहब आपुन लेइ खाउ।
भा परसाद मुहम्मद, उठि बिहिस्त माँ जाउ ॥४८॥

(४६)

कहब रसूल बिहिस्त ना जाऊँ । जब लै दरस न तुम्हार न पाऊँ ॥
उघर न नैन तुम्हहिं बिनु देखें । सबहि अँबिरथा मोरे लेखे ॥
तौ लै कोउ बैकुंठ न जाई । जौ लै तुम्हारा दरस न पाई ॥
करु दीदार देखौं मैं तोहीं । तौ पै जीउ जाइ सुख मोहीं ॥
देखे दरस नैन भरि लेऊँ । सीस नाइ पै भुइँ कहँ देऊँ ॥
जनम मोर लागा सब यारा । पलुहै जीउ जो गीउ उभारा ॥
होइ दयाल करु दिस्टि फिरावा । तोहि छाँड़ि मोहिं और भावा ॥
सीस पाइ भुइँ लावौं, जो देखौं तोहि आँखि।
दरसन देखि मुहम्मद, हिये भरौं तोरि साँखि ॥४६॥

(५०)

सुनौ रसूल होत फुरमानू । बोल तुम्हार कीन्ह परमानू ॥
तहाँ हुतेउँ जहँ हुतेउ न ठाऊँ । पहिले रचेउँ मुहम्मद नाऊँ ॥
तुम बिनु अबहुँ न परगट कीन्हेंउँ । सहस अठारह का जिउ दीन्हेउँ ॥
चौदह खंड उतर क राखेउँ । नाँद चलाइ भेद बहु भाखेउँ ॥
चार फिरिस्ते बड़े औतारेउँ । सात खँड बैकुंठ सँवारेउँ ॥
सवा लाख पैगंबर सिरिजेउँ । कहि करतूति उन्हहि धै बंधेउँ ॥
औरन्ह का आगे निति लेखा । जेतना सिरजा को ओहि देखा ॥
तुम तन एता सिरिजा, आइ कै अंतर हेत।
देखहु दरस मुहम्मद, आपनि उमत समेत ॥ ५० ॥

(५१)

सुनि फुरमान हरख जिउ बाढ़े । एक पावँ से भए उठि ठाढ़े ॥

झारि उमत लागी तब नारी (तारी?)। जेवा सिरिजा पुरुख औ नारी ।।
लागै सब से दरसन होई। ओहि बिनु देख रहै न कोई ।।
एक चमकार होइ उजियारा। छपै बीजु तेहि के चमकारा ।।
चाँद सुरुज छपिहैं बहु जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ।।
सो मन दिपें जो कीन्ह थिराई। छए सो रंग घात पर आई ।।
ओहु रूप निरमल हो जाई। और रूप ओहि रूप समाई ।।
ना अस कबहूँ देखा, न केऊ ओहि भाँति।
दरसन देखि मुहम्मद, मोहि परे बहु भाँति ।। ५१ ।।

(५२)

दुइ दिन लहि कोउ सुधि न सँभारे। बिनु सुधि रहे ना नैन उघारे ।।
तिसरे दिन जिबरैल जो आए। सब मधु माते आनि जगाए ।।
जेहिं भेंदियहि सुदरसन राते। पड़े पड़े लोटैं जस माते ।।
सब अस्तुति कै करै विसेखा। अैसा रूप हम कतहुँ न देखा ।।
अब सब गएउ जनम दुख धोई। जो चाहिय हठि पावा सोई ।।
अब निहचित जीउ बिधि कीन्हा। जौ पिय आपन दरसन दीन्हा ।।
मन कै जेति आस सब पूजी। रहे न कोउ औ आस गति दूजी ।।
मरन गँजन औ परिहँस, दुख दलिद्र सब भाग।
सब सुख देखि मुहम्मद, रहस कोड़ जिया लाग ।। ५२ ।।

(५३)

जिबराईल कहँ आयसु होई। अछरिन्ह आइ आगे पथ जोई ।।
उमत रसूल केर बहिराउब। कै असवार विहिस्त पहुँचाउब ।।
सात बिहिस्त त्रिधि औतारा। औ आठए सदाद सँवारा ।।
सो सब देव उमत का बांटी। एक बराबरि सब का आँटी ।।
एक एक का दीन देवासू। जगत लोक बिरसै कैलासू ।।
चालिस चालिस हूरें सोई। औ सँग लागि बियाही जोई ।।
औ सेवा का अछरिन केरी। एक एक जनि का सौ सौ चेरी ।।
अैसे जतन बियाहैं, जस साजै बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात ।। ५३ ।।

(५४)

जिबराईल तात कहँ धाउब। जौलहि आनि उमत पहिनाउब ।।
पहिरहु दगल सुरँग रंग राते। करहु सोहाग जनहु मद माते ।।
ताज कुलाह सिर मुहमद सोहै। चंदन बदन औ कोकब (कोकिल?) मोहै ।।
न्हाइ खोरि जस बनी बराता। नबी तँबोल खात मुख राता ।।
तुम्हरे रुचे उमत सब आनब। औ सँवारि बहुभाँति बखानब ।।

खड़े गिरत उधमाते अहैं। चढ़ि कै घोड़न का कुदरैहैं॥
जिन भरि जनम बहुत हिय जारा। बैठइ पाँएउँ दुइ जन पारा॥
जैसे नबी सँवारैं, तैसे नबी पुनि साज।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त करैं सुख राज॥ ५४॥

(५५)

तानव छत्र मुहम्मद माथे। औ पहिरैं फूलन्ह बिनु गाँथे॥
दूलह जतन होब असवारा। लिए बात जैहैं सँसारा॥
रचि रचि अछरिन्ह सिंगारा। बास सुबास उठै महकारा॥
आज रसूल बियाहन अैहैं। सब दूलह दुलहिनि सो नैहैं॥
आरति करि सब आगे अैहैं। नंद सरोद पुनि सब मिलि गैहैं॥
मँदिलन्ह होइहि सेज बिछावन। आजु सबहि के मिलिहैं रावन॥
बाजन बाजै बिहिस्त दुवारा। भीतर गीत उठै झनकारा॥
बनि बनि बैठीं अछरीं, बैठि जोहैं कैलास।
बेगइ आउ मुहम्मद, पूजै मन की आस॥ ५५॥

(५६)

जिबरईल पहिले से जैहैं। जाइ रसूल बिहिस्त नियरैहैं॥
खुलि हैं आठौ पँवरि दुवारा। औ पैठै लागे असवारा॥
सकल लोग जब भीतर जैहैं। पाछे होब रसूल सीधरैं (सिधैहैं?)॥
मिलि हूरें नेवछावरि करिहैं। सबके बदन फूल रस भरिहैं॥
रहसि रहसि तिन करब किरीरा। अगर कुमकुमा जो भरि सरीरा॥
बहुत भाँति कर नंद सरोदू। बास सुबास उठै परमोदू॥
अगर कपूर बना कस्तूरी। मँदिल सुबास रहब भरपूरी॥
सोवन आजु जो चाहै, साजन मरदन होइ।
दीन सोहाग मुहम्मद, सुख बिरसै सब कोइ॥५६॥

(५७)

पैठि बिहिस्त जौ नौ निधि पैहैं। अपने अपने मंदिल सीधरैं (सिधैहैं?)॥
एक एक मंदिल सात दुवारा। अगर चन्दन के लाग केवारा॥
हरे हरे बहु खंड सँवारे। बहु (त?) भाँति दइ आपु सँवारे॥
सोनै रूपै घालि उँचावा। निरमल कुहुकुहु लाग गिलावा॥
हीरा रतन पदारथ जरे। तेहिक जोति दीपक जस बरे॥
नदी दूध कै अँतरिख कै बहैं। मानिक मोति परे भुइँ रहैं॥
औ परि गा अब छाह सोहाई। एक एक खंड चहा दुनियाई॥
तात न जूड़ न गुनगुन, दिवस राति नहिं दुक्ख।
नींद न भूख मुहम्मद, सब बिरसैं अति सुक्ख॥५७॥

(५८)

देखत अछरिन केरि निकाई। रूप ते मोहि रहत मुरझाई॥
लाली करत मुख जोहत वासा। कीन्ह चाहैं किछु भोग बिलासा॥
हैं आगे बिनबैं सब रानी। और हम सब चेरिन्न की रानी॥
यहि सब आवैं मोरे निवासा। तुम आगे तो अपनि कैलासा॥
जहाँ अस रूप पाट परधानी। औ सबहिन्ह चेरिन कै रानी॥
बदन जोति मनि माथे भागू। औ बिधि आगर दीन्ह सोहागू॥
साहस करैं सिंगार सँवारी। रूप सुरूप पदुमिनी नारी॥
पाट बैठि बैठीं जो हियें, हँसि जारैं माँस।
दीन दयाल मुहम्मद, मानौ भोग बिलास॥५८॥

(५९)

सुनि अस रूप बिहसी बहुत भाँती। इन्हहिं चाहि जो हैं रुपवाँती॥
सातौं पवँरि नखत मन भेखत (पेखव?)। सातौं आयसु कौकुत देखव॥
चले जाब आगे तेहि आसा। जाइ परब भीतर कैलासा॥
तखत बैठि सब देखब रानी। जीवहि सब चाहि पाट बरु मानी॥
दरसन जोति उठै चमकारा। सकल बिहिस्त होइ उजियारा॥
बारह बानी सरि हो सुबरना। तेहि का चाहि रूप अति लोना॥
निरमल बदन चंदन कै जोती। सबकै सरीर दिपै जस मोती॥
बास सुबास तस छूवै, बेधि भँवर कहि जात।
बर सो देखि मुहम्मद, हिरदै माँ न समात॥५९॥

(६०)

पैग पैग जस जस नियराउब। अधिक सवाद मिलै कर पाउब॥
नैन समाइ रहे चुप लागे। सब कै आइ लेइहैं होइ आगे॥
बिरसहु दुलहिनि जोबनबारी। पाएउ दुलहिनि राजकुमारी॥
एहि माँ सो कर गहि कै जैहैं। आधे तखत पर लै बैठैं हैं॥
सब अछूत तुम का भरि राखे। यहै सवाद जोरे जौ चाखै॥
निति पिरीति नित नव नव नेहू। निति उठि चौगुन जोरे सनेहू॥
नित्त अनित्त जो बारि बिया है। बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै॥
तहाँ न मीचु न नींदु दुख, रह न देह माँ रोग।
सदा अनंद मुहम्मद, सब सुख माते (मानै?) भोग॥६०॥

परिशिष्ट--२

अखरावट में सूफी-दर्शन

अखरावट जायसी का सिद्धान्त ग्रन्थ और और उनकी अन्तिम कृति है। इसमें उनके दार्शनिक विचारों को वाणी मिली है। उनका चिन्तक मन अपने गम्भीरतम स्वरूप में प्रकट हुआ है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस दार्शनिक काव्य ग्रन्थ में उनके दर्शन का स्वरूप क्या है ? क्या सूफी दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही कवि का प्रमुख लक्ष्य रहा है ? ग्रंथ का आद्योपांत मनन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अखरावट का दर्शन विभिन्न दर्शनों के सार का संगुफन है। उसमें अनेक दर्शन के तत्व आकर मिले हैं परन्तु प्रधानता सूफी दर्शन की है। इसका प्रमुख कारण यही है कि जायसी एक सूफी मुसलमान भक्त कवि थे, फिर यह कैसे सम्भव था कि सूफियों के मूल लक्ष्य को वे भूल जाते, रक्तगत संस्कारों से दूर चले जाते। हाँ, यह मैं अवश्य कहूँगा कि उनका दृष्टकोण अपेक्षाकृत अन्य सूफी कवियों से अधिक उदार तथा विशद था। वे संकीर्णता से बहुत ऊँचाई पर थे। सूफी होते हुए भी अन्य दर्शन के मूलभूत विचारों को उन्होंने उचित आदर प्रदान किया और उनमे जितना सुविधापूर्वक ग्रहण कर सकते थे ग्रहण भी किए। किसी के प्रति संकुचित भाव उनके हृदय में न थे। आइए अब प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित कवि के दार्शनिक विचारों एवं सिद्धान्तों का विवेचन कर लिया जाय।

ईश्वर जीव और सृष्टि—इस सम्बन्ध में अखरावट का कवि भारतीय वेदन्त से प्रभावित है। कवि की कल्पना है कि प्रारम्भ में केवल एक महाशून्य था और कुछ नहीं था उस महाशून्य में ईश्वर व्याप्त था। उसी महाशून्य से सृष्टि की रचना हुई। इस्लामी रवायतों (कथाओं) में यह है कि महाशून्य रूपी अल्लाह ने कहा—'**कुन्**' (अर्थात् प्रकाश हो) और प्रकाश हो गया। अखरावट का कवि भी कहता है।

"गगन हुता, नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐंसह अन्धकूप मँह, रचा मुहम्मद नूर॥"

उस अल्लाह (साई, आदि गोसाई) ने खेल के लिए इस सृष्टि की रचना की। चौदह भुवनों का विस्तार उसी का खेल है और उनमें वही व्याप्त है। इन भुवनों में अठारह सहस्र योनियों के सभी जीव उसी से उत्पन्न हुए हैं।

"आदिहु ते जो आदि गोसाई। जेइ सब खेल रचा दुनियाई॥

जस खेलेस जाइ न कहा। चौदह भुवनपूरि सब रहा॥
एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती॥"

मुहम्मद नामक नूर के प्रेम बीज से श्वेत और श्याम दो अंकुर निकले। श्वेत अंकुर से निकलने वाला पात्र धरती बना और श्याम अंकुर से निकलने वाला पात्र आकाश। तदुपरि इसी द्वैत के आधार पर सूरज-चाँद, दिन-रात, पाप-पुण्य, सुख-दुख, आनंद-संताप, तथा नरक-बैकुण्ठ और झूठ-सच की सृष्टि हुई। फिर उसने इबलीस का निर्माण किया तथा अपनी ही प्रतिमूर्ति के रूप में आदम का। इसके बाद चार फरिश्ते, फिर चार भूतों और अंत में पँच भूतात्मक इन्द्रियों की रचना हुई। इन पंच भूतों और भूतात्मक इन्द्रियों से उसने **'काया'** का निर्माण किया जिसमें बीच-बीच में नव खुले द्वार रखे और दसवाँ द्वार (ब्रह्मरंध्र) बंद रखा। आदम की सृष्टि जब हो गई तो ब्रह्म (अल्लाह) ने इबलीस तथा अन्य फरिश्तों को बुलाया और उनसे कहा कि यह दूसरी सृष्टि है, इसकी बंदगी में सर झुकाओ। सब फारिश्तों ने सर झुकाये परंतु इबलीस (नारद=शैतान) ने नहीं। तब अल्लाह ने उसे दशवें द्वार का रक्षक बनाया। यहीं से नारद का आदम से साथ हो गया और उसने मनुष्य को धर्म मार्ग से बहका कर पापी कर दिया। आदम द्वारा हौवा का सृजन हुआ। शैतान के चक्कर में पड़कर उन्हें स्वर्ग से निकलना पड़ा और फिर धरती पर आकर उन दोनों ने सृष्टि चलाई।

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बड़ा न्यारा है। जीव की रचना ब्रह्म ने अपनी प्रभुता प्रकट करने मात्र के लिए की।

"जौ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा॥
रहा जो एक जल गुपुत समुँदा। दरसा सहस अठारह बुँदा॥
सोइ अंस घटै घट मेला। औ सोइ बरन-बरन होइ खेला॥
भए आप औ कहा गुसाईं। सिर नावहु सगरिउ दुनियाईं॥
आने फूल भाँति बहु फूले। वास वेधि कौतुक सब भूले॥"

जीव ब्रह्म के अनुरूप ही है—

"बूँदहि बूँद समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हैरान, मुहम्मद आपुहि आपु महँ॥"

× × ×

"दूध माँझ जस घीउ है, समुँद माँह जस मोति।
नैन मीजि जो देखहु, चमक उठै तस जोति॥"

जीव और ब्रह्म के बीच जो भिन्नता दिखाई देती है वह अज्ञान के कारण। जिस प्रकार एक बालक दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को अन्य समझता है, वैसे ही जीव और ब्रह्म की स्थिति है—

"दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहम्मद एकै जानिये॥"

"उहै दोउ मिलि यकै भयऊ। बात करत दूसर होइ गयऊ॥"

इस प्रकार ब्रह्म और जीव की एकता की स्पष्ट घोषणा कवि करता है। ब्रह्म ही समस्त जगत एवं सृष्टि का आदि कारण है––

"बिना उरेहु अरंभ बखाना। हुता आप मँह आपु समाना॥"

वह रूप रंग जाति रहित ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी परे दार्शनिकों का निरुपाधि ब्रह्म है। वह अगम है, अगोचर है, अद्वैत है––

"सरग न धरति खंभमय, बरम्ह न विसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, आहि न रंग न भेस॥"

× × ×

"वा वह रूप न जाइ बखानी। अगम-अगोचर अकथ कहानी॥"

× × ×

"ओहि ना वरन न जाति अजाती। चंद न सुरज, दिवस ना राती॥"

× × ×

"जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ॥"

× × ×

"एक से दूसर नाँहि, बाहर भीतर बूझि लै।
खाँडा दुइ न समाइ, मुहम्मद एक मियान मँह॥"

शरीर की रचना––व्यापक ब्रह्म जिस प्रकार सारी सृष्टि में समाया हुआ है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी। इसलिए कवि मनुष्य के शरीर में संसार की प्रतिच्छाया देखता है। यह शरीर चार फरिश्तों––मीकाईल, जिब्राईल, इसराईल तथा इसराफील––द्वारा चार तत्वों––मिट्टी, जल, अग्नि और वायु से निर्मित किया गया है और उसमें पाँच इन्द्रियों को प्रविष्ट कराया गया है––

"भइ आयसु चारिहु कै नाऊँ। चारि वस्तु मेर वहु एक ठाऊँ॥
तिन्ह चारिहू कै मन्दिर सँवारा। पाँच भूत तेहि मंह पैसारा॥"

इस शरीर रूपी मन्दिर के दस द्वार हैं किन्तु दसवाँ द्वार ब्रह्मरंध्र बन्द कर दिया गया है––

"नव द्वारा राखै मँझियारा। दसँव मूदि कै दिएउ केवारा॥"

यह शरीर जगत का एक संक्षिप्त संस्करण है––

"माथ सरग धर धरती भयऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ॥"

× × ×

"सुनु चेला जस सब संसारू। ओही भांति तुम कया विचारू॥"

कवि ने पिण्ड ब्रह्मांड की समानता का बड़े विस्तार में वर्णन किया है और उस पर इस्लामी धर्म का पूर्ण आरोप किया है। इसी में स्वर्ग-नर्क, चाँद-सूरज, दिन-रात,

ऋतु-महीने, मक्का-मदीना, फरिश्ते, मुरशिद, खरीफा तथा आसमानी पुस्तकें आदि सभी कुछ विद्यमान है। संक्षेप मे—

"सातौं दीप नवखँड, आठौं दिसा जो आहि।
जो बरम्हँड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहि॥"

कवि ने शरीर के सातों खण्डों मे सात ग्रहों की कल्पना की है। इस शरीर निर्माण का प्रमुख कारण यह है कि जीव उसमें रहते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले।

साधना—अखरावट में वर्णित साधना, सूफी-साधना है। सूफी साधना मूलतः प्रेम और विरह की साधना है। **'साधक को अपने भीतर बिछुड़े हुए प्रियतम (अद्वैत स्थिति, अल्लाह) के प्रति 'प्रेम की पीर' जगानी पड़ती है।'** किसी समय जीव और ब्रह्म एक ही थे। न जाने कब किस कारण उनमें भेद उत्पन्न हो गया। तभी से जीव उस ब्रह्म से एकाएक होने के लिए प्रतिपल तड़पा करता है।

"हुता जो एकहि संग, औ तुम्ह काहे बीछुरै।
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाई किछु॥"

वस्तुतः यह तरंग प्रेम की ही तरंग है। परन्तु उस परम प्रेममय को प्राप्त कर लेना सरल नहीं। वैसे तो उसे प्राप्त करने लिए अनेक मार्ग हे यहाँ तक कि असंख्य हैं—

"विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत, तन-रोआँ जेते॥"

परन्तु एक सच्चे मुसलमान की भांति जायसी का पूर्ण विश्वास था कि इन असंख्य मार्गों में सर्वाधिक सहज और सरल मार्ग मुहम्मद साहब का है—

"तेहि मँह पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥
लिखि पुरान विधि पठवा साँचा। भा परवान दुऔ जग बांचा।
सुनत ताहि नारद उठि भागे। छूटे पाप पुन्नि सुनि लागे॥
वह मारग जो पावै, सो पहुँचे भव-पार।
जो भूला होइ अनतँहि, तेहि लूटा बटमार॥"

सूफियों के अनुसार कुरान एक पवित्र ग्रंथ था और मुहम्मद साहब एक महान् पुरुष थे। इसलिए वे उनका आदर तो करते थे परन्तु इस्लाम की तरह विश्वास नहीं। ईश्वर की सर्व व्यापकता एवं अद्वैतता में उन पर अद्वैत का प्रभाव स्पष्ट था। प्रपंच के कारण ही जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न अनुभव करता है। इस प्रपंच से मुक्त होने के लिए जायसी ने सूफीमत की चारों अवस्थाओं और सातों मुकामात का सांकेतिक विवेचन किया है। देखिए वे स्पष्ट कहते हैं कि विना शरीयत के अनुसरण के साधक अपने ध्येय को कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। उसके अनुसरण के पश्चात् ध्येय प्राप्ति का विश्वास हो जाता है—

"सांचो राह शरीयत, जेहि विस्वास न होइ।
पांव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ॥"

"राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत पार पहूँची॥"

× × ×

"सात खण्ड और चार नसेनी। अग पड़ाव पँथ तिरबेनी।"

× × ×

"बाँक चढ़ाव सात खण्ड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा॥"

सूफीमत में गुरु की महत्ता कितनी होती है यह बताने की आवश्यकता नहीं। अखरावट का कवि भी इसे भली-भाँति जानता है और उसे यह पता है कि प्रेम के इस अगम मार्ग पर गुरु की बिना विशेष अनुकम्पा के कोई अग्रसर नहीं हो सकता। इसलिए वह कहता है—

"दा-दाया जाकँह गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग घरई॥"

× × ×

"तौ वह चढ़ै जो गुरु चढ़ावै। पाँव न डिगै, अधिक बल आवै॥"

जो बिना गरु की सहायता के आगे बढ़ता है वह अवश्य ही पथ-भ्रष्ट हो जाता है, वह शैतान के जाल में फँस जाता है—

"जो अपने बल चढ़ि कै नाघा। सो खसि परा टूटि गइ जाँघा॥
नारद दौरि संग तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला॥"

अस्तु गुरु-कृपा का संयोग परम आवश्यक और अत्यन्त सुखकर है :—

"जेइ पावा गुरु मीठ, सो सुख मारग मँह चलै।
सुख आनन्द भा डीठ, मुहम्मद साथी पौढ़ जेहि॥"

प्रियतम का मार्ग बड़ा ही कठिन है, स्वयं को खोकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है—

"आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि विचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥"

जिन्हें ऐसा करने पर सिद्धि मिल जाती है उनके लिए एक बड़ा कड़ा प्रतिबन्ध है कि वे अपनी सिद्धि को प्रकट नहीं कर सकते, यदि प्रकट कर दें तो साधना भंग हो जाय। इसलिए जो सफल हो जाता है वह चुप ही रहता है।

"जो जाने सो भेद न कहई। मन मँह जानि बूझि चुप रहई॥"

कवि ने साधक को मन वचन कर्म से अत्यन्त ही पवित्र संयमित रहने का उपदेश दिया है।

जायसी ने नाथ संप्रदाय से अनेक बातें ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली हैं और उनके पारिभाविक शब्दों को अपनी साधना में मिला अपने सूफीमत को एक विचित्र स्वरूप प्रदान किया है। जायसी की यह देन भारतीय सूफीमत की एक विशिष्टता बन गई। जायसी की साधना समन्वयात्मक गुणों से भरपूर है।

इस प्रकार हम देखते हैं अखरावट में सूफी दर्शन के सिद्धांतों की प्रधानता है। उसे

ही केन्द्र मानकर कवि ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया है। वैसे **"अखरावट में जायसी किसी सिद्धान्तवाद में बँध जाना नहीं चाहते। वे योग उपनिषद अद्वैतवाद, भक्ति और इस्लामी एकेश्वरवाद से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। उनके लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं है, यदि वह उनमें प्रेम की पीर जगाने में सफल हो सके। अलग-अलग पंथों की अनेक भावनायें, अनेक विचारावलियाँ, अनेक सूक्तियाँ जायसी के धर्मभाव में मिलकर उससे इतनी एकाकार होगई हैं कि साधारण बुद्धि चमत्कृत हो उठती है। ब्रह्मवाद (अद्वैत) योग (हठयोग, चक्रभेद और आनन्दवाद) और सूफी इस्लामी सिद्धान्तों का समन्वयात्मक एकीकरण जायसी की विशेषता है।"**[1]

आखिरी कलाम में निर्णय के दिन का वर्णन—आखिरी कलाम इस्लामी युवक जायसी द्वारा खींचे एक कयामत के दिन का चित्र उपस्थित करता है। इसकी कथावस्तु का विस्तृत विवेचन जायसी की कृतियों वाले अध्याय में मैं कर चुका हूँ। यहाँ पर कुछ प्रमुख स्थलों का उदाहरण देकर मैं मूल कथावस्तु का संकेत मात्र करूँगा।

जिस समय जायसी ने इस ग्रन्थ की रचना की उस समय वे सूफीमत के रंग में नहीं रंगे थे। कुरान और हदीसो पर विश्वास रखते थे। इसी नाते कट्टर मुसलमान की भाँति उन्होंने मुहम्मद साहब और फरिश्तों का चित्रण प्रस्तुत किया है।

"इस्लाम ग्रंथों में महाप्रलय एवं न्याय-दिवस का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि महाप्रलय में सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश हो जायेगा। तत्पश्चात समस्त प्राणी परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होकर अपने-अपने कृत्यों का विवरण देंगे, उनकी इन्द्रियाँ उनकी साक्षी होंगी। विचारक परमात्मा उनके कृत्यों के अनुसार प्रत्येक प्राणी को स्वर्ग नरक की व्यवस्था देंगे। इस विवरण में 'पुलेसरात', 'कौसर-स्नान', शराब, हूर, आदि के प्रसंग भी सम्मिलित हैं। मुसलमानों का यह भी विश्वास है कि हजरत मुहम्मद अपने अनुयायियों के पापों को परमात्मा से क्षमा करा देंगे। खुदा उस वक्त कयामत के लिए कहेगा, "ऐ मुहम्मद जिनको तुमने पेश किया वे तुम्हें जानते हैं मुझे नहीं जानते"।[2]

"यह सूफियों की धारणा है। सारांश यह है कि कयामत का होना; प्राणियों का उठना, पुले-सरात को पार करना ईश्वर के समक्ष उपस्थित होना रसूल उम्मत को क्षमा प्रदान तथा शाश्वत स्वर्ग बिहार—ये मूल बातें धार्मिक ग्रंथों से ली गई हैं। इनके अतिरिक्त ४० दिन अग्नि उपल वर्षण, ४० दिन जल वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकांत एवं विचार, प्राणियों का नंगे वदन तथा तालू पर आँख होना, अन्य पैगम्बरों के पास जाकर रसूल का दैन्य प्रदर्शन, फातिमा की खोज, उसका क्रोध, खुदा की रसूल पर धोंस, रसूल का फातिमा को समझाना, दावत विशेषताएँ ईश्वर दर्शन, दो दिन तक बेहोश पड़े रहना आदि विवरण कवि-कल्पना प्रसूत है।"[3]

---

१. **डा० रामरतन भटनागर**—जायसी
२. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—जायसी ग्रन्थावली
३. **डा० जयदेव**—महाकवि जायसी

अब कुछ उदाहरण लीजिए :—

प्रलय का दृश्य—

"जबहिं अंत कर परलै आई। धरमी लोग रहै ना पाई॥
जारहिं माया मोह सब केरा। मच्छ रूप कै आयहिं बेरा॥
धूम बरन सूरज होइ जाई। कृस्न बरन सब सिष्टि देखाई॥
जो रे मिले तेहि मारै, फिरि-फिरि आइकै गाज।
सब ही मारि 'मुहम्मद' भूज अरहिता राज॥"

× × × ×

"पुनि मैकाइल आयसु पाये। अनबन भाँति मेघ बरसाये॥
पहिलें लागै परै अंगार। धरती सरग होइ उजियार॥
लागी सबै पिरिथिमी जरै। पाछे लागे पाथर परै॥
जिया जंतु सब मरि घटे, जिता सिरजा संसार।
कोउन रहै मुहम्मद, होइ बीता संसार॥"

× × × ×

"जिबराइल पाइब फरमानू। आइ सिष्टि देखब मैदानू॥"

× × × ×

"मकाइल पुनि कहब बोलाई। बरसौ मेघ पिरिथिमी जाई॥"

× × × ×

"पुनि इसराफील फरमाये। फूंके सब संसार उड़ाए॥"

× × × ×

"अजराइल कह बेगि बोलाए। जीव जहाँ लगि सबै बोलाई॥"

और फिर—

"चालिस बरिस जबहिं होइ नेहैं। उठिहि मया पहिले सब अैहैं॥
मयामोह कै किरपा आये। आपुहि कहे आपु फरमाये॥
मैं संसार जो सिरजा एता। मोर नाँव कोऊ नहिं लेता॥
जतने परे अब सबहिं उठावो। पुल सेराव कै पंथ रंगावो॥"

इस प्रकार कथा आगे चलती है। सम्पूर्ण ग्रंथ के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस्लाम के अनुसार कयामत के दिन का जो वर्णन है जायसी ने 'आखिरी कलाम' में उसे ही प्रमुखता दी है। हां, अपनी ओर से काल्पनिक तथ्य जो उन्होंने जोड़े हैं, वे उनकी मौलिक उपज के अन्तर्गत आते हैं। आखिरी कलाम में जायसी का एक कट्टर इस्लामी मुससलमान का ही स्वरूप प्रमुख रूप मे प्रकट हुआ है। समन्वयात्मक प्रवृत्ति के तो वे थे ही, जो कि उस युग की एक विशेषता थी। प्रारम्भिक कृति होने के नाते कवि के अपरिपक्व विचारो और सिद्धान्तों को ही उसमें वाणी मिली है।

●

हिन्दी सूफी-काव्यों की विशेषताएँ

हिन्दी सूफी-काव्य की विशेषताओं को जानने से पूर्व हमें उसकी पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

देश के भाग्याकाश से वीरगाथाकालीन विषय परिस्थितियों के बादल छँटने के उपरांत देश में एक नये वातावरण की सृष्टि हुई। राजनीति और जीवन की नित्य व्यवहारिक गति-विधि से प्रभावित हो हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल-जोल के भावों का उदय हुआ। पारस्परिक भेद-भावों को दूर करने के लिये अनेक सन्त और महात्मा आगे आये। इनमें कबीरदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कबीरदास ने धर्म के बाह्याडंबरों से मुक्त हो निर्गुण-उपासना का मार्ग बताया। भेद-भाव से रहित, सामान्य मानवीय गुणों से युक्त जीवन पर बल दिया। उनके पथ का अनुगमन करने वाले अन्य संतों ने भी उनकी इस क्रिया में हाथ बँटाया। मुसलमानों की ओर से यह कार्य प्रेम कहानियाँ लिखकर सूफी संतों ने किया। कबीर आदि ने पारस्परिक भेद-भाव को मिटाने के लिए जो ढंग अपनाया वह तीखा होने के साथ-साथ प्रतिक्रियावादी भी था। इससे उन्हें अभीष्ट सफलता न मिली। आचार्य शुक्ल के शब्दों में **"मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिसका मनुष्य मात्र के हृदय पर एकसा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू और मुसलमान-हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"** इन साधकों ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य को लुप्त होने से बचा लिया।

प्रेम कहानियों की यह परम्परा कुतबन शेख से आरम्भ होती है जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्पन्न हुए थे। कुतबन के पश्चात् मंझन, जायसी, उसमान, शेख नवी, कासिमशाह तथा नूर मोहम्मद आदि कई प्रेम गाथाकार हुए। इन सब में 'पद्मावत' के अमर प्रणेता जायसी को सर्वाधिक ख्याति मिली।

प्रेम कहानियों के उक्त सभी लेखक सूफी हैं। इनके काव्यों में सूफी सिद्धाँत बादल में पानी की बूंद की भाँति पिरोये हुए हैं। इसी नाते इनको सूफी काव्य कहा जाता है। हमें इन्हीं काव्यों की समष्टिगत विशेषताओं पर प्रकाश डालना है।

इन सभी सूफी काव्यों में काफी समानता है। सबकी मूल प्रेरक भावना एक ही है। हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के प्रयत्न के साथ-साथ परम-प्रियतम और जीव के अनन्त सम्बन्ध का दार्शनिक विवेचन करना ही इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। सामान्यतया इन सूफी काव्यों की ये विशेषताएँ कही जा सकती है :—

(१) कथानक भारतीय हिन्दू परिवार से सम्बन्धित कल्पना और इतिहास का मिश्रण।
(२) चरित्रों का हिन्दू संस्कृति के अनुसार निर्माण।
(३) प्रेम पद्धति पर सूफी धर्म का प्रभाव।
(४) फारसी मसनवी शैली पर घटनाओं का संगठन।
(५) वियोग की प्रधानता।
(६) भाव व्यंजना में अनूठापन तथा लोक भाषा का प्रयोग।
(७) समस्त कथा का अन्योक्ति रूप में कथन।
(८) हठयोग का समावेश।
(९) हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय की चेष्टा।
(१०) जीव को पुरुष और ब्रह्म को स्त्री के रूप में ग्रहण करना।

समस्त सूफी काव्यों की यह प्रमुख विशेषता है कि उनकी कथा का आधार हिन्दू परिवार है। पद्मावत, मधुमालती, मृगावती तथा चित्रावली आदि सभी ग्रंथों की कथाएँ हिन्दू घरानों से सम्बन्धित हैं जिनके द्वारा तात्कालिक भारतीय समाज की रीति-नीति और साँस्कृतिक विकास-ह्रास का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सभी प्रेम कथाओं में कल्पना और इतिहास का सम्मिश्रण है। कवियों ने इतिहास से अपनी रुचि तथा उद्देश्य के अनुकूल प्रेम-कथायें चुनकर और सूफी साधना के सिद्धान्तों पर रुचिर-कल्पना के माध्यम से उनका विकास किया। जायसी का पद्मावत ऐसा ही एक उत्कृष्ट काव्य है। उसका पूर्वाद्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार पर है। जायसी की मनोहर कल्पना ने उसमें जो प्राण प्रतिष्ठा की है वह अवर्णनीय है।

सभी सूफी कवियों ने अपने पात्रों (विशेषत: नारी पात्रों) का चारित्रिक विकास भारतीय संस्कृति के आधार पर किया है। इन काव्यों में वर्णित प्रमुख नारियाँ दिव्य प्रेम और सतीत्व की साक्षात देवियाँ प्रतीत होती हैं। पद्मावत की नागमती का पावन-चरित्र एक आदर्श भारतीय रमणी की जीवन-झाँकी प्रस्तुत करता है। जिसमें हमारी संस्कृति और सामाजिक निष्ठा बोलती है। नागमती को अपने काव्य एवं हृदय की समस्त वेदना दे जायसी भारतीय साहित्य में सदैव के लिए अमर हो गए।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि समस्त सूफी साधना का प्राण प्रेम है। सूफी काव्यों में उसी दिव्य प्रेम की कथा कही गई है। यह प्रेम लौकिक से आरम्भ होकर अलौकिक में परिवर्तित हो जाता है। लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की प्राप्ति ही इन सूफी काव्यों का चरम लक्ष्य है। सूफी-साधना के आधार पर इन प्रेम कहानियों का विकास हुआ है। कथा का नायक पुरुष जीव का प्रतीक और नायिका ब्रह्म की। गुरु के द्वारा उस ब्रह्म एवं परम प्रियतम के प्रति पूर्व राग उत्पन्न होता है और फिर उसी के निर्देशन में सूफी-साधना के आधार पर विकसित होता हुआ वह उत्कृष्ट प्रेम में बदल जाता है।

प्राय: सभी प्रेमाख्यानक कवियों का प्रणयन मसनवी शैली पर हुआ है। कथा

का प्रारम्भ, विकास और उपसंहार सभी उसी उद्धति का अनुकरण करते है। पद्मावत भी उसी शैली का एक उत्कृष्ट काव्य है उसमें मसनवी पद्धति के लिए अपेक्षित समस्त बातों का यथास्थान उल्लेख है।

सभी सूफी काव्यों में संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष की प्रधानता है उसका प्रधान कारण यह है कि यह अखिल सृष्टि उस परम प्रिय के वियोग में शोकाकुल है। सूफी काव्यों में उसी प्रियतम के अनन्य प्रेम की लौकिक आधार पर व्यंजना की गई है। उससे वियोग की प्रधानता स्वभाविक रूप से हो गई है। प्रेम की सच्ची कसौटो संयोग न होकर वियोग ही है। उत्कृष्ट प्रेम की कहानी कहने वाले ये सूफी कवि फिर इसे कैसे भूल जाते।

सूफी ग्रन्थों की भावव्यंजना का अनूठापन अवर्णनीय है। ये कवि मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों की स्वाभाविक और विशद व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। पद्मावत में प्रेम या रति भाव के अतिरिक्त स्वामिभक्ति, वीर-दर्प तथा पातिव्रत आदि अनेक भावों का जो हृदयग्राही चित्र जायसी ने खींचा है वह उनकी काव्य कुशलता का स्पष्ट प्रमाण है। धीरोदात्त नायक के हृदय की उदात्त भावनाओं—दया, क्षमा, धैर्य, सहनशीलता तथा शूरवीरता आदि का चित्रण देखते ही वनता है। वास्तव में इन सभी सूफी काव्यकारों ने अपने ग्रन्थ का नायक अभिजात्य वर्ग का रक्खा है। वे सभी आदर्श प्रेमी दृढ़व्रती तथा वीर और अपूर्व साहसी हैं। लोक भाषा में इन कथाओं का माधुर्य और भी निखर उठा है।

सभी प्रेम कथाएँ प्रायः अन्योक्ति के रूप में कही गई हैं अर्थात् अलौकिक कथा के माध्यम से अलौकिक का रहस्य उद्घाटित किया गया है। पद्मावत एक सुन्दर अन्योक्ति काव्य है इसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

सभी सूफी काव्यों पर हठयोग का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। सूफी धर्म का विकास बताते समय मैंने इस बात का संकेत किया है कि किस प्रकार नाथ पंथ तथा हठयोग का समावेश उसमें सहज ही हो गया था। जायसी के पद्मावत में तो हठयोग का स्पष्ट स्वरूप देखा जा सकता हैं। अनेक स्थल इस वात की प्रमाणिक पुष्टि करते हैं।

सूफी काव्यकारों ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य जो किया वह है हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय की चेष्टा। हिन्दू संस्कृति की मूल विशेषताओं को अक्षुण्य रखते हुए इन्होंने अपनी सूफी साधना का प्रतिपादन किया। इन्होंने हिन्दू दर्शन के प्रति अपनी अपूर्व निष्ठा प्रकट की। साथ ही साथ अपनी सूफी साधना के प्रचार व प्रसार के मूल लक्ष्य को भी वे नहीं भूले। जो कुछ भी हो इन मुसलमान सूफी काव्यकारों न जिस साहित्य की सृष्टि की वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाला हुआ। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"**इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की बोली में पूर्ण सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिणी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल**

भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

मानव हृदय की सरलतम भावव्यंजना करने वाले इन सूफी काव्यों में ब्रह्म को स्त्री और जीव को पुरुष रूप में ग्रहण किया गया है। जायसी के पद्मावत में रत्नसेन आत्मा का प्रतीक और पद्मावती परमात्मा का स्वरूप है। सूफी साधना में जीव को ब्रह्म में लय होने के लिए चार अवस्थायें पार करनी होती हैं। वे हैं शरीयत, तरीकत, मारीफत और हकीकत (सिद्धावस्था)। जायसी ने इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

"चार बसेरे जो चढ़े सत से उतरे पार।"

निर्गुण उपासना का जनता में प्रचार करने के लिए ज्ञानमार्गी सन्तों की शैली उपयुक्त न हो सकी। उस कमी को इन सूफी काव्यकारों ने अपनी प्रेम कथाओं के माध्यम से पूर्ण किया।

सूफी साहित्य ने जीवन में सरलता और पवित्रता का संचार किया और समाज के भावात्मक वैर-विरोध को दूर करने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस साहित्य से भारतीय साहित्य के एक विशेष अंग की पूर्ति हुई जिसका अपना एक निजी महत्व है। वैसे इन सूफी कवियों का मूल तथा परोक्ष लक्ष्य चाहे जो कुछ रहा हो परन्तु प्रत्यक्ष में इन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की उससे हिन्दी की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई। इस नाते सूफी-साहित्य का स्थायी महत्त्व है।

परिशिष्ट--३

सहायक पुस्तकों की सूची

१. **जायसी ग्रन्थावली**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२. **सूफी महाकवि जायसी**—डा० जयदेव
३. **सूफीमत और हिन्दी-साहित्य**—डा० विमलकुमार जैन
४. **हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य**—डा० कमल कुलश्रेष्ठ
५. **सूफी साधना और साहित्य**—प्रो० रामपूजन तिवारी
६. **कविवर जायसी और उनका पद्मावत**—डा० सुधीन्द्र
७. **जायसी**—रामरतन भटनागर
८. **पद्मावत का काव्य सौन्दर्य**—प्रो० शिवसहाय पाठक
९. **कबीर का रहस्यवाद**—डा० रामकुमार वर्मा
१०. **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११. **तसव्वुफ और सूफीमत**—डा० चन्द्रबली पाण्डेय
१२. **जायसी ग्रन्थावली सटीक**—डा० मनमोहन गौतम
१३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—रामचन्द्र शुक्ल
१४. **हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा
१५. **जायसी और उसका साहित्य**—यज्ञदत्त शर्मा
१६. **जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि**—डा० सरला शुक्ला
१७. **पद्मावत भाष्य**—डा० मुन्शीराम शर्मा
१८. **पद्मावत (पूर्वार्द्ध)**—डा० मुन्शीराम शर्मा
१९. **जायसी ग्रन्थावली**—डा० माताप्रसाद गुप्त
२०. **जायसी की काव्य साधना**—दानबहादुर पाठक